

# ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

( ऋषि दयानन्द एवं आचार्य सायण-भाष्य युक्त )



प्रो० महावीर



### पुस्तक परिचय

भारतीय मनीषा के अनुसार यह सर्वमान्य सत्य है कि सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान की मूल चारों वैदिक संहिताएं हैं। सर्वज्ञानमयो हि सः, सर्व वेदात् प्रसिध्यति आदि कथनों से यह प्रमाणित है।

भारतवर्ष के प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में संस्कृत स्नातकोत्तर कक्षाओं में वेद का एक प्रश्नपत्र अनिवार्य पत्र के रूप में निर्धारित किया हुआ है, इस प्रश्न पत्र में ऋग्वेद के दस मण्डलों में से कतिपय चुने हुए सूक्त पाठ्यक्रम में रखे जाते हैं। अधिकांश आचार्यगण अपने प्रिय शिष्यों को आचार्य सायण अथवा मैक्डोनल, कीथ आदि पाश्चात्य वैदिक विद्वानों के भाष्यों के आधार पर वेद मन्त्रों की व्याख्या पढ़ाते हैं। सायणाचार्य बहुत बड़े विद्वान् थे, इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु सायण भाष्य पढ़ने पर बहुधा कोमलमति छात्रों की बुद्धि भ्रमित हो जाती है। कहीं विरोधाभास, कहीं वदतोव्याघात, कहीं यज्ञों में पशुहिंसा और मानवीय इतिहास को देखकर बुद्धि भ्रमित होने लगती है और कभी-कभी वेद के प्रति श्रद्धा क्षीण हो जाती है।

उन्नीसवीं सदी में भारत वर्ष में एक ऐसे महामानव का जन्म हुआ, जिसने ऋषि बुद्धि से वेदों का वास्तविक अर्थ संसार के समक्ष प्रस्तुत किया। ईश्वरीय ज्ञान की कसौटी पर जो खरा उतरता हो, जिसमें सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक सत्य का प्रतिपादन हो, इस दृष्टि से वेदार्थावगमन हेतु महर्षि दयानन्द सरस्वती ने संपूर्ण यजुर्वेद का एवं ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के 61 सूक्त तक का वेदभाष्य कर संसार का बहुत कल्याण किया। किन्तु विश्वविद्यालय के छात्रों को पाठ्यपुस्तक के रूप में यह दयानन्द भाष्य अनुपलब्ध था। एम.ए. में विद्यार्थी तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करना चाहता है। ऐसी अध्ययन सामग्री वेदाध्यायी छात्रों को प्राप्त हो सके, इस भावना से इस पुस्तक का सम्पादन किया गया है। इसमें अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में निर्धारित ऋग्वेद के सूक्त सम्मिलित किये गये हैं। जहाँ तक ऋषि दयानन्द का भाष्य उपलब्ध है, उन्हीं का भाष्य दिया गया है। आगे के सूक्तों का महर्षि दयानन्दानुसारी, परोपकारी, अजमेर से प्रकाशित अन्य आचार्यों का भाष्य दिया गया है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि तुलनात्मक अध्ययन से छात्रों की योग्यता बढ़ेगी और वे वेद के गूढ़ रहस्य तक पहुँच सकेंगे।

ISBN 978-93-80190-18-1

मूल्य : 1000.00

146294

, हरिद्वार

146294

या

सदस्य  
संख्या



पुस्तकालय  
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या.....

१५  
HETA-38

आगत संख्या 146294

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३० वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए अन्यथा ५० पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

.egk



146294









# ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

( ऋषि दयानन्द एवं आचार्य सायण-भाष्य युक्त )

सम्पादक

डॉ० महावीर

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय-हरिद्वार







गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय-हरिद्वार, गढ़वाल, कुमायूँ, रुहेलखण्ड,  
मेरठ, कानपुर, आगरा आदि विश्वविद्यालयों के एम०ए० संस्कृत के  
वैदिक साहित्य के पाठ्यक्रमानुसार

- ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा -

महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेद भाष्य सप्तम् मण्डल के सूक्त  
६१ तक तथा सप्तम् मण्डल से दशम् मण्डल तक  
परोपकारिणी सभा, अजमेर द्वारा प्रकाशित ऋग्वैदिक  
भाष्य एवं पीटर्सन व मैकडानल के अनुसार ऋग्वेद के  
मन्त्रों की हिन्दी एवं संस्कृत व्याख्या सायण भाष्य सहित।

: सम्पादक :

डॉ० महावीर

एम.ए. (संस्कृत, हिन्दी, वेद),  
व्याकरणाचार्य,  
पी-एच.डी., डी.लिट्.

आचार्य, संस्कृत-विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय-हरिद्वार

एवं

उपाध्यक्ष, उत्तराखण्ड संस्कृत अकादमी (हरिद्वार)



.egk



146294

सत्यम् पब्लिशिंग हाऊस

नई दिल्ली-110059



कल्पादितः १,९७,२९,४९१०९ गते

सृष्टि आदितः १,९५,५८८५१०९ गते

युगाब्द ५१०९

दयानन्दाब्द १९२

❖ ऋषि दयानन्द एवं सायण भाष्य समन्वित प्रथम संस्करण

दीपावली २०६६ (तदनुसार १७ अक्टूबर २००९)

© सर्वाधिकार सम्पादकाधीन

卐 प्रथम संस्करण : २०१०

卐 सम्पादक :

डॉ० महावीर, डी.लिट्.

वेदालोक, २२-नन्द विहार

पत्रालय : गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार-२४९४०४

दूरभाष : ०१३३४- २२८५४४

चल दूरभाष : ९१-९४१२९१८९४९

卐 अक्षर संयोजन :

अग्रवाल कमर्शियल सर्विस

मायापुर, हरिद्वार।

ISBN 978-93-80190-18-1

卐 प्रकाशक

आर. डी. पाण्डेय

सत्यम् पब्लिशिंग हाउस

N-3/25, मोहन गार्डन, नई दिल्ली-110059

दूरभाष : 011-25358642

शोरूम : 4378/4बी, 305, जे.एम.डी. हाऊस,

मुरारीलाल स्ट्रीट, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

मो. 09968277749

मुद्रक : विशाल कौशिक प्रिन्टर्स, शाहदरा, दिल्ली-93



## -सम्पादकीयम्-

भारतीय मनीषा के अनुसार यह सर्वमान्य सत्य है कि सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान की मूल चारों वैदिक संहिताएं हैं। सर्वज्ञानमयो हि सः, सर्व वेदात् प्रसिध्यति आदि कथनों से यह प्रमाणित है।

भारतवर्ष के प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में संस्कृत स्नातकोत्तर कक्षाओं में वेद का एक प्रश्नपत्र अनिवार्य पत्र के रूप में निर्धारित किया हुआ है, इस प्रश्न पत्र में ऋग्वेद के दस मण्डलों में से कतिपय चुने हुए सूक्त पाठ्यक्रम में रखे जाते हैं। अधिकांश आचार्यगण अपने प्रिय शिष्यों को आचार्य सायण अथवा मैकडोनल, कीथ आदि पाश्चात्य वैदिक विद्वानों के भाष्यों के आधार पर वेद मन्त्रों की व्याख्या पढ़ाते हैं। सायणाचार्य बहुत बड़े विद्वान् थे, इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु सायण भाष्य पढ़ने पर बहुधा कोमलमति छात्रों की बुद्धि भ्रमित हो जाती है। कहीं विरोधाभास, कहीं वदतोव्याघात, कहीं यज्ञों में पशुहिंसा और मानवीय इतिहास को देखकर बुद्धि भ्रमित होने लगती है और कभी-कभी वेद के प्रति श्रद्धा क्षीण हो जाती है।

उन्नीसवीं सदी में भारत वर्ष में एक ऐसे महामानव का जन्म हुआ, जिसने ऋषि बुद्धि से वेदों का वास्तविक अर्थ संसार के समक्ष प्रस्तुत किया। ईश्वरीय ज्ञान की कसौटी पर जो खरा उतरता हो, जिसमें सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक सत्य का प्रतिपादन हो, इस दृष्टि से वेदार्थावगमन हेतु महर्षि दयानन्द सरस्वती ने संपूर्ण यजुर्वेद का एवं ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के 61 सूक्त तक का वेदभाष्य कर संसार का बहुत कल्याण किया। किन्तु विश्वविद्यालय के छात्रों को पाठ्यपुस्तक के रूप में यह दयानन्द भाष्य अनुपलब्ध था। एम. ए. में विद्यार्थी तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करना चाहता है। ऐसी अध्ययन सामग्री वेदाध्यायी छात्रों को प्राप्त हो सके, इस भावना से इस पुस्तक का सम्पादन किया गया है। इसमें अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में निर्धारित ऋग्वेद के सूक्त सम्मिलित किये गये हैं। जहाँ तक ऋषि दयानन्द का भाष्य उपलब्ध है, उन्हीं का भाष्य दिया गया है। आगे के सूक्तों का महर्षि दयानन्दानुसारी, परोपकारी, अजमेर से प्रकाशित अन्य आचार्यों का भाष्य दिया गया है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि तुलनात्मक अध्ययन से छात्रों की योग्यता बढ़ेगी और वे वेद के गूढ़ रहस्य तक पहुँच सकेंगे।

इस कार्य को पूर्ण करने में प्रियवर डॉ०योगेश शास्त्री, प्राध्यापक [विद्यालय-विभाग] गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार एवं डॉ०श्वेता गुप्ता का प्रशंसनीय योगदान रहा है। डॉ०रश्मि कुमार अग्रवाल ने मुद्रण प्रति तैयार करने में बहुत परिश्रम किया है। पुस्तक के प्रकाशन में सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली के अधिष्ठाता श्री आर.डी.पाण्डेय जी ने उत्सुकता और तत्परता प्रदर्शित करते हुए अत्यल्प समय में इसे प्रकाशित किया है, इनके प्रति हार्दिक स्नेह एवं कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए वेदानुरागी छात्रों को यह उपहार सस्नेह समर्पित है।

१७ अक्टूबर २००९, दीपावली  
हरिद्वार

मंगलाभिलाषी  
प्रो०महावीर







## विषयानुक्रमणिका

क्रम	विवरण	सूक्त	मन्त्र	पृष्ठ सं०
१-	वेदों का महत्त्व			१
<b>प्रथम मण्डल</b>				
२-	अग्नि सूक्त	१	१-९	७२-९२
३-	अग्निमारुत सूक्त	१९	१-९	९३-१०४
४-	वरुण सूक्त	२५	१-२१	१०५-१३१
५-	इन्द्र सूक्त	३२	१-१५	१३२-१६४
६-	सवितृ सूक्त	३५	१-११	१६५-१८५
७-	उषस सूक्त	४८	१-१६	१८६-२१४
८-	इन्द्र सूक्त	८०	१-१६	२१५-२३१
९-	मरुत् सूक्त	८५	१-१२	२३२-२४९
१०-	सूर्य सूक्त	११५	१-६	२५०-२६१
११-	अग्नि सूक्त	१४३	१-८	२६२-२७६
१२-	विष्णु सूक्त	१५४	१-६	२७७-२८७
१३-	द्यावापृथिवी सूक्त	१६०	१-५	२८८-२९५
<b>द्वितीय मण्डल</b>				
१४-	इन्द्र सूक्त	१२	१-१५	२९६-३१९
१५-	रुद्र सूक्त	३३	१-१५	३२०-३४०
१६-	अश्वि सूक्त	३९	१-८	३४१-३४९
<b>तृतीय मण्डल</b>				
१७-	नद्यः सूक्त	३३	१-१३	३५०-३७६
१८-	मित्र सूक्त	५९	१-९	३७७-३८८
१९-	उषस् सूक्त	६१	१-७	३८९-४००
<b>चतुर्थ मण्डल</b>				
२०-	अग्नि सूक्त	२	१-२०	४०१-४२८
२१-	उषस सूक्त	५१	१-११	४२९-४४१
२२-	सविता सूक्त	५४	१-६	४४२-४५१



क्रम विवरण	सूक्त	मन्त्र	पृष्ठ सं०
<b>पंचम मण्डल</b>			
२३- पर्जन्य सूक्त	८३	१-१०	४५२-४६५
<b>षष्ठम मण्डल</b>			
२४- पूषा सूक्त	५३	१-१०	४६६-४७६
२५- पूषन् सूक्त	५४	१-१०	४७७-४८६
<b>सप्तम मण्डल</b>			
२६- आपः सूक्त	४९	१-४	४८७-४९१
२७- वास्तोष्पति सूक्त	५४	१-३	४९२-४९६
२८- मित्रावरुण सूक्त	६१	१-७	४९७-५०५
२९- अश्विनौ सूक्त	७१	१-६	५०६-५१३
३०- इन्द्रावरुण सूक्त	८३	१-१०	५१४-५२८
३१- वरुण सूक्त	८६	१-८	५२९-५४०
३२- मण्डूक सूक्त	१०३	१-१०	५४१-५५५
<b>अष्टम मण्डल</b>			
३३- विश्वेदेवा सूक्त	३०	१-४	५५६-५५९
३४- सोम सूक्त	४८	१-१५	५६०-५७३
<b>दशम मण्डल</b>			
३५- यम सूक्त (मृत्यु सूक्त)	१४	१-१६	५७४-५९७
३६- पितृ सूक्त	१५	१-१४	५९८-६१५
३७- अक्ष सूक्त	३४	१-१४	६१६-६३४
३८- देव सूक्त	७२	१-९	६३५-६४३
३९- मरुष सूक्त	९०	१-१६	६४४-६६५
४०- हिरण्यगर्भ सूक्त	१२१	१-१०	६६६-६८१
४१- वाक् सूक्त	१२५	१-८	६८२-६९३
४२- रात्रि सूक्त	१२७	१-८	६९४-७०१
४३- नासदीय सूक्त	१३१	१-७	७०२-७१५
४४- यम सूक्त	१३५	१-७	७१६-७२४
४५- वात सूक्त	१६८	१-४	७२५-७३०



## ओ३म् वेदों का महत्त्व

वेद सम्पूर्ण विश्व साहित्य में सबसे प्राचीनतम है, इस विषय में अब कोई विवाद नहीं है। वेद आर्य जाति के प्राचीनतम साहित्य के रूप में विख्यात हैं। आर्यों की सभ्यता और साहित्य का आरम्भ वेदों के आविर्भाव से हुआ है भारतीय धर्म, साहित्य, भाषा, सभ्यता और संस्कृति के विकास और उन्नति में वेदों का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इन सबका मूलाधार भारतीय मनीषा ने वेदों को ही माना है। भारतीय धर्म, संस्कृति और सभ्यता का भव्य प्रासाद वेदों की सुदृढ़ आधार शिला पर ही निर्मित हुआ है। वेद का ही एक दूसरा नाम श्रुति है। जैसा कि मनुस्मृति के 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः' (२/१०) वचन से ज्ञात होता है।

मीमांसकों ने वेद की महत्ता का वर्णन इस प्रकार किया है —

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।

एवं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

अर्थात् जिस उपाय को प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा नहीं जाना जा सकता, उसे वेद के द्वारा जाना जा सकता है, यही वेद का अलौकिकत्व है।

आर्य जाति या हिन्दू जाति की वेदों के प्रति आस्था एवं श्रद्धा बहुत प्राचीन काल से रही है। पृथिवी के किसी भी स्थान पर निवास करने वाला आर्य अथवा हिन्दू धर्म, दर्शन मत आदि के सम्बन्ध में जो भी आस्था या विश्वास रखता है उसका मूलाधार वेद को ही स्वीकार करता है।

समग्र भारतीय साहित्य में वेदों का गौरवगान सुनाई देता है। ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदाङ्ग, दर्शन, रामायण, महाभारत आदि में वेदों को ईश्वरकृत और अपौरुषेय मानते हुए इनकी प्रामाणिकता स्वीकार की गई है। मनु ने वेदों की निन्दा करने वाले को नास्तिक कहकर भर्त्सना की है — 'नास्तिको वेद निन्दकः'। अर्थात् आस्तिक होने के लिए ईश्वर के प्रति विश्वास से भी अधिक ईश्वरीय कृति वेद का महत्त्व है भारतीय दर्शनों में प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्त वेदों के प्रमाणों से पुष्ट किये गये हैं।

केवल भारतवर्ष में ही वेदों का महत्त्व सर्वोपरि नहीं रहा अपितु विदेशी विद्वान् भी वेदों की महिमा से बहुत अधिक प्रभावित रहे, यही कारण है कि संस्कृत और भारतीय भाषाओं की तरह विश्व की अन्य भाषाओं में भी वेद विषयक लेखन कार्य सुदीर्घ काल से होता चला आ रहा है। मैक्समूलर, विन्टरनिट्ज, राथ, कोलब्रुक, मैकडानल आदि पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक वाङ्मय के अध्ययन एवं लेखन में अपना संपूर्ण जीवन समर्पित



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

कर दिया।

वेदों का महत्त्व केवल उसकी प्राचीनता और उसमें विद्यमान ज्ञान-विज्ञान के कारण ही नहीं है अपितु वेदों के अध्ययन से वैज्ञानिक चिन्तन की अनेक दिशाएँ प्रकाशित हुई हैं और साहित्यिक तथा भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से विश्व की विभिन्न भाषाओं का एवं दूसरी भाषाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन का मार्ग भी प्रशस्त हुआ है।

## वेदों की रचना

भारतीय परम्परा के अनुसार वेद ईश्वरीय ज्ञान माना जाता है। सर्वज्ञ ईश्वर ने सृष्टि के प्रारम्भ में इस नित्य वैदिक ज्ञान का प्रकाश अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा नामक ऋषियों के पवित्र हृदयों में किया था, तब से यह वैदिक ज्ञान धारा निरन्तर प्रवाहमान है। वेदान्त दर्शन के अनुसार वेद अनादि और अपौरुषेय ज्ञान है, जो प्रलय के बाद भी बना रहता है। जिस प्रकार ईश्वर अनादि, अनन्त एवं अविनश्वर है, उसी प्रकार ईश्वरीय ज्ञान वेद भी अनादि अनन्त और अविनाशी है।

वर्तमान युग के वेद-भाष्यकार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदों के उद्भव पर विचार करते हुए प्रमाण, तर्क और युक्तिपूर्वक सिद्ध किया है कि वेद अपौरुषेय हैं, ईश्वरीय कृति हैं और संसार की समस्त विद्याओं का मूल हैं, अतएव इनका पढ़ना, पढ़ाना और सुनना, सुनाना सब श्रेष्ठजनों का परमधर्म है। सृष्टि की रचना १९६०८५३१०७ वर्ष पूर्व हुई थी। वेद भी उतने ही प्राचीन हैं।

वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने में वेदों और परवर्ती साहित्य में अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। निम्न मंत्र पठनीय हैं —

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।

छन्दाश्चसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ ऋ० १०.९०.९/यजु. ३१.७

यस्मादृच अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।

सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्॥ अथर्व. १०.७.२०

इस प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में स्पष्ट रूप से वेदों को ईश्वर से उत्पन्न कहा गया है।

वेदों के अनन्तर विरचित साहित्य में भी इनको अपौरुषेय, नित्य एवं ईश्वरकृत प्रतिपादित किया गया। ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों, दर्शनों, सूत्रग्रन्थों, स्मृतियों, पुराणों आदि में भी वेदों को ईश्वरीय रचना माना गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि सृष्टि के आदि में परमेश्वर ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया और उसके लिए वेदों को भेजा —

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। — श्वे०उ० ६.८

बृहदारण्यक उपनिषद् में वेदों को ईश्वर का निःश्वास बताया गया है—



एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदयदृग्वेदो यजुर्वेदः  
सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ॥ बृ०उ० ३.२.४.१०

शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि अग्नि, वायु और सूर्य ने तपस्या करके तीन वेदों को प्राप्त किया -

तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः ॥

श०ब्रा० ११.५२०.३

प्राचीन शास्त्रों के अनुसार अग्नि, वायु और सूर्य ऋषि थे। उपर्युक्त कथनों से यह तथ्य स्पष्ट हो गया है कि वेदों की रचना ईश्वरीय है। ईश्वर ने सृष्टि के आदि में सर्वप्रथम अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा को क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का ज्ञान प्रदान किया। इन ऋषियों ने इस वैदिक ज्ञान को लोक में प्रकाशित किया। इसके बाद जिन ऋषियों ने इन वेदमंत्रों का ज्ञान प्राप्त किया अर्थात् इनमें निहित अर्थों को सबसे पहले जाना वे मंत्र उन ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हुए। यास्क ने ऋषि शब्द का अर्थ लिखा है - 'ऋषयो मंत्रद्रष्टारः' अर्थात् मंत्रों के अर्थों को देखने वाले, समझने वाले और उनके मर्म को उद्घाटित करने वाले ऋषि हैं।

परन्तु वेदों का अध्ययन करने वाले पाश्चात्य विद्वानों ने एवं उन्हीं का अनुसरण करने वाले कतिपय भारतीय विद्वानों ने वेदों के ईश्वरकृत और नित्य होने के सिद्धान्त को स्वीकार न करते हुए ऋषियों को मंत्रकर्त्ता मान लिया। उनके अनुसार चारों वेदों की रचना सृष्टि के प्रारम्भ में न होकर क्रमशः होती गई और जिन ऋषियों ने जिन मंत्रों की रचना की उनका नाम उन मंत्रों के साथ जुड़ गया।

## ऋग्वेद का रचना काल

ऊपर कहा जा चुका है कि भारतीय दृष्टिकोण और परम्परायें वेदों को अनादि एवं अनन्त मानते हैं। भारतीय साहित्य के अनुसार सृष्टि के आदि में ईश्वर ने वेदों का ज्ञान अग्नि, वायु, सूर्य और अङ्गिरा को दिया था। उस ईश्वरीय ज्ञान, वेद मंत्रों का ऋषियों ने दर्शन किया। जिन ऋषियों ने जिन मंत्रों का दर्शन किया, वे उन मंत्रों के ऋषि कहलाये। मनुस्मृति आदि के प्रमाणों को उद्धृत करके ऋषि दयानन्द ने यह प्रमाणित किया कि सृष्टि की उत्पत्ति १९६०८५३१०७ वर्ष पूर्व हुई थी, अतः वेदों का आविर्भाव भी इतने ही वर्ष पहले हुआ था।

परन्तु वर्तमान युग की ऐतिहासिक दृष्टि, जो विकासवाद पर विश्वास रखती है, इस भारतीय दृष्टिकोण को स्वीकार करने के लिये सहमत नहीं है वैदिक साहित्य का अध्ययन करने वाले अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने ऋग्वेद को सबसे प्राचीन मानकर उसके समय के निर्धारण का प्रयत्न किया। इन विद्वानों का कथन है कि प्रत्यक्ष और सबल प्रमाणों के अभाव में ऋग्वेद के समय को ठीक-ठीक निश्चित नहीं किया जा सकता,



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

परन्तु उसका अनुमान अवश्य किया जा सकता है। हो सकता है कि उस अनुमान में कुछ शताब्दियों का अन्तर रह जाये। पाश्चात्य आलोचकों के अनुकरण में भारतीय आलोचकों ने भी वेदों के समय को निर्धारित करने का प्रयत्न किया और ये ऋग्वेद के समय को पाश्चात्य आलोचकों की अपेक्षा अधिक प्राचीन समय तक खींचकर ले गये। इस स्थल पर ऋग्वेद की रचना के समय के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मतों को उद्धृत करना उपयुक्त होगा।

### मैक्समूलर का मत

इंग्लैण्ड की 'सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट' नामक ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मैक्समूलर द्वारा सम्पादित 'ऋग्वेद' (शाकल शाखा) का प्रकाशन हुआ था। यह ग्रन्थ १८५९ई० के लगभग प्रकाशित हुआ। इसकी भूमिका में मैक्समूलर ने ऋग्वेद के समय को निर्धारित करने का प्रयत्न किया। इन्होंने 'ऋग्वेद' की रचना को १२००ई०पू० का सिद्ध किया।

अपने मत को सिद्ध करने के लिए मैक्समूलर ने कहा कि गौतम बुद्ध के समय तक वैदिक साहित्य की रचना पूरी हो चुकी थी। वैदिक साहित्य को उन्होंने चार भागों — छन्द, मंत्र, ब्राह्मण और सूत्र में विभाजित किया है तथा उनके अनुसार प्रत्येक भाग के विकास का एक विशेष काल रहा था। सबसे पहले छन्दों, उसके बाद मंत्रों तदनन्तर ब्राह्मणों तथा उनके पश्चात् सूत्रों की रचना हुई। मैक्समूलर के अनुसार प्रत्येक विभाग के विकास और उसकी पूर्णता के लिए २०० वर्षों का समय पर्याप्त है।

गौतम बुद्ध का समय ५००ई०पू० का है अतः सूत्रों की रचना ६००ई०पू० में पूरी हो चुकी होगी। सूत्रों से २००वर्ष पहले अर्थात् ८००ई०पू० का समय ब्राह्मणों का है इस समय तक ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं उपनिषदों की रचना हो जानी चाहिये। उससे पहले २००वर्षों का समय मंत्रों का है वेदों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है — छन्द और मंत्रों में। मंत्र का विनियोग यज्ञों के अनुष्ठानों में किया जाता है तथा शेष छन्द हैं। मंत्रों की रचना और विकास उससे पहले के २०० वर्षों में अर्थात् १०००ई०पू० तक तथा छन्दों की रचना उससे भी २००वर्ष पहले अर्थात् १२००ई०पू० में हुई थी। ऋग्वेद में प्राचीनतम छन्द और मंत्र हैं। अतः ऋग्वेद का समय १२००ई०पू० हो सकता है।

इस काल गणना के सम्बन्ध में मैक्समूलर स्वयं पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं थे। उन्होंने बाद में स्वयं कहा कि यह समय निर्धारण तो केवल एक अनुमान है वेदों के समय को ठीक-ठीक निर्धारित करना असम्भव-सा है। हो सकता है कि वेदों का अस्तित्व इससे पहले भी रहा हो।

विलसन, कीथ, कोलब्रुक आदि विद्वानों ने 'ऋग्वेद' की रचना के समय के सम्बन्ध में मैक्समूलर का समर्थन किया है।

ऋग्वेद के समय का निर्धारण करने में अनेक विद्वानों ने मैक्समूलर की पद्धति



को तो स्वीकार किया, परन्तु प्रत्येक स्तर के विकास के लिये २००वर्ष के समय को अपर्याप्त माना। ओल्डनबर्ग के अनुसार ऋग्वेद की रचना का समय २५००ई०पू० का होना चाहिये।

### मैक्डोनल का मत -

मैक्डोनल ने ऋग्वेद का रचना काल १३००ई०पू० प्रतिपादित किया है। मैक्डोनल का विचार है कि आर्यों की भारतीय और ईरानी शाखायें जो पहले एक ही थे, १३००ई०पू० के लगभग पृथक् हुई थीं। इसी समय आर्यों की भारतीय शाखा द्वारा ऋग्वेद की रचना हुई। इसके ५००वर्ष के बाद ८००ई०पू० में अवेस्ता की रचना हुई। उनका कहना है कि जैकोबी के अनुसार यदि आर्यों की भारतीय एवं ईरानी शाखाओं के पृथक् होने के समय को ४५००ई०पू० भी मान लिया जाये, तो भी ३०००वर्षों तक इनकी भाषायें अपरिवर्तित ही रही होंगी। १९०७ई० में एशिया माइनर में प्राप्त १४००ई०पू० के अभिलेखों में मित्र, वरुण, इन्द्र, नासत्य आदि देवताओं के उल्लेख उस समय की दोनों शाखाओं के भाषा साम्य को सिद्ध करते हैं। उसी समय के लगभग यदि दोनों शाखाओं के पृथक् होने को स्वीकार कर लिया जावे तो उसके कुछ समय बाद होने वाले भाषागत परिवर्तन ऋग्वेद की भाषा में व्यक्त हुए, जो भाषा उस युग की ईरानी से भिन्न हो गई होगी। अतः ऋग्वेद का रचना-काल १३००ई०पू० होना चाहिये।

### भण्डारकर का मत -

डॉ० आर० जी० भण्डारकर ने इतिहास के आधार पर वेदों की रचना के समय को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया। "ईशावास्योपनिषद्" में, जो कि 'यजुर्वेद' का ४०वाँ अध्याय है, 'असुर्या' शब्द आया है। भण्डारकर के अनुसार यह शब्द 'असीरिया' का समानार्थक है 'ऋग्वेद' में देवों और असुरों के संग्राम का उल्लेख है। असीरिया (मेसोपोटामिया) के लोग ही वेदों में उल्लिखित असुर हैं। ये २५००ई०पू० के लगभग भारत की ओर आये थे। अतः 'यजुर्वेद' की रचना २५००ई०पू० के लगभग हुई होगी। 'ऋग्वेद' इससे भी पहले रचा गया होगा। अतः ऋग्वेद की रचना का समय ६०००ई०पू० रहा होगा।

सिकन्दर के आक्रमण के समय ग्रीकों ने राजवंशावलियों का संग्रह किया था। उनके अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य से पहले १५४राजाओं ने ६४५७वर्ष तक राज्य किया था। यह समय वैदिक ही रहा होगा। इससे बहुत वर्षों पूर्व 'ऋग्वेद' की रचना हो चुकी होगी। इस आधार पर 'ऋग्वेद' की रचना का समय ८०००-७०००ई०पू० हो सकता है।

### जैकोबी का मत -

जर्मनी के बोन नगर के निवासी जैकोबी महोदय ने ज्योतिष के आधार पर गणना करके 'ऋग्वेद' का समय ४५००ई०पू० सिद्ध किया। उनका कहना है कि कल्पसूत्रों में विवाह के प्रकरण में "ध्रुव इव स्थिरा भव" वाक्य आया है। इसका अभिप्राय



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

है कि ध्रुव तारा उस समय अधिक चमकीला और स्थिर रहा होगा। यह स्थिति २०००ई०पू० की हो सकती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में कृत्तिका नक्षत्र में वसन्त सम्पात का उल्लेख है। गणना द्वारा यह समय २५००ई०पू० का प्रतीत होता है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों और कल्पसूत्रों का समय २७००ई०पू०, २५००ई०पू० के लगभग रहा और 'ऋग्वेद' का समय और भी बहुत पहले ४५००ई०पू० होना चाहिए।

ज्योतिष के आधार पर हॉग महोदय ने वेदाङ्ग ज्योतिष की रचना का समय ११८६ई०पू० निर्धारित करके ब्राह्मण ग्रन्थों का रचना-काल १४००-१२०० ई०पू० निश्चित किया। उसके अनुसार वैदिक संहितायें २०००-१४००ई०पू० में निबद्ध हुई तथा मंत्रों की रचना का समय २४००-२०००ई०पू० के लगभग रहा।

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध ज्योतिषी शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने ज्योतिष के आधार पर नक्षत्रों की गणना करके शतपथ ब्राह्मण का समय ३०००ई०पू० निर्धारित किया और ऋग्वेद की रचना के समय को ३५००ई०पू० का प्रतिपादित किया।

### तिलक का मत -

ज्योतिष के आधार पर वेदों के समय को निर्धारित करने में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया हैं उनके अनुसार संहिताओं का निबन्धन ४५००ई०पू० में हुआ था और उससे पहले २०००वर्षों में सारे मंत्र रचे गये थे। इस प्रकार से प्राचीनतम ऋचायें ६५००ई०पू० तक की हो सकती हैं।

तिलक का कहना है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के समय नक्षत्रों की गणना कृत्तिका नक्षत्र से होती थी तथा कृत्तिका नक्षत्र के समय दिन और रात बराबर होते थे। वर्तमान समय में २१मार्च और २३सितम्बर को दिन और रात बराबर होते हैं और सूर्य उस समय अश्विन नक्षत्र में रहता है। इतना परिवर्तन ४५००वर्षों में हो सकता है। अतः ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना २५००ई०पू० में हुई होगी। संहिताओं के युग में दिन और रात उस समय बराबर होते थे जब सूर्य मृगशिरा नक्षत्र में होता था। यह समय ६५००वर्ष पहले का है अतः संहिताओं की रचना का समय ४५००ई०पू० का है। 'ऋग्वेद' के मंत्र के अनुसार मृगशिरा नक्षत्र में बसन्त ऋतु होती थी और दिन-रात बराबर होते थे। यह समय और भी २०००वर्ष ई०पू० का रहा होगा। अतः 'ऋग्वेद' के मंत्रों का रचना काल ६५००ई०पू० होना चाहिये।

### नारायण राव भवनराव पारंगी का मत -

'ऋग्वेद' की रचना के समय को निर्धारित करने के लिए भूगर्भशास्त्र को भी आधार बनाया गया है। इस तर्क को प्रस्तुत करने वाले प्रमुख विद्वान् नारायणराव भवनराव पारंगी हैं। इन्होंने 'ऋग्वेद' की रचना का समय ९०००वर्ष पूर्व निर्धारित किया है।

ऋग्वेद में अनेक भौगोलिक स्थितियों - नदियों, समुद्रों आदि का वर्णन है।



ऋग्वेद के एक मंत्र (ऋग्वेद १०.१३६.५) में सप्तसैन्धव प्रदेश के दोनों ओर दो समुद्रों का वर्णन आता है इनमें पश्चिम का समुद्र सम्भवतः अरब सागर था। पूर्व समुद्र वर्तमान पंजाब के ठीक पूर्व में था और वर्तमान उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल के मैदान इसमें लुप्त थे। बहुत समय की अवधि में हिमालय पर्वत से निकलने वाली नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी से यहाँ का समुद्र पाट दिया गया।

ऋग्वेद के दो मंत्रों (९.३३.६ और १०.४७.२) के अनुसार सप्तसैन्धव प्रदेश के चारों ओर चार समुद्र थे। इनमें उत्तरी समुद्र सम्भवतः वर्तमान फारस और टर्की के उत्तर पश्चिम में था। यह समुद्र बहुत कुछ प्राकृतिक कारणों से सूख गया, परन्तु इसके कुछ अवशेष कृष्ण सागर, कैस्पियन सागर, अरल झील और बाल्कश झील के रूप में अब भी विद्यमान हैं। पश्चिम में अरब सागर था और पूर्व में वह सागर था जहाँ अब उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल के मैदान हैं। वर्तमान राजपूताना के प्रदेश में दक्षिण समुद्र था, जिसमें सरस्वती नदी गिरती थी राजपूताने में विद्यमान खारे नमक की झीलें और मरुस्थल नमक की तहें प्रमाणित करती हैं कि वहाँ कभी समुद्र रहा होगा। सरस्वती नदी का वर्णन ऋग्वेद में आया है। यह गर्जन करती हुई दक्षिण समुद्र में गिरती थी।

भूगर्भशास्त्रियों के अनुसार इस प्रकार की 'भौगोलिक स्थिति' ९००० वर्ष पूर्व रही होगी। इस आधार पर पारंगी महोदय ने ऋग्वेद की रचना का समय ९००० वर्ष पहले का निर्धारित किया है।

### अमल नरेकर का मत —

प्रसिद्ध लेखक एच.जी.वेल्स ने अपनी 'आउट साइन्स आफ वर्ल्ड हिस्ट्री' में २५०००—५०००० वर्ष पहले के संसार का नक्शा दिया है। नरेकर महोदय ने इस आधार पर ऋग्वेद का रचना काल ६६०००—७५००० वर्ष पहले का बताया है। आपने सनातनी ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर ऋग्वेद की रचना को ४लाख ३५हजार वर्ष पुराना कहा है।

अनेक विद्वानों की यह भी मान्यता है कि ऋग्वेद की रचना यद्यपि सबसे प्राचीन है, तथापि यह वेद भी एक ही समय में नहीं रचा गया। ऋग्वेद के कुछ मन्त्र अधिक प्राचीन हैं और कुछ बाद में रचे गये थे। वेद मंत्रों की रचना की एक परम्परा रही और इनकी रचना क्रमशः होती रही। कालान्तर में इनका संकलन कर लिया गया।

ऋग्वेद की एवं अन्य वेदों की रचना के समय को ठीक-ठीक निर्धारित करना प्रायः असम्भव—सा ही है। इनके समय को निर्धारित करने में विभिन्न विद्वानों ने शताब्दियों नहीं, अपितु सहस्राब्दियों का अन्तर किया है। परन्तु यह निश्चित है कि वेद संसार का सबसे प्राचीन साहित्य है। इनके अर्थों को ठीक प्रकार से समझना न केवल गैर भारतीयों के लिये अपितु भारतीय विद्वानों के लिये भी कठिन रहा है। भारतीय विचारधारा वेदों को नित्य और अपौरुषेय मानकर इनके समय के सम्बन्ध में विचार नहीं



करती। इसलिये वेदों के समय-निर्णय की ओर अधिक ध्यान न देकर इनके प्रतिपाद्य विषयों और उपदेशों पर अधिक ध्यान देना उचित है।

## वैदिक साहित्य

वेद नाम के अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद को ग्रहण किया जाता है। परन्तु वैदिक साहित्य के अन्तर्गत कुछ अन्य ग्रन्थ भी ग्रहण किये जाते हैं। वैदिक साहित्य का आरम्भ तो ऋग्वेद से हुआ था और इसके बाद यजुः, साम और अथर्ववेद भी रचे गए। इन वेदों की व्याख्या करने के लिए बाद में जो साहित्य लिखा गया, उसका अन्तर्भाव भी वैदिक साहित्य में कर लिया जाता है। चारों वेदों के अतिरिक्त चार उपवेद – आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और अर्थवेद; ब्राह्मण ग्रन्थ; आरण्यक, उपनिषदें; छः वेदाङ्ग – शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष वृहद्देवता और अनुक्रमणिकायें भी वैदिक साहित्य में ग्रहण की जाती हैं। वेदों का अध्ययन करने के लिये इस साहित्य का अवलोकन भी करना चाहिये।

### ऋग्वेद की शाखायें, संगठन और क्रम

अनेक पुराणों और पतञ्जलि के महाभाष्य में ऋग्वेद की २१ शाखाओं का उल्लेख किया गया है। शौनक के समय में ऋग्वेद की पाँच शाखायें उपलब्ध थीं – शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन और माण्डूकायन। भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' में १५ शाखाओं का उल्लेख किया है कुछ विद्वानों ने तो इसकी ३४ शाखायें गिनाई हैं। वर्तमान समय में इसकी केवल एक ही शाखा – बाष्कल शाखा उपलब्ध होती है।

ऋग्वेद का संगठन दो प्रकार के क्रमों से किया गया है – अष्टक क्रम और मण्डल क्रम।

#### (क) अष्टक क्रम –

इस क्रम के अनुसार ऋग्वेद को आठ अष्टकों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक अष्टक में आठ-आठ अध्याय हैं। ये अध्याय वर्गों में विभक्त हैं और प्रत्येक वर्ग में प्रायः पाँच मंत्र हैं। वर्णों की संख्या २००६ है इस प्रकार अष्टक क्रम के अनुसार ऋग्वेद में ८ अष्टक ६४ अध्याय और २००६ वर्ग हैं।

#### (ख) मण्डल क्रम –

ऋग्वेद का यह क्रम अधिक महत्त्वपूर्ण, ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक है। इस क्रम के अनुसार ऋग्वेद १० मण्डलों में विभक्त किया गया है। इनमें ८५ अनुवाक् और इन अनुवाकों में १०२८ सूक्त तथा १०५८९ मंत्र हैं। शौनक की अनुवाकानुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद में १०५२८ मंत्र और १५३८२६ शब्द हैं।



## ऋग्वेद के ऋषि

ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त के अपने देवता, ऋषि और छन्द हैं। आधुनिक आलोचकों के अनुसार ये ऋषि मंत्रों के रचयिता थे। कुछ समालोचक ऋषियों के इन नामों को कुटुम्बवाची मानते हैं। यास्क ने ऋषि का अर्थ किया है — ऋषिर्दर्शनात् अर्थात् मंत्रों के अर्थों का दर्शन करने वाले व्यक्ति को ऋषि कहा गया था। ये ऋषि मंत्रों के रचयिता नहीं थे, अपितु इन ऋषियों ने सर्वप्रथम उन सूक्तों के अर्थों का दर्शन करके उनका लोक में प्रचार किया था।

ऋग्वेद में मण्डलों का संगठन ऋषियों की दृष्टि से किया था। इस दृष्टि से दूसरे मण्डल से आठवें मण्डल तक के सूक्त अधिक संगठित हैं। इनमें प्रत्येक मण्डल का एक ऋषि है दूसरे मण्डल के गृत्समद, तीसरे मण्डल के विश्वामित्र, चौथे मण्डल के वामदेव, पाँचवे मण्डल के अत्रि, छठे मण्डल के भारद्वाज, सातवें मण्डल के वशिष्ठ एवं आठवें मण्डल के कण्व एवं उनके वंशज ऋषि हैं। पहले, नवें और दशवें मण्डलों के सूक्तों के ऋषि एक नहीं अपितु अनेक हैं। नवम् मण्डल को पवमान मण्डल भी कहते हैं तथा इसमें केवल सोम विषयक सूक्तों का संग्रह है इस दृष्टि से नवम मण्डल, पहले और दशवें मण्डल से अधिक संगठित है इसलिए अनेक आलोचकों का विचार है कि ऋग्वेद में पहले, दूसरे से नवें मण्डल का ही भाग था तथा पहले और दसवें मण्डल बाद में जोड़े गये।

## ऋग्वेद के देवता

ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त का एक अपना देवता है, जिसमें उस देवता की स्तुति की गई है। यास्क ने देवता का अर्थ किया है — “देवो दानाद् द्योतनाद् दीपनाद् वा” पदार्थों को देने वाले प्रकाशित होने वाले अथवा प्रकाशित करने वाले को देवता कहा जाता है। ऋग्वेद में देवताओं की कुल संख्या ३३ है। यास्क ने देवताओं को तीन प्रकार का बताया है — पृथिवी स्थानीय, अन्तरिक्ष स्थानीय और द्युस्थानीय। अनेक विद्वान् विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों को देवता कहते हैं। कुछ आलोचकों ने अग्नि आदि देवतावाचक शब्दों का अर्थ परमेश्वर किया है तथा उसमें विभिन्न शक्तियों की कल्पना की है। बृहदेवता और निरुक्त में एक ही महादेवता परमात्मा को माना गया है। ऋग्वेद के प्रमुख देवता निम्न हैं —

### १— इन्द्र

इन्द्र ऋग्वेद का सबसे महान् देवता हैं इन्द्र की स्तुति १०२८ सूक्तों में की गई है। अपने गुणों के कारण इन्द्र आर्यों का जातीय और राष्ट्रीय देवता बन गया तथा वह सभी देवों का राजा हुआ। ऋग्वेद की ऋचाओं के अनुसार इन्द्र के तीन विशेष गुण कहे गये हैं — महान् कार्यों के करने की शक्ति, अतुल पराक्रम और असुरों को युद्ध में जीतना।



प्रारम्भ में इन्द्र को विद्युत का देवता माना गया था। यह वर्षा को रोकने वाले दैत्यों का संहार करता था और अन्धकार को दूर करता था। इन्द्र युद्ध का भी देवता है। वह आर्यों की रक्षा करता है और उनके निसर्गसिद्ध शत्रुओं का वध करता है। ऋग्वेद में इन्द्र के सोमपान का वर्णन बहुत है। सोमपान से उसके अन्दर प्रचुर शक्ति का आविर्भाव होता है, तब वह बहुत बड़े-बड़े कार्य कर सकता है। उसके अन्दर वज्र को घुमाने और बिजली को गिराने की शक्ति है।

इन्द्र का प्रमुख शस्त्र वज्र था। त्वष्टा ने इन्द्र के लिये वज्र बनाया था। ऋग्वेद के अनुसार इन्द्र पक्के मकानों में रहता था और हरे घोड़ों वाले सुनहरे रथ पर चढ़ता था। जिसको देवताओं के शिल्पी ऋभुओं ने बनाया था।

इन्द्र के सहायकों के नाम भी ऋग्वेद में आते हैं। द्यौ इन्द्र का पिता है, अग्नि और पूषा उसके भाई हैं और इन्द्राणी उसकी पत्नी हैं मरुत्गण उसके सहायक हैं। शची नामक शक्ति का स्वामी होने के कारण इन्द्र को शचीपति, कर्मों की शक्ति रखने के कारण शतक्रतु एवं मरुतों की सहायता पाने के कारण मरुत्वान् कहा गया है।

इन्द्र का प्रमुख शत्रु वृत्र है। वह वर्षा को रोकने वाला है। इन्द्र सोमपान करके और मरुतों की सहायता पाकर वृत्र पर आक्रमण करता है। इस युद्ध में द्युलोक और पृथिवीलोक कांप उठते हैं, पहाड़ नष्ट हो जाते हैं तथा उनसे जल के झरने बहने लगते हैं। इन्द्र ने दैत्यों के पुरों को नष्ट करके पुरभित् उपाधि धारण की थी। यह मेघ रूपी पहाड़ों में निवास करने वाले दैत्यों को मार देता है और वहाँ से जल को इसी प्रकार से मुक्त करता है, जैसे कोई गायों को घेरे से मुक्त करता है।

इन्द्र बहुत पराक्रमी हैं उसने हिलते हुए पहाड़ों को स्थिर करके रक्षा की और आकाश और पृथिवी को स्थिर किया तथा उनको फैलाया। इन्द्र अपने उपासकों की रक्षा करता है, सहायता करता है और उनको धन-धान्य से पूर्ण करता है, अतः वह मधवा कहलाता है इन्द्र उषा के रथ को हिलाने वाला है। वह सूर्य के घोड़ों को रोक लेता है और सोम को जीत लेता है।

एक सूक्त के अनुसार एक बार पणियों ने गौओं को कैद कर लिया था। तब इन्द्र ने सरमा (देवशुनी) को दूत बनाकर भेजा था। सुदास के साथ इन्द्र के युद्ध का वर्णन भी मिलता है। इन्द्र कार्य करने में अत्यधिक शक्तिशाली, दुर्धर्ष, अथक लड़ने वाला, मनुष्यों की भलाई करने वाला, दान देने में उदार और प्रचुर सोमपान करने वाला है। वह संसार के सबसे बड़े राजा, विश्व के नियन्ता और धर्म एवं चरित्र के आदर्शों की स्थापना करने वाले वरुण की अपेक्षा भी महान् है। मनुष्य और देव उसकी शक्ति का पार नहीं पा सकते। देवों में वह सबसे अधिक प्रसिद्ध और महान् है। अत्यधिक शक्तिशाली होने के कारण उसको शक्र, शचीपति, शचीवान्, शतक्रतु आदि नामों से भी पुकारा गया।

वैदिक गाथाओं में इन्द्र और वृत्र प्रबल शत्रु बताये गये हैं। ऐतिहासिक दृष्टि के



अनुसार वृत्र एक असुर है, जो वृष्टि का अवरोधक है उसको मारने के लिए इन्द्र अपने वज्र को तीक्ष्ण करता है इन्द्र का सम्बन्ध अन्य सभी देवताओं से किसी न किसी रूप में वेदों में कहा गया है अन्य देवों में भी उसके कुछ गुण एवं रूप बताये गये हैं। देवताओं का रूप मूर्त और अमूर्त दोनों ही प्रकार का निर्दिष्ट है।

हिल ब्रान्ट नामक पाश्चात्य विद्वान् ने यह सिद्ध किया कि इन्द्र ही वृष्टि का देवता था। त्रित पर्जन्य और इन्द्र इन तीन का वर्षा के साथ सम्बन्ध है। ऋग्वेद के एक मंत्र (१.५.२३) के अनुसार पहले त्रित ही जल का अवरोध करने वाले दैत्यों का संहार करता था; परन्तु बाद में इस कार्य को इन्द्र ने अपने हाथ में ले लिया।

अनेक वैदिक ऋचाओं में इन्द्र की आकृति और गुण मनुष्यों से भी मिलते हैं। वह एक सुन्दर और सुदृढ़ आर्य का रूप है। उसकी उत्पत्ति माता के पार्श्व भाग से हुई थी और उसने अपनी माता को विधवा बना दिया था। इन्द्र को कन्याओं के गीत सुनने का भी बड़ा शौक था और वह अविवाहित कन्याओं की भलाई में रुचि लेता था। इन्द्र का वरुण के साथ बहुत घनिष्ट सम्बन्ध था। जब इन्द्र विजय करता हुआ आगे बढ़ता था तो वह विजित प्रदेशों में नियमों और व्यवस्था की स्थापना करता था। वरुण का यह नियम था कि इन्द्र जीतता चले तथा वह अधिकार, नियमों और व्यवस्था को बनावे। इन्द्र का बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति के साथ भी घनिष्ट सम्बन्ध था।

ऋषि दयानन्द का कहना है कि इन्द्र की यह कल्पना धार्मिक जगत् की आलंकारिक कल्पना है इन्द्र प्राण और वरुण इन्द्रियाँ हैं। वह असुर रूपी आसुरी भावों को पराजित करता है। ऋग्वेद में स्वर्ण, रजत आदि कान्तिमान् पदार्थों को भी इन्द्र कहा गया है। इसीलिये निरुक्तकार यास्क कहते हैं — “या च का च बलाकृतिः इन्द्रकर्मैव तत्”। अर्थात् जो भी बल और दीप्ति के कार्य हैं, वे सब इन्द्र के कार्य हैं।

इन्द्र आर्यों का सबसे महान् देवता रहा। इसीलिये ऋग्वेद के लगभग चौथाई सूक्तों में इन्द्र की स्तुति है। इसकी प्रतिष्ठा आर्यों के जातीय और राष्ट्रीय देवता के रूप में हुई है। मैकडोनल के अनुसार आर्यों के भारत में आने से पूर्व ही इन्द्र को राष्ट्रीय देवता के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी।

## 2. अग्नि

प्रभाव और विस्तार की दृष्टि से अग्नि को ऋग्वेद में दूसरा स्थान प्राप्त है २०० सूक्तों में अग्नि की स्तुति की गई है। वैदिक मंत्रों में अग्नि की तीन प्रमुख विशेषतायें बताई गई हैं — (क) नेतृत्व शक्ति में सम्पन्न होना, (ख) यज्ञ की आहुतियों को ग्रहण करना और (ग) तेज एवं प्रकाश का अधिष्ठाता होना। अग्नि को ‘जातवेदाः’ कहा गया है, अर्थात् वह ज्ञान का आगार है और उपासना करने वालों का कल्याण करता है। अग्नि की उपासना बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। भारत, फारस और ग्रीस में इसकी उपासना समान रूप से होती रही थी। मैकडोनल के अनुसार अग्नि नाम भारोपीय है।



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

यह संस्कृत में 'अग' धातु और लैटिन में 'ag' धातु से निष्पन्न हुआ है। (संस्कृत— अग्नि, लैटिन ignis, स्लोवानिक — ogni)।

ऋग्वेद के मंत्रों में अग्नि का विशेष सम्बन्ध यज्ञ की अग्नि से है, अतः इस को घृतपृष्ठ (घी की पीठ वाला), रक्तश्मश्रु (लाल दाढ़ीवाला), तीक्ष्णदन्त (तेज दाँतों वाला) और रुक्मदन्त (स्वर्णिम दाँतों वाला) कहा गया है।

अग्नि की जिह्वा द्वारा देवता हवियों का उपभोग करते हैं। दीप्यमान मूर्धा से ज्वालाओं से, यह सब दिशाओं में विचरण करता है। यह देवताओं का मुख है। इससे प्रार्थना की जाती है कि वह हव्य का भोजन करे। सोमरस का पान करने के लिये इसको बुलाया जाता है। इसका शरीर ज्योतिष्मान् है। यह पुरोहित है, यज्ञ का देव, ऋत्विक् है, नेता है, श्रेष्ठ रत्नों को धारण करने वाला है। यह सूर्य और बिजली के समान चमकता है। यह रात्रि में दीप्त होता है और अन्धकार को भगा देता है। इसका रास्ता काला है। जब यह जंगलों को जलाता है तो उन्हें उसी प्रकार साफ कर देता है, जैसे नाई दाढ़ी को। इसकी लपटों की ध्वनि समुद्र की गर्जनाओं के समान है। इसका लाल रंग का धुँआ आकाश तक उठता है और ऐसा प्रतीत होता है जैसे आकाश को थामने के लिये खम्बा हो। इसे धूमकेतु (धुयें की पंताका वाला) भी कहा गया है इसका रथ सोने के समान चमकता है और दो या अधिक लाल घोड़ों द्वारा खींचा जाता है।

अग्नि की उपमा अनेक पशुओं से दी गई है। यह महान् शब्द करते हुये बैल के समान है। इसके सींग भी हैं, जिनको यह तेज करता है। उत्पन्न हुआ अग्नि बाल वत्स के समान है। यह देवताओं के वाहन के समान है जो यज्ञ को देवताओं तक ले जाता है। इसको आकाश में उड़ने वाले गरुड़ या श्येन के समान तथा जल में रहने वाले हंस के समान भी बताया गया है। लकड़ी या घी इसका भोजन है और पिघला मक्खन इसका पेय है यह लकड़ी को इसी प्रकार आक्रान्त करता है, जैसे कोई पक्षी विटंक पर बैठता है।

अग्नि देवताओं को रथ पर बैठा कर यज्ञ भूमि में लाता है। वह द्यौस् का पुत्र है। उसको जल का पुत्र भी कहा गया है। इन्द्र और अग्नि जुड़वां भाई हैं। अग्नि सूखी अरणियों से उत्पन्न होती है, जो उसकी माता है। सूखी समिधाओं से उत्पन्न होने वाली अग्नि, उत्पन्न होते ही अपने माता-पिता का वध कर देता है। अग्नि को दस कन्याओं से उत्पन्न भी कहा गया है। ये दस कन्यायें मनुष्य की दस अंगुलियाँ हैं। इसको 'सहस्र पुत्र' भी कहा गया है, क्योंकि अग्नि को उत्पन्न करने के लिये मनुष्य को जोर लगाना पड़ता है। प्रातःकाल के समय अग्नि का बालरूप होता है।

अग्नि जल का गर्भ रूप है और जल से उत्पन्न होता है। वह आकाश में भी उत्पन्न हुआ था और मातरिश्वा (वायु) के द्वारा पृथिवी पर आया। सूर्य भी अग्नि का ही एक रूप है। अग्नि के दो स्थान बताये हैं — द्युलोक और पृथिवी लोक। वह मानवीय



जीवन से अधिक सम्बन्ध रखता है, इसलिये इसको अतिथि और गृहपति भी कहा गया है। अग्नि के महत्त्व को बहुत अधिक बताया गया है और इसकी सार्वभौम शक्तियों की प्रशंसा की गई है।

जिस प्रकार ऋतु और युद्ध के कार्यों का अधिष्ठाता इन्द्र है, उसी प्रकार आर्यों के गृहकृत्यों का अधिष्ठाता अग्नि है। यह तेज का रूप है और घर के कार्यों को निष्पन्न कराता है। अग्नि तेज को प्रदान करता है, इन्द्र जल को। अग्नि को अनेक नामों से पुकारा जाता है — यविष्ठ्य (सदा युवा रहने वाला), मेध्य (सदा पवित्र रहने वाला), कविशस्त (कवियों द्वारा प्रशंसित), दमुना (घर का परम मित्र) आदि। अग्नि का जन्म तीन स्थानों में कहा गया है — काष्ठों में, जल में और द्युलोक में। अग्नि को जल का पुत्र (अपानपात्) कहा गया है। अवेस्ता में इसे "अपानेपो" कहा गया है प्रातःकाल उषा के आगमन के साथ-साथ अग्नि का जन्म होता है और यह भूमि से उसी प्रकार उठता है, जैसे वृक्षों से पक्षी। यह घी के द्वारा हव्य का भक्षण करता है, अतः घृतजिह्व है। यह हव्यों को देवताओं तक पहुँचाता है, अतः हव्यवाहन है। सभी मनुष्य इसको चाहते हैं अतः यह वैश्वानर है। सब इसकी स्तुति करते हैं, अतः यह नाराशंस है यह यज्ञ का साधन है और भूत-प्रेतों-राक्षसों को भगाने वाला है तथा जादू को दूर करता है।

अग्नि आर्यों का प्रमुख देव है और उसके बिना कोई धार्मिक कृत्य सम्पन्न नहीं होता। महर्षि दयानन्द ने अग्नि के परमात्मा, राजा, सेनापति, आचार्य, योगी आदि अनेक अर्थ किये हैं।

### 3. वरुण

इन्द्र और अग्नि के बाद देवताओं में वरुण का महत्त्व है यद्यपि वरुण की स्तुति १२ सूक्तों में ही की गई है ऋग्वेद में वरुण का मुख्य रूप शासक का है। वह विश्व का राजा या सम्राट् है जो प्रशासन करता है तथा नियमों का संचालन करता है। वरुण जनता के पाप-पुण्यों तथा सत्य-असत्य का हिसाब रखता है। उसके गुप्तचर विश्वभर में घूमते रहते हैं। वरुण के पाश की महिमा का वेदों में बहुत अधिक वर्णन है। वह पाश पापियों को बाँध लेता है। परन्तु जो पश्चात्ताप करते हैं, उनके प्रति वह दयालु हो जाता है। पाप कर्म को देखते ही वह क्रुद्ध हो जाता है और नियम भंग करने वालों को कठोर दण्ड देता है। परन्तु जो लोग भूल से गलती करते हैं या नियम भंग करने के बाद उसके प्रति आत्म समर्पण करते हैं, उनको वह क्षमा कर देता है। वरुण सूक्तों में स्थान-स्थान पर पापों को क्षमा करने की प्रार्थना की गई है।

ऋग्वेद के वरुण सूक्तों में वरुण का उज्ज्वल रूप दिया गया है। उसके मुख, आँखों, भुजाओं और पैरों का वर्णन है। सूर्य उसके नेत्र हैं, जिनसे वह सबको देखता है। वह दूरदर्शी और हजारों आँखों वाला है। वह कुशा पर बैठता और सुनहरा चोगा पहनता है। उसका रथ सूर्य के समान दीप्तिमान है तथा उसमें घोड़े जुते हुए हैं। अपने प्रासाद



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

में बैठा हुआ वह प्रशासन और नियन्त्रण करता है तथा उसके गुप्तचर विश्वभर में फैले रहते हैं। वरुण का एक दूत सुनहरे पंखों का है, जो वस्तुतः सूर्य है।

वरुण ब्रह्माण्ड का सम्राट् है। उसने स्वर्ग और पृथिवी लोक को अपनी शक्ति में धारण किया हुआ है। वह जनता से शारीरिक और चरित्रगत नियमों का पालन करवाता है। वरुण ने सूर्य की रचना की, अग्नि और जल का निर्माण किया तथा पर्वतों पर सोमवल्ली को उत्पन्न किया। वरुण रात्रि और दिन का अधिष्ठाता है और जलों का नियमन करता है। वायु उसके आदेश में रहकर ध्वनि करती है, चन्द्रमा उसी के आदेश से प्रकाशित होता है, तारे वरुण का आदेश मानते हैं, नदियाँ उसकी आज्ञा से बहती हैं, समुद्र उसके नियन्त्रण में रहकर वेला का उल्लंघन नहीं करता और मेघ उसके आदेश से बरसकर पृथ्वी को सींचते हैं। वह आकाश में उड़ने वाले पक्षियों की गति को पहचानता है, समुद्र में चलने वाले जहाजों को जानता है और कोई भी उसकी दृष्टि से ओझल नहीं है। वह अन्य सभी देवताओं से बड़कर है। वह 'धृतव्रत' है अर्थात् संसार को नियमों में चलाने का व्रत धारण किये हुए है।

वरुण के ठीक-ठीक रूप को अभी तक निश्चित नहीं किया जा सका है। यह भौतिक और नैतिक सभी नियमों का देवता है एवं चारों ओर फैले हुए आकाश से सम्बन्धित है। मैकडोनल के अनुसार वरुण का रूप चारों ओर फैले हुए आकाश से आच्छादित सा है। पुराणों में वरुण को जल देवता कहा गया है, परन्तु ऋग्वेद में ऐसी कोई उक्ति नहीं है। वरुण शब्द की निष्पत्ति 'वृ' धातु से होती है, जिसका अर्थ आच्छादित या आवृत करना है मैकडोनल एवं यास्क का यही मत है।

अनेक विद्वान् वरुण का सम्बन्ध अवेस्ता के 'अहुरमज्द' से जोड़ते हैं। वरुण को वैदिक साहित्य में असुर भी कहा है, जिसका अर्थ है असु = प्राण को र = देने वाला। अर्थात् प्रणियों में प्राण शक्ति को संचारित करने वाला वरुण ही हैं इस दृष्टि से यह अवेस्ता के अहुरमज्द का प्रतिनिधित्व कर सकता है।

### ४. मरुत्

मरुत् अकेला देवता नहीं है, अपितु देवों के एक समूह का नाम मरुत् है। इसलिये इनका प्रयोग सदा बहुवचन में होता है। मरुतों की स्तुति ४२ सूक्तों में है। ये ३३ सूक्तों में स्वतन्त्र रूप में, ७ सूक्तों में इन्द्र के साथ और एक-एक सूक्त में अग्नि और पूषा के साथ वर्णन किये गये हैं। मरुत् देवता आँधियों के देवता हैं और वृष्टि कराते हैं। वे बड़े प्रभावशाली और शक्तिशाली हैं तथा इन्द्र के सहायक हैं। विपक्षियों से रक्षा करने के लिए और रोगों के निवारण के लिये ऋग्वेद में इनसे प्रार्थना की गई है।

सभी मरुद्गण समवयस्क हैं और एक साथ उदित होते हैं। ये रुद्र और पृश्नि के पुत्र कहे गये हैं। पृश्नि एक गौ का नाम है एक स्थान पर मरुतों को वायु का पुत्र भी कहा गया है। मरुत् पृथिवी पर बढ़ते हैं और आकाश में पलते हैं। रोदसी इनके रथ



पर विराजमान रहती है, जो कि सम्भवतः इनकी पत्नी है।

मरुतों की समृद्धि का वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है। ये स्वर्ग के समान स्वर्णिम और अग्नि के समान दीप्तिमान हैं। इनकी तलवारें और भाले बिजलियों के समान चमकते हैं। इनके कुल्हाड़े और धनुष-बाण सुनहरे हैं। ये सुन्दर मालायें, सुनहरी चोगे, भूषण और शिरस्त्राण पहनते हैं। केयूर और वलय इनके आभूषण हैं। इनके रथ बिजलियों की तरह चमकते हैं, जिनमें मटियाली चितकबरी घोड़ियाँ जुती होती हैं।

मरुत् बड़े पराक्रमी देवता हैं। ये पहाड़ों को हिला देते हैं और द्युलोक एवं पृथिवी लोक इनके भय से कांपते हैं। ये सूर्य को ढक लेते हैं और वृक्षों को जंगली हाथियों के समान गिरा देते हैं। इन्द्र के ये विशेष सहायक हैं तथा वृत्र के वध के समय उसकी सहायता करते हैं। ये दैत्यों का स्वयं भी संहार करते हैं और वृत्र को मार कर गौओं का उद्धार करते हैं। ये गायक भी हैं। इन्द्र द्वारा दैत्यों का वध करने पर ये उसकी प्रशंसा के गीत गाते हैं तथा सोम रस निकालते हैं।

मरुतों को सामान्यतः आंधी एवं जलप्रलय का देवता कहा गया है। परन्तु वे अपने भक्तों की रक्षा करते हैं और उनके रोगों का निवारण करते हैं। उनकी प्रधान औषधि जल है।

#### ५. विष्णु

ऋग्वेद के पहले मण्डल के १५४ सूक्त में विष्णु की स्तुति की गई है सर्वानुक्रमणी के अनुसार ६ ऋचाओं में विष्णु की स्तुति है ऋग्वेद में यद्यपि इनका उतना महत्त्वपूर्ण वर्णन नहीं है, तथापि आगे चलकर इन्होंने आर्य देवताओं में सबसे प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया।

विष्णु शब्द 'विष्' धातु से बनता है, जिसका अर्थ है — व्यापनशील होना। व्यापनशील होने से ये सूर्य के वाचक हुये, जिसका अर्थ है — तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाला।

विष्णु के लिये त्रिविक्रम शब्द का प्रयोग भी हुआ है — इसका अर्थ है — तीनों लोकों में अपनी किरणों को फैलाने वाला। विष्णु द्वारा तीन पगों में ब्रह्माण्ड को नापने के महत्त्वपूर्ण कार्य का वर्णन ऋग्वेद में किया गया है। इसी के आधार पर बलि दैत्य को विष्णु द्वारा छलने की पौराणिक कथा कल्पित हुई होगी। इस कथा के अनुसार विष्णु ने वामन का रूप रख कर बलि दैत्य से तीन पग भूमि मांगी। उसने एक पग में पृथ्वी को और दूसरे पग में अन्तरिक्ष को नापकर तीसरा पग बलि के सिर पर रखकर उसे पाताल में पहुंचा दिया। वस्तुतः त्रिविक्रम का अभिप्राय है कि सूर्य रूप विष्णु पृथिवीलोक, द्युलोक, और अन्तरिक्ष लोक में अपनी किरणों का प्रसार करते हैं तथा इनके प्रकाश से जरायुज, अण्डज और उद्भिज सभी प्रकार की सृष्टि अनुप्राणित होती है।

विष्णु को उरुक्रम और उरुगाय भी कहा गया है उरुक्रम शब्द का अर्थ



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

है—महान् शक्तिशाली, एवं उरुगाय शब्द का अर्थ है—अनेक प्राणियों से स्तुति किया जाने वाला अथवा विशाल कीर्ति वाला या अनेक देशों में जाने वाला अथवा शत्रुओं को रुला देने वाला। उरुगाय शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में १२१ बार हुआ है।

विष्णु को संसार का रक्षक एवं अनन्त शक्ति सम्पन्न कहा गया है। पाशविक शक्ति की अपेक्षा उसकी बौद्धिक शक्ति अधिक प्रबल है। इसलिये वह सब देवताओं में सबसे अधिक चतुर है।

विष्णु को इन्द्र का छोटा भाई भी कहा गया है। विष्णु शब्द का अर्थ क्रियाशील भी है। यह सभी देवताओं में सबसे अधिक क्रियाशील है तथा उनकी सहायता करता है। वृत्र के वध के समय विष्णु ने इन्द्र का साथ दिया था तथा वहाँ उनका मरुतों से भी सम्पर्क हुआ।

विष्णु को परम पद का अधिष्ठाता कहा गया है। उनका परम पद उच्चलोक है जहाँ मधु का उत्स है और बड़े सींगों वाली चंचल गायें सूर्य की किरणें भी हो सकती हैं। पुराणों के अनुसार विष्णुलोक को गोलोक कहा गया है विष्णु के भक्त इस लोक को जाते हैं और उत्तम पदार्थों का भोग करते हैं।

### ६. सूर्य

ऋग्वेद के वर्णनों के अनुसार लोकों को प्रकाशित करने वाला सूर्य ही सूर्य देवता है। इसलिये सूर्य देवता की स्तुति में भौतिक सूर्य की विशेषतायें कही गई हैं। सूर्य का चमकदार घेरा उपासकों के लिये विशेष आकर्षण है। सूर्य को मित्रावरुण का नेत्र कहा गया है। यह नेत्र दूरद्रष्टा और सर्वद्रष्टा है। यह स्थावरों और जंगमों को गति प्रदान करता है। सूर्य के रथ में एक या सात घोड़े जुते होते हैं। इसके एक घोड़े का नाम एतश् है और सात घोड़े हरित कहलाते हैं। सूर्य का पिता द्यौ और माता अदिति है। कहीं कहीं उषा को इसकी माता तथा कहीं पत्नी भी कहा गया है। सूर्य को देवताओं ने ऊपर उठाकर द्युलोक का अधिष्ठाता बना दिया था। सूर्य को आकाश में उड़ने वाला पक्षी या अनेक रंगों वाला अश्व भी कहा गया है। यह बादलों में छिपा हुआ मित्रावरुण का आयुध और इन्द्र का पवि (वज्र) हैं यह अन्धकार को दूर करता है और उसको केंचुली के समान परे फेंक देता है। सूर्य शब्द की उत्पत्ति स्वः से हुई, जिसका अर्थ है—प्रकाश। अवेस्ता में सूर्य के तीव्रगामी अश्वों का वर्णन है तथा इसको अहुरमज्द का नेत्र भी कहा गया है।

### ७. सविता

सविता देवता का सूर्य देवता से बहुत अधिक साम्य है तथा कभी—कभी दोनों देवताओं को एक ही मान लिया गया है। तथापि इसका रूप सूर्य से पृथक् कहा गया है। सविता शब्द की निष्पत्ति 'सू' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है—उत्पन्न करना, गति देना, प्रेरणा देना या प्राण देना। सविता के कार्य भी इन्हीं अर्थों के अनुरूप हैं।

सविता का स्वरूप आलोकमय तथा स्वर्णिम है। उसके नेत्र, हाथ और जीभ सभी



स्वर्णिम हैं। उसका वाहन रथ सुवर्ण की आभा वाला है और रथ के धुरे सोने की तरह चमकीले हैं। उसके रथ पर सुनहरी यष्टियां हैं तथा यह मोतियों से सज्जित हैं रथ को दो या अधिक लाल या सफेद घोड़े खींचते हैं। इस रथ पर बैठ कर यह सारे विश्व में घूमता है।

सविता दिन और रात का स्वामी है। वह सुवर्णमय भुजाओं सदृश किरणों से आकाश को व्याप्त करता हुआ आकाश में उदित होता है। प्रदोष और प्रत्यूष दोनों से इसका सम्बन्ध है। यह दुःस्वप्नों का नाशक है और दुर्भाग्य को दूर भगाता है। यह यजमानों की रक्षा करता है, मनुष्यों को पाप से रहित करता है, राक्षसों तथा यातुधानों को दूर भगाता है। वह नियमों का सम्यक् पालन कराता है। जल और वायु उसके आश्रित हैं। अन्य देवता उसके नेतृत्व को स्वीकार करते हैं तथा कोई भी उसकी इच्छा का उल्लंघन नहीं कर सकता। पवित्र गायत्री मंत्र में सविता की महत्ता गाई गई है।

#### ८. मित्र

ऋग्वेद के देवताओं में मित्र का वरुण के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है केवल एक स्थान पर (ऋग्वेद के तीसरे मण्डल की ५९ वीं ऋचा) मित्र का स्वतन्त्र रूप में वर्णन है, अन्य सभी स्थानों पर इसकी स्तुति वरुण के साथ की गई है। उषा के आगे-आगे रहने वाला अग्नि मित्र का जन्म दाता है जो पूर्ण रूप से दीप्त होकर स्वयं मित्र संज्ञा को धारण कर लेता है।

मित्र के कार्य प्रायः सविता जैसे हैं। यह शब्दों द्वारा मनुष्यों को नियन्त्रित करता है, निर्निमेष आंखों से कृषकों को देखता है और उनको कृषि करने के लिये प्रेरणा देता है। किन्हीं-किन्हीं मंत्रों में उसको प्रकाश का देवता भी कहा गया है। मित्र शब्द की रचना "मिद्" धातु से होती है, जिसका अर्थ है—सुहृद् होना। मित्र के स्वभाव और कार्य इसी के अनुरूप हैं वह बहुत दयालु और शक्तिशाली है।

अथर्ववेद में और ब्राह्मण ग्रन्थों में मित्र और वरुण के भेद बताये गये हैं। मित्र का सम्बन्ध दिन के साथ है और वरुण का रात्रि के साथ।

#### ९. उषस्

उषा के वर्णनों में ऋग्वेद के कवियों ने अपनी अलौकिक प्रतिभा को अभिव्यञ्जित किया है। ऋग्वेद के २० सूक्तों में उषा की स्तुति गाई गयी है। वह सौन्दर्य की देवी है। उसके उदय होने पर आकाश का कोना-कोना जगमगा जाता है तथा विश्व हर्ष के अतिरेक से भर जाता है। उषा सूर्य की प्रेयसी है। वह एक नर्तकी के समान सजी हुई और चमकीले वस्त्र पहने हुये पूर्व दिशा में अपना आकर्षक रूप प्रकट करती है। सूर्य एक रसिक युवक के समान उसका अनुगमन करता है।

उषा प्रकाश में स्नान करती हुई रात्रि रूपी नायिका की काली पोशाक को उतार कर फेंक देती है। वह युवती है और प्रतिदिन उत्पन्न होती है। उषा को पुराणी युवति:



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

कहा गया है। अर्थात् अत्यन्त प्राचीन होते हुये भी वह नई नवेली युवती के समान सुन्दर दिखाई देती है। विभिन्न रंगों में चमकती हुई उषा मरणशील मनुष्यों को उद्बोधित करती है। उसके निकलते ही आकाश का कोना-कोना जगमगा जाता है तथा स्वर्ग का द्वार खुल जाता है।

उषा की किरणें पशुओं के झुण्ड के समान निकलती हैं और दुःस्वप्नों को, हानिकर भूत-प्रेतों को तथा दिशाओं को भगा देती है।

उषा प्रत्येक प्राणी को अपने कार्य में प्रवृत्त कर देती है। चिड़ियाँ आकाश में उड़ने लगती हैं और मनुष्य अपने कार्यों में लग जाता है। नियमों का पालन कराने में वह सदा तत्पर है। देवताओं के उपासकों को वह प्रातः काल जगा देती है, उनको भजन में प्रवृत्त करती है और देवताओं को सोमपान में लगाती है।

उषा का रथ चमकदार है और उसमें लाल रंग के घोड़े जुते हैं जिनसे वह खींचा जाता है। सूर्य की प्रातःकालीन किरणें ये घोड़े हैं। उषा का सूर्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह सूर्य की प्रेयसी है तथा सूर्य एक रसिक युवक के समान उसके पीछे-पीछे जाता है। कहीं कहीं सूर्य को उसका पुत्र भी बताया गया है, उस कान्तिमान् पुत्र को गोद में उठा कर वह उदित होती है।

कुछ स्थानों पर उषा को रात्रि की छोटी बहन भी कहा गया है तथा दोनों का साथ-साथ वर्णन है। आकाश में उत्पन्न होने के कारण उषा को स्वर्ग की पुत्री भी कहा गया है। उषा का अग्नि के साथ भी सम्बन्ध मिलता है। अग्नि उषा का प्रेमी है उषा अग्नि को जलाती है, तब अग्नि उससे मिलने के लिये लपटों को ऊपर उठाता है। उषा का सम्बन्ध अश्विनी कुमारों से भी कहा गया है।

उषा अपने भक्तों को धन, पुत्र, यश आदि प्रदान करती है, अतः उसको "मघोनी" भी कहा गया है उषा शब्द की निष्पत्ति "वस्" धातु से हुई है, जिसका अर्थ है चमकना। उषा में ज्योतिष्मान् पदार्थ निवास करते हैं।

उषा वैदिक ऋषियों की प्रमुख देवी रही। अनेक प्रक्रियायें उषा के बिना निष्पन्न नहीं हो सकती थीं। यज्ञों में उषा का विशेष स्थान है पौराणिक गाथाओं में उसका विशेष स्थान रहा। उषा का आगमन आर्यों में उत्साह और हर्ष की नवीन भावनाओं को भर देता था। उसका व्यक्तित्व किसी अन्य देवता से कम नहीं था। लौकिक कार्यों के साथ उसका विशेष सम्बन्ध रहा। अपनी शानदार चमक के लिये, नियमों का पालन कराने के लिये, निरन्तर उन्नति के लिये और भौतिक समृद्धि की प्राप्ति के लिये उषा की उपासना की जाती रही। वह सदाचार सम्बन्धी त्रुटियों को पूरा करती है और ऋत का वितरण करती है। इसलिये इसको ऋतावरी भी कहा जाता है। उषा को वर्ष की स्त्री और ऋतुओं की स्वामिनी भी कहा गया है।

वैदिक काव्यों में उषा की विशेष महिमा गाई गई है। मघोनी, विश्ववाराः, प्रचेताः,



सुभगाः, रेवती आदि उसके विशेषण हैं। वह प्रकाश-पुञ्ज का उसी प्रकार आवर्तन करती है, जैसे कोई पहिये को लुढ़काता है।

शतपथ ब्राह्मण की एक कथा के अनुसार काले रंग के एक दैत्य ने उषा को गुफा में बन्द कर दिया। देवताओं के बहुत खोजने पर भी उसका पता न लगा। अन्त में सूर्य ने उषा का उद्धार किया। इसका अभिप्राय है कि कालरात्रि रूपी राक्षस ने उषा को बन्द कर दिया और इन्द्र रूपी सूर्य ने उसको बन्धन मुक्त किया।

## १०. सोम

सोम ऋग्वेद का एक प्रमुख देवता हैं इसकी स्तुति १२० सूक्तों में की गई है। ऋग्वेद का सारा नवम मण्डल सोम की स्तुति से भरा हुआ है। सूक्तों की संख्या के आधार पर अग्नि के बाद सोम का स्थान आता है। ऋग्वेद के वर्णनों के अनुसार सोम एक वनस्पति होती थी, जो मुञ्जवान् पर्वत पर होती थी। इसका रस अत्यधिक शक्तिप्रद एवं स्फूर्तिदायक था। विशिष्ट यज्ञों के अवसरों पर देवताओं को अर्चित करके इसका पान किया जाता था। इन्द्र को सोमरस के पान करने का बहुत शौक था। सोमरस को विशिष्ट विधियों द्वारा तैयार किया जाता है।

## ११. पूषन्

पूषा की स्तुति ऋग्वेद के आठ सूक्तों में की गई है। इनमें से पांच सूक्त छठे मण्डल के हैं। पूषा का वर्णन सोम के साथ आता है। "पूषन्" शब्द का अर्थ है पोषण करने वाला। वह सूर्य की पोषण शक्ति का प्रतीक हैं पूषा को चराचर का स्वामी तथा मार्गों का रक्षक बताया गया है।

ऋग्वेद में पूषा की मनुष्य-आकृति का विशेष परिचय नहीं मिलता। परन्तु उसके पैर तथा दाहिने हाथ का वर्णन मिलता है। पूषन् के अन्दर जुल्फों वाले केश हैं तथा दाढ़ी हैं उसके पास सुनहरी तलवार है तथा हाथों में सोने की माला तथा अंकुश हैं पूषा के रथ में घोड़ों के स्थान पर बकरे जोते जाते हैं वह प्रत्येक प्राणी को प्रेम की दृष्टि से देखता है और दलिया या दही मिले सत्तू (करम्भक) का भोजन करता हैं पूषन् स्वर्ग में निवास करता है। वह अपने रथ में बैठ कर भ्रमण करता है तथा सारे संसार को देखता है। पूषा को मार्गों का देवता भी कहा गया है। वह मार्गों के भय को दूर भगाता है।

सूर्य को देवताओं ने उषा या सूर्या का प्रति बनाया। उषा पूषा की बहन है। सुनहरी दिव्य रथ में बैठ कर वह उषा का दूत बन कर सूर्य के पास जाता है। इस विवाह विधि का वर्णन १० वें मण्डल ८५ वें सूक्त में किया गया है।

ऋग्वेद में पूषा को त्यागियों का पुत्र (विमुचीनपात्) कहा गया है। वह पशुओं का रक्षक है और उनको सुरक्षित घर पहुंचा देता है। आघृणि (प्रकाशवान्) उसका विशेषण है। पूषा अत्यधिक उदार है और प्रेतात्माओं को पितृलोक में ले जाता है। पूषा चराचर का स्वामी है।



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

### १२. वात

वात भौतिक वायु का देवता है। ऋग्वेद के दो छोटे-छोटे सूक्तों में उसकी स्तुति की गई है। इसको वायु का प्रेरक और आत्मा कहा गया है। वात और वायु इन दोनों शब्दों की रचना एक ही "वा" धातु से हुई है। इसका अर्थ है—गति करना या गन्ध को ले जाना। कुछ स्थानों पर वात का सम्बन्ध पर्जन्य से बताया गया है। जिस प्रकार वरुण का सम्बन्ध इन्द्र से है और दोनों का साथ-साथ वर्णन किया जाता है, उसी प्रकार वात का सम्बन्ध पर्जन्य से है। वात देवों का श्वास-प्रश्वास है। रुद्र के समान वह रोगों को दूर करता है, जीवन की अवधि को बढ़ाता है तथा शारीरिक गुणों को भरता है। यह घर में अमरत्व की निधि है। यह चमकीले प्रकाश को उत्पन्न करता है। इससे बभ्रु वर्ण की वायु बहने लगती है और यह प्रातःकाल के समय उषा को प्रकाशयुक्त करता है।

वात तीव्र वेगशाली हैं इसके वेग की उपमा प्रायः देवों और अश्वों के साथ दी जाती है। यह गर्जना करता हुआ अपने मार्ग से जाता है। उस समय नीला आकाश पाटल रंग का हो जाता है और पृथिवी पर भयानक बवण्डर उठते हैं जो दिशाओं को भर देते हैं वह सारे भुवन का राजा है। वात देवता के रथ का भी वर्णन मिलता है, जो आकाश में गमन करता है तथा पृथिवी पर घूल उड़ाता है। वात का स्वरूप किसी को दिखाई नहीं देता, केवल घोष ही सुनाई देता है।

### १३. वास्तोष्पति

वास्तोष्पति देवता की स्तुति का ऋग्वेद में केवल एक ही सूक्त है परन्तु इसका उल्लेख सात बार आया है। वास्तोष्पति के गुण सोम के समान ही कहे गये हैं ऋग्वेद के वास्तोष्पति सूक्त का प्रयोग गृह प्रवेश के समय किया जाता था। जब किसी नये घर में प्रवेश किया जावे तो वास्तोष्पति देवता की स्तुति करनी चाहिये और उसकी कृपा माननी चाहिये।

वास्तोष्पति देवता को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया। वह निर्मित किये गये घर का अधिपति है और उसकी रक्षा करता है। इसको वृक्षों और पर्वतों का देवता भी माना गया है। गृह निर्माण के लिये गृहस्थ की साधनभूत जिन वस्तुओं का वर्णन किया गया है। उनके उपयोग के लिये वास्तोष्पति देवता से अनुमति मांगी जाती है। ऋग्वेद में वास्तोष्पति देवता की स्तुति करते हुये यह माँगा गया है कि हमारे धन की तथा पशुओं की वृद्धि करे, हमारे बुढ़ापे को दूर करे, हमारे लिये गृह—जीवन की उपयोगी वस्तुओं को जुटावे तथा उनकी कमी न होने दे। वास्तोष्पति सूक्त में गृह—जीवन के लिये उपयोगी जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, उनको गिनाया गया है तथा देवता से उनकी कामना की गई है।

ऋग्वेद के अनुसार गृह सम्पत्ति की सुरक्षा और उन्नति के लिये वास्तोष्पति देवता की उपासना करनी चाहिये।



## १४. वाक्

ऋग्वेद में वाक् की वाणी की देवी के रूप में स्तुति की गई हैं इसमें वे सभी विशेषतायें हैं जो वाणी में होती हैं वाक् को ब्रह्म से उत्पन्न हुई एक महान् शक्ति के रूप में वर्णित किया गया है। सर्वानुक्रमणी के अनुसार वाक् के पिता का नाम ऋम्भण ऋषि था।

वाक् ब्रह्म का ही एक रूप है। वह देवताओं की प्रेरक है और उनको कर्तव्य के पालन में सहायता देती है। वह अपने भक्तों को अपने तेज से ऋषि, ब्राह्मण और विद्वान् बना देती है। वाणी की महत्ता को प्राप्त करने के लिये और वाक्शक्ति का विकास करने के लिये वाक् सूक्त का पाठ करना चाहिये। इस सूक्त में वाणी के प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपों का वर्णन किया गया है।

## १५. रुद्र

ऋग्वेद में रुद्र देवता का वर्णन बहुत अधिक नहीं किया गया और उसका वर्णन कुछ ही ऋचाओं में है, तथापि रुद्र को अत्यधिक शक्तिशाली एवं भयंकर रूप में चित्रित किया गया है।

रुद्र के बाह्यरूप का मनोहारी वर्णन मिलता है। उसके सुन्दर होठ हैं, जुल्फों वाले केश हैं, रंग भूरा है, आकृति मसृण और कान्तिमान है रुद्र मध्याह्नकालीन सूर्य के समान चमकता है। वह सोने के आभूषणों को धारण करता है और गले में चमकदार निष्क (हार) को पहनता है उसके पास विशेष आयुध है। वह वज्र को धारण करता है तथा बिजली की सी चमक वाले बाणों को अपने पास रखता है।

ऋग्वेद में रुद्र को मरुतों का पिता एवं स्वामी कहा गया है। रुद्र ने इनको पृथिवी नाम की गौओं के थनों से उत्पन्न किया था। जगत् का विनाश करने में वह रुद्र शूकर के तुल्य है। यह शूकर लाल रंग का स्वर्ग का शूकर है और उसको 'अरुष् कहते हैं। वह शूकर विशालकाय है।

रुद्र शक्तिशालियों से भी अधिक शक्तिशाली है, शीघ्रगामी है और फुर्तीला है। कोई देवता उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। वह संसार का स्वामी और पिता है, उदार, आशुतोष और शिव हैं वह जगत के पापों और पुण्यों का निरीक्षण करता है। ऋचाओं में रुद्र के भयानक बाणों का वर्णन किया गया है। उसका क्रोध किसी की परवाह न करने वाला, न बदलने वाला, सहन न किया जा सकने वाला और वीभत्स है। रुद्र को देवों का अधिदेव कहा गया है और प्रार्थना की गई है कि वह हमें न मारे और न हानि पहुंचाये।

रुद्र के द्रोह से बचने के लिये अनेक प्रार्थनायें की गई हैं और यह प्रार्थना की गई है कि वह रुद्र गौओं तथा मनुष्यों को मारने वाले वज्र से हमारी रक्षा करे। रुद्र केवल भयानक और दण्ड देने वाला ही नहीं है, अपितु कष्टों से बचाता भी है और दया का दान



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

भी करता है।

रुद्र को स्वास्थ्य का देवता भी कहा गया है। उसके पास स्वास्थ्य प्रदान करने की विशेष शक्तियाँ हैं तथा रोगों को दूर करने वाली हजारों औषधियाँ हैं। औषधियों के लिये जलाष एवं जलाषभेषज शब्दों के प्रयोग वैदिक मंत्रों में आते हैं।

ऋग्वेद में रुद्र की भौतिक शक्तियों के सम्बन्ध में विशेष तो नहीं कहा गया, परन्तु प्राकृतिक वर्णनों से वह आंधी उठाने वाला समझा जा सकता है। उसका दुःखद रूप नर-पशु-वृक्ष आदि को ध्वंस करने वाली बिजली के समान दिखाई देता है। उसका रूप एक ओर जहाँ कठोर है, वहीं दूसरी ओर कोमल भी है।

ऋग्वेद में यद्यपि रुद्र के सम्बन्ध में अधिक विस्तृत वर्णन नहीं है और उसको अधिक महत्त्व नहीं मिला, तथापि उत्तरकाल में वह आर्यों के प्रमुखतम देवता के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। यजुर्वेद के काल में ही उसको यह प्रतिष्ठा प्राप्त होनी प्रारम्भ हो गई थी रुद्राष्टाध्यायी और यजुर्वेद में रुद्र को शत्रुओं का प्रतिकार करने में अनुपम सामर्थ्य से युक्त कहा गया है। एक ओर जहाँ वह शत्रुओं और द्रोहियों का रुलाने वाला है, वहीं दूसरी ओर शान्ति का अग्रदूत है।

### १६. यम

यम प्राणों का देवता है और वह मृतात्मा को मार्ग दिखाता है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के चौदहवें से लेकर अठारहवें सूक्त तक मृत्यु तथा भावी जीवन से सम्बन्धित पारलौकिक मंत्र हैं। इनमें पहले सूक्त में यम देवता हैं। इन सूक्तों के अतिरिक्त तीन अन्य सूक्तों में तथा एक यम-यमी सूक्त में देवता को सम्बोधित किया गया है।

वैदिक मंत्रों के अनुसार यम के पिता विवस्वान् हैं तथा त्वष्टा की पुत्री सरण्यु उसकी माता हैं यम मृतात्माओं का देवता हैं मनुष्यों के मरने के बाद वह जीवों की गति के मार्ग का निर्देशन करता है। यम का सम्बन्ध वरुण, बृहस्पति और अग्नि से भी है। अग्नि से उसका विशेष सम्बन्ध है क्योंकि वह मृत आत्माओं को यम तक पहुँचाता है। इस कारण अग्नि को यम का मित्र एवं पुरोहित कहा गया है। यम का पितरों, विशेष रूप से अङ्गिरस् से सम्बन्ध है। यम प्रेतात्माओं पर शासन करता है।

यम जीवों के कर्मों का निर्णय करता है। वह पुण्य आत्माओं को प्रकाश वाले स्थानों पर भेजता है। यहाँ पितृगणों की सेवा पुत्रों द्वारा की जाती है। पितरों की कई श्रेणियाँ हैं। यथा-अङ्गिरा, विरूप, नवग्वा, अथर्वा, भृगु, वसिष्ठ आदि। शरीर के पञ्चभूतों में मिल जाने पर जीवात्मा विभिन्न लोकों में भ्रमण करता रहता है।

एक वर्णन के अनुसार यम का निवास सुदूर अन्तरिक्ष में है। यहाँ अन्य देवता भी निवास करते हैं। यहाँ वह मधुर ध्वनियों से घिरा रहता है। यम के लिये सोम का अभिषेक किया जाता है तथा घृत की आहुति दी जाती है। वह यज्ञ-स्थल पर स्वयं आकर अपने भोग को ग्रहण करता है। यम की प्रार्थना इसलिये की जाती है कि वह



जीवन को बढ़ावे तथा देवताओं तक ले जावे।

यम ने सबसे पहले परलोक की खोज की थी। उसके द्वारा प्राचीन पितरों के स्थान तक पहुंचा जा सकता है। मृत्यु यम का मार्ग है। उल्लू और कबूतर यम के दूत हैं तथा दो चतुरक्ष, दीर्घघोण तथा सारमेय श्वान उसके सेवक हैं। वे मार्ग की रक्षा करते हैं और मृतक को यम के पास ले जाते हैं।

यम शब्द की रचना 'यम्' धातु से होती है। जो सभी प्राणियों का नियन्त्रण करता है, वह यम हैं यम से सम्बन्धित सूक्तों का पाठ दाह-संस्कार के समय किया जाता है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि वैदिक युग से ही भारतीयों में शव के दाह की प्रथा रही हैं अग्नि मृतक को लोकान्तर में पहुँचाता है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि यम नाम प्राण वायु का है। इसके निरोध को प्राणायाम कहते हैं। यह हठ योग का आधार है।

### १७. पर्जन्य

ऋग्वेद में पर्जन्य को साधारण देवता माना जाता है। पर्जन्य की स्तुति के केवल तीन सूक्त हैं। पर्जन्य का अर्थ है—जल को बरसाने वाला मेघ। इस देवता का वर्णन इसी रूप में किया गया है। मेघ को जल भरने का एक बड़ा पात्र कहा गया है, जिसे दृति कहते हैं।

पर्जन्य औषधियों को उत्पन्न करने वाला देवता है। इसकी उपमा बृषभ से दी गई है, जिसकी सवारी जल से भरे हुये मेघ हैं। यह अंकुरों को उत्पन्न करता है और पृथिवी को विस्तृत बनाता है। पर्जन्य को दिव्य जलों का पिता कहा गया है। जल को बरसाते हुए वह बिजली के एवं सिंह-गर्जनाओं के साथ जलमय रथ पर आरुढ़ होकर आकाश में विचरण करता है।

पर्जन्य को औषधियों, तृणों और अंकुरों का जन्मदाता कहा गया है। यह गौओं, घोड़ियों और अन्य मादा जातियों में गर्भाधान की सामर्थ्य को उत्पन्न करता है। एक स्थान पर पर्जन्य को द्युलोक एवं पृथिवी लोक का पिता कहा गया है। दूसरे स्थान पर द्युलोक को इसका पिता तथा पृथिवी को पत्नी कहा गया है। पर्जन्य शब्द का अर्थ है—जन्य अर्थात् उत्पन्न होने वाले चर और अचर को पूर्ण करने वाला।

### १८. अश्विन

ये देवता सदा युगल रूप में उपस्थित होते हैं तथा 'अश्विनौ' इस द्विवचन में इनका प्रयोग किया जाता है। इन्द्र, अग्नि और सोम के अनन्तर इनका महत्त्व सबसे अधिक है। इनकी स्तुति ५० सूक्तों में की गई है। ये देवता प्रकाश, प्राकृतिक आनन्द और कामपूर्ति के साधन प्रस्तुत करते हैं।

वेदमंत्रों में इनके रूप का विस्तृत वर्णन किया गया है। अश्विनी देवता दो अलग-अलग भाई हैं। कहीं-कहीं उनको जुड़वाँ भाई भी बताया गया है। ये युवा हैं,



प्राचीन हैं, चमकदार हैं और कान्तिमान हैं। सुनहरी चमक, सौन्दर्य और कमल की मालाओं से वे सदा विभूषित रहते हैं। उनका मार्ग स्वर्णमय हैं उनके अंग दृढ़ हैं, स्फूर्तिशाली हैं और वे गरुड़ के समान वेगगामी हैं। उनमें अनन्त शक्तियाँ हैं और उनकी बुद्धि असीम हैं उनको दस्र (आश्चर्यपूर्ण) तथा नासत्य (सत्य से पूर्ण) भी कहा गया है।

इन देवताओं के रथ और उनकी गति अप्रतिम है। रथ की चमक सूर्य के समान है और उसके अवयव सोने के बने हैं रथ में तीन पहिये हैं और उसका वेग पवन से भी अधिक है। इनमें सुनहरी पंखों वाले घोड़े जुते हैं। इस रथ को ऋभु नामक देवताओं ने बनाया था। कभी-कभी रथ में भैंसे और गधे भी जोते जाते हैं। यह रथ पाँच देशों — अन्तरिक्ष, भू, द्यु, सूर्य और चन्द्र लोकों को पार करता है, आकाश के चारों ओर चलता है और द्युलोक तथा भूलोक में गति करता है। यह सूर्य के चारों ओर भी चलता है। रथ की गतियों का वर्णन ऋचाओं में किया गया है।

अश्विनी देवताओं के निवास निश्चित नहीं है। वे कभी वायु-लोक में, कभी स्वर्ग लोक में और कभी समुद्र में निवास करते हैं। वे उषा के प्रकट होने के अनन्तर और सूर्योदय के मध्य में प्रकट होते हैं। इस समय रात्रि की कालिमा पाटल गौओं के समान लाल बन जाती है। उषा इनको जगाती है और ये उसके पीछे-पीछे जाते हैं। रथ पर बैठकर ये पृथिवी लोक में आते हैं तथा अपने उपासकों का कल्याण करते हैं। प्रातःकाल के अतिरिक्त वे मध्याह्न और सायंकाल भी आते हैं और अन्धरे को तथा हानिकारक भूत-प्रेत आदि आत्माओं को भगा देते हैं।

अश्विनी देवता स्वर्ग के पुत्र हैं। उनको त्वष्टा की पुत्री सरण्यू का पुत्र कहा गया है सरण्यू शब्द का अर्थ सूर्य और उषा का उदय काल है। अश्विनी देवताओं को पूजा का पुत्र भी बताया गया है। उषा को उनकी बहन कहा गया है। ऋग्वेद में सूर्य की पुत्री सूर्या के विवाह के प्रसङ्ग में इन देवताओं का वर्णन आया है। सूर्या ने इनका वरण किया था और वह इनके रथ पर स्वयं आरुढ़ हुई थी। वे विवाह करने के लिये सूर्या के घर आते हैं और उसको प्रजनन शक्ति प्रदान करते हैं।

अश्विनी देवताओं को सोमरस के प्रति अनुराग हैं। उषा और सूर्य के समान इनका भी सोम पान के लिये आह्वान किया जाता है। वे अत्यधिक बुद्धिमान् हैं, शान्तिमय हैं और दयालु हैं। वे अपने उपासकों तथा भक्तों की रक्षा करते हैं।

ये देवता कुशल चिकित्सक तथा स्वर्ग के वैद्य हैं। शारीरिक व्याधियों को दूर करने, नवयौवन प्रदान करने और नये अंगों की रचना करने में वे समर्थ हैं। ऐसी अनेक गाथायें मिलती हैं, जबकि इन्होंने देवताओं को यौवन प्रदान किया और इनकी शारीरिक अशक्ति को दूर किया। इन्होंने भुज्यु नामक राजा को समुद्र में डूबने से बचाया था।

यास्क ने अश्विन् शब्द के अनेक अर्थ किये हैं तथा इनको न सुलझने वाली पहेली कहा है। इसका ठीक ठीक अर्थ जानना एक समस्या थी। अश्विन शब्द का अर्थ



वह काल है, जबकि छुटपुटा प्रकाश हो। अतः प्रातःकाल और सायंकाल दृष्टिगोचर होने वाले तारों को अश्विन् कहा गया। अश्विनी दो तारे हैं, जिनमें एक प्रातःकाल और दूसरा सायंकाल उदित होता है। ज्योतिषशास्त्र में इन तारों का विशेष स्थान है। वेदों के अनुसार ये तारे एक साथ रहते हैं।

ज्योतिषशास्त्र में अश्विनी तारों का एक समूह है, जो शुभ और अशुभ का द्रष्टा है। शूद्र जाति के रासभ इनके रथ को खींचते हैं। इनकी प्रतिष्ठा और सामाजिक मर्यादा इन्द्र से भी अधिक है। हठयोग के अनुसार दायें और बायें नासापुटों को अश्विनी कहते हैं। इनका ही दूसरा नामा इडा और पिङ्गला है। शीघ्र गमन करने के कारण वायु को अश्विन् कहा जाता है रासभों से वहन होना इनके यौगिक अर्थ को स्पष्ट करता है। भ=आकाश का, रास = शब्द युक्त होना। जब तीव्र हवा चलती है तो आकाश में शब्द भर जाता है।

### १९. द्यावापृथिवी

ऋग्वेद में द्युलोक और पृथिवी लोक की एक युगल देवता के रूप में कल्पना की गई है। द्यौः के स्थान पर द्यावापृथिवी शब्द का प्रयोग अधिक आया है। द्यावापृथिवी को रोदसी नाम से भी पुकारा गया है। द्युलोक की पिता के रूप में तथा पृथिवी लोक की माता के रूप में कल्पना है। ये दोनों बहुत बुद्धिमान् हैं और पिता के समान सबकी रक्षा करते हैं।

द्यावापृथिवी महान् देवता हैं। कभी वृद्ध नहीं होते। ये विस्तृत और लम्बे चौड़े हैं। सबको भोजन, धन और स्थान देते हैं। ये सम्पूर्ण भूमण्डल की रक्षा करते हैं और आचरणों तथा नियमों का पालन कराते हैं। ये शरीर के पोषक तत्त्व को बढ़ाते हैं।

द्यावापृथिवी इन दोनों देवताओं का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध हैं दोनों सदा एक साथ रहते हैं तथा एक दूसरे पर समान अधिकार रखते हैं। अन्य युगल देवताओं की अपेक्षा यह युगल अधिक घनिष्ट हैं।

### २०. विश्वेदेव

ऋग्वेद में विश्वेदेव देवताओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। लगभग ४० सूक्तों में विश्वदेव देवसमूह का आह्वान किया गया है। ऋग्वेद में ३३ देवता प्रधान हैं, जो द्युस्थानीय, पृथिवीस्थानीय और अन्तरिक्षस्थानीय इन तीन वर्गों में बांटे गये हैं। विश्वेदेव में इन सभी का ग्रहण किया गया है।

विश्वेदेव की दृष्टि से ऋग्वेद का ८.२१ सूक्त अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके प्रत्येक मंत्र में एक देवता का वर्णन है, जो अनेक दिव्य गुणों से युक्त है। विश्वेदेव देव-समूह में इन्द्र, अग्नि, सोम, त्वष्टा, रुद्र, पूषन्, विष्णु, अश्विनी, मित्रावरुण और अंगीरस् का अधिक समावेश हो जाता है।



**२१. अपस्**

ऋग्वेद में अपस् देवता को चार सूक्तों में सम्बोधित किया गया है। इनका प्रयोग बहुवचन में होता है। ये जल के देवता हैं अन्य कुछ मंत्रों में भी जल का वर्णन मिलता है।

ऋग्वेद में 'अपस्' देवता का वर्णन कहीं माता के रूप में, कहीं स्त्री के रूप में और कहीं अधिष्ठात्री देवता के रूप में हैं। यह देवताओं का अनुयायी है और यज्ञ करने वालों को वरदान देता है। वज्रधारी इन्द्र ने जलों के लिये एक मार्ग का खनन किया था। ये उस मार्ग से कभी नहीं हटते। जहाँ देवता रहते हैं, वहीं जल रहते हैं। मित्रावरुण और सूर्य उसके साथी हैं। ये मनुष्यों के पाप और पुण्यों पर दृष्टि रखते हैं।

जल (अपस्) के दो भेद किये गये हैं — दिव्य और भौम। इन दोनों का ही गन्तव्य स्थान समुद्र है जल को अग्नि की माता कहा है, अतः यह अग्नि के उत्पादक हैं। जलों से सरसता पाकर संसार गति करता है। जल गन्दगी को दूर करके पवित्रता प्रदान करते हैं। ये आचरण सम्बन्धी मलिनताओं को भी दूर करते हैं। बलपूर्वक किये गये पापों को और आलस्य को जल दूर कर देते हैं।

जल महान् औषधि हैं। वे विभिन्न रोगों को दूर करते हैं और स्वास्थ्य, धन, शक्ति, दीर्घ आयु एवं अमरत्व प्रदान करते हैं। विश्व उनकी कृपा के लिये प्रार्थना करता है। जलों का सोम से भी सम्बन्ध है वे सोम नाम के पुरोहित को रस प्रदान करते हैं।

मधु के साथ जलों का विशेष सम्बन्ध है। वे अपने दूध को शहद में मिलाते हैं तथा इन्द्र उसका पान करता है। इससे इन्द्र को शक्ति और आनन्द प्राप्त होते हैं। शहद की लहरें इन्द्र को मादकता प्रदान करती हैं और वे लहरें आकाश तक ऊंची उठ जाती हैं। घी, दूध और शहद को लेकर जल इन्द्र के सम्मुख उपस्थित होते हैं तथा सोम को उसके लिये प्रस्तुत करते हैं। सोम इन्द्र को विशेष आनन्द प्रदान करता है। यहाँ सोम इसी प्रकार आनन्द प्राप्त करता है, जैसे एक युवक सुन्दर लड़कियों में। वह उनके पास इसी प्रकार पहुँचता है, जैसे एक प्रेमी प्रेमिका के पास।

अपस् को देवता के रूप में बहुत पहले ही स्वीकार कर लिया गया होगा। अवेस्ता में भी जलों को देवता माना गया है।

**२२. पुरुष**

सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऋग्वेद में ६-७ सूक्त हैं। इनमें पुरुष सूक्त बहुत प्रसिद्ध है। इस सूक्त में सृष्टि के पदार्थों की रचना का वर्णन किया गया है।

सृष्टि का मूल रूप से रचना करने वाला पुरुष है, जिसके सभी अंग सृष्टि के विभिन्न अंग बन जाते हैं। सृष्टि की रचना एक यज्ञ का रूप है, जिसमें पुरुष की बलि दी जाती है।

इस सूक्त में विराट् पुरुष के स्वरूप का वर्णन किया गया है। भगवद्गीता के ११



वें अध्याय के विराट् पुरुष पर इसी सूक्त का प्रभाव पड़ा है। सांख्य दर्शन में पुरुष बहुलता को भी सम्भवतः यहीं से लिया गया होगा। कुछ विद्वानों का मत है कि इस सूक्त की रचना कुछ अर्वाचीन है, क्योंकि इसमें एक परम पुरुष की उपासना की गई है और एकदेवतावाद का प्रतिपादन किया गया है।

यह विराट् पुरुष हजारों सिरों, आँखों और पैरों वाला है और उसने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर रखा है। वह भूत और भव्य का स्वामी है। उस पुरुष से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण उत्पन्न हुये; वसन्त आदि ऋतुयें उत्पन्न हुई; ऋक्, यजुस् और साम उत्पन्न हुये। चारों वर्ण एक पुरुष के चार अंग हैं, सूर्य चक्षु है, वायु प्राण है, अग्नि मुख है और मन चन्द्रमा है। स्वर्ग या नरक की प्राप्ति इस पुरुष रूप यज्ञ द्वारा होती है। पुरुष सूक्त के अनुसार भौतिक जगत् वृक्ष, पशु, तृण, सूर्य, चन्द्र आदि की सृष्टि मनुष्य की सृष्टि से पहले हुई। इसने एक चरण से पृथिवी लोक की रचना की और तीन चरणों को ऊपर रखा।

ऋषियों द्वारा इस पुरुष यज्ञ का विस्तार हुआ था। इस सूक्त का रहस्य यही है कि आत्मज्ञान के द्वारा जीवन को सफल बनाना चाहिये।

### २३. हिरण्यगर्भ

वेदों में पुरुष से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति प्रदर्शित की गई है। पुरुष से जो विराट् उत्पन्न होता है, वही हिरण्यगर्भ है। हिरण्यगर्भ को प्रजापति भी कहा गया है पुराणों में इसी को ब्रह्मा कहा गया है।

हिरण्यगर्भ और प्रजापति कहीं तो पर्यायवाची है, कहीं हिरण्यगर्भ को प्रजापति से और कहीं प्रजापति से हिरण्यगर्भ को श्रेष्ठ बताया गया है। वास्तव में दोनों एक ही हैं। हिरण्यगर्भ सूक्त में इन दोनों की स्तुति की गई है।

सृष्टि के आदि में सबसे पहले हिरण्यगर्भ की स्तुति हुई थी। वह उत्पन्न हुई सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी था। उसने इसे पृथिवी और द्युलोक को धारण किया हुआ था और अपने तेज से अन्तरिक्ष में टिका हुआ था। देव लोक और पृथिवी लोक के प्राणी अपनी रक्षा के लिये उसी को पुकारते हैं। प्राण शक्ति और बल को देने वाला वही है। हिरण्यगर्भ पर्वतों की ऊंचाई और समुद्रों की गहराई को जानता है। द्युलोक उसका सिर है तथा पृथिवी पैर हैं हिरण्यगर्भ देवता कर्म फल का प्रदान करने वाला है। इसी हिरण्यगर्भ के आधार पर वेदान्त दर्शन के "सर्व खल्विदं ब्रह्म" सूत्र का विकास हुआ था।

हिरण्यगर्भ सूक्त में १० मंत्र हैं। ९ मंत्रों की समाप्ति "कस्मै देवाय हविषा विधेम" से हुई है तथा दसवें मंत्र "प्रजापते न त्वदेतानि" में इसका उत्तर दिया गया है।



## वेदों की स्वर प्रक्रिया

वेदों की भाषा को संगीतात्मक कहा जाता है। वेद मंत्रों का पाठ विशेष स्वरों द्वारा तथा विशेष अक्षरों पर बल देकर किया जाता है। किसी शब्द के किसी अक्षर को स्वर में पढ़ा जाता है, इससे उस शब्द के अर्थ का निर्णय होता है। यदि किसी शब्द के अक्षर के स्वर को बदल दिया जाये, तो उस शब्द का अर्थ परिवर्तित हो जायेगा। उदाहरण के लिये 'इन्द्रशत्रु' शब्द हैं इसमें दो पद हैं इन्द्र और शत्रु, यदि आदि पद को उदात्त समझा जावे तो इसका विग्रह बहुव्रीहि समास में 'इन्द्रः शत्रु यस्य स' होगा। अर्थात् 'इन्द्र उसको मारने वाला' होगा। यदि अन्तिम पद को उदात्त माना जाये तो इसका विग्रह तत्पुरुष समास में 'इन्द्रस्य शत्रु' होगा। अर्थात् इन्द्र को मारने वाला होगा। इस प्रकार के स्वर के परिवर्तन से अर्थ विपरीत हो जाता है। वैदिक भाषा की स्वरगत यह विशेषता ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं में भी रही थी। जर्मन आदि भाषाओं में अब भी यह विशेषता मिलती है। ग्रीक शब्द 'Lithoblos' में यदि अन्तिम स्वर पर बल दिया जाये तो इसका अर्थ 'पत्थर फेंकने वाला' होगा तथा आदि के स्वर पर बल दिये जाने पर 'पत्थरों से आहत' अर्थ होगा। जर्मन भाषा के 'Uring-hen' शब्द में अन्तिम स्वर पर स्वराघात होने पर इसका अर्थ 'उपेक्षा करना' होगा। अंग्रेजी भाषा के 'Conduct' शब्द को लें। यह संज्ञावाची और क्रियावाची दोनों हैं। यदि 'Con' पर बल देंगे तो यह संज्ञावाची होगा एवं 'Duct' पर बल देने पर क्रियावाची शब्द होगा। स्वर की यह प्रक्रिया प्रायः सभी भाषाओं में कुछ न कुछ अवश्य मिलती है।

वेदों के अर्थों को समझने के लिये स्वरों का ज्ञान अनिवार्य है। इसलिये 'तैत्तिरीय उपनिषद्' के दूसरे अनुवाक में लिखा है— "वर्णः स्वरः मात्रा बलम् इत्येतज्जिज्ञासितव्यम्"। अर्थात् वेदों के अर्थों को समझने के लिये वर्ण, स्वर, मात्रा बल इन सबको जानना चाहिये पाणिनि ने अपनी 'पाणिनीय शिक्षा' में एवं 'अष्टाध्यायी' में स्वरों के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना की है तथा स्वरों से सम्बन्धित नियमों को बताया है।

स्वर तीन होते हैं— उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इनके उच्चारण के सम्बन्ध में पाणिनि ने बताया है— उच्चैरुदात्तः नीचैरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः। अर्थात् जिस स्वर पर बल देकर ऊँचा उच्चारण किया जाता है, वह उदात्त होता है। हल्के से उच्चारण किया जाने वाला स्वर अनुदात्त है और शेष स्वर स्वरित हैं वेदों में प्रत्येक स्वर उदात्त, अनुदात्त या स्वरित निश्चित होगा एवं यह उच्चारण उसके अर्थ का निश्चय करेगा।

इसके कुछ उदाहरण नीचे दिये गये हैं —

'मा' शब्द के दो अर्थ हैं— मुझको और निषेध करना। 'मा' यदि अनुदात्त है तो इसका अर्थ सर्वनाम वाची 'मुझको' होगा। यदि उदात्त है तो इसका अर्थ निषेधात्मक होगा।



‘क्षयं गतः देवदत्त’ वाक्य में ‘क्षय’ शब्द के दो अर्थ हैं— घर और मृत। यदि क्षय शब्द को आद्युदात्त मानें तो इसका अर्थ घर होगा तथा अन्तोदात्त मानने पर मृत होगा।

‘अर्य’ शब्द के स्वामी और वैश्य दो अर्थ हैं। इसको आद्युदात्त मानने पर वैश्य तथा अन्तोदात्त पर स्वामी अर्थ होगा। ‘सुपुरुष’ को अन्तोदात्त मानने पर इसका दुष्ट पुरुष एवं आद्युदात्त मानने पर सज्जन होगा।

### स्वरों के सामान्य नियम —

व्याकरण ग्रन्थों में स्वरों के सम्बन्ध में विस्तृत नियम दिये गये हैं। कुछ विशेष नियम इस प्रकार हैं —

- (१) वैदिक भाषा में एक पद में प्रायः एक ही पद उदात्त होता है और शेष अनुदात्त होते हैं। प्रातिपादिकों और धातुओं का प्रायः अन्तिम पद उदात्त होता है।
- (२) निपातों, आदि को छोड़कर अन्य उपसर्गों और प्रत्ययों का आदि स्वर उदात्त होता है।
- (३) लुङ् लङ् और लृङ् लकारों में धातु से पहले आने वाले ‘अ’ और ‘आ’ उदात्त होते हैं।
- (४) चित् (जिसमें च् का लोप हुआ हो), तित् तद्धित (वे तद्धित प्रत्यय जिन में त् का लोप हुआ हो), समस्त पद, दो अन्तोदात्त होते हैं।
- (५) देवता वाचक शब्दों में एक स्वर उदात्त होता है। पर द्वन्द्व समास होने पर यथा ‘मित्रावरुण’ में दो उदात्त या स्वरित होगा। शेष अनुदात्त होंगे।
- (६) च आदि अव्ययों के सभी स्वर अनुदात्त होते हैं।
- (७) सम्बोधन के पदों में प्रायः उदात्त नहीं होता। सर्वनाम शब्दों के वैकल्पिक रूपों में उदात्त नहीं होता।
- (८) तित् (जिसके त् का लोप हुआ हो) स्वरित होता है।
- (९) यदि क्रिया पद आदि में न हो तो उनके सभी स्वर अनुदात्त होते हैं।
- (१०) पुनः आवृत्त किये जाने पर दूसरा पद अनुदात्त होगा।

### संधियाँ होने पर स्वर में स्थिति —

- (१) उदात्त और अनुदात्त की सन्धि होने पर उदात्त होगा।
- (२) अनुदात्त और उदात्त की सन्धि होने पर उदात्त होगा।
- (३) स्वरित और उदात्त की सन्धि होने पर उदात्त होगा।
- (४) उदात्त और अनुदात्त की सन्धि होने पर स्वरित होगा।
- (५) उदात्त और स्वरित की सन्धि नहीं होती।
- (६) अनुदात्त और अनुदात्त की सन्धि होने पर अनुदात्त होता है, परन्तु दीर्घ सन्धि होने पर स्वरित होता है।



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

(७) स्वरित और अनुदात्त की सन्धि से स्वरित होता है।

### स्वरों में परिवर्तन के सामान्य नियम —

- (१) उदात्त से परवर्ती अनुदात्त को स्वरित होता है, किन्तु उस अनुदात्त के बाद कोई स्वरित या उदात्त नहीं होना चाहिये। ऐसा होने पर वह अनुदात्त ही रहता है।
- (२) उदात्त से अव्यवहित पूर्व अनुदात्त ही रहता है।
- (३) सामान्यतः एक पद में एक ही स्वर उदात्त रहता है।

### स्वराङ्कन की विधि —

स्वराङ्कन को भारतीय पद्धति से निम्न प्रकार से किया जाता है—

- (१) उदात्त—कोई चिह्न नहीं।
- (२) अनुदात्त—अक्षर के नीचे पड़ी रेखा (—)।
- (३) स्वरित—अक्षर के ऊपर खड़ी रेखा (।)।

### संहिता पाठ और पद पाठ

वैदिक मंत्रों के दो प्रकार के मुख्य पाठ उपलब्ध होते हैं—संहिता पाठ और पद पाठ साहित्य में वेदों को श्रुति भी कहा गया है। श्रुति परम्परा से गुरु वेदों का ज्ञान शिष्यों को दिया करते थे, अतः इनको श्रुति कहा गया था। वेद-मंत्रों के रूप को सुरक्षित रखने के लिये ऋषियों ने विभिन्न पाठों का प्रचलन किया था।

संहिता पाठ को पवित्र और प्रामाणिक समझा जाता है। भारतीय परम्पराओं के अनुसार ऋषियों को वेदों का ज्ञान संहिताओं के रूप में हुआ था। वेदों का अध्ययन—अध्यापन भी संहिताओं के रूप में किया जाता है। यज्ञों में मंत्रों का विनियोग संहिता के रूप में होता है, वेदों के रूप में नहीं। इस कारण संहिता को अधिक पवित्र, प्रामाणिक और प्राचीन माना जाता है। शाकल्य को पद पाठ का प्रणेता समझा जाता है। इसने संहिता के पदों की सन्धि आदि को खोलकर पद पाठ का प्रचलन किया था। अनेक स्थानों पर पद पाठ में इति आदि शब्द जोड़े गये हैं, जो इस बात की पुष्टि करते हैं कि पद पाठ का प्रवर्तन संहिता पाठ के बाद हुआ था।

संहिता पाठ को पद में परिणत करने के लिये निम्न नियमों को ध्यान में रखना चाहिये।

- (१) संहिता पाठ में जो सन्धियाँ हों, उनको तोड़कर पदों को अलग अलग करना चाहिये।
- (२) समासों के पदों को अलग अलग नहीं किया जाता, परन्तु द्वन्द्व समास को छोड़कर समस्त पदों के बीच में पदों की पृथक्ता प्रदर्शित करने के लिये अवग्रह (ऽ) लगा दिया जाता है। समास में दो पदों से अधिक होने पर अन्तिम पद से पहले अवग्रह लगाया जाता है।
- (३) प्रगृह्यों के बाद, द्विवचन के ई, ऊ और ए के बाद, उ निपात के बाद, ओकारान्त



निपातों के बाद, सप्तमी विभक्ति के ई और ऊ के बाद, एकारान्त अस्मे, युष्मे आदि के बाद इति लगाया जाता है।

- (४) संहिता पाठ में पद के अन्त में विसर्ग को 'र' कर देते हैं यथा—अन्तरिति।
- (५) उपसर्गों के बाद आने वाले संज्ञा या कृदन्त पदों के पूर्व अवग्रह लगाया जाता है यथा—अपऽधा। सुऽशिप्रः। प्रधान वाक्य में उपसर्गों को क्रिया से अलग रखा जाता है। गौण वाक्य में क्रिया से पहले अनेक उपसर्ग होने पर अन्तिम उपसर्ग के बाद ही अवग्रह लगता है।
- (६) प्रत्ययान्त पदों से सुप्, भ्यामः भिस्, क्वसु, त्व, तरप्, मत्, वत् आदि प्रत्यय हों और पूर्व प्रकृति में कोई विकृति न हुई हो तो प्रत्यय से पहले अवग्रह लगाते हैं यथा त्रिऽभिः। जहाँ उपसर्ग और प्रत्यय दोनों अवग्रह प्राप्त हों वहाँ प्रत्यय से पहले ही अवग्रह लगाना चाहिये। यथा—आतस्थिऽवाँसों।
- (७) जो स्वर मूलतः ह्रस्व हों, परन्तु संहिता पाठ में छन्द के अनुरोध से जिनको दीर्घ कर दिया गया हो, उनको पद पाठ में ह्रस्व कर दिया जाता है।
- (८) संहिता पाठ को पद पाठ में परिवर्तित करते समय स्वराघात में कुछ परिवर्तन हो सकते हैं इति लगाने पर यदि संहिता पाठ का स्वर उदात्त है तो वह उदात्त ही रहता है, परन्तु इसके बाद का स्वर स्वरित हो तो वह स्वर स्वरित तथा पहला अनुदात्त होता है। यदि अनुदात्त के बाद उदात्त या स्वरित हो तो वह अनुदात्त ही बना रहता है। पाद के आदि में न होने पर सम्बोधन का पद अनुदात्त हो जाता है।
- (९) यदि पहले पद के उदात्त होने के कारण अगले पाद का पहला स्वर स्वरित हो तो पद पाठ में वह अनुदात्त हो जाता है। पहले पद के स्वरित वर्ण के कारण यदि अगले अनुदात्त पर चिह्न न लगाया हो तो पद पाठ में उस पर चिह्न लगा देते हैं।
- (१०) पहले पद में उदात्त के पश्चात् आने वाला अनुदात्त यदि अलग पद के उदात्त होने के कारण स्वरित न होकर अनुदात्त रह गया है, तो पद पाठ में वह स्वरित हो जाता है।
- (११) पदों के मूल स्वराघात में यदि संहिता पाठ के कारण परिवर्तन हो गया हो तो उसको मूल रूप में रहने देते हैं।

ऋग्वेद के पाठों का रूप शुद्ध रखने के लिये पद पाठ के अतिरिक्त क्रम पाठ, जटा पाठ और घन पाठ भी प्रचलित हुये। इन पाठों का रूप निम्न प्रकार से है —

(१) संहिता पाठ —

अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥

(२) पद पाठ —

अग्निम्, ईले, पुरःऽहितम्, यज्ञस्य, देवम्, ऋत्विजम्। होतारम्, रत्नऽधातमम्॥



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

(३) क्रम पाठ —

अग्निं ईले, ईडे अग्निं, ईले पुरोहितं यज्ञस्य, यज्ञस्य देवं,  
देवं यज्ञस्य, यज्ञस्य देवं, देवं ऋत्विजं देवं, देवं, ऋत्विजम् इत्यादि ।

(५) घनपाठ —

अग्नि ईले, ईले अग्नि अग्नि ईले, पुरोहितं, पुरोहितं, ईले अग्नि, अग्नि  
ईले-पुरोहितम्, ईले पुरोहितं ईले, ईले, पुरोहितं यज्ञस्य, यज्ञस्य पुरोहितं  
यज्ञस्य, यज्ञस्य, पुरोहितं, पुरोहितं यज्ञस्य देवं, देवं यज्ञस्य पुरोहितं, पुरोहित  
यज्ञस्य देवं, ऋत्विजं, ऋत्विजं देवं यज्ञस्य, यज्ञस्य, यज्ञस्य, देवं ऋत्विजम्  
इत्यादि ।

## वैदिक साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा

संक्षेप-में, सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का परिचय प्रस्तुत रूपरेखा में दिया जा सकता है ।

(क) चार संहिताएँ (चार वेद)

संहिताएँ रचनात्मक साहित्य के अन्तर्गत आती हैं इनमें काव्यतत्त्व की प्रधानता है । इनकी संख्या चार है —

(१) ऋग्वेद —

संहिताओं में यह सबसे प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण हैं । इसके अधिकांश सूक्त स्तुतिपरक हैं ।

अ- ऋग्वेद की शाखाएँ —

महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार ऋग्वेद की २१ शाखाएँ हैं — (एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्) । किन्तु, 'चरणव्यूह' के रचयिता ने ऋग्वेद की केवल ५ ही शाखाओं का उल्लेख किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं —

(१) शाकल शाखा, (२) बाष्कल शाखा, (३) आश्वलायन शाखा,

(४) शाङ्खायन शाखा और (५) माण्डूकायन शाखा ।

उपर्युक्त शाखाओं में से भी ऋग्वेद की केवल शाकल शाखा ही सम्पूर्णरूप में उपलब्ध होती है और वही प्रचलन में भी है । अतः, ऋग्वेद का परिचय उसी शाखा के आधार पर यहाँ दिया जा रहा है ।

ब- ऋग्वेद का विभाजन —

ऋग्वेद संहिता की शाकल शाखा की संहिता में ऋग्वेद की ऋचाओं का विभाजन दो रूपों में उपलब्ध होता है —

(१) अष्टक क्रम के अनुसार, और (२) मण्डल क्रम के अनुसार



अष्टक क्रम के अनुसार, ऋग्वेद की सम्पूर्ण ऋचाओं को ८ अष्टकों में बाँटा गया है। प्रत्येक अष्टक में अध्यायों की संख्या भी ८ ही है। अध्यायों में वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग में ५ से लेकर ९ तक ऋचाएँ उपलब्ध होती हैं। संक्षेप में, अष्टक क्रम के अनुसार ऋग्वेद संहिता में —

८ अष्टक, ६४ अध्याय, तथा २००६ वर्ग हैं।

मण्डल क्रम के अनुसार, ऋग्वेद की सम्पूर्ण ऋचाएँ १० मण्डलों में विभक्त हैं। इन दस मण्डलों के ही आधार पर ऋग्वेद को 'दशतयी' भी कहा गया है। ऋग्वेद के प्रत्येक मण्डल में अनुवाक हैं और अनुवाकों में सूक्त हैं। पुनः, प्रत्येक सूक्त में ऋचाएँ हैं। इन्हीं को मंत्र भी कहते हैं। इस मण्डल क्रम के अनुसार, ऋग्वेद संहिता में —

१० मण्डल, ८५ अनुवाक, १०२८ सूक्त, तथा १०५८० ऋचाएँ हैं।

आजकल, ऋग्वेद के मण्डलक्रम के अनुसार विभाजन को ही विशेष महत्त्व दिया जाता है। अनेक विद्वानों का मत है कि यह विभाजन ऐतिहासिक भी है और वैज्ञानिक भी है।

स— ऋग्वेद का विषय —

**ऋग्वेद संहिता : शाब्दिक अर्थ**

छन्दोबद्ध मंत्रों को 'ऋक्' या 'ऋचा' कहते हैं। वेद शब्द विद् (जानना) धातु से बना है अतः 'वेद' का अर्थ है — ज्ञान। और 'संहिता' शब्द का अर्थ संकलन होता है। इस प्रकार 'ऋग्वेद संहिता' का अर्थ हुआ — छन्दोबद्ध ज्ञान का संग्रह।

**ऋग्वेद में स्तुतियाँ एवं प्रार्थनाएँ**

ऋग्वेद में, वैदिक ऋषियों द्वारा की गयी स्तुतियों और प्रार्थनाओं को संकलित किया गया है। स्तुति किये गये देवताओं की संख्या प्रायः ३३ कही गयी है। इनमें से लगभग २० देवता ही ऐसे हैं, जिनके सम्बन्ध में ३ या ३ से अधिक सूक्त मिलते हैं। सर्वाधिक सूक्त, लगभग २५० इन्द्र की स्तुति में हैं। इसी प्रकार २०० सूक्त अग्नि की स्तुति में और १०० सूक्त सोम की स्तुति में हैं।

उपर्युक्त तथा अन्य अनेक देवताओं की स्तुतियों के साथ ही ऋग्वेद में विभिन्न विषयों से सम्बन्धित प्रार्थनाएँ भी हैं। स्तुतिकर्त्ता अपने स्तुत देवता से कहीं तो शत्रु के विरुद्ध सहायता की माँग करता है, कहीं युद्ध में विजय चाहता है और कहीं शत्रु सम्पत्ति की लूट की ही प्रार्थना करता है।

कुछ ऐसी ही प्रार्थनाएँ, ऋग्वेद में हैं, जिनमें स्तुतिकर्त्ता, अपने देवता से स्वयं को वैभव-सम्पन्न बनाने की प्रार्थना करता है। वह चाहता है कि उसे स्वर्ण, पशुओं और रत्नों की प्राप्ति हो। इसके साथ ही कृषि के लिए वर्षा, परिवार के लिए सुख और पशुधन की वृद्धि और परिवार की वृद्धि से सम्बन्धित प्रार्थनाएँ भी मिलती हैं।



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

### यज्ञपरक सूक्त -

स्तुतिपरक और प्रार्थनापरक ऋचाओं के साथ ही ऋग्वेद में कुछ सूक्त ऐसे भी हैं, जिनका उपयोग यज्ञ में हो सकता है। जैसे, 'आप्री सूक्त' और 'अन्त्येष्टि सूक्त' आदि।

कुछ सूक्तों में भारतीय दर्शन के प्रारम्भिक तत्त्वों का संकेत मिलता है। इन सूक्तों में, पुरुषसूक्त, हिरण्यगर्भ सूक्त और नासदीयसूक्त विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

### संवाद सूक्त -

ऋग्वेद में लगभग २० सूक्त ऐसे हैं, जिन्हें सम्वाद सूक्त कहा जाता है। ऐसे सूक्तों में पुरुरवा-उर्वशी, यम-यमी और सरमा-पणि के संवादों से सम्बन्धित सूक्त विशेषरूप से उल्लेख्य हैं।

कुछ विद्वान् इन सूक्तों को 'आख्यानसूक्त' मानते हैं, क्योंकि इनमें अनेक प्राचीन आख्यान मिलते हैं।

वस्तुतः इन सूक्तों में नाटक और महाकाव्य - इन दोनों के बीज मिलते हैं। अतः संवादों के कारण, इनमें नाटकों का पूर्वाभास मिलता है और आख्यानों के कारण ये महाकाव्यों के पूर्वरूप को प्रस्तुत करते हैं।

### दानस्तुतियाँ और पहेलियाँ -

ऋग्वेद में कुछ सूक्तों में यजमान आदि के द्वारा दिये गये दान की प्रशंसा ही मिलती है। ऐसे सूक्तों की संख्या लगभग ५० हैं इनमें दान के साथ ही साथ कहीं-कहीं वीरता की भी स्तुतियाँ मिलती हैं।

इसी प्रकार ऋग्वेद के कुछ सूक्तों का सम्बन्ध वैदिक पहेलियों से भी जोड़ा जाता है। वस्तुतः, ये विषय, ऋग्वेद के गौण विषय हैं, प्रमुख नहीं।

### (२) यजुर्वेद -

"गद्यात्मको यजुः" अर्थात् गद्य में रचे गये मंत्रों को यजुष् कहते हैं। यजुषों का वेद होने के कारण ही यह यजुर्वेद कहलाता है। इसमें मुख्य रूप से वैदिक कर्मकाण्ड का प्रतिपादन है।

यजुर्वेद को 'अध्वर्युवेद' भी कहा जाता है इसका कारण यह है कि यह वेद 'अध्वर्यु' नामक होता के मंत्रपाठ के लिए होता है। वैयाकरण पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में अध्वर्युवेद अर्थात् यजुर्वेद की एक सौ एक शाखाएँ होने का उल्लेख किया है, किन्तु आजकल इस वेद की केवल ६ ही शाखाएँ उपलब्ध होती हैं। ये शाखाएँ इस प्रकार हैं-

शुक्ल यजुर्वेद की- १. वाजसनेयी संहिता, (माध्यन्दिन)

२. काण्व संहिता,

कृष्ण यजुर्वेद की - ३. कठ संहिता, ४. कपिष्ठल संहिता,

५. मैत्रायणी संहिता, ६. तैत्तिरीय संहिता

स्वरूप के भेद से यजुर्वेद दो प्रकार का है -



१. शुक्ल यजुर्वेद और २. कृष्ण यजुर्वेद ।

### (३) सामवेद —

७५ मंत्रों को छोड़कर इसके सभी मंत्र ऋग्वेद से संकलित हैं। सामवेद के सभी मंत्र गेय हैं।

“सामानि यो वेत्ति स वेद तत्त्वम्।” अर्थात् जो सामवेद के सामों को जानता है, वह तत्त्व को जानता है।

‘बृहद्देवता’ की उपर्युक्त सूक्ति के आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक संहिताओं में सामवेद संहिता का स्थान महत्त्वपूर्ण है। ‘गीता’ में आयी कृष्ण की ‘वेदानां सामवेदोऽस्मि’ उक्ति भी सामवेद के महत्त्व को ही प्रगट करती है।

‘ग्रीफिथ’ महोदय के अनुसार भी महत्त्व-क्रम की दृष्टि से, वैदिक संहिताओं में ‘ऋग्वेद’ के बाद द्वितीय स्थान ‘सामवेद’ का ही है देखिए —

“The Samveda ..... ranks next in sanctity and literarical importance to the rigveda of recited praise”. (B.T.Griffith, The Hymns of The Samveda, Preface.)

‘सामवेद संहिता’ उद्गाता नामक ऋत्विक् की संहिता है। यज्ञ के अवसर पर उसी के द्वारा इसका पाठ किया जाता है। इसके समर्थन में डॉ० विण्टरनिट्ज का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है :—

“Samveda Samhitas are nothing but collections of texts which have been collected for the uses of Udgatas.”

‘साम’ शब्द का अर्थ—

‘साम’ का शाब्दिक अर्थ है — ‘देवों को प्रसन्न करने वाला गान।’ ‘बृहदारण्यकोपनिषद्’ में ‘साम’ शब्द की निरुक्ति इसप्रकार की गयी है —

“सा च अमश्चेति, तत्साम्नः सामत्वम्। सा ऋक्, तथा सह सम्बन्धः अमो नाम स्वरो यत्र वर्तते, तत्साम।”

अर्थात् ‘सा’ और ‘अम्’ से मिलकर साम बना है। ‘सा’ का अर्थ है — ऋचा और ‘अम्’ का अर्थ है — षडज्, ऋषभ् गांधार आदि सात स्वर। इस प्रकार ऋग्वेद की ऋचाएँ, जब सात स्वरों से मिलती हैं, तो ‘साम’ बनता है।

संक्षेप में, ‘साम’ का अर्थ है — ‘ऋक् सं सम्बद्ध स्वरयुक्त गेय पाठ।’ ‘ऐतरेय ब्राह्मण’ और ‘बृहदारण्यकोपनिषद्’ में ‘ऋक्’ और ‘साम’ की इस घनिष्ठता को दाम्पत्य-सम्बन्ध के द्वारा प्रकट किया गया है —

“अमोऽहमस्मि सा त्वम्।

सामाहमस्मि ऋक् त्वम्।

ताविह विवहावहै, प्रजामाजनयावहै।”



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

यहाँ पति, अपनी पत्नी का आह्वान करता है और कहता है कि मैं 'साम' रूप पति हूँ और तुम ऋक् रूपा पत्नी हो। आओ, हम दोनों मिलकर प्रजा उत्पन्न करें।

इस प्रकार 'साम' और 'ऋक्' में घनिष्ठ सम्बन्ध हैं जिन ऋचाओं को ये साम अपना आधार बनाते हैं, उन ऋचाओं को 'सामयोनि' कहा जाता है। आशय यही है कि इन्हीं ऋचाओं को 'साम' का उत्पत्ति-स्थान माना जाता है।

### (४) अथर्ववेद —

इसका आकार ऋग्वेद के १०वें मण्डल जितना है और इसके अधिकांश मंत्र भी ऋग्वेद के १०वें मण्डल से ही लिए गये हैं।

'अथर्ववेद' का अर्थ है — अथर्वों का वेद। अर्थात् अभिचार-मंत्रों से सम्बन्धित ज्ञान।

'अथर्ववेद' का ही, एक प्राचीन नाम 'अथर्वाङ्गिरस' भी है। अर्थात् अथर्वों का ज्ञान और अङ्गिराओं का ज्ञान। अथर्वा लोग और अङ्गिरा लोग — दोनों प्रायः समान ही थे। अथर्वों के मंत्र (अथर्वन्) रोगादि के नाशक माने जाते हैं, और अङ्गिराओं के मंत्र शत्रुओं के और दुष्ट मायावियों के नाशक माने जाते हैं। इसप्रकार 'अथर्वाङ्गिरस' नाम उपर्युक्त दोनों ही प्रकार की आभिचारिक विधियों का संकेत करता है। 'अथर्ववेद' इस 'अथर्वाङ्गिरस' नाम का ही संक्षिप्त रूप है।

### अथर्ववेद की शाखाएँ

अथर्ववेद की नौ शाखाओं में से आजकल केवल दो ही शाखाएँ उपलब्ध होती हैं :-

१- शौनक शाखा,

२- पैप्पलाद शाखा,

शौनकीय शाखा की संहिता में २० काण्ड, ७३१ सूक्त, और ६००० मंत्र हैं (निश्चित संख्या में ५९८७ मंत्र हैं)। इन मंत्रों में से १२०० मंत्र से ही लिये गये हैं। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, अथर्ववेद में दो प्रकार के मंत्र हैं—

#### १. अथर्वों के मंत्र,

इन मंत्रों का विनियोग, ग्राम अथवा परिवार में शान्ति की स्थापना के लिए, शत्रुओं से सन्धि आदि के लिए, यात्राओं में सुरक्षा के लिए और साथ ही दीर्घायु, स्वास्थ्य और धन-वैभव आदि की प्राप्ति के लिए किया जाता है।

#### २. अङ्गिराओं के मंत्र

इन मंत्रों का विनियोग, रोगों को नष्ट करने के लिए, हिंसक पशुओं को दूर रखने के लिए और पिशाच, जादूगर आदि दुष्ट और मायावी शक्ति को नष्ट करने या दूर भगाने के लिए किया जाता है।

इस प्रकार अथर्ववेद में उपचार मंत्र भी है और अभिचार मंत्र भी हैं। अर्थात्



अथर्ववेद के कुछ मंत्रों का सम्बन्ध संवर्धन आदि से है, जैसे — पुत्रजन्म, विवाह, राज्याभिषेक आदि अवसरों पर अथर्ववेद के ही मंत्रों का पाठ किया जाता है इसके साथ ही अथर्ववेद में कुछ ऐसे मंत्र भी हैं, जिनका प्रयोग कोढ़, राजयक्ष्मा, खाँसी और गंजापन, दुर्बलता आदि के उपचार के लिए भी किया जाता है। यहाँ तक कि घाव को भरने, सर्पदंश के विष को दूर करने और पागलपन को ठीक करने के मंत्र भी अथर्ववेद में पर्याप्त संख्या में उपलब्ध होते हैं। भारत की प्राचीन चिकित्सा पद्धति—आयुर्वेद के बीज इसी वेद में उपलब्ध होते हैं।

अथर्ववेद के कुछ अति प्रसिद्ध सूक्तों का नाम—निर्देश करना यहाँ उपयोगी होगा। ऐसे कुछ सूक्त ये हैं —

१— भैषज्य सूक्त	२— आयुष् सूक्त
३— पौष्टिक सूक्त	४— शृंगार सूक्त
५— कौशिक सूक्त	६— राजकर्माणि सूक्त
७— याज्ञिक सूक्त	८— अन्त्येष्टि सूक्त
९— रोहित सूक्त	१०— कुन्ताप सूक्त
११— दार्शनिक सूक्त	

### अथर्ववेद के काण्ड और उनका विषय

अथर्ववेद में विषय का विभाजन २० काण्डों में हुआ है। काण्डों के अनुसार अथर्ववेद की विषय—सामग्री को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है —

१—७ काण्ड तक, छोटे—छोटे

८—१२ काण्ड तक बड़े—बड़े सूक्त हैं। १२वें काण्ड के आरम्भ में प्रसिद्ध पृथ्वी सूक्त मिलता है।

१३वें काण्ड में अध्यात्म—विषयक सूक्त हैं।

१४वें काण्ड के सभी सूक्त विवाह—विषयक हैं।

१५वें और १६वें काण्ड के मंत्र पद्यात्मक न होकर गद्यात्मक हैं। १५वें काण्ड के मंत्र व्रात्यों के यज्ञों से सम्बन्ध रखते हैं तथा १६वें काण्ड के मंत्र दुःस्वप्नों के विनाशक माने गये हैं।

१७वें काण्ड में, अभ्युदय की प्रार्थना वाले मंत्र हैं।

१८वें काण्ड में, पितृमेघ—सम्बन्धी मंत्र हैं। इस काण्ड को श्राद्ध—काण्ड भी कहा जाता है अन्त्येष्टि सम्बन्धी मंत्र भी इसी काण्ड में हैं।

१९वें और २०वें काण्ड को 'खिल काण्ड' कहा जाता है १९वें काण्ड में भैषज्य, राष्ट्रवृद्धि और अध्यात्म से सम्बन्धित सूक्त हैं। २०वें काण्ड में 'सोमयाग' के सूक्त हैं, जो ऋग्वेद से लिये गये हैं।



### (ख) ब्राह्मण ग्रन्थ

ब्रह्म से सम्बन्धित होने के कारण ये ग्रन्थ ब्राह्मण कहलाते हैं। यज्ञों के अनुष्ठान में वैदिक मंत्रों के विनियोग पर ये अधिक केन्द्रित हैं। यज्ञानुष्ठान से सम्बन्धित ये सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं भारतीय धर्म के इतिहास की दृष्टि से भी इनका विशेष महत्त्व है। ये सभी ब्राह्मण ग्रन्थ गद्यात्मक हैं। वैदिक भाषा और वैदिक शब्दों की निरुक्ति पर भी ये प्रकाश डालते हैं। वैसे तो सभी संहिताओं के अपने-अपने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं और इस प्रकार इनकी संख्या बहुत होनी चाहिये; किन्तु, 'ऐतरेय', 'शतपथ' आदि ब्राह्मण-ग्रन्थ ही विशेष ज्ञातव्य हैं।

### (ग) आरण्यक ग्रन्थ

ब्राह्मण-ग्रन्थों के ही अन्तिम अंश 'आरण्यक' हैं। इनकी रचना और अध्ययन वन में (अरण्ये) होने के कारण ही इनका नाम 'आरण्यक' पड़ा है। आरण्यक-ग्रन्थों में वानप्रस्थियों के लिये उपयुक्त पिचार मिलते हैं इनमें कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों का समन्वय हुआ है। आगे चलकर विकसित होने वाले उपनिषद्-ग्रन्थों के बीज आरण्यक-ग्रन्थों में मिलते हैं। 'ऐतरेयारण्यक', 'तैत्तिरीयारण्यक' आदि इनमें विशेष हैं।

### (घ) उपनिषद्-ग्रन्थ

वैदिक साहित्य के विकासक्रम में चौथे सोपान पर उपनिषद्-ग्रन्थ आते हैं। जैसे ब्राह्मण-ग्रन्थों में कर्मकाण्ड को प्रधानता मिली है, उसी प्रकार उपनिषद्-ग्रन्थों में ज्ञानकाण्ड को प्रधानता मिली है।

'उपनिषद्' शब्द का अर्थ है— 'रहस्य ज्ञान के लिये निकट बैठना'। उपनिषदों का रहस्यमय ज्ञान उन्हीं शिष्यों को प्राप्त होता था, जो गुरुओं के निकट रहते थे। उपनिषदों में वेदों के, धर्म और दर्शन-सम्बन्धी सर्वोत्कृष्ट तत्त्व प्रस्तुत हुए हैं। वैसे तो इनकी संख्या १०८ कही गयी है। किन्तु, प्रमुख उपनिषद् ११ हैं —

- |                  |                 |
|------------------|-----------------|
| (१) ईश           | (२) केन         |
| (३) कठ           | (४) प्रश्न      |
| (५) मुण्डक       | (६) माण्डूक्य   |
| (७) ऐतरेय        | (८) तैत्तिरीय   |
| (९) छान्दोग्य    | (१०) वृहदारण्यक |
| (११) श्वेताश्वतर |                 |

### वेदाङ्ग

वेदों के स्वरूप की रक्षा करने के लिए और उनके अर्थों को समझने के लिए भारतीय ऋषियों ने वेदाङ्ग साहित्य की रचना की थी। वेदाङ्ग शब्द का अर्थ है— "वेदाः अङ्गयन्ते ज्ञायन्ते अमीभिः इति वेदाङ्गानि" अर्थात् जिनसे वेदों के अर्थों को जाना जाता



है, वे वेदाङ्ग हैं। वेदाङ्ग वेदों के भाग नहीं हैं, अपितु वे वेदों के स्वरूप के रक्षक हैं एवं अर्थों को समझाने वाले हैं। वेदाङ्गों को पढ़े बिना वेदों का अध्ययन अधूरा ही रहता है। प्राचीन ऋषियों का कहना था कि ब्राह्मण को निष्कारण ही छः अङ्गों सहित वेदों का अध्ययन करना चाहिए।

### वेदाङ्गों का सामान्य परिचय -

वेदाङ्ग छः हैं— शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। 'पाणिनीय शिक्षा' में वेदों की पुरुष के रूप में तथा वेदाङ्गों की उसके विभिन्न अङ्गों के रूप में कल्पना की गई है।

शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं निरुक्तं छन्दसा च यः।

ज्योतिषामयनं चैव वेदाङ्गानि षडैव तु॥

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।

ज्योतिषामयनं चक्षुः निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणस्मृतम्।

तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥

अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदाङ्ग हैं। इनमें वेद के पैर छन्द हैं, हाथ कल्प हैं, ज्योतिष नेत्र हैं, निरुक्त कान हैं, शिक्षा नासिका है और व्याकरण मुख हैं। अतः अङ्गों सहित वेदों को अध्ययन करके ही व्यक्ति ब्रह्मलोक में महिमा को प्राप्त होता है।

छः वेदाङ्गों का क्रम और उनके विवेच्य विषय इस प्रकार है—

- (१) शिक्षा — इसमें उच्चारण की प्रक्रियाओं और विशेषताओं को बतलाया गया है।
- (२) कल्प — इसमें वैदिक कर्मकाण्डों, यज्ञ के अनुष्ठानों आदि का विवेचन है।
- (३) व्याकरण — इनमें शब्दों के स्वरूप, रचना आदि का बोध होता है।
- (४) निरुक्त — इसमें शब्दों के अर्थों और उनकी व्युत्पत्ति को समझाया गया है।
- (५) छन्द — इसमें छन्दों की विवेचना की गयी है।
- (६) ज्योतिष — इसमें समय, नक्षत्र आदि की गणना की गयी है।

वेदों के समान ही वेदाङ्गों की रचना का समय भी बहुत विवादास्पद है। सामान्यतः यह समझा जाता है कि वेदाङ्गों की रचना ई०पू० १५०० में प्रारम्भ हुई थी तथा ई०पू० ५०० में इनकी रचना पूरी हो चुकी थी।

### १. शिक्षा —

वेदाङ्गों में शिक्षा का बहुत अधिक महत्त्व है। शिक्षा वह विद्या है, जिसमें वर्ण, स्वर आदि के उच्चारण की विशेषता बतायी गयी है। 'ऋग्वेद' के भाष्य की भूमिका में सायण ने लिखा है—

“वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा” ॥



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

अर्थात् शिक्षा वह वेदाङ्ग है, जिसमें वर्ण स्वर आदि के उच्चारण का उपदेश दिया जाता है।

### शिक्षा—ग्रन्थ —

प्रत्येक वेद के लिए अलग-अलग शिक्षा-ग्रन्थों की रचना की गयी थी।

**याज्ञवल्क्य शिक्षा** — 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' का सम्बन्ध 'शुक्ल यजुर्वेद' की वाजसनेयि संहिता से है। इसमें २३२ श्लोक हैं। इसमें वर्णों के स्वरूप, विभेद, साम्य, वैषम्य, वैदिक स्वर, लोप, आगम आदि का विस्तृत विचार किया गया है।

**नारदीय शिक्षा** — 'नारदीय शिक्षा' का सम्बन्ध 'सामवेद' से है। 'सामवेद' के स्वरों को इसमें बहुत विस्तार से समझाया गया है।

**माण्डूकी शिक्षा** — 'माण्डूकी शिक्षा' का सम्बन्ध 'अथर्ववेद' से है। अथर्ववेद के स्वरों और वर्णों को जानने के लिए यह बहुत उपयोगी है। इसमें १७९ श्लोक हैं।

**पाणिनीय शिक्षा** — शिक्षा ग्रन्थों में सबसे प्रसिद्ध और उपयोगी 'पाणिनीय शिक्षा' है, यह वेद और लोक दोनों भाषाओं के लिए उपयोगी है। इसमें ६० श्लोक हैं, जिनमें उच्चारण की विधियों को बहुत उत्तम ढङ्ग से समझाया गया है। इस ग्रन्थ के रचयिता के सम्बन्ध में कुछ शंकायें की जाती हैं। 'पाणिनीय शिक्षा' ग्रन्थ के अन्त में इस ज्ञान का रचयिता दाक्षीपुत्र को बताया गया है अनेक समालोचकों की धारणा है कि इसकी रचना पाणिनि के किसी अनुयायी ने की होगी।

शिक्षा से सम्बन्धित अनेक तथ्य प्रातिशाख्य ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। परन्तु इन ग्रन्थों को मुख्य रूप से व्याकरण के अन्तर्गत रखा गया है। 'ऋक्प्रातिशाख्य' आदि में उच्चारण, ह्रस्व, दीर्घ, सन्धि आदि के सम्बन्ध में अनेक बातें बतायी गयी हैं।

### २. कल्प —

वेदाङ्ग साहित्य में शिक्षा के बाद कल्प का स्थान है इनका बहुत अधिक महत्त्व है। कल्प को कल्पसूत्र भी कहा जाता है। कल्प शब्द का अर्थ है— विधि, नियम, न्याय, कर्म और आदेश। सूत्र शब्द का अर्थ है— संक्षेप। जिन ग्रन्थों में वैदिक विधि-विधानों, नियमों आदि को संक्षेप से कहा जावे, वे कल्पसूत्र हैं।

कल्पसूत्रों में वैदिक कर्मकाण्डों, यज्ञों की विधियों, नियमों आदि का क्रमबद्ध विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त इनमें आर्यों के दैनिक जीवन के विधि-विधानों, कर्तव्यों, अनुष्ठानों, सामाजिक और राजनीतिक परम्पराओं, रीति व्यवस्थाओं, व्यक्तिगत कर्तव्यों का इनमें निर्देश है। मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक सभी अनुष्ठान इनमें दिये गये हैं। संक्षेप में, आर्यों के व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक सभी प्रकार के क्रियाकलापों, विधियों एवं नियमों को कल्पसूत्रों में बताया गया है। कल्प शब्द का अर्थ इस प्रकार किया गया है—“कल्पो वेदविहितकर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्”।



अर्थात् वेदविहित कर्मों का व्यवस्थित क्रमपूर्वक कल्पना करने वाला शास्त्र कल्प है।

कल्पसूत्रों को सामान्यतः ३ भागों में विभक्त किया गया है— श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। एक चौथे प्रकार के शुल्वसूत्र भी हैं। विद्वानों द्वारा इनको भी कल्पसूत्रों में गिन लिया गया है।

(क) श्रौतसूत्र — श्रौतसूत्रों में वेदों और ब्राह्मणों में प्रतिपादित यज्ञ-याग आदि कर्मकाण्डों का विधान किया गया है।

(ख) गृह्यसूत्र — गृह्यसूत्रों में दैनिक जीवन से सम्बन्धित कर्तव्यों और धार्मिक विधियों का वर्णन है, इनमें जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त गृहस्थियों के निमित्त विभिन्न प्रकार के संस्कार और कर्तव्य बताये गये हैं।

(ग) धर्मसूत्र — धर्मसूत्रों में चारों आश्रमों और वर्णों के कर्तव्यों एवं राजकीय नियमों का विवेचन है। इनमें सभी प्रकार के पारमार्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, पारिवारिक कर्तव्य और धर्म बताये गये हैं तथा सभी आचारों और विचारों का उपदेश दिया गया है।

(घ) शुल्वसूत्र — शुल्वसूत्रों में यज्ञों के लिये वेदी के निर्माण की रीतियाँ, माप और गणनायें बतायी गयी हैं। इनसे प्राचीन युग के रेखागणित, अंकगणित आदि का भी बोध होता है।

### कल्पसूत्रों का महत्त्व —

कल्पसूत्र या सूत्र साहित्य प्राचीन भारत के सभी प्रकार के क्रिया-कलापों और नियमों के आधार रहे हैं। प्राचीन हिन्दुओं के जीवन, धर्म और समाज को इन कल्पसूत्रों ने निर्मित, नियमित एवं उन्नत किया था। इसी सूत्र साहित्य से स्मृति साहित्य का भी विकास हुआ। सूत्र साहित्य में ब्राह्मणों के महत्त्व की प्रतिष्ठा की गई।

### ३. व्याकरण —

वेदों के अर्थों को समझने के लिए व्याकरण का ज्ञान अनिवार्य है। पाणिनीय शिक्षा के अनुसार व्याकरण वेदरूप पुरुष का मुख है। (मुखं व्याकरणं स्मृतम्)। महाभाष्यकार पतञ्जलि लिखते हैं कि ६ वेदाङ्गों में व्याकरण सबसे प्रमुख है (प्रधानं षट्सु अङ्गेषु व्याकरणम्)। व्याकरण शब्द का अर्थ है—“व्याक्रियन्ते शब्दा अनेन इति व्याकरणम्”। जिसके द्वारा शब्दों की व्युत्पत्तिजनक व्याख्या की जाती है, वह व्याकरण है। व्याकरण का प्रमुख उद्देश्य शब्दों की व्युत्पत्ति करके, उसमें प्रकृति और प्रत्ययों को खोज कर, उनके अर्थों का निर्धारण करना है। ‘ऋग्वेद’ के निम्न मंत्र में व्याकरण की वृषभ रूप में कल्पना की गई है —

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्या आविवेश॥

ऋ० ४/५८/६॥



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

इस व्याकरण रूप वृषभ के चार सींग हैं— नाम, आख्यात, उपसर्ग, और निपात। तीन पैर हैं— भूत, भविष्य और वर्तमान काल। दो सिर हैं— सुप् और तिङ्। सात हाथ हैं— प्रथमा से सप्तमी तक सात विभक्तियाँ। यह तीन स्थानों— तीन वचनों में बँधा हुआ है। इस प्रकार के व्याकरण रूप महान् देव ने मनुष्यों में प्रवेश किया है।

व्याकरण का सबसे क्रमबद्ध रूप पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' है। उन्होंने इसको आठ अध्यायों में लिखकर सूत्र रूप में सम्पूर्ण व्याकरण शास्त्र को निबद्ध किया था। परन्तु पाणिनि से पूर्व भी व्याकरण के अनेक ग्रन्थ लिखे गये थे। प्राचीन ग्रन्थों में ऐन्द्र व्याकरण का उल्लेख बहुत मिलता है। इन्द्र ने पदों के प्रकृति-प्रत्यय आदि विभागों द्वारा शब्दोपदेश की प्रक्रिया की कल्पना की थी।

### व्याकरण का प्रयोजन —

व्याकरण का प्रयोजन वेदों के अर्थों को समझना है। महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण के अध्ययन के ५ मुख्य प्रयोजन बताये हैं "रक्षोहागमलध्वसंदेहाः" रक्षा, ऊह, आगम, लघु और असन्देह इन पाँच प्रयोजनों के लिए व्याकरण पढ़ना चाहिए।

(१) रक्षा — वेदों की रक्षा करने के लिए व्याकरण पढ़ना चाहिए। भाषा में लोप, आगम, वर्णविकार आदि को जानने वाला ही वेदों की रक्षा कर सकता है।

(२) ऊह — 'ऊह' शब्द का अर्थ है— नये पदों की कल्पना। वेदों में मंत्रों को न तो सभी लिङ्गों में कहा गया है और न सभी विभक्तियों में। यज्ञों की आवश्यकता के अनुसार उनकी कल्पना व्याकरणवेत्ता ही कर सकता है।

(३) आगम — ब्राह्मण को निष्कारण ही छः अङ्गों सहित वेदों का अध्ययन करना चाहिए। छः अङ्गों में व्याकरण प्रधान है।

(४) लघु — लघुता के लिए भी व्याकरण का ज्ञान अनिवार्य है। ब्राह्मण को शब्दों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। व्याकरण ही वह लघु उपाय है जिसके द्वारा शब्दों को जाना जा सकता है।

(५) असन्देह — सन्देह के निवारण के लिए भी व्याकरण का ज्ञान अनिवार्य है।

### प्रातिशाख्य —

वैदिक व्याकरण को क्रमबद्ध रूप से प्रातिशाख्यों में लिखा गया था। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में वैदिक स्वरों और छन्दों के साथ-साथ व्याकरण सम्बन्धी नियम भी बताये गये हैं। इन ग्रन्थों में व्याकरण से सम्बन्धित विषयवस्तु को छः विभागों में बाँटा गया है —

वर्ण समाम्नाय, पद विभाग, सन्धि विच्छेद, स्वर विचार, पाठ विचार और उच्चारण।

#### (१) वर्ण समाम्नाय —

इसके अन्तर्गत स्वरों, व्यञ्जनों और उनके उच्चारण की विधियों पर विचार किया गया है।



## (२) पद विभाग —

इसके अन्तर्गत पदों के विभाग सम्बन्धी नियम, प्रगृह्य, संज्ञा, अवग्रह, उनके नियम, अपवाद आदि को बताया जाता है।

## (३) सन्धिविच्छेद —

इसके अन्तर्गत अच्, हल् और विसर्ग सन्धियों के नियम हैं।

## (४) स्वरविचार —

स्वरविचार में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों का परिचय कराया गया है तथा आख्यात स्वरों पर प्रकाश डाला गया है।

## (५) पाठविचार —

पाठविचार में संहिता पाठ, पद पाठ, क्रम पाठ और जटा पाठ के नियम बताये गये हैं और इनके भेदों की व्याख्या की गयी है।

## (६) उच्चारण —

इसके अन्तर्गत प्रश्लेष, विश्लेष, वृद्ध, अवृद्ध, गत, उच्च, कृष्ट, अकृष्ट, संकृष्ट, आदि ध्वनि के भेदों का सविस्तार वर्णन है।

## प्रातिशाख्य ग्रन्थ —

कहा जाता है कि वेद की प्रत्येक शाखा का एक प्रातिशाख्य ग्रन्थ लिखा गया था। इस प्रकार ११३० शाखाओं के लिए ११३० प्रातिशाख्य ग्रन्थ होने चाहियें। परन्तु वर्तमान समय में केवल ५ संहिताओं के प्रातिशाख्य ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं। ऋक् प्रातिशाख्य, शुक्लयजुः तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, साम प्रातिशाख्य और अथर्व प्रातिशाख्य।

## (१) ऋक् प्रातिशाख्य —

‘ऋग्वेद’ का प्रातिशाख्य ‘ऋक्प्रातिशाख्य’ है। इसकी रचना आश्वलायन के गुरु महर्षि शौनक ने की थी। इस प्रातिशाख्य को ‘पार्षद सूत्र’ या ‘परिषद् सूत्र’ भी कहा जाता है। इसमें अगस्त्य के व्याकरण की रचना हो चुकी थी। इस प्रातिशाख्य में ‘संहितोपनिषद्’ का अनुसरण किया गया है। ‘ऋक्प्रातिशाख्य’ ३ अध्यायों में विभक्त है जिनमें १८ पटल हैं। समग्र ग्रन्थ छन्दोबद्ध सूत्रों में लिखा गया है। ‘ऋक्प्रातिशाख्य’ में ऊपर बताये गये विषयों के साथ १५-१८ पटलों में ऋग्वैदिक छन्दों का विस्तृत विवेचन है। ‘प्रातिशाख्य’ पर विष्णुमित्र की वृत्ति और उव्वट के भाष्य प्राप्त होते हैं।

## (२) शुक्लयजुः प्रातिशाख्य —

‘शुक्ल यजुर्वेद’ का प्रातिशाख्य ग्रन्थ ‘शुक्ल- यजुः प्रातिशाख्य’ है। इसको ‘वाजसनेयि प्रातिशाख्य’ भी कहा जाता है। इसकी रचना कात्यायन ने की थी। ये कात्यायन पाणिनीय अष्टाध्यायी के वार्तिककार कात्यायन से भिन्न थे या वे ही थे, इस सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद हैं इस प्रातिशाख्य में ८ अध्याय हैं। इनमें परिभाषा, स्वर और संस्कार इन तीन विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है।



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

### (३) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य —

‘तैत्तिरीय प्रातिशाख्य’ का सम्बन्ध ‘कृष्ण यजुर्वेद’ की तैत्तिरीय शाखा से हैं इसके रचयिता का नाम विदित नहीं हुआ है। ‘तैत्तिरीय प्रातिशाख्य’ दो प्रश्नों अर्थात् खण्डों में विभक्त है तथा प्रत्येक खण्ड में १२ अध्याय हैं। तैत्तिरीय संहिता से सम्बद्ध होने के कारण इसमें अधिकांश उदाहरण इसी संहिता से दिये गये हैं। ‘तैत्तिरीय प्रातिशाख्य’ पर माहिषेय कृत ‘पदक्रमसदन,’ सोमयार्य कृत ‘त्रिभाष्यरत्न’ और गोपालयज्वा कृत ‘वैदिकाभरण’ ये तीन भाष्य प्राप्त हैं।

### (४) साम प्रातिशाख्य—

‘साम प्रातिशाख्य’ की रचना पुष्प नामक ऋषि ने की थी, इसलिए इसको ‘पुष्पसूत्र’ भी कहा जाता है। इसमें १० प्रपाठक हैं। ‘सामवेद’ का गान के साथ सम्बन्ध होने के कारण इस प्रातिशाख्य में स्तोम का विशेष स्थान है। इसमें गान की उपयोगी अन्य सामग्री होने के कारण इसका महत्त्व और भी अधिक हो गया है। ‘साम प्रातिशाख्य’ पर सायण का भाष्य उपलब्ध है।

### (५) अथर्व प्रातिशाख्य —

‘अथर्ववेद’ का प्रातिशाख्य ‘चतुरध्यायी’ कहलाता है, क्योंकि इसमें चार अध्याय हैं। १८६२ ई० में इसको अमेरिकन विद्वान् डा० ह्विटनी ने ‘शौनकीया चतुरध्यायिका’ नाम से प्रकाशित किया था। परन्तु अनेक समालोचक इसको शौनक की रचना न मानकर कौत्स की रचना मानते हैं। अनेक स्थानों पर इसको ‘कौत्स व्याकरण’ की संज्ञा भी दी गयी है।

## ४. निरुक्त —

वेदाङ्गों में चौथा नाम निरुक्त का आता है। निरुक्त वस्तुतः किसी ग्रन्थ—विशेष का नाम नहीं हैं, अपितु विषय का नाम हैं। जिस प्रकार शिक्षा, कल्प आदि विषय हैं तथा उन पर ग्रन्थ लिखे गये थे, उसी प्रकार निरुक्त भी एक विषय है, जिस पर प्राचीन काल में अनेक ग्रन्थ लिखे गये थे। परन्तु वर्तमान समय में केवल यास्क का निरुक्त ही उपलब्ध हैं, अतः निरुक्त शब्द द्वारा यास्ककृत निरुक्त का ही बोध होता है।

‘निरुक्त’ का मुख्य प्रयोजन शब्दों की निरुक्ति (व्युत्पत्ति) करके उनके व्युत्पत्ति-मूलक अर्थों को प्रकट करना है। इस प्रकार से वैदिक शब्दों के अर्थों के परिज्ञान के लिए ‘निरुक्त’ को सबसे प्रधान समझा जाता है। व्याकरण—शास्त्र द्वारा शब्दों का ज्ञान होता है और कल्प द्वारा मंत्रों का विनियोग किया जाता है। परन्तु अर्थों का समुचित ज्ञान निरुक्त के द्वारा होता है। अर्थ के प्रधान होने से ‘निरुक्त’ को भी सब वेदाङ्गों में प्रधान समझना चाहिए। ‘निरुक्त’ शब्द की व्याख्या करते हुए सायण का कहना है —

“अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्र उक्तं तन्निरुक्तम्”

अर्थात् अर्थों को जानने के लिए स्वतन्त्र रूप से जहाँ पदों का संग्रह किया गया है, वह



‘निरुक्त’ है।

‘निरुक्त’ और व्याकरण का घनिष्ठ सम्बन्ध है और दोनों के प्रायः एक ही प्रयोजन हैं। परन्तु थोड़ा सा अन्तर भी है। व्याकरण का मुख्य प्रयोजन शब्दों की रचना का बोध कराना है। इससे उनके अर्थों का बोध भी हो जाता है। ‘निरुक्त’ का मुख्य प्रयोजन शब्दों की व्युत्पत्ति करके उनके अर्थों को बतलाना है। ‘निरुक्त’ का आधार है कि वह प्रत्येक शब्द, संज्ञा किस धातु से निष्पन्न है, इसका कथन करता है। अतः ‘निरुक्त’ के रचयिता प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति किसी धातु के साथ प्रत्यय लगाकर बताते हैं। प्राचीन वैयाकरणों में शाकटायन ने भी यही मत प्रकट किया था। इसका समर्थन यास्क ने किया {तत्र नामानि आख्यातजानि इति शाकटायनो निरुक्तसमयश्च निरुक्त (१/१२/२)}। इसी आधार पर वर्तमान समय में भाषा विज्ञान का विकास हुआ। यूरोप में वेदों और संस्कृत भाषा का अध्ययन होने पर इस नये विज्ञान ने जन्म लिया।

#### ५. छन्द —

वेदों का पाँचवा अङ्ग छन्द है। वेदमंत्रों के शुद्ध पाठ के लिए एवं अर्थों को जानने के लिए छन्दों को जानना अनिवार्य है। छन्दों का ज्ञान प्राप्त किये बिना वेदमंत्रों का शुद्ध उच्चारण नहीं किया जा सकता। वेदों का अधिकांश भाग छन्दोबद्ध है। ‘ऋग्वेद’ एवं ‘सामवेद’ के सभी मंत्र छन्दों में निबद्ध हैं। ‘यजुर्वेद’ और ‘अथर्ववेद’ के कुछ अंश ही गद्य में रचित हैं तथा अधिकांश भाग छन्दों में हैं इन मंत्रों का शुद्ध उच्चारण तभी किया जा सकता है, जबकि छन्दों का समुचित ज्ञान प्राप्त कर लिया गया हो।

छन्दों की रचना वर्णों और मात्राओं की संख्या के अनुसार की जाती है ‘छन्द’ शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कात्यायन की ‘सर्वानुक्रमणी’ में कहा गया है “यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः” अर्थात् छन्द अक्षरों की संख्या के अनुसार होते हैं। यास्क ने छन्द शब्द की व्युत्पत्ति ‘छद् आवरणे’ धातु से बतायी है (मंत्रा—मननात्, छन्दांसि छादनात् नि० ७/१९)। यास्क के इस कथन की पुष्टि दुर्गाचार्य ने भी की (यदेभिरात्मानमाच्छादयन् देवा मृत्योर्विभ्यतः, तच्छन्दस छन्दत्वम्)। पाणिनि ने वेदों के लिए ‘छन्दस्’ शब्द का प्रयोग किया तथा वैदिक भाषा के नियमों के लिए अनेक स्थानों पर “बहुलं छन्दसि” सूत्र लिखा। छन्दों को लयबद्ध रूप में गाया जाता है जो हृदय के लिए अधिक आह्लादकारी हैं, अतः छन्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार भी की गयी— छन्दयति पृणाति रोचते इति छन्दः। अथवा— “छन्दयति आह्लादयति छन्दते अनेन वा इति छन्दः” अर्थात् जो तृप्त करता है, अच्छा लगता है, वह छन्द है। अथवा जो आह्लादित करता है या जिसके द्वारा आह्लादित हुआ जाता है, वह छन्द है।

#### ६. ज्योतिष —

वेदाङ्गों में छठा एवं अन्तिम वेदाङ्ग ज्योतिष है। ज्योतिष का मुख्य उपयोग वैदिक यज्ञों की कालगणना के लिए किया जाता था। वेदों के मुख्य प्रतिपाद्य विषय यज्ञ माने



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

गये थे। यज्ञों के सम्पादन के लिए काल की गणना, तिथि-ऋतु वर्ष आदि, प्रातः-सायं समयों, दिन-रात और विभिन्न नक्षत्रों की स्थितियों का बहुत अधिक महत्त्व था। विभिन्न यज्ञीय प्रक्रियायें विभिन्न समय में होती थीं, जिनकी गणना ज्योतिष द्वारा की जाती थी। विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न धातुओं में अग्नि का आधान करने का विधान किया गया है। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में लिखा है कि ब्राह्मण बसन्त ऋतु में अग्नि का आधान करे। क्षत्रिय ग्रीष्म ऋतु में तथा वैश्य शरद् ऋतु में अग्नि का आधान करे। कुछ यज्ञ विशिष्ट पक्षों तथा मासों में किये जाते हैं। इन सब नियमों के यथार्थ निर्वाह के लिए ज्योतिष का ज्ञान अनिवार्य था। अतः 'वेदाङ्ग ज्योतिष' को जानने वाला ही यज्ञों का यथार्थ ज्ञाता था। ज्योतिष-शास्त्र में समय की गणना किये जाने से इसको गणितशास्त्र भी कहा गया था। इसके महत्त्व को बताते हुए 'वेदाङ्ग ज्योतिष' में कहा गया है—

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा ।

तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्ध्नि संस्थितम् । वे० ज्यो० ४ ।।

जिस प्रकार मोरों की शिखा और सर्पों की मणियाँ उनके मस्तक पर रहती हैं, अर्थात् सबसे श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार वेदाङ्ग शास्त्रों में गणित सबसे श्रेष्ठ हैं।

## ऋग्वेद का वर्ण्य विषय

ऋग्वेद आर्यों का सबसे प्राचीन साहित्य है। इसमें आर्य जाति का प्राचीनतम चित्र पूर्ण रूप से प्रस्तुत किया गया है। इसकी ऋचाओं में वैदिक युग की सभ्यता और संस्कृति का पूर्णरूप उपलब्ध होता है। ऋग्वेद में आर्यों के धार्मिक, राजनीतिक सांस्कृतिक, साहित्यिक, सामाजिक, वैज्ञानिक आदि सभी प्रकार के विचारों का तथा उनकी प्रगति का विस्तृत वर्णन है। इनका कुछ चित्र प्रस्तुत करना उपयोगी होगा।

### १. ऋग्वेद का धर्म

आर्यों का धर्म वैदिक धर्म कहलाता है। आर्य या हिन्दू वेदों को अपने मूल मानते हैं। प्रायः सभी भारतीय विचारक अति प्राचीन काल से वेदों को अपने धर्म का मूल मानते रहे हैं। आज हिन्दुओं के धार्मिक स्वरूप में अनेक विभिन्नतायें हैं, कुछ ईश्वर के निराकार रूप की उपासना करते हैं और कुछ उसका साकार रूप भी मानकर उसकी मूर्तियों की पूजा करते हैं, कुछ अनेक देवताओं को मानते हैं और कुछ एक देव ईश्वर को मान कर उसमें इन्द्र, वरुण, अग्नि, आदि विभिन्न दैवी शक्तियों की कल्पना करते हैं। विभिन्न दार्शनिक विचारधारायें 'अद्वैतवाद', 'विशिष्टाद्वैतवाद', 'द्वैतवाद', 'त्रैतवाद' आदि सभी सिद्धान्त वेदों को ही आधार मानकर प्रतिपादित किये जाते हैं। ऋग्वेद का मुख्य धार्मिक रूप देवताओं की उपासना करना है। यह उपासना अनेक देवताओं के रूप में या एक महान् देवता के रूप में हो सकती है।



### (क) अनेक देवताओं की उपासना —

ऋग्वेद में बाह्य रूप से बहुदेवतावाद की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। प्रधान रूप से ३३ देवताओं की स्तुतियाँ ऋग्वेद में मिलती हैं। उपासना करने पर ये देवता मनुष्यों को विविध प्रकार की शक्तियाँ, सिद्धियाँ और सम्पत्तियाँ प्रदान करते हैं। देवता तीन वर्गों में विभक्त किये गये हैं— द्यु स्थानीय देवता, अन्तरिक्ष स्थानीय देवता और भूस्थानीय देवता। प्रमुख देवताओं का परिचय पहले दिया जा चुका है।

वैदिक भाष्यकारों के अनुसार आर्य यज्ञ किया करते थे और मंत्रों का पाठ करते हुये देवताओं का आह्वान करते थे। प्रायः सभी मंत्र देवता परक हैं और इनका विनियोग यज्ञों में किया जाता है। ऋग्वैदिक काल में ये देवता प्राकृतिक शक्तियों के या ईश्वर की दैवी शक्तियों और गुणों के प्रतीक थे। अनेक स्थानों पर मूर्त रूप वर्णित होने पर भी उनका स्वरूप अमूर्त था। कालान्तर में ये पौराणिक देवता बन गये और इनके मूर्त रूप की कल्पना की गई। देवताओं का राजा इन्द्र हुआ, जिसका निवास स्वर्ग में माना गया। इन देवताओं में लोकोत्तर शक्तियों की भी कल्पना की गई।

### (ख) एक देवतावाद या एकेश्वरवाद —

ऋग्वेद में यद्यपि अनेक देवताओं की उपासना है तथापि वैदिक मंत्रों का यह बाह्य अर्थ ही है। वेदों का आन्तरिक सन्देश मूल रूप में एक ही परम शक्ति के स्वरूप को उद्घाटित करना है। वैदिक ऋषियों ने वस्तुतः एक ही चेतन शक्ति की उपासना की थी, जो इस विश्व का मूल है। यह चेतन शक्ति ही परमात्मा, ईश्वर, पुरुष या ब्रह्म है। विभिन्न देवता उसी महान् शक्ति की विविध शक्तियों और गुणों को प्रकट करते हैं। इन गुणों के दैवी या लोकोत्तर होने के कारण इनको देवता की संज्ञा दी गई है। वास्तव में इन देवता वाचक शब्दों का अर्थ ब्रह्मपरक ही है। ईश्वर के एकत्व की और उसमें देवता रूप अनेकत्व की स्थापना ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में की गई है। यथा —

इन्द्र मित्रं वरुणमग्निराहुरथो दिव्यस्सुपर्णो गरुत्मान्।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋग्० १.६४४.६

उस परमेश्वर के एक होते हुए भी विद्वान् उसे अनेक नामों से पुकारते हैं। वे — इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, अग्नि, यम और मातरिश्वा।

य एक इत् तमु ष्टुहि कृष्टीनां विचर्षिणः।

पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः॥ ऋग्० ६.४५.१६॥

वह परमात्मा एक होता हुआ भी विद्वानों द्वारा अनेक नामों से स्तुति किया जाता है। वह धर्मरूप यज्ञों का स्वामी हुआ।

यास्क ने भी सभी देवताओं की आत्मा को एक कहा है —

महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते॥

इन सभी देवताओं की आत्मा एक ही है और उसकी अनेक प्रकार से स्तुति की



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

जाती है।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में पुरुष परमात्मा के असंख्य सिर, हाथ, पैर, आँख आदि बताये गये हैं और वह समस्त ब्रह्माण्ड को व्याप्त करके स्थित है। ऋग्वेद के १०वें मण्डल के १०वें इस पुरुष सूक्त में परम पुरुष में सभी शक्तियों को व्याप्त करके एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा की गई है।

ऋग्वेद के १०वें मण्डल का १२९वां सूक्त नासदीय कहलाता है। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। उसके अनुसार पहले कुछ नहीं था, एकमात्र परम पुरुष ब्रह्म की ही सत्ता थी। उसके मन में सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा हुई। उसने सृष्टि की रचना की। तदनन्तर देवता हुये।

आर्य ऋषियों ने प्रकृति की विभिन्न शक्तियों का दर्शन और अनुभव किया उन्होंने उनको देवता नाम से अभिहित किया। इन देवताओं में उन्होंने एक चेतन अधिष्ठात्री शक्ति के दर्शन किये। वही चेतन शक्ति सृष्टि का कर्ता, नियन्ता और संहर्ता तथा देवताओं को भी शक्ति प्रदान करता है वह सर्व शक्तिमान् और सर्वव्यापक शक्ति है, जो प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय नहीं है।

प्रायः सभी प्राचीन ऋषियों ने वेदों की व्याख्या करते हुये उनमें एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा की थी। उन्होंने विभिन्न देवताओं को उसकी विभिन्न शक्तियां तथा गुण माना। आधुनिक युग में राममोहनराय ने भी वैदिक देवताओं को प्रतीकात्मक गुण माना। ऋषि दयानन्द ने वेद मंत्रों की व्याख्या के आधार पर प्रबल प्रमाणों द्वारा वेदों में एक ही ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित किया।

## ऋग्वेद में काव्य-सौन्दर्य

ज्ञान का आदि स्रोत 'ऋग्वेद' भारतीय काव्यधारा का भी आदि स्रोत हैं। भारत की प्राचीनतम काव्यकृति होने के साथ ही वह विश्व-साहित्य की भी प्राचीनतम साहित्यिक रचना है।

ऋग्वेद का ऋषि मंत्रद्रष्टा तो है ही, साथ ही वह संवेदनशील कवि भी है। ऋषि के रूप में वह प्रकृति में छिपी दिव्य शक्तियों का साक्षात्कार करता है, तो कवि के रूप में वह अपनी कोमल अनुभूतियों की काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी करता है। परिणामस्वरूप, ऋग्वेद में स्तुतिपरक एवं याज्ञिक कर्मकाण्ड के लिए उपयोगी बहु-संख्यक सूक्तों के साथ ही, अनेक ऐसे सूक्त भी उपलब्ध होते हैं, जिनमें वैदिक कवि की उर्वर कल्पना के दर्शन स्थल-स्थल पर होते हैं। इस सम्बन्ध में पण्डित राहुलसांकृत्यायन की यह उक्ति देखने योग्य है —

“ऋग्वेद में जहाँ तहाँ सुन्दर काव्य की जो छटा मिलती है, उससे पता लगता है कि ऋग्वैदिक आर्य कविता के प्रेमी थे।” —ऋग्वैदिक आर्य, पृष्ठ० २४५-२४६,

ऋग्वेद में काव्यात्मक सौन्दर्य की सर्वप्रथम अनुभूति वहाँ होती है जहाँ वैदिक



कवि ने प्राकृतिक दृश्यों में ईश्वरीय शक्ति का मानवीकरण किया है। यह मानवीकरण ऋग्वेद की कविता के रूप में हमारे सामने आता है। इसी कारण, प्राकृतिक उषा, एक सुन्दरी युवती नायिका के रूप में हमारे सामने आती है। इसी प्रकार, इन्द्र को भी हम एक वीर उत्साही योद्धा के रूप में और वरुण को एक सर्वाधिकार-सम्पन्न राजा के रूप में देखते हैं। संक्षेप में, ऋग्वेद में प्राकृतिक और भौतिक शक्तियों का वर्णन देवतारूप में हुआ यह मानवीकरण, सर्वत्र ही काव्य-सौन्दर्य से ओत-प्रोत है।

### ऋग्वेद में रसात्मक-तत्त्व

ऋग्वेद में, हमें स्थान-स्थान पर रसात्मकता की अनुभूति होती है। रसों में से, शृंगार के दोनों ही भेद – संयोग शृंगार और वियोग शृंगार उसमें मिल जाते हैं।

संयोग शृंगार की झलक के रूप में उषः सूक्त (१!१२३) को प्रायः उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। देखिए –

“कन्येव तन्वा शाशदाना एषि देवि देवमियक्षमाणम्।

संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती।।”

ऋग्वेद १/१२३/१०।।

रसिक वैदिक कवि ने यहाँ प्राकृतिक उषा का मानवीकरण सुन्दरी कन्या के रूप में किया है। कवि के अनुसार –

‘उषा’ कमनीय कन्या के समान अत्यधिक आकर्षणमयी होकर सूर्य के सम्मुख जाती है और स्मितवदना, वह उषा युवती के समान, अपने वक्ष को सूर्य के सम्मुख निर्वस्त्र कर देती है।

संयोग शृंगार के आभास के लिए यम-यमी सूक्त विशेषतः द्रष्टव्य है। इस सूक्त में यमी (नायिका के रूप में) बार-बार यम (नायक) से प्रणय-निवेदन करती है।

वियोग-शृंगार का सुन्दर उदाहरण पुरुरवा-उर्वशी-सूक्त है। यहाँ उर्वशी के वियोग से पीड़ित पुरुरवा की उक्तियाँ बहुत ही मार्मिक, काव्यात्मक और सुन्दर हैं। वीर रस के उदाहरण के रूप में, ऋग्वेद में किन्ने गये इन्द्र के ओजस्वितापूर्ण वर्णन को देखा जा सकता है। यहाँ ऋषि गृत्समद ने इन्द्र के पराक्रम का वर्णन इस प्रकार किया है –

“यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासोयं युद्धमाना अवसे हवन्ते।

यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः।।”

ऋ० २/१२/९।।

यहाँ कहा गया है कि इन्द्र की बराबरी करने वाला दूसरा कोई भी योद्धा नहीं है।

### सौन्दर्य-वर्णन –

काव्य में सौन्दर्य-वर्णन का विशेष महत्त्व होता है और इस विषय में सभी विद्वान एकमत है कि सौन्दर्य-वर्णन की दृष्टि से ऋग्वेद के उषः सूक्त की कोई तुलना नहीं है। पूर्व दिशा में, क्षितिज पर अपनी अरुण आभा प्रकट करती हुई उषा को देखकर ऋग्वेद



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

का कवि उसके सौन्दर्य में जैसे खो जाता है। देखिए —

“उषो देव्यमर्ता विभाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती ।

आ त्वा वहन्तु सुयमासों अश्वा हिरण्यवर्णा पृथुपाजसो ये ॥”

ऋ० ६/६१/२॥

यहाँ सोने के रथ पर चढ़कर आती हुई उषा का सुन्दर चित्रण हुआ है। एक अन्य स्थान पर भी उषा के रूप सौन्दर्य का अच्छा चित्रण हुआ है —

“जायेव पत्य उशती सुवासा ।

उषा हस्त्रेव निरिणीते अप्सः ॥” ऋ० १/१२४/७॥

यहाँ उषा की तुलना शोभन वस्त्रों वाली सुन्दर युवती से की गयी है।

अलङ्कार —

ऋग्वेद में प्रयुक्त अलंकारों के विषय में, श्री बलदेव उपाध्याय का विचार है कि “रूपक वेद का एक प्रशंसनीय बहुल-प्रयुक्त अलंकार है। वेद की शैली ही रूपकमयी है सुन्दर उपमाओं का एक रमणीय क्रम ऋग्वेद के मंत्रों में उल्लसित होता है। अन्य अलंकारों में अतिशयोक्ति, व्यतिरेक, समासोक्ति आदि अनेक अलंकारों के भी दर्शन हमें यहाँ मिलते हैं।” (वैदिक साहित्य, पृ० ३३७) ऋग्वेद में अलंकारों की दृष्टि से यहाँ सर्वप्रथम, उपमा अलंकार पर विचार करना उपयुक्त होगा।

उपमा अलङ्कार :

उपमा, ऋग्वैदिक ऋषि का बहुत ही प्रिय अलंकार है। यह ऋग्वेद के प्रमुख अलंकारों में से एक है। ‘इव’ के ही अर्थ में ऋग्वेद में ‘न’ का प्रयोग भी उपमा वाचक शब्द के रूप में मिलता है। ‘इव’ शब्द के साथ उपमा अलंकार का सुन्दर प्रयोग देखिए—

“अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम् ।

जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्त्रेव निरिणीते अप्सः ॥”

ऋ० १/१२४/७॥

यहाँ कवि ने, उषा के वर्णन में ‘अभ्रातेव’, ‘गर्तारुगिव’, ‘जायेव’ तथा ‘हस्त्रेव’ आदि के द्वारा उपमा की झड़ी-सी लगा दी है। इसी प्रकार, ऋग्वेद २/३६/१-८ में भी उपमा का प्रायः प्रत्येक पंक्ति में एक से अधिक बार प्रयोग हुआ है और अधिक उदाहरणों के लिए तृतीय मण्डल के ३५वें सूक्त ‘नदीसूक्त’ को भी देखा जा सकता है। इसमें कवि ने व्यास और सतलुज नदी का वर्णन करते हुए उनकी उपमा अश्व, गौ, रथी, वत्स, योषा और मर्य (पति) के साथ दी हैं ऋग्वेद के १/३२/२ में वर्णित है कि जब इन्द्र ने, पर्वतों में रहने वाले वृत्र पर अपने वज्र का प्रहार किया, तब कोलाहल करता हुआ और वेगपूर्वक बहता हुआ जल उसी प्रकार समुद्र की ओर बढ़ चला, जिस प्रकार सायंकाल के समय घर को लौटने वाली, बछड़ों की गायें रंभाती और दौड़ती हुई अपने आश्रय स्थान की ओर जाती है —



“बाश्वा इव धेनवः स्यन्दमाना ।

अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ।।” ऋ० १/३२/२ ।।

इस प्रकार ऋग्वेद में उपमा अलंकार का सौंदर्य स्थल-स्थल पर देखने को मिल जाता है ।

**अतिशयोक्ति अलङ्कार :**

ऋग्वेद में अतिशयोक्ति के भी अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं । एक उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है —

“द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्व त्वनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।”

ऋ० १/१६४/२० ।।

यहाँ आत्मा और परमात्मा उपमेय है, पक्षीद्वय उपमान है । उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण किये जाने से यहाँ अतिशयोक्ति है ।

ऋग्वेद में अतिशयोक्ति का एक अन्य उदाहरण इस ऋचा में भी है—

“चत्वारि शृंगा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्या आ विवेश ।।”

ऋ० ४/५८/३ ।।

अतिशयोक्ति का सुन्दर उदाहरण होने के साथ ही यहाँ वैदिक कवि की काव्यकुशलता भी उत्कृष्ट कोटि की है यहाँ प्रयुक्त पदों की यह विशेषता है कि इस एक ही ऋचा का अर्थ विभिन्न विद्वान् विभिन्न प्रकार से करते हैं । सायण ने इस ऋचा की व्याख्या यज्ञपरक की है, पतञ्जलि ने इसकी व्याख्या शब्दपरक की है और राजशेखर ने इसकी व्याख्या काव्यपरक की है ।

इस प्रकार ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर काव्य का सौन्दर्य प्रस्फुटित हुआ दृष्टिगोचर होता है ।

ऋग्वेद के आख्यान सूक्तों में भी काव्यात्मकता के दर्शन होते हैं यम-यमी और पुरुरवा-उर्वशी सूक्त की काव्यात्मकता से तो सभी परिचित हैं । यहाँ विशेष रूप से, सूर्या सूक्त का उल्लेख करने योग्य है । इस सूक्त में सूर्या और सोम के विवाह का काव्यात्मक वर्णन हुआ है । सरलता, सरसता और भावप्रवणता इस वर्णन की विशेषताएँ हैं ।

## ऋग्वेद का समाज

ऋग्वेद के अध्ययन से उस युग की सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का विस्तृत परिचय मिलता है । उनका कुछ निदर्शन संक्षेप से किया जाता है ।

(क) **वर्णव्यवस्था —**

ऋग्वेद के काल में आर्यों का समाज चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

में विभाजित किया गया था। ये आर्यों के चार वर्ण थे। यह वर्ण व्यवस्था व्यक्तियों के अपने गुणों और कर्मों के अनुसार विकसित हुई थी। चारों वर्ण परस्पर प्रीतिभाव से रहते थे। आर्येत्तर दस्यु कहलाते थे।

ऋग्वेद के मन्त्रों में चारों वर्णों के कर्तव्यों का निर्देश किया गया है। ये वर्ण स्वयं पुरुष परमेश्वर के अङ्गों से उत्पन्न हुये थे —

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।

उरु तदस्य यद्वैश्य पदभ्यां शूद्रो अजायत॥ ऋग्वेद १०.९०.१२॥

इस पुरुष का मुख ब्राह्मण था, क्षत्रिय भुजाओं से उत्पन्न हुये थे। वैश्य इसका उरु था। पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई थी।

(ख) आश्रम व्यवस्था —

ऋग्वेद में आश्रम व्यवस्था का उतना विकास दृष्टिगोचर नहीं होता, जितना अन्य वेदों में तथा वेदोत्तरकालीन साहित्य में है। आर्य ऋषियों ने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों की व्यवस्था की थी। ऋग्वेद में मुख्य रूप से ब्रह्मचर्य का और थोड़ा सा गृहस्थ जीवन का आभास दिया गया है। गुरु के पास विद्याध्ययन के लिये आने वाला विद्यार्थी ब्रह्मचारी कहलाता था और आचार्य उसे अपने पास रख कर शिक्षा देता था। ब्रह्मचर्य का पालन करना बालको और बालिकाओं दोनों के लिये अनिवार्य था। निम्न मन्त्रों में ब्रह्मचर्य की महिमा गाई गई है—

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।

प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रो भवद्वशी॥

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्र नियच्छति।

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।

अनङ्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घास जिगीर्षति॥

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाध्नत।

इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवभ्यः स्वराभरत्॥

वेदों में गृहस्थ आश्रम को सब प्रकार की शारीरिक, आध्यात्मिक और मानसिक उन्नति का साधक बताया गया है। यह आश्रम ब्रह्मचर्य के बाद विवाह के अनन्तर प्राप्त होता है।

(ग) विवाह —

ऋग्वेद में विवाह के आदर्शों और विधि का रोचक वर्णन किया गया है। वर और कन्या ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये यौवन प्राप्त करने पर विवाह के अधिकारी होते थे। विवाह के समय वर कन्या का हाथ पकड़ कर कहता था—



गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।।

ऋ० १०.८५.३६

सौभाग्य को प्राप्त करने के लिये मैं तुम्हारा हाथ पकड़ता हूँ। मुझ पति को पाकर तुम वृद्धावस्था तक पहुँचना।

विवाह का मुख्य उद्देश्य पुत्र को प्राप्त करना था। विवाह के अनन्तर इन्द्र से प्रार्थना की जाती है— हे इन्द्र! इस नारी को तुम उत्तम पुत्रों वाली और सौभाग्यवती बनाओ। इसके गर्भ में १० पुत्रों को स्थापित करो और यह पति के साथ ११ पुत्रों वाली बने।

विवाह होने के बाद पतिगृह में पत्नी का बहुत अधिक सम्मान और अधिकार होता था। वह सास, ससुर, ननद और देवरों के घर में सम्राज्ञी होती थी और सब पर शासन करती थी।

(घ) समाज में स्त्रियों की स्थिति —

ऋग्वेद के युग में नारी जाति ने समाज में उचित सम्मान और अधिकार प्राप्त किया था। ऋग्वेद के अनेक देवता—पृथिवी, उषा, वाक् आदि नारियाँ हैं। वैदिक युग के समाज ने नारियों का देवियों के समान आदर किया था। पिता के घर में कन्यायें बहुत अधिक स्नेह और सम्मान पाती थीं। ब्रह्मचर्य का पालन करना उनके लिये अनिवार्य था और वे उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त करती थीं। अपने लिये योग्य पति का वरण करने के लिये वे स्वतन्त्र होती थीं।

विवाह होने के बाद नारियों का पति के घर पर पूरा अधिकार होता था। वे पति के लिये सन्तान उत्पन्न करती थीं और उसके प्रत्येक कार्य में सहायक होती थीं। पति के यज्ञ कार्यों में तो वे सहायक होती ही थीं, आवश्यकता होने पर युद्धों में भी जाती थीं। ऋग्वेद के वचनों के अनुसार पत्नी को पति के प्रति प्रेम करने वाली एकनिष्ठ, और प्रत्येक कार्य में सहभागिनी होना चाहिये। असती, विपथगामिनी और पति से द्वेष करने वाली नारी की सर्वत्र निन्दा की गई है।

(ङ) दास प्रथा —

ऋग्वेद में आर्यतर जातियों को दास कहा गया है। आर्यों ने इन जातियों को जीत कर अपने अधीन कर लिया था। दास जाति के लोग अच्छे शिल्पी थे। वे विशाल नगरों तथा घरों का निर्माण करते थे। आर्यों द्वारा जीते जाने पर इनका शिल्प नष्ट नहीं हुआ। आर्य क्योंकि इन दासों को अपने से हीन समझते थे, अतः भारत में प्राचीन काल से ही शिल्पियों को कुछ हीन समझने की प्रवृत्ति रही। दास आर्यों के गुलाम नहीं थे, अपितु अधीनस्थ प्रजा थे। हीन समझे जाने के कारण इनकी सामाजिक स्थिति अधिक अच्छी नहीं रही होगी। ऋग्वेद में दासों के क्रय विक्रय का संकेत नहीं मिलता।



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

### (च) निवास -

आर्यों की संस्कृति प्रायः ग्रामीण संस्कृति थी। आर्यों ने सम्भवतः बड़े नगरों का निर्माण नहीं किया था। ऋग्वेद में आर्येतरों के ही बड़े नगरों का उल्लेख मिलता है। इन्द्र ने उनके १०० नगरों को नष्ट किया। घर के लिये गृह, हर्म्य, वास्तु, पस्त्वा, आयतन आदि शब्द ऋग्वेद में आये हैं। घरों के निर्माण में यज्ञशाला का विशेष महत्त्व होता था। घर के चार भाग होते थे - अग्निशाला, हविर्धान, पत्नीनां सदन और सदस्।

### (घ) भोजन -

आर्यों का भोजन सादा और पौष्टिक होता था। घी, दूध, दही, आदि का वे प्रचुर प्रयोग करते थे। अनाजों में यव और चावल अधिक प्रयोग में आते थे। गौयें आर्यों को विशेष प्रिय थीं। जिनके दूध का आर्यों के भोजन में विशेष स्थान था। ऋग्वेद में गाय को 'अध्न्या' कहा गया है। अर्थात् उनको मारा नहीं जा सकता।

### (ज) पेय -

आर्यों के पेय पदार्थों में जल और दूध के अतिरिक्त सोम का भी स्थान था। मधु का उल्लेख आता है। ऋग्वेद में सोम रस को बहुत महत्त्व दिया गया है। यह मुञ्जवान पर्वत पर उत्पन्न होने वाली सोम लता का रस था। इसको विशिष्ट विधियों से निकाला जाता था और यज्ञों के अवसरों पर सोम पान करने के लिये देवताओं का आह्वान होता था।

### (झ) वस्त्र -

ऋग्वेद के युग में अधिकतर ऊन के वस्त्रों का प्रयोग किया जाता था। कपास के वस्त्रों का प्रचलन कम था। ऋग्वेद में वर्णित वस्त्रों में वासस्, वस्त्र, अधोवस्त्र और उत्तरीय उल्लेखनीय हैं। मृगचर्म और वल्कल वस्त्र भी पहने जाते थे। इन वस्त्रों को तपस्वी धारण करते थे।

### (ञ) आभूषण -

आर्य आभूषणों के भी शौकीन थे। स्त्री और पुरुष दोनों ही आभूषण धारण करते थे। ऋग्वेद में प्रायः सोने के ही आभूषणों का प्रयोग मिलता है। रुक्म, निष्क आदि आभूषणों का उल्लेख मिलता है। ये आभूषण गले में वक्षः स्थल पर, कानों में, हाथों में, पैरों में पहने जाते थे। स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार से अपने को सजाती थीं।

### (ट) आमोद-प्रमोद -

आर्यों के आमोद प्रमोद का अधिक वर्णन ऋग्वेद में नहीं मिलता है। तथा कहीं कहीं कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं। ऋग्वेद के पाँचवे मण्डल में घुडदौड़ और रथ दौड़ का उल्लेख है। दौड़ को 'अजि' और दौड़ के मैदान को 'काष्ठा' कहा जाता है। स्त्री और पुरुष नृत्यगान में भाग लेते थे और अघटि' नामक वाद्य बजाते थे। आर्यों को संगीत



के सात स्वरों की पहचान थी और वे अनेक प्रकार के वाद्य — दुन्दुभि, वीणा, जाली, आदि बजाते थे। मनोविनोद के लिये जुआँ खेलने का भी वर्णन आता है, परन्तु जुआँ खेलने की हानियाँ भी बतायी गई हैं।

## ऋग्वेद के समय का राजनीतिक जीवन —

वैदिक युग की शासन व्यवस्था और राजनीति का विस्तृत परिचय ऋग्वेद से प्राप्त होता है। वैदिक युग में बड़े बड़े राज्य नहीं थे, अपितु आर्य अनेक जनों (कबीलों) में बँटे हुये थे। आर्यों के पाँच प्रमुख जनों का उल्लेख ऋग्वेद में है — अणु, द्रुह्य, यदु, तुर्वसु और पुरु। इनके अतिरिक्त भरत, त्रित्सु आदि जनों का भी वर्णन मिलता है। आर्य शासन व्यवस्था में सभी मनुष्यों की सामाजिक स्थिति प्रायः समान थी और सामान्य प्रजा को 'विशः' कहा जाता है। वैदिक युग की शासन व्यवस्था की कुछ बातें यहाँ उल्लेखनीय हैं —

### (क) राजा

वैदिक युग में शासन के संचालन के लिये राजा का निर्वाचन होता था। जनता (विशः) राजा का निर्वाचन करती थी। राजा जनता से प्रतिज्ञा करता था कि वह उनकी बाह्य तथा आन्तरिक आक्रमणों से रक्षा करेगा और न्यायपूर्वक उसका पालन करेगा। राजा के इस कार्य के लिये प्रजा उसको बलि (कर) देती थी।

अनेक बार विशः के प्रमुख व्यक्तियों को राजा के चुनने का कार्य सौंप दिया जाता था। ये स्वयं भी राजा कहलाते थे। इनको 'राजानः राजकृत' नाम दिया गया था। राजकार्यों में ये राजा की सहायता करते थे।

राजा का मुख्य कार्य प्रजा की रक्षा करना और बाह्य आक्रमण होने पर सेना का नेतृत्व करना था। न्याय करना भी राजा का ही कार्य था। शासन के संचालन के लिये वह अधिकारियों को नियुक्त करता था। राजा के अधिकारियों में पुरोहित का कार्य बहुत महत्वपूर्ण था। वह धार्मिक कार्यों को सम्पन्न कराने के साथ ही राजा के साथ युद्धों में भी जाता था।

### (ख) सभा और समिति

राजा का निर्वाचन प्रजा द्वारा होता था, तथा राजा प्रजा पर शासन करता था। परन्तु राजा स्वेच्छाचारी नहीं था। राजा के अतिरिक्त प्रजा द्वारा दो संस्थाओं सभा और समिति का निर्वाचन होता था। ये संस्थायें राजा पर नियन्त्रण रखती थीं तथा राजकार्यों में उसकी सहायता करती थी। इन संस्थाओं के सदस्य राजकीय नीतियों का निर्धारण करने के लिये सभागृह में एकत्रित होते थे। वे वहाँ परस्पर विवाद करते थे तथा भाषण देते थे। इन संस्थाओं के निर्णयों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता था।

सभा और समिति में क्या भेद था, यह स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः सभा की सदस्य संख्या कम रही हो और यह अन्तरङ्ग सभा हो एवं समिति का रूप अधिक बड़ा हो।



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

समिति के निर्णयों को एक मत से स्वीकार करने का प्रयत्न किया जाता था। ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त में प्रार्थना की गई है कि समिति के सदस्यों का मत एक ही हो।

### (ग) युद्ध और शस्त्र

आर्य जाति युद्ध प्रिय थी उसने युद्ध की कला का अच्छा अभ्यास किया था। धनुष बाण और तलवार इनके प्रमुख हथियार थे। आर्य भालों और छुरियों का भी प्रयोग करते थे। शरीर की रक्षा के लिये लोहे के कवच, टोप और दस्तानों को पहना जाता था। युद्धों में सवारी के लिये घोड़े और रथ काम में आते थे।

### (घ) राष्ट्रीयता

ऋग्वैदिक युग में अपने देश के प्रति भक्ति और राष्ट्रीयता की भावना का विकास हो गया था। ऋग्वेद के ५.६६.६ मन्त्र में राज्य की महिमा का उपदेश है (व्यचिष्टे बहुपाय्ये स्वराज्ये)। स्वराज्य की अनेक उपायों से रक्षा करनी चाहिये। राष्ट्रीयता की भावना अनेक मन्त्रों में अभिव्यक्त हुई है।

वैदिक ऋषियों ने सम्पूर्ण विश्व के लिये भी एक राष्ट्र की कल्पना की थी। उन्होंने राजा के आदर्शों को प्रस्तुत किया था। राष्ट्र का राजा ऐसा होना चाहिये, जिसको प्रजा चाहे। उस एक छत्र राजा के शासन में कभी भ्रष्टाचार नहीं होना चाहिए। वह राजा पर्वत के समान स्थिर होकर राष्ट्र को धारण करता है —

इहैवैधि मापच्योष्ठाः पर्वत इवाचलिः।

इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय ॥ ऋग्वेद १०.१७३.२॥

### ऋग्वेद का आर्थिक जीवन —

ऋग्वेद के युग में जीवन की आवश्यकतायें पूरी करने के लिये व्यक्ति बहुत कुछ स्वयं समर्थ होता था। गांवों में आवश्यक वस्तुयें वहीं पैदा कर ली जाती थीं और बाहर से वस्तुओं को मंगाने की आवश्यकता प्रायः नहीं होती थी। कृषि और पशुपालन उस युग के प्रमुख व्यवसाय थे, यद्यपि अनेक प्रकार के उद्योगों और शिल्पों का विकास हो चुका था।

### कृषि —

ऋग्वेद के समय में कृषि महत्वपूर्ण व्यवसाय बन चुकी थी। लकड़ी और धातु के हल बनाये जाते थे और इनको बैलों के द्वारा जोता जाता था। सिंचाई की भी व्यवस्था की गई थी। आर्यों का प्रमुख अन्न जौ था। इसके अतिरिक्त गेहूं, धान, माष, तिल आदि भी बोये जाते थे। यवों के पक जाने पर इनको हंसिये से काटकर खलियान में लाया जाता था और पीटकर तथा सूप से पछीज कर अनाज अलग किया जाता था। राजाओं के बड़े-बड़े खेत होते थे। ऋग्वेद में अनेक बैलों से जोते जाने वाले हलों का वर्णन मिलता है।

ऋग्वेद में अनेकों वृक्षों और वनस्पतियों का भी उल्लेख आता है। इनमें पीपल,



न्यग्रोध और वट मुख्य हैं। सोम नामक वनस्पति आर्यों के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण थी।  
**पशुपालन —**

आर्यों के जीवन में पशुओं का बहुत अधिक महत्त्व था। गौ, बैल, भेड़ और बकरी आर्यों की आजीविका के लिये आवश्यक थे। बैल कृषि के लिये आवश्यक था, गाय और बकरी से दूध लिया जाता था और भेड़ों से ऊन प्राप्त होती थी। आर्यों के लिये गौ बहुत मूल्यवान और पूजनीय थी। गौ का वध नहीं किया जा सकता था।

अश्व आर्यों का एक अति मूल्यवान पशु था। गौधन के साथ वाजिधन की प्रार्थना वेद के मन्त्रों में की गई है। घोड़ों का उपयोग युद्धों के लिये, रथों, को खींचने के लिये तथा तीव्रगामी सवारी के लिये आवश्यक रूप से होता था। एक घोड़े का मूल्य १ हजार गायों के बराबर होता था।

कुत्तों को भी पाला जाता था। घरों की रक्षा के लिये तथा शिकार में सहायता के लिये कुत्ते उपयोगी होते थे।

पालतू पशुओं के अतिरिक्त ऋग्वेद में वन्य पशुओं का भी उल्लेख आता है। इनमें सिंह, हाथी, बृक, बराह, कच्छ और कपि मुख्य हैं। महिष घरेलू और जंगली दोनों प्रकार के होते थे।

**उद्योग —**

ऋग्वैदिक युग में उद्योगों का प्रचुर विस्तार हुआ था। कपड़े का उद्योग काफी विकसित था। जुलाहे (तन्तुवाय) कपड़ा बुनते थे। वस्त्र मुख्य रूप से ऊन से बनते थे।

रथ बनाना, चमड़े का सामान बनाना, सोने के आभूषण बनाना, लकड़ी और धातुओं का सामान बनाना, मकान बनाना, हथियार बनाना, नौका बनाना आदि उद्योगों का विस्तृत परिचय हमें ऋग्वेद से मिलता है।

**खनिज —**

ऋग्वेद में अनेक खनिजों का वर्णन आया है। सबसे अधिक उल्लेख स्वर्ण का है। स्वर्ण का उपयोग आभूषण बनाने के लिये किया जाता था। दूसरा महत्त्वपूर्ण खनिज अयस् है। संस्कृत भाषा में इसका अर्थ लोहा है। ऋग्वेद के युग में अयस् शब्द लोहे का वाचक था, यह निश्चित नहीं किया जा सका है। अनेक विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद का अयस् शब्द ताम्बे का वाचक था। अथर्ववेद में दो प्रकार के अयस् — कालायस और लोहितायस का उल्लेख है, जो सम्भवतः क्रमशः लोहे और ताम्बे के वाचक हैं। ऋग्वेद में कुछ स्थानों पर अयस् का रंग लालिमा लिये हुये बताया गया है, इसलिये कुछ विद्वान् इसका अर्थ ताम्बा करते हैं।

**व्यापार —**

ऋग्वैदिक युग में व्यापार का भी काफी विकास हुआ था। व्यापार का माध्यम उस युग में वस्तु विनिमय रहा होगा, यद्यपि निष्क नामक सिक्के का भी उल्लेख मिलता



है। एक स्थान पर गौ को इकाई मानकर विनिमय करने का उल्लेख है।

वैदिक युग में स्थानीय भागों से व्यापार होने के अतिरिक्त जलीय भागों से भी व्यापार अवश्य होता होगा। समुद्री व्यापार भी सम्भवतः होता था। वैदिक संहिताओं में बड़ी-बड़ी नौकाओं का वर्णन है, जो समुद्रों में दूर दूर तक जाती थीं।

### ऋग्वेद के युग में विज्ञान का विकास—

ऋग्वेद सभ्यता के युग में अनेक विज्ञानों का विकास हो चुका था तथा आर्यों ने प्रचुर मात्रा वैज्ञानिक प्रगति की थी। कुछ विज्ञानों का वर्णन नीचे किया जाता है—

#### (क) चिकित्सा

वैदिक युग में चिकित्सा शास्त्र का पर्याप्त विकास हो चुका था। चिकित्सा से सम्बन्धित अनेक मन्त्र ऋग्वेद में हैं। औषधियों और मन्त्रों द्वारा चिकित्सा की जाती थी। औषधि के रूप में जल का भी प्रयोग होता था। योग्य वैद्य चिकित्सा करने के लिये अनेक औषधियों का संग्रह करते थे। एक मन्त्र में (१.२४.९) प्रार्थना की गई है कि हे राजन! तुम्हारे पास सैंकड़ों वैद्य हों।

ऋग्वेद में शल्यविज्ञान के विकास के संकेत भी हैं। अश्विनी देवता मुख्य शल्यचिकित्सक थे। एक मन्त्र के अनुसार अश्विनी देवताओं ने विश्पता की टूटी जांघ जोड़ दी थी, ऋजाश्व की आँखें बनाई थी और श्रोण के घुटने ठीक कर दिये थे।

#### (ख) भूगोल

ऋग्वेद में ऋषियों का भौगोलिक ज्ञान काफी बढ़ा-चढ़ा था। उन्होंने चार समुद्रों का वर्णन किया है, जिनमें बड़ी-बड़ी नौकाओं से यात्रा की जाती थी। पर्वतों और उनसे निकलने वाली नदियों का वर्णन है। ऋग्वेद में मुञ्जवान् पर्वत का विशेष उल्लेख है, जहाँ सोम नामक वनस्पति प्राप्त होती थी। यह पर्वत निश्चित रूप से उत्तर दिशा में था। सिन्धु प्रदेश के मरुस्थल का भी उल्लेख ऋग्वेद में आता है।

ऋग्वेद में नदियों का वर्णन प्रचुरता से किया गया है। आर्य नदियों के किनारे रहना पसंद करते थे। ऋग्वेद में, 'सप्त सिन्धवः' और 'सप्त स्रवतः' शब्द अनेक बार आये हैं। इनका अर्थ है— सात नदियाँ। ये सात नदियाँ इस प्रकार थीं सिन्धु, वितस्ता, परुष्णी, विपाशा, शुतुद्रि, असिक्नी और सरस्वती। इन प्रमुख नदियों के अतिरिक्त और भी अनेक नदियों का वर्णन ऋग्वेद में आता है। अनेक नगरों और जनपदों का वर्णन भी ऋग्वेद में किया जाता है।

#### (ग) ज्योतिष

ऋग्वेद युग में ज्योतिष विज्ञान का भी विकास हो चुका था। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में इस विज्ञान से सम्बन्धित तथ्य उपलब्ध होते हैं। आर्य पृथिवी और अन्य नक्षत्रों की गति से परिचित हो गये थे। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ३५वें सूक्त में सूर्य के अन्तरिक्ष में भ्रमण, उसके उदय के नियम, राशि-विवरण, सूर्य के कारण चन्द्रमा की



स्थिति और सूर्य द्वारा भूलोक एवं द्युलोक को प्रकाशित करने आदि की बातें कहीं गई हैं। सूर्य द्वारा पृथिवी को थामने और पृथिवी की गति का उल्लेख १०.१४९.१ में मिलता है। सूर्य अपनी आकर्षण शक्ति से पृथिवी आदि लोकों को थामे रखता है और घुमाता है। ऋग्वेद में सूर्य के मार्ग की लम्बाई ५०५९ योजन बताई गई है। इसके रथ की गति एक दण्ड में ७९ योजन होती है। सूर्य के रथ में सात घोड़े बताये गये हैं। सूर्य के सात रंगों के द्योतक ये सात घोड़े हैं।

ऋग्वेद में ५ ऋतुओं और १२ राशियों का वर्णन है। यहां सम्भवतः हेमन्त और शिशिर ऋतु को एक ही ऋतु माना गया है। १२ राशियाँ (१२ महीने) ३६० दिन और ३६० रातों की होती हैं। ऋग्वेद के ऋषि सूर्य-ग्रहण से और सूर्य के दक्षिणायन तथा उत्तरायण होने से भी परिचित थे।

### (घ) नौका और विमान

ऋग्वेद के अध्ययन से विदित होता है कि आर्यों ने समुद्रों में चलने वाली बड़ी नौकाओं तथा सम्भवतः आकाशगामी विमानों का भी विकास किया था। ऋग्वेद में भृज्यु की ऐसी नौका का उल्लेख है जो सौ आरियों (चप्पुओं) से चलाई जाती थी।

शतारित्रां नावम् — ऋ० १.११६.५।।

चारों वेदों में सूर्य की किरणों से विद्युत् प्रवाह, सौर ऊर्जा, सूर्य में आकर्षण शक्ति, सूर्य के आकर्षण से पृथ्वी रुकी है, परमाणुओं में आकर्षण शक्ति, अग्नि और सोम से विश्व की रचना, ऊर्जा (अग्नि) विश्वव्यापी है, जल मन्थन से अग्नि, भूगर्भीय अग्नि, मरुतों में चुम्बकीय शक्ति, ओजोन परत, पर्यावरण के घटक तत्त्व, सूर्य किरणों का हृदय रोग नाशक होना, जल-चिकित्सा, हस्त स्पर्श चिकित्सा, शीतगृह, विशाल भवन, लोहनिर्मित नगर, स्वचालित यान आदि अनेकानेक वैज्ञानिक विषयों का सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है। इस दृष्टि से बहुत शोध कार्य करने की आवश्यकता है।

## वेद भाष्यकार

वेदों के मन्त्रों की व्याख्या बहुत प्राचीन काल से की जाती रही है तथा अनेक विद्वानों ने इनके अर्थों को प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है। परन्तु मन्त्रों के अर्थों को अभिव्यक्त करने में वे एक मत नहीं हो सके, उनके अर्थों में बहुत अधिक मतभेद हैं। भारत में जो भी भिन्न-भिन्न प्रकार के मत, उपासना पद्धतियाँ, दार्शनिक विचार आदि प्रचलित हुये, उनके आचार्यों ने वेदों को प्रमाण मान कर अपने कथनों को पुष्ट किया।

वेदों के मन्त्रों की व्याख्या के रूप में सबसे पहले ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों की रचना हुई। इनको वैदिक साहित्य के अन्तर्गत समझा जाता है और माना जाता है कि इनमें वेदों के अर्थों का ही प्रकाशन किया गया है। इस साहित्य की रचना के अनन्तर वेदों पर और इस वैदिक साहित्य पर भी अनेक टीकायें और भाष्य प्राचीन



काल से ही लिखे जाते रहे। यद्यपि अनेक टीकायें और भाष्य इस समय प्राप्त नहीं हैं, तथापि जो भी प्राप्त हैं उनका परिमाण कम नहीं है।

वेदों के मन्त्रों के अर्थ को स्पष्ट करने का पहला प्रयत्न हमें यास्क के निरुक्त में मिलता है। यास्क ने बताया कि मन्त्रों के अर्थ किस प्रकार करने चाहिये। उन्होंने स्वयं तो वेदों पर भाष्य नहीं लिखे, परन्तु अर्थों को समझाने का ढंग बताया। निरुक्त में उन्होने कौत्स आदि अपने से प्राचीन टीकाकारों के मतों का भी उल्लेख किया है।

वेदों के जिन टीकाकारों के नाम हमें ज्ञात हैं, उनमें सबसे प्राचीन स्कन्दस्वामी हैं। इन्होंने अपनी टीका ६८७ विक्रमी सम्वत् में पूरी की थी। माधव, सायण आदि भाष्यकारों ने स्कन्दस्वामी को अपने भाष्यों में उद्धृत किया है। स्कन्दस्वामी कृत ऋग्वेद का भाष्य प्रथम अष्टक का सम्पूर्ण तथा २-५ अष्टक का खण्डित रूप में मिलता है। नारायण और उद्गीथ स्कन्दस्वामी के सहकारी थे तथा इन्होंने ऋग्वेद के कुछ अंशों के भाष्य लिखे थे।

स्कन्दस्वामी के बाद वेदों के अनेक भाष्यकार हुये—वेङ्कटमाधव, आनन्दतीर्थ, आत्मानन्द, महीधर, उव्वट, रावण, आदि। इन सबमें सायण सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं।

### सायण —

वेदों के प्राचीन भाष्यकारों में सायण को बहुत ख्याति मिली है। इन्होंने चारों वेदों पर तो भाष्य लिखे ही थे, अन्य वैदिक साहित्य, ब्राह्मण आदि पर भी विस्तृत भाष्य लिखे। सायण विजयनगर के राजाओं के मन्त्री थे और राजनीति में सक्रिय भाग लेते हुए भी इन्होंने वैदिक साहित्य पर बहुत विस्तृत भाष्यों की रचना की थी।

१४वीं शताब्दी के पहले भाग में महाराजा बुक्क ने मुसलमानी बादशाहों की अधिपतिता को तोड़कर विजयनगर की स्थापना की थी। सायण इनके गुरु थे और मन्त्री के पद पर कार्य करते थे। बुक्क के उत्तराधिकारी हरिहर के भी वे मन्त्री रहे। सायण के पिता का नाम मायण और माता का नाम श्रीमती था। इनके गुरु का नाम श्रीकण्ठ था। इनका भारद्वाज गोत्र था। सायण के तीन पुत्र हुये—कम्पण, मायण और शिगण। सायण के बड़े भाई का नाम माधव था और वे भी महाराज बुक्क के मन्त्री रहे। माधव ने बाद में संन्यास ले लिया था और वे विद्यारण्य स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुये। माधव स्वयं भी बहुत विद्वान् थे और इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। कहा जाता है कि सायण ने अपने भाई के निर्देशन में भाष्य लिखे थे, अतः उनके भाष्यों को सायणमाधवीय भी कहा जाता है। ७२ वर्ष की अवस्था में १३८७ ई० में सायण की मृत्यु हुई थी।

सायण ने चारों वेदों पर भाष्य लिखे थे। ऋग्वेद की शाकल संहिता पर, शुक्ल यजुर्वेद की काण्व संहिता पर, कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता पर, सामवेद की कौथुम संहिता पर और अथर्ववेद की शौनक संहिता पर सायण के भाष्य उपलब्ध होते हैं। चारों वेदों पर भाष्य लिखने के अतिरिक्त सायण ने अनेक ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों



पर भी भाष्य लिखे थे। सामवेद के ब्राह्मणों, ऐतरेय आरण्यक और उपनिषद्, तैत्तिरीय ब्राह्मण एवं आरण्यक और उपनिषद् पर तथा साम प्रातिशाख्य पर उनके भाष्य उपलब्ध हैं। इन भाष्यों के अतिरिक्त सायण ने पाँच पुस्तकें भी लिखी थीं — सुभाषित सुधानिधि, प्रायश्चित्त सुधानिधि, अलङ्कार सुधानिधि, पुरुषार्थ सुधानिधि और यज्ञमन्त्र सुधानिधि। सायण ने एक धातुवृत्ति भी लिखी थी।

सायण ने विशाल वैदिक साहित्य को दृष्टि में रखकर और संस्कृत साहित्य का विशद अध्ययन करके भाष्य लिखे थे। भाष्यों को करने में वे अकेले नहीं थे, अपितु अनेक पण्डित उनकी अध्यक्षता में यह कार्य कर रहे थे। नरहरि सोमयाजी नारायण वाजपेययाजी, पं० दीक्षित आदि उनके सहायक थे। भाष्यों को लिखते हुए सायण ने अपने पूर्ववर्ती भाष्यकारों का पर्याप्त अध्ययन किया था। यास्क, स्कन्दस्वामी, उद्गीथ आदि के मतों को उन्होंने यथा स्थान उद्धृत किया है।

सायण ने यज्ञों की दृष्टि से अपने भाष्यों को लिखा है। उनके मत से वेदों का प्रतिपाद्य विषय यज्ञ, कर्मकाण्ड तथा देवताओं का आह्वान करना है। उनके अर्थ इसी दृष्टिकोण से लिखे गये हैं। इसीलिये पाश्चात्य वैदिक भाष्यकारों ने सायण को याज्ञिक भाष्यकार कहा है। वेदों के विषय को ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान इन चार काण्डों में समझा जाता है, तथा इनमें तीन प्रकार के अर्थ—आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक कहे जाते हैं। सायण ने आधिदैविक (याज्ञिक) अर्थों और कर्मकाण्ड को प्रधानता देकर अपने भाष्य लिखे थे। उदाहरण के रूप में निम्न मंत्र को लिया जा सकता है —

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वेशीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्या आविवेश ।।

ऋग्वेद ४.५८.३ ।।

इस मन्त्र में महादेव का वर्णन किया गया है। सायण ने महादेव को यज्ञ मानकर इसका अर्थ किया है। यज्ञ के चार सींग हैं — चार वेद; तीन पैर हैं — प्रातः, मध्य और सायं सवन; दो सिर हैं — दो हवन; सात हाथ हैं — गायत्री आदि सात छन्द। वह तीन तरफ से बँधा हुआ है — मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प से। वह वृषभ अर्थात् अभीष्ट को बढ़ाने वाला है और अत्यधिक शब्द करता है। वह महान् देव रूपी यज्ञ मनुष्यों के बीच में प्रवेश करता है।

परन्तु विद्वानों ने इस मन्त्र का अर्थ दूसरे प्रकार से किया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में महादेव को सूर्य का वाचक मानकर इस मन्त्र का अर्थ किया गया है। पतञ्जलि ने महादेव का अर्थ 'शब्द' मानकर इस मन्त्र की व्याख्या की है। इसी प्रकार सायण द्वारा किये गये अर्थों में दूसरे विद्वानों द्वारा किये गये अर्थों से अनेक स्थानों पर भिन्नता दृष्टिगोचर होती है।



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

सायण के भाष्यों का भारतीय पण्डित समाज में बहुत अधिक आदर हुआ। सायण के अनन्तर भारतीय पण्डितों ने उनके भाष्यों को प्रामाणिक मानकर वेद मन्त्रों के अर्थों को समझा तथा उनके अनुसार व्याख्या की। यूरोपीय विद्वानों ने जब वेदों का अध्ययन प्रारम्भ किया तो उनके सम्मुख सबसे पहले सायण के भाष्य ही आये और अनेक यूरोपियन विद्वानों ने सायण के भाष्य का आदर किया, किन्तु कुछ ने कटु आलोचना भी की।

### महर्षि दयानन्द

सायण के बाद वेदों के भाष्यकारों में जिनका प्रमुख नाम है, वे हैं ऋषि दयानन्द। ऋषि दयानन्द का जन्म टंकारा नगर में १८८१ वि० सम्वत् में हुआ था। इनका बाल्यकाल का नाम मूलशंकर था। बचपन में ही शिवरात्रि के पर्व पर व्रत धारण किये हुये इस बालक ने शिवमूर्ति पर चूहे को चढ़ा देखकर सच्चे शिव की खोज में घर त्याग दिया। युवावस्था में इन्होंने मथुरा में ऋषि विरजानन्द से वेदों की शिक्षा प्राप्त की और वेद मन्त्रों के वास्तविक अर्थ को समझा। गुरु दक्षिणा के रूप में इन्होंने वैदिक धर्म के प्रचार का व्रत लिया।

ऋषि दयानन्द ने वेदों की व्याख्या में प्राचीन काल से चली आती हुई परिपाटी को नहीं माना और अनेक युक्तियों से अपने पक्ष को प्रमाणित किया। वेद मन्त्रों के अर्थों एवं वेदवर्णित विषयों का परिचय देने के लिये पहले आपने 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' नामक पुस्तक लिखी और इसमें बताया कि वेदों में क्या है तथा वेद मन्त्रों की व्याख्या किस आधार पर करनी चाहिये। १९३३ वि० सम्वत् में आपने ऋग्वेद पर भाष्य लिखना प्रारम्भ किया, जो ७वें मण्डल के दूसरे सूक्त के दूसरे मन्त्र तक लिखा जा सका था। नियति के कठोर हाथों ने उनके इस कार्य को पूरा नहीं होने दिया। ऋग्वेद के अतिरिक्त ऋषि दयानन्द ने कृष्ण यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा पर भी भाष्य लिखा था।

ऋषि दयानन्द ने बहुत प्राचीन भाष्यकारों यास्क, स्कन्दस्वामी आदि के मतों को तो ग्रहण किया, परन्तु रावण, उब्वट, महीधर, सायण आदि के अर्थों का दृढ़ता से तथा सप्रमाण खण्डन किया। उनका कहना है कि सायण ने वेदों के श्रेष्ठ अर्थ को न जानकर यह कहा है कि "सब वेद क्रिया काण्ड का ही प्रतिपादन करते हैं" सायण की यह व्याख्या मिथ्या है। उदाहरण के रूप में उन्होंने "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि माहु०" (ऋग्वेद १.१६४.४६) मन्त्र को लिया है। सायण के अनुसार इस मन्त्र में 'इन्द्र' विशेष्य है तथा शेष मित्र आदि इसके विशेषण हैं। ऋषि दयानन्द के अनुसार इस मन्त्र में 'अग्नि' को विशेष्य मानना चाहिये, जिसका अर्थ ब्रह्म या ईश्वर है। इसके प्रमाण के रूप में ऋषि ने यास्क के वचन 'इममेवाग्नि०' को उद्धृत किया है, जो यहाँ अग्नि को विशेष्य मानता है।

ऋषि दयानन्द ने महीधर की विशेष रूप में कटु आलोचना की है। यजुर्वेद में अश्वमेघ यज्ञ के प्रसंग में महीधर द्वारा कृत अर्थों की अश्लीलता एवं अनर्थता का उन्होंने



विस्तार से उल्लेख किया है।

ऋषि दयानन्द के समय तक वेदों पर पाश्चात्य विद्वानों के भाष्य प्रकाशित हो चुके थे। ऋषि के कथनानुसार पश्चात्य विद्वानों की व्याख्यायें वेद मन्त्रों के मूल अर्थों के विरुद्ध हैं तथा सनातन वेद व्याख्याओं को स्पष्ट नहीं करती। अपने पक्ष की पुष्टि ऋषि दयानन्द ने अपनी व्याख्याओं में की है।

ऋषि दयानन्द की मन्त्रों की व्याख्या की अपनी ही विशेषतायें हैं। वेदों की व्याख्या में उन्होंने यास्क को सबसे अधिक प्रमाण माना है प्राचीन टीकाकारों के समान ऋषि ने वेदों में बहुदेवतावाद को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने वेदों में एक देवतावाद के पक्ष को प्रमाणित किया। ऋषि का कथन है कि वेदों में वस्तुतः एक ईश्वर की स्तुति की गई है तथा इन्द्र आदि देवता परक सभी नाम परमात्मा के अर्थ को व्यक्त करते हैं एवं परमात्मा की विभिन्न शक्तियों को बताते हैं। ऋषि दयानन्द ने वेदों को ईश्वर कृत एवं नित्य माना और बताया कि वेदों में वर्णित विषय को चार भागों में बाँटा जा सकता है—विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान। वेदों के तीन प्रकार के अर्थ किये जा सकते हैं। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। ऋषि दयानन्द के अनुसार वेद सभी सत्य विद्याओं के भण्डार हैं और सभी ज्ञान-विज्ञानों के स्रोत हैं।

## ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य की विशेषताएँ

ऋषि दयानन्द के आगमन से पूर्व सैंकड़ों, बल्कि हजारों, शताब्दियों में वेदों का जो स्वाध्याय होता रहा, वह बहुत ही उथले ढंग का और वेदों के वास्तविक अभिप्राय को अधिकाधिक छिपाने वाला ही होता था। इस प्रकार के स्वाध्याय के परिणामस्वरूप सायण, महीधर, उव्वट आदि के जो भाष्य वेदों पर मिलते हैं उन्हें देखकर, मनु, व्यास और शङ्कराचार्य आदि के ग्रन्थों के पढ़ने से उत्पन्न होने वाली यह धारणा कि वेद अनेक विद्या-विज्ञानों से युक्त हैं, उनमें सञ्चित ज्ञान की दृष्टि से वे सर्वज्ञ जैसे हैं, प्रदीप की भांति सब पदार्थों को वे प्रकाशित करने वाले हैं और सर्वज्ञान के आगार हैं, शिथिल हो जाती हैं। सायण आदि के भाष्य अधिकांश में अर्थहीन याज्ञिक कर्म-काण्ड, पौराणिक किस्से-कहानियाँ और जादू-टोनों से भरे पड़े हैं। इन भाष्यों में वेद के महत्व के अनुरूप कुछ भी नहीं है। इन भाष्यों को पढ़कर वेद पर श्रद्धा होनी तो दूर रही, उल्टा वेद निहायत मूर्खता की बातों से भरे हुए दीखने लगते हैं और उन पर अश्रद्धा होने लगती है। जिन नियमों के अनुसार इस काल में वेदों के अर्थ किये जाते रहे वे नियम वेदों का सही अभिप्राय समझने के लिए ठीक नियम न थे। इसलिए वे भाष्यकार वेदों में उस प्रकार की विद्या-विज्ञान की कोई बात न दिखा सके जिस प्रकार की बातों का वेदों में होना मनु आदि प्राचीन विद्वान् देखते थे।



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

यह थी अवस्था वेद के स्वाध्याय की जब भारतवर्ष के रंगमंच पर ऋषि दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ। ऋषि दयानन्द उन महापुरुषों में से थे, जो कभी युगों के पीछे उत्पन्न हुआ करते हैं। वे प्राचीनकाल के महर्षियों की श्रेणी के महर्षि थे। वे संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पंडित थे। उन्होंने संस्कृत साहित्य की सब शाखा-प्रशाखाओं का गहरा आलोडन किया था। वेदों, उनके ब्राह्मणों और अङ्गों-उपाङ्गों पर तो उनका पूरा आधिपत्य था। वेद और वैदिक साहित्य का बड़ा भाग उन्हें कण्ठाग्र था। वेद के अध्ययन में सहायक व्याकरण और निरुक्त आदि शास्त्र उनकी जिह्वा पर नाचते थे। उनकी बुद्धि बड़ी प्रखर और पैनी थी, जो कि वस्तु की तह में जाकर उसके असली रूप को पकड़ने की क्षमता रखती थी। उनकी प्रतिभा सर्वतोन्मुखी थी। वे खरे-खोटे की पहिचान करने में बड़े दक्ष थे। उनका शरीर और मन तपस्या और ब्रह्मचर्य से सधा हुआ था। वे पहुँचे हुए योगी थे। अठारह-अठारह घण्टे की समाधि में बैठे हुए उन्हें लोगों ने देखा था। वे ईश्वर में श्रद्धा रखने वाले पूर्ण आस्तिक थे। उनका जीवन यम-नियमों के सेवन से पूर्ण पवित्र बन चुका था। वे आजन्म ब्रह्मचारी थे। उनकी तर्क शक्ति, जिसे यास्क ने निरुक्त में ऋषि<sup>२</sup> करके लिखा है, बड़ी प्रबल थी। इतनी तैयारी और साधना के अनन्तर ऋषि दयानन्द ने वेदों के स्वाध्याय और प्रचार को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया था। इस प्रकार वेदों का स्वाध्याय करके उसने उनके महत्त्व का प्राचीन शङ्ख फिर से फूँका। उसने फिर से गम्भीर घोषणा की कि वेदों में सब विद्याओं का मूल है। उसने फिर से महाराज मनु, महर्षि व्यास, आचार्य शङ्कर तथा दूसरे आचार्यों और ऋषि-मुनियों की आवाज में आवाज मिलाकर कहा - वेद अनेक विद्याख्यानोंपबृंहित, अनेक विद्या-विज्ञानों से युक्त, प्रदीपवत् सर्वाथविद्यौती सर्वज्ञकल्प और सर्व-ज्ञान के आकार हैं। लोगों ने कहा-सायण आदि पिछले भाष्यकार और पाश्चात्य विद्वान् जो रूप वेदों का दिखाते हैं वह तुम्हारी बात का विरोध करता है। उसने उत्तर दिया - ये लोग जिन नियमों का आश्रय लेकर वेदों को समझना चाहते हैं उन नियमों से वेदों के मर्म को नहीं समझा जा सकता। ये लोग मध्यकालीन भारतीय साहित्य के अनेक अंशों में बहुत निकृष्ट अंग पुराणों और याज्ञिक विनियोगपरक ग्रन्थों के पीछे चलकर वेदों को समझने का प्रयत्न करते हैं। ये लोग इन ग्रन्थों से प्रभावित होकर मन्त्र में आये विशेष्य की अपनी एक पूर्व-कल्पित मूर्ति को सामने रखते हैं और उसके अनुसार विशेषण-शब्दों को तोड़ते और मरोड़ते हैं। इससे अर्थ का अनर्थ हो जाता है और भी कितनी ही बातों का, जिन्हें वेद के अर्थ करते हुए ध्यान में रखना चाहिए, ये लोग बिल्कुल ध्यान नहीं रखते हैं। इस कारण ये लोग वेद के मर्म को समझने में असमर्थ रह गये हैं।

ऋषि दयानन्द ने ब्राह्मण, निरुक्त, महाभाष्य तथा दूसरे प्राचीन ग्रन्थों का गहरा स्वाध्याय करके उनमें पड़े हुए वेदार्थ-शैली के सूक्ष्म तत्त्वों को खोज निकाला। स्वयं वेद के गम्भीर पारायण ने वेदार्थ-शैली के इन तत्त्वों को पता लगाने में ऋषि दयानन्द की



सहायता की। ऋषि दयानन्द के ग्रंथों में वेदार्थ करने की सही शैली के इन तत्त्वों की ओर स्थान-स्थान पर निर्देश किया गया है। उनके ग्रन्थों के स्वाध्याय से वेदार्थ-शैली के जो मुख्य-मुख्य सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

- १— वेद ईश्वरीय ज्ञान है इस बात को वेदार्थ करते हुए सदा ध्यान में रखना चाहिए।
- २— वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण उनमें कोई बात ईश्वर के गुण—कर्म—स्वभाव के विपरीत नहीं हो सकती। इसलिए वेद-मन्त्रों का ऐसा अर्थ नहीं किया जा सकता, जो ईश्वर के सत्य, न्याय, दया, संयम, पवित्रता और सर्वज्ञत्व आदि गुणों के विपरीत जाने वाली बातें बताता हो।
- ३— और इसीलिए वेद में कोई ऐसी बात नहीं हो सकती जो सृष्टि-क्रम के विरुद्ध हो। वेद-मन्त्रों का ऐसा अर्थ नहीं किया जा सकता जो परमात्मा के सृष्टि-चक्र में काम कर रहे नियमों के विरुद्ध जाता हो। परमात्मा की सृष्टि में जो वैज्ञानिक नियम काम रहे हैं उनके प्रतिकूल अर्थ वेदमन्त्रों का नहीं हो सकता।
- ४— वेद का ज्ञान परमात्मा ने मनुष्यों को उन्नति करने में सहायता देने के लिए दिया है। इसलिए वेद के अर्थ ऐसे होने चाहिए जो मनुष्य को वैयक्तिक रूप में, कौटुम्बिक रूप में, सामाजिक रूप में, आर्थिक रूप में, राजनीतिक रूप में, सहायता देने वाले हों।
- ५— वेद का अर्थ सच्चाई जानने के साधन प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के अनुकूल होना चाहिए। वेद का अर्थ तर्कानुमोदित, युक्ति-युक्त और बुद्धि-संगत होना चाहिए।
- ६— वेद नित्य परमात्मा का नित्य ज्ञान है। इसलिए उसमें किन्हीं अनित्य व्यक्तियों का इतिहास नहीं हो सकता। अतः वेदों का अर्थ करते हुए उनमें किसी भी प्रकार का इतिहास और किस्से-कहानियाँ नहीं खोजनी चाहिए। वेद तो त्रैकालिक सत्यसिद्धान्तों का ज्ञान देते हैं। इसके अनुसार ही वेद का अर्थ किया जाना चाहिये।
- ७— विनियोगवाद से वेद को स्वतन्त्र रखना चाहिये। विनियोग पीछे की चीज है। वेद पहले हैं। विनियोग को सर्वथा भुलाकर वेद मन्त्रों का अपना स्वतन्त्र और स्वाभाविक अर्थ देखना चाहिये। मन्त्र के अपने स्वतन्त्र अर्थ से विनियोग की युक्ति-युक्तता परखनी चाहिये। विनियोग के आधार पर मन्त्र का अर्थ नहीं बदलना चाहिये।
- ८— मन्त्रों में आने वाले इन्द्र आदि विशेष्य-वाची पदों का, वर्णनीय वस्तु को बताने वाले पदों का, अर्थ उनके विशेषणों के आधार पर निश्चित करना चाहिये। पुराणों या दूसरे ग्रन्थों में कल्पित इन्द्र आदि की मूर्ति के आधार पर मन्त्र के इन्द्र आदि के विशेषण-शब्दों का अर्थ नहीं बदलना चाहिये। उदाहरण के लिए, यदि इस प्रकार के विशेषणों के, या उसके वर्णनों के, आधार पर इन्द्र का अर्थ वेद में देखा जाये तो किन्हीं मन्त्रों में इन्द्र परमात्मा को कहता हुआ मिलेगा। किन्हीं में जीवात्मा को,



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

किन्हीं में राजा को और किन्हीं में विद्युत को कहता हुआ मिलेगा। और भी कई अर्थ इन्द्र के मिलेंगे। इस प्रकार इन्द्र अनेक अर्थों को देने लगेगा जिससे वेद में वर्णित अनेक विधाओं की सूचना मिलेगी। यही बात अग्नि, वरुण आदि विशेष्य-पदों के सम्बन्ध में भी है। वेद के इन्द्रादि के लिए प्रयुक्त "देवता" शब्द से भ्रान्ति में नहीं पड़ना चाहिये। वेद मन्त्रों में वर्णित की जाने वाली वस्तु का, प्रतिपाद्य विषय का, पारिभाषिक नाम देवता<sup>३</sup> है।

६- वेद में अनेक विद्या-विज्ञानों का वर्णन है। इन विभिन्न विद्या-विज्ञानों को बताने के लिए वेद-मन्त्रों के आदिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक भेद से अनेक होते हैं। वेद के सीमित संख्या के मन्त्रों से अनेक विद्या-विज्ञानों का बोध तभी हो सकता है, जब वेद-मन्त्रों के अनेक अर्थ किये जायें। यह तभी हो सकता है, जब वेद के शब्दों को रूढ़ि न मानकर यौगिक माना जाये। इसलिए वेद का अर्थ यौगिकवाद के आधार पर किया जाना चाहिये। इस पद्धति से एक से वेद मन्त्र क्षेत्र भेद से अनेक अर्थ देने लगेगा। केवल इतना ध्यान रखना चाहिये कि एक अर्थ दूसरे अर्थ का विरोधी न हो। ऋषियों ने जो वेद को अनन्त<sup>४</sup> कहा है वह इसी यौगिकवाद की पद्धति से बन सकता है।

१०- वेद व्याख्याता को संस्कृत-भाषा का अच्छा ज्ञाता तो होना ही चाहिये। संस्कृत व्याकरण तथा निरुक्त आदि का उसका अध्ययन गहरा होना चाहिये। साथ ही उसे अन्य अनेक विद्याओं और शास्त्रों का ज्ञाता भी होना चाहिए। वेद में वर्णित अनेक विद्या-विज्ञानों को समझने के लिए व्याख्याता को जितनी अधिक विद्यायें आती होंगी उतना ही अधिक उसे लाभ रहेगा। आदिम ऋषियों को तो स्वयं परमात्मा ने वेद में वर्जित विद्या-विज्ञानों का साक्षात्कार करा दिया था। उस परम्परा से वेदों का पठन-पाठन विलुप्त हो गया। अब तो हम तर्क और शास्त्रों के ज्ञान के आधार पर ही वेद को समझने में समर्थ हो सकते हैं।

११- वेद का यदि ध्यानपूर्वक गम्भीरता से स्वाध्याय किया जाये तो पता लगता है कि बहुत स्थानों पर वेद ने अपने आशय को स्वयं स्पष्ट कर दिया है। वेद का अर्थ करने में वेद के इस प्रकार से स्थलों से भी पूरी सहायता तो लेनी चाहिये। वास्तव में वेद के इस प्रकार के स्थल वेद को समझने में सबसे अधिक उपयोगी हैं। उदाहरण के लिए ऋग्वेद १-१६४-४६, यजुर्वेद ३२-१, ऋग्वेद १०-८२-३ और अथर्व० २-१-३ मन्त्रों में - "इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि उसी को कहते हैं, वही दिव्य गुणों वाला सुपर्ण और गरुत्मान् कहलाता है, उसी को यम और मातरिश्वा कहते हैं, उस एक को ही विप्रगण बहुत नामों से कहते हैं"<sup>५</sup>। "वही अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु है और वही चन्द्रमा है, वही शुक्र, वही ब्रह्म है, वही आपः है और वही प्रजापति है।"<sup>६</sup>, "जो हमारा पिता है, उत्पन्न करने वाला है, जो सबको बनाने वाला सब स्थानों और



लोकों को जानता है, जो सब देवों के नामों को धारण करने वाला एक ही है, उस पूछने योग्य, जानने योग्य की ओर ही सब लोक जा रहे हैं, उसी की ओर संकेत कर रहे हैं।<sup>१०</sup> "वही हमारा पिता है, उत्पन्न करने वाला है और वही हमारा बन्धु है, वह सब स्थानों और लोकों को जानता है, जो सब देवों के नामों को धारण करने वाला एक ही है, उसे पूछने योग्य, जानने योग्य की ओर सब लोक जा रहे हैं, उसी की ओर संकेत कर रहे हैं।"<sup>११</sup> — यह कहकर इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि वेद में इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि नाम उसी एक परब्रह्म के हैं। उसी एक के भिन्न-भिन्न गुणों और शक्तियों को बताने वाले ये अनेक नाम हैं। इस प्रकार बहु देव-पूजावाद और जड़-पूजावाद आदि वेद पर थोप दिये गये वादों का खण्डन स्वयं वेद कर देते हैं। वेद में तो एक परब्रह्म की ही पूजा और उपासना बतायी गयी है। इन्द्रादि नाम किन्हीं अलग देवों के नहीं हैं, जिनकी अलग से पूजा करनी चाहिये। ये तो उसके भिन्न-भिन्न गुणों को बताने वाले उसी परब्रह्म के नाम हैं और इस प्रकार वेद की अपनी साक्षी के आधार पर वेद का आध्यात्मिक-भाष्य एकेश्वरपरक किया जाना चाहिये।

१२— वेद के व्याख्याता को तपस्वी, संयमी, पवित्र जीवन वाला और ईश्वर का श्रद्धालु होना चाहिये। ये गुण व्याख्याता में ऐसी मनोवृत्ति उत्पन्न कर देते हैं जो वेद को समझने में बहुत अधिक सहायक होती हैं।

ऋषि दयानन्द ने अपने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा सत्यार्थ प्रकाश आदि ग्रन्थों में वेदार्थ-शैली के इन मौलिक सिद्धान्तों की पुष्टि में वेदों, ब्राह्मणों, महाभाष्य और निरुक्त आदि से यथेष्ट प्रमाण दिये हैं। इन मौलिक सिद्धान्तों के अनुसार यदि वेदों का स्वाध्याय

- 
- १— नियम — शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान, ये पाँच।  
यम — अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच।
- २— निरुक्त, १३/१२
- ३— या तेनोच्यते सा देवता। ऋक्सर्वानुक्रमणी।
- ४— अनन्ता वै वेदाः। तै०ब्रा० ३/१०/११/३,४
- ५— इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु रथो दिव्यः ससुपर्णो गरुत्मान्।  
एकं सद् विप्रा बहुधा वदत्याग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋग् १/१६४/४६
- ६— तदेवाग्निस्तदादित्यस्तदु बायुस्तदु चन्द्रमाः।  
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ यजु० ३२/१
- ७— यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।  
यो देवानां नामधा एक एव तं सं प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥ ऋग् १०/८२/३
- ८— स नः पिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा।  
यो देवानां नामध एक एव तं सं प्रश्नं भुवना यान्तिसर्वो॥ अथर्व० २/१/३
-



## ऋक्-सूक्त-मंजूषा

और अर्थ किया जायेगा तो वे लौकिक और आत्मिक ज्ञान के खजाने दीखने लगेंगे।

— आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति, पूर्व कुलपति

### वेद व्याख्या के आधारभूत सिद्धान्त —

जिन प्रमुख आधारभूत सिद्धान्तों को सुममख रखकर दयानन्द वेद-व्याख्या में प्रवृत्त हुए हैं, वे निम्नलिखित हैं —

- १— वेदों के शब्द यौगिक हैं; किसी एक अर्थ में रुढ़ नहीं हैं — इस कारण वे अनेकविध अर्थों को प्रकट करने में समर्थ हैं। यह आग्रह करना उचित नहीं है कि लोक में किसी शब्द का जो अर्थ है, केवल वही सर्वत्र वेद में भी अभिप्रेत है।
- २— वेदों में अनेक देवों की पूजा का वर्णन नहीं है, प्रत्युत वेद-वर्णित अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, अर्यमा, सूर्य, सविता आदि देवता एक ही परमेश्वर के गुणवाची विभिन्न नाम हैं। साथ ही वे श्लेषालङ्कार द्वारा आग, सूर्य, आत्मा, प्राण, राजा, सेनापति, विद्वान्, उपदेशक, अध्यापक आदि अर्थों को भी देते हैं।
- ३— वेद-वर्णित अदिति, उषा, इडा, सरस्वती, भारती, पृथिवी, द्यौ, आपः आदि स्त्रीलिङ्गी देवता परमात्मा के मातृरूप का चित्रण करने के साथ-साथ नारी, पत्नी, अध्यापिका, गृहिणी, विद्युत्, वाणी, क्रियाशक्ति आदि के भी वाचक हैं।
- ४— वेदार्थ करते हुए पूर्वकृत विनियोगों का अनुसरण करना अनिवार्य नहीं है। उनसे स्वतन्त्र होकर भी वेद मन्त्रों के अर्थ किये जा सकते हैं।
- ५— वेदों में किन्हीं ऋषियों, राजाओं, देशों, नगरियों, नदियां आदि के इतिहास का वर्णन नहीं है। ऐतिहासिक प्रतीत होने वाले नामों का यौगिक अर्थ है। अतएव वेदोक्त आर्य-दस्यु-युद्ध से आर्य और द्रविड़ जातियों के मध्य होने वाला कोई ऐतिहासिक संग्राम अभिप्रेत नहीं है।
- ६— वेदों में पशु-बलि, नर-बलि, गो-हत्या, मांस-भक्षण, मदिरा-पान, व्यभिचार आदि अमानवोचित तथा निन्दनीय कार्यों का समर्थन एवं अश्लील वर्णन नहीं है। जो वेदभाष्य या जो व्यक्ति वेद में इनका समर्थन करते हैं, वे भ्रान्त हैं।
- ७— वेदमन्त्रों के यथायोग्य पारमार्थिक, व्यावहारिक अथवा दोनों प्रकार के अर्थ करते हुए उनमें आध्यात्मिक, भौतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि विविध तत्त्वों का अन्वेषण किया जा सकता है।

— डॉ०रामनाथ वेदालंकार, पूर्व आचार्य एवं उपकुलपति

वेदों के अर्थ निर्णय में ऋषि दयानन्द की विचार पद्धति ने बहुत प्रभाव डाला। इस समय तक पाश्चात्य विद्वानों ने भी वेदों का अध्ययन और सम्पादन करके उन पर व्याख्यायें प्रकाशित कर दी थीं। भारतीय विद्वान् भी वेदों की ओर आकर्षित हुये और उन्होंने आधुनिक भारतीय भाषाओं में, विशेष रूप से हिन्दी में वेदों की व्याख्यायें प्रकाशित कीं। इस क्रम में पं० दामोदर सातवलेकर, जयदेव विद्यालंकार, सत्यव्रत सामश्रमी,



भगवद्भक्त वेदालंकार अदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

वेदों में निहित ज्ञान केवल भारतवर्ष में ही सीमित नहीं रहा, पाश्चात्य विद्वान् भी इस ओर आकर्षित हुये। जर्मनी, इंग्लैण्ड और फ्रांस में इस सम्बन्ध में विशेष कार्य हुआ है। १६वीं शताब्दी में इस देश का यूरोपीय देशों से विशेष सम्पर्क हुआ। उसके बाद व्यापारी, सैनिक और प्रशासकों के रूप में वे निरन्तर यहाँ आते रहे। इनके साथ यूरोप के अनेक विद्वान् भी यहाँ आये। भारत के संस्कृत साहित्य की ओर, विशेष रूप से वैदिक साहित्य को देखकर वे बहुत प्रभावित हुये। उन्होंने वेदों का संग्रह तथा सम्पादन किया और अपनी भाषाओं में वेद-मन्त्रों की व्याख्याएँ कीं।

वेदों की व्याख्या करने में पश्चिमी विद्वानों ने यास्क और सायण के महत्त्व को स्वीकार करते हुये भी उनकी व्याख्याओं को उसी रूप में स्वीकार नहीं किया और अपने विचारों के अनुसार नये प्रकार से अर्थ किये। इस सम्बन्ध में मैकडानल का कहना है कि यास्क और सायण की व्याख्याओं को अविकल रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। वेद मन्त्रों की रचना तथा यास्क और सायण के समय के मध्य में बहुत बड़ा अन्तर है तथा वे वैदिक परम्पराओं की निरन्तरता को अक्षुण्ण नहीं रख सके हैं। यास्क के समय में ही यह परम्परा नहीं रही थी, क्योंकि यास्क ने अपने से पूर्ववर्ती व्याख्याकारों के मतवैभिन्न्य को उद्धृत किया है। उदाहरण के लिये 'नासत्यौ' (अश्विनौ का एक विशेषण) शब्द का अर्थ और्णवाभने 'सत्य, असत्य नहीं' और आग्रायण ने 'सत्य के प्रणेता' किया है तथा यास्क ने स्वयं 'नासिका प्रभवौ-नासिका से उत्पन्न' किया है। यास्क ने शब्दों के अर्थ व्युत्पत्तिमूलक किये हैं, जो कि केवल अनुमेय ही हैं। ये यथार्थ नहीं हो सकते क्योंकि उसने शब्दों की व्याख्या एक प्रकार से नहीं अनेक प्रकार से की है। सायण यास्क के भी २००० वर्ष बाद हुये थे और उस समय वैदिक परम्पराओं की निरन्तरता और भी भंग हो गई थी। सायण के अर्थ अनेक स्थानों पर यास्क से भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त सायण ने एक ही शब्द के एक ही स्थान पर या विभिन्न वाक्यों में अलग अलग अर्थ दिये हैं, जो कहीं-कहीं पर परस्पर विरोधी भी हैं। इस प्रकार मैकडानल का कहना है कि यास्क और सायण अनेक वेद मन्त्रों का निश्चित अर्थ नहीं कर सके हैं। तथा उनकी व्याख्याओं को निर्णयात्मक नहीं माना जा सकता।

वेद मन्त्रों की व्याख्या करने वाले पाश्चात्य विद्वानों में सबसे पहला स्थान कोलब्रुक का है। इन्होंने १८०५ ई० में 'ऐशियाटिक रिसर्चेज' नामक पत्रिका के माध्यम से वेदों पर विवेचनात्मक लेख लिखे थे और वैदिक साहित्य के महत्त्व पर प्रकाश डाला था। कोलब्रुक के लेखों ने जर्मन विद्वान रुडोल्फ राँथ को वेदों के अध्ययन के लिये प्रोत्साहित किया। राँथ द्वारा लिखी गई पुस्तक "वेद का साहित्य और इतिहास" १८४६ ई० में प्रकाशित हुई। उन्होंने वेदों की व्याख्या करने के लिये नये सिद्धान्तों को जन्म दिया। उन्होंने सायण की व्याख्या को अग्राह्य ठहराया। उन्होंने कहा कि वेदों के मन्त्रों



की व्याख्या करने में हमको वेदों के अन्दर से ही प्रमाण खोजने चाहियें और एक से शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिये। शब्दों का अर्थ करते समय सन्दर्भ, व्याकरण और व्युत्पत्ति को ध्यान में रखना चाहिये। इसके साथ ही वैदिक शब्दों के लौकिक संस्कृत तथा अवेस्ता के तत्सम्बन्धी शब्दों के साथ सम्बन्ध का भी ध्यान रखना चाहिये। वेद मन्त्रों के अर्थों को समझने के लिये इन सिद्धान्तों का आश्रय लेकर 'राथ' ने सेन्टपीटर्स वर्ग' नामक संस्कृत-जर्मन कोष की रचना की। इसमें सभी शब्दों के अर्थों को विकास क्रम के अनुसार दिया गया है। वैदिक शब्दों के अर्थों को समझने में इस ग्रन्थ ने बहुत सहायता दी है। राँथ ने वैदिक शब्दों का लौकिक संस्कृत, अवेस्ता एवं प्राचीन और अर्वाचीन यूरोपीय भाषाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन भी किया एवं 'वैदिक भाषा विज्ञान' को जन्म दिया। राँथ के सहयोगियों और शिष्यों ने भी वेदों के अध्ययन, अनुशीलन तथा व्याख्या करने में विशेष योग दिया। इन्होंने वेदों को सम्पादित करके उनके शुद्ध संस्करण छपवाये एवं वेदों पर व्याख्यायें और आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे।

वैदिक साहित्य के अध्ययन और प्रकाशन में मैक्समूलर का बहुत बड़ा योगदान है। उन्होंने सबसे पहले सायण के भाष्य सहित ऋग्वेद को सम्पादित करके छपवाया। इस कार्य के लिये इन्होंने (१८४९ से १८७५) तक २६ वर्षों तक साधना की और यह ग्रन्थ ३०० पृष्ठों की भूमिका सहित ३००० पृष्ठों में प्रकाशित हुआ। इससे यूरोप में वैदिक साहित्य के अध्ययन को बहुत प्रोत्साहन मिला। जर्मन विद्वान् ऑफ्रेक्ट ने १८६३ में ऋग्वेद को सम्पादित करके रोमन लिपि में प्रकाशित किया था। प्रो० हाँग ने ऐतरेय ब्राह्मण को एक बड़ी उपयोगी भूमिका सहित अंग्रेजी अनुवाद के साथ बम्बई में प्रकाशित कराया था। इस युग के पाश्चात्य वैदिक विद्वानों में किन्डनर स्टेन्जलर हिलब्रान्ट आदि के नाम भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

ऋग्वेद के व्याख्याताओं में अंग्रेजी विद्वान् डा० विलसन का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इन्होंने पूरे ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद किया, जो १८५० में प्रकाशित हुआ। इस अनुवाद में विलसन ने सायण के भाष्य को प्रमाण माना। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् ग्रासमान ने (१८७६-१८७७) राँथ की पद्धति के अनुसार ऋग्वेद का जर्मन भाषा में पद्य में अनुवाद करके प्रकाशित कराया। ग्रासमान ने 'वैदिक कोष' भी लिखा था, जिसमें प्रत्येक स्थान का बोध करके शब्द अर्थ का निर्णय किया गया है। इसी समय में एक दूसरे जर्मन विद्वान् लुडविग ने सायण के आधार पर ऋग्वेद का गद्य में अनुवाद किया जो ६ भागों में प्रकाशित हुआ।

आर० टी० एच० ग्रिफिथ ने सायण के भाष्य के अनुसार ऋग्वेद का अंग्रेजी में पद्य में अनुवाद (१८८६-९२) किया था, जो काशी से प्रकाशित हुआ। ऋग्वेद की व्याख्याओं में जर्मन विद्वान् डा० ओल्डन वर्ग का नाम भी बहुत प्रसिद्ध है। उन्होंने ऋग्वेद की मार्मिक व्याख्या (१९०९-१२) की थी, जो दो जिल्दों में बर्लिन से प्रकाशित हुई थी। आपने इससे



पहले ऋग्वेद के छन्द आदि पर भी विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखा था। इन विद्वानों के अतिरिक्त वेदों के पाश्चात्य व्याख्याताओं में डा० आर्नल्ड, वेबर, श्रोदर, क्लाएर, कीथ, स्टीवेन्सन, बर्नेल, विन्टरनिट्ज, द्विटनी ब्लूमफील्ड, मैकडानल, पीटर्सन आदि के नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतीय साहित्य में वेदों का महत्त्व अत्यन्त प्राचीन काल से बना रहा है। अति प्राचीन युग से भारतीय ऋषि, मनीषी, विद्वान् और समालोचक वेदों के महत्त्व को स्वीकार करके इस पर व्याख्याएँ लिखते रहे हैं। जिनकी निरन्तरता अब भी बनी हुई है। आज भी अनेक भारतीय विद्वानों ने अपना जीवन वेदों की व्याख्याओं और शोध के लिये अर्पित किया हुआ है। वैदिक रिसर्च संस्थान एवं आर्यसमाज की अनेक संस्थाओं में वेदों पर कार्य हो रहा है। भारत से बाहर के भी विद्वान् वेदों की अलौकिक गरिमा से प्रभावित हुये और उन्होंने इसका अध्ययन-अनुशीलन करके समालोचनात्मक लेख लिखे। जर्मनी फ्रांस, इंग्लैण्ड आदि देशों के विश्वविद्यालयों में वेदों के अध्ययन के सम्बन्ध में अब भी कार्य हो रहा है और इसमें निरन्तर अधिक रुचि उत्पन्न हो रही है।

इस प्रकार वेदों का स्थान न केवल भारतीय साहित्य में अपितु विश्व-साहित्य में सर्वोपरि है। चारों वेदों में ऋग्वेद को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है, क्योंकि संसार का संपूर्ण ज्ञान ऋग्वेद में समाहित है। इस वेद के वास्तविक अर्थ को हृदयङ्गम करने के लिए ऋषि दयानन्द के भाष्य का अध्ययन परमावश्यक है। छात्र वेद के अभिप्राय को जान सकें, इस दृष्टि से सायण एवं दयानन्द के भाष्य के आधार पर ऋग्वेद के मन्त्रों की व्याख्याएं प्रस्तुत हैं।



## अग्नि सूक्त

देवता—अग्निः

ऋषि—विश्वामित्रः

छन्द—गायत्री

मण्डल —१

सूक्त-१

मन्त्र—१

संहिता पाठ

अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।  
होतारं रत्नधातमम् ॥१॥

पद पाठ

अग्निम् । ईळे । पुरः ऽहितम् । यज्ञस्य । देवम् । ऋत्विजम् ।  
होतारम् । रत्नऽधातमम् ॥

अन्वयः — (अहम्) पुरोहितं यज्ञस्य देवम् ऋत्विजं होतारं रत्नधातमम् अग्निम् ईळे ।

दयानन्द—भाष्य —

(अग्निम्) परमेश्वरं भौतिकं वा । इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ ऋ० १ । १६४ । ४६ । अनेनैकस्य चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः । । य० ३२ । १ । यत्सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्म तदेवात्राग्न्यादिनामवाच्यमिति बोध्यम् । ब्रह्म ह्यग्निः । श० १ । ४ । २ । ११ । आत्मा वा अग्निः । श० १ । २ । ३ । २ । अत्राग्निर्ब्रह्मात्मनोर्वाचकोस्ति । अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च । श० १ । १ । २ । ४२ । अत्र प्रजाशब्देन भौतिकः प्रजापतिशब्देनेश्वरश्चाग्निर्ग्राह्यः । अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् । श० १ । १ । १२ । ५ । सत्याचारनियम पालनं व्रतं तत्पतिरीश्वरः । त्रिभिः पवित्रैरपुषोद्धत्यर्कं हृदामतिं ज्योतिरनुं प्रजानन । वर्षिष्ठं रत्नमकृत स्वधाभिरादिद् द्यावापृथिवी पर्यपश्यत् । । ऋ० ३ । २६ । ८ । अत्राग्निशब्दस्यानुवृत्तेः प्रजानन्निति ज्ञानवत्त्वात् पर्यपश्यदिति सर्वज्ञत्वादीश्वरो ग्राह्यः ।

यास्कमुनिरत्रोभयार्थकरणायाग्निशब्दपुरः सरमेतन्मन्त्रमेवं व्याचष्टे— अग्नि कस्मादग्रणीर्भवत्यग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेऽङ्गं नयति सन्नममानोऽक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्टीविर्न क्नापयति न स्नेहयति त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणि— रितादक्तादग्धाद्वा नीतात्स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तर्वा दहतेर्वा नीः परस्तस्यैषा भवतीति—अग्निमीळेऽग्निं याचामीळिरद्धेषणाकर्मा पूजाकर्मा वा देवो, दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा यो देवः सा देवता । होतारं ह्वातारं जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभो रत्नधातमं रमणीयानां धनानां दातृतमम् । निरु० ७ । १४—१५ ।

अग्रणीः सर्वोत्तमः सर्वेषु यज्ञेषु पूर्वमीश्वरस्यैव प्रतिपादनात्तस्यात्र ग्रहणम् । दग्धादिति विशेषणाद्भौतिकस्यापि च ।

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि । रुक्माभं स्वप्रधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥१॥  
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥२॥



## अग्नि सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-१ )

मनु०अ०१२। श्लोक १२२, १२३। अत्राप्यग्न्यादीनि परमेश्वरस्य नामानि सन्तीति। ईळे अग्निं विपश्चितं गिरा यज्ञस्य साधनम्।। श्रुष्टीवानं धितावानम्।। ऋ० ३।२७।२। विपश्चितमीळे इति विशेषणादग्नि- शब्देनात्रेश्वरो गृह्यते, अनन्तविद्यावत्त्वाच्चेतनस्वरूपत्वाच्च।

अथ केवलं भौतिकार्थग्रहणाय प्रमाणानि:-यदश्वं तं पुरस्तादुदश्रयंस्त- स्याभयेऽनाष्ट्रे निवातेऽग्निरजायत तस्माद्यत्राग्निं मन्थिष्यन्त्स्यात्तदश्वमानेतवै ब्रूयात्। स पूर्वणोपतिष्ठते वज्रमेवैतदुच्छ्रयंति तस्याभयेऽनाष्ट्रे निवातेऽग्निर्जायते।। श०२।१।४।१६। वृषो अग्निः। अश्वो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति। श०१।३।३।२९-३०। वृषवद्यानानां वोढृत्वाद् वृषोऽग्निः। तथाऽयमग्निराशुगमयि- तृत्वेनाश्वो भूत्वा कलायन्त्रैः प्रेरितः सन् देवेभ्यो विद्वद्भ्यः। शिल्पविद्याविद्वद्यो मनुष्येभ्यो विमानादियानसाधनसंगतं यानं वहति प्रापयतीति। तूर्णिर्हव्यवाडिति। श०१।३।४।१२। अयमग्निर्हव्यानां यानानां प्रापकत्वेन शीघ्रतया गमकत्वाद्धव्यवाट् तूर्णिश्चेति। अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य। श०१।४।३।११। इत्याद्यनेकप्रमाणैरश्वनाम्ना भौतिकोऽग्निर्वात्र गृह्यते, आशुगमनहेतुत्वादश्वोऽग्निर्विज्ञेयः। वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः। तं हविष्मन्त ईळते।। ऋ०३।२७।१४। यदा शिल्पिभिरयमग्निर्यन्त्रकलाभिर्यानेषु प्रदीप्यते तदा देववाहनो देवान् यानस्थान् विदुषः शीघ्रं देशान्तरेऽश्व इव वृष इव च प्रापयति, ते हविष्मन्तो मनुष्या वेगादिगुणवन्तमश्वमग्निमीडते कार्यार्थमधीच्छन्तीति वेद्यम्।

(ईळे) स्तुवे याचे अधीच्छामि प्रेरयामि वा (पुरोहितम्) पुरस्तात्सर्वं जगद्धधाति छेदनधारणाकर्षणादिगुणांश्चापि तम्। पुरोहितः पुर एनं दधतिहोत्राय वृतः कृपायमाणोऽन्वध्यायत्। निरु० २।१२। (यज्ञस्य) इज्यतेऽसौ यज्ञस्तस्य महिम्नः कर्मणो विदुषां सत्कारस्य संगतस्य सत्संगत्योत्पन्नस्य विद्यादिदानस्य शिल्पक्रियोत्पाद्यस्य वा। यज्ञः कस्मात्प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ता याञ्चो भवतीति वा यजुरुन्नो भवतीति वा बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवो यजूंष्येनं नयन्तीति वा। निरु० ३।१९ (देवम्) दातारं हर्षकरं विजेतारं द्योतकं वा (ऋत्विजम्) य ऋतौ ऋतौ प्रत्युत्पत्तिकालं संसारं संगतं यजति करोति तथा च शिल्पसाधनानि संगमयति सर्वेषु ऋतुषु यजनीयस्तम्। ऋत्विग्दधृग्०अ० ३।२।५९। अनेन कर्त्तरि निपातनम् तथा कृतो बहुलमिति कर्मणि वा। होतारम् दातारमादातारं वा (रत्नधातमम्) रमणीयानि पृथिव्यादीनि सुवर्णादीनि च रत्नानि दधाति धापयतीति रत्नधा, अतिशयेन रत्नधा इति रत्नधातमस्तम्।।१।।

भावार्थ - अत्र श्लेषालङ्कारेणोभयार्थग्रहणमस्तीति बोध्यम्। इतोऽग्रे यत्र यत्र मन्त्रभूमिकायामुपदिश्यत इति क्रियापदं प्रयुज्यतेऽस्य सर्वत्र कर्त्तेश्वर एव बोध्यः। कुतः, वेदानां तेनैवोक्तत्वात्, पितृवत्कृपायमाण ईश्वरः सर्वविद्याप्राप्तये सर्वजीवहितार्थं वेदोपदेशं चकार। यथा पिताऽध्यापको वा स्वपुत्रं शिष्यं च प्रति त्वमेवं वदैवं कुरु सत्यं वद पितरमाचार्यं च सेवस्वानृतं मा कुर्वित्युपदिशति तथैवात्र बोध्यम्। वेदश्च सर्वजीवकल्याणार्थमाविर्भूतः। एवमर्थोऽत्रोत्तमपुरुषप्रयोगः। वेदोपदेशस्य परोपकारार्थत्वात्।



अत्राग्निशब्देन परमार्थव्यवहारविद्यासिद्धये परमेश्वरभौतिकौ द्वावर्थौ गृह्यते। पुरा आर्यैर्याऽश्वविद्यानाम्ना शीघ्रगमनहेतुः। शिल्पविद्यासंपादितेति श्रूयते साग्निविद्यैवासीत्। परमेश्वरस्य स्वयंप्रकाशत्वसर्वप्रकाशकत्वाभ्यामनन्तज्ञानवत्त्वात् भौतिकस्य रूपदाहप्रकाशवेगछेदनादिगुणवत्त्वाच्छिल्पविद्यायां मुख्यहेतुत्वाच्च प्रथमं ग्रहणं कृतमस्तीति वेदितव्यम् ॥१॥

**हिन्दी भावार्थ —** इस मन्त्र में श्लेषालंकार से दो अर्थों का ग्रहण होता है। पिता के समान कृपाकारक परमेश्वर सब जीवों के हित और सब विद्याओं की प्राप्ति के लिये कल्प, कल्प की आदि में वेद का उपदेश करता है। जैसे पिता वा अध्यापक अपने शिष्य वा पुत्र को शिक्षा करता है कि तू ऐसा कर वा ऐसा वचन कह, सत्य वचन बोल, इत्यादि शिक्षा को सुनकर बालक वा शिष्य भी कहता है कि सत्य बोलूंगा, पिता और आचार्य की सेवा करूंगा, झूठ न कहूंगा, इस प्रकार जैसे परस्पर शिक्षक लोग शिष्य वा लड़कों को उपदेश करते हैं, वैसे ही 'अग्निमीळे.' इत्यादि वेदमन्त्रों में भी जानना चाहिये। क्योंकि ईश्वर ने वेद सब जीवों के उत्तम सुख के लिये प्रकट किया है। इसी 'अग्निमीळे.' वेद के उपदेश का परोपकार फल होने से इस मन्त्र में 'ईडे' यह उत्तम पुरुष का प्रयोग भी है।

(अग्निमीळे.) परमार्थ और व्यवहार विद्या की सिद्धि के लिये अग्नि शब्द करके परमेश्वर और भौतिक ये दोनों अर्थ लिये जाते हैं। जो पहिले समय में आर्य लोगों ने अश्वविद्या के नाम से शीघ्र गमन का हेतु शिल्पविद्या उत्पन्न की थी वह अग्निविद्या की ही उन्नति थी। आप ही आप प्रकाशमान सब का प्रकाश और अनन्त ज्ञानवान् आदि हेतुओं से अग्निशब्द करके परमेश्वर, तथा रूप दाह प्रकाश वेग छेदन आदि गुण और शिल्पविद्या के मुख्य साधक आदि हेतुओं से प्रथम मन्त्र में भौतिक अर्थ का ग्रहण किया है ॥१॥

### **सायण-भाष्य —**

अग्निनामकं देवम् ईळे स्तौमि। 'ईड स्तुतौ' इति धातुः। डकारस्य ळकारो बहुचाव्येतृसंप्रदायप्राप्तः। तथा च पठ्यते — 'अज्मध्यस्थडकारस्य ळकारं बहुवृचा जगुः। अज्मध्यस्थडकारस्य ळहकारं वै यथाक्रमम्' इति॥ मन्त्रस्य होत्रा प्रयोज्यत्वादहं होता स्तौमीति लभ्यते। कीदृशमग्निम्। यज्ञस्य पुरोहितम्। यथा राज्ञः पुरोहितस्तदभीष्टं संपादयति, तथाग्निरपि यज्ञस्यापेक्षितं होमं संपादयति। यद्वा। यज्ञस्य सम्बन्धिनि पूर्वभागे आहवनीयरूपेणावस्थितम्। पुनः कीदृशम्। देवं दानादिगुणयुक्तम्। पुनः कीदृशम्। होतारम् ऋत्विजम्। देवानां यज्ञेषु होतृनामक ऋत्विगग्निरेव। तथा च श्रूयते — 'अग्निर्वै देवानां होता' (ऐ०ब्रा० ३.१४) इति। पुनरपि कीदृशम्। रत्नधातमं यागफलरूपाणां रत्नानामतिशयेन धारयितारं पोषयितारं वा। अत्राग्निशब्दस्य यास्को बहुधा निर्वचनं दर्शयति — 'अथातोऽनुक्रमिष्यामोऽग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामोऽग्निः कस्मादग्रणीर्भवत्यग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेऽङ्गं नयति सेसंनममानोऽक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्टीविर्नक्नोपयति न स्नेहयति,



त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिरितादक्ताद्गधाद्वा नीतात्स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परस्तस्यैषा भवत्याग्निमीळे (निरु० ७.१४) इति । अस्यायमर्थः । सामान्येन सर्वदेवतानां लक्षणस्याभिहितत्वादनन्तरं यतः प्रतिपदं विशेषेण वक्तव्यत्वमाकाङ्क्षितम् अतो अनुक्रमेण वक्ष्यामः । तत्र पृथिवीलोके स्थितोऽग्निः प्रथमं व्याख्यास्यते । कस्मात् प्रवृत्तिनिमित्तादग्निशब्देन देवताभिधीयत इति प्रश्नस्य 'अग्रणीः' इत्यादिकमुत्तरम् । देवसेनामग्रे स्वयं नयतीत्यग्रणीः । एतदेकमग्निशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम् । तथा च ब्राह्मणान्तरम् — 'अग्निर्देवानां सेनानीः' इति । एतदेवाभिप्रेत्य बहवृचा मन्त्रब्राह्मणे आमनन्ति — 'अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्' (ऐ०ब्रा० १.४) इति मन्त्रः । 'अग्निर्वै देवानामवमः' (ऐ०ब्रा० १.१) इति ब्राह्मणम् । तथा तैत्तिरीयाश्चामनन्ति — 'अग्निरग्रे प्रथमो देवतानाम्' (तै०ब्रा० २.४.३३) इति । 'अग्निरवमो देवतानाम्' इति च । वाजसनेयिनस्त्वेवमामनन्ति — 'स वा एषोऽग्रे देवतानामजायत तस्मादग्निर्नाम' इति । यज्ञेषु अग्निहोत्रेष्टिपशुसोमरूपेषु अग्रं पूर्वदिग्वर्त्याहवनीयदेशं प्रति गार्हपत्यात् प्रणीयते इति द्वितीयं प्रवृत्तिनिमित्तम् । संनममानः सम्यक् स्वमेव प्रीभवन् अङ्गं स्वकीयं शरीरं नयति काष्ठदाहे हविष्पाके च प्रेरयतीति तृतीयं प्रवृत्तिनिमित्तम् । स्थूलाष्ठीवनामकस्य महर्षेः पुत्रो निरुक्तकारः कश्चित् 'अक्नोपनः' इति अग्निशब्दं निर्वक्ति । तत्र न क्नोपयतीत्युक्ते न स्नेहयति, किंतु काष्ठादिकं रूक्षयतीत्युक्तं भवति । शाकपूणिनामको निरुक्तकारो धातुत्रयादग्निशब्दनिष्पत्तिं मन्यते । इतः 'इण् गतौ' इति धातुः । अक्तः 'अञ्ज्व्यक्तिप्रक्षणकान्तिगतिषु' इति धातुः । दग्धः 'दह भस्मीकरणे' इति धातुः । नीतः 'णीञ् प्रापणे' इति धातुः । अग्निशब्दो हि अकारगकारनिशब्दानपेक्षमाणः एतिधातोरुत्पन्नात् अयनशब्दात् अकारमादत्ते । अनक्तिधातुगतस्य ककारस्य गकारादेशं कृत्वा तमादत्ते । यद्वा । दहतिधातुजन्यात् दग्धशब्दात् गकारमादत्ते । नीः इति नयतिधातुः । स च ह्रस्वो भूत्वा परो भवति । ततो धातुत्रयं मिलित्वा अग्निशब्दो भवति । यज्ञभूमिं गत्वा त्वकीयमङ्गं नयति काष्ठदाहे हविष्पाके च प्रेरयतीति समुदायार्थः । तस्य अग्निशब्दार्थस्य देवताविशेषस्य प्राधान्येन स्तुतिप्रदर्शनायैषा 'अग्निमीळे' इति ऋक् भवतीति । तामेतां ऋचं यास्क एव व्याख्यातवान् — 'अग्निमीळेऽग्निं याचामीळिरध्येणाकर्मा पूजाकर्मा वा पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञस्य देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा यो देवः सा देवता होतारं हातारं जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभोरत्नधातमं रमणीयानां धनानां दातृतमम्' (निरु० ७.१५) । अस्यायमर्थः — ईडतिधातोः स्तुत्यर्थत्वं प्रसिद्धम् । धातूनामनेकार्थत्वमिति न्यायमार्शित्य याच्नाध्येषणापूजाः अप्यत्रोचितत्वात् तदर्थतया व्याख्याताः । पुरोहितशब्दो द्वितीयेऽध्याये 'यदेवापिः शंतनवे पुरोहितः' इत्येताम् ऋचमृचमुदाहृत्य 'पुर एनं दधति' (निरु० २.१२) इति व्याख्यातः । तैत्तिरीयाश्च पौरोहित्ये स्पर्धमानस्य पश्वनुष्ठानं विधाय तत्फलत्वेन 'पुर एनं दधते' (तै०सं० २.१.२.९) इत्यामनन्ति । देवशब्दो दानदीपनद्योतनानामन्यतममर्थमाप्तये । यज्ञस्य दाता दीपयिता द्यातयितायमग्निरित्युक्तं भवति । दीपनद्योतनयोरकार्थत्वेऽप्यस्ति धातुभेदः । यद्यप्यग्निः पृथिवीस्थानस्तथापि देवान् प्रति हविर्वहनात् द्युस्थानो भवति ।



देवशब्ददेवताशब्दयोः पर्यायत्वान्मन्त्रप्रतिपाद्या काचिदग्निव्यतिरिक्ता देवता नान्वेषणीया । होतृशब्दस्य ह्यतिधातोरुत्पन्नत्वेन देवानामाह्वारमिति । और्णवाभनामकस्तु मुनिः जुहोतिधातोरुत्पन्नोहोतृशब्द इति मन्यते । अग्नेश्च होतृत्वं होमाधिकरणत्वेन द्रष्टव्यम् । रत्नशब्दो द्वितीयाध्याये 'मद्यम्' इत्यादिष्वष्टाविंशतौ घननामसु (नि० २.१०.७) पठितः । रमणीयत्वात् रत्नत्वम् । दधातिधातुरत्र दानार्थवाचीति । तदिदं निरुक्तकारस्य यास्कस्य मन्त्रव्याख्यानम् । अथ व्याकरणप्रक्रियोच्यते । अंगिधातोर्गत्यर्थात् 'अङ्गेर्नलोपश्च' (उ०सू० ४.४९०) इति औणादिकसूत्रेण निप्रत्ययः । इदित्वान्नुमागमेन प्राप्तस्य नकारस्य (पा०सू० ७.१.५८) लोपश्च भवति । अङ्गति स्वर्गे गच्छति हविर्नेतुमित्यग्निः । तत्र 'धातोः' (पा० सू० ६.१.१६२) इति अकार उदात्तः । 'आद्युदात्तश्च' (पा०सू० ३.१.३) इति प्रत्ययगत इकारोऽप्युदात्तः । 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (पा०सू० ६.१.१५८) इति द्वयोरन्यतरमुदात्तमवशेष्ये— तरस्यानुदात्तत्वं प्राप्तम् । तत्र धातुस्वरे प्रथमतोऽवस्थिते सति पश्चादुपदिश्यमानः प्रत्ययस्वरोऽवशिष्यते । 'सति शिष्टस्वरो बलीयान्' (पा०वा० ६.१.१५८) इति हि न्यायः । ततोऽन्तोदात्तमग्निप्रातिपदिकम् । 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (पा०सू० ३.१.४) इति अम् इत्येतत् द्वितीयैकवचनमनुदात्तम् । तस्य 'अमि पूर्वः' (पा०सू० ६.१.१०७) इति यत् पूर्वरूपं तदुदात्तम् 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' (पा०सू० ८.२.५) इति सूत्रितत्वात् । अग्निशब्दो धातुजन्मेति मते सेयं प्रक्रिया सर्वापि द्रष्टव्या । मतद्वयं यास्केन प्रदर्शितं — 'नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके' (निरु० १.१२) इति । गार्ग्यस्य मतेऽग्निशब्दस्याखण्डप्रातिपदिकत्वात् — 'फिषोऽन्त उदात्तः' (फि०सू० १) इत्यन्तोदात्तत्वम् । पूर्वोक्तेष्वग्रणीरित्यादिनिर्वचनेषु प्रकृतिप्रत्ययाद्यशेषप्रक्रिया यथोचितं कल्पनीया । एतदेवाभिप्रेत्य यास्क आह — 'अथ निर्वचनं तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्बूयादथानन्वितेऽर्थे ऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत् केनचिद् वृत्तिसामान्येनाविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्बूयान्नत्वेव न निर्बूयात्' (निरु० २.१) इति । अस्यायमर्थः — तत्तत्र निर्वचनीयपदसमुहमध्ये येष्वग्न्यादिपदेषु पूर्वोक्तरीत्या स्वरसंस्कारौ समर्थौ व्याकरणसिद्धौ स्याताम् । स्वर उदात्तादिः । संस्कारो निप्रत्ययादिः । किञ्च तौ स्वरसंस्कारौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम् । शब्दस्यैकदेशः पूर्वोक्तोऽंगिधातुः प्रदेशः । तत्र भवो गुणो गतिरूपोऽर्थः । तेनान्वितौ । तान्यग्न्यादिपदानि तथा व्याकरणानुसारेण निर्बूयात् । तच्च निर्वचनमस्माभिः प्रदर्शितम् । अथ पूर्वोक्तवैलक्षण्येन कश्चित् स्वेन विवक्षितोऽर्थो नान्वितः तस्मिन् शब्देऽनुगतो न भवेत् । तस्यैव व्याख्यानम् 'अप्रादेशिके विकारे' इति । अग्रनयनादिरूपः क्रियाविशेषो विकारः । स च प्रदेशेनाग्निशब्दैकदेशेनात्र नाभिधीयते इत्यप्रादेशिकः । एवं सति यः पुमानर्थनित्यः स्वविवक्षितेऽर्थे नियतो निर्बन्धवान् । ब्राह्मणानुसारेण वा देवतान्तरविशेषणत्वेन योजयितुं वा स निर्बन्धः । तदानीं स पुमान् केनचित् वृत्तिसामान्येन स्वविवक्षितमर्थं परीक्षेत्, तस्मिन् शब्दे योजयेत् । वृत्तिः क्रिया । तद्रूपेण सामान्यं सादृश्यम् । अस्माभिश्च अग्रनयनादिरूपं क्रियात्वसामान्यमुपजीव्य अग्रणीत्वादर्थो योजितः । तदिदं



## अग्नि सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-१ )

यास्काभिमतं निर्वचनम् । स्थौलाष्टीविः अक्षरसाम्यान्निर्वक्ति । अक्रोपनशब्दस्यादौ निषेधार्थम् अकाररूपमक्षरं विद्यते । अग्निशब्दस्याप्यादौ अकारोऽस्ति । तदिदमक्षरसाम्यम् । शाकपूणिस्तु वर्णसाम्यान्निर्ब्रूते — दग्धशब्दाग्निशब्दयोर्गकारवर्णेन साम्यम् । सर्वथापि निर्वचनं न स्याज्यमिति । ईळे इत्येतत्पदं कृत्स्नमप्यनुदात्तम् । 'तिङ्ङितिङः' (पा०सू० ८.१.२८) इति अतिङन्तादग्रिशब्दात् परस्य ईळे इत्यस्य तिङन्तस्य निघातविधानात् । पदद्वयसंहिताकाले तु ईकारस्य धातुगतस्य 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (पा०सू० ८.४.६६) इति स्वरितत्वम् । तस्मात् ऊर्ध्वभाविन एकारस्य तिङ्प्रत्ययरूपस्य 'स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्' (पा०सू० १.२.३९) इति ऐकश्रुत्यं प्रचयनामकं भवति । पुरःशब्दोऽन्तोदात्तः । 'अयं पुरो भुवः' (तै०सं० ४.३.२.१) इत्यत्र तथैवाम्नातत्वात् । 'पूर्वाधरावराणामसि पुरधवभैषाम्' (पा०सू० ५.३.३९) इति पूर्वशब्दात् अस्प्रत्ययः पुरादेशश्च । ततोऽत्र प्रत्ययस्वरः (पा०सू० ३.१.३) । धाजो निष्ठायां 'दधातेर्हिः' (पा०सू० ७.४.४२) इत्यादेशे सति प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तो हितशब्दः । तत्र समासान्तोदात्तत्वे (पा०सू० ६.१.२२३) प्राप्ते तदपवादत्वेन 'तत्पुरुषे तुल्यार्थं' (पा०सू० ६.२.२) इत्यादिना अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । यद्वा । 'पुरोऽव्ययम्' (पा०सू० १.४.६७) इति गतिसंज्ञायां 'गतिरनन्तरः' (पा०सू० ६.२.४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । तत् ओंकार उदात्तः । अवशिष्टानामनुदात्तस्वरितप्रचयाः पूर्ववत् द्रष्टव्याः । आद्याक्षरस्य संहितायां प्रचयप्राप्तौ (पा०सू० १.२.३९) 'उदात्तस्वरितपरस्य संन्नतरः' (पा०सू० १.२.४०) इत्यतिनीचोऽनुदात्तः । 'यजयाच०' (पा०सू० ३.३.९०) इत्यादिना यजतेः नङ्प्रत्यये सति अन्तोदात्तो यज्ञशब्दः । विभक्तेः सुप्स्वरेणानुदात्तत्वे सति (पा०सू० ३.१.४) पश्चात् स्वरितत्वम् । देवशब्दः पचाद्यजन्तः (पा०सू० ३.१.१३४) । स च फिट्स्वरेण (फि०सू० १) प्रत्ययस्वरेण (पा०सू० ३.१.३) चित्स्वरेण (पा०सू० ६.१.१६३) वा अन्तोदात्तः । ऋत्विक्शब्दः 'ऋतौ यजति' इति विग्रहे सति 'ऋत्विग्दधृक्' (पा०सू० ३.२.५९) इति निपातितः । 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (पा०सू० ६.२.१३९) इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः । विभक्तिस्वरः पूर्ववत् । होतृशब्दस्तृन्प्रत्ययान्तः (पा०सू० ३.२.१३५) । निस्स्वरेणाद्युदात्तः (पा०सू० ६.१.१९७) । स्वरितप्रचयौ पूर्ववत् । रत्नशब्दो 'नब्बिषयस्यानिसन्तस्य' (फि०सू० २६) इत्याद्युदात्तः । तथा चाम्नायते — 'रत्नं धाता' इति । रत्नानि दधातीति विग्रहः । समासत्वादन्तोदात्तो रत्नधाशब्दः । यद्वा कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः । तमप्रत्ययस्य (पा०सू० ५.३.५५) पित्स्वरेणानुदात्ते सति (पा०सू० ३.१.४) स्वरितप्रचयौ । संहितायामाद्याक्षरस्य प्रचयो द्वितीयाक्षरस्य सन्नतरत्वम् । 'वेदावतार आद्याया ऋचोऽर्थश्च प्रपञ्चितः । विज्ञातं वेदगाम्भीर्यमथ संक्षिप्य वर्ण्यते' ।।

शब्दा० — अग्निम् = अग्नि देवता की, ईळे = स्तुति करता हूँ, पुरोहितम् = यज्ञ में सर्वप्रथम आधान किये गये, यज्ञस्य = यज्ञ के, देवम् = प्रकाशक, ऋत्विजम् = ऋतुओं के अनुसार यज्ञ संपादित करने वाले, होतारम् = देवताओं का आह्वान करने वाले, रत्नधातमम् = धन प्रदान करने वालों में सर्वश्रेष्ठ ।

हि०अ० — (यज्ञ में) सर्वप्रथम आधान किये जाने वाले, यज्ञ को प्रकाशित करने वाले,



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

ऋतुओं के अनुसार यज्ञ संपादित करने वाले, (देवताओं का) आह्वान करने वाले (तथा) धन प्रदान करने वालों में सर्वश्रेष्ठ अग्निदेवता की (मैं) स्तुति करता हूँ।

व्याकरणम् —

अग्निम् — 'इण्' धातु से निष्पन्न 'अयन्' शब्द से 'अ' का, 'दह' धातु से निष्पन्न 'दग्ध' शब्द से 'ग' का और 'नी' धातु को ह्रस्व करके 'नि' का ग्रहण करके 'अग्नि' शब्द निष्पन्न होता है। अतः इस शब्द में तीन भाव हैं — गतिशील, जलाने वाला और सन्मार्ग पर ले जाने वाला, अथवा 'अग्नि' गतौ धातु से 'नी' प्रत्यय करके 'अग्नि' शब्द निष्पन्न होता है।

ईळे — 'ईळ स्तुतौ' धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन।

पुरोहितम् — पुरस्+धा+क्त 'धा' को 'हि' आदेश।

यज्ञस्य — यज्+नङ् = यज्ञ। षष्ठी विभक्ति का एकवचन।

रत्नधातमम् — रत्नानां धाता = रत्न+धा+क्विप् = रत्नधा। तमप् प्रत्यय करके रत्नधातम्।

विशेष — मैकडानल ने —ईळे' का अर्थ 'महत्व का गान करता हूँ' (Magnify) किया है। यास्क ने इस शब्द का अर्थ 'प्रार्थना करता हूँ' किया है।

मण्डल — १

सूक्त—१

मन्त्र—२

संहिता पाठ

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।

स देवाँ एह वक्षति ॥२॥

पद पाठ —

अग्निः। पूर्वेभिः। ऋषिभिः। ईड्यः। नूतनैः। उत। सः। देवान्। आ। इह। वक्षति ॥

अन्वयः — अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः उत नूतनैः (ऋषिभिः) ईड्यः। सः देवान् इह आ वक्षति ॥

दयानन्द-भाष्य —

(अग्निः) परमेश्वरो भौतिको वा (पूर्वेभिः) अधीतविद्यैर्वर्तमानैः प्राक्तनैर्वा विद्वद्भिः (ऋषिभिः) मन्त्रार्थद्रष्टृभिरध्यापकैस्तर्कैः कारणस्थैः प्राणैर्वा। ऋषिप्रशंसा चैवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्ट्यो भवन्ति। निरु० ७।३। इयमेव ऋषीणां प्रशंसा यतस्त एवमुच्चावचैर्महदल्पाभिप्रायैर्मन्त्रार्थैर्विदितैः प्रशंसनीया भवन्ति, तेषामृषीणां मन्त्रेषु दृष्ट्योऽर्थादत्यन्तपुरुषार्थेन मन्त्रार्थानां यथावद्दर्शनानि ज्ञानानि भवन्ति। तस्मात्ते पूज्याः सत्कर्तव्या आसन्निति। साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्त्सं प्रादुरुपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थ समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि



## अग्नि सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-१ )

च बिल्मं भिल्मं भासनमिति वा । निरु० १।२० । कीदृशा ऋषयो भवन्तीत्यत्राह — यतः साक्षात्कृतधर्माणो धार्मिका आप्ता यैः सर्वा विद्या यथावद्विदिता येऽवरेभ्यो ह्यसाक्षात्कृतवेदेभ्यो मनुष्येभ्य उपदेशेन वेदमन्त्रान् मन्त्रार्थाश्च संप्रादुः प्रकाशितवन्तस्तस्मात्ते ऋषयो जाताः । तैः करमै प्रयोजनाय मन्त्राध्यापनं तदर्थं प्रकाशश्च कृत इत्यत्रोच्यते — उत्तरोत्तरं वेदार्थप्रचाराय । येऽवरेऽल्पबुद्धयो मनुष्या अध्ययनायोपदेशाय च ग्लायन्ते तेषां वेदार्थविज्ञानायेमं नैघण्टुकं निरुक्ताख्यं च ग्रन्थं समाम्नासिषुः सम्यगभ्यासार्थं रचितवन्तः । येन सर्वे मनुष्या वेदं वेदाङ्गानि च यथार्थतया विजानीयुरेवं कृपालव ऋषयो गण्यन्त इति । पुरस्तान्मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्को न ऋषिर्भविष्यतीति । तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताम्यूहमभ्यूढम् । निरु० १३।१२ अत्र तर्क एव ऋषिरुक्तः । अविज्ञाततत्त्वार्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थ— मूहस्तर्कः । न्याय० १।१।४० । या तत्त्वज्ञानार्थोहा सैव तर्कशब्देन गृह्यते । प्राणा ऋषयः । श० ७।२।१।५ । अत्रर्षिशब्देन प्राणा गृह्यन्ते । (ईड्यः) नित्यं स्तोतव्यो ऽन्वेष्टव्यश्च (नूतनैः) वेदार्थाध्येतृभिर्ब्रह्मचारिभिस्तर्कैः कार्यस्थैर्विद्यमानैः प्राणैर्वा (उत) अप्येव (सः) पूर्वोक्तः (देवान्) दिव्यानीन्द्रियाणि विद्यादिदिव्यगुणान् दिव्यान् ऋतून् दिव्यान् भोगान्वा । ऋतवो वै देवाः । श० ७।२।२।२६ अनेनर्तुशब्देन दिव्यगुणविशिष्टा भोगा गृह्यन्ते । (आ) समन्तात् (इह) अस्मिन् वर्तमाने संसारे जन्मनि वा (वक्षति) वहतु प्रापयतु ।

यास्कमुनिरिमं मन्त्रमेवं समाचष्टे । अग्निर्यःपूर्वेऽर्धषिभिरीडितव्यो वन्दितव्योऽस्माभिश्च नवतरैः स देवानिहावहत्विति स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते । निरु० ७।१६।१२ ।।

**भावार्थ** — ये सर्वा विद्याः पठित्वा सत्योपदेशेन सर्वोपकारका अध्यापका वर्तन्ते पूर्वभूताश्च ते पूर्व इति शब्देन ये चाध्येतारो विद्याग्रहणायाभ्यासं कुर्वन्ति ते नूतनैरिति पदेन गृह्यन्ते । ये मन्त्रार्थान् विदितवन्तो धर्मविद्ययोः प्रचारस्थैवानुष्ठातारः सत्योपदेशेन सर्वाननुग्रहीतारो निश्छलाः पुरुषार्थिनो मोक्षधर्मसिद्धयर्थमीश्वर— स्थैवोपासकाः कामार्थसिद्धयर्थं भौतिकाग्नेर्गुणज्ञानेन कार्यसिद्धिं संपादयन्तो मनुष्यास्ते ऋषिशब्देन गृह्यन्ते । पूर्वेषां नूतनानां च ये युक्तिप्रमाणसिद्धास्तत्त्व ज्ञानार्थास्तर्काः, ये च जगत्कारणस्थाः कार्यजगत्स्थाश्च प्राणाः सन्ति तैः सह योगाभ्यासेनेश्वरो भौतिकश्चाग्निर्वन्द्योऽध्यन्वेष्टव्यगुणश्चास्ति । सर्वज्ञेनेश्वरेण स्वकीयज्ञानान्मनुष्यज्ञानापेक्षयाऽतीतान् वर्तमानांश्चर्षीन् विदित्वाऽस्मिन्मन्त्र उपदिष्टे सति नैव कश्चिदोषो भवितुमर्हति, वेदस्य सर्वज्ञवाक्यत्वात् । सोऽयमेवमुपासितो व्यवहारकार्येषु संयोजितः सन् सर्वोत्तमान् गुणान् भोगांश्च प्रापयति । अत्र प्राचीनापेक्षया नवीनत्वं नवीनापेक्षया प्राचीनत्वं च विज्ञायत इति ।

अयमेवार्थो निरुक्तकारेणोक्तः — यस्तु खलु प्राकृतजनैः पाककरणादिषु प्रसिद्धः प्रयोज्यते सोऽस्मिन्मन्त्रे नैव ग्राह्यः, किन्तु सर्वप्रकाशकः परमेश्वरः सर्वविद्याहेतुर्विद्युदाख्यो— ऽर्थश्चाऽग्निशब्देनात्रोच्यत इति ।

एतन्मन्त्रार्थः सायणाचार्यादिभिरन्यथोक्तः । तद्यथा — पुरातनैर्भृग्वङ्गिरः प्रभृतिभिर्नूत—



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

नैरुतेदानीं तनैरस्माभिरपि स्तुत्यः। देवान् हविर्भुज आवक्षतीत्यन्यथेदं व्याख्यानमस्ति। तद्वद्यूरोपखण्डस्थैरत्रस्थैश्च कृतमिङ्गलण्डभाषायां वेदार्थयत्नादिषु च व्याख्यानमप्यसमञ्जसम्। कुतः, ईश्वरोक्तस्यानादिभूतस्य वेदस्येदं व्याख्यानं क्षुद्राशयं निरुक्तशतपथादिग्रन्थविरुद्धं चास्त्यत इति॥२॥

**भावार्थ** — जो मनुष्य सब विद्याओं को पढ़के औरों को पढ़ाते हैं तथा अपने उपदेश से सब का उपकार करने वाले हैं या हुए हैं वे पूर्व शब्द से, और जो कि अब पढ़ने वाले विद्या ग्रहण के लिये अभ्यास करते हैं, वे नूतन शब्द से ग्रहण किये जाते हैं। और वे सब पूर्ण विद्वान् शुभ गुण सहित होने पर ऋषि कहते हैं क्योंकि जो मन्त्रों के अर्थों को जाने हुए धर्म और विद्या के प्रचार, अपने सत्य उपदेश से सब पर कृपा करने वाले निष्कपट पुरुषार्थी धर्म के सिद्ध होने के लिये ईश्वर की उपासना करने वाले और कार्य्यों की सिद्धि के लिए भौतिक अग्नि के गुणों को जानकर अपने कामों को सिद्ध करने वाले होते हैं, तथा प्राचीन और नवीन विद्वानों के तत्त्व जानने के लिये युक्ति प्रमाणों से सिद्ध तर्क और कारण वा कार्य्य जगत् में रहने वाले जो प्राण हैं, इन सबसे ईश्वर और भौतिक अग्नि का अपने अपने गुणों के साथ खोज करना योग्य है और जो सर्वज्ञ परमेश्वर ने पूर्व और वर्तमान अर्थात् त्रिकालस्थ ऋषियों को अपने सर्वज्ञपन से जान के इस मन्त्र में परमार्थ और व्यवहार ये दो विद्या दिखलाई हैं, इससे भूत वा भविष्य काल की बातों के कहने में कोई भी दोष नहीं आ सकता, क्योंकि वेद सर्वज्ञ परमेश्वर का वचन है। वह परमेश्वर उत्तम गुणों को तथा भौतिक अग्नि व्यवहार कार्य्यों में संयुक्त किया हुआ उत्तम उत्तम भोग के पदार्थों का देने वाला होता है। पुराने की अपेक्षा एक पदार्थ से दूसरा नवीन की अपेक्षा पहिला पुराना होता है।

देखो यही अर्थ इस मन्त्र का निरुक्तकार ने भी किया है कि — प्राकृत जन अर्थात् अज्ञानी लोगों ने जो प्रसिद्ध भौतिक अग्नि पाक बनाने आदि कार्य्यों में लिया है, वह इस मन्त्र में नहीं लेना, किन्तु सब का प्रकाश करनेहारा परमेश्वर और सब विद्याओं का हेतु जिसका नाम विद्युत् है वही भौतिक अग्नि यहाँ अग्नि शब्द से लिया है।

(अग्निः पूर्व०) इस मन्त्र का अर्थ नवीन भाष्यकारों ने कुछ का कुछ ही कर दिया है, जैसे सायणार्य ने लिखा है कि (पुरातनैः०) प्राचीन भृगु अङ्गिरा आदियों और नवीन अर्थात् हम लोगों को अग्नि की स्तुति करना उचित है। वह देवों को हवि अर्थात् होम में चढ़े हुए पदार्थ उनके खाने के लिये पहुँचाता है। ऐसा ही व्याख्यान यूरोपखण्डवासी और आर्यावर्त के नवीन लोगों ने अंगरेजी भाषा में किया है, तथा कल्पित ग्रन्थों में अब भी होता है, सो यह बड़े आश्चर्य की बात है जो ईश्वर के प्रकाशित अनादि वेद का ऐसा व्याख्यान जिसका क्षुद्र आशय और निरुक्त शतपथ आदि सत्य ग्रन्थों से विरुद्ध होवे वह सत्य कैसे हो सकता है॥२॥



## अग्नि सूक्त (मण्डल-१, सूक्त-१)

## सायण-भाष्य -

अयम् अग्निः पूर्वभिः पुरातनैर्भृग्वङ्गिरःप्रभृतिभिः ऋषिभिः ईड्यः स्तुत्यः, नूतनैः उत इदानीं तनैरस्माभिरपि स्तुत्यः । सः अग्निः स्तुतः सन् इह यज्ञे देवान् हविर्भुजः आ वक्षति । 'वह प्रापणे' इति धातुः । आवहतु इत्यर्थः । । पूर्वभिरित्यत्र 'बहुलं छन्दसि' (पा०सू० ७.१.१०) इति भिस ऐसादेशाभावः । 'पूर्व पर्व अर्व पूरणे' इति धातुः । पूर्वतिधातोः अन्प्रत्यय औणादिकः । इन्प्रत्ययान्त ऋषिशब्दः 'ऋष्यन्धक०' (पा०सू० ४.१.११४) इति निपातनात् लघूपधगुणाभावः (पा०सू० ७.३.८६) । कित्प्रत्ययो वात्र ज्ञेयः (उ०सू० ४.५५९) । तौ शब्दौ नित्स्वरेणाद्युदात्तौ । ईड्यशब्दस्य ण्यत्प्रत्ययान्तत्वात् (पा०सू० ३.१.१२४) 'तित्स्वरितम्' (पा०सू० ६.१.१८५) इति स्वरिते शेषानुदात्तत्वे च प्राप्ते तदपवादत्वेन 'ईडवन्द०' (पा०सू० ६.१.२१४) इत्यादिनाद्युदात्तत्वम् । 'नवस्य नू ल्पतनखाश्च' (पा०वा० ५.४.३०) इति वार्तिकेन नवशब्दस्य नू इत्यादेशः तनन्प्रत्ययश्च महावार्तिके विहितः । ततो नित्स्वरेणाद्युदात्तः । अवशिष्टस्वरा अग्न्यादिषु नूतनान्तेषु पूर्ववदुन्नेयाः । उतशब्दो यद्यपि विकल्पार्थे प्रसिद्धस्तथापि निपातत्वेनानेकार्थत्वादौचित्येनात्र समुच्चयार्थो द्रष्टव्यः । 'उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति' इति निपातत्वम् । तर्हि 'निपाता आद्युदात्ताः' (फि०सू० ८०) इत्युकारस्योदात्तः प्राप्त इति चेत्, न । प्रातः शब्दवदन्तोदात्तत्वात् । यथा प्रातः शब्दोऽन्तोदात्तत्वेनैव स्वरादिषु (पा०सू० १.१.३७) पठितः, एवमुतशब्दस्यापि पाठो द्रष्टव्यः, स्वरोदेराकृतिगणत्वात् । यद्वा 'एवादीनामन्तः' (फि०सू० ८२) इत्यन्तोदात्तः । स इत्यत्र फिट्स्वरः । देवशब्दः पूर्ववत् । देवान् इत्यस्य नकारस्य संहितायां 'दीर्घादटि०' (पा०सू० ८.३.९) इति रुत्वम् । 'अत्रानुनासिकः०' (पा०सू० ८.३.२) इत्यनुवृत्तौ 'आतोऽटि नित्यम्' (पा०सू० ८.३.३) इत्याकारः सानुनासिकः । 'भोभगो०' (पा०सू० ८.३.१७) इति रोर्त्यकारः । स च 'लोपः शाकल्यस्य' (पा०सू० ८.३.१९) इति लुप्यते । तस्यासिद्धत्वात् (पा०सू० ८.२.१) न पुनः संधिकार्यम् । आडो निपातत्वादाद्युदात्तत्वम् । इदमो हप्रत्यये सति निष्पन्नत्वात् (पा०सू० ५.३.११) इहशब्दे प्रत्ययस्वरः । वहति धातोर्लोऽर्थे छान्दसो लृट् । तस्यस्यप्रत्ययगतस्य यकारस्य लोपोऽपि छान्दसः । यद्वा । लेटि 'सिब्वहुलम्०' (पा०सू० ३.१.३४) इति सिप्प्रत्ययः । 'लेटोऽडाटौ' (पा०सू० ३.४.९४) इत्यडागमश्च । ततो वक्षतीति संपद्यते । तस्य तिङन्तत्वान्निघातः । संहितास्वराः पूर्ववत् । ।

शब्दार्थ - अग्निः = अग्निदेवता, पूर्वभिः = प्राचीन, ऋषिभिः = मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के द्वारा, ईड्यः = स्तुत्य है, नूतनैः = अर्वाचीन, उत = और, सः = वह, देवान् = देवताओं को, इह = यहाँ यज्ञ में, आ वक्षति = लावे । ।

हिन्दी अर्थ - (जो) अग्नि प्राचीन तथा अर्वाचीन ऋषियों के द्वारा स्तुत्य है, वह देवताओं को यहाँ यज्ञ में लावे ।

## व्याकरण -

पूर्वभिः - वैदिक रूप है । भिस् को 'ऐस' आदेश नहीं हुआ । लोक में 'देवः' रूप



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

निष्पन्न होगा।

ईड्यः - ईङ्+यत् = ईड्य।

पक्षति - 'वह' धातु से लोट् लकार के अर्थ में लट् लकार और छान्दस 'य' का लोप। अथवा लेट् लकार है।

विशेष - 'उत्' का प्रयोग यहाँ समुच्चय के अर्थ में हुआ है।

मण्डल - १

सूक्त-१

मन्त्र-३

संहिता पाठ

अग्निनां रयिमश्नवत्पोषमेव दिवेदिवे।

यशसं वीरवत्तमम् ॥३॥

पद पाठ -

अग्निनां । रयिम् । अश्नवत् । पोषम् । एव । दिवेऽदिवे । यशसम् । वीरवत्तमम् ॥

अन्वयः - (नरः) अग्निना एव पोषं यशसं वीरवत्तमं रयिं दिवेदिवे अश्नवत्।

दयानन्द-भाष्य -

(अग्निना) परमेश्वरेण संसेवितेन भौतिकेन संयोजितेन वा (रयिम्) विद्यासुवर्णाद्युत्तमधनम् । रयिरिति धननामसु पठितम् । निघं० २।१०॥ (अश्नवत्) प्राप्नोति । लेट्प्रयोगः । व्यत्ययेन परस्मैपदम् । (पोषम्) आत्मशरीरयोः पुष्ट्या सुखप्रदम् (एव) निश्चयार्थे (दिवे दिवे) प्रतिदिनम् । दिवेदिवे इत्यहर्नामसु पठितम् । निघं० १।९। (यशसम्) सर्वोत्तमकीर्तिवर्धकम् । (वीरवत्तमम्) वीरा विद्वांसः शूराश्च विद्यन्ते यस्मिन् तदतिशयितं वीरवत्तमम् ॥

भावार्थ - अत्र श्लेषालङ्कारेणोभयार्थस्य ग्रहणम् । ईश्वराज्ञायां वर्तमानेन शिल्पविद्यादिकार्यसिद्धयर्थमग्निं साधितव्रता मनुष्येणाक्षयं धनं प्राप्यते, येन नित्यं कीर्तिवृद्धिर्वीरपुरुषाश्च भवन्ति ॥३॥

भावार्थ - इस मन्त्र में श्लेषालंकार से दो अर्थों का ग्रहण है। ईश्वर की आज्ञा में रहने तथा शिल्पविद्यासम्बन्धि कार्यों की सिद्धि के लिये भौतिक अग्नि को सिद्ध करने वाले मनुष्यों को अक्षय अर्थात् जिसका कभी नाश नहीं होता, सो धन प्राप्त होता है, तथा मनुष्य लोग जिस धन से कीर्ति की वृद्धि और जिस धन को पाकर वीर पुरुषों से युक्त होकर नाना सुखों से युक्त होते हैं। सब को उचित है कि इस धन को अवश्य प्राप्त करें ॥३॥

सायण-भाष्य-

योऽयं होत्रा स्तुत्योऽग्निस्तेन अग्निना निमित्तभूतेन यजमानः रयिं धनम् अश्नवत् प्राप्नोति । कीदृशं रयिम् । दिवेदिवे पोषम् एव प्रतिदिनं पुष्यमाणतया वर्धमानमेव, न तु कदाचिदपि क्षीयमाणम् । यशसं दानादिनं यशोयुक्तं वीरवत्तमम् प्रतिशयेन पुत्रभृत्यादिवीर-



## अग्नि सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-१ )

पुरुषोपेतम् । सति हि धने पुरुषाः संपद्यन्ते । रयिशब्दो 'मघम्' इत्यादिधननामसु (नि० २. १०.८) पठितः । तत्र फिट्स्वरः । अश्नोतेर्धातोर्लेटि व्यत्ययेन तिप् । 'इतश्च लोपा०' (पा०सू० ३.४.९७) इति इकारलोपः । 'लेटोऽडाटौ' (पा०सू० ३.४.९४) इत्यडागमः । ततः 'अश्नवत्' इति भवति । तस्य निघातः । घञन्तत्वात् (पा०सू० ६.१.१९७) पोषशब्द आद्युदात्तः । एवशब्दस्य निपातत्वेऽपि 'एवादीनामन्तः' (फि०सू० ८२) इत्यन्तोदात्तत्वम् । वकारान्तात् दिव्शब्दात् परस्याः सप्तभ्याः 'सुपां सुलुक्०' (पा०सू० ७.१.३९) इत्यादिना शेभावे सति सावेकाचः०' (पा०सू० ६.१.१६८) इत्यादिना 'ऊडिदंपदात्०' (पा०सू० ६.१.१७१) इत्यादिना वा तस्योदात्तत्वम् । 'नित्यवीप्सयोः' (पा०सू० ८.१.४) इति द्विर्भावे सति उत्तरभागस्य 'अनुदात्तं च' (पा०सू० ८. १.३) इत्यनुदात्तत्वम् । यशोऽस्यास्तीति विग्रहे सति 'अर्शआदिभ्योऽच्' (पा०सू० ५.२.१२७) इति अच्प्रत्ययः । चित्स्वरं व्यत्ययेन बाधित्वा मध्योदात्तत्वम् । फिट्स्वरेणान्तोदात्तात् वीरशब्दात् उत्तरयोर्मतुपतमपोः पित्वादनुदात्तत्वम् । 'ह्रस्वनुङ्भ्याम्०' (पा०सू० ६.१.१७६) इति तु न साववर्णान्तत्वात् । 'न गोश्चन्०' (पा०सू० ६.१.१८२) इति प्रतिषेधः ।।

शब्दार्थ —

अग्निना = अग्नि के द्वारा, रयिम् = धन, अश्नवत् = प्राप्त करे, पोषम् = नित्यवर्धनशील अथवा पुष्टि प्रदान करने वाला, एव = ही, दिवेदिवे = प्रतिदिन, यशसम् = कीर्तिदायक, वीरवत्तमम् = अतिशय वीर पुत्रों से युक्त ।

हि०अ० — अग्नि के द्वारा (मनुष्य) प्रतिदिन नित्य-वर्धनशील, कीर्तिदायक एवं अतिशय वीर पुत्रों से युक्त धन प्राप्त करे ।

व्याकरण —

अश्नवत् — अश् धातु, लेट् लकार, 'तिप्' के 'इ' का लोप और 'अट्' का आगम ।

पोषम् — पुष्+घञ् = पोष ।

दिवेदिवे — दिव शब्द के सप्तमी का एकवचन । 'नित्यवीप्सयोः' से द्वित्व ।

यशसम् — यशः अस्य अस्ति अर्थ में 'अच्' प्रत्यय । यशस्+ अच्=यशस ।

विशेष — मैकडानल ने 'यशसम्' का अर्थ 'कीर्तिकारक या प्रकाशकारक' (Glorious) किया है ।

मण्डल — १

सूक्त—१

मन्त्र—४

संहिता पाठ

अग्ने॒ यं॒ य॒ज्ञम॑ध्व॒रं वि॒श्वतः॑ परि॒भूर॑सि॒ ।

स इ॒द्दे॒वेषु॑ गच्छति॒ ।।४।।

पदपाठ —

अग्ने॑ । यम् । य॒ज्ञम् । अ॒ध्व॒रम् । वि॒श्वतः॑ । परि॒ऽभूः । अ॒सि॑ । सः । इत् । दे॒वेषु॑ । ग॒च्छ॒ति॒ ।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

अन्वयः — (हे) अग्ने यम् अध्वरं यज्ञं विश्वतः परिभूः असि, सः इत् देवेषु गच्छति।

दयानन्द-भाष्य —

पदार्थ — (अग्ने) परमेश्वर भौतिको वा (यं यज्ञम्) प्रथममन्त्रोक्तम् (अध्वरम्) हिंसाधर्मादिदोषरहितम्। ध्वरतिहिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधो निपातः। निरु० १।८। (विश्वतः) सर्वतः सर्वेषां जलपृथिवीमयानां पदार्थानां विविधाश्रयात्। षष्ठ्या व्याश्रये। अ०५।४।४८ इत्यनेन तसिः। प्रत्ययः (परिभूः) यः परितः सर्वतः पदार्थेषु भवति। परीतिसर्वतोभावं प्राह। निरु० १।३। (असि) अस्ति वा (सः) यज्ञः (इत्) एव (देवेषु) विद्वत्सु दिव्येषु पदार्थेषु वा (गच्छति) प्राप्नोति॥४॥

भावार्थः — अत्र श्लेषालङ्कारः। यतोऽयं व्यापकः परमेश्वरः स्वसत्तया पूर्वोक्तं यज्ञं सर्वतः सततं रक्षति, अतएव स यज्ञो दिव्यगुणप्राप्तिहेतुर्भवति। एवमेव परमेश्वरेण यो दिव्यगुणसहितोऽग्नी रचितोऽस्ति तस्मादेवायं दिव्यशिल्पविद्यासंपादकोऽस्ति। यो धार्मिक उद्योगी विद्वान् मनुष्योऽस्ति स एवैतान् गुणान् प्राप्तुमर्हति॥४॥

भावार्थ — इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। जिस कारण व्यापक परमेश्वर अपनी सत्ता से उक्त यज्ञ की निरन्तर रक्षा करता है इसी से वह अच्छे अच्छे गुणों के देने का हेतु होता है। इसी प्रकार ईश्वर ने दिव्यगुणयुक्त अग्नि भी रचा है कि जो उत्तम शिल्पविद्या का उत्पन्न करने वाला है। उन गुणों को केवल धार्मिक उद्योगी और विद्वान् मनुष्य ही प्राप्त होने के योग्य होता है॥४॥

सायण-भाष्य —

हे अग्ने! त्व यः यज्ञ विश्वतः सर्वासु दिक्षु परिभूः परितः प्राप्तवान् असि सः इत् स एव यज्ञो देवेषु तृप्तिं प्रणेतुं स्वर्गे गच्छति। प्राच्यादिचतुर्दिगन्तेषु आहवनीयमार्जालीय-गार्हपत्याग्नीध्रीयस्थानेषु अग्निरस्ति। परिशब्देन होत्रीयादिधिष्यव्याप्तिर्विवक्षिता। कीदृशं यज्ञम्। अध्वरं हिंसारहितम्। न ह्यग्निना सर्वतः पालितं यज्ञं राक्षसादयो हिंसितुं प्रभवन्ति॥ अग्निशब्दस्य षाष्टिकम् (पा०सू० ६.१.१९८) आमन्त्रिताद्युदात्तत्वम्। न विद्यते ध्वरोऽस्येति बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' (पा०सू० ६.२.१७२) इत्यन्तोदात्तत्वम्। विश्वतः इत्यत्र तसिलः प्रत्ययस्वरत्वं बाधित्वा पूर्ववर्णस्य 'लिति' (पा०सू० ६.१.१९३) इत्युदात्तत्वम्। परिभूरित्यत्र अपव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते (पा०सू० ६.२.२) तदपवादत्वेन कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् (पा०सू० ६.२.१३९)। असि इति तिङन्तस्य 'यद्भुतान्नित्यम्' (पा०सू० ८.१.६६) इति निघाताभावः॥

शब्दार्थ — अग्ने = हे अग्नि, यम् = जिस, यज्ञम् = यज्ञ को, अध्वरम् = हिंसारहित, विश्वतः = चारों तरफ से, परिभूः = व्याप्त करने वाले, असि = हों, सः = वह, इत् = ही, देवेषु = देवताओं में, गच्छति = पहुँचता है।

हिन्दी अनु० — हे अग्नि, जिस हिंसारहित यज्ञ को (तुम) चारों तरफ से व्याप्त करने वाले (होते) हो, वही (यज्ञ) देवताओं में पहुँचता है।



व्याकरण —

अध्वरम् — न विद्यते ध्वरः हिंसा यत्र स अध्वरः ।

विश्वतः — विश्व+तसिल् ।

विशेष — मैकडानल ने 'यज्ञ' का अर्थ 'पूजन' (worship) और 'अध्वर' का अर्थ 'यज्ञ' (sacrifice) किया है ।

मण्डल — १

सूक्त—१

मन्त्र-५

संहिता पाठ

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः ।

देवो देवेभिरा गमत् ॥५॥

पदपाठ —

अग्निः । होता । कविक्रतुः । सत्यः । चित्रश्रवः । तमः । देवः । देवेभिः । आ । गमत् ॥५॥

अन्वयः — अग्निः होता कविक्रतुः सत्यः चित्रश्रवस्तमः । (सः) देवः देवेभिः (अस्मिन् यज्ञे) आ गमत् ।

दयानन्द-भाष्य —

(अग्निः) परमेश्वरो भौतिको वा (होता) दाता ग्रहीता द्योतको वा (कविक्रतुः) कविः सर्वज्ञः क्रान्तदर्शनो वा । करोति यो येन वा स क्रतुः कविश्चासौ क्रतुश्च सः । कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा । निरु० १२ । १३ । यः सर्वविद्यायुक्तं वेदशास्त्रं कवते उपदिशति स कविरीश्वरः । क्रान्तं दर्शनं यस्मात्स सर्वज्ञो भौतिको वा क्रान्तदर्शनः । कृजः कतुः । उ० १ । ७७ । अनेन कृजो हेतुकर्तरि कर्तरि वा कतुः प्रत्ययः । (सत्यः) सन्तीति सन्तः, सद्भ्यो हितः तत्र साधुर्वा । सत्यं कस्मात्सत्सु तायते सत्प्रभवं भवतीति वा ॥ निरु० ३ । १३ । (चित्रश्रवस्तमः) चित्रमद्भुतं श्रवः श्रवणं यस्य सोऽतिशयितः (देवः) स्वप्रकाशः प्रकाशकरो वा (देवेभिः) विद्वद्भिर्दिव्यगुणैः सह वा (आ) समन्तात् (गमत्) गच्छतु प्राप्तो भवति वा । लुङ्प्रयोगोऽडभावश्च ॥

भावार्थ — अत्र श्लेषालङ्कारः । अग्निशब्देन परमेश्वरस्य सर्वाधारसर्वज्ञसर्वरक्षक विनाशरहितानन्तशक्तिमत्त्वादिगुणैः सर्वप्रकाशकत्वात्, तथा भौतिकस्याकर्षण गुणादिभिर्मूर्तद्रव्याधारकत्वाच्च ग्रहणमस्तीति ।

हि० भावार्थ — इस मन्त्र में श्लेषालंकार है — सब का आधार, सर्वज्ञ, सब का रचनेवाला, विनाशरहित, अनन्त शक्तिमान् और सब का प्रकाशक आदि गुण हेतुओं के पाये जाने से अग्नि शब्द करके परमेश्वर और आकर्षणादि गुणों से मूर्तिमान् पदार्थों का धारण करनेहारादि गुणों के होने से भौतिक अग्नि का भी ग्रहण होता है । सिवाय इसके मनुष्यों को यह भी जानना उचित है कि विद्वानों के समागम और संसारी पदार्थों को उनके गुण



सहित विचारने से परमदयालु परमेश्वर अनन्त सुखदाता और भौतिक अग्नि शिल्पविद्या का सिद्ध करने वाला होता है।

**सायण-भाष्य -**

अयम् अग्निः देवः अन्यैर्देवैर्हविर्भोजिभिः सह आ गमत् अस्मिन् यज्ञे समागच्छतु। कीदृशोऽग्निः। होता होमनिष्पादकः। कविक्रतुः। कविशब्दोऽत्र क्रान्तवचनो न तु मेघाविनाम। क्रतुः प्रज्ञानस्य कर्मणो वा नाम। ततः क्रान्तप्रज्ञः क्रान्तकर्मा वा। सत्यः अनृतरहितः फलमवश्यं प्रयच्छतीत्यर्थः। चित्रश्रवस्तमः। श्रूयते इति श्रवो कीर्तिः अतिशयेन विविधकीर्तियुक्तः।। कविक्रतुः चित्रश्रवस्तमः इत्यत्रोभयत्र बहुव्रीहित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् (पा०सू० ६.२.१)। सत्सु साधुः सत्यः 'सत्यादशपथे' (पा०सू० ५.४.६६) इत्यत्रान्तोदात्तो हरदत्तेन निपातितः। लोडन्तस्य गच्छतु इति शब्दस्य छत्वाभावः। उकारलोपश्छान्दसः। ततो रूपं गमत् इति भवति। स्पष्टमन्यत्।।

**शब्दा० -** अग्निः = अग्निदेवता होता = देवताओं का आह्वान करने वाला, कविक्रतुः = अप्रतिहत किंवा सर्वक्रान्तप्रज्ञावाला, अर्थात् जिसकी प्रज्ञा सब कुछ जाननेवाली हो, सत्यः = सत्यस्वरूप, चित्रश्रवस्तमः = अतिशय रूप से अद्भुत कीर्ति-सम्पन्न, देवः = प्रकाशक, देवेभिः = देवताओं के साथ, आ गमत् = आवे।

**हि०अ० -** (देवताओं का) आह्वान करने वाला, सर्वक्रान्त प्रज्ञावाला, सत्यस्वरूप, अतिशय रूप से अद्भुत कीर्ति सम्पन्न तथा प्रकाशक अग्नि देवताओं के साथ (यहाँ यज्ञ में) आवे।  
**व्याकरण -**

**कविक्रतुः -** कविः क्रतुः यस्य स। बहुव्रीहि समास। अथवा कविश्चासौ क्रतुः। कर्मधारय समास।

**चित्रश्रवस्तमः -** श्रूयते इति श्रवः कीर्तिः। चित्रं श्रवः यस्य स चित्रश्रवः। तमप् प्रत्यय करके चित्रश्रवस्तमः।

**आगमत् -** आगच्छतु अर्थ में लोट् लकार में 'गम्' को छान्दस 'गच्छ' का प्रभाव। 'तु' के 'उ' का लोप।

**सत्यः -** सत्सु साधु अर्थ में निपातनात् निष्पन्न।

**विशेष -** मैक्डानल ने 'होता' का अर्थ 'आह्वान करने वाला' (invoker) और 'कविक्रतु' का अर्थ 'बुद्धि से युक्त बुद्धिमान्' (of wise intelligence) किया है।

मण्डल - १

सूक्त-१

मन्त्र-६

संहिता पाठ

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं कर्षिष्यसि।

तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः।।६।।



## पदपाठ —

यत् । अङ्ग । दाशुषे । त्वम् । अग्ने । भद्रम् । करिष्यसि । तव । इत् । तत् । सत्यम् । अङ्गिरः ।।  
अन्वय — (हे)अग्ने, दाशुषे यद् अङ्ग भद्रं करिष्यसि, (हे) अङ्गिरः, तत् तव इत् (इति एतत्) सत्यम् ।

## दयानन्द-भाष्य —

(यत्) यस्मात् (अङ्ग) सर्वमित्र (दाशुषे) सर्वस्वं दत्तवते (त्वम्) मङ्गलमयः (अग्ने) परमेश्वरं (भद्रम्) कल्याणं सर्वैः शिष्टैर्विद्वद्भिः सेवनीयम् । भद्रं भगेन व्याख्यातं भजनीयं भूतानामभिद्रवणीयं भवद्रमयतीति वा भाजनवद्वा । निरु० ४।१० । (करिष्यसि) करोषि । अत्र वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति लङ्र्थे लृट् । (तव) (इत्) एव (तत्) तस्मात् (सत्यम्) सत्सु पदार्थेषु सुखस्य विस्तारकं सत्प्रभवं सद्भिर्गुणैरुत्पन्नम् (अङ्गिरः) पृथिव्यादीनां ब्रह्माण्डस्याङ्गानां प्राणरूपेण शरीरावयवानां चान्तर्यामिरूपेण रसरूपोऽङ्गिरास्तत्संबुद्धौ । प्राणो वाऽअङ्गिराः । श०६।३।७।३ । देहऽङ्गारेष्वङ्गिरा अङ्गारा अङ्गना अञ्जनाः ।। निरु० ३।१७ । अत्राप्युत्तमानामङ्गानां मध्येऽन्तर्यामी प्राणाख्योऽर्थो गृह्यते ।।६।।

भावार्थः — यो न्यायकारी सर्वस्य सुहृत्सन् दयालुः कल्याणकर्त्ता सर्वस्य सुखमिच्छुः परमेश्वरोऽस्ति, तस्योपासनेन जीव ऐहिकपारमार्थिकं सुखं प्राप्नोति, नेतरस्य । कुतः? परमेश्वरस्यैवैतच्छीलवत्त्वेन समर्थत्वात् । योऽभिव्याप्याङ्गान्यङ्गीव सर्वं विश्वं धारयति, येनैवेदं जगद्रक्षितं यथावदवस्थापितं च सोऽङ्गिरा भवतीति ।

अत्राङ्गिरःशब्दार्थो विलसनाख्येन भ्रान्त्यान्यथैव व्याख्यात इति बोध्यम् ।।६।।

हि०भावार्थ — जो न्याय, दया, कल्याण और सब का मित्रभाव करने वाला परमेश्वर है, उसी की उपासना करके जीव इस लोक और मोक्ष के सुख को प्राप्त होता है । क्योंकि इस प्रकार सुख देने का स्वभाव और सामर्थ्य केवल परमेश्वर का है, दूसरे का नहीं, जैसे शरीरधारी अपने शरीर को धारण करता है वैसे ही परमेश्वर सब संसार को धारण करता है और इसी से यह संसार की यथावत् रक्षा और स्थिति होती है ।

## सायण-भाष्य —

अङ्ग इत्यभिमुखीकरणार्थो निपातः । अङ्ग अग्ने हे अग्ने त्वं दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय तत्प्रीत्यर्थं यत् भद्रं वित्तगृहप्रजापशुरुपं कल्याणं करिष्यसि तत् भद्रं तव इत् तवैव । सुखहेतुरिति शेषः । हे अङ्गिरः अग्ने एतश्च सत्यं न त्वत्र विसंवादोऽस्ति । यजमानस्य वित्तादिसंपत्तौ सत्यामुत्तरक्रत्वनुष्ठानेनाग्नेरेव सुखं भवति । भद्रशब्दार्थे शाट्यायनिनः समामनन्ति — 'यद्वै पुरुषस्य विप्तं तद्भद्रं गृहा भद्रं प्रजा भद्रं पशवो भद्रम्' इति ।। अङ्गशब्दस्य निपातत्वेऽपि अभ्यादित्वात् (फि०सू० ८१) अन्तोदात्तत्वम् । 'दाश्वान्साह्वान्' (पा०सू० ६.१.१२) इति सूत्रेण 'दाशृ दाने' इति धातोः कसुप्रत्ययो निपातितः । तत्र प्रत्ययस्वरः (पा०सू० ३.१.३) । आमन्त्रितस्य अग्निशब्दस्य पदात्परत्वेन आष्टमिकानुदात्तत्वं (पा०सू० ८.१.१९) न शङ्कनीयम्, '०अपादादौ' (पा०सू० ८.१.१८) इति पर्युदस्तत्वात् । ततः षाष्ठिकम् (पा०सू० ६.



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

१.१९८) आद्युदात्तत्वमेव । भद्रशब्दस्य नब्विषयत्वेन (फि०सू० २६) आद्युदात्तत्वप्रसक्तावपि 'भदि कल्याणे' इति धातोरुपरि रक्प्रत्ययेन निपातनादन्तोदात्तत्वम् । अस्मिन् वाक्ये यच्छब्दप्रयोगात् 'निपातैर्यद्यदिहन्त०' (पा०सू० ८.१.३०) इति निघाते प्रतिषिद्धे स्यप्रत्ययस्वरेण सति शिष्टेन करिष्यसिशब्द उपान्त्योदात्तः । तवेत्यत्र 'युष्मदस्मदोर्दसि' (पा०सू० ६.१.२११) इत्याद्युदात्तत्वम् । 'अङ्गिरा अङ्गाराः' (निरु० ३.१७) इति यास्कः । ऐतरेयिणोऽपि प्रजापतिदुहितृध्यानोपाख्याने समामनन्ति — 'येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्' (ऐ०ब्रा० ३. ३४) इति । तस्मात् अङ्गिरोनामकमुनिकारणत्वात् अङ्गारारूपस्याग्ने— रङ्गिरसस्त्वम् । अत्र पदात्परत्वेनाष्टमिकानुदात्तत्वम् ।।

शब्दा० — यत् = जो, अङ्ग = अभिमुख अर्थात् सम्मुख करने के अर्थ में प्रयुक्त निपात, दाशुषे = हविप्रदान करने वाले यजमान के लिये, त्वम् = तुम, अग्ने = हे अग्नि, भद्रम् = कल्याण या सुख, करिष्यसि = करोगे, तव = तुम्हारा, इत् = ही, तत् = वह, सत्यम् = यह सत्य है, अङ्गिरः = हे अङ्गिरस् नामक ऋषि के कारणभूत अग्नि, अथवा हे अङ्गारों में उत्पन्न होने वाले अग्नि ।

हि०अ० — हे अग्नि, (हवि) प्रदान करने वाले (यजमान) के लिये उसके सम्मुख तुम जो कुछ सुख (प्रदान) करोगे, हे अङ्गारों में उत्पन्न होने वाले अग्नि, वह (सब) तुम्हारा ही है, यह (बात) सत्य है ।

व्याकरण —

दाशुषे—'दाशु दाने' धातु से 'क्वसु' प्रत्यय । चतुर्थी विभक्ति का एकवचन ।

अङ्गिरः —गत्यर्थक 'अग्नि' धातु से औणादिक 'इरच्' प्रत्यय । 'अङ्गिरा अङ्गारा' इति यास्कः ।

विशेष —मैकडानल ने 'दाशुषे' का अर्थ पूजन करने वाले के लिए (for the worshiper) किया है ।

छन्द की पूर्ति के लिए द्वितीय पाद में 'त्वम्' को 'तुवम्' पढ़ना चाहिए ।

मण्डल —१

सूक्त—१

मन्त्र—७

संहिता पाठ

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।

नमो भरन्त एमसि ।।७।।

पदपाठ

उप । त्वा । अग्ने । दिवेऽदिवे । दोषाऽवस्तः । धिया । वयम् । नमः । भरन्तः । आ । इमसि ।।७।।

अन्वयः — (हे) दोषावस्तर् अग्ने, वयं धिया नमः भरन्तः दिवेदिवे उप त्वा आ इमसि ।

दयानन्द-भाष्य —

पदार्थ — (उप) सामीप्ये (त्वा) त्वाम् (अग्ने) सर्वोपास्येश्वर (दिवेदिवे) विज्ञानस्य



प्रकाशाय (दोषावस्तः) अहर्निशम् । दोषेति रात्रिनामसु पठितम् । निघ० १ । ७ रात्रेः प्रसंगाद्वस्त इति दिननामात्र ग्राह्यम् । (धिया) प्रज्ञया कर्मणा वा (वयम्) उपासकाः (नमः) नम्रीभावे (भरन्तः) धारयन्तः (आ) समन्तात् (इमसि) प्राप्नुमः । ॥ ७ ॥

**भावार्थ** — हे सर्वद्रष्टः सर्वव्यापिन्नुपासनाह ! वयं सर्वकर्मानुष्ठानेषु प्रतिक्षणं त्वां यतो नैव विस्मरामः, तस्मादस्माकमधर्ममनुष्ठातुमिच्छा कदाचिन्नैव भवति । कुतः? सर्वज्ञः सर्वसाक्षी भवान्सर्वाण्यस्मत्कार्याणि सर्वथा पश्यतीति ज्ञानात् । ॥ ७ ॥

**भावार्थ** — हे सब को देखने और सब में व्याप्त होने वाले उपासना के योग्य परमेश्वर! हम लोग सब कामों के करने में एक क्षण भी आप को नहीं भूलते, इसी से हम लोगों को अधर्म करने में कभी इच्छा भी नहीं होती, क्योंकि जो सर्वज्ञ सब का साक्षी परमेश्वर है, वह हमारे सब कामों को देखता है, इस निश्चय से । ॥ ७ ॥

**सायण—भाष्य** —

हे अग्ने वयम् अनुष्ठातारः दिवेदिवे प्रतिदिनं दोषवस्तः रात्रावहनि च धिया बुद्ध्या नमः भरन्तः नमस्कारं संपादयन्तः उप समीपे त्वा एमसि त्वामागच्छामः । । उपशब्दस्य निपातस्वरः (फि०सू० ८०) । 'त्वामौ द्वितीयायाः' (पा०सू० ८.१.२३) इति युष्मच्छब्दस्यानुदात्तस्त्वादेशः । दोषाशब्दो रात्रिवाचौ । वस्तर् इति अहर्वाची । द्वन्द्वसमासे कार्तकौजपादित्वात् (पा०सू० ६.२.३७) आद्युदात्तः । 'सावेकाचः०' (पा०सू० ६.१.१६८) इति धियो विभक्तिरुदात्ता । नम इति निपातः । भरन्त इत्यत्र शपः (पा०सू० ३.१.६८) पित्वात् शतुर्लसार्वधातुकत्वाच्च अनुदात्तत्वे सति (पा०सू० ६.१.१८६) धातुस्वरः शिष्यते । इमसि इत्यत्र 'इदन्तो मसिः' (पा०सू० ७.१.४६) इत्यादेशो निघातश्च ।

**शब्दा०** — उप = समीप, त्वा = तुम्हारे, अग्ने = हे अग्नि, दिवेदिवे = प्रतिदिन, दोषावस्तः = हे अन्धकार को दूर करने वाले, धिया = स्तुति, बुद्धि अथवा कर्म के अनुसार, वयम् = हमलोग, नमः = नमस्कार या स्तुति, भरन्तः = करते हुये, आ इमसि = आते हैं ।

**हि०अ०** — हे अन्धकार को दूर करनेवाले अग्नि, प्रतिदिन हमलोग (अपनी) बुद्धि के अनुसार (स्तुतिरूप) नमस्कार करते हुये तुम्हारे पास आते हैं ।

**व्याकरण** —

**दोषावस्तः** — दोषा च वस्तः च दोषावस्तम् । समाहार द्वन्द्व समास । दोषा = रात्रि । वस्तः = दिन ।

**भरन्तः** — भृ+शतृ = भरत् । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन ।

**इमसि** — 'इण् गतौ' धातु से लट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन 'इदन्तोमसि' से 'मस्' में इकार ।

**विशेष** — मैक्डोनल ने 'दोषावस्तः' को अग्नि का विशेषण मानकर सम्बोधन वाचक कहा है और इसका अर्थ किया है — Illuminer of gloom ।



मण्डल — १

सूक्त—१

मन्त्र-८

संहिता पाठ

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम् ।

वर्धमानं स्वे दमे ॥८॥

पदपाठ —

राजन्तम् । अध्वराणाम् । गोपाम् । ऋतस्य । दीदिविम् । वर्धमानम् । स्वे । दमे ॥

अन्वयः — राजन्तम् अध्वराणाम्, ऋतस्य गोपाम्, दीदिविम् स्वे दमे वर्धमानम् (उप त्वा आ इमसि) ।

दयानन्द-भाष्य —

(राजन्तम्) प्रकाशमानम् (अध्वराणाम्) पूर्वोक्तानां यज्ञानां धार्मिकाणां मनुष्याणां वा (गोपाम्) गाः पृथिव्यादीन् पाति रक्षति तम् (ऋतस्य) सत्यस्य सर्वविद्यायुक्तस्य वेदचतुष्टयस्य सनातनस्य जगत्कारणस्य वा । ऋतमिति सत्यनामसु पठितम् । निघं० ३।१० । ऋत् इति पदनामसु च । निघं० ५।४ । (दीदिविम्) सर्वप्रकाशकम् दिवो द्वे दीर्घश्चाभ्यासस्य । उ० ४।५५ । अनेन किञ्चनप्रत्ययः । (वर्धमानम्) हासरहितम् (स्वे) स्वकीये (दमे) दाम्पत्युपशाम्यन्ति दुःखानि यस्मिंस्तस्मिन् परमानन्दे पदे । दमुधातोः । हलश्च । अ०३।३।१२१ अनेनाधिकरणे घञ् प्रत्ययः ॥८॥

भावार्थ — परमात्मा स्वस्य सत्तायामानन्दे च क्षयाज्ञानरहितोऽन्तर्यामिरूपेण सर्वान् जीवान्सत्यमुपदिशन्नाप्तान् संसारं च रक्षन् सदैव वर्तते । एतस्योपासका वयमप्यानन्दिता वृद्धियुक्ता विज्ञानवन्तो भूत्वाऽभ्युदयनिःऽश्रेयसं प्राप्ताः सदैव वर्त्तामहे इति ॥८॥

भावार्थ — जैसे विनाश और अज्ञान आदि दोष रहित परमात्मा अपने अन्तर्यामी रूप से सब जीवों को सत्य का उपदेश तथा श्रेष्ठ विद्वान् और सब जगत् की रक्षा करता हुआ अपनी सत्ता और परम आनन्द में प्रवृत्त हो रहा है, वैसे ही परमेश्वर के उपासक भी आनन्दित, वृद्धियुक्त होकर विज्ञान में विहार करते हुए परम आनन्दरूप विशेष फलों को प्राप्त होते हैं ।

सायण-भाष्य —

पूर्वमन्त्रे त्वामुपैम इत्यग्निमुद्दिश्योक्तम् । कीदृशं त्वाम् । राजन्तं दीप्यमानम् अध्वराणां राक्षसकृतहिंसारहितानां यज्ञानां गोपां रक्षकम् ऋतस्य सत्यस्यावश्यं— भाविनः कर्मफलस्य दीदिविं पौनःपुन्येन भृशं वा द्योतकम् । आहुत्याधारमग्निं दृष्ट्वा शास्त्रप्रसिद्धं कर्मफलं स्मर्यते । स्वे दमे स्वकीयगृहे यज्ञशालायां हविर्भिः वर्धमानम् ॥ राजन्तं वर्धमानमित्यत्रोभयत्र पूर्ववत् धातुस्वरः शिष्यते । दीदिविशब्दस्य 'अभ्यस्तानामादिः' (पा०सू०६.१.१८९) इत्याद्यदात्तत्वम् । दमशब्दो वृषादित्वात् (पा०सू० ६.१.२०३) आद्युदात्तः ॥

शब्दा० — राजन्तम् = शासन करने वाले, अध्वराणाम् = हिंसा रहित यज्ञों के, गोपाम् = संरक्षक, ऋतस्य = शाश्वत नियम के, दीदिविम् = अत्यन्त प्रकाशमान, वर्धमानम् =



बढ़ने वाले, स्वे = अपने, दमे = घर, अर्थात् यज्ञशाला में।

हि०अ० — हिंसारहित यज्ञों के शासक, नियम के संरक्षक, अत्यन्त प्रकाशमान तथा अपने घर (यज्ञशाला) में (नित्य) बढ़नेवाले (अग्नि के पास हम प्रतिदिन आते हैं।)

व्याकरण —

दीदिविम् — यङ्लुगन्त 'दिक्' धातु से 'कि' प्रत्यय।

विशेष — मैक्डानल ने 'अध्वराणाम्' का सम्बन्ध 'राजन्तम्' के साथ करके 'यज्ञों पर शासन करने वाला' (ruling over sacrifices) अर्थ किया है। उसने 'ऋतस्य दीदिविम् गोपा' का अर्थ किया है—shining guardian of order.

मण्डल — १

सूक्त—१

मन्त्र—१

संहिता पाठ

स नः पितेव सूनवेऽग्नें सूपायनो भव।

सचंस्वा नः स्वस्तये ॥१॥

पदपाठ —

सः। नः। पिताऽइव। सूनवे। अग्नें। सुऽउपायनः। भव। सचंस्व। नः। स्वस्तये॥

अन्वयः — (हे) अग्ने, सः (त्वम्) सूनवे पिताइव नः सुऽउपायनः भव। (अग्ने) नः स्वस्तये सचस्व।

दयानन्द-भाष्य —

(सः) जगदीश्वरः (नः) अस्मभ्यम् (पितेव) जनकवत् (सूनवे) स्वसन्तानाय (अग्ने) ज्ञानस्वरूप (सूपायनः) सुष्ठु उपगतमयनं ज्ञानं सुखसाधनं पदार्थप्रापणं यस्मात्सः। (भव, सचस्व) समवेतान् कुरु। अन्येषामपि दृश्यते। अ०६।३।१३७ इति दीर्घः। (नः) अस्मान् (स्वस्तये) सुखाय कल्याणाय च॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः। सर्वैरेवं प्रयत्नः कर्तव्य ईश्वरः प्रार्थनीयश्च — हे भगवन् ! भवानस्मान् रक्षयित्वा शुभेषु गुणकर्मसु सदैव नियोजय। यथा पिता स्वसन्तानान्सम्यक् पालयित्वा सुशिक्षय शुभगुणकर्मयुक्तान् श्रेष्ठकर्मकर्तृश्च संपादयति, तथैव भवानपि स्वकृपयाऽस्मान्निष्पादयत्विति॥

प्रथमसूक्ते पञ्चभिर्मन्त्रैः श्लेषालङ्कारेण व्यवहारपरमार्थविद्याद्वयसाधनं प्रकाशितमेवं चतुर्भिर्मन्त्रैरीश्वरस्योपासना स्वभावश्चास्तीति। इदं सूक्तं सायणाचार्यादिभिर्यूरोपाख्य-देशनिवासिभिश्चान्यतथैव व्याख्यातम्।

भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालंकार है। सब मनुष्यों को उत्तम प्रयत्न और ईश्वर की प्रार्थना इस प्रकार करनी चाहिए कि — हे भगवन्! जैसे पिता अपने पुत्रों को अच्छी प्रकार पालन करके और उत्तम उत्तम शिक्षा देकर उनको शुभ गुण और श्रेष्ठ कर्म करने योग्य बना देता है, वैसे ही आप हम लोगों को शुभ गुण और शुभ कर्मों में युक्त सदैव कीजिये॥



## सायण-भाष्य -

हे अग्ने सः त्वं नः अस्मदर्थे सूपायनः शोभनप्राप्तियुक्तः भव । तथा नः अस्माकं स्वस्तये विनाशरहित्यार्थं सचस्व समवेतो भव । तत्रोभयत्र दृष्टान्तः । यथा सूनवे पुत्रार्थं पिता सुप्रापः प्रायेण समवेतो भवति तद्वत् ।। अस्मच्छब्दादेशस्य न इत्येतस्य 'अनुदात्तं सर्वम्' (पा०सू० ८.१.१८) इत्यनुदात्तत्वम् । 'चादयोऽनुदाताः' (फि०सू० ८४) इति इवशब्दोऽनुदात्तः । 'इवेन नित्यसमासः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च वक्तव्यम्' (पा०वा० २.४.७१) इति समस्तः पितेवेति शब्दो मध्योदात्तः । शोभममुपायनं यस्येति बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' (पा०सू० ६.२.१७२) इत्यन्तोदात्तत्वम् । सचस्वेत्यत्र पदात्परस्वं नास्तीति न निघातः । लसार्वधातुकानुदात्तत्वे सति धातुस्वरावशेषः ।।

शब्दा० - सः = पूर्वोक्त गुणों से युक्त वह अग्नि, नः = हमारे लिये, पिताऽइव = पिता के समान, सूनवे = पुत्र के लिये, अग्ने = हे अग्नि, सुऽउपायनः = अच्छी प्रकार से, अर्थात् आसानी से पहुँचने योग्य, भव = होवो, सचस्व = साथ होवो, नः = हमारे, स्वस्तये = कल्याण के लिये ।

हि०अ० - (पूर्वोक्त गुणसम्पन्न) वह (तुम) हे अग्नि, हमारे लिये आसानी से पहुँच के योग्य होवो, जिस प्रकार पिता (अपने) पुत्र के लिए होता है । (हे अग्नि) हमारे कल्याण के लिये (तुम) हमारे साथ होवो ।

## व्याकरण -

सूपायनः - शोभनः उपायनः यस्य स । सु+उप+इ(इण्)+ल्युट्(अन) ।

सचस्वा - 'षच्' धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन । 'ऋषि तू नू' से दीर्घ हुआ ।



## अग्निमारुत सूक्त

ऋषि—मेधातिथि

देवता—अग्निमरुतौ

छन्द—गायत्री

मण्डल १

सूक्त १९

मंत्र १

संहिता—पाठः

प्रति त्वं चारुमध्वरं गोपीथाय प्रहूयसे । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥

पद—पाठः

प्रति । त्वम् । चारुम् । अध्वरम् । गोऽपीथाय । प्र । हूयसे । मरुत्भिः । अग्ने । आ । गहि ॥१॥

अन्वय — अग्ने! त्वम् चारुम् अध्वरम् प्रति गोपीथाय प्रहूयसे । मरुद्भिः आगहि ।

दयानन्द—भाष्य

(प्रति) वीसायाम् (त्वम्) तम् (चारुम्) श्रेष्ठम् (अध्वरम्) यज्ञम् (गोपीथाय) पृथिवीन्द्रियादीनां रक्षणाय । निशीयगोपीथावगथाः । [उ० २ । १२ अनेनायं निपातितः । (प्र) प्रकृष्टार्थ (हूयसे) अध्वरसिद्धयर्थं शब्दते । अत्र व्यत्ययः । (मरुद्भिः) वायुविशेषैः सह (अग्ने) भौतिकः (आ) समन्तात् (गहि) गच्छति ॥ अत्र व्यत्ययो लङ् लोट् । बहुलं छन्दसि इति शपो लुक् च ॥१॥

भावार्थ — यो भौतिकोऽग्निः प्रसिद्धविद्युद्रूपेण वायुभ्यः प्रदीप्यते सोऽयं विद्वद्भिः प्रशस्तबुद्ध्या प्रतिक्रियासिद्धिं सर्वस्य रक्षणाय तद्गुणज्ञानपुरःसरमुपदेष्टव्यः श्रोतव्यश्चेति ॥१॥

हि०भावार्थ — जो यह भौतिक अग्नि प्रसिद्ध सूर्य्य और विद्युत् रूप करके पवनों के साथ प्रदीप्त होता है, वह विद्वानों को प्रशंसनीय बुद्धि से हर एक क्रिया की सिद्धि वा सबकी रक्षा के लिये गुणों के विज्ञानपूर्वक उपदेश करना व सुनना चाहिए ॥१॥

सायण—भाष्य

त्यच्छब्दः सर्वनामतच्छब्दपर्यायः । हे अग्ने यो यज्ञः चारुः अङ्गवैकल्यरहितः त्वं तथाविधं चारुमध्वरं प्रतिलभ्य गोपीथाय सोमपानाय प्रहूयसे प्रकर्षेण त्वं हूयसे । तस्मादस्मिन्मध्वरे त्वं मरुद्भिः सह देवविशेषैः सह आ गहि आगच्छ ।

शब्दार्थ — त्वम् = उस प्रसिद्ध । चारुम् = सब अङ्गों से पूर्ण सुन्दर । अध्वरम् = हिंसा से रहित यज्ञ । गोपीथाय = सोमपान करने के लिए । प्रहूयसे = बुलाये गये हो । आगहि = आइये ।

हिन्दी व्याख्या — हे अग्नि देवता ! तुमको उस प्रसिद्ध सब अङ्गों से पूर्ण सुन्दर यज्ञ में सोमपान करने के लिए बार-बार बुलाया गया है । इसलिए हे, अग्निदेव ! आप मरुत् नामक देवताओं के साथ आइये ।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

### व्याकरण —

त्यम् — 'त्यम्' सर्वनाम शब्द है और 'तत्' का पर्यायवाची है। द्वितीय विभक्ति का एकवचन।

चारुम् — चर् धातु से "दृसनिजनिचरीत्यादि०" (१-३) उणादि सूत्र से वुण प्रत्यय। चर्+उ = चारु।

अध्वरम् — ध्वृ हिंसायाम्+अप् = ध्वर। न ध्वरः यत्र स = न + ध्वर = अध्वर।

हूयसे — हु धातु (कर्मवाच्य), लट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

गोपीथाय — गो+पा धातु से "निशीथगोपीथावगथा०" (२-९) सूत्र से थक् प्रत्यय = गोपीथ। चतुर्थी विभक्ति का एकवचन = गोपीथाय।

आगहि — आ+गम् धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन (सि को हि आदेश, म् का लोप)।

विशेष — सायण और यास्क ने गोपीथ का अर्थ सोमपान किया है, परन्तु मैक्समूलर ने इसका अर्थ 'दूध का घूंट' (a draught of milk) किया है। पीटरसन ने भी इसी अर्थ को लिया है। रॉथ के 'सेन्टपीटर्सवर्ग कोष' में गोपीथ के दो अर्थ हैं — रक्षा तथा दूध का घूंट।

### मण्डल १

### सूक्त १९

### मंत्र २

### संहिता-पाठः

न॒हि दे॒वो न म॒र्त्यो म॒हस्तव॒ क्रतुं॑ प॒रः। म॒रुद्भि॑र॒ग्ने आ गे॑हि॥

### पद-पाठः

न॒हि। दे॒वः। न। म॒र्त्यः। म॒हः। तव॑। क्रतुं॑म्। प॒रः। म॒रुत्भिः॑। अ॒ग्ने। आ गे॑हि॥२॥

अन्वय — अग्ने ! मह तव क्रतुम् न हि देवः न मर्त्यः परः। मरुद्भिः आगहि।

### दयानन्द-भाष्य

(नहि) प्रतिषेधार्थे (देवः) विद्वान् (न) निषेधार्थे (मर्त्यः) अविद्वान् मनुष्यः (महः) महिमा (तव) परमात्मनस्तस्याग्नेर्वा (क्रतुम्) कर्म (परः) प्रकृष्टगुणः (मरुद्भिः) गणैः सह (अग्ने) विज्ञानस्वरूपेश्वर भौतिकस्य वा (आ) समन्तात् (गहि) गच्छ गच्छति वा। अत्र बहुलं छन्दसि इति शपो लुक्। अनुदात्तोपदेश० इत्यनुनासिकलोपः॥२॥

भावार्थ — नैव परमेश्वरस्य सर्वोत्तमस्य महिम्नः कर्मणश्चानन्तत्वात् कश्चिदेतस्यान्तं गन्तुं शक्नोति, किन्तु यावद्यौ यस्य बुद्धिविधे तावन्तं समाधियोगयुक्तेन प्राणायामेनान्तर्यामिरूपेण स्थितं सृष्ट्यां भौतिकं च मरुतं स्वस्वरूपगुणा यावन्तः प्रकाशितास्तावन्त एव ते वेदितुमर्हन्ति नाधिकं चेति॥२॥



## अग्निमारुत सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-१९ )

**हि०भावार्थ** — परमेश्वर की सर्वोत्तमता से उत्तम महिमा वा कर्म अपार है, इससे उनका पार कोई नहीं पा सकता, किन्तु जितनी जिसकी बुद्धि वा विद्या है, उसके अनुसार समाधियोगयुक्त प्राणायाम से जो कि अन्तर्यामीरूप करके वेद और संसार में परमेश्वर ने अपनी रचना स्वरूप वा गुण वा जितने अग्नि आदि पदार्थ प्रकाशित किये हैं, उतने ही जान सकता है, अधिक नहीं ॥२॥

### सायण—भाष्य

हे अग्ने ! महो महतस्तव सम्बन्धिनं ऋतुं कर्मविशेषमुल्लङ्घ्य परो नहि उत्कृष्टो देवो न भवति खलु । तथा मर्त्यो मनुष्यश्च परो न भवति । ये मनुष्यास्त्वदीयं क्रतुमनुतिष्ठन्ति ये च देवास्त्वदीये क्रताविज्यन्ते त एव उत्कृष्टा इत्यर्थः । मरुद्भिरित्यादि पूर्ववत् ।

**शब्दार्थ** — मर्त्यः = मनुष्य । महः = महान् । तव = तुम्हें । ऋतुम् = यज्ञ, कर्मविशेष । नहि परः = उत्कृष्ट नहीं है अर्थात् उल्लंघन नहीं कर सकता ।

**हिन्दी व्याख्या** — हे अग्निदेवता ! महान् महिमाशाली तुम्हारे यज्ञ को या कर्मविशेष को न तो देवता ही और न मनुष्य ही उल्लंघन कर सकते हैं । आप मरुत देवताओं के साथ आइये ।

### व्याकरण —

**देवः** — दिव्+अच् = देव । इस शब्द के चित् होने से यहाँ 'पचाद्यजन्तश्चित्त्वात्' नियम से अन्तोदात्त हुआ ।

**महः** — 'महतः' अर्थ है । षष्ठी विभक्ति का एकवचन । वेद में 'त' का लोप होकर महः ।

**क्रतुः** — कृत् धातु से 'कृजः कतुः' (१-७८) उणादि सूत्र से कतु प्रत्यय कृ+कतु (अतु) = क्रतुः ।

**मर्त्यः** — मृत्युना आक्रान्तः । मृत्यु शब्द से निपातनात् मर्त्य ।

**परः** — पर+अस् = परस् = परः । परस्तात् के अर्थ में अव्यय ।

**विशेष** — 'क्रत' शब्द का अर्थ सायण ने यज्ञ या कर्म विशेष किया है । पीटर्सन ने 'क्रतु' का अर्थ 'शक्ति' किया है, अर्थात् कोई देवता या मनुष्य तुम्हारी शक्ति का उल्लंघन नहीं कर सकता । 'क्रतु' शब्द ग्रीक भाषा के 'क्रतोस्' (Kratos) के समान है, जो शक्ति वाचक है । अतः 'क्रतु' का अर्थ 'शक्ति' होना चाहिये और 'परः' को इसका उपसर्ग मानना चाहिये ।

इस मन्त्र में 'मर्त्यः' का उच्चारण 'मर्तियः' होगा । मन्त्र के प्रथम पा में ७ मात्रायें हैं, जबकि गायत्री छन्द में ८ मात्रायें होनी चाहियें । 'मर्तियः' उच्चारण करने पर ८ मात्रायें पूरी हो जाती हैं ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

मण्डल १

सूक्त १९

मंत्र ३

संहिता-पाठः

ये महो रजसो विदुर्विश्वे देवासो अद्रुहः । मरुद्भिरग्ने आ गहि ।।

पद-पाठः

ये । महः । रजसः । विदुः । विश्वे । देवासः । अद्रुहः । मरुत्भिः । अग्ने । आ । गहि ।।३।।

अन्वय — अग्ने ! ये महः रजसः विदुः विश्वे देवासः अद्रुहः । मरुद्भिः आगहि ।

दयानन्द-भाष्य

(ये) मनुष्याः (महः) महसः । अत्र सुपां सुलुग्ं इति शसो लुक् । (रजसः) लोकान् । यास्कमुनी रजःशब्दमेवं व्याख्यातवान् — रजो रजतेज्योती रज उच्यते उदकं रज उच्यते । लोका रजांस्युच्यन्तेऽसृगहनी रजसी उच्येते । निरु० ४ । १९ । (विदुः) जानन्ति (विश्वे) सर्वे (देवासः) विद्वांसः । अत्र आज्ञसेरसुग्ं इत्यसुगागमः (अद्रुहः) द्रोहरहिताः (मरुद्भिः) वायुभिः सह (अग्ने) स्वयंप्रकाश सर्वलोक प्रकाशकोऽग्निर्वा (आ) समन्तात् (गहि) गच्छ गच्छति वा ।।३।।

भावार्थ — ये विद्वांसोऽग्निनाकृष्य प्रकाश्य मरुद्भिश्चेष्टयित्वा धारिता लोकाः सन्ति तान् सर्वान् विदित्वा कार्येषूपयोक्तुं जानन्ति ते सुखिनो भवन्तीति ।।३।।

हि० भावार्थ — जो विद्वान् लोग अग्नि से आकर्षण वा प्रकाश करके तथा पवनों से चेष्टा करके धारण किये हुए लोक हैं, उनको जानकर उनसे कार्यों में उपयोग लेने को जानते हैं, वे ही अत्यन्त सुखी होते हैं ।।३।।

सायण-भाष्य

हे अग्ने ! ये मरुतो महो रजसो महत उदकस्य वर्षणप्रकारं विदुः तैर्मरुद्भिर्भरित्यन्वयः । कीदृशा मरुतः । विश्वे सर्वे सप्तविधगणोपेताः । सप्तगणा वै मरुत इति श्रुतेः । देवासः द्योतमानाः । अद्रुहः द्रोहरहिताः वर्षणेन सर्वभूतोपकारित्वात् ।

शब्दार्थ — महः = महान् । रजसः = जल, जल बरसाने का ढंग । देवासः = प्रकाशमान । अद्रुहः = द्रोह न करने वाले ।

हिन्दी व्याख्या — हे अग्नि देवता ! जो मरुत् गण महान् जल के बरसाने के ढंग को जानते हैं, वे सब प्रकाशमान और द्रोह से रहित हैं । आप उन मरुतों के साथ आइये ।

व्याकरण —

रजसः — रञ्ज्+असुन् = रजस् । षष्ठी का एकवचन ।

विदुः — विद् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।

विश्वे — 'विश्' धातु से 'क्वन्' प्रत्यय = विश्व । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन ।

अद्रुहः — 'द्रुह' धातु, क्विप् प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति बहुवचन द्रुहः । न+द्रुहः =

अद्रुहः ।



## अग्निमारुत सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-१९ )

देवासः — देव शब्द, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन । वेद में देवाः और देवासः दोनों रूप बनते हैं ।

विशेष — 'ये महो रजसो विदुः' का अर्थ पीटर्सन ने किया है — जो महान् आकाश को जानते हैं अथवा जो महान् आकाश में रहते हैं । यास्क ने 'रजस्' शब्द का अर्थ 'जल' और 'अन्तरिक्ष' दोनों किये हैं — रजो रजतेज्योती रज उच्यते उदकं रज उच्यते लोका रजांस्युच्यन्ते सृगहनी रजसी उच्येते इति (निरुक्त ४-१९) मैक्समूलर के अनुसार मरुतों का स्थान अन्तरिक्ष है । 'अद्रुहः' का अर्थ पीटर्सन ने किया है — जो लाभदायक है, दयालु है और किसी को हानि नहीं पहुँचाते ।

मण्डल १

सूक्त १९

मंत्र ४

संहिता-पाठः

ये उग्रा अर्कमानृचुरनाधृष्टास ओजसा । मरुदिभरग्न आ गहि ।।

पद-पाठः

ये उग्राः । अर्कम् । आनृचुः । अनाधृष्टासः । ओजसा । मरुत्भिः । अग्ने । आ । गहि ।।४।।

अन्वय — अग्ने ! ये उग्राः अर्कम् आनृचुः ओजसा अनाधृष्टासः, मरुद्भिः आगहि ।

दयानन्द-भाष्य

(ये) वायवः (उग्राः) तीव्रवेगादिगुणाः (अर्कम्) सूर्यादिलोकम् (आनृचुः) स्तावयन्ति तद्गुणान् प्रकाशयन्ति । अपस्पृधेथामानृच० । अ० ६ । १ । ३६ अनेनार्वधातोर्लिट्यसि सम्प्रसारणमकारलोपश्च निपातितः । (अनाधृष्टाः) धर्षितुं निवारयितुमनर्हाः (ओजसा) बलादिगुणसमूहेन सह वर्तमानाः (मरुद्भिः) एतैर्वायुभिः सह (अग्ने) विद्युत् प्रसिद्धो वा (आ) समन्तात् (गहि) प्राप्नोति ।।४।।

भावार्थ — यावद्वलं वर्तते तावद्वायुविद्युद्भ्यां जायते, इमे वायवः सर्वलोकधारकाः सन्ति तद्योगेन विद्युत्सूर्यादयः प्रकाश्य ध्रियन्ते तस्माद्वायुगुणज्ञानोपकार- ग्रहणाभ्यां बहूनि कार्याणि सिध्यन्तीति ।।४।।

हि०भावार्थ — जितना बल वर्तमान है, उतना वायु और विद्युत् के प्रकाश से उत्पन्न होता है, ये वायु सब लोकों के धारण करने वाले हैं, इनके संयोग से बिजुली वा सूर्य आदि लोक प्रकाशित होते तथा धारण भी किये जाते हैं, इससे वायु के गुणों का जानना वा उनसे उपकार ग्रहण करने से अनेक प्रकार के कार्य सिद्ध होते हैं ।।४।।

सायण-भाष्य

ये मरुत उग्रास्तीव्राः सन्तः अर्कम् उदकम् आनृचुः अर्चितवन्तः वर्षणेन सम्पादितवन्त इत्यर्थः । तैर्मरुदिभरित्यन्वयः । कीदृशाः मरुतः । ओजसा बलेन अनाधृष्टासः अतिरस्कृताः सर्वेभ्योऽपि प्रबला इत्यर्थः ।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

शब्दार्थ — उग्रा = उग्र, प्रचण्ड। अर्कम् = जल को। आनृचुः = उत्पन्न करते हैं। अनाधृष्टासः = तिरस्कृत नहीं होते। ओजसा = बल से।

हिन्दी व्याख्या — हे अग्निदेवता ! जो मरुत् गण उग्र होकर जल को वर्षा के द्वारा उत्पन्न करते हैं और बल से किसी से तिरस्कृत नहीं होते, आप उन मरुतों के साथ आइये।

### व्याकरण —

उग्राः — उत् उपसर्ग पूर्वक 'गृ निगरणे' धातु से या गुरी उद्यमने' धातु से निपातनात् उग्र शब्द बनता है।

अर्कम् — अर्क् + क = अर्क (जल)

आनृचुः — ऋच् धातु, लिट्, लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन। यह वेद का रूप है। लोक में आनृचुः रूप बनेगा।

अनाधृष्टासः — न + धृष् + क्त = अधृष्ट प्रथमा विभक्ति बहुवचन।

विशेष — सायण ने 'अर्क' शब्द का अर्थ 'जल' किया है। इसमें शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण है — आपो वा अर्कः (१०-६-५१)। इसकी व्युत्पत्ति है — "अर्चतो वै मे कमभूत् इति तदेवा कस्यार्कत्वम्"। सायण का अनुकरण करते हुए विल्सन ने भी 'अर्कमानृचुः' का अर्थ किया है — जो नीचे वर्षा को भेजते हैं। परन्तु पीटर्सन ने 'अर्क' का अर्थ 'गान' (Song) किया है। इस प्रकार 'अर्कमानृचुः' का अर्थ है — जो अपना गान गाते हैं। आँधियों का शब्द ही उनका गान है।

मण्डल १

सूक्त १९

मंत्र ५

संहिता-पाठः

ये शुभ्राः घोरवर्षसः सुक्षत्रासोः रिशादसः। मरुद्भिर्गन् आ गंहि॥

पद-पाठः

ये। शुभ्राः। घोरवर्षसः। सुक्षत्रासः। रिशादसः॥ मरुद्भिः। अग्ने। आ। गहि॥५॥

अन्वय — अग्ने । ये शुभ्राः घोरवर्षसः सुक्षत्रासः रिशादसः, मरुद्भिः आगहि।

दयानन्द-भाष्य

(ये) वायवः (शुभ्राः) स्वगुणैः शोभामानाः (घोरवर्षसः) घोरं हननशीलं वर्षा रूपं स्वरूपं येषां ते। वर्ष इति रूपनामसु पठितम्। निघं० ३।७। (सुक्षत्रासः) शोभनं क्षत्रमन्तरिक्षस्थं राज्यं येषां ते (रिशादसः) रिशा रोगा अदसोऽत्तारो यैस्ते (मरुद्भिः) प्राप्तिहेतुभिः सह। मरुत् इति पदनामसु पठितम्। निघं० ५।५ अनेनात्र प्राप्त्यर्थो गृह्यते। (अग्ने) भौतिकः (आ) आभिमुख्ये (गहि) प्रापयति ॥५॥

भावार्थ — ये यज्ञेन शोधिता वायवः सुराज्यकारिणो भूत्वा रोगान् घ्नन्ति ये चाशुद्धास्ते सुखानि नाशयन्ति, तस्मात्सर्वैर्मनुष्यैरग्निना वायोः शोधनेन सुखानि संसाधनीयानीति।



## अग्निमारुत सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-१९ )

हि०भावार्थ — जो यज्ञ के धूम से शोधे हुए पवन हैं, वे अच्छे राज्य के कराने वाले होकर रोग आदि दोषों का नाश करते हैं और जो अशुद्ध अर्थात् दुर्गन्ध आदि दोषों से भरे हुए हैं, वे सुखों का नाश करते हैं, इस से मनुष्यों को चाहिये कि अग्नि में होम द्वारा वायु की शुद्धि से अनेक प्रकार के सुखों को सिद्ध करें। ॥५॥

### सायण—भाष्य

ये मरुतः शुभ्रत्वादिगुणोपेतास्तैर्मरुदिभरित्यन्वयः। शुभ्राः = शोभमानाः। घोरवर्षसः = उग्ररूपधराः। सुक्षत्रासः = शोभनधनोपेताः। रिशादसः = हिंसकानां भक्षकाः। मघमित्यादिष्वष्टाविंशतिसंख्याकेषु घननामसु 'क्षत्रम् भगः' इति पठितम्।

शब्दार्थ — शुभ्राः = शोभित होते हैं। घोरवर्षसः = भयानक रूप धारण करने वाले। सुक्षत्रासः = शोभन धन वाले। रिशादसः = हिंसकों के विनाशक।

हिन्दी व्याख्या — हे अग्निदेवता ! जो मरुत् गण शोभित होते हैं, भयानक रूप धारण करने वाले हैं, शोभन धन वाले हैं और हिंसकों के विनाशक हैं, आप उन मरुतों के साथ आइये।

### व्याकरण —

शुभ्राः — शोभन्ते अर्थ में 'शुभ्र' धातु से "स्फायिताञ्चि०" सूत्र से उणादि रक् प्रत्यय।

घोरवर्षसः — घोरं वर्षः येषां ते — बहुव्रीहि समास। वृज् वरणे धातु से 'वृज्+असुन् (अस्) (पुक् का आगम) =वर्षस्।

सुक्षत्रासः — शोभनं क्षत्रं येषां ते।

रिशादसः — रिशन्ति हिंसन्ति इति रिशाः। तानदन्तिती इति रिशादसः। यहाँ "सर्वधातुभ्योऽसुन्" सूत्र से 'असुन्' प्रत्यय।

विशेष — सायण ने 'क्षत्र' शब्द का अर्थ 'धन' किया है। निघण्टु में 'धन' के पर्यायवाची २८ शब्द हैं, 'जिनमें' 'क्षत्र' भी है। 'क्षत्र' का अर्थ 'बल' भी है, जैसा कि सायण ने ऋग्वेद के १.२५.५ मन्त्र के अर्थ में किया है। पीटर्सन ने 'क्षत्र' का अर्थ 'राज्य' किया है — जो सुव्यवस्थित राज्य का शासन करते हैं। सेन्टपीटर्सवर्ग कोष में 'रिशादस्' का अर्थ अविदित कहा गया है। यास्क ने रिशादस का सन्धिविच्छेद किया है रिश+अदस्। रिश का अर्थ है — टुकड़े— टुकड़े करके फाड़ देने वाला।

मण्डल १

सूक्त १९

मंत्र ६

संहिता—पाठः

ये नाकस्याधिरोचने दिवि देवास आसन्ते। मरुदिभरग्न आ गहि।

पद—पाठः

ये नाकस्य। अधि। रोचने। दिवि। देवासः। आसन्ते। मरुत्भिः। अग्ने। आ। गहि॥



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

अन्वय — अग्ने ! ये नाकस्य अधि रोचने दिवि देवासः आसते, मरुद्भिः आगहि ।

### दयानन्द-भाष्य

(ये) पृथिव्यादयो लोकाः (नाकस्य) सुखहेतोः सूर्य्यलोकस्य (अधि) उपरिभागे (रोचने) रुचिनिमित्तं (दिवि) द्योतनात्मके सूर्य्यप्रकाशे (देवासः) दिव्यगुणाः पृथिवीचन्द्रादयः प्रकाशिताः (आसते) सन्ति (मरुद्भिः) दिव्यगुणैर्देवैः सह (अग्ने) अग्निः प्रसिद्धः (आ) समन्तात् (गहि) सुखानि गमयति ॥६॥

भावार्थ — सर्वे लोका ईश्वरस्यैव प्रकाशिताः सन्ति परन्तु तद्रचितस्य सूर्य्यलोकस्य दीप्त्या पृथिवीचन्द्रादयो लोका दीप्यन्ते तैर्दिव्यगुणैः सह वर्तमानोऽयमग्निः सर्वकार्येषु योजनीय इति ॥६॥

हि० भावार्थ — सब लोक परमेश्वर के प्रकाश से प्रकाशवान् हैं, परन्तु उसके रचे हुए सूर्य्यलोक की दीप्ति अर्थात् प्रकाश से पृथिवी और चन्द्रलोक प्रकाशित होते हैं, उन अच्छे अच्छे गुणवालों के साथ रहने वाले अग्नि को सब कार्य्यों में संयुक्त करना चाहिए ॥६॥

### सायण-भाष्य

ये मरुतो नाकस्याधि दुःखरहितस्य सूर्य्यस्योपरि दिवि द्यु लोके रोचने दीप्यमाने ये देवासः स्वयमपि दीप्यमाना आसते । तैर्मरुदिभरित्यन्वयः ।

शब्दार्थ — नाकस्य = दुःख से रहित सूर्य्य लोक के । अधि = ऊपर । रोचने = प्रकाशमान् । दिवि = द्युलोक में । देवासः = दीप्तिमान् । आसते = स्थित रहते हैं ।

हिन्दी व्याख्या — हे अग्निदेवता ! जो मरुत् गण दुःखरहित सूर्य्य लोक के ऊपर प्रकाशमान् द्युलोक में दीप्तिमान् होते हुये स्थित रहते हैं, आप उन मरुतों के साथ आइये ।

### व्याकरण —

नाकस्य — कं सुखम् । न सुखं यस्मिन् तत् अकम् । न+अकम् = नाकम् । जहाँ दुःख नहीं होता उसे नाक कहते हैं । षष्ठी विभक्ति का एकवचन ।

अधि — यह उपसर्ग नहीं हैं, अपितु, उपसर्ग प्रतिरूपक निपात है, जिसका अर्थ है — ऊपर ।

रोचने — 'रुच् दीप्तौ' धातु से "अनुदात्तेतश्च हलादेः" सूत्र से 'युच्' प्रत्यय । रुच्+युच् (अन्) = रोचन ।

दिवि — दिव्+क्विप् । सप्तमी का एकवचन ।

विशेष — पीटर्सन ने 'नाकस्य अधि रोचने' का अर्थ किया है — on the shining arch of the heaven । इसका अभिप्राय है कि देवगण सूर्य्य द्वारा प्रकाशित स्थानों पर निवास करते हैं ।



मण्डल १

सूक्त १९

मंत्र ७

संहिता-पाठः

य ईङ्खयन्ति पर्वतान् तिरः समुद्रमर्णवम् । मरुदिभरग्न आ गहि ।

पद-पाठः

ये ईङ्खयन्ति । पर्वतान् । तिरः । समुद्रम् । अर्णवम् । मरुत्ऽभिः । अग्ने । आ । गहि । ॥७॥

अन्वय — अग्ने । ये पर्वतान् ईङ्खयन्ति अर्णवम् समुद्रम् तिरः, मरुद्भिः आगहि ।

दयानन्द-भाष्य

(ये) वायवः (ईङ्खयन्ति) छेदयन्ति निपातयन्ति (पर्वतान्) मेघान् । पर्वत इति मेघनामसु पठितम् । निघं० १।१० । (तिरः) तिरस्करणे (समुद्रम्) सम्यगुद्भवन्त्यापो यस्मिन् तदन्तरिक्षम् । समुद्र इत्यन्तरिक्षनामसु पठितम् । निघं० १।३ । (अर्णवम्) पृथिवीस्थं सागरम् (मरुद्भिः) उपर्यधोगमनशीलैर्वायुभिः (अग्ने) अग्निर्विद्युदाख्यः (आ) अभितः (मरुद्भिः) उपर्यधोगमनशीलैर्वायुभिः (अग्ने) अग्निर्विद्युदाख्यः (आ) अभितः (गहि) प्राप्नोति । अत्र व्यत्ययो लङर्थे लोट् च ॥७॥

हि०भावार्थ — वायुयोगेनैव वृष्टिर्भवति जलं रेणवश्चोपरि गत्वाऽऽगच्छन्ति तैः सह तन्निमित्तेन वा विद्युदुत्पद्य गृह्यते ॥७॥

हि०भावार्थ — वायु के संयोग से ही वर्षा होती है और जल के कण वा रेणु अर्थात् सब पदार्थों के अत्यन्त छोटे छोटे कण पृथिवी से अन्तरिक्ष को जाते तथा वहां से पृथिवी को आते हैं, उनके साथ वा उनके निमित्त से बिजुली उत्पन्न होती और बादलों में छिप जाती है ॥७॥

सायण-भाष्य

ये मरुतः पर्वतान् मेघानीङ्खयन्ति चालयन्ति । तथा अर्णवम् उदकयुक्तं समुद्रं तिरः कुर्वन्तीति शेषः । निश्चलस्य जलस्य तरङ्गाद्योत्पत्तये चालनं तिरस्कारः तैर्मरुद्भिरित्यन्वयः ।

शब्दार्थ — ईङ्खयन्ति = संचालित करते हैं । पर्वतान् = मेघों को । तिरः = तिरस्कृत करना । समुद्रम् = समुद्र । अर्णवम् = जल से भरा हुआ ।

हिन्दी व्याख्या — हे अग्नि देवता ! जो मरुत् गण मेघों को संचालित करते हैं और प्रचुर जल से सम्पन्न समुद्र को तिरस्कृत करते हैं, अर्थात् उनमें लहरों को उठाते हैं, आप उन मरुतों के साथ आइये ।

व्याकरण —

ईङ्खयन्ति — णिजन्त 'ईखि' धातु से लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।

पर्वतान् — 'पर्व' शब्द से पूरण अर्थ में 'त' प्रत्यय ।

समुद्रम् — सम् 'पूर्वक' 'उन्दी क्लेदने' धातु से "स्फायितञ्चि०" सूत्र से रक् प्रत्यय ।

सम्+उन्द्+रक् = समुद्र ।



अर्णवम् — अर्णासि यस्य सन्ति अर्थ में अर्णस् + व = अर्णव । (स् का लोप)

तिरस् — यह एक सम्बन्ध वाचक अव्यय है तथा इसका कर्म समुद्र है ।

विशेष — सायण ने इस मन्त्र में 'पर्वत' का अर्थ 'मेघ' किया है । मैक्समूलर सायण के इस अर्थ से सहमत है । पीटर्सन का कहना है कि इस पर्वत शब्द से कवि का अभिप्राय है — पर्वतों के समान समुद्र की ऊँची लहरें ।

'समुद्रम् अर्णवम्' में सायण ने अर्णव को विशेषण और समुद्र को विशेष्य कहा है । 'अर्णव' का अर्थ होगा — जल से युक्त । लौकिक संस्कृत में 'अर्णव' शब्द संज्ञावाची हो गया है और इसका अर्थ 'समुद्र' है । रॉथ ने 'समुद्र' का अर्थ अन्तरिक्ष किया है । इस प्रकार इसका अर्थ होता है — आकाशीय समुद्र (Waters that are above the sky) ।

मण्डल १

सूक्त १९

मंत्र ८

संहिता-पाठः

आ ये तन्वन्ति रश्मिभिस्तिरः समुद्रमोजंसा ।

मरुद्भिर्गन् आ गहि ।।

पद-पाठः

आ । ये । तन्वन्ति । रश्मिभिः । तिरः । समुद्रम् । ओजंसा । मरुत्भिः । अग्ने । आ । गहि ।।८।।

अन्वय — अग्ने ये रश्मिभिः आतन्वन्ति ओजसा समुद्रम् तिरः मरुद्भिः आगहि ।

दयानन्द-भाष्य

(आ) अनुगतार्थे क्रियायोगे (ये) वायवः (तन्वन्ति) विस्तारयन्ति (रश्मिभिः) सूर्यकिरणैः सह (तिरः) तिरस्करणे (समुद्रम्) अन्तरिक्षं जलमयं वा (ओजसा) बलेन वेगेन वा (मरुद्भिः) तैर्धनंजयाख्यैः सूक्ष्मैः सह (अग्ने) अग्निः (आ) सर्वतः (गहि) प्राप्नोति । अत्र व्यत्ययो लङर्थे लोट् च ।।८।।

भावार्थ — एतेषां वायूनां प्राप्त्या सर्वे पदार्था वधित्वा बलहेतवो भवन्ति तस्मान्मनुष्यैर्वाय्वग्नियोगेनानेका कार्यसिद्धिर्विभावनीयेति ।।८।।

हि०भावार्थ — इस पवनों की व्याप्ति से सब पदार्थ बढ़कर बल देने वाले होते हैं, इससे मनुष्यों को वायु और अग्नि के योग से अनेक प्रकार कार्यो की सिद्धि करनी चाहिए ।।८।।

सायण-भाष्य

ये मरुतो रश्मिभिः सूर्यकिरणैः सह आ तन्वन्ति आप्नुवन्ति । आकाशमिति शेषः । किं च ओजसा स्वकीयबलेन समुद्रं तिरस्कुर्वन्ति । तैर्मरुद्भिरित्यन्वयः ।

शब्दार्थ — तन्वन्ति = व्याप्त करते हैं । रश्मिभिः = सूर्य की किरणों से ।

हिन्दी व्याख्या — हे अग्नि देवता ! जो मरुत् गण सूर्य की किरणों के साथ



आकाश को व्याप्त कर लेते हैं और अपने बल से समुद्र को तिरस्कृत करते हैं, उन मरुतों के साथ आप आइये।

**व्याकरण —**

- तन्वन्ति** — 'तनु विस्तारे' धातु से लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।  
**आ तन्वन्ति** — सामान्यतः लौकिक संस्कृत में उपसर्ग और क्रिया के बीच में अन्य किसी शब्द का व्यवधान नहीं होता, परन्तु वैदिक भाषा में इस प्रकार के व्यवधान देखे जाते हैं। व्यवहिताश्च' (१.४.८१) यह पाणिनीय सूत्र इस नियम को दिखाता है।

**विशेष —** 'समुद्रम्' आदि शब्दों की विशेषता पूर्व मन्त्र के समान यहाँ भी समझनी चाहिए।

मण्डल १

सूक्त १९

मंत्र ९

**संहिता-पाठः**

अभि त्वां पर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधुं। मरुदिभरग्न आ गहि॥

**पद-पाठः**

अभि। त्वा। पर्वऽपीतये। सृजामिं। सोम्यम्। मधुं। मरुत्ऽभिः। अग्ने। आ। गहि॥

**अन्वय —** अग्ने ! पूर्वपीतये त्वा सोम्यम् मधु अभिसृजामि, मरुद्भिः आगहि।

**दयानन्द-भाष्य**

(अभि) अभिमुख्ये (त्वा) तत् (पूर्वपीतये) पूर्व पीतिः पानं सुखभोगो यस्मिन् तस्मा आनन्दाय (सृजामि) रचयामि (सोम्यम्) सोमं प्रसवं सुखानां समूहो रसादानमर्हति तत्। अत्र सोममर्हति यः। अ० ४।४। १३८ अनेन यः प्रत्ययः। (मधु) मन्यन्ते प्राप्नुवन्ति सुखानि येन तत् मधुरसुखकारकम् (मरुद्भिः) अनेकविधैर्निमित्तैर्वायुभिः (अग्ने) अग्निर्व्यावहारिकः (आ) अभितः (गहि) साधको भवति॥

**भावार्थ —** विद्वांसो येषां वाय्वग्न्यादिपदार्थानां सकाशात् सर्वं शिल्पक्रियामयं यज्ञं निर्मियते तैरेव सर्वैर्मनुष्यैः सर्वाणि कार्याणि साधनीयानीति॥१॥

**हि०भावार्थ —** विद्वान् लोग जिन वायु अग्नि आदि पदार्थों के अनुयोग से सब शिल्पक्रियारूपी यज्ञ को सिद्ध करते हैं, उन्हीं पदार्थों से सब मनुष्यों को सब कार्य सिद्ध करने चाहिए॥१॥

**सायण-भाष्य**

हे अग्ने ! पूर्वपीतये पूर्वकाले प्रवृत्ताय पानाय त्वां प्रति सोम्यं मधु सीमसम्बन्धिनं मधुरसं अभिसृजामि सर्वतः सम्पादयामि। अतस्त्वं मरुद्भिः सह अत्र आगच्छ।

**शब्दार्थ —** अभि = अभिमुख। पूर्वपीतये = सबसे पहले पान करने के लिए, भोजन से पहले पीने के लिए। सृजामि = प्रस्तुत कर रहा हूँ। सोम्यम् = सोम सम्बन्धी। मधु = मधुर रस।



हिन्दी व्याख्या — हे अग्निदेव ! पूर्वकाल में पीने के लिए प्रवृत्त हुए अथवा सब देवताओं में सबसे पहले पान करने के लिए अथवा भोजन से पूर्व पीने के लिए तुम्हारे लिए मैं सोम सम्बन्धी मधुर रस को अर्थात् सोमरस को प्रस्तुत कर रहा हूँ। आप मरुतों के साथ आइये।

व्याकरण —

पूर्वपीतये — पूर्वाचासौ पीतिः पूर्वपीतिः तस्यै। पा+क्तिन्=पीति।

सौम्यम् — सोम शब्द से सोमम् अर्हति, अर्थ में 'अर्हति' सूत्र से यत् प्रत्यय होकर — सोम+य=सौम्य।

मधु — 'मनु अवबोधने' धातु "फलिपाटिनमि०" (उणादि सूत्र १.१६) सूत्र से 'उ' प्रत्यय होकर 'न' को 'ध' होकर मधु।

सृजामि — सृज् धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन।

विशेष — यहाँ गायत्री छन्द है। परन्तु दूसरे पाद में सात वर्ण हैं। अतः छन्दपूर्ति के लिए "सौम्यम्" को "सोमियम्" इस प्रकार उच्चारण करना चाहिये।



## वरुण—सूक्त

ऋषि— शुनःशेष आजीगर्तिः

देवता—वरुणः

छन्दः—गायत्री

मण्डल १

सूक्त २५

मंत्र १

संहिता—पाठः

यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम् ।

मिनीमसि द्यवि द्यवि ॥

पद—पाठः

यत् । चित् । हि । ते । विशः । यथा । प्र । देव । वरुण । व्रतम् । मिनीमसि ।  
 द्यविं द्यवि ॥ १ ॥

अन्वय — वरुण देव ! यथा विशः ते व्रतम् यत् चित् हि द्यविद्यवि प्रमिनीमसि ।

दयानन्द—भाष्य

(यत्) स्पष्टार्थः (चित्) अपि (हि) कदाचिदर्थे (ते) तव (विशः) प्रजाः (यथा) येन प्रकारेण (प्र) क्रियायोगे (देव) सुखप्रद (वरुण) सर्वोत्कृष्ट जगदीश्वर (व्रतम्) सत्याचरणम् (मिनीमसि) हिंस्मः । अत्र इदन्तो मसि इति मसेरिदागमः । (द्यविद्यवि) प्रतिदिनम् । अत्र वीप्सायां द्विर्वचनम् । द्यविद्यवीयत्यहर्नामसु पठितम् । निघं० १।९।१॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कार । हे भगवन् यथा पित्रादयो विद्वांसो राजानश्च क्षुद्राणां बालबुद्धीनामुन्मत्तानां वा बालकानामुपरि करुणां न्यायशिक्षां च विदधति तथैव भवानपि प्रतिदिनमस्माकं न्यायाधीशः करुणाकरः शिक्षको भवत्विति ॥ १ ॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है । हे भगवन् जगदीश्वर ! जैसे पिता आदि विद्वान् और राजा छोटे छोटे अल्पबुद्धि उन्मत्त बालकों पर करुणा न्याय और शिक्षा करते हैं, वैसे ही आप भी प्रतिदिन हमारे न्याय करुणा और शिक्षा करने वाले हैं ॥ १ ॥

सायण—भाष्य

हे वरुण ! यथा लोके विशः प्रजाः कदाचित् प्रमादं कुर्वन्ति तथा वयमपि ते तब सम्बन्धि यच्चिद्धि यदेव किञ्चिद् व्रतं कर्म द्यविद्यवि प्रतिदिनं प्रमिनीमसि प्रमादेन हिंसितवन्तः । तदपि व्रतं प्रमादपरिहारेण साङ्गं कुर्विति शेषः ।

शब्दार्थ — यत् चित् = जो कुछ । विशः = प्रजाजन व्रतम् = नियम को । द्यविद्यवि = प्रतिदिन । मिनीमसि = प्रमाद से उल्लंघन करते हैं ।

हिन्दी व्याख्या — हे वरुण देव ! जिस प्रकार संसार में प्रजाजन कभी प्रमाद करते हैं, उसी प्रकार हम भी आपके नियमों का जो कुछ भी प्रतिदिन प्रमाद से उल्लंघन करते हैं, हमारे प्रभावों का परिमार्जन करके उन नियमों को पूर्ण बनाइये ।

व्याकरण —

वरुण — वृणोति सर्वाणि कार्याणि अर्थ में वृ+उनन् = वरुण ।



विशः — विश् शब्द, प्रथमा का एकवचन।

मिनीमसि — 'मीञ् हिंसायाम्' धातु से लट् लकार उत्तम पुरुष, बहुवचन। मी+श्ना+मसि। "मीनातेर्निगमे" (७.३.८१) सूत्र से भी को ह्रस्व और "ई हल्यघोः" सूत्र से 'श्ना' के 'आ' को 'ई'। वैदिक भाषा में 'मसि' भी लगता है जबकि लोक में केवल 'मस्' लगता है।

द्यविद्यवि — दिवस वाचक 'द्यो' शब्द का सप्तमी का एकवचन = द्यवि। वीप्सा में द्वित्व। दिनेदिने।

विशेष — सायण ने 'तदपि व्रतं प्रमादपरिहारेण साङ्गं कुरु' इस प्रकार अध्याहार करके अर्थ को पूरा किया है। उन्होंने 'यत्' को 'व्रतम्' का विशेषण मान कर अर्थ के अपूर्ण रह जाने से उसकी पूर्णता कही है। परन्तु पीटर्सन ने 'यत्' का अर्थ यद्यपि करके इसका अन्वय दूसरे मन्त्र से कर दिया है। उनके अनुसार इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होना चाहिये —

हे वरुण देव । यद्यपि हम आपके नियमों का प्रतिदिन उल्लंघन करते हैं, क्योंकि हम मनुष्य हैं।

मण्डल १

सूक्त २५

मंत्र २

संहिता-पाठः

मा नो वधाय हत्नवें जिहीळानस्य रीरधः ।

मा हृणानस्य मन्यवें ॥

पद-पाठः

मा । नः । वधाय । हत्नवें । जिहीळानस्ये । रीरधः । मा । हृणानस्य । मन्यवें ॥२॥

अन्वय — जिहीळानस्य हत्नवे वधाय नः मा रीरधः । हृणानस्य मन्यवे मा ।

दयानन्द-भाष्य

(मा) निषेधार्थे (नः) अस्मान् (वधाय) हननाय (हत्नवे) हननकरणाय । अत्र कृहनिभ्यां वत्रः । उ० ३ ।२१। अनेन हनधातौः क्लुः प्रत्ययः । (जिहीळनस्य) अज्ञानादस्माकमनादरं कृतवतो जनस्य । अत्र पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् । इत्यकारस्येकारः । (रीरधः) संराधय । अत्र 'रध' हिंसासंराध्योरस्माणिजन्ताल्लोडर्थे लुङ् । (मा) निषेधे (हृणानस्य) लज्जितस्योपरि (मन्यवे) क्रोधाय । अत्र यजिमनि० इति युच् प्रत्ययः ॥२॥

भावार्थ — ईश्वर उपदिशति हे मनुष्या यूयं बलबुद्धिभिरज्ञानादपराधे कृते हननाय प्रवर्तध्वं कश्चिदपराधं कृत्वा लज्जां कुर्यात्तस्योपरि क्रोधं मा निपातयतेति ॥२॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालंकार है। हे भगवन् जगदीश्वर ! जैसे रथ के स्वामी का भृत्य घोड़े को चारों ओर से बांधता है वैसे ही हम लोग आपका जो वेदोक्त ज्ञान है उसको अपनी बुद्धि के अनुसार मन में दृढ़ करते हैं ॥३॥



## सायण—भाष्य

हे वरुण ! जिहीडानस्यानादरं कृतवतो हत्नवे हन्तुः पापहननशीलस्य तव सम्बन्धिने त्वकर्तृकाय वधाय न अस्मान् मा रीरधः संसिद्धान् विषयभूतान् मा कुरु, हृणानस्य हृणीयमानस्य क्रुद्धस्य तव मन्यवे क्रोधाय मा अस्मान् रीरधः ।

शब्दार्थ — मा = मत । वधाय = वध के लिये हत्नवे = नाश करने वाले । जिहीडानस्य = अनादर या अपमान करने वाले का । रीरधः = वध का विषय बनाओ । हृणानस्य = कुपित होते हुए का । मन्यवे = क्रोध का पात्र ।

हिन्दी व्याख्या — हे वरुण देव ! उपेक्षा, अनादर या अपमान करने वाले का विनाश करने वाले तुम्हारे द्वारा किये जाने वाले वध के लिये हम यजमानों को वध का विषय मत बनाइये और कुपित होते हुए आप हमें अपने क्रोध का विषय मत बनाइये ।

## व्याकरण —

वधाय — हन् + अप् = वध । चतुर्थी विभक्ति का एकवचन = वधाय ।

हत्नवे — हन् + क्तु (धातु के न् को निपातन से त्) = हन्तु । चतुर्थी विभक्ति एकवचन = हत्नवे ।

जिहीडानस्य — हेळ् + कानच् (लिट् लकार में, द्वित्व आदि क्रियायें होकर जिहीडान । षष्ठी विभक्ति का एकवचन । दो स्वरों के बीच में आने पर प्रातिशाख्य के नियमों के अनुसार 'ङ्' को 'ड' हो जाता है । अतः 'जिहीडानस्य' को 'जिहीडानस्य' हुआ ।

रीरधः — णिजन्त 'राध् संसिद्धौ' धातु से लुङ् लकार, मध्यमपुरुष, एकवचन ।

हृणानस्य — 'हृणीङ् रोषणे लज्जायां च' धातु से 'शानच्' प्रत्यय = हृणान ।

विशेष — पीटर्सन के मत से 'हृणानस्य' और 'जिहीडानस्य' दोनों विशेषण भूलोकवासी या द्युलोकवासी शत्रुओं के हैं और 'हृणानस्य' का अर्थ 'रुष्ट' है ।

मण्डल १

सूक्त २५

मंत्र ३

## संहिता—पाठः

वि मृ॒ळी॒काय॑ ते॒ मनो॑ र॒थीर॑श्वं न सन्दि॑तम् । गी॒र्भिर्व॑रुण सीमहि ॥

## पद—पाठः

वि । मृ॒ळी॒काय॑ । ते॒ । मनः॑ । र॒थीः । अ॒श्वम् । न । सं॒म॒दि॒तम् । गीः॑ । ऽभिः । वरु॒ण । सीम॒हि ॥३॥

अन्वय — रथीः अश्वम् संदितम् न ते मनः मूळीकाय गीर्भिः वि सीमहि ।

## दयानन्द—भाष्य

(वि) क्रियार्थे (मृळीकाय) उत्तमसुखाय अत्र मृडः कीकच्छङ्कणौ । उ० ४।२५ । अनेन कीकच्छत्ययः । (ते) तव (मनः) ज्ञानम् (रथीः) रथस्वामी अत्र वा छन्दसि सर्वे विधयो



भवन्ति इति सोर्लोपो न। (अश्वम्) रथवोढारं वाजिनम् (न) इव (संदितम्) सम्यग्वलावखण्डितम् (गीर्भिः) संस्कृताभिर्वाणीभिः (वरुण) जगदीश्वर (सीमहि) हृदये प्रेम वा कारागृहे चोरादिकं बन्धयामः। अत्र बहुलं छन्दसि इति शनोर्लुक् वर्णव्यत्ययेन दीर्घश्च॥३॥

**भावार्थ** — अत्रोपमालङ्कारः। हे भगवन् यथा रथपतेर्भृत्योऽश्वं सर्वतोवध्नाति तथैव वयं तव वेदस्थं विज्ञानं हृदये निश्चलीकुर्मः॥३॥

**हि०भावार्थ** — इस मन्त्र में उपमालंकार है। हे भगवन् जगदीश्वर जैसे रथ के स्वामी का भृत्य घोड़े को चारों ओर से बांधता है, वैसे ही हम लोग आपका जो वेदोक्त ज्ञान है, उसको अपनी बुद्धि के अनुसार मन में दृढ़ करते हैं।

### सायण-भाष्य

हे वरुण ! मृळीकाय अस्मत्सुखाय ते तव मनो गीर्भिः स्तुतिभिः विसीमहि विशेषेण बध्नीमः प्रसादयाम इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः। रथीः रथ-स्वामी संदितं सम्यक् खण्डितं दूरगमनेन श्रान्तमश्वं न अश्वमिव ! यथा स्वामी श्रान्तमश्वं घासप्रदानादिना प्रसादयति तद्वत्।

**शब्दार्थ** — मृळीकाय = सुख प्राप्त करने के लिए। रथीः = रथ का स्वामी, रथ का चलाने वाला। संदितम् = दूर जाने से थके हुए। गीर्भिः = स्तुतियों द्वारा। वि सीमहि = प्रसन्न करते हैं।

**हिन्दी व्याख्या** — हे वरुण देव ! जिस प्रकार रथ का स्वामी या रथ चलाने वाला दूर गमन से थके हुए घोड़े को घास आदि देकर प्रसन्न करता है, उसी प्रकार हम तुम्हारे मन को सुख प्राप्त करने के लिए स्तुतियों द्वारा प्रसन्न करते हैं

### व्याकरण —

**रथीः** — रथ' शब्द से मतुप् अर्थ में वैदिक 'ई' प्रत्यय।

**संदितम्** — सम् उपसर्ग पूर्वक 'दो अवखण्डने' धातु से 'क्त' प्रत्यय।

**विसीमहि** — वि 'उपसर्ग पूर्वक षिञ् बन्धने' अथवा 'षिवु सन्ताने' धातु से लट् लकार, उत्तमपुरुष, बहुवचन।

**विशेष** — पीटर्सन के अनुसार सायण का अर्थ नितान्त अशुद्ध है। उन्होंने 'विसीमहि' का अर्थ (क्रोध के) बन्धन से मुक्त करना किया है। पीटर्सन के अनुसार 'संदितम्' का अर्थ 'बंधा हुआ' है। पीटर्सन ने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है — वरुण के कानों तक उसकी स्तुति पहुंचेगी और जैसे यात्री चलते समय घोड़े की अघाड़ी और पिछाड़ी खोल देता है, वैसे ही वरुण मेरे भूत और वर्तमान के अपराधों को क्षमा कर, दया के लिए अपने मन को क्रोध के बन्धन से मुक्त कर देगा।



## वरुण सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-२५ )

मण्डल १

सूक्त २५

मंत्र ४

संहिता—पाठः

परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्यइष्टये ।

वयो न वसतीरुप ।

पद—पाठः

परा । हि । मे । विमन्यवः । पतन्ति । वस्यःइष्टये । वयः । न । वसतीः । उप । ॥४॥

अन्वय — मे विमन्यवः वस्यः इष्टये हि परापतन्ति । वयः न वसतीः उप ।

दयानन्द—भाष्य

(परा) उपरिभावे । प्रपरेत्येतस्य प्रलोम्यं प्राह । निरु० १।३ । (हि) खलु (मे) मम (विमन्यवः) विविधो मन्युर्येषां ते (पतन्ति) पतन्तु गच्छन्तु । अत्र लोट् लट् । (वस्यइष्टये) वसीयत इष्टये संगतये । अत्र वसुशब्दान्मतुप् ततोऽतिशय ईयसुनि । विन्मतोर्लुक् । अ० ५।३ । ६५ । इति मतोर्लुक् । टेः । अ० ६।४।१५५ । इति टेलोपस्ततश्छान्दसोवर्णलोपो वा इतीकारस्य लोपश्च । (वयः) पक्षिणः (न) इव (वसतीः) बसन्ति यासु ता विहाय (उप) सामीप्ये ॥४॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः । यथा ताडिताः पक्षिणो दूरं गत्वा वसन्ति तथैव क्रोधयुक्ताः प्राणिनो मत्तो दूरे वसन्त्वहमपि तेभ्यो दूरे वसेयम् । यस्मादस्माकं स्वभावविपर्यासो धनहानिश्च कदाचिन्न स्यातामिति ॥४॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है । जैसे उड़ाये हुए पक्षी दूर जाके बसते हैं, वैसे ही क्रोधी जीव मुझ से दूर बसें और मैं भी उनसे दूर बसूं, जिससे हमारा उलटा स्वभाव और धन की हानि कभी न होवे ॥४॥

सायण—भाष्य

हे वरुण ! मे मम शुनःशेषस्य विमन्यवः क्रोधरहिताः बुद्धयो वस्यइष्टये वसीयसोऽतिशयेन वसुमतो जीवनस्य प्राप्तये परा पतन्ति पराङ्मुखाः पुनरावृत्तिरहिताः प्रसरन्ति । हि शब्देऽस्मिन्नर्थे सर्वजनप्रसिद्धिमाह । मरापतने दृष्टान्तः । वयो न । पक्षिणो यथा वरातीर्निवासस्थानान्युप सामीप्येन प्राप्नुवन्ति तद्वत् ।

शब्दार्थ — मे = मेरी । विमन्यवः = क्रोधरहित बुद्धियाँ । परा पतन्ति = फैलती है । दस्यः = धन से युक्त जीवन की । इष्टये = प्राप्ति के लिए । वयः = पक्षी । वसतीः = निवास स्थान । उप = ओर, समीप ।

हिन्दी व्याख्या — मेरी क्रोधरहित बुद्धियाँ अत्यधिक धन से युक्त जीवन की प्राप्ति के लिए निश्चय से पराङ्मुख होकर उसी प्रकार प्रसरण करती हैं या फैलती हैं, अर्थात् जब वरुण के प्रति भक्ति का उदय होता है तो जीवन में सुखमय सम्पत्तियाँ रहती हैं, पक्षी जिस प्रकार सांयकाल होने पर अपने निवास स्थानों की ओर दौड़ते हैं ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****व्याकरण —**

विमन्यवः — विगतः मन्युः याभ्यः ताः ।

वस्यः — 'वसुमत्' शब्द से 'ईयसुन्' प्रत्यय । मतुप् का, वसु के उ का और ईयसुन् के ई का लोप होकर वस्य ।

इष्टये — इष् + क्तिन् = इष्टि । चतुर्थी विभक्ति का एकवचन ।

वसतीः — वस् + अति = वसति । द्वितीया का बहुवचन = वसतीः ।

विशेष — 'विमन्यवः' का अर्थ सायण ने 'क्रोधरहित बुद्धियाँ' किया है । परन्तु रॉथ के अनुसार इसका अर्थ है — इच्छायें (longings desires) । आसमान ने 'वस्यस्' का अर्थ किया है — सर्वोच्च सम्पत्ति (highest good fortune) ।

मण्डल १

सूक्त २५

मंत्र ५

संहिता-पाठः

कदा क्षत्रश्रियं नरमा वरुणं करामहे । मृळीकायोरुचक्षंसम् ॥

पद-पाठः

कदा । क्षत्रश्रियम् । नरम् । आ । वरुणम् । करामहे । मृळीकायं । उरुचक्षंसम् ॥ ५ ॥

अन्वय — क्षत्रश्रियम् उरुचक्षंसम् नरम् वरुणम् मृळीकाय कदा आकारामहे ।

दयानन्द-भाष्य

(कदा) कस्मिन्काले (क्षत्रश्रियम्) चक्रवर्तिराजलक्ष्मीम् (नरम्) नयनकर्तारम् (आ) समन्तात् (वरुणं) परमेश्वरम् (करामहे) कुर्याम (मृळीकाय) सुखाय (उरुचक्षंसम्) बहुविधं वेदद्वारा चक्षुःआख्यानं यस्य तम् ॥ ५ ॥

भावार्थ — मनुष्यैः परमेश्वराज्ञां यथावत्पालयित्वा सर्वसुखं चक्रवर्तिराज्यं न्यायेन सदा सेवनीयमिति ॥ ५ ॥

हि०भावार्थ — मनुष्यों को परमेश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन करके सब सुख और चक्रवर्ति राज्य न्याय के साथ सदा सेवन करने चाहियें ॥ ५ ॥

सायण-भाष्य

मृळीकाय अस्मत्सुखाय वरुणं कदा कस्मिन् काले आ करामहे अस्मिन् कर्मण्यागतं करवाम । कीदृशम् । क्षत्रश्रियं बलसेविनं नरं नेतारम् उरुचक्षंसं बहूनां द्रष्टारम् ।

शब्दार्थ — कदा = कब । क्षत्रश्रियम् = शासकीय शक्ति से शोभायमान । नरम् = सबका नेतृत्व करने वाला । आ करामहे = बुलावेगें । उरुचक्षंसम् = सबको देखने वाले, त्रिकालदर्शी ।

हिन्दी व्याख्या — शासकीय शक्ति से शोभायमान होने वाले, संसार में सबको देखने वाले या त्रिकालदर्शी और सबका नेतृत्व करने वाले वरुण देवता को हम सुख को प्राप्त करने के लिए कब बुलावेगें अर्थात् उनके आगमन से कब हमारे कर्मों की पूर्णता



## वरुण सूक्त (मण्डल-१, सूक्त-२५)

होगी और हमें सुख मिलेगा।

व्याकरण —

क्षत्रश्रियम् — क्षत्राणि श्रयति अथवा क्षत्रेण श्रीः यस्मै तम्।

क्षत्रम् — क्षद्+त्र = क्षत्र। अथवा — क्षि+अत्रन्। टि का लोप = क्षत्र।

श्रीः — श्रि + क्विप्। दीर्घ होकर = श्री।

नरम् — 'नृ नये' धातु से "ऋदोरप्" सूत्र से 'अप्' प्रत्यय।

करामहे — 'कृ' धातु, लट् लंकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन। यहाँ व्यत्यय से 'उ' के स्थान पर 'शप्' हुआ है।

मृडीकाय — 'मृड् सुखने' धातु से 'ईकम्' प्रत्यय।

उरुचक्षसम् — उरु चक्षः यस्य तम् अथवा उरु चष्टे तम्।

विशेष — मैक्समूलर और पीटर्सन के अनुसार क्षत्रश्रियम् का अर्थ है — योद्धाओं को जीतने वाला (who is victory to warriors)।

मण्डल १

सूक्त २५

मंत्र ६

संहिता-पाठः

तदित्समानमाशाते वेनन्ता न प्र युच्छतः। धृतव्रताय दाशुषे॥

पद-पाठः

तत्। इत्। समानम्। आशाते। इत्ति। वेनन्ता। न। प्र। युच्छतः। धृतव्रताय। दाशुषे॥६॥

अन्वय — वेनन्तौता समानम् तत् इत् आशाते। धृतव्रताय दाशुषे न प्रयुच्छतः।

दयानन्द-भाष्य

(तत्) हुतं हविः। विमानादिरचनविधानं वा (इत्) एव (समानम्) तुल्यम् (आशाते) व्याप्नुतः (वेनन्ता) वादित्रवादकौ। अत्र 'वेनृ' धातोर्वादित्राद्यर्थो गृह्यते। सुपां सुलुग इत्याकारादेशश्च। (न) इव। निरुक्तकारनियमेन परः प्रयुज्यमानो नकारउपमार्थं भवतीति हेतोः सायणाचार्य्यस्य निषेधार्थव्याख्यानमशुद्धमेव। (प्र) प्रकृष्टार्थे (युच्छतः) हर्षं कुरुतः (धृतव्रतार्य) धृतं धारितं व्रतं सत्यभाषणादिकं क्रियामयं वा येन तस्मै (दाशुषे) दानकर्त्रे॥६॥

भावार्थ — अत्रौपमालङ्कारः। यथा हर्षवन्तौ वादित्रवादनकुशलौ वादित्राणि गृहीत्वा चालयित्वा शब्दयत स्तथैव साधितं धृतविद्येन मनुष्येण हुतं हविर्विमानादियानं च कलायन्त्रेषु यथावत् प्रयोजितौ वायुसूर्य्यौ धृत्वा चालयित्वा शब्दयतः॥६॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। जैसे अति हर्ष करने वाले बाजे बजाने में अति कुशल दो पुरुष बाजों को लेकर चलाकर बजाते हैं, वैसे ही सिद्ध किये विद्या के धारण करने वाले मनुष्य से होमे हुए पदार्थों को सूर्य और वायु चालन करके धारण करते हैं॥६॥



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****सायण-भाष्य**

धृतव्रताय अनुष्ठितकर्मणे दाषुशे हविर्दत्तवते यजमानाय वेनन्तौ कामयमानौ। मित्रावरुणाविति शेषः तावुभौ समानं साधारणं तदिद् आत्माभिर्दत्तं तदेव हविराशाते अश्नुवाते।

**शब्दार्थ** – तत् इत् = उस ही को। **समानम्** = समान रूप से। **आशाते** = प्राप्त करते हैं। **वेनन्तौ** = शुभ कामना करते हुये। **युच्छतः** = प्रमाद नहीं करते हैं। **धृतव्रताय** = व्रत को धारण करने वाले, अनुष्ठान का पालन करने वाले। **दाशुषे** = हवि प्रदान करने वाले।

**हिन्दी व्याख्या** – शुभ कामना करते हुए मित्र और वरुण समान रूप से एक सी ही उस ही हवि को प्राप्त करते हैं। व्रत को धारण करने वाले अथवा अनुष्ठान का पालन करने वाले और हवि प्रदान करने वाले यजमान के कल्याण के प्रति कभी प्रमाद नहीं करते।

**व्याकरण –**

**आशाते** – ‘अशू व्याप्तौ’ धातु से लट् लकार, प्रथम पुरुष, द्विवचन।

**वेनन्ता** – ‘वेन्’ धातु से ‘शतृ’ प्रत्यय करके प्रथमा विभक्ति, द्विवचन = वेनन्तौ। वेद में द्विवचन के ‘औ’ को ‘आ’ हो जाता है। जैसे – द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया।

**दाशुषे** – दाशृ दाने धातु से ‘क्वसु’ प्रत्यय = दाश्वस्। चतुर्थी विभक्ति का एकवचन।

**धृतव्रताय** – धृतं व्रतं येन तस्मै। बहुव्रीहि समास। धृ+क्त=धृत।

**विशेष** – वेद में भक्त के लिए ‘धृतव्रत’ पद का प्रयोग यहीं हुआ है, जिसका अर्थ है – अनुष्ठानों का पालन करने वाला (A man who obeys the law)। यद्यपि इस सूक्त का देवता वरुण है, तथापि द्विवचन होने से वरुण के साथ मित्र को ग्रहण किया जाता है, क्योंकि वैदिक सूक्तों में मित्र और वरुण का साहचर्य प्रायः मिलता है। ‘दाशुषे’ में ‘क्वसु’ प्रत्यय होने पर भी द्वित्व नहीं हुआ।

**मण्डल १****सूक्त २५****मंत्र ७****संहिता-पाठः**

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेदं नावः समुद्रियः॥

**पद-पाठः**

वेदं। यः। वीनाम्। पदम्। अन्तरिक्षेण। पतताम्। वेदं। नावः। समुद्रियः॥७॥

**अन्वय** – यः अन्तरिक्षेण पतताम् वीनाम् पदम् वेद। समुद्रियः नावः वेद।

**दयानन्द-भाष्य**

(वेद) जानाति। द्व्यचोतस्तिड। इति दीर्घः। (यः) विद्वान् मनुष्यः (वीनाम्) विमानानां सर्वलोकानां पक्षिणां वा (पदम्) पदनीयं गन्तव्यमार्गम् (अन्तरिक्षेण) आकाशमार्गेण। अत्र



## वरुण सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-२५ )

अपवर्गे तृतीया । अ०२ ।३ ।६ । इति तृतीया विभक्तिः । (पतताम्) गच्छताम् (वेद) जानाति (नावः) नौकायाः (समुद्रियः) समुद्रेऽन्तरिक्षे जलमये वा भवः । अत्र समुद्राभ्राद् घः प्रत्ययः । ॥७॥

**भावार्थ** — या ईश्वरेण वेदेष्वन्तरिक्षभूसमुद्रेषु गमनाय यानानां विद्या— उपदिष्टाः सन्ति ताः साधितुं यः पूर्णविद्याशिक्षाहस्तक्रियाकौशलेषु विचक्षण इच्छति स एवैतत्कार्यकरणे समर्थो भवतीति । ॥७॥

**हि०भावार्थ** — जो ईश्वर ने वेदों में अन्तरिक्ष भू और समुद्र में जाने आने वाले यानों की विद्या का उपदेश किया है, उन को सिद्ध करने को जो पूर्ण विद्या शिक्षा और हस्तक्रियाओं के कलाकौशल में कुशल मनुष्य होता है, वही बनाने में समर्थ हो सकता है । ॥७॥

### सायण—भाष्य

अन्तरिक्षेण पततामाकाशमार्गेण गच्छतां वीनां पक्षिणां पदं यो वरुणो वेद । तथा समुद्रियः समुद्रेऽवस्थितो वरुणो नावो जले गच्छन्त्याः पदं वेद जानाति सोऽस्मान्बन्धनामोचयत्विति शेषः ।

**शब्दार्थ** — वेद = जानता है । वीनाम् = पक्षियों के । अन्तरिक्षेण = आकाश मार्ग से । पतताम् = उड़ने वाले । नावः = नौका के । समुद्रियः = समुद्र में अधिष्ठित वरुण देवता ।

**हिन्दी व्याख्या** — जो वरुण देवता आकाश मार्ग से उड़ने वाले पक्षियों के स्थान को या मार्ग को जानते हैं और समुद्र में अधिष्ठित जो वरुण देवता समुद्र मार्ग से जाने वाली नाव के मार्ग को जानता है । वह हमें बन्धन से छुडावे ।

### व्याकरण —

**अन्तरिक्षेण** — 'अन्तः ऋक्षाणि यत्र' अथवा 'अन्तः ईक्ष्यते' इति अन्तरिक्षम् ।

**पतताम्** — पत् + शतृ = पतत् । षष्ठी का बहुवचन ।

**समुद्रियः** — 'समुद्रे भवः' अर्थ में 'समुद्राभ्राद् घः' सूत्र से 'घ' प्रत्यय । 'घ' को 'इय' आदेशं होकर समुद्रिय ।

**विशेष** — सायण के अनुसार 'नावः' पद में षष्ठी विभक्ति का एकवचन है और इसमें 'पदम्' का अध्याहार किया जाता है । परन्तु रॉथ, कोलब्रुक और ग्रासमान ने 'नावः' को कर्म मानकर इसमें द्वितीया विभक्ति का बहुवचन माना है । "वेदा यो वीनां पदम्" इस चरण में सात वर्ण हैं, जबकि गायत्री छन्द में आठ वर्ण होते हैं । छन्द की पूर्ति के लिए 'वीनाम्' का उच्चारण 'वी-न.आम्' । इस प्रकार किया जाता है ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

मण्डल १

सूक्त २५

मंत्र ८

संहिता-पाठः

वेदं मासो धृतव्रतं द्वादश प्रजावतः । वेदा य उपजायते ॥

पद-पाठः

वेदं । मासः । धृतव्रतः । द्वादश । प्रजावतः । वेदं । यः । उपजायते ॥ ८ ॥

अन्वय — धृतव्रतः प्रजावतः द्वादशः मासः वेद । यः उपजायते वेद ।

दयानन्द-भाष्य

(वेद) जानाति (मासः) चैत्रादीन् (धृतव्रतः) धृतं व्रतं सत्यं विद्या बलं येन सः (द्वादश) मासान् (प्रजावतः) बह्व्यः प्रजा उत्पन्ना विद्यन्ते येषु मासेषु तान् । अत्र भूमार्थे मतुप् । (वेद) जानाति । अत्रापि द्व्यचोतास्तड इति दीर्घः । (यः) विद्वान् मनुष्यः (उपजायते) यत्किञ्चिदुत्पद्यते तत्सर्वं त्रयोदशां मासो वा ॥ ८ ॥

भावार्थ — यथा सर्वज्ञत्वात्परमेश्वरः सर्वाधिष्ठानं कालचक्रं विजानाति तथा लोकानां कालस्य च महिमानं विदित्वा नैव कदाचिदस्यैककणः क्षणोऽपि व्यर्थो नेय इति ॥ ८ ॥

हि०भावार्थ — जैसे परमेश्वर सर्वज्ञ होने से सब लोक वा काल की व्यवस्था को जानता है, वैसे मनुष्यों को सब लोक तथा काल के महिमा की व्यवस्था को जानकर इस को एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोना चाहिए ॥ ८ ॥

सायण-भाष्य

धृतव्रतः स्वीकृतकर्मविशेषः यथोक्तमहिमोपेतो वरुणः प्रजावतस्तदा तदोत्पद्यमानप्रजायुक्तान्द्वादश मासश्चैत्रादीन्फाल्गुनान्तान्वेद जानाति । यस्त्रयोदशोधिकमास उपजायते संवत्सरसमीपे स्वयमेवोत्पद्यते तमपि वेद । वाक्यशेषः पूर्ववत् ।

शब्दार्थ — मासः = महीनों को । धृतव्रतः = कर्मविशेष को स्वीकार करने वाला, अधिकृत कर्तव्य का पालन करने वाला । द्वादश = बारह । प्रजा-वतः = उत्पन्न होने वाली प्रजा से युक्त । उपजायते = उत्पन्न हो जाता है ।

हिन्दी व्याख्या — कर्म विशेष को स्वीकार करने वाला अर्थात् अपने अधिकृत कर्तव्य का पालन करने वाला वह वरुण देवता उत्पन्न होने वाली प्रजा से युक्त अथवा दिनों समेत चैत्र से लेकर फाल्गुन तक बारहों महीनों को जानता है । और जो तेरहवाँ मास (तीसरे या चौथे वर्ष बढ़ने वाला मल मास) उत्पन्न हो जाता है, उसको भी यह जानता है ।

व्याकरण —

प्रजावतः — प्र + जन् + ड + टाप् = प्रजा । प्रजा + मतुप् = प्रजावत् । षष्ठी विभक्ति का एकवचन ।

उपजायते — उप + जन् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

विशेष — सायण ने प्रजा का अर्थ 'उत्पन्न होने' वाली प्रजायें' किया है । इसका



## वरुण सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-२५ )

अर्थ है — महीनों में उत्पन्न होने वाली सामान्य प्रजा। पीटर्सन का कहना है कि मासों की प्रजा दिन हैं, अतः यहाँ 'प्रजा' का अर्थ दिन करना चाहिये। इस मन्त्र में छन्द की पूर्ति के लिए 'द्वादशा' को 'दुआदश' पढ़ना चाहिए।

मण्डल १

सूक्त २५

मंत्र ९

संहिता-पाठः

वेद वातस्य वर्तनिसुरो ऋषस्य बृहतः। वेदा ये अध्यासते॥

पद-पाठः

वेदं। वातस्य। वर्तनिम्। उरोः। ऋषस्यं। बृहतः।

वेदं। ये। अधिऽआसते॥९॥

अन्वय — उरोः ऋषस्य बृहतः वातस्य वर्तनिम् वेद। ये अधि आसते वेद।

दयानन्द-भाष्य

(वेद) जानाति (वातस्य) वायोः (वर्तनिम्) वर्तन्ते यस्मिन् मार्गम् (उरोः) बहुगुणयुक्तस्य (ऋषस्य) सर्वत्रागमनशीलस्य अत्र 'ऋषीगतौ' अस्माद्वाहुलकादौणादिको वन् प्रत्ययः (बृहतः) महतो महाबलविशिष्टस्य (वेद) जानाति (ये) पदार्थाः (अध्यासते) तिष्ठन्ति ते॥९॥

भावार्थ — यो मनुष्योऽग्न्यादीनां पदार्थानां मध्ये परिमाणतो गुणतश्च महान् सर्वाधारो वायुर्वर्तते तस्य कारणमुत्पत्तिं गमनागमनयोर्मार्गं ये तत्र स्थूलसूक्ष्माः पदार्थाः वर्तन्ते तानपि यथार्थतया विदित्वैतेभ्य उपकारं गृहीत्वा ग्राहयित्वा कृतकृत्यो भवेत्स इह गणयो विद्वान् भवतीति वेद्यम्॥९॥

हि०भावार्थ — जो मनुष्य अग्नि आदि पदार्थों में परिमाण वा गुणों से बड़ा सब मूर्ति वाले पदार्थों का धारण करने वाला वायु है, उसका कारण अर्थात् उत्पत्ति और जाने आने के मार्ग और जो उस में स्थूल वा सूक्ष्म पदार्थ ठहरे हैं उनको भी यथार्थता से जान इनसे अनेक कार्य सिद्ध कराकर के सब प्रयोजनों को सिद्ध कर लेता है, वह विद्वानों में गणनीय विद्वान् होता है॥९॥

सायण-भाष्य

उरोर्विस्तीर्णस्य ऋषस्य दर्शनीयस्य बृहतो गुणैरधिकस्य वातस्य वामोर्वर्तनिं मार्गं वेद वरुणो जानाति। वे देवा अध्यासते उपरितिष्ठन्ति तानपि वेद जानाति।

शब्दार्थ — वातस्य = वायु के। वर्तनिम् = मार्ग को। उरोः = विस्तीर्ण, व्यापक। ऋषस्य = दर्शनीय। बृहतः = गुणों से महान्। अध्यासते = अधिष्ठित हैं।

हिन्दी व्याख्या — वे वरुण देवता विस्तीर्ण या व्यापक, दर्शनीय और गुणों से महान् वायु के मार्ग को जानते हैं और जो देवता ऊँचे अर्थात् अन्तरिक्ष लोक में अधिष्ठित हैं, इनको भी वे जानते हैं।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****व्याकरण -**

वृहतः - वृह + अति (अत्) = वृहत्। षष्ठी का एकवचन।

वातस्य - 'वा गतिगन्धनयोः' धातु से "असिहसि०" इत्यादि उणादि सूत्र से तन् प्रत्यय।

वर्तनिम् - वर्तते प्रवर्तते अनेन अर्थ में 'वृत्' धातु से 'अनि' प्रत्यय।

ऋष्वस्य - 'ऋषी गतौ' धातु से मतुप् अर्थ में 'क्वन्' प्रत्यय।

अध्यास्ते - अधि + आस्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

विशेष - सायण ने 'ऋष्व' का अर्थ दर्शनीय किया है। परन्तु वायु के अदृश्य होने के कारण यह अर्थ युक्तियुक्त नहीं है। 'ऋष्' धातु के गत्यर्थक होने से और वायु के गतिशील होने से इसका अर्थ तीव्र गति वाला ठीक होगा। पीटर्सन ने 'ऋष्व' का अर्थ ऊँचा (loftly) किया है।

तीसरे पाद में छन्द की पूर्ति के लिए 'अध्यासते' को 'अधियासते' पढ़ना चाहिये।

मण्डल १

सूक्त २५

मंत्र १०

संहिता-पाठः

नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा। साम्राज्याय सुक्रतुः॥

पद-पाठः

नि। ससाद। धृतव्रतः। वरुणः। पस्त्यासु। आ। साम्राज्याय। सुक्रतुः॥१०॥

अन्वय - धृतव्रतः सुक्रतुः वरुणः साम्राज्याय पस्त्यासु आ निषसाद।

दयानन्द-भाष्य

(नि) नित्यार्थे (ससाद) तिष्ठति। अत्र लडर्थे लिट्। सदेः परस्यलिटि। अ० ८।३।१०७। अनेन परसकारस्य मूर्द्धन्यादेशनिषेधः। (धृतव्रतः) सत्याचारशीलः (वरुणः) उत्तमो विद्वान् (पस्त्यासु) पस्त्येभ्यो गृहेभ्यो हितास्तासु प्रजासु। पस्त्यमिति गृहनामसु पठितम्। निघं० ३।४। (आ) समन्तात् (साम्राज्याय) यद्राष्ट्रं सर्वत्र भूगोले सम्यक् राजते प्रकाशते तस्य भावाय (सुक्रतुः) शोभनाः क्रतवः कर्माणि प्रज्ञा वा यस्य सः॥१०॥

भावार्थ - अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा परमेश्वरः सर्वासां प्रजानां सम्राड् वर्तते तथा य ईश्वराज्ञायां वर्तमानो विद्वान् धार्मिकः शरीरबुद्धिबलसंयुक्तो मनुष्यो भवति सएव साम्राज्यं कर्तुमर्हतीति॥१०॥

हि०भावार्थ - इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जैसे परमेश्वर सब प्राणियों का उत्तम राजा है, वैसे ही जो ईश्वर की आज्ञा में वर्तमान धार्मिक शरीर और बुद्धि बल युक्त मनुष्य हैं, वे ही उत्तम राज्य करने योग्य होते हैं॥१०॥

सायण-भाष्य

धृतव्रतः पूर्वोक्तो वरुणः पस्त्यासु दैवीषु प्रजासु आ निषसाद आगत्य निषण्णवान्



किमर्थम् । प्रजानां साम्राज्यसिद्ध्यर्थं सुक्रतुः शोभनकर्मा ।

शब्दार्थ — निषसाद = अधिष्ठित हुये हैं । पस्त्यासु = दिव्य प्रजाओं में । सुक्रतुः = श्रेष्ठ कर्मों को करने वाला ।

हिन्दी व्याख्या — अपने स्वीकृत नियमों का पालन करने वाले और श्रेष्ठ कर्मों को करने वाले वरुण देवता प्रजा के साम्राज्य की सिद्धि के लिए दिव्य प्रजाओं में आकर अधिष्ठित हुये हैं ।

व्याकरण —

निषसाद — नि+सद् धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

पस्त्यासु — निघण्टु के अनुसार 'पस्त्य' शब्द निपातनात् सिद्ध होता है । इसका प्रयोग वेद में ही है ।

सुक्रतुः — शोभनः क्रतुः यस्य स । कृ+कतु (औणादिक) = क्रतु ।

साम्राज्यः — सम्राजो भावः । सम्राज्+ष्यम् = साम्राज्य । चतुर्थी का एकवचन ।

विशेष — सायण ने 'पस्त्य' का अर्थ 'दैवी प्रजा' किया है । परन्तु पीटर्सन ने इसका अर्थ 'घर' और पिशेल ने 'जल' (जलमय लोक) किया है ।

छन्द की पूर्ति के लिए 'पस्त्यासु को पस्तियासु' तथा 'साम्राज्याय को साम्राजियाय' पढ़ना चाहिये ।

मण्डल १

सूक्त २५

मंत्र ११

संहिता-पाठः

अतो विश्वान्यदभुता चिकित्वाँ अभि पश्यति ।

कृतानि या च कर्त्वा ॥

पद-पाठः

अतः । विश्वानि । अदभुता चिकित्वान् । अभि । पश्यति । कृतानि । या । च । कर्त्वा ॥११॥

अन्वय — अतः चिकित्वान् विश्वानि अदभुता अभिपश्यति । सा कृतानि च कर्त्वा ।

दयानन्द-भाष्य

(अतः) पूर्वोक्तात्कारणात् (विश्वानि) सर्वाणि (अदभुता) आश्चर्यरूपाणि । अत्र सर्वत्र शेषछन्दसि इति लोपः । (चिकित्वान्) केतयति जानातीति चिकित्वान् । अत्र 'कितज्ञाने' अस्माद्वेदोक्ताद्धातोः कसुः प्रत्ययः । चिकित्वान् चेतनावान् । निरु० २।११ । (अभि) सर्वतः (पश्यति) प्रेक्षते (कृतानि) अनुष्ठितानि (या) यानि (च) समुच्चये (कर्त्वा) कर्तव्यानि । अत्र कृत्यार्थे तवै केन् केन्य त्वन इति त्वन् प्रत्ययः ॥११॥

भावार्थ — यथेश्वरः सर्वत्राभिव्याप्तः सर्वशक्तिमान् सन् सृष्टिरचनादीन्याश्चर्य रूपाणि कृत्वा वस्तूनि विधाय जीवानां त्रिकालस्थानि कर्माणि च विदित्वैतेभ्यस्तत्- कर्माश्रितं फलं



दातुमर्हति। एवं यो विद्वान् मनुष्यो भूतपूर्वाणां विदुषां कर्माणि विदित्वाऽनुष्ठातव्यानि कर्माण्येव कर्तुमुद्युक्ते स एव सर्वाभिद्रष्टा सन् सर्वोपकार— काण्यनुत्तमानि कर्माणि कृत्वा सर्वेषां न्यायं कर्तुं शक्नोतीति ॥११॥

**हि०भावार्थ** — जिस प्रकार ईश्वर सब जगह व्याप्त और सर्वशक्तिमान् होने से सृष्टि रचनादि रूपी कर्म और जीवों के तीनों कालों के कर्मों को जानकर इनको उन उन कर्मों के अनुसार फल देने को योग्य है। इसी प्रकार जो विद्वान् मनुष्य पहिले हो गये उनके कर्मों और आगे अनुष्ठान करने योग्य कर्मों के करने में युक्त होता है वही सबको देखता हुआ सब के उपकार करने वाले उत्तम से उत्तम कर्मों को कर सब का न्याय करने के योग्य होता है ॥११॥

### सायण—भाष्य

अतोऽस्माद् वरुणाद् विश्वान्यद्भुता सर्वाण्याश्चर्याणि चिकित्वान् प्रज्ञावानभिपश्यति सर्वतोऽवलोकयति। या कृतानि यान्याश्चर्याणि पूर्वं वरुणेन सम्पादितानि। चकारादन्यानि यान्याश्चर्याणि कर्त्वा इतं परं कर्तव्यानि। तानि सर्वाण्यभिपश्यतीति पूर्वत्रान्वयः।

**शब्दार्थ** — विश्वानि = सदा। अद्भुताः = आश्चर्यों को। चिकित्वान् = ज्ञानी मनुष्य। कृतानि = पहले किये गये। कर्त्वा = आगे किये जाने वाले।

**हिन्दी व्याख्या** — इससे अर्थात् इस वरुण की कृपा से ज्ञानी मनुष्य सब आश्चर्यों को अर्थात् संसार के सभी अद्भुत पदार्थों को देखता है। जो आश्चर्य पहले किये गये हैं और जो आगे करने योग्य हैं, इन सभी को वह देखता है।

### व्याकरण —

**चिकित्वान्** — 'कित् ज्ञाने' धातु से क्वसु प्रत्यय = चिकित्वस्। प्रथमा विभक्ति का एकवचन।

**विश्व** — विश् — क्वन् = विश्व। द्वितीया का बहुवचन, नपुंसकलिंग।

**अद्भुत** — अत् + भू + डुतच् = अद्भुत।

**कर्त्वा** — 'कृ'धातु से "तवैकेन्केन्यत्वनः" (३.४.१४) सूत्र से 'त्वन्' प्रत्यय।

— वैदिक सन्धि के अनुसार 'त्' को अनुस्वार ॰ हुआ।

**चिकित्वाँ अभिपश्यति** — पीटर्सन ने 'अतः' का अन्वय पहले मन्त्र के 'पस्त्यासु' से किया है। डेलबुक ने 'अद्भुता' के स्थान पर 'अद्भुत' पाठ करके इसे वरुण का विशेषण माना है तथा 'चिकित्वान्' को भी वरुण का विशेषण माना है। उसने 'अद्भुत' का अर्थ दूसरों से न देखे जाने वाला (concealed from others) किया है। ग्रासमान ने 'अद्भुत' का अर्थ अदृश्य (invisible) किया है। मैक्समूलर ने सायण के अनुसार 'अद्भुत' का अर्थ सब आश्चर्यजनक वस्तुयें (all wondrous things) किया है।

छन्द की पूर्ति के लिए 'विश्वान्यद्भुता' को 'विश्वानि अद्भुता' तथा 'कर्त्वा' को 'कर्तुवा' पढ़ना चाहिये।



मण्डल १

सूक्त २५

मंत्र १२

संहिता-पाठः

स नो विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत् ।

प्र ण आयूंषि तारिषत् ।।

पद-पाठः

सः । नः । विश्वाहा । सुक्रतुः । आदित्यः । सुपथा । करत् । प्र । नः । आयूंषि ।  
तारिषत् ।।१२।।

अन्वय — सुक्रतुः सः आदित्यः नः विश्वाहा सुपथा करत् । न' आयूंषि प्रतारिषत् ।

दयानन्द-भाष्य

(सः) वक्ष्यमाणः (नः) अस्मान् (विश्वाहा) विश्वानि चाहानि च तेषु । अत्र सुपां सुलुग् इति सप्तम्या बहुवचनस्याकारादेशः । (सुक्रतुः) शोभनानि प्रज्ञानानि कर्माणि वा यस्य सः (आदित्यः) विनाशरहितः परमेश्वरो जीवः कारणरूपेण प्राणो वा (सुपथा) शोभनश्चासौ पन्थाश्च सुपथस्तेन (करत्) कुर्यात् । लेट् प्रयोगोऽयम् । (प्र) प्रकृष्टार्थे क्रियायोगे (नः) अस्माकम् (आयूंषि) जीवनानि (तारिषत्) सन्तारयेत् । अत्रान्तर्गतोप्यर्थः ।।१२।।

भावार्थ — अत्र श्लेष वाचकलुप्तोपमालङ्कारौ । ये मनुष्या ब्रह्मचर्येण जितेन्द्रियत्वादिनाऽऽयुर्वर्द्धयित्वा धर्ममार्गे विचरन्ति तान् जगदीश्वरोऽनुगृह्णानन्द-युक्तान् करोति यथाऽयं प्राणः सूर्यो वा स्वबलतेजोभ्यामुच्चावचानिस्थलानि प्रकाशय प्राणिनः सुखयित्वा सर्वानहोरात्रादीन् कालविभागान्विभजतस्तथैव स्वात्मशरीरसेनाबलेन धर्म्याणि कनिष्ठमध्यमोत्तमानि कर्माणि प्रचार्याधर्म्याणि निवर्त्योत्तमनीचजनसमूहौ सदा विभजेत् ।।१२।।

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में श्लेष और उपमालङ्कार हैं । जो मनुष्य ब्रह्मचर्य और जितेन्द्रियता आदि से आयु बढ़ाकर धर्म मार्ग में विचरते हैं, उन्हीं को जगदीश्वर अनुगृहीत कर आनन्द युक्त करता है । जैसे प्राण और सूर्य अपने बल और तेज से ऊँचे नीचे स्थानों को प्रकाशित कर प्राणियों को सुख के मार्ग से युक्त करके उचित समय पर दिन-रात आदि सब कालविभागों को अच्छे प्रकार सिद्ध करते हैं, वैसे ही अपने आत्मा शरीर और सेना के बल से न्यायाधीश मनुष्य धर्मयुक्त छोटे मध्यम और बड़े कर्मों के प्रचार से अधर्म युक्त को छुड़ा उत्तम और नीच मनुष्यों का विभाग सदा किया करे ।।१२।।

सायण-भाष्य

सुक्रतुः शोभनप्रज्ञः स आदित्यो वरुणो विश्वाहा सर्वेष्वहः — सु नोऽस्मान् सुपथा शोभनमार्गेण सहितान् करत् करोतु । किं च नोऽस्माकम् आयूंषि प्रतारिषत् प्रवर्धयतु ।

शब्दार्थ — विश्वाहा = सब दिनों में । आदित्य = अदिति का पुत्र । सुपथा = उत्तम मार्ग से । करत् = ले जावे । आयूंषि = आयुओं को, प्रतारिषत् = बढ़ावे ।

हिन्दी व्याख्या — शोभन कर्मों वाले या संकल्प वाले वे अदिति के पुत्र वरुण देवता हमें सभी दिनों में उत्तम मार्ग से ले जावें और हमारी आयुओं को बढ़ावें ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****व्याकरण -**

**आदित्यः** - अदितेः अपत्यम्, अदिति+ण्य ।

**सुपथा** - शोभनश्चासौ पन्था सुपन्थाः तेन सुपथा ।

**करत्** - 'कृ' धातु, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन । यह वैदिक रूप है । लोक में करोतु रूप होता है ।

**विश्वाहा** - विश्व+अहन् । यह वैदिक अव्यय है । इसके अन्य रूप 'विश्वहा' और 'विश्वह' भी मिलते हैं ।

**तारिषत्** - तृ+णिच् धातु, लेट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

**विशेष** - सायण ने 'सुपथा' में तृतीया विभक्ति का एकवचन मानकर अर्थ किया है - वह वरुण हमें अच्छे मार्ग से ले जावे । परन्तु पीटर्सन के अनुसार 'सुपथा' में द्वितीया विभक्ति का बहुवचन है तथा इसे कर्म कहा गया है । 'सुपथा' वैदिक रूप है और इसका लौकिक रूप 'सुपथानि' होगा । अतः इसका अर्थ होगा - वरुण हमारे लिये अच्छे मार्गों को बनावे ।

**मण्डल १**

**सूक्त २५**

**मंत्र १३**

**संहिता-पाठः**

बिभ्रद्दापिं हि॒र॒ण्य॒यं वरु॑णो वस्त॒ निर्णिज॑म् ।

परि॒ स्प॒शो निषेदि॑रे ॥

**पद-पाठः**

बिभ्रत् । द्रापिम् । हिरण्ययम् । वरुणः । वस्त । निःऽनिजम् । परि । स्पशः । नि । सेदिरे ॥१३॥

**अन्वय** - हिरण्यम् द्रापिम् बिभ्रत् वरुणः निर्णिजम् वस्त । स्पशः परिनिषेदिरे ।

**दयानन्द-भाष्य**

(बिभ्रत्) धारयन् (द्रापिम्) कवचं निद्रां वा अत्र 'द्रै स्वप्ने' अस्माद् इज्वपादिभ्य इतीञ् (हिरण्ययम्) ज्योतिर्मयम् । ऋत्वावास्तव्य० अ० १६।४।१७५ । अनेनायं निपातितः 'ज्योतिवै हिरण्यम्' इति पूर्ववत्प्रमाणं विज्ञेयम् । (वरुणः) विविधपाशैः शत्रूणां बन्धकः (वस्त) वस्ते आच्छादयति । अत्र वर्तमाने लङ्भावश्च । (निर्णिजम्) शुद्धम् (परि) सर्वतोभावे (स्पशः) स्पर्शवन्तः पदार्थाः (नि) नितराम् (सेदिरे) सीदन्ति । अत्र लङर्थे लिट् ॥१३॥

**भावार्थ** - अत्र श्लेषालङ्कारः । सर्वे मनुष्या यथा वायुर्बलकारित्वात्सर्व- मग्न्यादिकं मूर्तामूर्तं वस्तु धृत्वाऽऽकाशे गमनागमने कुर्वन् गमयति । यथा सूर्य्य लोको प्रकाशस्वरूपत्वाद्रात्र्यन्धकारं निवार्य स्वतेजसा प्रकाशते तथैव सुशिक्षाबलेन सर्वान्मनुष्यान्धृत्वा धर्मे गमनागमने कृत्वा कार्येरन् ॥१३॥

**हि०भावार्थ** - इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है । जैसे वायु बल का करने वाला होने



से सब अग्नि आदि स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों को धरके आकाश में गमन और आगमन करता हुआ चलता और जैसे सूर्यलोक भी स्वयं प्रकाशरूप होने से रात्रि को निवारण कर अपने प्रकाश से सब को प्रकाशता है, वैसे विद्वान् लोग भी विद्या और उत्तम शिक्षा के बल से सब मनुष्यों को धारण कर धर्म में चल सब अन्य मनुष्यों को चलाया करें।।१३।।

### सायण-भाष्य

हिरण्ययं सुवर्णमयं द्रापिं कवचं विभ्रद्धारयन्वरुणो निर्णिजं पुष्टस्वशरीरं वस्त आच्छादयति । स्पशो हिरण्यस्पर्शिनो रश्मयः परि निषेदिरे सर्वतो निषण्णाः ।

शब्दार्थ — विभ्रत् = धारण करता हुआ । द्रापिम् = कवच को । हिरण्ययम् = सोने का बना हुआ । वस्त = ढक लेता है । निर्णिजम् = अपने पुष्ट शरीर को । स्पशः = चमकदार किरणें । परि = चारों ओर । निषेदिरे = व्याप्त हो रही हैं ।

हिन्दी व्याख्या — सुवर्ण के बने हुए कवच को धारण करता हुआ वरुण अपने पुष्ट शरीर को ढक लेता है । उसकी चमकदार किरणें चारों ओर व्याप्त हो रही हैं ।

### व्याकरण —

विभ्रत् — भृ + शतृ = विभ्रत् ।

द्रापिम् — द्रा+णिच् (पुक् का आगम्) = द्रापि । द्रापयति ईषत् कुत्सितां गतिं प्रापयति विफलीकरोति इषुप्रहारान् इति द्रापिः ।

हिरण्ययम् — हिरण्यस्य विकारः अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय । 'मयट्' के 'म' का लोप होकर हिरण्यय ।

निर्णिजम् — निर् + णिजिर् + क = निर्णिज ।

स्पशः — स्पश् + क्तिप् = स्पश् । प्रथमा का बहुवचन ।

वस्त — 'वस् आच्छादने' धातु से लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन का वैदिक रूप ।

निषेदिरे — नि+सद्, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।

विशेष — 'हिरण्यय' का लौकिक रूप 'हिरण्यमय' होगा और 'हस्त' का 'अवस्त' । 'वस्त' में वर्तमान काल में लङ् लकार का प्रयोग हुआ है ।

सायण ने 'स्पश' का अर्थ 'किरणें' किया है । पीटर्सन के अनुसार इसका अर्थ गुप्तचर है । वरुण के गुप्तचर सारे विश्व में घूमते रहते हैं । वरुण के गुप्तचरों का उल्लेख 'ऋग्वेद' में अनेक स्थानों पर हुआ है ।

मण्डल १

सूक्त २५

मंत्र १४

### संहिता-पाठः

न यं दिप्सन्ति दिप्सवो न द्रुह्वाणो जनानाम् ।

न देवमभिमातयः ।।



## पद-पाठः

न। यम्। दिप्सन्ति। दिप्सवः। न। द्रुह्वाणः। जनानाम्। न। देवम्।  
अभिमातयः॥१४॥

अन्वय — दिप्सवः यम् न दिप्सन्ति, जनानाम् द्रुह्वाणः न, अभिमातयः न।

## दयानन्द-भाष्य

(न) निषेधे (यम्) वरुणं परमेश्वरं विद्वांसं वा (दिप्सन्ति) विरोद्धुमिच्छन्ति।  
अत्रोभयत्र वर्णत्यत्ययेन धकारस्य दकारः। (दिप्सवः) मिथ्याभिमान-व्यवहारमिच्छवः शत्रवः।  
(न) प्रतिषेधे (द्रुह्वाणः) द्रोहकर्तारः (न) निवारणे (देवम्) दिव्यगुणम् (अभिमातयः) अभिमानिनः।  
मा माने इत्यस्य रूपम्॥१४॥

भावार्थ — अत्र श्लेषालङ्कारः। ये हिंसकाः परद्रोहयुक्ता अभिमानसहिता जना  
वर्तन्ते ते विद्याहीनत्वात् परमेश्वरस्य विदुषां वा गुणान् ज्ञात्वा नैवोपकर्तुमर्हन्ति तस्मात्सर्वैरेतेषां  
गुणकर्मस्वभावैः सह सदा भवितव्यम्॥१४॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। जो हिंसक परद्रोही अभिमान युक्त  
जन हैं, वे अज्ञानपन से परमेश्वर वा विद्वानों के गुणों को जानकर उनसे उपकार लेने को  
समर्थ नहीं हो सकते इसलिये सब मनुष्यों को योग्य है कि उनके गुण कर्म और स्वभाव  
का सदैव ग्रहण करें॥१४॥

## सायण-भाष्य

दीप्सवो हिंसितुमिच्छन्तो वैरिणो यं वरुणं न दिप्सन्ति भीताः सन्तो हिंसितुम् इच्छां  
परित्यजन्ति। जनानां प्राणिनां द्रुह्वाणो द्रोधारोऽपि यं वरुणं प्रति न द्रुहन्ति। अभिमातयः  
पाप्मानः। पाप्मा वा अभिमातिरिति श्रुत्यन्तराद्। देवं तं वरुणं न स्पृशन्ति। दिप्सन्ति।

शब्दार्थ — दिप्सन्ति = हिंसा करते हैं। दिप्सवः = हिंसा करने की इच्छा रखने  
वाले। द्रुह्वाणः = द्रोही व्यक्ति। जनानाम् = सामान्य मनुष्यों के। अभिमातयः = पापी  
लोग।

हिन्दी व्याख्या — हिंसा करने की इच्छा रखने वाले भी जिस वरुण देवता के प्रति  
हिंसा करने का भाव छोड़ देते हैं, सामान्य मनुष्यों के द्रोही व्यक्ति भी जिसके प्रति द्रोह  
नहीं कर पाते और पापी लोग भी जिसे हानि नहीं पहुँचाते।

## व्याकरण —

दिप्सन्ति — सन्नन्त 'दम्भ' धातु (दिप्स), लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

दिप्सवः — सन्नन्त 'दम्भ' धातु से 'उ' प्रत्यय = दिप्सु। प्रथमा विभक्ति का  
बहुवचन।

द्रुह्वाण — द्रुह + क्वनिप् = द्रुहन्। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

अभिमातयः — अभि + मन् धातु से निपातनात् = अभिमाति। प्रथमा विभक्ति का  
बहुवचन, अथवा 'मीज् हिंसायाम्' धातु से 'अभिमन्यते' या 'अभिभूय मिनाति हिनस्ति' अर्थ



में 'क्तिन्' प्रत्यय करके 'अभिमाति' रूप बनता है।

विशेष — इस मन्त्र में वरुण की शान्तिमत्ता का कथन किया गया है। ग्रासमान ने 'जनानाम्' का सम्बन्ध 'अतिमातयः' से किया है। अर्थात् मनुष्यों के शत्रु। मैक्समूलर ने अर्थ किया है — The for mantars of men।

मण्डल १

सूक्त २५

मंत्र १५

संहिता-पाठः

उत यो मानुषेष्व्वा यशश्चक्रे असाम्या।

अस्माकमुदरेष्वा ॥१५॥

पद-पाठः

उत। यः। मानुषेषु। आ। यशः। चक्रे। असामि। आ। अस्माकम्। उदरेषु।  
आ ॥१५॥

अन्वय — उत यः मानुषेषु यशः आचक्रे, असामि आ, अस्माकम् उदरेषु आ।

दयानन्द-भाष्य

(उत) अपि (यः) जगदीश्वरो वायुर्वा (मानुषेषु) नृव्यक्तिषु (आ) अभितः (यशः) कीर्तिमन्त्रं वा। यश इत्यत्र नामसु पठितम्। निघं० २।७। (चक्रे) कृतवान् (असामि) समस्तम् (आ) समन्तात् (अस्माकम्) मनुष्यादिप्राणिनाम् (उदरेषु) अन्तर्देशेषु (आ) अभितोर्थे ॥१५॥

भावार्थ — येन सृष्टिकर्तान्तर्यामिणा जगदीश्वरेण परोपकाराय जीवानां तत्तत्कर्मफलभोगाय समस्तं जगत्प्रतिकल्पं विरच्यते यस्य सृष्टौ बाह्याभ्यन्तरस्थो वायुः सर्वचेष्टाहेतुरस्ति विद्वांसो विद्याप्रकाशका अविद्याहन्तारश्च प्रायतन्ते तदिदं धन्यवादार्हं कर्म परमेश्वरस्यैवाखिलैर्मनुष्यैर्विज्ञेयम् ॥१५॥

हि० भावार्थ — जिस सृष्टि करने वाले अन्तर्यामी जगदीश्वर ने परोपकार वा जीवों को उनके कर्म के अनुसार भोग कराने के लिए संपूर्ण जगत् कल्प— कल्प में रचा है, जिस की सृष्टि में पदार्थों के बाहर भीतर चलने वाला वायु सब कर्मों का हेतु है और विद्वान् लोग विद्या का प्रकाश और अविद्या का हनन करने वाले प्रयत्न कर रहे हैं, इसलिये इस परमेश्वर के धन्यवाद के योग्य कर्म सब मनुष्यों को जानना चाहिये ॥१५॥

सायण-भाष्य

उत अपि च यो वरुणो मानुषेषु यशोऽन्नम् आचक्रे सर्वतः कृतवान्। स वरुणः अन्नं कुर्वन्नप्या सर्वतः असामि सम्पूर्णं चक्रे न तु न्यूनं कृतवान्। विशेषतोऽस्माकमुदरेषु। आ सर्वतश्चक्रे।

शब्दार्थ — मानुषेषु = मनुष्यों में। यशः = अन्न। आचक्रे = उत्पन्न किया है। असामि = सम्पूर्ण रूप में।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

हिन्दी व्याख्या — और जिस वरुण देवता ने मनुष्यों में अन्न को उत्पन्न किया और उस अन्न को सम्पूर्ण रूप में उत्पन्न किया तथा जिस वरुण ने हमारे उदरों में उस अन्न को सब प्रकार से किया अर्थात् अन्न को पचाने की शक्ति दी।

**व्याकरण —**

मानुषेषु — 'मनोरपत्यम्' अर्थ में मनु+अञ् (षुक् का आगम) = मानुष।

चक्रे — कृ धातु (आत्मनेपद), लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

विशेष — सायण ने 'यशः' का अर्थ अन्न किया है। परन्तु मैक्समूलर यहाँ इसका अर्थ 'कीर्ति' (glory) करता है और ग्रासमान ने 'आशीवाद' (blessing) अर्थ किया है। मैक्समूलर ने 'उदर' का अर्थ 'मनुष्य-शरीर' किया है। लुडविग ने 'उदरेषु' के स्थान पर 'द्युषु' पाठ मान कर उसका अर्थ 'घर' किया है।

इस मन्त्र के प्रत्येक चरण में सात वर्ण हैं, अतः छन्द की पूर्ति के लिये 'मानुषेष्व', 'असाम्या' और 'उदरेष्व' को क्रमशः 'मानुषेषु आ', 'असामि आ' और 'उदरेषु आ' इस प्रकार सन्धि तोड़ कर पढ़ना चाहिए।

मण्डल १

सूक्त २५

मंत्र १६

संहिता-पाठः

परां मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यूतीरनुं। इच्छन्तीरुरुचक्षंसम्॥

पद-पाठः

परां। मे। यन्ति। धीतयः। गावः। न। गव्यूतीः। अनुं। इच्छन्तीः। उरुऽचक्षंसम्॥१६॥

अन्वय — उरुचक्षंसम् इच्छन्तीः मे धीतयः परायन्ति, गव्यूतीः अनु गावः न।

दयानन्द-भाष्य

(परा) प्रकृष्टार्थे (मे) मम (यन्ति) प्राप्नुवन्ति (धीतयः) दधात्यर्थान् याभिः कर्मवृत्तिभिस्ताः (गावः) पशुजातयः (न) इव (गव्यूतीः) गवां यूतयः स्थानानि। वा० गोर्युतौ छन्दस्युपसंख्यानम्। अ० ६।१।७९। (अनु) अनुगमार्थे (इच्छन्तीः) इच्छन्त्यः। अत्र सुपां सुलुग् इति पूर्वसवर्णः (उरुचक्षंसम्) उरुषु बहुषु चक्षो विज्ञानं प्रकाशनं वा यस्य तं कर्मकर्तारं जीवं माम्॥१६॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः। मनुष्यैरेवं निश्चेतव्यं यथा गावः स्व स्व वेगानुसारेण धावन्त्योऽभीष्टं स्थानं गत्वा परिश्रान्ता भवन्ति तथैव मनुष्याः स्व स्व बुद्धिवलानुसारेण परमेश्वरस्य सूर्यादेर्वा गुणानन्विष्य यथाबुद्धिं विदित्वा परिश्रान्ता भवन्ति नैव कस्यापि जनस्य बुद्धिशरीरवेगोऽपरिमितो भवितुमर्हति। यथा पक्षिणः स्व स्व बलानुसारेणाकाशं गच्छन्तो नैतस्यान्तं कश्चिदपि प्राप्नोति। तथैव कश्चिदपि मनुष्यो विद्याविषयस्यान्तं गन्तुं नार्हति॥१६॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। मनुष्यो को ऐसा निश्चय करना चाहिए



## वरुण सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-२५ )

कि जैसे गौ आदि पशु अपने अपने वेग के अनुसार दौड़ते हुए चाहे हुए स्थान को पहुंच कर थक जाते हैं, वैसे ही मनुष्य अपनी अपनी बुद्धि बल के अनुसार परमेश्वर वायु और सूर्य आदि पदार्थों के गुणों को जानकर थक जाते हैं। किसी मनुष्य की बुद्धि वा शरीर का वेग ऐसा नहीं हो सकता कि जिसका अन्त न हो सके जैसे पक्षी अपने अपने बल के अनुसार आकाश को जाते हुए आकाश का पार कोई नहीं पाता इसी प्रकार कोई मनुष्य विद्या विषय के अन्त को प्राप्त होने को समर्थ नहीं हो सकता है।।१६।।

## सायण—भाष्य

उरुचक्षसं बहुभिर्द्रष्टव्यं वरुणमिच्छन्तीर्मे धीयतः। शुनः शेषस्य बुद्धयः परा यन्ति पराङ्मुखाः निवृत्तिरहिता गच्छन्ति। अत्र दृष्टान्तः। गावो न यथा गावो गव्यूतीरनु गोष्ठान्यनुलक्ष्य गच्छन्ति तद्वत्। गव्यूतीः = गावोऽत्र यूयन्ते इत्यधिकरणे क्तिन्।

शब्दार्थ — परायन्ति = जा रही है। धीतयः = बुद्धियाँ, भावनायें। गावः = गौयें। गव्यूतिः अनु = गोष्ठों को लक्ष्य करके। इच्छन्तीः = कामना करती हुई। उरुचक्षसम् = बहुतों द्वारा दर्शन के योग्य, व्यापक दृष्टि वाले।

हिन्दी व्याख्या — बहुतों के द्वारा दर्शन के योग्य अथवा व्यापक दृष्टि वाले वरुण के दर्शन की कामना करती हुई मुझ शुनः शेष की बुद्धियाँ या भावनायें उसके प्रति जा रही हैं, जिस प्रकार गोष्ठों को लक्ष्य करके सायंकाल के समय वहाँ जाने वाली गौयें उनकी ओर दौड़ती हैं।

## व्याकरण —

धीतयः = ध्याक्तिन्। 'य' को वैदिक सम्प्रसारण होकर 'इ', 'आ' का पूर्व रूप और पुनः 'इ' को दीर्घ = धीति। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

गव्यूतिः — 'गो + यू' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय। 'गोर्यूतौ छन्दसि' सूत्र से 'ओ को 'अव' आदेश होकर गव्यूतिः।

इच्छन्ती — इष् (इच्छ) + शतृ + डीप्।

उरुचक्षसम् — उरुभिः चक्षणं यस्य तम्।

विशेष — पीटर्सन के अनुसार 'गव्यूतिः' का अर्थ 'गौओं के मार्ग हैं, 'गोष्ठ' नहीं।

मण्डल १

सूक्त २५

मंत्र १७

संहिता—पाठः

सं नु वोचावहै पुनर्यतो मे मध्वाभृतम्।

होतेव क्षदसे प्रियम्।।

पद—पाठः

सम्। नु। वोचावहै। पुनः। यतः। मे। मधु। आऽभृतम्। होताऽइव। क्षदसे। प्रियम्। १७।।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

अन्वय — यतः मे मधु आभृतम्, पुनः नु सम्बोचावहै। होता इव प्रियम् क्षदसे।

### दयानन्द-भाष्य

(सम) सम्यगर्थे (नु) अनुपृष्टे। निरु० १।४। (वोचावहै) परस्परमुपदिशेव। लेट्प्रयोगोऽयम्। (पुनः) पश्चाद्भावे (यतः) हेत्वर्थे (मे) मम (मधु) मधुरगुणविशिष्टं विज्ञानम् (आभृतम्) विद्वद्भिर्यत्समन्वाद्धियते धार्यते तत् (होतेव) यज्ञसंपादकवत् (क्षदसे) अविद्यारोगान्धकारविनाशकाय बलाय (प्रियम्) यत् प्रीणाति तत् ॥१७॥

भावार्थ — अत्रोपालङ्कारः। यथा होतृयजमानौ प्रीत्या परस्परं मिलित्वा वनादिकं कर्म प्रपूर्तस्तथैवाध्यापकाध्येतारौ समागम्य सर्वा विद्याः प्रकाशयेतामेवं समस्तैर्मनुष्यैरस्माकं विद्यावृद्धिर्भूत्वा वयं सुखानि प्राप्नुयामेति नित्यं प्रयति— तव्यम् ॥१७॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। जैसे यज्ञ कराने और करने वाले प्रीति के साथ मिलकर यज्ञ को सिद्ध कर पूरण करते हैं, वैसे ही गुरु शिष्य मिलकर सब विद्याओं का प्रकाश करें। सब मनुष्यों को इस बात की चाहना निरन्तर रखनी चाहिये कि जिससे हमारी विद्या की वृद्धि प्रतिदिन होती रहें ॥१७॥

### सायण-भाष्य

यतो यस्मात्कारणात् मे मज्जीवनार्थं मधुरं हविराभृतम्। अञ्जःसवाख्ये कर्मणि सम्पादितम्। अतः कारणाद्धोतेव होमकर्त्तव्यं त्वमपि प्रियं हविः क्षदसे अश्नासि। पुनर्हविः स्वीकारादूर्ध्वं तृप्तस्त्वं जीवन्नहं तु अवश्यं संबोचावहै संभूय प्रियवार्तां करवावहै वोचावहै।

शब्दार्थ — सं वोचामहै = प्रेम से आलाप करें। नु = निश्चय से। यतः = क्योंकि। मधु = मधुर होवे। आभृतम् = सम्पादित की गई है। होता इव = होता के समान। अदसे = भक्षण करते हो।

हिन्दी व्याख्या — क्योंकि इस अञ्जः सव नामक यज्ञ में मेरी मधुर हवि आपके लिए सम्पादित की गई है, इसलिये पुनः निश्चय से हम दोनों प्रेम से आलाप करें। आप होता के समान उस प्रिय हवि का भक्षण करते हो।

### व्याकरण —

आभृतम् = आ + भृ + क्त।

वोचावहै = ब्रू धातु (वच् आदेश), लुङ्. लकार उत्तम पुरुष द्विवचन।

यतः = यत् + तसिल्। यत् के त् को अ आदेश तथा पररूप।

होता = हु + तृच् = होतृ। प्रथमा का एकवचन।

प्रियम् = प्री + क। ई को इयङ्. (इय) आदेश।

क्षदसे = 'क्षद् भक्षणे' धातु, लट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

विशेष = पीटर्सन ने 'होतेव क्षदसे' का अर्थ किया है — तुम एक मित्र के समान खाते हो (Thou eatest what thou likest like a friend)। परन्तु साथ ही यह भी संकेत है कि 'होता' का अर्थ 'friend' नहीं, अपितु हवन कराने वाला है। इसके अर्थ को



## वरुण सूक्त (मण्डल-१, सूक्त-२५)

व्यापक मानकर किया जा रहा है इस मन्त्र द्वारा उस युग की इस रीति का संकेत किया जा रहा है, जबकि परिवार के सदस्य भोजन करने के लिए एकत्रित होते होंगे और सबसे पहले 'होता' भोजन को ग्रहण करता होगा एवं परिवार के सदस्य बाद में उसे प्रसाद के समान ग्रहण करते होंगे।

मण्डल १

सूक्त २५

मंत्र १८

संहिता-पाठः

दर्शं नु विश्वदर्शतं दर्शं रथमधि क्षमिं । एता जुषत मे गिरः ॥

पद-पाठः

दर्शम् । नु । विश्वदर्शतम् । दर्शम् । रथम् । अधि । क्षमिं । एताः । जुषत मे । गिरं । ॥१८॥

अन्वय — विश्वदर्शतम् नु दर्शम्, अधिक्षमि रथम् दर्शम् । एताः मे गिरः जुषत ।

दयानन्द-भाष्य

(दर्शम्) पुनः पुनर्द्रष्टुम् (नु) अनुपृष्टे (विश्वदर्शतम्) सर्वैर्विद्वद्भिर्द्रष्टव्यं जगदीश्वरम् (दर्शम्) पुनः पुनः संप्रेक्षितुम् (रथम्) रमणीयं विमानादियानम् (अधि) उपरिभावे (क्षमि) क्षाम्यन्ति सहन्ते जना यस्मिन् व्यवहारे तस्मिन् स्थित्वा । अत्र कृतो बहुलम् इत्यधिकरणे क्विप् । वा छन्दासे सर्वे विधयो भवन्ति इति अनुनासिकस्य क्विब झलोः । इति दीर्घो न भवति (एताः) वेदविद्यासुशिक्षासंस्कृताः (जुषत) सेवध्वम् (मे) मम (गिरः) वाणीः ॥१८॥

भावार्थ — यस्मात्क्षमादिगुणसहितैर्मनुष्यैः प्रश्नोत्तरव्यवहारेणनुष्ठानेन विनेश्वरं शिल्पविद्यासिद्धानि यानानि च वेदितुं न शक्यानि तत्र ये गुणास्तेपि चास्मादेतेषां विज्ञानाय सर्वदा प्रयतितव्यम् ॥१८॥

हि०भावार्थ — जिससे क्षमा आदि गुणों से युक्त मनुष्यों को यह जानना योग्य है कि प्रश्न और उत्तर के व्यवहार के किये बिना परमेश्वर को जानने और शिल्पविद्या सिद्ध विमानादि रथों को कभी बनाने को शक्य नहीं और जो उन में गुण हैं वे भी इससे इनके विज्ञान होने के लिए सदैव प्रयत्न करना चाहिये ॥१८॥

सायण-भाष्य

विश्वदर्शतं सर्वैर्दर्शनीयमस्मदनुग्रहार्थमत्राविर्भूतं वरुणं दर्शं नु अहं दृष्ट्वान्खलु । क्षमि क्षमायां भूमौ रथं वरुणसम्बन्धिनमधिदर्शम् आधिक्येन दृष्ट्वानस्मि । एता उच्यमाना मे गिरो मदीयाः स्तुतीर्जुषत वरुणः सेवितवान् ।

शब्दार्थ — दर्शम् = देख लिया है । विश्वदर्शतम् = सम्पूर्ण विश्व के द्वारा देख सकने योग्य । रथम् = रथ को । अधिक्षमि = भूमि पर । जुषत = ग्रहण कर लिया है । गिरः = स्तुतियों को ।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

हिन्दी व्याख्या — सम्पूर्ण विश्व के द्वारा देख सकने योग्य उस वरुण को निश्चय से मैंने देख लिया है। भूमि पर उस वरुण के रथ को मैंने देख लिया है। उस वरुण देवता ने इन मेरी स्तुतियों को ग्रहण कर लिया है।

व्याकरण —

दर्शम् — 'दृश् धातु' लुङ्. लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन। अङ्. का वैदिक लोप।

विश्वदर्शतम् — विश्व + दृश् + अतच्, विश्वस्य दर्शनीयम्।

अधिक्षमि — क्षमूष् धातू से क्षमा। क्षमा का सप्तमी का एकवचन। वैदिक रूप = क्षमि। बल देने के लिए अधि उपसर्ग का प्रयोग।

जुषत — जुष धातु, लङ्. लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। छान्दस अट् (अ) का अभाव।

विशेष — वेद में लुङ्. का प्रयोग अधिकतर सभी समाप्त हुई क्रिया के लिये हुआ है। अतः दर्शम् का अर्थ मैंने देखा (I Saw) या मैं देख सकता हूँ (I may see) दोनों हैं। 'अधिक्षमि' में क्षमि सप्तमी विभक्ति का एकवचन है, जिसमें आ का लोप हुआ है। बल देने के लिए अधिक उपसर्ग का प्रयोग किया गया है।

मण्डल १

सूक्त २५

मंत्र १९

संहिता-पाठः

इ॒मं मे॑ वरु॒ण श्रु॒धी हव॑म॒द्या च॑ मृ॒लय। त्वाम॑व॒स्युरा च॑के॒॥

पद-पाठः

इ॒मम॑। मे॒। वरु॒ण। श्रु॒धि। हव॑म्। अ॒द्य। च॑। मृ॒लय। त्वाम॑। उ॒वस्युः॑। आ॒। च॒के॒॥१९॥

अन्वय — वरुण। मे इमम् हवम् श्रुधि, अद्य च मृलय। अवस्युः त्वाम् आचके।

दयानन्द-भाष्य

(इमम्) प्रत्यक्षमनुष्ठितम् (मे) मम (वरुण) सर्वोत्कृष्ट जगदीश्वर विद्वन्त्वा (श्रुधी) शृणु। अत्र बहुलं छन्दसि इति श्नोर्लुक श्रुशृणुपृकृवृभ्य० इति हेर्द्ध्यादेशो अन्येषामपि इति दीर्घश्च। (हवम्) आदातुमर्ह स्तुतिसमूहम् (अद्य) अस्मिन् दिने (च) समुच्चये (मुळ्य) सुखय (त्वाम्) विद्वांसम् (अवस्युः) आत्मनोरक्षणं विज्ञानं चेच्छुः (आ) समन्तात् (चके) प्रशंसामि॥१९॥

भावार्थ — यथेश्वरः खलूपासकैः सत्यप्रेम्णा यां प्रयुक्तां स्तुतिं सर्वज्ञतया यथावच्छ्रुत्वा तदनुकूलतया स्तावकेभ्यः सुखं प्रयच्छति तथैव विद्वद्भिरपि भवितव्यम्॥१९॥

हि०भावार्थ — जैसे परमात्मा जो उपासकों द्वारा निश्चय करके सत्य भाव और प्रेम के साथ की हुई स्तुतियों को अपने सर्वज्ञपन से यथावत् सुन कर उनके अनूकूल स्तुति करने वालों को सुख देता है, वैसे विद्वान् लोग भी धार्मिक मनुष्यों की योग्य प्रशंसा को सुन सुखयुक्त किया करें॥१९॥



## वरुण सूक्त (मण्डल-१, सूक्त-२५)

## सायण-भाष्य

हे वरुण। मे मदीयमिमं हवमाह्वानं श्रुधि शृणु। किं च अद्य अस्मिन्दिने मृळ्य अस्मान् सुख्य। अवस्युः रक्षणेच्छुरहं त्वां वरुणमाभिमुख्येन चके शब्दयामि स्तौमीत्यर्थः।

शब्दार्थ - श्रुधि = सुनिये। हवम् = आह्वान को। अद्य = आज। मृळ्य = सुखी कीजिये। अवस्युः = संरक्षण का अभिलाषी। आचके = पुकार रहा हूँ।

हिन्दी व्याख्या - हे वरुण देवता ! मेरे इस आह्वान को सुनिये और आज मुझको सुखी कीजिये। संरक्षण का अभिलाषी होकर मैं तुमको पुकार रहा हूँ।

## व्याकरण -

श्रुधि - श्रु धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन का वैदिक रूप।

हवम् - ह्वे + अप् (व् सम्प्रसारण, सन्धि और अव् आदेश)।

मृळ्य - मृल् धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

अवस्युः - अवस् + क्यच् + उ (अवस = चाहना)।

चके - 'कै शब्दे' धातु, लिट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन।

विशेष - 'श्रुधी' और अद्या में दीर्घ संहिता-पाठ के नियमों के अनुसार हुआ है। छन्दपूर्ति के लिये 'अवस्यु' को 'अवसियु' पढ़ा जाना चाहिये।

मण्डल १

सूक्त २५

मंत्र २०

## संहिता-पाठः

त्वं विश्वस्य मेधिर दिवश्च ग्मश्च राजसि।

स यामनि प्रति श्रुधि॥

## पद-पाठः

त्वम्। विश्वस्य। मेधिर। दिवः। च। ग्मः। च। राजसि। सः। यामनि। प्रति। श्रुधि॥२०॥

अन्वय - मेधिर! त्वम् दिवः च ग्मः च विश्वस्य राजसि। सः यामनि प्रतिश्रुधि।

## दयानन्द-भाष्य

(त्वम्) यो वरुणो जगदीश्वरः (विश्वस्य) सर्वस्य जगतो मध्ये (मेधिर) मेधाविन् (दिवः) प्रकाशसहितस्य सूर्यादेः (च) अन्येषां लोकलोकान्तराणां समुच्चये (ग्मः) पृथिव्यादेः। ग्मेति पृथिवीनामसु पठितम्। निघं० १।१। (च) अनुकर्षणे (राजसि) प्रकाशसे (सः) (यामनि) यान्ति गच्छन्ति यस्मिन् कालावयवे प्रहरे तस्मिन् (प्रति) प्रतीतार्थे (श्रुधि) शृणु। अत्र बहुलं छन्दसि इति शनोर्लुक्। श्रुशृणुपृक्० इति हेर्घिश्च॥२०॥

भावार्थ - अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथेश्वरेण सर्वस्य जगतो द्विधाभेदः कृतोऽस्ति। एकः प्रकाशसहितः सूर्यादिर्द्वितीयः प्रकाशरहितः पृथिव्यादिश्च यस्तयोरुत्पत्तिविनाशनिमित्तः कालोऽस्ति तत्राभिव्याप्तः सर्वेषां प्राणिनां संकल्पोत्पन्ना अपि



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

वार्ता: शृणोति तस्मान्नैव केनापि कदाचिदधर्मानुष्ठानकल्पना कर्तव्याऽस्ति तथैव सकलैर्मानवैर्विज्ञायानुचरितव्यमिति ।।२०।।

**हि०भावार्थ** — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जैसे परब्रह्म ने इस सब संसार के दो भेद किये हैं एक प्रकाश वाला सूर्य आदि और दूसरा प्रकाश रहित पृथिवी आदि लोक जो इनकी उत्पत्ति वा विनाश का निमित्त कारण काल है उसमें सदा एकसा रहने वाला परमेश्वर सब प्राणियों के संकल्प से उत्पन्न हुई बातों का भी श्रवण करता है, इससे कभी अधर्म के अनुष्ठान की कल्पना भी मनुष्यों को नहीं करनी चाहिये वैसे इस सृष्टिक्रम को जानकर मनुष्यों को ठीक ठीक वर्तना चाहिये ।।२०।।

### सायण-भाष्य

हे मेधिर ! हे मेधाविन्वरुण! त्वं दिवश्च द्युलोकस्यापि गमश्च भूलोकस्यापि एवमात्मकस्य विश्वस्य सर्वस्य जगतो मध्ये राजसि दीप्यसे। सः तादृशः त्वं यामनि क्षेमप्रापणेऽस्मदीये प्रतिश्रुधि प्रतिश्रवणमाज्ञापनं कुरु रक्षिष्यामीति प्रत्युत्तरं देहीत्यर्थः।

**शब्दार्थ** — विश्वस्य = सम्पूर्ण जगत् के। मेधिर = मेधावी। दिवः = द्युलोक का। गमः = पृथिवी लोक का। राजसि = प्रकाशित होते हो। यामनि = मार्ग में, जीवन यात्रा के मार्ग में। प्रतिश्रुधि = प्रत्युत्तर दो।

**हिन्दी व्याख्या** — हे मेधावी वरुण! तुम द्युलोक के और पृथिवी लोक के और इस प्रकार से सम्पूर्ण जगत् के मध्य में प्रकाशित होते हो। ऐसे हे वरुण देवता ! तुम मार्ग में अर्थात् जीवन-यात्रा के मार्ग में मुझे प्रत्युत्तर दो, तुम मेरी रक्षा करोगे, यह प्रत्युत्तर दो।

### व्याकरण —

मेधिर — 'मेधा अस्य अस्ति' अर्थ में मेधा + इरच्।

दिवः — दिव् + क्विप् = दिव्। षष्ठी का एकवचन।

राजसि — राज् धातु, लट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

गमः — 'गम्' धातु से पृथ्वी के अर्थ में निपातन से वैदिक 'ग्मा' बनता है। षष्ठी विभक्ति के एकवचन का वैदिक रूप गमः।

यामनि — या गतौ धातु से मनिन् प्रत्यय। सप्तमी का एकवचन।

**विशेष** — मेधिर, गमः यामनि, श्रुधि ये सभी प्रयोग वैदिक हैं। लोक में इनका प्रयोग नहीं होता। छन्दःपूर्ति के लिए 'त्वम्' को 'तुवम्' उच्चारण करना चाहिये। पीटर्सन ने 'राजसि' का अर्थ 'तुम शासन करते हो' (Thou rulest over) किया है।

मण्डल १

सूक्त २५

मंत्र २१

संहिता-पाठः

उदुत्तमं मुमुग्धि नो विपाशं मध्यमं चृत। अवाधमानि जीवसे।



## वरुण सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-२५ )

पद-पाठः

उत् । उत्तमम् । मुमुग्धि । न । वि । पाशम् । मध्यमम् । चृत ।

अन्वय — नः उत्तमम् पाशम् उन्मुमुग्धि, मध्यमम् विचृत, जीवसे अधमानि अव ।

दयानन्द-भाष्य

(उत्) उत्कृष्टार्थे क्रियायोगे वा (उत्तमम्) उत्कृष्टम् (मुमुग्धि) मोचय । अत्र बहुलं छन्दसि इति श्लुः । (नः) अस्माकम् (वि) विविधार्थे (पाशम्) बन्धनम् (मध्यमम्) उत्कृष्टानुकृष्टयोरन्तर्भवम् (चृत) नाशय । अत्रान्तर्गतोपयर्थः । (अव) क्रियायोगे (अधमानि) निकृष्टानि बन्धनानि (जीवसे) चिरंजीवितुम् । अत्र तुमर्थेसे० इत्यसेन्द्रप्रत्ययः ॥२१॥

भावार्थ — यथा धार्मिकाः परोपकारिणो विद्वांसो भूतेश्वरं प्रार्थयन्ते तेषां जगदीश्वरः सर्वाणि दुःखबन्धनादीनि निवार्येतान् सुखयति तथास्माभिः कथं नानुचरणीयानि ॥२१॥

हि०भावार्थ — जैसे धार्मिक परोपकारी विद्वान् होकर ईश्वर की प्रार्थना करते हैं, जगदीश्वर उनके सब दुःख बन्धनों को छुड़ाकर सुखयुक्त करता है वैसे कर्म हम लोगों को क्यों न करना चाहिए ॥२१॥

सायण-भाष्य

नोऽस्माकमुत्तमं शिरोगतं पाशमुन्मुमुग्धि उत्कृष्ट्य मोचय मध्यममुदरगतं पाशं वि चृतवियुज्य नाशय । जीवसे जीवितुमधमानि मदीयान्पादगतान्पाशानव चृत अवकृष्ट्य नाशय ।

शब्दार्थ — उत्तमम् = ऊर्ध्ववर्ती । उत् मुमुग्धि = ऊपर को खींच कर छुड़ा दो । पाशम् = पाश को । मध्यमम् = कमर के । विचृत = अलग खींच कर नष्ट कर दो । अधमानि = नीचे के । जीवसे = जीवन के लिये ।

हिन्दी व्याख्या — हे वरुण देवता! तुम हमारे इन ऊर्ध्ववर्ती अर्थात् सिर के पाशों को ऊपर खींचकर छुड़ा दो, इन बीच के अर्थात् कमर के पाशों को अलग खींच कर नष्ट कर दो और हमारे जीवन के लिये इन नीचे के अर्थात् पैरों में लगे हुए पाशों को भी खींच कर नष्ट कर दो ।

व्याकरण —

उत्तमम् — उत् + तमप् ।

मुमुग्धि — 'मुच्छृ मोचने' धातु से लोट् लकार, मध्यम पुरुष का एकवचन । 'बहुलं छन्दसि' नियम से तुदादि गण का 'श' न होकर जुहोत्यादि गण का 'ष्लु' विकरण हुआ ।

पाशम् — पश् + चञ् = पाश ।

चृत — 'चृती हिंसा ग्रन्थनयोः' धातु से लोट् लकार, मध्यम पुरुष का एकवचन ।

जीवसे — जीव + असे ('तुमुन्' के अर्थ में वैदिक असे प्रत्यय) ।

विशेष — वेदो में लोक भाषा की अपेक्षा व्यत्यय प्रायः मिलते हैं । 'मुमुग्धि' में व्यत्यय होने से तुदादि गण का 'श' न होकर जुहोत्यादि गण का 'श्लु' हुआ । 'अधमानि' में लिङ्गव्यत्यय होकर पुंलिङ्ग के स्थान पर नपुंसकलिङ्ग हुआ ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****इन्द्र सूक्त****ऋषि—अङ्गिरसो हिरण्यस्तूप****देवता—इन्द्र****छन्द—त्रिष्टुप****मण्डल—१****सूक्त—३२****मन्त्र—१****संहिता पाठ**

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री ।

अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम् ।।१।।

**पदपाठ**

इन्द्रस्य । नु । वीर्याणि । प्र । वोचम् । यानि । चकार । प्रथमानि । वज्री । अहन् । अहिम् । अनु । अपः । ततर्द । प्र । वक्षणाः । अभिनत् । पर्वतानाम् ।।१।।

अन्वय — न इन्द्रस्य वीर्याणि प्रवोचम् यानि वज्री प्रथमानि चकार । अहिम् अहन् अनु अपः ततर्द । पर्वतानाम् वक्षणाः प्र अभिनत् ।।

**दयानन्द भाष्य —**

(इन्द्रस्य) सर्वपदार्थविदारकस्य सूर्यलोकस्येव सभापते रात्रः (नु) क्षिप्रम् (वीर्याणि) आकर्षणप्रकाशयुक्तादिवत् कर्माणि (प्र) प्रकृष्टार्थे (वोचम्) उपदिशेयम् । अत्र लिङ्गर्थे लुङ्भावश्च । (यानि) (चकार) कृतवान् करोति करिष्यति वा । अत्र सामान्यकाले लिट् । (प्रथमानि) प्रख्यातानि (वज्री) सर्वपदार्थविच्छेदक किरणवानिव शत्रूच्छेदी (अहन्) हन्ति । अत्र लङ्गर्थे लङ् । (अहिम्) मेघम् । अहिरिति मेघनामसु पठितम् । निघं० १।१० (अनु) पश्चादर्थे (अपः) जलानि (ततर्द) तर्दति हिनस्ति । अत्र लङ्गर्थे लिट् । (प्रवक्षणाः) वहन्ति जलानि यास्ता नद्यः (अभिनत्) विदारयति । अत्र लङ्गर्थे लङ्गन्तर्गतो ण्यर्थश्च । (पर्वतानाम्) मेघानां गिरीणां वा पर्वत इति मेघनामसु पठितम् । निघं० १।१० ।।१।।

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः । ईश्वरेणोत्पादितोयमग्निमयः सूर्यलोको यथा स्वकीयानि स्वाभाविकगुणयुक्तान्यन्नादीनि प्रकाशाकर्षणदाहछेदनवर्षोत्पत्ति निमित्तानि कर्माण्यहर्निशं करोति तथैव प्रजापालनतत्परैराजपुरुषैरपि भवितव्यम् ।।१।।

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालंकार है । ईश्वर का उत्पन्न किया हुआ यह अग्निमय सूर्यलोक जैसे अपने स्वाभाविक गुणों से युक्त अनादि प्रकाश आकर्षण दाह छेदन और वर्षा की उत्पत्ति के निमित्त कामों को दिन रात करता है । वैसे जो प्रजा के पालन में तत्पर राजपुरुष हैं, उनको भी नित्यप्रति करना चाहिये ।।१।।

**सायण भाष्य —**

वज्री वज्रयुक्तः इन्द्रः प्रथमानि पूर्वसिद्धानि मुख्यानि यानि वीर्याणि पराक्रमयुक्तानि कर्माणि चकार तस्य इन्द्रस्य तानि वीर्याणि नु क्षिप्रं प्रब्रवीमि । कानि वीर्याणीति तदुच्यते । अहिं मेघम् अहन् हतवान् । तदेतदेकं वीर्यम् । अनु पश्चात् अपः जलानि ततर्दं हिंसितवान् भूमौ पातितवानित्यर्थः । इदं द्वितीयं वीर्यम् । पर्वतानां सम्बन्धिनीः वक्षणाः प्रवहणशीलाः नदीः



प्र अभिनत् भिन्नवान् कूलद्वयकर्षणेन प्रवाहितवानित्यर्थः । इदं तृतीयं वीर्यम् । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ।। वीर्याणि । 'शूरवीर विक्रान्तौ' । ण्यन्तात् 'अचो यत्' इति यत् । 'णेरनिटि' इति णिलोपः । 'तित्स्वरितम्' इति स्वरितत्वम् । 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वं न भवति । आद्युदात्तत्वे हि सुशब्देन बहुव्रीहौ 'आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि' इत्येनेनैवोत्तरपदाद्युदात्तत्वस्य सिद्धत्वात् 'वीरवीर्यो च' इति पुनस्तद्विधानमनर्थकं स्यात् । अतोऽवगम्यते 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वं वीरशब्दे न प्रवर्तते इति । अतः परिशेषात् 'तित्स्वरितम्' इति प्रत्ययस्य स्वरितत्वमेव । वोचम् । 'अस्यतिवक्तिख्याति भ्योऽङ्' इति अङादेशः । 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' इति अङभावः । चकार ।। णलि लित्स्वरेण प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम् । यद्वृत्तयोगादनिघातः । अहन् । लङि 'इतश्च' इति इकारलोपे 'हल्ङ्याभ्यः' इति तकारलोपः । अहिम् । आङ्पूर्वात् हन्तेः 'आङिश्चिहनिभ्यः ह्रस्वश्च' (उ०सू० ४.५७७) इति इप्रत्ययः, आङो ह्रस्वत्वं च । चशब्देन 'वेजो ङित् समाने ख्यश्चोदात्तत्वम् । ततर्द । 'उतृदिर् हिंसानादरयोः' । 'तिङ्ङितिङः' इति निघातः । वक्षणाः । 'वक्ष रोषे' । 'क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च' (पा०सू० ३.२.१५१) इति युच् । चित्स्वरं बाधित्वा व्यत्ययेन प्रत्ययस्वरः ।।

शब्दा० — इन्द्रस्य=इन्द्र के, नु=अभी, वीर्याणि=पराक्रमयुक्त कार्य, प्रवोचम्=उच्च स्वर से कहूँगा, यानि=जिनको, चकार=किया था, प्रथमानि=पहिले, वज्री=वज्र धारण करने वाले ने, अहन्=मारा, अहिम्=मेघ को, अपः=जलों को, ततद्=काटा, वक्षणाः=नदियों को, प्र अभिमत्=काटकर प्रवाहित किया, पर्वतानाम्=पर्वतों के ।

हि०अ० — अब मैं इन्द्र के पराक्रमयुक्त कार्यों का कथन करूँगा, जिनको वज्र धारण करने वाले ने पहले किया था । उसने अहि (मेघ) को मारा, जलों का भेदन किया तथा पर्वतों के बीच नदियों को काटकर प्रवाहित किया ।

व्याकरण :

- वीर्याणि — 'वीर विक्रान्तौ' धातु से णिच् प्रत्यय = वीरि । 'अचो यत् से यत् प्रत्यय होकर, 'णेरनिटि' सूत्र से णि का लोप — वीर्य । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन = वीर्याणि ।
- वज्री — वज्र+इनि = वज्रिन् । प्रथमा विभक्ति का एकवचन = वज्री ।
- अहिम् — आङ् उपसर्ग पूर्वक 'हन्' धातु से 'आङिश्चिहनिभ्यां ह्रस्वश्च' सूत्र से इक् प्रत्यय तथा ह्रस्व । अ+हन्+णि, टि का लोप = अहि ।
- अहन् — 'हन्' धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।
- ततर्दः — तृद् (उतृदिर्) धातु लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।
- वक्षणाः — 'वक्ष रोषे' धातु से 'क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च' सूत्र से युच् प्रत्यय । वक्ष यु 'युवोरनाकौ' से अन आदेश । न को ण होकर = वक्षणा । अभिनत् 'भिङ्' धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

विशेष — पीटर्सन ने 'नु' पद का अर्थ 'अव' किया है । सायण ने इसका अर्थ विप्र (शीघ्र)



किया है। यह पद अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। सायण के अनुसार 'प्रथमानि' पद का अर्थ पूर्वसिद्ध अथवा मुख्य है। 'अहिम्' का अर्थ पीटर्सन के अनुसार दैत्य (dragon) है। उसने 'वक्षणाः' पद का अर्थ घाटियाँ (bellies) किया है।

इस मन्त्र में पृथिवी पर जल बरसने की प्रक्रिया कही गई है। इन्द्र मेघ पर वज्र का प्रहार करता है, इसके बाद जल बरसता है। पर्वतों पर जल के बरसने से चट्टानों के टूटने पर नदियों के बहने के मार्ग बनते हैं तथा नदियाँ बहती हैं। मेघों में विद्युत् के चमकने के लिये इन्द्र के वज्र-प्रहार की कल्पना की गई है।

मण्डल-१

सूक्त-३२

मन्त्र-२

संहिता पाठ

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।

वाश्राइव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥२॥

पदपाठ

अहन् । अहिम् । पर्वते । शिश्रियाणम् । त्वष्टा । अस्मै । वज्रम् । स्वर्यम् । ततक्ष ॥ वाश्राः इवः । धेनवः । स्यन्दमानाः । अञ्जः । समुद्रम् । अव । जग्मः । आपः ॥२॥

अन्वय — पर्वते शिश्रियाणाम् अहिम् अहन् । तवष्टा अस्मै स्वर्यम् वज्रम् ततक्ष । वाश्राः धेनवः इव स्यन्दमानाः आपः अञ्जः समुद्रम् अवजग्मुः ॥

दयानन्द भाष्य —

(अहन्) हतवान् हन्ति हनिष्यति वा (अहिम्) मेघमिव शत्रुम् (पर्वते) मेघमण्डले इव गिरौ । पर्वत इति मेघनामसु पठितम् । निघं० १।१० । (शिश्रियाणम्) विविधाश्रयम् (त्वष्टा) स्वकिरणैः छेदनसूक्ष्मकर्ता स्वतेजोभिः शत्रुविदारको वा (अस्मै) मेघाय दुष्टाय वा (वज्रम्) छेदनस्वभावं किरणसमूहं शस्त्रवृन्दं वा (स्वर्यम्) स्वरे गर्जने वाचि वा साधुस्तम् । स्वर इति वाङ्नामसु पठितम् । निघं० १।११ । इदं पदं सायणाचार्येण मिथ्यैव व्याख्यातम् । (ततक्ष) छिनत्ति (वाश्रा इव) वत्सप्राप्तिमुत्कण्ठिताः शब्दायमाना इव (धेनवः) गावः (स्यन्दमानाः) प्रस्रवन्त्यः (अञ्जः) व्यक्तागमनशीला वा । अञ्जव्यक्तिकरण इत्यस्य प्रयोगः । (समुद्रम्) जलेन पूर्णं सागरमन्तरिक्षं वा (अव) नीचार्थे (जग्मुः) गच्छन्ति (आपः) जलानि शत्रुप्राणा वा ॥२॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः । यथा सूर्यः स्वकिरणैरन्तरिक्षस्थं मेघं भूमौ निपात्य जगज्जीवयति तथा सेनेशो दुर्गपर्वताद्याश्रितमति शत्रुं पृथिव्यां संपात्य प्रजाः सततं सुखयति ॥२॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालंकार है। जैसे सूर्य अपनी किरणों से अन्तरिक्ष में रहने वाले मेघ को भूमि पर गिराकर जगत् को जिलाता है, वैसे ही सेनापति किला पर्वत आदि में रहने वाले भी शत्रु को पृथिवी में गिरा के प्रजा को निरन्तर सुखी करता है ॥२॥



## सायण भाष्य -

पर्वते शिश्रियाणम् आश्रितम् अहिं मेघम् अहन् हतवान्। अस्मै इन्द्राय स्वयं सुष्ठु प्रेरणीयं यद्वा शब्दनीयं स्तुत्यं त्वष्टा विश्वकर्मा वज्रं ततक्ष तनूकृतवान्। तेन वज्रेण मेघे भिन्ने सति स्यन्दमानाः प्रस्त्रवणयुक्ताः आपः समुद्रम् अञ्जः सम्यक् अव जम्मुः प्राप्ताः। तत्र दृष्टान्तः। वात्सान्प्रति हम्भारवोपेताः धेनवः इव। यथा धेनवः सहसा वत्सान्प्रति हम्भारवोपेताः धेनवः इव। यथा धेनवः सहसा वत्सगृहे गच्छन्ति तद्वत्।। शिश्रियाणम्। 'श्रिज् सेवायाम्'। लिटः कानच्। द्विर्भावहलादिशेषेयडादेशाः। 'चितः' इत्यन्तोदात्तत्वम्। स्वर्यम्। 'ऋ गतौ'। अस्मात् सुपूर्वात् 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत्। 'संज्ञा पूर्वको विधिरनित्यः' इति वृद्ध्यभावः। यद्वा। 'स्व शब्दोपतापयोः' इत्यस्मात् ण्यति पूर्ववत् वृद्ध्यभावः। 'तित्स्वरितम्' इति स्वरितत्वम्। वाश्यन्ते इति वाश्राः। 'वाशृ शब्दे'। 'स्फायितञ्वि०' इत्यादिना रक्। जग्मुः। उसि 'गमहन०' इति उपधालोपः।।

शब्दा० - अहन् = मारा, अहिम् = मेघ को, पर्वते = पर्वत पर, शिश्रियाणम् = निवास करने वाले को, त्वष्टा = त्वष्टा ने, अस्मै = उसके लिये, वज्रम् = वज्र, स्वर्यम् = शब्द करने वाले; गरजने वाले, ततक्ष = निर्माण किया, वाश्राइव = रम्भाती हुई की तरह, धेनवः = गायें, स्यन्दमानाः = बहता हुआ, अञ्जः = सीधे; तेजी से, समुद्रम् = समुद्र की ओर, अब = नीचे, जग्मुः = जाने लगा, आपः = जल।

हि० अ० - पर्वत पर निवास करने वाले अहि (मेघ) को (उसने) मारा; त्वष्टा ने इसके लिए गरजने वाले वज्र का निर्माण किया; रम्भाती हुई (बछड़े की ओर तेजी से जाने वाली) गायों की तरह, बहता हुआ जल तेजी से नीचे समुद्र की ओर जाने लगा।

## व्याकरण :

शिश्रियाणाम् - 'श्रि' धातु से लिट् लकार के अर्थ में कानच् प्रत्यय। श्रि+आन (कानच्) द्वित्व और हलादि शेष होकर शिश्रि+आन। इ को इयङ् आदेश तथा न को ण होकर = शिश्रियाण।

स्वर्यम् - सु+ऋ+ण्यत् = स्वर्यम्। अथवा 'स्वृ शब्दोपतापयोः' धातु से ण्यत् प्रत्यय होकर स्वर्यम्। यहाँ 'ऋ' को वृद्धि का निषेध होकर गुण हुआ है।

ततक्ष - 'तक्ष' धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

वाश्राः - 'वाशृ शब्दे' धातु से रक् प्रत्यय। वाश्+र = वाश्र।

धेनवः - धि+नु = धेनु। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन = धेनवः।

स्यन्दमानाः - स्यन्द+आन (शानच्)। मुक् का आगम होकर = स्यन्दमान।

विशेष - पीटर्सन ने शिश्रियाणम् का अर्थ 'निवास करने वाले' किया है। 'तक्ष' धातु का अर्थ होता है - किसी वस्तु को छील कर घड़ कर बनाना। इसी से 'तक्षन्' शब्द बना है, जिसका अर्थ है - बढ़ई। 'अञ्जः' पद का अर्थ शीघ्रता से या तीव्रता से भी है। मेघ



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

पर्वतों पर पहुँचते हैं तथा वहाँ बरसते हैं। यहाँ ये जल नदियों में बहते हुए तेजी से समुद्र में पहुँचते हैं। विश्व की रचना करने वाले परमात्मा को 'त्वष्टा' कहा गया है।

'स्वर्यम्' पद का अर्थ सायण ने दो प्रकार से किया है — सु+ऋ+ण्यत्। इस प्रकार 'ऋ गतौ' धातु से व्युत्पत्ति करने पर इसका अर्थ होगा — उत्तम गतिशील। अथवा स्वृ+ण्यत्। स्वृ शब्दोपनापयोः से व्युत्पत्ति करने पर इसका अर्थ होगा — गरजने वाला अथवा शत्रुओं को पीड़ा पहुँचाने वाला।

मण्डल—१

सूक्त—३२

मन्त्र—३

संहिता पाठ

वृषायमाणोऽवृणीतु सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य ।

आ सायकं मघवादत्त वज्र महन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥३॥

पदपाठ

वृषायमाणः । अवृणीत । सोमम् । त्रिकद्रुकेषु । अपिबत् । सुतस्य ॥ आ । सायकम् । मघवा । अदत्त । वज्रम् । अहन् । एनम् । प्रथमजाम् । अहीनाम् ॥३॥

अन्वय — वृषायमाणः सोमम् अवृणीत । त्रिकद्रुकेषु सुतस्य अपिबत् । मघवा सायकम् वज्रम् आ अदत्त । अहीनाम् प्रथमजाम् एनम् अहन् ॥

दयानन्द भाष्य —

(वृषायमाणः) वृष इवाचरन् (अवृणीत) स्वीकरोति । अत्र लङ् लङ् (सोमम्) सूयत् उत्पद्यते यस्तं रसम् । (त्रिकद्रुकेषु) त्रय उत्पत्तिस्थितिप्रलयाख्याः कद्रवो विविधकला येषां तेषु कार्यपदार्थेषु अत्र कदिधातोरौदिकः क्रुन्प्रत्ययः । पुनः समासान्तः कप् च । (अपिबत्) स्वप्रकाशेन पिबति । अत्र लङ् लङ् (सुतस्य) उत्पन्नस्य जगतो मध्ये (आ) क्रियायोगे (सायकम्) शस्त्रविशेषम् (मघवा) मघं बहुविधं पूज्यं धनं यस्य सः । अत्र भूम्यर्थे मतुप् । (अदत्त) ददाति वा । अत्र वर्तमाने लङ् । (वज्रम्) किरणसमूहमिवास्त्रम् (अहन्) हन्ति । अत्र वर्तमाने लङ् । (एनम्) मेघम् (प्रथमजाम्) प्रथमं जायते तम् । अत्र जनसन० ३।२।६७ । अनेन जनधातोर्विट् प्रत्ययः । (अहीनाम्) मेघानाम् ॥३॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः । यथा वृषभो वीर्यवृत्तिं कृत्वा बलिष्ठो भूत्वा सुखी जायते तथैवायं सेनापतिः रसं पीत्वा बलीभूत्वा सुखी जायेत यथा सूर्यः स्वकिरणैर्जलमाकृष्यान्तरिक्षे स्थापयित्वा वर्षयति तथा शत्रुबलान्याकृष्य स्वबलमुन्नीय प्रजासुखायभि वर्षयेत् ॥३॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालंकार है। जैसे बैल वीर्य को बढ़ा बलवान् हो सुखी होता है, वैसे सेनापति दूध आदि पीकर बलवान् हो के सुखी होवे और जैसे सूर्य रस को पी अच्छे प्रकार बरसाता है, वैसे शत्रुओं के बल को खींच अपना बल बढ़ा के प्रजा में सुखों की वृष्टि करे ॥३॥



## सायण भाष्य —

वृषायमाणः वृष इवाचरन् इन्द्रः सोमम् अवृणीत वृतवान् । त्रिकद्रुकेषु ज्योतिः गौः आयुः इत्येतन्नामकाः त्रयो यागाः त्रिकद्रुकाः उच्यन्ते । तेषु सुतस्य अभिषुतस्य सोमस्यांशम् अपिबत् पीतवान् । मघवा धनवान् इन्द्रः सायकं बन्धकं वज्रम् आ अदत्त स्वीकृतवान् । तेन च वज्रेण अहीनां मेघानां मध्ये प्रथमजां प्रथमोत्पन्नं मेघं अहन् हतवान् । । वृषायमाणः । वृष इवाचरन् । कर्तुः क्यङ् सलोपश्च (पा०सू० ३.१.११) इति क्यङ् । 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घः । अदुपदेशात् धातोः अन्तोदात्तत्वे क्यङन्तात् धातोः अन्तोदात्तत्वम् । सायकम् । 'षिञ् बन्धने' । सिनोतीति सायकः । ण्वुल् । लिट्स्वरेणाद्युदात्तत्वम् । प्रथमजाम् । प्रथमं जायते इति प्रथमजाः । 'जनसनखनक्रमगमो विट्' । 'विड्वनोः' इति आत्वम् । ।

शब्दा० — वृषायमाणः = शक्तिशाली सांड की तरह आचरण करता हुआ, अवृणीत = चुना, सोमम् = सोम को, त्रिकद्रुकेषु = ज्योतिः, गौ तथा आयुः नामक तीन आहुतियों में जो अभिप्लव यज्ञ में प्रथम तीन दिन क्रमशः दी जाती हैं, अपिबत् = पान किया, सुतस्य = पीसे हुये सोम का, सायकम् = शस्त्र, मघवा = उदार, दानी, आ अदत्त = धारण किया, वज्रम् = वज्र को, अहन् = मारा, एनम् = इसको, प्रथमजाम् = सर्वप्रथम उत्पन्न, अहीनाम् = राक्षसों में, मेघों में ।

हि०अ० — शक्तिशाली सांड की तरह आचरण करते हुये (इन्द्र ने) सोम को (अपना प्रिय पान) चुना; उसने तीन यागों में पीसे हुंये (सोम) का पान किया । उदार (इन्द्र) ने शस्त्र तथा वज्र को धारण किया, (और उससे) राक्षसों में प्रथम उत्पन्न इसको मारा ।

## व्याकरण :

वृषायमाणः — वृष इव आचरन्, क्यङ् प्रत्यय । वृष+य । दीर्घ होकर शानच् प्रत्यय तथा युक् का आगम एवं न को ण आदेश = वृषायमाण ।

सायकम् — 'षिञ् बन्धने' धातु से ण्वुल् प्रत्यय । सि+वु । वु को अक आदेश, इ को ऐ वृद्धि एवं ऐ को आय् होकर = सायक ।

मघवा — मघ+वतुप् = मघवत् ।

प्रथमजाम् — प्रथमं जायते अर्थ में विट् प्रत्यय । प्रथम+जन्+विट् । विट् का पूरा लोप = प्रथमजन् । 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' सूत्र से जन् के न् को आ आदेश = प्रथमज+आ = प्रथमजा ।

विशेष — पीटर्सन का कथन है — वृषन्, a bull stands as a prototype of virility and retains very often the etymological sense (वृष to pour forth esp, the seminal fluid) as the background of the sense of power that it convey, वृषायमाणः, therefore displaying his power like a bull । सोमम् अवृणीत — Soma is his favourite drink, which was the first food he took after his vritra fight, which he has chosen as an intoxicant as well as a means of making friendships.



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

त्रिकद्रुक का अर्थ सायण ने लिखा है — ज्योतिः, गौ और आयुः नाम के तीन यज्ञ। इन यज्ञों में सोम का अभिषव किया गया, जिसको इन्द्र ने पिया। ग्रासमान और पीटर्सन इस शब्द का अर्थ तीन प्याले (three cups) करते हैं। इन्द्र ने तीन प्यालों में सोम पिया। गेल्डनर के अनुसार त्रिकद्रुक किसी स्थान विशेष का नाम है। पीटर्सन के अनुसार 'सायक' पद का अर्थ है फेंक कर प्रहार करने वाला (सि to shoot)। सायक, a missile।

मण्डल—१

सूक्त—३२

मन्त्र—४

संहिता पाठ

यदिन्द्राहन्प्रथमजामहीनामान्मायिनाममिनाः प्रोत मायाः।

आत्सूर्यं जनयन्ध्यामुषसं तादीत्ना शत्रुं न किला विवित्से॥४॥

पदपाठ

यत्। इन्द्र। अहन्। प्रथमजाम्। अहीनाम्। आत्। मायिनाम्। अमिनाः। प्र। उत। मायाः।  
आत्। सूर्यम्। जनयन्। ध्याम्। उषसम्। तादीत्ना। शत्रुम्। न। किल। विवित्से॥४॥  
अन्वय — उत इन्द्रः! यत् अहीनाम् प्रथमजाम् अहन् आत् मायिनाम् मायाः प्र अमिनाः, आत्  
सूर्यम् उषसम् ध्याम् जनयन्, तादीत्ना किल शत्रुम् न विवित्से।

दयानन्द भाष्य —

(यत्) यम्। सुपाम्० इत्यमो लुक्। (इन्द्र) पदार्थविदारयितः सूर्यलोकसदृश  
(अहन्) जहि (प्रथमजाम्) सृष्टिकालयुगपदुत्पन्नं मेघम् (अहीनाम्) सर्पस्येव मेघावयवानाम्  
(आत्) अनन्तरम् (मायिनाम्) येषां मायानिर्माणं घनाकारं सूर्यप्रकाशाच्छादकं वा बहुविधं  
कर्म विद्यते तेषाम्। अत्र भूम्यर्थ इतिः (अमिनाः) निवारयेद्वा मीनातेर्निगमे। अ० ७।३।८१।  
इति ह्रस्वादेशश्च। (प्र) प्रकृष्टार्थे (उत) अपि (मायाः) अन्धकाराद्या इव (आत्) अद्भुते  
(सूर्यम्) किरणसमूहम् (जनयन्) प्रकटयन् सन् (ध्याम्) प्रकाशमयं दिनम् (उषसम्) प्रातः  
समयम्। अत्र वर्णव्यत्ययेन दीर्घत्वम्। (तादीत्ना) तदानीम्। अत्र पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्।  
अ० ६।३।१०९। अनेन वर्णविपर्यायोकारस्थान ईकार ईकारस्थान आकारस्तुडागमः पूर्वस्य  
दीर्घश्च। (शत्रुम्) वैरिणम् (न) इव (किल) निश्चयार्थे। अत्र निपातस्य च इति दीर्घः।  
(विवित्से) विन्दसि अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदम्॥४॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः। यथा कश्चिच्छत्रोर्वलछल निवार्य तं जित्वा स्वराज्ये  
सुखन्यायप्रकाशौ विस्तारयति तथैव सूर्योपि मेघस्य घनाकारं प्रकाशावरणं निवार्य स्वकिरणान्  
विस्तार्य मेघं छित्त्वा तमो हत्वा स्वदीप्तिं प्रसिद्धीकरोति॥४॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। जैसे कोई राजपुरुष अपने वैरियों के बल और  
छल का निवारण कर और उनको जीत के अपने राज्य में सुख तथा न्याय का प्रकाश  
करता है। वैसे ही सूर्य भी मेघ की घटाओं की घनता और अपने प्रकाश के ढाँपने वाले



मेघ को निवारण कर अपनी किरणों को फैला मेघ को छिन्न भिन्न और अन्धकार को दूर कर अपनी दीप्ति को प्रसिद्ध करता है ॥४॥

सायण भाष्य —

उत अपि च हे इन्द्र यत् यदा अहीनां मेघानां मध्ये प्रथमजां प्रथमोत्पन्नं मेघम् अहन् हतवानसि आत् तदनन्तरं मायिनां मायोपेतानामसुराणां संबन्धिनीः मायाः प्र अमिनाः प्रकर्षेण नाशितवानसि । अनन्तरं सूर्यम् उषसम् उषःकालं द्याम् आकाशं च जनयन् उत्पादयन् आवरकमेघनिवारणेन प्रकाशयन् वर्तसे । तादीत्ना तदानीम् आवरकान्धकाराभावात् शत्रुं घातकं वैरिणं न विवित्से किल त्वं न लब्धवान् खलु ॥ अहन् । हन्तेः लङि 'हल्ङ्याभ्यः०' इति सिलोपः । अडागम उदात्तः । यद्वृत्तयोगादनिघातः । मायिनाम् । मायाशब्दस्य ब्रीह्यादिषु पाठात् 'ब्रीह्यादिभ्यश्च' (पा०सू० ५.२.११६) इति मत्वर्थीय इनिः । अमिनाः । 'मीञ् हिंसायाम्' । क्रैयादिकः । 'मीनातेर्निगमे' (पा०सू० ७.३.८१) इति ह्रस्वत्वम् । तादीत्ना । तदानीम् इत्यस्य पृषोदरादित्वात् वर्णविपर्ययः । किल । 'निपातस्य०' इति दीर्घत्वम् । विवित्से । 'विद्लृ लाभेः' । क्रादिनियमात् प्राप्तः इट् व्यत्ययेन न भवति ॥

शब्दार्थ — यत् = जिस समय, इन्द्र = हे इन्द्र, अहन् = मारा, प्रथमजाम् = सर्वप्रथम उत्पन्न, अहीनाम् = राक्षसों में, मेघों में, आत् = तदनन्तर, मायिनाम् = धूर्त की, मायावियों की, अमिनाः = नष्ट किया, प्र = विशेष रूप से, उत = और, मायाः = धूर्तता, माया, आ = तदनन्तर, सूर्यम् = सूर्य को, जनयन् = उत्पन्न करते हुये, द्याम् = आकाश को, उषासम् = उषा को, तादीत्ना = उस समय, शत्रुम् = शत्रु को, न = नहीं, किल = निश्चित अर्थ का वाचक एक निपात, विवित्से = पाया ।

हि०अ० — हे इन्द्र, जिस समय (तुमने) राक्षसों में प्रथम उत्पन्न को मारा, तथा धूर्तों की धूर्तता नष्ट की, उस समय सूर्य, आकाश तथा उषा को उत्पन्न करते हुए (तुमने) निश्चित रूप से किसी शत्रु को नहीं पाया ।

व्याकरण :

मायिनाम् — माया अस्य अस्ति अर्थ में 'ब्रीह्यादिभ्यश्च' सूत्र से वतूप के अर्थ में इनि प्रत्यय = मायिन् । षष्ठी विभक्ति का बहुवचन = मायिनाम् ।

अमिनाः — 'मीञ् हिंसायाम्' धातु से लङ् लकार, मध्यम पुरुष, एक वचन । 'मीनातेर्निगमे' सूत्र से मी के ई को ह्रस्व ।

विशेष — पीटर्सन के अनुसार 'तादीत्ना' पद तदीत्न से बना है । यहाँ वैदिक दीर्घ हुआ है । उसकी व्याख्या के अनुसार 'किल उषसम्' का 'किला उषासम्' दीर्घ इस प्रकार हुआ — The vowels of किल and उषसम् have been strengthened because they are the eighth and tenth syllabus; cf. प्रति ५२३ एकादशिद्वादशिनोर्लधावष्टममक्षरम् । उदये संहिताकाले, In lines of eleven and twelve syllabus (i.e. of the त्रिष्टुभ् and जगती) the eighth syllables becomes long when in the Sanhita the



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

following syllable (उदय) is short, and ५२५, दशशं चैतयोरेयम् (under like circumstances)।

मण्डल-१

सूक्त-३२

मन्त्र-५

संहिता पाठ

अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन ।

स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक्पृथिव्याः ॥५॥

पदपाठ

अहन् । वृत्रम् । वृत्रतरम् । वि॒स्यं॒सम् । इन्द्रः । वज्रेण । मह॒ता । व॒धेन॑ ॥ स्कन्धांसि॒ऽइव ।  
कुलि॒शेन॒ । वि॒वृक्णा॒ । अहिः । श॒यते॒ । उ॒प॒ऽपृक् । पृ॒थि॒व्याः ॥५॥

अन्वय — इन्द्रः महता बधेन वज्रेण वृत्रतरम् वृत्रम् व्यंसम् अहन् । इव कुलिशेन स्कन्धांसि विवृक्णा इव अहिः पृथिव्याः उपपृक् शयते ॥

दयानन्द भाष्य —

(अहन्) हतवान् (वृत्रम्) मेघम् । वृत्रो मेघ इति नैरुक्ताः । निरु० २।१६ । वृत्रं जघ्निवानपववार । तद्वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा वधतेर्वा । यद्वृणोतद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्तत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्द्धत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । निरु० २।१७ । वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये । यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद्वृत्रो नाम ॥४॥ तमिन्द्रोजघान, स हतः पूतिः सर्वतएवापोऽभि (प्र) सुस्नाव सर्वत इव ह्ययं समुद्रस्तस्मादुहैका आपो वीभत्सां चकिरे ता उपर्युपर्यति पुप्रविरे ॥ श० १।१।३।४-५ । एतैर्गुणैर्युक्तत्वान्मेघस्य वृत्र इति संज्ञा । (वृत्रतरम्) अतिशयेनावरकम् (व्यंसम्) विगता अंसाः स्कन्धवदवया यस्य तम् (इन्द्रः) विद्युत् सूर्यलोकाख्य इव सेनाधिपतिः (वज्रेण) छेदकेनोष्मकिरणसमूहेन (महता) विस्तृतेन (बधेन) हन्यते येन तेन (स्कन्धांसीव) शरीरावयवबाहुमूलादीनीव । अत्र स्कन्देश्च स्वाङ्गे । उ०४।२१४ । अनेनासुन्प्रत्ययो धकारादेशश्च । (कुलिशेन) अतिशितधारेण खड्गेन । अत्र अन्येषामपि दृश्यत इति दीर्घः । (विवृक्णा) विविधतया छिन्नानि । अत्र श्रोत्रश्चूछेदन इत्यस्मात्कर्मणि निष्ठा । ओदितश्च [अ०८।२।४५३ इति नत्वम् । निष्ठादेशः षत्वस्वर प्रत्ययेङ्विधिषु सिद्धो वक्तव्यः । अ०८।२।६ इति वार्तिकेन झलि षत्वे कर्तव्ये झल्परत्वाभावात् षत्वं न भवति । चोः कुरिति कुत्वं शेषछन्दसि इति शैर्लोपः । (अहिः) मेघः (शयते) शेते । अत्र बहुलं छन्दसि इति शपो लुङ् न । (उपपृक्) उपसामीप्यं पृङ्क्ते स्पृशति यः सः (पृथिव्या) भूमेः ॥५॥

भावार्थः — अत्रवाचकलुप्तोपमालङ्कारौ । यथा कश्चिन्महता शितेन शस्त्रेण शत्रोः शरीरावयवान् छित्वा भूमौ निपातयति स हतः पृथिव्यां शेते तथैवायं सूर्यो विद्युश्च मेघावयवान् छित्वा भूमौ निपातयति स भूमौ निहतः शयान इव भासते ॥



## इन्द्र सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-३२ )

**हि०भावार्थ** — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा और उपमालंकार है। जैसे कोई अतितीक्ष्ण तलवार आदि शस्त्रों से शत्रुओं के शरीर को छेदन कर भूमि में गिरा देता और वह मरा हुआ शत्रु पृथिवी पर निरन्तर सो जाता है। वैसे ही यह सूर्य और बिजली मेघ के अंगों को छेदन कर भूमि में गिरा देती और वह भूमि में गिरा हुआ सोते के समान दीखता है।।

**सायण भाष्य** —

अयम् इन्द्रः वज्रेण संपादितो यो महान् वज्रः तेन वज्रेण वृत्रतरम् अतिशयेन लोकानाम् आवरकम् अन्धकाररूपम्। यद्वा। वृत्रैः आवरणैः सर्वान् शत्रून् तरति तं वृत्रम् एतन्नामकमसुरं व्यंसं विगतांसं छिन्नबाहुः यथा भवति तथा अहन् हतवान्। अंसच्छेदे दृष्टान्तः। कुलिशेन कुठारेण विवृक्णा विशेषतश्छिन्नानि स्कन्धासीव। यथा वृक्षस्कन्धाश्छिन्ना भवन्ति तद्वत्। तथा सति अहिः वृत्रः पृथिव्याः उपरि उपपृक् सामीप्येन संपृक्तं शयते शयनं करोति छिन्नकाष्ठवत् भूमौ पततीत्यर्थः।। वृत्रतरम्। 'धृतु वर्तने' 'स्फायितश्चि०' इत्यादिना भावे रक्प्रत्ययान्तो वृत्रशब्दः। वृत्रेण आवरणेन सर्वं तरतीति वृत्रतरः। तरतेः पचाद्यच्। 'परादिशश्छन्दति बहुलम्' इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम्। तरपि तु व्यत्ययेन व्यंसम्। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे 'उदात्तस्यरियोर्यजः०' इति स्वरितत्वम्। वधेन। 'हनश्च इयः' इति भावे अपः तत्संनियोगेन धातोः बधादेशः। स च अन्तोदात्तः। अन्त्यस्य अकारस्य —अतो लोपः' इति लोपः। उदात्तनिवृत्तिस्वरेण प्रत्ययस्योदात्तत्वम्। विवृक्णा। 'ओब्रश्चू छेदने'। कर्मणि निष्ठा। 'यस्य विभाषा' इति इट्प्रतिषेधः। 'ओदितश्च' (पा०सू० ८.२.४५) इति परत्वात् निष्ठानत्वम्। ततो 'ब्रश्चभ्रस्ज०' इति षत्वे प्राप्ते 'निष्ठादेशः षत्वरप्रत्ययेङ्विधिषु सिद्धो वक्तव्यः' (पा०सू० ८.२.६.७) इति नत्वस्य सिद्धत्वेन झल्परत्वाभावात् षत्वं न भवति। कुत्वे तु कर्तव्ये तदसिद्धमेव (पा०सू० ८.२.१) इति 'चोः कुः' इति कुत्वम्। 'शेश्छन्दसि बहुलम्' इति शेलोपः। 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृति स्वरत्वम्। शयते। 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुगभावः। पृथिव्याः। 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' इति विभक्तेरुदात्तत्वम्।।

**शब्दा०** — अहन् = मारा, वृत्रम् = वृत्र को, वृत्रतरम् = वृत्र से बड़ा, व्यंसम् = व्यंस नामक असुर को, इन्द्रः = इन्द्र ने, वज्रेण = वज्र से, महता = महान्, बधेन = शस्त्र से, स्कन्धासीव = वृक्ष की शाखाओं की तरह, कुलिशेन = कुठार से, विवृक्णा = काट कर गिराये गये, अहिः = मेघ का राक्षस के रूप में मानवीकृत नाम, शयते = सो रहा है, उपपृक् = समीप, गोद में, पृथिव्याः = पृथिवी की।

**हि०अ०** — (इन्द्र ने) वृत्र को (अपने) महान् शस्त्र वज्र से मारा; वृत्र से बड़े शत्रु व्यंस को (मारा)। कुठार से काटकर गिराये गये वृक्ष को शाखाओं की तरह वह राक्षस पृथ्वी की गोद में सो रहा है।

**व्याकरण :**

**वृत्रतरम्** — अतिशयेन् वृत्रम् = वृत्रतरम्। तरप् प्रत्यय। अथवा वृत्रैः तरति इति तम् = वृत्र+तृ+अच् = वृत्रतर।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

- व्यंसम् — विगतौ असौ यस्य तम् ।  
 वधेन — वधः येन तेन । हन्+अप्, हन् को वध आदेश = वध ।  
 विवृक्णा — वि+व्रश्च् धातु से क्त प्रत्यय = वि+व्रश्च+क्त । निष्ठा के त को न आदेश, च् को क् आदेश एवं श् का लोप होकर विवृक्ण । नपुंसक लिङ्ग, प्रथमा विभक्ति का बहुवचन वैदिक रूप = विवृक्णा ।  
 शयते — शी+अ(शप्)+ते । ई को ए गुण और अयादेश = शयते ।  
 उपपृक् — उप+पृच् = क्विप् = उपपृक् ।

विशेष — पीटर्सन ने वृत्र में श्लेष मानकर इसके दो अर्थ किये हैं — वृत्र नामक असुर तथा शत्रु । उसने वृत्रसर का अर्थ अधिक बड़ा शत्रु किया है तथा व्यंस को संज्ञा माना है । इस प्रकार उसने 'अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यसम्' का अर्थ किया है — इन्द्र ने वृत्र नामक शत्रु को मारा और अधिक बड़े शत्रु व्यंस को मारा (Indra killed Vrtra the enemy and Vyanisa — that greater enemy) । गोल्डनर ने वृत्रतरम् का अर्थ the greatest enemy किया है ।

मण्डल—१

सूक्त—३२

मन्त्र—६

संहिता पाठ

अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे महावीरं तुविबाधमृजीषम् ।  
 नातारीदस्य समृतिं बधानां सं रुजानाः पिपिषे इन्द्रशत्रुः ॥६॥

पदपाठ

अयोद्धाऽव । दुःमदः । आ । हि । जुह्वे । महावीरम् । तुविऽबाधम् ॥ ऋजीषम् । न । अतारीत् ।  
 अस्य । समऽऋतिम् । बधानाम् । सम् । रुजानाः । पिपिषे । इन्द्रऽशत्रुः ॥  
 अन्वय — दुर्मदः महावीरम् तुविबाधम् ऋजीषम् अयोद्धा इव हि आ जुह्वे । अस्य वधानाम् समृतिम् न अतारीत् । इन्द्रशत्रुः रुजानाः संपिपिषे ॥

दयानन्द भाष्य —

(अयोद्धेव) न योद्धा अयोद्धा तद्धत् (दुर्मदः) दुष्टो मदो यस्य सः (आ) समन्तात् (हि) खलु (जुह्वे) आहूतवानस्मि वा छन्दसि सर्वविधयो भवन्ति इत्युवडादेशो न । (महावीरम्) महाश्वासौ वीरश्च तमिव महाकर्षणप्रकाशादिगुणयुक्तं सूर्यलोकम् (तुविबाधम्) यो बहून् शत्रून् बाधते तम् (ऋजीषम्) उपाजैकम् । अत्र अर्जेऽर्जं च । उ०४।२९ । इत्यर्जधातोरीषन् प्रत्यय ऋजादेशश्च । (न) निषेधार्थे (अतारीत्) तरत्युल्लङ्घयति वा । अत्र वर्तमाने लुङ् । (अस्य) सूर्यलोकस्य (समृतिम्) संगतिम् (बधानाम्) हननानाम् (सम्) सम्यगर्थे (रुजानाः) नद्यः । रुजाना इति नदीनामसु पठितम् । निघं० १।१३ । (पिपिषे) पिष्टः । अत्र व्यत्ययेना मनेपदं च । (इन्द्रशत्रुः) इन्द्रः शत्रुर्यस्य वृत्रस्य सः ॥



**भावार्थ** — अत्रोपमालङ्कारः। यथा मेघो जगत्प्रकाशाय प्रवर्तमानस्य सूर्यस्य प्रकाशमकस्मादुत्थायावृत्य च तेन सह युद्धयत इव प्रवर्तते परन्तु सूर्यस्य सामर्थ्यं नालं भवति । यदायं सूर्येण हतो भूमौ निपतति तदा तच्छरीरावयवेन जलेन नद्यः पूर्णा भूत्वा समुद्रं गच्छन्ति तथा राजा शत्रून् हत्वाऽस्तं नयेत् ।।

**हि०भावार्थ** — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। जैसे मेघ संसार के प्रकाश के लिये वर्तमान सूर्य के प्रकाश को अकस्मात् पृथिवी से उठा और रोक कर उस के साथ युद्ध करते हुए के समान वर्तता है, तो भी वह मेघ सूर्य के सामर्थ्य का पार नहीं पाता। जब यह सूर्य मेघ को मारकर भूमि में गिरा देता है, तब उसके शरीर के अवयवों से निकले हुए जलों से नदी पूर्ण होकर समुद्र में जा मिलती है। वैसे राजा को उचित है कि शत्रुओं को मार के निर्मूल करता रहे ।।

**सायण भाष्य** —

दुर्मदः दुष्टमदोपेतो दर्पयुक्तो वृत्रः अयोद्धेव योद्धरहित इव इन्द्रम् आ जुह्वे हि आहूतवान् खलु। कीदृशमिन्द्रम्। महावीरं गुणैः महान् भूत्वा शौर्योपेतं तुविबाधं बहूनां बाधकं ऋजीषं शत्रूणाम् पार्जकम्। अस्य ईदृशस्य इन्द्रस्य सम्बन्धिनो य शत्रुवधाः सन्ति तेषां बधानां समृतिं संगमं नातारीत् पूर्वोक्तो दुर्मदः तरीतुं नाशक्नोत्। इन्द्रशत्रुः इन्द्रः शत्रुर्घातको यस्य वृत्रस्य तादृशी वृत्रः इन्द्रेण हतो नदीषु पतितः सन् रुजानाः नदीः संपिपिषे सम्यक् पिष्टवान्। सर्वान् लोकानावृण्वतो वृत्रदेहस्य पातेन नदीनां फूलानि तत्रत्यपाषाणादिकं च चूर्णीभूतमित्यर्थः ।। अयोद्धा इव। न विद्यते योद्धास्येति बहुव्रीहौ 'नञ्चुभ्याम्' इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। समासान्तविधेरनित्वात् (परिभा० ८४) 'नद्यमश्च (पा०सू० ५.४.१५३) इति कवभावः। जुह्वे। 'द्वेज् स्पर्धायां शब्दे च' (पा०सू० ६.१.३३) इति संप्रसारणम्। उवडादेशाभावश्छान्दसः। यद्वा। 'छन्दस्युभयथा' इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'हुश्नुवोः सार्वधातुके' (पा०सू० ६.४.८७) इति यणादेशः। अत्र लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा (परिभा० १०५) लक्ष्यानुरोधान्नाश्रीयते। इतस्था हि आजुह्वानः इत्यादिषु यणादेशो न स्यात्। न चैवं सति 'सातये हुवे बाम्' (ऋ०सं० ६.६०.१३) इत्यादावपि तथा स्यादिति वाच्यं अनेकाचत्वाभावात्। अनेकाच इति हि तत्रानुवर्तते। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्। 'हि च' इति निघातप्रतिषेधः। महावीरम्। महांश्चासौ वीरश्च महावीरः। 'आन्महतः०' (पा०सू० ६.३.४६) इति शात्वम्। तुविबाधम्। 'वाधृ विलोडने'। तुवीन् प्रभूतान् बाधते इति तुविबाधः। पचाद्यच्। कुदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्। समृतिम्। —तादौ च०' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। रुजानाः। 'रुजो भङ्गे'। रुजन्ति कूलानीति रुजाना नद्यः। :रुजाना नद्यो भवन्ति रुजन्ति कूलानि' (निरु० ६.४) इति यास्कः। व्यत्ययेन शानच्। 'तुदादिभ्यः शः'। नुमभावश्छान्दसः। अदुपदेशात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वे विकरण स्वरः। पिपिषे। 'पिष्टृ संचूर्णने'। व्यत्ययेन लिट्। इन्द्रशत्रुः। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ।।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

शब्दा० — अयोद्धेव = असमर्थ योद्धा की तरह, दुर्मदः = दर्पयुक्त, हि = निश्चित अर्थ का वाचक एक निपात, अः जुह्वे = ललकारा, महावीरम् = महान् शक्तिशाली को, तुविबाधम् = बहुतों को अभिभूत करने वाले, ऋजीषम् = अन्तिम अवशिष्ट बूँद तक सोमपान करने वाले, न = नहीं, अतारीत् = पार पा सका, अस्य = उस इन्द्र के, समृतिम् = संगति को, वधानाम् = शस्त्रों के प्रहार को, रुजानाः = नदियों को, सं पिपिषे = कुचल डाला, इन्द्रशत्रुः = इन्द्र है, जिसको सताने वाला, अर्थात् वृत्र।

हि०अ० — दर्पयुक्त, असमर्थ योद्धा की तरह (वृत्र ने) महाशक्तिशाली, सबको अभिभूत करने वाले तथा अन्तिम अवशिष्ट बूँद तक सोमपान करने वाले (इन्द्र) को ललकारा। (किन्तु वह वृत्र) उस (इन्द्र) के शस्त्रों के प्रहार की सङ्गति को पार न पा सका। वृत्र जिसका शत्रु इन्द्र है, ने (गिरकर) नदियों को (पूर्णरूप से) कुचल डाला (अर्थात् अधिक जल से नदियों के तटों को दबोच डाला)।

व्याकरण :

- अयोद्धा — न+योद्धा = अयोद्धा। तत्पुरुष समास। अथवा — न विद्यते योद्धा अस्य = अयोद्धा। बहुव्रीहि समास।
- दुर्मदः — दुष्टः मदः यस्य स।
- तुविबाधम् — तुवीन् बाधते इति तम्। तुवि+बाध्+अच् = तुविबाध।
- समृतिम् — सम्+ऋ+वितन्।
- रुजानाः — रुज्+शानच्=रुजान। रुजन्ति कूलानि इति रुजानाः नद्यः।
- पिपिषे — पिप्लृ संचूर्णने। लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।
- इन्द्रशत्रुः — इन्द्रः शत्रुः यस्य स। बहुव्रीहि समास।

विशेष — दुर्मदः का अर्थ पीटर्सन ने किया है — मादक पदार्थों के बुरे प्रभावों से प्रभावित (under the evil effects of intoxication)। उसके अनुसार ऋजीषम् का अर्थ है — सोम रस का पान करने वाला (the drinker of Soma)। गेल्डनर ने भी यही अर्थ किया है। पीटर्सन के अनुसार समृतिम् का अर्थ है — मारण (onslought)। उसके अनुसार रुजानाः का अर्थ है — रुज+अनस् = रथ को तोड़ने वाला। गेल्डनर ने अर्थ किया है — रुज+नास् = नाक को तोड़ने वाला। आल्डनवर्थ ने इसका अर्थ किया है — वज्र के प्रहार से पीड़ित होता हुआ।

मण्डल—१

सूक्त—३२

मन्त्र—७

संहिता पाठ

अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान।  
वृष्णो वधिः प्रतिमानं बुभूषन्पुरुत्रा वृत्रो अशयद्वयस्तः॥७॥



## पद पाठ

अपात् । अहस्तः । अपृतन्यत् । इन्द्रम् । आ । अस्य । वज्रम् । अधि । सानौ । जघान् । । वृष्णः  
वधिः । प्रतिमानम् । बुभूषन् । पुरुत्रा वृत्रः । अशयत् । विज्यस्तः । ।

अन्वय — अपात् अहस्तः इन्द्रम् अपृतन्यत् । अस्य सानौ अधि वज्रम् आ जघान । वृष्णः  
प्रतिमानम् बुभूषन् वधिः वृत्रः पुरुत्रा व्यस्तः अशयत् । ।

## दयानन्द भाष्य —

(अपात्) अविद्यमानौ पादौ यस्य सः (अहस्तः) अविद्यमानौ हस्तौ यस्य सः  
(अपृतन्यत्) आत्मनः पृतनां युद्धमिच्छतीति । अत्र कव्यध्वरपृतनस्य । अ०७।४।३९।  
इत्याकारलोपः (इन्द्रम्) सूर्यलोकम् (आ) समन्तात् (अस्य) वृत्रस्य (वज्रम्) स्वकिरणाख्यम्  
(अधि) उपरि (सानौ) अवयवे (जघान) हतवान् (वृष्णः) वीर्यसेक्तुः पुरुषस्य (वधिः) बध्यते  
स वधिः । निर्वीर्यो नपुंसकमिव । अत्र बन्धधातोर्बाहुलकादौणादिकः क्रिन् प्रत्ययः । (प्रतिमानम्)  
सादृश्यं परिमाणं वा (बुभूषन्) भवितुमिच्छन् (पुरुत्रा) बहुषु देशेषु पतितः सन् । अत्र  
देवमनुष्यपुरुष० ५।४।५६। इति त्रा प्रत्ययः । (वृत्र) मेघः (अशयत्) शयितवान् । व्यत्ययेन  
परस्मैपदम् । बहुलं छन्दसि इति शपो लुङ् न । (व्यस्तः) विविधतया प्रक्षिप्तः । ।

भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः । यथा कश्चिन्निर्वलो बलवता सह युद्धं कर्तुं  
प्रवर्तते तथैव वृत्रो मेघः सूर्येण सहयुद्धकारीव प्रवर्तते यथान्ते सूर्येण छिन्नोभिन्नः सन्  
पराजितः पृथिव्यां पतति तथैव यो धार्मिकेण राज्ञा सह योद्धुं प्रवर्तते तस्यापीदृश्येव गतिः  
स्यात् । ।

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है । जैसे कोई निर्बल पुरुष बड़े बलवान्  
के साथ युद्ध चाहें वैसे ही वृत्र मेघसूर्य के साथ प्रवृत्त होता है और जैसे अन्त में वह मेघ  
सूर्य से छिन्न भिन्न होकर पराजित हुए के सामन पृथिवी पर गिर पड़ता है वैसे जो  
धर्मात्मा बलवान् पुरुष के संग लड़ाई को प्रवृत्त होता है, उसकी भी ऐसी ही दशा होती  
है ।

## सायण भाष्य —

अपात् वज्रेण छिन्नत्वात् पादरहितः अहस्तः हस्तरहितः वृत्रः इन्द्रम् उद्दिश्य  
अपृतन्यत् पृतनां युद्धम् ऐच्छत् । द्वेषाधिक्येन बहुधा विद्धोऽपि युद्धं न परित्यक्तवानित्यर्थः ।  
अस्य हस्तपादहीनस्य वृत्रस्य सानौ पर्वतसानुसदृशे प्रौढस्कन्धे अधि उपरि वज्रम् आ  
जघान इन्द्रः आभिमुख्येन प्रक्षिप्तवान् । अशक्तस्यापि युद्धेच्छायां दृष्टान्तः । वधिः छिन्नमुष्कः  
पुरुषः वृष्णः रेतः सेचन समर्थस्य पुरुषान्तरस्य प्रतिमानं सादृश्यं बुभूषन् प्राप्तुमिच्छन् यथा  
न शक्नोति तद्वदयमिति शेषः । सः वृत्रः पुरुत्रा बहुष्वचयवेषु व्यस्तः विविधं क्षिप्तः ताडितः  
सन् अशयत् भूमौ पतितवान् । । अपात् । बहुव्रीहौ पादशब्दस्य अन्त्यलोपश्छान्दसः । अहस्तः ।  
बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । अपृतन्यत् । 'सुप आत्मनः क्यच्' ।  
'कव्यध्वरपृतनस्य०' इति अन्त्यलोपः । बुभूषन् । 'सनि ग्रहगुहोश्च' (पा०सू० ७.२.१२) इति



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

इट्प्रतिषेधः । पुरुत्रा । 'देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्त-भ्योर्बहुलम्' (पा०सू० ५.४. ५६) इति सप्तम्यर्थे त्राप्रत्ययः । अशयत् । व्यत्ययेन परस्मैपदम् । 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुगभावः । व्यस्तः । 'असु क्षेपणे' इत्यस्मात् कर्मणि क्तः । 'यस्य विभाषा' इति इट्प्रतिषेधः । 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । संहितायाम् 'उदात्तस्वरितयोर्यणः०' इति परस्यानुदात्तस्य स्वरितत्वम् ।।

शब्दा० — अपात् = पैर रहित, अहस्तः = हाथ रहित, अपृतन्यत् = युद्ध करना चाहा, इन्द्रम् = इन्द्र के साथ, अस्य = उस वृत्र के, वज्रम् = वज्र को, अधि सानौ = कंधे पर, जघान = प्रहार किया, वृष्णः = शक्तिशाली, वधिः = बधिया किया हुआ, नपुंसक, प्रतिमानम् = समानता, बुभूषन् = होने की इच्छा करता हुआ, पुरुत्रा = कई स्थानों पर, वृत्रः = वृत्र, अशयत् = पड़ गया, व्यस्तः = बिखरे अंग वाला होकर ।

हि०अ० — पैर रहित तथा हाथ रहित (वृत्र) ने इन्द्र से युद्ध करना चाहा, (इन्द्र ने) उस (वृत्र) के कंधे पर वज्र से प्रहार किया । वृत्र एक नपुंसक (की भाँति) शक्तिशाली की समानता करने की इच्छा करता हुआ कई स्थानों में बिखरे अंग वाला (पृथिवी पर) पड़ गया ।

**व्याकरण :**

अपात् — न पादौ यस्य स । बहुव्रीहि समास । पाद के अन्तिम वर्ण का छान्दस लोप ।

अहस्तः — न हस्तौ यस्य स ।

अपृतन्यत् — 'पृतनाम् आत्मनः इच्छति' अर्थ में 'सुप आत्मनः क्यच्' से क्यच् प्रत्यय = पृतन्यन्ति । लङ्ग लकार प्रथम पुरुष, एक वचन = अपृतन्यत् ।

प्रतिमानम् — प्रति+मा+ल्युट् (अन) = प्रतिमान ।

बुभूषन् — भवितुम् इच्छति अर्थ में सन् प्रत्यय = बुभुष+शतृ ।

पुरुत्रा — पुरुष अर्थ में, सप्तमी विभक्ति के अर्थ में त्र प्रत्यय ।

अशयत् — शी धातु लङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एक वचन । छान्दस परस्मैपद तथा शप् के लोप का अभाव ।

व्यस्तः — वि+असु क्षेपणे+क्त = व्यस्त ।

विशेष — पीटर्सन ने अपृतन्यत् का अर्थ युद्ध किया है । उसके अनुसार सानौ का अर्थ है — on his back ।

इस मन्त्र में वृत्र की उपमा बधिया बैल से तथा इन्द्र की उपमा सांड से दी गई है । जिस प्रकार बधिया बैल सांड से लड़कर पराजित होता है, उसी प्रकार वृत्र इन्द्र से लड़कर पराजित हुआ ।



मण्डल-१

सूक्त-३२

मन्त्र-८

संहिता पाठ

नदं न भिन्नममुया शयानं मनो रुहाणा अतिं यन्त्यापः ।  
याश्चिद्वृत्रो महिना पर्यतिष्ठत् तासामहिः पत्सुतः शीर्बभूव ॥८॥

पद पाठ

नदम् । न । भिन्नम् । अमुया । शयानम् । मनः । रुहाणाः । अतिं । यन्ति । यापः । या । चित् ।  
वृत्रः । महिना । परिऽअतिष्ठत् । तासाम् । अहिः । पत्सुतऽशीः । बभूव ॥८॥

अन्वय — भिन्नम् नदम् न अमुया शयानम्, मनः रुहाणाः आपः अतियन्ति । वृत्र महिना  
याश्चित् पर्यतिष्ठत् अहिः तासाम् पत्सुतः शीः बभूव ॥

दयानन्द भाष्य —

(नदम्) महाप्रवाहयुक्तम् (न) इव (भिन्नम्) विदीणेतटम् (अमुया) पृथिव्या सह  
(शयानम्) कृतशयनम् (मनः) अन्तःकरणमिव (रुहाणाः) प्रादुर्भवन्त्यश्चलन्त्यो नद्यः (अति)  
अतिशयार्थं (यन्ति) गच्छन्ति (आपः) जलानि । आप इत्युदकनामसु पठितम् । निघं० १।१२  
(याः) मेघमण्डलस्थाः (चित्) एव (वृत्रः) मेघः (महिना) महिम्ना । अत्र छान्दसोवर्णलोपो वा  
इति मकारलोपः । (पर्यतिष्ठत्) सर्वत आवृत्य स्थितः (तासाम्) अपां समूहः (अहिः) मेघः  
(पत्सुतःशीः) यः पादेष्वधः शेते सः । अत्र सप्तम्यन्तात्पादशब्दात् । इतराभ्योपि दृश्यन्ते ।  
अ०५।३।१४। इति तसिल् । वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति इति विभक्त्यलुक् । शीङ्धातोः  
क्विप् च । (बभूव) भवति । अत्र लङर्थे लिट् ॥

भावार्थ — अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ । यावज्जलं सूर्येण छेदितं वायुना सह भवमण्डलं  
गच्छति तावत्सर्वं मेघं एव जायते यदा जलाशयोऽतीव वर्द्धते तदा सघनपृतनः सन्  
स्वविस्तारेण सूर्यज्योतिर्निरुणद्धि तं यदा सूर्यः स्वकिरणैश्छिनत्ति तदायमितस्ततो जलानि  
महानदं तडागं समुद्रं वा प्राप्य शेरते सोऽपि पृथिव्यां यत्र तत्र शयानः सन् मनुष्यादीनां  
पादाध इव भवत्येवमधार्मिकोप्येधित्वा सद्यो नश्यति ॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा और उपमालङ्कार है । जितना जल सूर्य से  
छिन्न भिन्न होकर पवन के साथ मेघमण्डल को जाता है, वह सब जल मेघरूप ही हो  
जाता है । जब मेघ के जल का समूह अत्यन्त बढ़ता है, तब मेघ घनी घनी घटाओं से  
घुमड़ि घुमड़ि के सूर्य के प्रकाश को ढांप लेता है, उसको सूर्य अपनी किरणों से जब  
छिन्न भिन्न करता है, तब इधर उधर आए हुए जल बड़े बड़े नदताल और समुद्र आदि  
स्थानों को प्राप्त होकर सोते हैं, वह मेघ भी पृथिवी को प्राप्त होकर जहाँ-तहाँ सोता है  
अर्थात् मनुष्य आदि प्राणियों के पैरों में सोता सा मालूम होता है, वैसे अधार्मिक मनुष्य  
भी प्रथम बढ़ के शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****सायण भाष्य —**

अमुया अमुष्यां पृथिव्यां शयानं पतितं मृतं वृत्रम् आपः जलानि यन्ति अतिक्रम्य गच्छन्ति । तत्र दृष्टान्तः । भिन्नं बहुधा भिन्नकूलं नदं न सिन्धुमिव । यथा वृष्टिकाले प्रभूता आपो नद्याः कूलं भित्त्वा अतिक्रम्य गच्छन्ति तद्वत् । कीदृश्य आपः । मनो रुहाणाः तृणां चित्तमारोहन्त्यः । पुरा वृत्रे जीवति सति तेन निरुद्धा मेघस्थिता आपो भूमौ वृष्टा न भवन्ति तदानीं तृणां मनः खिद्यते । वृत्रः जीवन दशायां महिना स्वकीयेन महिम्ना याश्चित् या एव मेघगताः अपः पर्यतिष्ठत् परिवृत्य स्थितवान्, अहिः वृत्रो मेघः तासाम् अपां पत्सुताशीः पादस्याश्रः शयानः बभूव । यद्यप्यपां पादो नास्ति तथाप्यदभिवृत्रस्य अभिलङ्घित्वात् पादस्याधः शयनमुपपद्यते । भिन्नम् । 'रदाभ्यां निष्ठातो नः०' (पा०सू० ८.२.४२) इति नत्वम् । अमुया । सुपा सुलुक् इति सप्तम्या याजादेशः । शयानम् । 'शीङ् सार्वधातुके गुणः' (पा०सू० ७.४.४१) । धातोर्ङित्वात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः । रुहाणाः 'रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे' व्यत्ययेन शानच् । कर्तरि शप् प्राप्ते व्यत्ययेन शः । 'अनित्यमागमशासनम्' इति वचनात् मुगभावः । अदुपदेशात् लसार्वधातुकानु- दात्तत्वे विकरणस्वरे प्राप्ते व्यत्ययन धातुस्वरः । महिना । 'मह पूजायाम्' । 'इन्सर्वधातुभ्याः' इति इन्द्रत्ययः । व्यत्ययेन विभक्तेरुदात्तत्वम् । यद्वा । महिना महिम्ना । महच्छब्दस्य पृष्वादिषु पाठात् 'तस्य भाः०' इत्येतस्मिन्नर्थ 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' (पा०सू० ५.१.१२२) इति इमनि च प्रत्ययः । 'टेः' इति टिलोपः । 'चितः' इत्यन्तोदात्तत्वम् । मकारलोपश्छान्दसः । पत्सुतःशीः । 'क्विप् च' इति क्विप् । तसि 'पद्न०' इत्यादिना पादशब्दस्य पदादेशः । 'शस्प्रभृतिषु' इति प्रभृतिशब्दः प्रकारवचनः इति शलोदोषणी इत्यत्रापि दोषन्नादेशो भवति इत्युक्तत्वात् (का० ६.१.६३) । मध्ये सु इति शब्दोपजनश्छान्दसः । यद्वा । पादशब्दस्य सप्तमी बहुवचने पदादेशे कृते 'इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा०सू० ५.३.१४) इति सप्तम्यर्थे तसिल् । लुगभावश्छान्दसः ।

**शब्दा० —** नदम् = नदी, न = तरह, भिन्नम् = कई भागों में कटे हुये, अमुया = इस (पृथिवी) पर, शयानम् = पड़े हुए (वृत्र) को, मनः = मन को, रुहाणाः = आकर्षित करते हुए, अति = पारकर, यन्ति = बह रहा है, आपः = जल, याः = जिनको, चित् = निश्चित् अर्थ का वाचक एक निपात, वृत्रः = वृत्र, महिना = पराक्रम से, पर्यतिष्ठत् = चारों तरफ से घेरे हुये था, तासाम् = उन्हीं के, अहिः = राक्षस, पत्सुतःशीः = पैरों के नीचे पड़ा हुआ, बभूव = हो गया ।

**हि०अ० —** कटे हुये तट वाली नदी की तरह, मन को आकर्षित करता हुआ, इस (पृथिवी) पर पड़े हुये (वृत्र) को पार कर, पानी बह रहा है । जिन जलों को वृत्र अपने पराक्रम से चारों तरफ से घेरे हुए था, (आज) वही राक्षस उन्हीं जलों के पैरों के नीचे पड़ा हुआ बन गया है ।

**व्याकरण :**

**भिन्नम्** — भिद्+क्त । निष्ठा के त को न आदेश ।



- अमुया — अमुण्याम् अर्थ में सप्तमी विभक्ति के अर्थ में याच् प्रत्यय = अमुया।  
 रुहाणाः — 'रुह बीज जन्मनि' धातु से शानच्।  
 महिना — 'मह पूजायाम्' धातु से इन् प्रत्यय = महिन्। तृतीया का एकवचन = महिना।  
 पत्सुतःशीः — पादेषु अर्थ में पाद को पद आदेश = पत्सु। 'इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते' सूत्र से सप्तमी विभक्ति में तसिल् प्रत्यय तथा छान्दस विभक्ति के लोप का अभाव = पत्सुतः। पत्सुतः शोते अर्थ में क्विप् प्रत्यय = पत्सुतःशी।

विशेष — पीटर्सन ने 'नद' का अर्थ बैल किया है। वह वृत्र क्षतविक्षत हुये बैल के समान पड़ा था। पिशेल के अनुसार 'नद' शब्द 'नड' का रूप है, जिसका अर्थ है शिश्न। 'अमुया शयानम्' से गेल्डनर ने अर्थ लिया है कि वह वृत्र पृथिवी पर नंगा पड़ा था और दफनाया नहीं गया था। मनः रुहाणा की व्याख्या अनेक प्रकार से अनेक व्याख्याताओं ने की है। १. सायण— मनुष्यों के मन को सन्तुष्ट करने वाले। २. रॉथ — मनुष्यों के मनों पर आधिपत्य पाने वाले। ३. गेल्डनर — हृदय को हरण करने वाले। ४. पिशेल — ने इसको 'मनोः उहानाः' सन्धिविच्छेद करके मानवता के लिये मुक्त होते हुए अर्थ किया है। ५. पीटर्सन — मनुष्य के लिये उपयोगी।

मण्डल-१

सूक्त-३२

मन्त्र-९

संहिता पाठ

नीचावया अभवद्वृत्रपुत्रेन्द्रो अस्या अव वधर्जभार।

उत्तरा सूरधरः पुत्र आसीद्वानुः शये सहवत्सा न धेनुः॥९॥

पदपाठ —

नीचाऽवयाः। अभवत्। वृत्रऽपुत्रा। इन्द्रः। अस्याः। अव। वधः। जभार॥ उत्तरा। सूः।  
 अधरः। पुत्रः। आसीत्। दानुः। शये। सहऽवत्सा। न। धेनुः॥९॥

अन्वय — वृत्रपुत्रा नीचावयाः अभवत्। इन्द्रः अस्याः अव वधः जभार। सूः उत्तराः पुत्रः  
 अधरः आसीत्। दानुः सहवत्साधेनुः न शये॥

दयानन्द भाष्य —

(नीचावयाः) नीचानि वयांसि यस्य मेघस्य सः। (अभवत्) भवति। अत्र वर्तमाने लङ्। (वृत्रपुत्रा) वृत्रः पुत्र इव यस्याः सा (इन्द्रः) सूर्यः (अस्याः) वृत्रमातुः (अव) क्रियायोगे (वधः) वधम्। अत्र हन्तेर्बाहुलकादौणादिकेऽसुनिबधादेशः। (जभार) हरति। अत्र वर्तमाने लिट्। ह्यग्रहोर्हस्य भश्छदसि वक्तव्यम् इति भादेशः। (उत्तरा) उपरिस्थाऽन्तरिक्षाख्या (सूः) सूर्यत उत्पादयति या सा माता। अत्र सूङ् धातोः क्विप्। (अधरः) अधस्थः (पुत्रः) (आसीत्)



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

अस्ति । अत्र वर्तमाने लङ् । (दानुः) ददाति या सा । अत्र दामाभ्यां नुः । उ० ३ । ३१ । इति नुः प्रत्ययः । (शये) शेते । अत्र लोपस्तआत्मनेपदेषु । अ० ७ । १ । ४१ । इति लोपः । (सहवत्सा) या वत्सेन सह वर्तमाना (न) इव (धेनुः) यथा दुग्धदात्री गौः । ।

**भावार्थ** — अत्रोपमालङ्कारः । वृत्रस्य द्वे मातरौ वर्तते एका पृथिवी द्वितीयाऽन्तरिक्षं चैतयोर्द्वयोः सकाशादेव वृत्रस्योत्पत्तेः । यथा काचिद्रौः स्ववत्सेन सह वर्तते तथैव यदा जलसमूहो मेघ उपरि गच्छति तदाऽन्तरिक्षाख्या माता स्वपुत्रेण सह शयानाइव दृश्यते । यदा च स वृष्टिद्वारा भूमिमागच्छति तदा भूमिस्तेन स्वपुत्रेण सह शयानेव दृश्यते । अस्य मेघस्य पितृस्थानी सूर्योऽस्ति तस्योत्पादकत्वात् । अस्य हि भूम्यन्तरिक्षे द्वे स्त्रियाविव वर्तते यदा स जलमाकृष्य वायुद्वारान्तरिक्षे प्रक्षिपति तदा स पुत्रो मेघो वृद्धिं प्राप्य प्रमत्त इवोन्नतो भवति सूर्यस्तमाहत्य भूमौ निपातयत्येवमयं वृत्रः कदा चिदुपरिस्थः कदाचिदधःस्थो भवति तथैव राज्यपुरुषैः प्रजाकण्टकान् शत्रूनि तस्ततः प्रक्षिप्य प्रजाः पालनीयाः । ।

**हि०भावार्थ** — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है । मेघ की दो माता हैं, एक पृथिवी दूसरी अन्तरिक्ष अर्थात् इन्हीं दोनों से मेघ उत्पन्न होता है । जैसे कोई गाय अपने बछड़े के साथ रहती है, वैसे ही जब जल का समूह मेघ अन्तरिक्ष में जाकर ठहरता है, तब उसकी माता अन्तरिक्ष अपने पुत्र मेघ के साथ और जब वह वर्षा से भूमि को आता है तब भूमि उस अपने पुत्र मेघ के साथ सोती सी दीखती है । इस मेघ का उत्पन्न करने वाला सूर्य है, इसलिये वह पिता के स्थान में समझा जाता है । उस सूर्य की भूमि या अन्तरिक्ष दो स्त्री के समान हैं । वह पदार्थों से जल को वायु के द्वारा खींचकर जब अन्तरिक्ष में चढ़ाता है, जब वह पुत्र मेघ प्रमत्त के सदृश बढ़कर उठता और सूर्य के प्रकाश को ढक लेता है, तब सूर्य उसको मार कर भूमि में गिरा देता है अर्थात् भूमि में वीर्य छोड़ने के समान जल पहुँचाता है । इसी प्रकार यह मेघ कभी ऊपर कभी नीचे होता है वैसे ही राजपुरुषों को उचित है कि कंटकरूप शत्रुओं को इधर उधर निर्बीज करके प्रजा का पालन करें ।

### सायण भाष्य —

वृत्रपुत्रा वृत्रः पुत्रो यस्या मातुः सेयं माता वृत्रपुत्रा नीचावयाः न्यग्भावं प्राप्ता हता अभवत् पुत्रं प्रहाराद्रक्षितुं पुत्रदेहस्योपरि तिरश्चो पतितवतीत्यर्थः । तदानीम् अयम् इन्द्रः अस्याः मातुः अव अधोभागे वृत्रस्योपरि वधः हननसाधनमायुषं जभार प्रहृतवान् । तदानीं सूः माता उत्तरा उपरिस्थिता आसीत् । पुत्रः तु अधोभाग स्थितः आसीत् । सा च दानुः दानवी वृत्रमाता शये भृता शयनं कृतवती । तत्र दृष्टान्तः । धेनुः लोकप्रसिद्धा गौः सहवत्सा न यथा वत्ससहिता शयनं करोति दद्वत् । । नीचावयाः । वेति खादतीति वयो बाहुः औणादिकः असिप्रत्ययः । न्यञ्चौ वयसौ यस्याः सा नीचावयाः । न्यच्शब्दादुत्तरस्या विभक्तेः 'सुपां सुपो भवन्ति' इति तृतीयैकवचनादेशः । 'अचः' इति अकारलोपे 'चौ' इति दीर्घत्वम् । 'अञ्चैश्छन्दस्यसर्वनामस्थानम् (पा०सू०६.१.१७०) इति तस्योदात्तत्वम् । समासे लुगभावश्छान्दसः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । यद्वा । नीचौ निकृष्टौ वयसौ यस्याः



सा । पूर्वपदस्य दीघश्छान्दसः । वधः । हन्यतेऽने वधः । असुनि हन्तेर्वधादेशः ।  
नित्वादाद्युदात्तत्वम् । जभार । इति भत्वम् । सूः । षूङ् प्राणिगर्भ- विमोचने । सूते गर्भ  
विभुञ्जतीति सूः माता । 'क्विप् च' इति क्विप् । दानुः । 'दो अवखण्डने' । 'दाभाभ्यां नुः'  
(उ०सू० ३.३१२) । शये । लटि 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा०सू० ७.१.४१) इति तलोपः । 'शङः  
सार्वधातुके०' इति गुणे अयादेशः ।।

शब्दा० - नीचावयाः = नीचे की ओर हाथ वाली, लम्बी भुजा वाली, अभवत् = हुई,  
वृत्रपुत्रा = वृत्र है पुत्र जिसका, वृत्र की माता, इन्द्रः = इन्द्र ने, अस्याः = उसके, अव  
= नीचे, वधः = शस्त्र, जभार = प्रहार किया, उत्तरा = ऊपर, सूः = माता, अधरः =  
नीचे, पुत्रः = पुत्र, आसीत् = था, दानुः = वृत्र की माता, शये = पड़ी है, सहवत्सा =  
बछड़े के साथ, न = तरह, धेनुः = गाय ।

हि०अ० - वृत्र की माता ने (पुत्र की रक्षा के लिए) नीचे की तरफ हाथों को फैला लिया ।  
इन्द्र ने उसके नीचे (वृत्र के ऊपर) शस्त्र का प्रहार किया । माता ऊपर थी, पुत्र नीचे था ।  
दानु (वृत्र की माता) बछड़े के साथ गाय की तरह पड़ी है ।

व्याकरण :

नीचावया - 'वेति खादति' अर्थ में 'वे' धातु से असि प्रत्यय । वेअस्= वयस् । नीचौ  
वयसौ यस्याः सा नीचावयाः । छान्दस दीर्घ = नीचावयाः ।

वृत्रपुत्रा - वृत्रः पुत्रः यस्याः सा । बहुव्रीहि समास ।

वधः - हन्यते अनेन इति वधः । हन् को वध् आदेश ।

सूः - 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' अर्थ में सू+क्विप् = सू ।

दानुः - 'दो अवखण्डने' धातु से नु प्रत्यय = दानु ।

शये - शीङ् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एक वचन । शी+ते 'लटि लोपस्त  
आत्मनेपदेषु' सूत्र से त् का लोप = शी+ए । गुण और अय् आदेश  
होकर= शये ।

विशेष - पीटर्सन ने 'नीचावयाः' की व्युत्पत्ति की है - नि+अञ्च्+वयस् । वयस् का अर्थ  
है - शक्ति (vitality) wit vitality sinking low ।

मण्डल-१

सूक्त-३२

मन्त्र १०

संहिता पाठ

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम् ।

वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम् आशयदिन्द्रशत्रुः ॥१०॥

पदपाठ -

अतिष्ठन्तीनाम् । अनिवेशनानाम् । काष्ठानाम् । मध्ये । निहितम् । शरीरम् । वृत्रस्य ।  
निण्यम् । वि । चरन्ति । आपः । दीर्घम् । तमः । अशयत् । इन्द्रशत्रुः ॥



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

**अन्वय** — अतिष्ठन्तीनाम् अनिवेशनानाम् काष्ठानाम् मध्ये, निहितम् वृत्रस्य निण्यम् शरीरम् आपः विचरन्ति । इन्द्रशत्रुः दीर्घम् तमः आ अशयत् ।।

**दयानन्द भाष्य** —

(अतिष्ठन्तीनाम्) चलन्तीनामपाम् (अनिवेशनानाम्) अविद्यमानं निवेशनमेकत्रस्थानं यासां तासाम् (काष्ठानाम्) काश्यन्ते प्रकाश्यन्ते यासु ता दिशः । काष्ठा इति दिङ्नामसु पठितम् । निघं० ११।६ । अत्र हनिकुषिनी० । उ०२।२ । इति क्थन् प्रत्ययः । (मध्ये) अन्तः (निहितम्) स्थापितम् (शरीरम्) शीर्यते हिंस्यते यत्तत् (वृत्रस्य) मेघस्य (निण्यम्) निश्चितान्तर्हितम् । निण्यमिति निर्णीतान्तर्हितनामसु पठितम् । निघं० ३।२५ । (वि) (चरन्ति) विविधतया गच्छन्त्यागच्छन्ति (अपः) जलानि (दीर्घम्) महान्तम् (तमः) अन्धकारम् (आ) समन्तात् (अशयत्) शेते । बहुलं छन्दसि इति शपो लुङ् न । (इन्द्रशत्रुः) इन्द्रः शत्रुर्यस्य स मेघः यास्कमुनिरेवमिमं मन्त्रं व्याचष्टे । अतिष्ठन्तीनामनि विशमानानामित्यस्थावराणां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरं मेघः । शरीरं शृणातेः शम्नातेर्वा । वृत्रस्य निण्यं निर्णमं विचरन्ति विजानन्त्याप इति । दीर्घं द्राघतेस्तमस्त— नोतेराशयदाशेतेरिन्द्रशत्रुरिन्द्रो शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रुस्तत्को वृत्रो मेघ इति नैरुक्ताः ।।

**भावार्थ** — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । सभापतेर्योग्यमस्ति यथाऽयं मेघोऽन्तरिक्ष— स्थास्वप्सु सूक्ष्मत्वान्न दृश्यते पुनर्यदा घनाकारो वृष्टिद्वारा जलसमुदायरूपो भवति तदा दृष्टिपथमागच्छति । परन्तु या इमा आप एकं क्षणमपि स्थिति न लभन्ते किन्तु सर्वदैवोपर्यधोगच्छन्त्यागच्छन्ति च याश्च वृत्रस्य शरीरं वर्तन्ते ता अन्तरिक्षे स्थिता अतिसूक्ष्मा नैव दृश्यन्ते तथा महाबलान् शत्रून् सूक्ष्मबलान् कृत्वा वशं नयेत् ।।

**हि०भावार्थ** — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । सभापति को योग्य है कि जैसे यह मेघ अन्तरिक्ष में ठहराने वाले जलों में सूक्ष्मपन से नहीं दीखता फिर जब घन के आकार वर्षा के द्वारा जल का समुदाय रूप होता है, तब वह देखने में आता है और जैसे ये जल एक क्षणभर भी स्थिति को नहीं पाते हैं, किन्तु सब काल में ऊपर जाना वा नीचे आना इस प्रकार घूमते ही रहते हैं और जो मेघ के शरीर रूप हैं वे अन्तरिक्ष में रहते हुए अति सूक्ष्म होने से नहीं दीख पड़ते वैसे बड़े बड़े बल वाले शत्रुओं को भी अल्प बल वाले करके वशीभूत किया करें ।।

**सायण भाष्य** —

वृत्रस्य शरीरम् आपः वि चरन्ति विशेषण उपरि आक्रम्य प्रवहन्ति । कीदृशं शरीरम् । निण्यं निर्णमधेयम् । अप्सु मग्नत्वेन गूढत्वात् तदायं नाम न केनापि ज्ञायते । एतदेव स्पष्टीक्रियते । काष्ठानाम् अपां मध्ये निक्षिप्तम् । कीदृशानां काष्ठानाम् । अतिष्ठन्तीनां स्थितिरहितानां अनिवेशनानाम् उपवेशनरहितानां प्रवहणस्वभावत्वात् एतासां मनुष्यवन्न क्वापि स्थितिः संभवति । इन्द्रशत्रुः वृत्रः जलमध्ये शरीरे प्रक्षिप्ते सति दीर्घं तमः दीर्घं



निद्रात्मकं मरणं यथा भवति तथा आशयत् सर्वतः पतितवान् ।। अतिष्ठन्तीनाम् । अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । अनिवेशनानाम् । निविशन्तेऽस्मिन्निति । निवेशनं स्थानम् । 'करणाधिकरणयोश्च' इति अधिकरणे ल्युट् । तद्रहितानाम् । बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । क्रान्त्वा स्थिताः काष्ठाः । पृषोदरादि । निहितम् । 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । अत्र यास्कः — 'अतिष्ठन्तीनामनिविशमानानामित्यस्थावराणां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरं मेघः । शरीरं शृणातेः शम्नातेर्वा । वृत्रस्य निण्यं निर्णामं विचरन्ति विजानत्याप इति दीर्घं द्राघतेस्तमस्तनोतेराशयदाशेतेरिन्द्र— शत्रुरिन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रुः । तत्को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः (निरु० २.१६) इति ।।

शब्दा० — अतिष्ठन्तीनाम् = कभी न रुकने वाली, अनिवेशनानाम् = कभी आराम न करने वाली, काष्ठानाम् = जलों के, मध्ये = बीच, निहितम् = पड़े हुए, शरीरम् = शरीर के, वृत्रस्य = वृत्र के, निण्यम् = नामरहित, विचरन्ति = इधर उधर बह रहा है, आपः = जल, दीर्घम् = घनघोर, बड़े, तमः = अन्धकार में, आ अशयत् = सो गया, इन्द्रशत्रुः = वृत्र ।।

हि०अ० — कभी न रुकने वाली तथा कभी आराम न करने वाली जलधारा के बीच पड़े हुए वृत्र के नाम रहित शरीर के इधर उधर ऊपर जल बह रहा है । इन्द्र के द्वारा सताया गया वृत्र दीर्घ अन्धकार में सो गया ।

व्याकरण :

अतिष्ठन्तीनाम्—स्था+शतृ+ङीप् = तिष्ठन्ती । न+तिष्ठन्ती = अतिष्ठन्ती । षष्ठी विभक्ति का बहुवचन = अतिष्ठन्तीनाम् ।

अनिवेशनानाम्—निविशन्ते अस्मिन् अर्थ में नि+विश्+ल्युट् (अन) = निवेशन । न = निवेशन = अनिवेशन । षष्ठी विभक्ति का बहुवचन = अनिवेशनानाम् ।

निहितम् — नि+धा+क्त = निहितम् ।

काष्ठानाम् — क्रान्त्वा स्थिता अर्थ में क्रम्+स्था+क्विप् = काष्ठा ।

विशेष — पीटर्सन ने 'अतिष्ठन्तीनाम् अनिवेशनानां काष्ठाना मध्ये शरीरम् निहितम्' को और 'आपः वृत्रस्य निण्यं विचरन्ति' को अलग-अलग वाक्य माना है । उसने पहले वाक्य का अर्थ किया है — The (dead) body has remained in the midst of river streams that neither stop nor have a resting place, दूसरे वाक्य का अर्थ है — The waters (now) wander to and from in the former hiding place of Vritra. उसके अनुसार 'निण्यम्' शब्द का अर्थ है — छिपने का स्थान (hiding place), और 'विचरन्ति' का अर्थ है — इधर से उधर घूमना (to wander to and fro) । यास्क ने 'निण्यम्' पद का अर्थ 'निर्णामम्' किया है । इसके आधार पर सायण ने इस शब्द का अर्थ 'निर्णामधेयम्' किया । यास्क ने विचरन्ति पद का अर्थ 'विजानन्ति' किया है । अर्थात् जल



ही उस नाम से रहित वृत्र के शरीर के सम्बन्ध में जानते हैं। 'निण्यम्' का अर्थ ग्रिफिथ ने decret place, गेल्डनर ने private parts किया है। अन्य स्थानों पर, यथा — 'निण्यानि वचांसि' ऋ० ४.३.१६ में 'निण्यम्' का अर्थ 'innermost' हुआ है तथा 'हृदयस्य निण्यम्' ऋ० ७.३३.९ में 'something that lies deep' हुआ है।

पीटर्सन ने 'दीर्घतमः' का अर्थ 'दुर्भेद्य अन्धकार' (impenetrable darkness) किया है।

मण्डल—१

सूक्त—३२

मन्त्र ११

संहितापाठ

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।  
अपां बिलमपिहितं यदासीं वृत्रं जघन्वा अप तद्ववार॥११॥

पदपाठ —

दासऽपत्नीः। अहिऽगोपाः। अतिष्ठन्। निरुद्धाः। आपः। पणिनाऽइव। गावः। अपाम्। बिलम्। अपिऽहितम्। यत्। आसीत्। वृत्रम्। जघन्वान्। अपं। तत्। ववार॥

अन्वय — दासपत्नीः अहिगोपाः आपः निरुद्धाः अतिष्ठन्, पणिना इव गावः। वृत्रम् जघन्वान्। अपाम् यत् बिलम् अपिहितम् आसीत् तत् अपववार॥

दयानन्द भाष्य —

(दासपत्नीः) दास आश्रयदाता पतिर्यासां ताः। अत्र सुपां सुलुग् इति पूर्वसवर्णादेशः॥(अहिगोपाः) अहिना मेघेन गोपा गुप्ता आच्छादिताः (अतिष्ठन्) तिष्ठन्ति। अत्र वर्तमाने लङ्। (निरुद्धाः) संरोधं प्रापिताः (आपः) जलानि (पणिनेव) गोपालेन वणिग्जनेनेव (गावः) पशवः (अपाम्) जलानाम् (बिलम्) गर्तम् (अपिहितम्) आच्छादितम् (यत्) पूर्वोक्तम् (आसीत्) अस्ति। अत्र वर्तमाने लङ्। (वृत्रम्) सूर्यप्रकाशावरकं मेघम् (जघन्वान्) हन्ति। अत्र वर्तमाने लिट् (अप) दूरीकरणे (तत्) दारम् (ववार) वृणोत्युद्घाटयति। अत्र वर्तमाने लिट् यास्कमुनिरिमं मन्त्रमेवं व्याचष्टे दासपत्नीदासाधिपत्यो दासो दस्यतेरुप दासयति कर्मण्यहिगोपा अतिष्ठन्नहिना गुप्ताः। अहिरयनादेत्यन्तरिक्षेऽयमपीतरोऽहिरे— तस्मादेव॥ निर्हसितोपसर्ग आहन्तीति। निरुद्धा आपः पणिनेव गावः। पणिर्वणिग्भवति। पणिः पणनाद्वणिक् पण्यं नेनेक्ति। अपां बिलमपिहितं यदासीत्। बिलं भरं भवति बिभर्तेर्वत्रं अघ्नवानपववार। निरु० २।१७।११॥

भावार्थ — अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ। यथा गोपालः स्वकीया गाः स्वाभीष्टे स्थाने निरुणद्धि पुनर्द्वारं चोद्घाट्य मोचयति यथा वृत्रेण मेघेन स्वकीयमण्डलेऽपां द्वारमावृत्य ता वशं नीयन्ते यथा सूर्यस्तं मेघं ताडयति तज्जलद्वारमपावृत्या— पोविमोचयति तथैव राजपुरुषैः शत्रून्निरुध्य सततं प्रजाः पालनीयाः।



**हिंभावार्थ** — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा और उपमालङ्कार है। जैसे गोपाल अपनी गौओं को अपने अनुकूल स्थानों में रोक रखता और फिर उस स्थान का दरवाजा खोल के निकाल देता है और जैसे मेघ अपने मंडल में जलों का द्वार रोक के उन जलों को वश में रखता है वैसे सूर्य उस मेघ को ताड़ना देता और उस जल की रुकावट को तोड़ के अच्छे प्रकार उसे बरसाता है वैसे ही राजपुरुषों को चाहिये कि शत्रुओं को रोककर प्रजा का यथायोग्य पालन किया करें।।

**सायण भाष्य** —

दासपत्नीः दासः विश्वोपक्षपणहेतुः वृत्रः पतिः स्वामी यासाम् अपां ताः दासपत्नी । अत एव अहिगोपाः । अहिर्वृत्रो गोपा रक्षको यासां ताः । गोपनं नाम स्वच्छन्देन यथा न प्रवहन्ति तथा निरोधनम् । एतदेव स्पष्टीक्रियते । आपः निरुद्धाः अतिष्ठन् इति । तत्र दृष्टान्तः । पणिनेव गावः । पणिनामकोऽसुरो गा अपहृत्य बिले स्थापयित्वा बिलद्वारमाच्छाद्य यथा निरुद्धवास्तथेत्यर्थः । अपां यत् बिलं प्रवहणद्वारम् अपिहितं वृत्रेण निरुद्धम् आसीत् तत् बिलं प्रवहणद्वारं अपिहितं वृत्रेण निरुद्धम् आसीत् तत् बिलं प्रवहणद्वारं वृत्रं जघन्वान् इन्द्रः अप बवार अपवृतमकरोत् वृत्रकृतमपां निरोधं परिहृतवान् । अत्र यास्कः — 'दासपत्नीर्दासाधि— पत्न्यो दासो दस्यतेरुपदासयति कर्माण्यहिगोपा अतिष्ठन्नहिना गुप्ताः । अहिरयना— देत्यन्तरिक्षेऽयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव निर्हंसितोपसर्ग आहन्तीति । निरुद्धा आपः पणिनेव गावः । पणिर्वणिग्भवति पणिः पणनाद्वणिक् पुण्यं नेनेक्ति । अपां बिलमपिहितं यदासीत् । बिलं भरं भवति विभर्तेर्वृत्रं जघ्निवानपववार तद्वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा वर्धतेर्वा । यदवृणोतद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्तत् तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्धत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते' (निरु० २.१७) इति ।। दासपत्नीः । 'दसु उपक्षये' । दासयतीति दासी वृत्रः । पचाद्यच् । 'चितः' इत्यन्तोदात्तत्वम् । दासः पतिर्यासाम् । 'विभाषा सपूर्वस्य' (पा०सू० ४.१.३४) इति डीप्; तत्संनियोगेन इकारस्य नकारः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । यद्वा दासस्य पालयित्र्यः । 'पत्यावैश्वर्य' इति पूर्वपदप्रकृति—स्वरत्वम् । अहिगोपाः । 'गुपू रक्षणे' । गोपायतीति गोपाः । 'आयोदय आर्धधातुके वा' (पा०सू० ३.१.३१) इति आयप्रत्ययः । ततः क्विप् । 'यतो लोपः' । 'वेरपृक्तलो पाद्वलिलोपो बलीयान्' इति पूर्व यकार लोपः (पा०सू० ६.१.६६—६७) । न च 'अचः परस्मिन्' इति अतो लोपस्य स्थानिवत्त्वं —न पदान्तद्विर्वचन०' इति प्रतिषेधात् । अहिर्गोपा यासाम् । पूर्ववत् स्वरः । निरुद्धाः । 'रुधिर् आवरणे' । 'झषस्तथोर्धोऽधः' (पा०सू० ८.२.४०) इति निष्ठातकारस्य धकारः । 'बतिरनन्तरः' इति गतेः पृकृतिस्वरत्वम् । जघन्वान् । हन्तेलिटः क्वसुः । 'अभ्यासाच्च' (पा०सू० ७.३.५५) इति अभ्यासादुतरस्य हकारस्य कुत्वम् । कादिनियमप्राप्तस्य इटः 'विभाषा गमहनः' (पा०सू० ७.२.६८) इत्यादिना विकल्पविधानादभावः । संहितायां नकारस्य रुत्वानुनासिकावुक्तौ । शब्दा० — दासपत्नीः = दास है स्वामी जिनका, अहिगोपाः = अहि है रक्षक जिनका, अतिष्ठन् = पड़ा था, निरुद्धाः = रुका हुआ, आपः = जल, पणिनेव गावः = पणियों



द्वारा रोक दी गई गायों की तरह, अपाम् = जलों का, बिलम् = मार्ग, सुरंग, अपिहितम् = बन्द हो गया, यत् = जो, आसीत् = था, वृत्रम् = वृत्र को, जघन्वान् = मारकर, तत् = उसको, अपववार = खोला।

हि०अ० — दास है पति जिनका तथा अहि है रक्षक जिनका ऐसा जल रुका हुआ पड़ा था, जिस प्रकार गायें पणियों द्वारा (रोक ली गई थीं); जल का मार्ग जो बन्द हो गया था, वृत्र को मारकर (इन्द्र ने) उसे खोला।

व्याकरण :

दासपत्नीः — दासः पतिः यासां ताः। बहुव्रीहि समास। दासयति इति दासः।

दस्+घञ् = दास।

अहिगोपाः — अहिः गोपाः यासां ताः। गुप् रक्षणे।

निरुद्धाः — नि+रुध्+क्त। रुधिर् आवरणे।

अपिहितम् — अपि+धा+क्त।

जघन्वान् — 'हन्' धातु। लिट् लकार के अर्थ में क्वसु प्रत्यय।

विशेष — 'दासपत्नीः' में दास पद का अर्थ सायण ने 'विनाश करने वाला' किया है। यह वृत्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। पीटर्सन एवं अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने इसका अर्थ non-Aryan या demon किया है। 'अहि' का अर्थ सायण ने यहाँ 'वृत्र' किया है। परन्तु इसका अर्थ मेघ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। 'पणि' शब्द का अर्थ यास्क के अनुसार 'व्यापारी' है। जो पण्य (विक्रेय वस्तु) का व्यवहार करता है। सायण के अनुसार पणि नामक एक जाति थी, जो बहुत लालची थी। ऋग्वेद के एक सूत्र में पणियों द्वारा इन्द्र की गौओं के अपहरण करने का वर्णन भी है। पीटर्सन ने यहाँ 'पणि' का अर्थ पणि नामक असुरों का सरदार किया है।

मण्डल—१

सूक्त—३२

मन्त्र १२

संहितापाठ

अश्व्यो वारो अभवत्तदिन्द्र सृके यत्त्वा प्रत्यहन्देव एकः।

अजयो गा अजयः शूर सोममवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून्॥१२॥

पदपाठ —

अश्व्यः। वारः। अभवः। तत्। इन्द्र। सृके। यत्। त्वा। प्रतिऽअहन्। देवः। एकः। अजयः। शूर। सोमम्। अव। असृजः। सर्तवे। सप्त। सिन्धून्॥

अन्वय — देवः एकः यत् त्वा सृके प्रत्यहन् तत् इन्द्रः अश्व्यः वारः अभवः। शूर गाः अजयः सोमम् अजयः। सर्तवे सप्त सिन्धून् अवासृजः॥

दयानन्द भाष्य —

(अश्व्यः) योऽश्वेषु वेगादिगुणेषु साधुः (वारः) वरीतुमर्हः (अभवः) भवति। अत्र



## इन्द्र सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-३२ )

सर्वत्र वर्तमाने लङ्व्यत्ययश्च । (तत्) तस्मात् (इन्द्र) शत्रुविदारक (सृके) वज्र इव किरणसमूहे । सृक् इति वज्रनामसु पठितम् । निघं० २।२० । (यत्) यः । अत्र सुपां० इति सोर्लुक् । (त्वा) त्वां सभेशं राजानम् (प्रत्यहन्) प्रति हन्ति (देवः) दानादिगुणयुक्तः (एकः) असहायः (अजयः) जयति (गाः) पृथिवीः (अजयः) जयति (शूर) वीरवन्निर्भय (सोमम्) पदार्थरससमूहम् (अव) अधोऽर्थे (असृजः) सृजति (सर्तवे) सर्तुं गन्तुम् । अत्र तुमऽर्थे से० इति तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः । (सप्त) (सिन्धून्) भूमौ महाजलाशयसमुद्रनदीकूपतडागस्थांश्चतुरोऽन्तरिक्षे निकटमध्य-दूरदेशस्थां स्त्रींश्चेति सप्त जलाशयान् ।

**भावार्थ** — अत्रोपमालङ्कारः । यथायं मेघः सूर्यस्य प्रकाशं निवारयति तदा सूर्यः स्वकिरणैस्तं छित्वा भूमौ जलं निपातयत्यत एवायमस्य जलसमूहस्य गमनागमनाय समुद्राणां निष्पादनहेतुर्भवति तथा प्रजापालको राजाऽरीन्निरुध्य शस्त्रैश्छित्त्वाऽधो नीत्वा प्रजाया धर्म्यं मार्गं गमनहेतुः स्यात् ।।

**हि०भावार्थ** — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है । जैसे यह मेघ सूर्य के प्रकाश को ढांप देता तब वह सूर्य अपनी किरणों से उसको छिन्न भिन्न कर भूमि में जल को वर्षाता है इसी से यह सूर्य उस जल समुदाय को पहुँचाने न पहुँचाने के लिये समुद्रों को रचने का हेतु होता है । वैसे प्रजा का रक्षक राजा शत्रुओं को बांध शस्त्रों से काट और नीच गति को प्राप्त करके प्रजा को धर्मयुक्त मार्ग में चलाने का निमित्त होवे ।।

### सायण भाष्य —

सृके वज्रे । 'सृकः वृकः' (नि० २.२०.६) इति वज्र नामसु पठितत्वात् । देवः दीप्यमानः सर्वायुधकुशलः एकः अद्वितीयः वृत्रः यत् यदा त्वा त्वां प्रत्यहन् प्रतिकूलत्वेन प्रहृतवान् तत् तदानीं त्वम् अश्व्यो वारः अश्वसंबन्धी बालः अभवः । यथाश्वस्य वालोऽनायासेन मक्षिकादीन्निवारयति तद्वत् वृत्रमगणयित्वा निराकृतवानित्यर्थः । किं च गाः पणिनापहृताः । त्वम् अजयः जितवान् । हके शूर शौर्ययुक्त इन्द्र सोमम् अजयः जितवान् । तथा च तैत्तिरीयाः 'त्वष्टा हतपुत्रः' इत्येतस्मिन्नुपाख्याने समाननन्ति — 'स यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोमपिबता (तै०सं० २.४.१२.१) इति । सप्त सिन्धून् 'इमं में गङ्गे' (ऋ०सं० १०.७५.५) इत्यस्वामुच्याभवात् गङ्गाद्याः सप्तसंख्याका नदीः सर्तवे सर्तुं प्रवाहभ्येण गन्तुम् अवासृजः त्यक्तवान् । वृत्रकृतं प्रवाहनिरोधं निराकृतवानित्यर्थः । अश्व्यः । अश्वे भवः । 'भवे छन्दसि' इति यत् । 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वम् । धारयति दंशमशकानिति नारः । पचाद्यव् । कपिलकादित्वात् लत्वविकल्पः (पा०म० ८.२.१८) । वृषादित्वादाद्युदात्तत्वम् । अत्वहन् । 'यद्वृत्तान्निन्यम्' इति निघातप्रतिषेधः । चिडि चोदात्तवति इति गतेरनुदात्तत्वम् । अजयः । गाः इत्यस्य वाक्यान्तरगतत्वात् तदपेक्षयास्य 'तिङ्ङतिङः' इति निघातो न भवति, 'समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः' (पा०सू० ८.१.१८.५) इति वचनात् । सर्तवे । 'तुमर्थे सेसेन्०' इति तवेन्प्रत्ययः । नित्वादाद्युदात्तत्वम् ।।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

शब्दा० — अश्व्यः = अश्व के, वारः = बाल, अभवः = हो गये, तत् = उस समय, इन्द्र = हे इन्द्र, सृके = वज्र पर, यत् = जिस समय, त्वा = तुम्हारे, प्रत्यहन् = प्रहार किया, देवः = देव, एकः = अद्वितीय, अजयः = जीता, गाः = गायों को, शूर = हे बहादुर, सोमम् = सोम को, अव = नीचे की ओर, असृजः = प्रवाहित किया, सर्तवे = बहने के लिये, सप्त = सात, सिन्धून् = नदियों को।

हि०अ० — हे इन्द्र, जिस समय (वृत्र ने) तुम्हारे वज्र पर उलटा प्रहार किया उस समय (तुम) अद्वितीय देव घोड़े की पूँछ के बाल बन गये। (तुमने) गायें जीती, हे बहादुर, (तुमने) सोम जीता तथा सात नदियों को प्रवाहित होने के लिये मुक्त किया।

व्याकरण :

अश्व्यः — अश्वे भवः, 'भवेच्छन्दसि' से यत् प्रत्यय। अश्व+यत् = अश्व्य।

वारः — वारयति अर्थ में वृ+णिच्+अच् = वार।

सर्तवे — 'सृ' धातु से 'तुमर्थे सेसेन' से तवेन् प्रत्यय। सृ+तवे = सर्तवे।

विशेष — 'अश्व्यः वारः अभवः' घोड़े का बाल हो गए। जिस प्रकार घोड़ा अपनी पूँछ के बालों से हमला करता हुआ तुच्छ मक्खियों को उड़ा देता है, उसी प्रकार इन्द्र ने तुच्छ वृत्र को उड़ा दिया। अथवा जिस प्रकार घोड़ा पूँछ से अपनी रक्षा करता है, उसी प्रकार इन्द्र ने अपनी रक्षा की। 'एकःदेवः' पद इन्द्र का विशेषण भी हो सकता है। इन्द्र अद्वितीय देवता था। पीटर्सन ने इस प्रकार अर्थ किया है — Thou shouldest thyself to be a horse's tail (in self defence), a unique god। 'सिंधु' शब्द का अर्थ कुछ भाष्यकारों ने 'समुद्र' किया है।

मण्डल—१

सूक्त—३२

मन्त्र १३

संहितापाठ

नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध न यां मिहमकिरदघादुनिं च।

इन्द्रश्च यद्युधाते अहि श्रोतापरीभ्यो मघवा वि जिग्ये ॥१३॥

पदपाठ —

न। अस्मै। विद्युत्। न। तन्यतुः। सिषेध। न। याम्। मिहम्। अकिरत्। हादुनिम्। च॥

इन्द्रः। च। यत्। युयुधाते इति। अहिः। च। उत। अपरीभ्यः। मघवा। वि। जिग्ये॥

अन्वय — यत् इन्द्रः अहिः च युयुधाते अस्मै विद्युत् सिषेध। न तन्यतुः, याम् मिहम् हादुनिम् च अकिरत् न। उत मघवा अपरीभ्यः विजिग्ये॥

दयानन्द भाष्य —

(न) निषेधार्थे (अस्मै) इन्द्राय सूर्यलोकाय (विद्युत्) प्रयुक्ता स्तनयितुः (न) निषेधे (तन्यतुः) गर्जनसंहिता (सिषेध) निवारयति। अत्र सर्वत्र लङर्थे लङलिटौ। (न) निवारणे



## इन्द्र सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-३२ )

(याम्) वक्ष्यमाणाम् (मिहम्) मेहति सिंचति यया वृष्ट्या ताम् (अकिरत्) किरति विक्षिपति (हादुनिम्) हादतेऽव्यक्ताञ् शब्दान् करोति यया वृष्ट्या ताम् । अत्र हादधातोर्बाहुलकादौणादिक उनिः प्रत्ययः । (च) समुच्चये (इन्द्रः) सूर्यः (च) पुनरर्थे (यत्) यः । अत्रापि सुपां सुलुग् इति सोर्लुक् । (युयुधाते) युध्येते (अहिः) मेघः (च) अन्योन्यार्थे (उत) अपि (अपरीभ्यः) अपूर्णभ्यः सेनाक्रियाभ्यः । अत्र वृधातोः । अच इः । उ०४।१४४ । अनेन इः प्रत्ययः । कृदि कारादक्तिनः । अ०४।१।४५ । अनेन डीष् प्रत्ययः । इदं पदं सायणाचार्येणा— प्रमाणादपराभ्य इत्यशुद्धं व्याख्यातम् । (मघवा) मघं पूज्यं बहुविधं प्रकाशो धनं विद्यते यस्मिन् सः । अत्र भूम्यर्थे मतुप् । (वि) विशेषार्थे (जिग्ये) जयति ।।

**भावार्थ —** अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । राजपुरुषैर्यथा वृत्रस्य यावन्ति विद्युदादीनि युद्धसाधनानि सन्ति तावन्ति सूर्यापेक्षया क्षुद्राणि वर्तन्ते सूर्यस्य खलु युद्धसाधनानि तदपेक्षया महान्ति सन्ति । अत एव सर्वदा सूर्यस्य विजयो वृत्रस्य पराजयश्च भवति तथैव धर्मेण शत्रुविजयः कार्यः ।

**हि०भावार्थ —** इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । राजपुरुषों को योग्य है कि जैसे वृत्र अर्थात् मेघ के जितने बिजली आदि युद्ध के साधन हैं, वे सब सूर्य के आगे क्षुद्र अर्थात् सब प्रकार निर्बल और थोड़े हैं और सूर्य के युद्ध साधन उसकी अपेक्षा से बड़े बड़े हैं, इसी से सब समय में सूर्य ही का विजय और मेघ का पराजय होता रहता है, वैसे ही धर्म से शत्रुओं को जीतें ।

### सायण भाष्य —

इन्द्रं निषेद्धुं वृत्रो यान् विद्युदादीन् मायया निर्मितवान् ते सर्वेऽप्येन निषेद्धुमशक्ताः । सोऽयमर्थोऽनेन मन्त्रेणोच्यते । अस्मै इन्द्रार्थं निर्मिता विद्युत् न सिषेध इन्द्रं न प्राप्नोत् । तथा तन्यतुः गर्जनं यां मिहं सेचनं यां वृष्टिम् अकिरत् वृत्रो विक्षिप्तवान् सापि वृष्टिः न सिषेध । हादुनिं च अशनिमपि यां वृत्रः प्रयुक्तवान् सापि न सिषेध । इन्द्रश्च अहिश्च इन्द्रवृत्रावुभावपि यत् यदा युयुधाते युद्धं कृतवन्तौ । तदानीं विद्युदादयो न प्राप्ता इति पूर्वत्रान्वयः । उत अपि च मघवा धनवानिन्द्रः अपरीभ्यः अपराभ्यः अन्यासामपि वृत्रनिर्मितानां मायानां सकाशात् वि जिग्मे विशेषेण जितवान् ।। सिषेध । 'षिधु गत्याम्' । मिहम् । 'मिह सेचने' । मेहति सिञ्चतीति मिट् वृष्टिः । 'क्विप् च' इति क्विप् । अकिरत् । 'कृ विक्षेपे' । तुदादिभ्यः शः । 'ऋत इद्धातोः' इति इत्वम् । अडागम उदात्तः । यद्वृत्तयोगादनिघातः । युयुधाते । 'युध संप्रहारे' । लिटि प्रत्ययस्वरः । जिग्ये । 'सन्लिटोर्जे' (पा०सू० ७.३.५७) इति अभ्यासादुत्तरस्य जकारस्य कुत्वम् ।।

**शब्दा० —** न = नहीं, अस्मै = उस (इन्द्र) के लिये, विद्युत् = बिजली, न = न तो, तन्यतुः = गर्जन, सिषेध = रोक सका, न = न तो, याम् = जिसको, मिहम् = मेघ, अकिरत् = फैलाया था, हादुनिम् = वज्र, च = और, इन्द्रः = इन्द्र, च = और, यत् = जिस सम, युयुधाते = एक साथ लड़े, अहिः = राक्षस, मेघ, च = और, उत = और, अपरीभ्यः = अन्य (प्रहारों को भी), मघवा = महान् (इन्द्र) ने, वि जिग्ये = जीता ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

हि०अ० — न तो बिजली, न गर्जन, न मेघ और न वज्र ही जिनको (वृत्र ने) उस (इन्द्र) के लिये फैलाया था, (इन्द्र को) प्राप्त कर सके, जब इन्द्र तथा अहि दोनों एक साथ लड़े। प्रत्युत् महान् (इन्द्र) ने (वृत्र द्वारा प्रयुक्त) अन्य (प्रहारों) पर भी विजय प्राप्त कर ली।  
व्याकरण :

- विद्युत् — विशेषेण द्योतते अर्थ में 'भ्राजभासधूर्विद्युतोजि०' से क्विप् प्रत्यय।  
वि+द्युत्+क्विप् = विद्युत्।  
सिसेध — षिधु गत्याम्। लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एक वचन।  
मिहम् — 'मिह् सेचने' से क्विप् प्रत्यय। मिह्+क्विप् = मिह। द्वितीया विभक्ति का एकवचन = मिहम्।

विशेष — सायण ने 'अपरिभ्यः' का अर्थ किया है — वृत्र की अन्य मायाओं से। परन्तु पीटर्सन इससे भिन्न अर्थ मानते हैं। उनका अर्थ है — आने वाले सभी समयों के लिये (for all times to come)।

मण्डल—१

सूक्त—३२

मन्त्र १४

संहितापाठ

अहैर्यातारं कमपश्य इन्द्र हृदि यत्ते जघ्नुषो भीरगच्छत्।

नव च यन्नवतिं च स्रवन्तीः श्येनो न भीतो अतरो रजांसि ॥१४॥

पदपाठ —

अहै। र्यातारम्। कम्। अपश्यः। इन्द्र। हृदि। यत्। ते। जघ्नुषः। भीः। अगच्छत्। नवम्। च। यत्। नवतिम्। च। स्रवन्तीः। श्येनः। न। भीतः। अतरोः। रजांसि॥

अन्वय — इन्द्रः! अहेः यातारम् कम् अपश्यः, यत् जघ्नुषः ते हृदि भी अगच्छत्, यत् भीतः श्येनः न नव च नवतिम् च स्रवन्तीः रजांसि अतरोः॥

दयानन्द भाष्य —

(अहेः) मेघस्य (यातारम्) देशान्तरे प्रपयितारम् (कम्) सूर्यादन्यम् (अपश्यः) पश्येत्। अत्र लिङ्गार्थे लङ्। (इन्द्र) शत्रुदलविदारकः योद्धः (हृदि) हृदये (यत्) धनम् (ते) तव (जघ्नुषः) हन्तुः सकाशात् (भीः) भयम् (अगच्छत्) गच्छति प्राप्नोति। अत्र सर्वत्र वर्तमाने लङ्। (नव) संख्यार्थे (च) पुनरर्थे (स्रवन्तीः) गमनं कुर्वन्तीर्नदीर्नाडीर्वा। स्रवन्त्य इति नदीनामसु पठितम्। निघ० १।१३। सुधातोर्गत्यर्थं त्वाद्विधिरप्राणगमनमार्गा जीवनहेतवो नाड्योपि गृह्यन्ते। (श्येनः) पक्षी (न) इव (भीतः) भयं प्राप्तः (अतरोः) तरति (रजांसि) सर्वाल्लोकान् लोकारजांस्युच्यन्ते।

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः। राजभृत्या वीरा यथा केनचित् प्रहृतो भयुक्तः श्येनः पक्षी इतस्ततो गच्छति तथैव सूर्येण हत आकर्षितश्च यो मेघ इतस्ततः पतन् गच्छति स



## इन्द्र सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-३२ )

स्वशरीराख्येन जलेन लोकलोकान्तरस्य मध्येऽनेका नद्यो नाड्यश्च पिपति । अत्र नवनवतिमितिपदमसंख्यार्थेऽस्त्युपलक्षणत्वान्नह्येतस्य सूर्याद्विन्नं किमपि निमित्तमस्ति यथाऽन्धकारे प्राणिनां भयं जायते तथा मेघस्य सकाशाद्विद्युद्गर्जनादिभिश्च भयं जायते तन्निवारकोपि सूर्य एव तथा सर्वलोकानां प्रकाशाकर्षणादिभिर्व्यवहारहेतुरस्ति तथैव शत्रून् विजयेरन् ॥

**हि०भावार्थ** — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है । राजसेना के बीर पुरुषों को योग्य है कि जैसे किसी से पीड़ा को पाकर डरा हुआ श्येन पक्षी इधर उधर गिरता पड़ता उड़ता है वा सूर्य से अनेक प्रकार की ताड़ना और खैंच कढ़ेर को प्राप्त होकर मेघ इधर उधर देशदेशान्तर में अनेक नदी वा नाड़ियों को पूर्ण करता है इस मेघ की उत्पत्ति का सूर्य से भिन्न कोई निमित्त नहीं है और जैसे अन्धकार में प्राणियों को भय होता है वैसे ही मेघ के बिजली और गर्जना आदि गुणों से भय होता है । उस भय को दूर करने वाला भी सूर्य ही है तथा सब लोकों के व्यवहारों को अपने प्रकाश और आकर्षण आदि गुणों में चलाने वाला है वैसे ही दुष्ट शत्रुओं को जीता करें । इस मन्त्र में (नवनवतिम्) यह संख्या का उपलक्षण होने से पद असंख्यात् अर्थ में है ।

### सायण भाष्य —

हे इन्द्र जघ्नुषः वृत्रं हतवन्तः तव हृदि चित्ते यत् यदि भीरगच्छत् न हतवानस्मीति बुद्ध्या भयं प्राप्नुयात् तर्हि अहेः वृत्रस्य यातारं हन्तारं कमपश्यः त्वतोऽन्यं कं पुरुषं दृष्टवानसि । तादृशस्य पुरुषान्तरस्याभावात् मा भूत् तव भयमित्यर्थः । यत् यस्मात् कारणात् त्वं नव च नवतिं च स्रवन्तीः एकोनशतसंख्याका प्रवहन्तीर्नदीः प्राप्य रजांसि तत्रत्यान्युदकानि अतरः तीर्णवानसि । तत्र दृष्टान्तः । श्येनो न । श्येननामको बलवान् पक्षीव दूरगमनात्तव भयमासीदिति गम्यते । तद्वयं मा भूदित्यभिप्रायः । तच्च दूरगमनं ब्राह्मणे समाम्नातम् — ‘इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा नास्तृषीति मन्यमानः पराः परावतोऽगच्छत्’ (ऐ०ब्रा० ३.१५) इति । तैत्तिरीयाश्चामनन्ति — ‘इन्द्रो वृत्रं हत्वा परां परावत भगच्छदपराधमिति मन्यमानः’ (तै०सं० २.५.३.६) इति ॥ हृदि । ‘पद्मन्’ इत्यादिना हृदयशब्दस्य हृदादेशः । ‘ऊडिदम्’ इत्यादिना विभक्ते रुदात्तत्वम् । जघ्नुषः । हन्तेर्लिटः क्वसुः । षष्ठ्येकवचने ‘वसोः’ संप्रसारणम् इति संप्रसारणपरपूर्वत्वे । ‘शासिवसिघसीनां च’ इति षत्वम् । न च ‘षत्वतुकोरसिद्धः’ (पा०सू० ६.१.८६) इत्येकादेशस्यासिद्धत्वात् षत्वं न प्राप्नुयादिति वाच्यं, ‘संप्रसारणडीट्सु प्रतिषेधो वक्तव्यः’ (का० ६.१.८६.१) इति असिद्धवद्भावस्य प्रतिषिद्धत्वात् । ‘गमहन्’ इत्यादिना उपधालोपः । न च ‘असिद्धवदत्रा भात्’ इति संप्रसारणस्यासिद्धवद्भावः, भिन्नाश्रयत्वात् । संप्रसारणं हि षष्ठ्येकवचने उपधालोपस्तु वसाविति भिन्नाश्रयत्वम् । स्रवन्तीः । ‘स्रु गतौ’ । ‘शष्यनोनित्यम्’ (पा०सू० ७.१.८१) इति नुमागमः । शपः पित्तवादनुदात्तत्वम् । अतरः । यद्वृत्तयोगादनिघातः ॥

**शब्दा०** — अहेः = राक्षस के, यातारम् = अनुयायी, सहायक, कम् = किस को, अपश्यः



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

= देखा, इन्द्र = हे इन्द्र, हृदि = हृदय में, यत् = जिससे, ते = तुम्हारे, जघ्नुषः = मारने वाले के, भीः = भय, अगच्छत् = गया, प्रवेश किया, नव च नवतिम् = नौ और नब्बे अर्थात् निन्यानवे, स्रवन्तीः = नदियों को, श्येनः = श्येन पक्षी, न = तरह, भीतः = डरे हुए, अतरः = पार कर गये, रजांसि = अन्तरिक्ष को।

हि०अ० — हे इन्द्र, अहि के किस अनुयायी (सहायक) को तुमने देखा, कि (वृत्र को) मारने वाले तुम्हारे हृदय में भय प्रवेश कर गया कि भयभीत होकर ९९ नदियों तथा अन्तरिक्ष को (तुम) श्येन की तरह पार कर गये।

व्याकरण :

यातारम् — या+तृच् = यातृ। द्वितीया विभक्ति का एकवचन = यातारम्।

हृदि — हृदये अर्थ में 'पदनोमास०' सूत्र से हृदय को हृद् आदेश।

जघ्नुष — क्वसु प्रत्ययान्त हन् धातु से जघन्वस्। षष्ठी विभक्ति का एकवचन = जघ्नुषः।

विशेष — 'अहेः यातारम्' का सायण ने जो अर्थ किया है, उसका भाव यह निकलता है कि अहि को मारने के लिये अन्य कोई आ रहा था, उसको देखकर इन्द्र डर कर बहुत दूर भाग गया। इस सम्बन्ध में सायण ने ऐतरेय ब्राह्मण (३.१५) की एक कथा को उद्धृत किया है कि इन्द्र वृत्र को मार कर इस डर से बहुत दूर भाग गया कि इसके पीछे कोई दूसरा बलवान् आ रहा है। पीटर्सन ने ऐतरेय ब्राह्मण की कथा का अभिप्राय लिया है कि इन्द्र उस डर से बहुत दूर भाग गया कि कहीं वृत्र मरा न हो, अभी जीवित हो। सायण ने तैत्तिरीय ब्राह्मण (१.६.७.४) की भी एक कथा को उद्धृत किया है कि वृत्र को मारकर इन्द्र इस भय से बहुत दूर भाग गया कि उससे अपराध हुआ है। वृत्र को ब्राह्मण समझा जाता था। वृत्र को मारने के बाद इन्द्र को ब्रह्म हत्या का अपराधी समझा गया।

सायण के अनुसार 'रजांसि' का अर्थ जल है। इन्द्र ने ९९ नदियों के जलों को पार किया। पीटर्सन ने 'रजांसि' का अर्थ अन्तरिक्ष (aerial regions) किया है। इन्द्र ने ९९ नदियों को और अन्तरिक्षों को पार किया।

इन्द्र की उपमा श्येन के साथ दी गई है, जो बल और वेग का प्रतीक का है। 'ऋग्वेद' के एक मन्त्र (८.८२.९) में श्येन को 'अन्तरिक्षों से सोम को लाने वाला' कहा गया है।

मण्डल-१

सूक्त-३२

मन्त्र १५

संहितापाठ

इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः।

सेदु राजा क्षयति चर्षणीना मरान्न नेतिः परि ता बभूव॥१५॥



## इन्द्र सूक्त (मण्डल-१, सूक्त-३२)

### पदपाठ —

इन्द्रः । यातः । अवसितस्य । राजां । शमस्य । च । शृङ्गिणः । वज्रबाहुः । सः । इत् । ॐ इति ।  
राजां । क्षयति । चर्षणीनाम् । अरान् । न । नेमिः । परि । ता । बभूव ।।

अन्वय — वज्रबाहुः इन्द्रः यातः अवसितस्य शमस्य शृङ्गिणः च राजा । स इत् उ चर्षणीनाम् राजा क्षयति । नेमिः अरान् न ता परिबभूव ।।

### दयानन्द भाष्य —

(इन्द्रः) सूर्यलोक इव सभासेनापती राज्यं प्रातः (यातः) गमनादि व्यवहार प्रापकः (अवसितस्य) निश्चितस्य चराचरस्य जगतः (राजा) यो राजते दीप्यते प्रकाशते सः (शमस्य) शाम्यन्ति येन तस्य शान्तियुक्तस्य (च) समुच्चये (शृङ्गिणः) शृङ्गयुक्तस्य गवादेः पशुसमूहस्य (वज्रबाहुः) वज्रः (सः) (इत्) एव (उ) अप्यर्थे (राजा) न्यायप्रकाशकः सभाध्यक्षः (क्षयति) निवासयति गमयति वा (चर्षणीनाम्) मनुष्याणाम् (अरान्) चक्रावयवान् (न) इव (नेमिः) रथाङ्गम् (परि) सर्वतोऽर्थे (ता) तानि यानि जनतो दुष्टानि कर्माणि पूर्वोक्तोल्लोकान्वा । अत्र शेषछन्दसि बहुलम् इति शैलोपः । (बभूव) भवेः । अत्र लिङर्थे लिट् ।

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः । अत्र पूर्वमन्त्रात् रजांसीति पदमनुवर्तते । राजा यथा रथचक्रमरान् धृत्वा चालयति यथायं सूर्यश्चराचरस्य शान्ताशान्तस्य जगतो मध्ये प्रकाशमानः सन् सर्वाल्लोकान् धरन् स्वस्वकक्षासु चालयती न चैतस्माद्विना कस्यचित्संनिहितस्य मूर्तिमतो लोकस्य धारणाकर्षणप्रकाशमेघवर्षणादीनि कर्माणि संभवितुमर्हन्ति तथा धर्मेण राज्यं पालयेत् ।।

हि० भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है और पूर्व मन्त्र से (रजांसि) इस पद की अनुवृत्ति होती है । राजा को चाहिये कि जैसे रथ का पहिया धुरियों को चलाता है और जैसे यह सूर्य चराचर शांत अशांत संसार में प्रकाशमान होकर सब लोकों को धारण किये हुए उन सबों को अपनी अपनी कक्षा में चलाता है जैसे सूर्य के बिना अति निकट मूर्तिमान् लोक की धारणा आकर्षण प्रकाश और मेघ की वर्षा आदि काम किसी से नहीं हो सकते हैं । वैसे धर्म से प्रजा का पालन किया करें ।

### सायण भाष्य —

वज्रबाहुः इन्द्रः शत्रौ हते सति निःसपत्नो भूत्वा यातः गच्छतो जङ्गमस्य अवसितस्य एकत्रैव स्थितस्य स्थावरस्य शमस्य शान्तस्य शृङ्गराहित्येन प्रहरणादावप्रवृत्तस्याश्वगर्दभादेः शृङ्गिणः शृङ्गोपेतस्योग्रस्य महिषवलीवर्दादेश्च राजा अभूत् । सेदु स एवेन्द्रः चर्षणीनां मनुष्याणां राजा भूत्वा क्षयति निवसति । ता तानि पूर्वोक्तानि जङ्गमादीनि सर्वाणि परिबभूव व्याप्तवान् । तत्र दृष्टान्तः । अरान् न नेमिः । यथा रथचक्रस्य परितो वर्तमाना नेमिः अरान् नाभां कीलितान् काष्ठ विशेषान् व्याप्नोति तद्वत् ।। यातः । 'या प्रापणे' । याति गच्छतीति यात् । लटः शतृ । 'सावेकाचः०' इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । सः । 'सोऽचि लोपे चेत्०' इति संहितायां



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

सोलोपः । ता । 'शेष्छन्दसि बहुलम्' इति शेलोपः । बभूव । 'भवतेरः' (पा०सू० ७.४.७३) इति अभ्यासस्य अत्वम् । कृताकृतप्रसङ्गितया बुगागमस्य नित्यत्वात् वृद्धेः पूर्व बुगागमः । यद्वा । 'इन्धिभवतिभ्यां च' (पा०सू० १.२.६) इति लिटः कित्वात् वृद्ध्यभावः । न च 'असिद्धवदत्रा भात्' इति तस्यासिद्धत्वात् उवडादेशः शङ्कनीयः, 'बुग्युटावुवड्यणोः सिद्धौ भवतः' (पा०सू० ६.४.२२.१४) इति तस्य सिद्धत्वात् । 'तिङ्ङतिङः' इति निधातः ।।

शब्दा० — इन्द्रः = इन्द्र, यातः = जाने वाले अर्थात् जंगमों के, अवसितस्य = स्थिर रहने वाले, अर्थात् स्थावरों के, राजा = शासन करने वाला, शमस्य = शांत का, अर्थात् बिना सींग वालों का च = और, शृङ्गिणः = सींग वालों का, वज्रबाहुः = हाथ में वज्र धारण करने वाला, सः = वह, इत् = निश्चित अर्थ का वाचक एक निपात, उ = निश्चित अर्थ का वाचक एक निपात, राजा = शासन करने वाला, क्षयति = शासन करता है,, चर्षणीनाम् = मनुष्यों का, अरान् = रथ के चक्र के धुरे में लगी हुई कीलें, न = तरह, नेमिः = पहिये की परिधि पर लगा हुआ लोहा या रबड़, ता = उनको, परिबभूव = चारों तरफ से घेरे हुये है ।।

हि०अ० — वज्र धारण करने वाला इन्द्र चलने वाले तथा स्थिर रहने वाले, शांत (बिना सींग वाले) तथा सींग वाले सबका राजा है; वही राजा सभी मनुष्यों के ऊपर शासन करता है । जिस प्रकार लोहे की परिधि धुरे में लगे पहिये के सभी अरों को घेरे रहती है, उसी प्रकार (वह इन्द्र) उन सबको चारों तरफ से घेरे हुये है ।

### व्याकरण :

यातः — 'या प्रापणे' अर्थ में 'या' धातु से क्विप् प्रत्यय । तुक् का आगम होकर = यात् । षष्ठी विभक्ति का एक वचन = यातः ।

अवसितस्य — अव+षो+क्त = अवसित ।

शृङ्गिणः — 'शृङ्ग अस्य अस्ति' अर्थ में शृङ्ग+इनि = शृङ्गिन् । षष्ठी विभक्ति का एक वचन = शृङ्गिणः ।

क्षयति — 'क्षि निवासे, प्रथम पुरुष एकवचन ।

विशेष — 'सः+इत्' को सन्धि करके 'सेत्' रूप बनाया गया है । पाणिनीय, व्याकरण के अनुसार यह सन्धि नहीं होनी चाहिये तथा 'स इत्' इस प्रकार रूप बनना चाहिये । परन्तु वेद में इस प्रकार की सन्धि अनेक स्थानों पर देखी जाती है ।

'क्षि' धातु के अनेक अर्थ हैं — निवास करना, शासन करना आदि । पीटर्सन ने यहाँ 'शासन करना' अर्थ लिया है । He rules over the people । 'चर्षणीनाम्' रूप 'चृष्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है — क्रियाशील होना । इन्द्र क्रियाशील मनुष्यों की रक्षा करता है । पीटर्सन के अनुसार 'चर्षणी' वैदिक युग की एक विशेष जाति थी ।

सायण के अनुसार 'परिबभूव' का अर्थ है — व्याप्त किये हुये । इन्द्र मनुष्यों को चारों ओर से व्याप्त करके उनकी रक्षा करता है ।



## सवितृ सूक्त

देवता—सविता

ऋषि—हिरण्यस्तूप

छन्द—(मंत्र १-६ में जगति, शेष में त्रिष्टुप्)

मण्डल —१

सूक्त-३५

मन्त्र-१

संहिता पाठ

ह्वयाम्यग्निं प्रथमं स्वस्तये ह्वयामि मित्रावरुणाविहावसे ।

ह्वयामि रात्रीं जगतो निवेशनीं ह्वयामि देवं सवितारमुतये ॥१॥

पद पाठ —

ह्वयामि । अग्निम् । प्रथमम् । स्वस्तये । ह्वयामि । मित्रावरुणौ । इह । अवसे । ह्वयामि । रात्रीम् । जगतः । निवेशनीम् । ह्वयामि । देवम् । सवितारम् । ऊतये ॥

अन्वयः — स्वस्तये प्रथमम् अग्निं ह्वयामि । इह अवसे मित्रावरुणौ ह्वयामि । जगतः निवेशनीं रात्रीं ह्वयामि । ऊतये देवं सवितारं ह्वयामि ।

दयानन्द-भाष्य —

(ह्वयामि) स्पर्धामि (अग्निम्) रूपगुणम् (प्रथमम्) जीवनस्यादिमनिमित्तम् (स्वस्तये) सुशोभनमिष्टं सुखमस्ति यस्मात्तस्मै सुखाय (ह्वयामि) स्वीकरोमि (मित्रावरुणौ) मित्रः प्राणो वरुण उदानस्तौ (इह) अस्मिन् शरीरधारणादिव्यवहारे (अवसे) रक्षणाद्याय (ह्वयामि) प्राप्नोमि (रात्रीम्) सूर्याभावादन्धकाररूपाम् (ह्वयामि) गृह्णामि (देवम्) द्योतनात्मकं (सवितारम्) सूर्यलोकम् (ऊतये) क्रियासिद्धीच्छायै ॥

भावार्थ — मनुष्यैरहर्निशं सुखायाग्निवायुसूर्याणां सकाशादुपयोगं गृहीत्वा सर्वाणि सुखानि प्राप्याणि नैतदादिना विना कदाचित् कस्यचित् सुखं संभवतीति ।

हि०भावार्थ — मनुष्यों को चाहिये कि दिन रात सुख के लिये अग्नि वायु और सूर्य के सकाश से उपकार को ग्रहण करके सब सुखों को प्राप्त होवें क्योंकि इस विद्या के विना कभी किसी पुरुष को पूर्ण सुख का संभव नहीं हो सकता ॥

सायण-भाष्य—

स्वस्तये अस्माकमविनाशाय । 'स्वस्तीत्यविनाशनाम्' (निरु० ३.२१) इति यास्कः । प्रथमम् आदौ अग्निं ह्वयामि । इह अस्मिन् कर्मणि अवसे अस्मद्रक्षणाय मित्रावरुणौ ह्वयामि । जगतः जङ्गमस्य प्राणिजातस्य निवेशनीम् उपनिवेशनहेतुभूतां रात्रीं रात्रिदेवतां ह्वयामि । जङ्गमाः सर्वे प्राणिनो दिवसे स्वस्वव्यापारान् कृत्वा स्वस्वगृहे रात्रौ उपविशन्तीति प्रसिद्धम् । ऊतये अस्मद्रक्षणार्थं सवितारं देवं ह्वयामि ॥ मित्रावरुणौ । 'देवताद्वन्द्वे च' इति पूर्वपदस्य आनङादेशः । 'देवताद्वन्द्वे च' इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् । रात्रीम् । 'रात्रेश्चाजसौ' (पा०सू० ४.१.३१) इति डीप् । निवेशनीम् निवेशन्त्यस्यामिति निवेशनी । 'करणाधिकरणयोश्च' इति ल्युट् । 'टिड्ढाणञ्' (पा०सू० ४.१.१५) इत्यादिना डीप् । ऊतये । अवतेः क्तिनि 'ज्वरत्वर' इत्यादिना वकारस्य उपधायाश्च ऊट् । 'ऊतियूति' इत्यादिना क्तिन उदात्तत्वम् ॥



शब्दा० - ह्वयामि = बुलाता हूँ, अग्निम् = अग्नि को, प्रथमम् = प्रथम देव, स्वस्तये = कल्याण के लिये, ह्वयामि = बुलाता हूँ, मित्रावरुणौ = मित्र और वरुण को, इह = यहाँ, अवसे = रक्षा के लिए, ह्वयामि = बुलाता हूँ, रात्रीम् = रात्रि को, जगतः = सम्पूर्ण जंगम लोक को, निवेशनीम् = आराम देनेवाली, ह्वयामि = बुलाता हूँ, देवम् = देव को, सवितारम् = सवितृ को, ऊतये = रक्षा के लिये।

हि०अ० - मैं प्रथम (देव) अग्नि को (अपने) कल्याण के लिये बुलाता हूँ; मित्र तथा वरुण को यहाँ रक्षा के लिए बुलाता हूँ; सम्पूर्ण जंगम लोक को आराम देने वाली रात्रि को बुलाता हूँ; सवितृ देव को सहायता के लिए बुलाता हूँ।

व्याकरण

ह्वयामि - ह्वे धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन।

रात्रीम् - 'रात्रि' शब्द से 'रात्रेश्चाजसौ' सूत्र से डीप् प्रत्यय।

निवेशनीम् - नि+विश् "करणाधिकरणयोश्च" से ल्युट् प्रत्यय। नि+विश् +ल्युट् (अन)+डीप् = निवेशनी।

सवितारम् - सू+(इट् का आगम)+तृच् = सवितृ। द्वितीया का एकवचन।

ऊतये - अव+क्तिन् (ऊट् आदेश) = ऊति। चतुर्थी विभक्ति का एकवचन।

विशेष - मैक्डानल ने 'अवसे' और 'ऊतये' का अर्थ 'सहायता करने के लिये' (for aid और for help) किया है।

मण्डल - १

सूक्त-३५

मन्त्र-२

संहिता पाठ

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।

हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥२॥

पदपाठ

आ। कृष्णेन। रजसा। वर्तमानः। निवेशयन्। अमृतम्। मर्त्यम्। च। हिरण्ययेन। सविता। रथेन। आ। देवः। याति। भुवनानि। पश्यन्॥

अन्वयः - कृष्णेन रजसा आवर्तमानः, अमृतं मर्त्यं च निवेशयन्, हिरण्ययेन रथेन देवः सविता भुवनानि पश्यन् आ याति।

दयानन्द-भाष्य -

(आ) समन्तात् (कृष्णेन) कर्षति येन स कृष्णस्तेन। यद्वा कृष्णवर्णेन लोकेन। कृष्णं कृष्यतेर्निकृष्टो वर्णः। निरु० २।२०। यत्कृष्णं तदन्नस्य। छान्दो० ६।४। एताभ्यां प्रमाणाभ्यां पृथिवीलोका अत्र गृह्यन्ते। कृषेर्वर्णे। उ०३।४। इति नक् प्रत्ययः। अत्राङ्पूर्वकत्वादाकर्षणार्थो गृह्यते (रजसा) लोकसमूहेन सह। लोका रजांस्युच्यन्ते। निरु० ४।१९। (वर्तमानः) वर्ततेऽसौ वर्तमानः (निवेशयन्) नितरां स्वस्वसामर्थ्यं स्थापयन् (अमृतम्) अन्तर्यामितया वेदद्वारा च मोक्षसाधकं सत्यं ज्ञानं वृष्टिद्वाराऽमृतात्मकं रसं वा



(मर्त्यम्) कर्मप्रलयप्राप्तिव्यवस्थया कालव्यवस्थया वा मरणधर्मयुक्तम् प्राणिनम् (च) समुच्चये (हिरण्ययेन) ज्योतिर्मयेनानन्तेन यशसा तेजोमयेन वा । ऋत्वावस्त्ववास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि छन्दसि । अ०६।४।१७५। इत्ययं निपातितः । ज्योतिर्हि हिरण्यम् । श० ४।३।१।२१। (सविता) सर्वेषां प्रसविता प्रकाशवृष्टिरसानां च प्रसविता (रथेन) रंहति जानाति गच्छति गमयति वा येन तेन । रथो रंहतेर्गतिकर्मणः । निरु० ९।११। (आ) समन्तात् (देवः) दीव्यति प्रकाशयतीति (याति) प्राप्नोति प्रापयति वा । अत्र पक्षेऽन्तर्गतो ण्यर्थः । (भुवनानि) भवन्ति भूतानि येषु तानि । भूस्० । उ०२।७८। इत्यधिकरणेक्युन् प्रत्ययः । (पश्यन्) प्रेक्षमाणो दर्शयन् वा । अत्रापि पक्षेऽन्तर्गतो ण्यर्थः ।।

भावार्थः — अत्र श्लेषालङ्कारः । यथा पृथिव्यादयो लोकाः सर्वान् मनुष्यादीन् धरन्ति सूर्यलोक आकर्षणेन पृथिव्यादीन् धरति । ईश्वरः स्वसत्तया सूर्यादीन् लोकान् धरति । एवं क्रमेण सर्वलोकधारणं प्रवर्तते नैतेन विनान्तरिक्षे कस्यचिद् गुरुत्वयुक्तस्य लोकस्य स्वपरिधौ स्थितेः सम्भवोस्ति । नैव लोकानां भ्रमणेन विना क्षणमुहूर्त्तप्रहराहोरात्रपक्षमांसर्तुसंवत्सरादयः कालावयवा उत्पत्तुं शक्नुवन्तीति ।।

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है । जैसे सब पृथिवी आदि लोक मनुष्यादि प्राणियों वा सूर्यलोक अपने आकर्षण से पृथिवी आदि लोकों वा ईश्वर अपनी सत्ता से सूर्यादि सब लोकों का धारण करता है । ऐसे क्रम से सब लोकों का धारण होता है । इसके बिना अन्तरिक्ष में किसी अत्यन्त भार युक्त लोक का अपनी परिधि में स्थिति होने का संभव नहीं होता और लोकों के घूमने विना क्षण, मुहूर्त्त, प्रहर, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु और संवत्सर आदि कालों के अवयव उत्पन्न नहीं हो सकते ।

सायण—भाष्य —

सविता सूर्यः कृष्णेन रजसा कृष्णवर्णेन लोकेन । 'कृष्णं कृष्यतेर्निकृष्टो वर्णः' (निरु० २.२०) इति यास्कः । 'लोका रजांस्युच्यन्ते' (निरु० ४.१९) इति च । अन्तरिक्षलोको हि सूर्योगमनात् पुरा कृष्णवर्णो भवति । तेनान्तरिक्षमार्गेण आ वर्तमानः पुनः पुनरागच्छन् अमृतं देवं मर्त्ये मनुष्यं च निवेशयन् स्वस्वस्थानेऽवस्थापयन् । यद्वा । अमृतं मरणरहितं प्राणं मर्त्यं मरणसहितं शरीरं च निवेशयन् । तथा चारण्यकाण्डे 'अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः' (ऋ०सं० १.१६४.३८) इत्येतस्य मन्त्रभागस्य व्याख्यानरूपे ब्राह्मणे यथोक्तोऽर्थोऽवगम्यते — 'मर्त्यानि हीमानि शरीराणि अमृतैषा देवता' (ऐ०ब्रा० २.१.८) इति । यथोक्तगुणोपेतः सविता देवः भुवनानि सर्वान् लोकान् पश्यन् अवेक्षमाणः प्रकाशयन्नित्यर्थः । हिरण्ययेन सुवर्णनिर्मितेन रथेन आ याति अस्मत्समीपमागच्छति ।। अमृतम् । मृतं मरणं नास्ति अस्येति बहुव्रीहौ 'नजो जरमरमित्रमृता' इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । मर्त्यम् । मर्ते भवम् । 'भवे छन्दसि' इति यत् । 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वम् । हिरण्येन । 'ऋत्वावस्त्वः' (पा०सू० ६.४.१७५) इत्यादिना मयटो मकारलोपो निपातितः । यस्येति लोपे प्रत्ययस्वरः । भुवनानि । 'भू सत्तायाम्' । भूसूधूभ्रस्जिभ्यश्छन्दसि (उ०सू० २.२३८) इति क्युन्प्रत्ययः । योरनादेशो उपडादेशः । नित्वादाद्युदात्तत्वम् ।।



शब्दा० - कृष्णेन = अन्धकारमय, रजसा = अन्तरिक्ष से, आवर्तमानः = लौटते हुए, निवेशयन् = अपने-अपने कार्य में लगाते हुए, अमृतम् = देवताओं को, मर्त्यम् = मनुष्यों को, च = और, हिरण्ययेन = स्वर्णमय, सविता = सवितृदेव, रथेन = रथ से, देवः = देव, आयाति = आ रहे हैं, भुवनानि = लोकों को, पश्यन् = देखते हुए।

हि०अ० - अन्धकारमय अन्तरिक्ष से (होकर) लौटते हुए, देवताओं तथा मनुष्यों को (अपने अपने कार्यों में) प्रवृत्त करते हुए स्वर्णमय रथ पर (चढ़कर) सवितृ देव सम्पूर्ण प्राणियों को देखते हुए आ रहे हैं।

व्याकरण -

वधाय - हन्+अप् = वध। चतुर्थी विभक्ति का एकवचन = वधाय

हन्वे - हन्+क्नु (धातु के न् को निपातन से त्) = हन्तु। चतुर्थी विभक्ति एकवचन = हन्वे।

जिहीष्णस्य - हेळ्+कानच् (लिट् लकार में, द्वित्व आदि क्रियायें होकर जिहीष्ण। षष्ठी विभक्ति का एकवचन। दो स्वरों के बीच में आने पर प्रातिशाख्य के नियमों के अनुसार 'ङ्' को 'ड' हो जाता है। अतः 'जिहीष्णस्य' हुआ।

रीरधः - गिजन्त 'राध् संसिद्धौ' धातु से लुङ् लकार, मध्यमपुरुष, एकवचन।

हृणानस्य - 'हृणीङ् रीषणे लज्जायां च' धातु से 'शानच्' प्रत्यय = हृणान।

विशेष - पीटर्सन के मत से 'हृणानस्य' और 'जिहीष्णस्य' दोनों विशेषण भूलोकवासी या द्यूलोकवासी शत्रुओं के हैं और 'हृणानस्य' का अर्थ 'रुष्ट' है।

मण्डल - १

सूक्त-३५

मन्त्र-३

संहिता पाठ

यातिं देवः प्रवता यात्युद्वता यातिं शुभ्राभ्यां यजतो हरिभ्याम्।

आ देवो याति सविता परावतोऽप विश्वां दुरिता बाधमानः॥३॥

पदपाठ

यातिं। देवः। प्रवतां। यातिं। उत्सवतां। यातिं। शुभ्राभ्याम्। यजतः। हरिभ्याम्। आ। देवः। याति। सविता। परावतः। अप। विश्वां। दुःसता। बाधमानः॥

अन्वयः - यजतः देवः शुभ्राभ्यां हरिभ्यां प्रवता याति, उद्वता याति। देवः सविता विश्वा दुरिता अप बाधमानः परावतः आ याति।

दयानन्द-भाष्य -

(याति) गच्छति (देवः) द्योतको वायुः (प्रवता) अधोमार्गेण। अत्र प्रपूर्वकात्संभजनार्थाद्वनधातोः किप् (याति) प्राप्नोति (उद्वता) ऊर्ध्वमार्गेण (याति) गच्छति



## सवितृ सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-३५ )

अभ्यर्थे (देवः) प्रकाशकः (याति) प्राप्नोति (सविता) सूर्यलोकः (परावतः) दूरमार्गान् । परावत इति दूरनामसु पठितम् । निघं० ३।२६ । (अप) दूरार्थे (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (दुरिता) दुष्टानि दुःखानि । अत्रोभयत्र शेषछन्दसि० इति लोपः । (बाधमानः) दुरीकुर्वन् ।।  
 भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यथा ईश्वरोत्पादितायां सृष्टौ वायुरध ऊर्ध्वसमगत्या गच्छन्धस्थानुपर्युपरिस्थानानयति यथायमहोरात्रादिभ्यां हरणशीलाभ्यां स्वकिरणयुक्ताभ्यां युक्तः सविता देवोऽन्धकाराद्यपवारणेन दुःखानि विनाश्य सुखानि प्रकटय्य कदाचित् सुखानि निवार्य दुःखानि प्रकटयति तथा सभापत्यादिभिरपि सेनादिभिः सह गत्वागत्य च शत्रून् जित्वा प्रजापालनमनुष्ठेयम् ।।

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । जैसे ईश्वर की उत्पन्न की हुई सृष्टि में वायु नीचे ऊपर वा समगति से चलता हुआ नीचे के पदार्थों को ऊपर और ऊपर के पदार्थों को नीचे करता है और जैसे दिन रात वा आकर्षण धारण गुण वाले अपने किरण समूह से युक्त सूर्यलोक अन्धकारादिकों के दूर करने से दुःखों का विनाश कर सुख और सुखों का विनाश कर दुःखों को प्रकट करता है, वैसे ही सभापति आदि को भी अनुष्ठान करना चाहिये ।।३।।

### सायण—भाष्य —

देवः दीप्यमानः सविता प्रवता प्रवणता मार्गेण याति गच्छति । तथा उद्वता उत्कृष्टेनोर्ध्वदेशयुक्तेन मार्गेण याति । उदयानन्तरं आमध्याह्नमूर्ध्वो मार्गः; तत उपरि आसायं प्रवणो मार्ग इति विवेकः । तथा यजतः यष्टव्यः स देवः शुभ्राभ्यां श्वेताभ्यां हरिभ्यां अश्वभ्यां याति देवयजनदेशे गच्छति । सविता देवः विश्वा दुरिता सर्वाणि पापानि अप बाधमानः विनाशयन् परावतः दूरदेशात् । 'परावतः' (नि० ३.२६.५) इति दूरनामसु पठितत्वात् । तादृशात् द्युलोकात् आ याति यागदेशे आगच्छति ।। प्रवता । 'वन षण संभक्तौ' । अस्मात् प्रपूर्वात् क्विप् । 'गमादीनामिति वक्तव्यम्' (पा०सू० ६.४.४०.१) इत्यनुनासिकलोपः । ततः तुक् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् । उद्वता उत्पूर्वात् वनतेः पूर्ववत्प्रक्रिया । यजतः । 'भृमृदृशि' (उ०सू० ३.३९०) इत्यादिना यजतेः कर्मणि अतच्प्रत्ययः । विश्वा दूरिता । उभयत्र 'शेषछन्दसि बहुलम्' इति शैलोपः ।

शब्दा० — याति = जाते हैं, देवः = देव, प्रवता = नीचे मार्ग से, याति = जाते हैं, उद्वता = ऊपर मार्ग से, याति = जाते हैं, शुभ्राभ्याम् = सफेद रंग के, यजतः = पूजनीय, हरिभ्याम् = दो अश्वों के साथ, देवः = देव, आयाति = आ रहे हैं, सविता = सवितृ, परावतः = बहुत दूर से, विश्वा = सम्पूर्ण, दुरिता = पापों को, अपबाधमानः = दूर करते हुए ।

हि०अ० — (सवितृ) देव नीचे (मार्ग) से जाते हैं; ऊपर (मार्ग) से जाते हैं; पूजनीय (सवितृ देव) श्वेत रंग के दो अश्वों के साथ आते हैं । सम्पूर्ण बुराइयों को दूर करते हुए सवितृ देव बहुत दूर से आ रहे हैं ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****व्याकरण —**

- प्रवता — प्र+वन्+क्विप् = प्रवत्। तृतीया का एकवचन।  
 उद्वता — उद्+वन्+क्विप् = उद्वत्, तृतीया का एकवचन।  
 यजतः — यज्+अतच् = यजत्।  
 विश्वा, दुरिता — वैदिक प्रयोग। लोक में विश्वानि, दुरितानि होगा।  
 विशेष — मैक्डॉनल के अनुसार 'प्रवता' का अर्थ 'नीचे की ओर' (Downwards) और 'उद्वता' का अर्थ 'ऊपर की ओर' (Upwards) है।

**मण्डल — १****सूक्त-३५****मन्त्र-४****संहिता पाठ**

अ॒भीवृ॑त् कृ॒श॒नैर्वि॒श्वरू॑पं॒ हिर॑ण्यशम्यं॒ यज॑तो बृ॒हन्त॑म्।  
 आ॒स्था॒द्रथ॑ स॒विता॑ चि॒त्रभा॑नुः कृ॒ष्णा रजा॑सि॒ तवि॑षीं॒ दधा॑नः॥४॥

**पदपाठ —**

अ॒भिऽवृ॑त्। कृ॒श॒नैः। वि॒श्वऽरू॑पम्। हिर॑ण्यऽशम्यम्। य॒ज॒तः। बृ॒हन्त॑म्॥ आ॒। अ॒स्था॒त्।  
 रथ॑म्। स॒वि॒ता। चि॒त्रऽभा॑नुः। कृ॒ष्णा। रजा॑सि। तवि॑षीम्। दधा॑नः॥

अन्वयः — चित्रभानुः यजतः सविता कृष्णा रजांसि (प्रति) तविषीं दधानः कृशनैः अभिवृत् विश्वरूपं हिरण्यशम्यं बृहन्तं रथम् आ अस्थात्।

**दयानन्द-भाष्य —**

(अभीवृत्तम्) = अभितः सर्वतः साधनैः पूर्णो वर्तते सोऽभीवृत्तम्। नहिवृति० १६।३।११६।  
 इति पूर्वस्य दीर्घत्वम्, (कृशनैः) = तनूकरणैः सूक्ष्मत्वनिष्पादकैः किरणैर्विविधैरुपैर्वा।  
 कृशनमिति रूपनामसु पठितम्। निघ० ३।७।, (विश्वरूपम्) = विश्वानि बहूनि रूपाणि  
 यस्मिन् प्रकाशे तम्, (हिरण्यशम्यम्) = हिरण्य सुवर्णान्यन्यानि वा ज्योतिषि शम्यानि  
 शमितुं योग्यानि यस्मिस्तम्, (यजतः) = संज्ञतिप्रकाशयोर्दाता। (बृहन्तम्) = महान्तम्,  
 (आ) = समन्तात्, (अस्थात्) = तिष्ठति। अत्र लङर्थे लुङ्। (रथम्) = यस्मिन् रमते तम्।  
 रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा। निरु० १९।११। (सविता) = ऐश्वर्यवान् राजा सूर्यलोको  
 वायुर्वा। सवितेति पदनामसु पठितम्। निघ० ५।४। अनेन प्राप्तिहेतोर्वायोरपिग्रहणम्।  
 (चित्रभानुः) चित्रा भानवो दीप्तयो यस्य यस्माद्वा सः, (कृष्णा) कृष्णान्याकर्षणकृष्णवर्ण-  
 युक्तानि पृथिव्यादीनि (रजांसि) लोकान्, (तविषीम्) बलम्। तविषीति बलनामसु पठितम्।  
 निघ० २।९। (दधानः) धरन्॥

**भावार्थ —** अत्र श्लेषवाचकलुप्तोपमालङ्कारौ। यथा सूर्यादिजनननिमित्तः सूर्यादिलोकधारको  
 बलवान् सर्वान् लोकानाकर्षणाख्यं बलं च धरन् वायुर्वर्तते यथा च सूर्यलोकः स्वसन्निहितान्  
 लोकान् धरन् सर्वं रूपं प्रकटयन् बलाकर्षणाभ्यां सर्वं धरति नैताभ्यां विना कस्यचित्  
 परमाणोरपि धारणं संभवति। तथैव राजा शुभगुणाढ्यो भूत्वा राज्यं धरेत्॥

**हि० भावार्थ —** इस मन्त्र में श्लेष और वाचकलुप्तोपमालङ्कार हैं। जैसे सूर्य आदि की



## सवितृ सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-३५ )

**हि०भावार्थ** — इस मन्त्र में श्लेष और वाचकलुप्तोपमालङ्कार हैं। जैसे सूर्य आदि की उत्पत्ति का निमित्त सूर्य आदि लोक का धारण करने वाला बलवान् सब लोकों और आकर्षणरूपी बल को धारण करता हुआ वायु विचरता है और जैसे सूर्यलोक अपने समीप स्थलों को धारण और सब रूप विषय को प्रकट करता हुआ बल वा आकर्षण शक्ति से सब को धारण करता है और इन दोनों के बिना किसी स्थूल वा सूक्ष्म वस्तु के धारण का संभव नहीं होता वैसे ही राजा को होना चाहिये कि उत्तम गुणों से युक्त होकर राज्य को धारण करे।।

### सायण—भाष्य —

सविता रथम् आस्थात् आस्थितवान् आरूढवानित्यर्थः। कीदृशम्। अभीवृतम् अभितो वर्तमानम्। तथा कृशनैर्विश्वरूपं सुवर्णेन नानारूपम्। 'कृशनं लोहम्' (नि० १.२.७) इति सुवर्णनामसु पाठात्। क्वचित् सुवर्णनिर्मितगजपङ्क्तिः क्वचिदश्वपङ्क्तिः क्वचिन्मनुष्यपङ्क्तिरित्येवं बहुरूपत्वम्। हिरण्यशम्यम्। अश्वानां स्कन्धेषु रथयोजनवेलायां नियन्तुं प्रक्षेप्यमाणाः शङ्खवः शम्याः। ताः सुवर्णमय्यो रथे वर्तन्ते। बृहत्तं प्रौढम्। कीदृशः सविता। यजतः यष्टव्यः चित्रभानुः विविधरश्मियुक्तः कृष्णा रजांसि अन्धकारयुक्ततया कृष्णवर्णान् लोकानुद्दिश्य तमोनिवारणार्थं तविषीं बलं स्वकीयं प्रकाशरूपं दधानः।। अभीवृतम्। अभितो वर्तते इत्यभीवृत्। 'वृत्तु वर्तने'। क्वपि 'नहिवृति' (पा०सू० ६.३.११६) इत्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घत्वम्। विश्वरूपम्। विश्वानि शपाणि यस्यासौ विश्वरूपः। —बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्' इति व्यत्ययेन असंज्ञायामपि पूर्वपदान्तोदात्तत्वम्। हिरण्यशम्यम्। 'हर्य गतिकान्त्योः'। 'हर्यतेः कन्येन् हिर च' (उ०सू० ५.७.२२) इति कन्यन् प्रत्ययो धातोर्हिरादेशश्च। नित्वादाद्युदोत्तत्वम्। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। आस्थात्। तिष्ठतेर्लुङि 'गातिस्था' इति सिचो लुक्। कृष्णा। 'कृषेर्वर्णे' (उ०सू० ३.२.८४) इति नक्प्रत्ययः। 'शेशछन्दसि बहुलम्' इति शैर्लोपः। तविषीम्। तवतिः सौत्रो धातुः। 'तवतेर्णिङ्' (उ०सू० १.४.८) इति टिषच्। टित्वात् 'टिङ्गाणञ्' इत्यादिना ङीप्। व्यत्ययेन आद्युदात्तत्वम् वृषादित्वात् द्रष्टव्यम्। दधानः। शानचि 'अभ्यस्तानामादिः' इत्याद्युदात्तत्वम्।।

**शब्दा०** — अभीवृतम् = सुसज्जित, कृशनैः = स्वर्ण से, विश्वरूपम् = विविध रूप वाले, हिरण्यशम्यम् = स्वर्ण कील वाले, यजतः = पूजनीय, बृहन्तम् = ऊँचे, आ अस्थात् = आरूढ़ हुए, रथम् = रथ पर, सविता = सवितृ देव, चित्रभानुः = विचित्र किरणों वाले, कृष्णा = अन्धकारमय, रजांसि = लोकों, तविषीम् = शक्ति, दधानः = धारण करते हुए।।

**हि०अ०** — स्वर्ण से सुसज्जित, विविध रूपवाले, (जुवा में) स्वर्ण की कीलवाले, ऊँचे रथ पर, विचित्र किरणों से युक्त, पूजनीय सवितृ देव, अन्धकारमय लोकों के विरुद्ध शक्ति धारण करते हुए आरूढ़ हुए हैं।

### व्याकरण —

**अभीवृतम्** — अभि+वृत्+क्विप् = अभीवृत्। द्वितीया विभक्ति का एकवचन। वैदिक



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

- कृष्णा — कृष्+नक्=कृष्ण। नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।  
 तविषीम् — तवि+टिषच् (इष्)+डीप् = तविषी  
 दधानः — धा+शानच् = दधान्।  
 आस्थात् — आ+स्था धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।  
 विशेष — मैकडोनल ने 'कृशनैः' को सम्बन्ध 'अभीवृतम्' से जोड़ा है और इसका अर्थ किया है—मोतियों से अलंकृत (adorned with pearls)।

मण्डल —१

सूक्त-३५

मन्त्र-५

संहिता पाठ

वि जनाञ्छ्यावाः शितिपादो अख्यं त्रथं हिरण्यप्रउगं वहन्तः।  
 शश्वद्विशः सवितुर्देव्यस्योपस्थे विश्वा भुवनानि तस्थुः॥५॥

पदपाठ —

वि। जनां। श्यावाः। शितिऽपादः। अख्यन्। रथम्। हिरण्यऽप्रउगम्। वहन्तः। शश्वन्तं।  
 विशः। सवितुः। दैव्यस्य। उपऽस्थे। विश्वा। भुवनानि। तस्थुः॥५॥  
 अन्वयः — (सवितुः देवस्य) शितिपादः श्यावाः हिरण्यप्रउगं रथं वहन्तः जनात् वि अख्यन्।  
 शश्वद् विशः विश्वा भुवनानि (च) दैव्यस्य सवितुः उपस्थे तस्थुः।

दयानन्द-भाष्य —

(वि) विशेषार्थे, (जानां) विदुषः, (श्यावाः) श्यायन्ते प्राप्नुवन्ति ते। श्यावाः सवितुरित्यादिष्टोपयोजननामसु पठितम्। निघं० १।१५। (शितिपादः) शितयः शुल्काः पादा अंशा येषां किरणानान्ते, (अख्यन्) ख्याता भवन्ति। अत्र लङर्थे लुङ्। (रथम्) विमानादियानम्, (हिरण्यप्रउगम्) हिरण्यस्य ज्योतिषोऽग्नेः प्रउगं सुखवत्स्थानं यस्मिँस्तं प्रयोगार्हम्। पृषोदरादिना अभीष्टरूपसिद्धिः, (वहन्तः) प्राप्नुवन्तः, (शश्वन्त) अनादयः, (विशः) प्रजाः, (सवितुः) सूर्यलोकस्य, (दैव्यस्य) देवेषु दिव्येषु पदार्थेषु भवो दैव्यस्तस्य, (उपस्थे) उपतिष्ठन्ते यस्मिँस्तस्मिन्। अत्र घञर्थे कविधानम् इत्यधिकरणे कः प्रत्ययः। (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि। अत्र शेषछन्दसि इति शेलोपः। (भुवनानि) पृथिवीगोलादीनि, (तस्थुः) तिष्ठन्ति अत्र लङर्थे लिट्॥

भावार्थ — हे मनुष्या ! यूयं यथा सूर्यलोकस्य प्रकाशाकर्षणादयो गुणाः सन्ति ते सर्वे जगद्धारणपुरस्सरं यथायोग्यं प्रकटयन्ति ये सूर्यस्य सन्निधौ लोकाः सन्ति ते सूर्यप्रकाशेन प्रकाशन्ते या अनादिरूपाः प्रजास्ता अपि वायुर्धरति। अनेन सर्वे लोकाः स्व स्व परिधौ समवतिष्ठन्ते तथा गुणान्धरन्तः स्व स्व व्यवस्थायां स्थित्वा न्यायान् स्थापयत् च॥

भावार्थ — हे मनुष्यो! तुम जैसे सूर्यलोक के प्रकाश वा आकर्षण आदि गुण सब जगत् को धारणपूर्वक यथायोग्य प्रकट करते हैं और जो सूर्य के समीप लोक हैं, वे सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। जो अनादि रूप प्रजा है उसका भी वायु धारण करता है



प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। जो अनादि रूप प्रजा है उसका भी वायु धारण करता है इस प्रकार होने से सब लोक अपनी अपनी परिधि में स्थित होते हैं वैसे तुम सद्गुणों को धारण और अपने अपने अधिकारों में स्थित होकर अन्य सब को न्याय मार्ग में स्थापन किया करो।।

### सायण-भाष्य -

श्यावाः एतन्नामकाः सूर्यस्याश्वाः। 'श्यावाः सवितुः' (नि० १.१५.८) इति निघण्टावुक्तत्वात्। ते च शितिपादः श्वेतैः पादैरूपेताः हिरण्यप्रउगम्। रथस्य मुखम् ईषयोरग्रं युगबन्धनस्थानं प्रउगमित्युच्यते। तच्चात्र सुवर्णमयम्। तद्युक्तं रथं वहन्तः जनान् प्राणिनः वि अख्यन् विशेषेण प्रकाशितवन्त इत्यर्थः। शश्वत् सर्वदा विशः प्रजाः दैव्यस्य इतरदेवसंबन्धिनः सवितुः प्रेरकस्य सूर्यस्य उपस्थे समीपस्थाने तस्थुः स्थितवत्यः। न केवलं प्रजाः किं तर्हि विश्वा भुवनानि सर्वे च लोकाः प्रकाशाय सूर्यसमीपे तस्युः।। शितिपादः। शितयः श्वेतवर्णाः पादा येषां ते शितिपादाः। 'सुपां सुलुक्' इति जसः सुआदेशः। यद्वा। शितिः श्वेतवर्णः स्फाटिकादिः। स इव पादो येषां ते। 'पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः' (पा०सू०५. ४.१३८) इति समासान्तपादशब्दस्यान्त्यलोपः। उपमानात् इति हि तत्रानुवर्तते। पादशब्दस्य वृषादित्वादाद्युदात्तत्वम्। तस्य बहुव्रीहौ समासे 'शितेर्नित्याबह्वज्बहुव्रीहावभसत्' (पा०सू०६.२. १३८) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्। अख्यन्। ख्यातेर्लुङि 'अस्यतिवक्ति' इत्यादिना च्लेः अडादेशः। हिरण्यप्रउगम्। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृति स्वरत्वम्। वहन्तः। शपः पित्त्वादनुदात्तत्वम्। शतुश्च लसार्वधातुकस्वरेण धातुस्वरः। दैव्यस्य। तस्येदमित्यर्थे 'देवाद्यजजौ' (पा०सू० ४.१. ८५.३) इति देवशब्दात् प्राग्दीव्यतीयो यञ्। 'तद्धितेष्वचामादेः' (पा०सू० ७.२.११७) इति आदिवृद्धिः। 'जित्यादिर्नित्यम्' इत्याद्युदात्तत्वम्। उपस्थे। 'आतश्चोपसर्गे' इति कः। 'आतो लोप इटि च' इति अकारलोपः। मरुद्वृधादित्वात् पूर्वपदान्तोदात्तत्वम्।।

शब्दा० - जनान् = लोगों को, श्यावाः = सवितृ देव के अश्वों ने, शितिपादः = सफेद पैरवाले, व्यख्यन् = विशेष रूप से प्रकाशित किया है, रथम् = रथ को, हिरण्यप्रउगम् = स्वर्ण की कीलवाले, वहन्तः = खींचते हुए, शश्वत् = सम्पूर्ण, विशः = निवास स्थान, सवितुः = सवितृ की, दैव्यस्य = देव, उपस्थे = गोद में, विश्वा = सम्पूर्ण, भुवनानि = लोक, तस्थुः = स्थित है।

हि०अ० - सफेद पैरवाले (सवितृ देव के) अश्वों ने, स्वर्ण निर्मित जुवा वाले रथ को खींचते हुये प्राणियों को विशेष रूप से प्रकाशित किया है। सम्पूर्ण निवास स्थान तब सम्पूर्ण लोक प्रकाशमान देव सवितृ की गोद में स्थित है।

### व्याकरण -

शितिपादः - शितयः पादाः येषां ते = शितिपाद। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन। बहुव्रीहि समास।

वहन्तः - वह+शतृ। प्रथमा का बहुवचन।

दैव्यस्य - देवस्य, इदम्। देव+ण्यत् = दैव्य।



उपस्थे — उप+स्था+क = उपस्थ। सप्तमी का एकवचन।

मण्डल — १

सूक्त-३५

मन्त्र-६

संहिता पाठ

तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एकां यमस्य भुवने विराषाट्।

आणिं न रथ्यममृताधिं तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत् ॥६॥

पदपाठ —

तिस्रः। द्यावः। सवितुः। द्वौ। उपस्थाँ। एकां। यमस्यं। भुवने। विराषाट्॥ आणिम्। न। रथ्यम्। अमृतां। अधिं। तस्थुः। इह। ब्रवीतु। यः। ऊँ इति। तत्। चिकेतत्॥

अन्वयः — तिस्रः द्यावः (सन्ति तेषां मध्ये) द्वा सवितुः उपस्था, एका (या) विराषाट् यमस्य भुवने। अमृता आणिं न रथ्यम् अधि तस्थुः। यः उ तत् चिकेतत् इह ब्रवीतु।

दयानन्द-भाष्य —

(तिस्रः) — त्रित्वसंख्याकाः, (द्यावः) सूर्याग्निविद्युद्रूपाः, (सवितुः) सूर्यलोकस्य, (द्वौ) स्वप्रकाशभूगोलौ, (उपस्था) उपतिष्ठन्ति यस्मिंस्तत्र। अत्र आडयाजयारां चोपसंख्यानम्। इति वार्तिकेन डेः स्थाने आडादेशः। आडोनुनासिकश्छन्दसि। अ० ६।१।१२६। इति प्रकृतिभावादसंधिः। (एका) विद्युदाख्यादीप्तिः, (यमस्य) वायोः, (भुवने) अन्तरिक्षस्थाने, (विराषाट्) वीरान् ज्ञानवतः प्राप्तिशीलान् जीवान् सहते सः। अत्र वर्णव्यत्ययेन दीर्घकारस्य स्थाने ह्रस्वेकारोऽकारस्थान आकारश्च। स्फायितञ्चि०। उ० २।१३। इत्यजधातोरक् प्रत्ययः। छन्दसि सहः। अ० ३।२।६३। इति ण्विः। सहेः साढः सः। अ० ८।३।५६। इति षत्वम्, (आणिम्) संग्रामम्। आणाविति संग्रामनामसु पठितम्। निघं० २।१७। (न) इव, (रथ्यम्) रथान् वहति तम्, (अमृता) अमृतानि, (अधि) उपरिभावे, (तस्थुः) तिष्ठन्ति। अत्र लङर्थे लिट्, (इह) अस्मिन् संसारेऽस्यां विद्यायां वा, (ब्रवीतु) उपदिशतु, (यः) मनुष्यः, (ऊँ) वितर्क, (तत्) ज्ञानम्, (चिकेतत्) विजानीयात्। अयं कितज्ञाने धातोर्लेट् प्रथमैकवचनप्रयोगः। बहुलं छन्दसि इति शपः श्लुः॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः। ईश्वरेण या अग्न्याख्यात्कारणात्तिस्रो दीप्तयः सूर्याग्निविद्युदाख्या रचिताः संति तद्द्वारा सर्वाणि कार्याणि सिध्यन्ति। यदा ये जीवाः शरीराणि त्यक्त्वा यस्य यमस्य स्थानं गच्छन्ति स कोस्तीति पृच्छ्यते। अत्रोत्तरमन्तरिक्षस्थं वायु यमाख्यं गच्छन्तीति ब्रूयात्। यथा युद्धे रथभृत्यादीन्यङ्गान्युप तिष्ठन्ति तथैव मृता जीविताश्च जीवा वायुमाश्रित्य तिष्ठन्ति। पृथिवीचन्द्रतारकादयो लोकाः सूर्यप्रकाशमुपाश्रित्य वर्तन्ते। यो विद्वान् स एव प्रश्नोत्तराणि वदन्नेतरो मूढः। नैव मनुष्यैरविद्वत्कथने विश्वसितव्यं न किलाप्तशब्देऽश्रद्धातव्यं चेति॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालंकार है। जिस ईश्वर ने अग्निरूप कारण से सूर्य, अग्नि और बिजुली रूप तीन प्रकार की दीप्ति रची है, जिनके द्वारा सब कार्य सिद्ध होते



अग्नि और बिजुली रूप तीन प्रकार की दीप्ति रची है, जिनके द्वारा सब कार्य सिद्ध होते हैं। जब कोई ऐसा पूछे कि जीव अपने शरीरों को छोड़ के जिस यम के स्थान को प्राप्त होते हैं वह कौन हैं? तब उत्तर देने वाला अन्तरिक्ष में रहने वाले वायु को प्राप्त होते हैं ऐसा कहे। जैसे युद्ध में रथ भृत्य आदि सेना के अङ्गों में स्थित होते हैं वैसे मरे और जीते हुए जीव वायु के अवलम्ब से स्थित होते हैं। पृथिवी चन्द्रमा और नक्षत्रादि लोक सूर्य प्रकाश के आश्रय से स्थित होते हैं। जो विद्वान् हो वही प्रश्नों के उत्तर कह सकता है, मूर्ख नहीं। इसलिये मनुष्यों को मूर्ख अर्थात् अनाप्तों के कहने में विश्वास और विद्वानों के कथन में अश्रद्धा कभी न करनी चाहिये।।

**सायण—भाष्य —**

द्यावः स्वर्गोपलक्षिताः प्रकाशमाना लोकाः तिस्रः त्रिसंख्याकाः सन्ति। तत्र द्वौ लोकौ सवितुः सूर्यस्य उपस्था समीपस्थाने वर्तते; द्युलोकभूलोकयोः सूर्येण प्रकाशितत्वात्। एका मध्यमा भूमिरन्तरिक्षलोकः यमस्य भुवने पितृपतेर्गृहे विराषाट् विरान् गन्तृन् सहते। प्रेताः पुरुषा अन्तरिक्षमार्गेण यमलोके गच्छन्तीत्यर्थः। अमृता अमृतानि चन्द्रनक्षत्रादीनि ज्योतीषि जलानि वा अधि तस्थुः सवितारमधिगम्य स्थितानि। तत्र दृष्टान्तः। रथ्यम् आणिं न। रथाद्वहिः अक्षच्छिद्रे प्रक्षिप्तः कीलविशेषः आणिरित्युच्यते। रथसंबन्धि नम् आणिम् अधिगम्य यथा रथस्तिष्ठति तद्वत्। यः तु मानव तत् सवितृरूपं चिकेतत् जानाति स मानवः इह अस्मिन् विषये ब्रवीतु कथयतु। केनापि वक्तुमशक्यः सवितुर्महिमेत्यर्थः।। तिस्रः। 'तिसृभ्यो जसः' (पा०सू० ६.१.१६६) इति विभक्तेरुदात्तत्वम्। द्वौ। संहितायामावादेशे 'लोपः शाकल्यस्य' इति वकारलोपः। उपस्था। 'आडयाजयारां चोपसंख्यानम्' (पा०म०७.१.३९.१) इति सप्तम्या आडादेशः। 'आडोऽनुनासिकश्छन्दसि' (पा०सू० ६.१.१२६) इति प्रकृतिभावः। विराषाट्। 'वृज् वरणे' 'धजर्थे कविधानम्' (पा०सू० ३.३.५८.४) इति कर्मणि कः। 'बहुलं छन्दसि' (पा०सू० ७.१.१०३) इति इत्वम्। तथा सति वूर्यन्ते इति विरा इत्युक्तं भवति। तान् सहते इति विराषाट्। 'छन्दसि सहः' (पा०सू० ३.२.६३) इति सहेर्षिः। 'सहेः साडः' (पा०सू० ८.३.५६) इति षत्वम्। 'अन्येषामपि दृश्यते' इति पूर्वपदस्य दीर्घः। रथ्यम्। रथस्येतं रथ्यम्। 'रथाद्यत्' (पा०सू० ४.३.१२१) इति यत्। 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वम्। अमृता 'शेश्छन्दसि बहुलम्' इति शैर्लोपः। चिकेतत्। 'कित् ज्ञाने' लेटि अडागमः। 'इतश्च लोपः' इति इकारलोपः। जुहोत्यादित्वात् श्लुः। लघूपधगुणः। 'अनुदात्ते च' (पा०सू० ६.१.१९०) इति अभ्यस्तस्याद्युदात्तत्वम्। यद्वृत्तयोगादनिघातः।।

**शब्दा० —** तिस्रः — तीन, द्यावः — द्युलोक, सवितुः — सवितृ देव की, द्वौ — दो, उपस्था — गोद में, एका — एक, यमस्य — यम के, भुवने — लोक में, विराषाट् — मरे व्यक्तियों का निवास-स्थान, आणिम् — धुरा, न — तरह, रथ्यम् — रथ के, अमृता — अमर, अधितस्थुः — आश्रित हैं, इह = यहाँ, ब्रवीतु — कहे, यः — जो, उ — निश्चित अर्थ का वाचक एक निपात्, तत् — उसे, चिकेतत् — जाना है।

**हि०अ० —** तीन लोक (हैं), (उनमें से) दो सवितृ की गोद में (हैं), एक जो मरे व्यक्तियों



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

की तरह उसी पर आश्रित हैं; (वह) जिसने (सवितृ देव के महत्त्व को) जाना है, यहाँ उसे कहे।

**व्याकरण —**

**उपस्था** — उप+स्था+रुक् = उपस्थ। सप्तमी विभक्ति का एकवचन में "आङ्" याजयारा चोपसंख्यानम्" से 'आ' आदेश।

**रथ्यम्** — रथ+यत् = रथ्य।

**विराषाट्** — विरा+षाट् = विराषाट्। वूर्यन्ते इति विराः। वृ+क+ण्वि। सह+क्विप् = षाट्।

**चिकेतत्** — 'कित् ज्ञाने' धातु, लेट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

**विशेष** — मैक्डानल के अनुसार 'अमृता' का अर्थ 'न मरने वाले देवता' है।

**मण्डल — १**

**सूक्त-३५**

**मन्त्र-७**

**संहिता पाठ**

विसुप॑र्णो अ॒न्तरि॑क्षाण्य॒ख्यद्गंभीर॑वेपा असु॑रः सुनी॒थः।

क्वे॒इदानीं॑ सूर्यः कश्चि॑केत क॒तमा॑ द्या र॒श्मिर॒स्या त॑तान॥७॥

**पदपाठ —**

वि। सु॒ऽप॒र्णः। अ॒न्तरि॑क्षाणि। अ॒ख्यत्। गंभीर॑ऽवेपाः। असु॑रः। सु॒ऽनी॒थः। क्वं। इ॒दानीं॑म्। सूर्यः। कः। चि॒केत॑। क॒तमा॑म्। द्याम्। र॒श्मिः। अ॒स्य॒। आ। त॑तान॥७॥

**अन्वयः** — सुपर्णः गंभीरवेपाः असुरः सुनीथः अन्तरिक्षाणि वि अख्यत्। इदानीं सूर्यः क्व? कः चिकेत? अस्य रश्मिः कतमां द्यां ततान्?

**दयानन्द-भाष्य —**

(वि) विशेषार्थे (सुपर्णः) शोभनपतनशीला रश्मयो यस्य। सुपर्णा इति रश्मिनामसु पठितम् निघं० १।५। (अन्तरिक्षाणि) अन्तरिक्षस्थानि सर्वाणि भुवनानि (अख्यत्) ख्यापयति प्रकाशयति (गंभीरवेपाः) गंभीरोऽविद्वद्भिरिक्षितुमशक्यो वेपः कम्पनं यस्य सः। दुवेपृकम्पन अस्मात् सर्वधातुभ्योऽसुन् इत्यसुन् प्रत्ययः (असुरः) सर्वेभ्यः प्राणदः सूर्योदये मृता इवोत्तिष्ठन्तीत्यतः। असुषु प्राणेषु रमते वा। (सुनीथः) सुष्ठुनीथाः पदार्थप्राप्तयो यस्मात् सः। हनिकुषि०। उ०२।२। अनेन जीज् प्रापणे धातोः कथन् प्रत्ययः। (क) कुत्र (इदानीम्) अस्मिन्समये वर्तमानायां रात्रौ (सूर्यः) (कः) विद्वान् (चिकेत) केतति जानाति। अत्र कित् ज्ञाने धातोर्लङ्गर्थे लिट्। (कतमाम्) बहूनां पृथिवीनां मध्ये काम् (द्याम्) द्योतनात्मिकाम् (रश्मिः) ज्योतिः (अस्य) सूर्यस्य (आ) समन्तात् (ततान्) तनोति विस्तृणोति। अत्रापि लङ्गर्थे लिट्॥

**भावार्थः** — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यदायं (भूगोलो) भ्रमणेन सूर्यप्रकाश-माच्छाद्यान्धकारं जनयति तदाऽविद्वान्सो जनाः पृच्छन्तीदानीं सूर्यः क्व गत इति तंप्रश्नमुत्तरेणैवं समादध्यात् पृथिव्या अपरे पृष्ठेऽस्तीति यस्य चलनमतीव सूक्ष्ममस्त्यतः प्राकृतैर्जनैर्न विज्ञायत एवं



पृथिव्या अपरे पृष्ठेऽस्तीति यस्य चलनमतीव सूक्ष्ममस्त्यतः प्राकृतैर्जनैर्न विज्ञायत एवं विद्वद्भिर्प्रायोऽपि ।।

**हि०भावार्थ** — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जब यह भूगोल अपने भ्रमण से सूर्य के प्रकाश का आच्छादन कर अन्धकार करता है तब साधारण मनुष्य पूछते हैं कि अब वह सूर्य कहाँ गया? उस प्रश्न का उत्तर से समाधान करे कि पृथिवी के दूसरे पृष्ठ में है। जिसका चलना अति सूक्ष्म है जैसे वह मूर्ख मनुष्यों से जाना नहीं जाता वैसे ही महाशय मनुष्यों का आशय भी अविद्वान् लोग नहीं जान सकते ।।

**सायण—भाष्य** —

सुपर्णः शोभनपतनः सूर्यस्य रश्मिः । 'सुपर्णा इति पञ्चदश रश्मिनामानि' (नि० १. ५.१५) इति तन्नामसु पठितत्वात् । अन्तरिक्षाणि अन्तरिक्षोपलक्षितानि लोकत्रयस्थानानि वि अख्यत् विशेषेण ख्यापितवान् प्रकाशितवान् । कीदृशो रश्मिः । गंभीरवेपाः गम्भीरकम्पनः । रश्मेः प्रकम्पनं चलनं केनापि द्रष्टुमशक्यमित्यर्थः । असुरः सर्वेषां प्राणदः । तथा चान्यत्र आम्नायते — 'सर्वेषां भूतानां प्राणानादायोदेति' (तै०आ० १.१४.१) इति । सुनीथः सुनयनः शोभनप्रापणः । मार्गप्रकाशनेन अभीष्टदेशं प्रापयतीत्यर्थः । तादृशरश्मियुक्तः सूर्यः इदानीं रात्रौ क्व कुत्र वर्तते । तदेतद्रहस्यं कश्चिकेत को जानाति । न कोऽपीत्यर्थः । अस्य सूर्यस्य रश्मिः कतमां द्याम आततान कं द्युलोकं रात्रौ व्याप्तवान् । एतदपि को जानाति ।। सुपर्णः 'नञ्सुभ्याम्' इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । गंभीरवेपाः 'टुवेपृ कम्पने' । असुन् । गम्भीरं वेषो यस्य । पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । असुरः 'असु क्षेपणे' । अस्यति शत्रून् इत्यसुरः । 'असेरुरन्' (उ०सू० १.४२) । नित्वादाद्युदात्तत्वम् । यद्वा । असून् प्राणान् राति ददातीत्यसुरः । 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः । सुनीथः । 'णीञ् प्रापणे' । 'हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन्' (उ०सू० २. १५९) इति क्थन् । प्रादिसमासे थाथादिना उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । इदानीम् । इदंशब्दात् सप्तम्यर्थे 'दानीं च' (पा०सू० ५.३.१८) इति दानीं प्रत्ययः । 'इदम् इश्' इति इदं शब्दस्य इशादेशः । प्रत्ययाद्युदात्तत्वम् । सूर्यः । 'षू प्रेरणे' । सुवतीति सूर्यः । 'राजसूयसूर्य' इत्यादिना रुडागमसहितः क्यप्रत्ययो निपातितः । प्रत्ययस्यानुदात्तत्व धातुस्वरेणाद्युदात्तत्वम् । चिकेत । 'कित ज्ञाने' । लिट् । कतमां किं जातीयाम् । 'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्' (पा०सू० ५. ३.९३) इति किं शब्दात् डतमच् । डित्त्वात् टिलोपः । 'चितः' इत्यन्तोदात्तत्वम् ।

**शब्दा०** — सुपर्णः = सुन्दर किरणवाला, अन्तरिक्षाणि = अन्तरिक्ष लोकों को, व्यख्यत् = प्रकाशित किया है, गंभीरवेपाः = गम्भीर कम्पनयुक्त किरणों वाले, असुरः = प्राण देने वाले, प्रज्ञावान्, सुनीथः = प्रशस्य रूप से मार्गदर्शन करने वाला, क्व = कहाँ, इदानीम् = इस समय, सूर्यः = सूर्य, कः = कौन, चिकेत = जाना है, कतमाम् = किस, द्याम् = लोक तक, रश्मिः = किरण, आ ततान = फैली है ।

**हि०अ** — सुन्दर एवं गम्भीर कम्पनयुक्त किरणों वाले, प्राण देनेवाले तथा अच्छी प्रकार से नेतृत्व करने वाले सूर्य (जिन्होंने दिन में) अन्तरिक्ष लोकों को विशेष रूप से प्रकाशित किया था, इस समय (रात्रि में) कहाँ है और उनकी किरण किस लोक तक फैली है, यह



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****व्याकरण -**

- गंभीरवेपाः— गभीरः वेपः कम्पनं यस्य स। वेप+असुन् = वेपाः।  
 सुनीथः — नी क्थन् = नीथ। शोभनः नीथः यस्य स = सुनीथः।  
 अख्यत् — ख्या धातु, लङ् लकार, प्रथमपुरुष, एकवचन।  
 ततान् — तन् धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।  
 असुरः — असु प्राणान् राति ददाति इति असुरः। असु+रा+क।  
 चिकेत — 'कित् ज्ञाने' धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष का एकवचन।  
 विशेष — मैक्डानल ने 'सुपर्ण' शब्द का अर्थ 'पक्षी' किया है और सूर्य को पक्षी के रूप में बता कर पहले दो पादों का अर्थ इस प्रकार किया है —  
 The bird has surveyed the atmospheric regions, the devine, spirit of deep inspiration, of good guidance।

**मण्डल -१****सूक्त-३५****मन्त्र-८****संहिता पाठ**

अष्टौ व्यख्यत्ककुभः पृथिव्या स्त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून्।

हिरण्याक्षः सविता देव आगाद्धरत्ना दाशुषे वार्याणि॥८॥

**पदपाठ -**

अष्टौ। वि। अख्यत्। ककुभः। पृथिव्याः। स्त्री। धन्वं। योजना। सप्त। सिन्धून्। हिरण्यऽक्षः। सविता। देवः। आ। आगात्। दधत्। रत्ना। दाशुषे। वार्याणि॥

अन्वयः — (सविता देवः) अष्टौ पृथिव्याः ककुभः, स्त्री योजना धन्व, सप्त सिन्धून् वि अख्यत्। हिरण्याक्षः सविता देवः दाशुषे वार्याणि रत्ना दधत् आ अगात्।

**दयानन्द-भाष्य -**

(अष्टौ) चतस्रो दिश उपदिशश्च (वि) विशेषार्थे क्रियायोगे (अख्यत्) ख्यापयति (ककुभः) दिशः। ककुभइति दिङ्नामसु पठितम्। निघं० १।६। (पृथिव्याः) भूमेः सम्बन्धिनीः (स्त्री) स्त्रीणि भूम्यन्तरिक्षप्रकाशस्थानि भुवनानि (धन्व) प्राप्तव्यानि। अत्र गत्यर्थाद्विधातोरौणादिकः कनिन्। सुपां सुलुग् इति विभक्तेर्लुक्। (योजना) युज्यन्ते सर्वाणि वस्तूनि येषु भुवनेषु तानि योजनानि। अत्र शेषछन्दसि इति शेल्लोपः। (सप्त) सप्तसङ्ख्याकान् (सिन्धून्) भूम्यन्तरिक्षोपर्युपरिस्थितान् (हिरण्याक्षः) हिरण्यानि ज्योतींष्यक्षीणि व्याप्तिशीलानि यस्य सः (सविता) सृष्टयुत्पादकः (देवः) द्योतनात्मकः (आ) समन्तात् (आगात्) एति प्राप्नोति। अत्र लङर्थे लुङ्। इणो गा लुङि। अ०।२।४।४५। इति गा आदेशः। (दधत्) दधातीति दधत्सन् (रत्ना) सुवर्णादीनि रमणीयानि (दाशुषे) सर्वोपकारकाय विद्यादिदानशीलाय यजमानाय (वार्याणि) वरितुं ग्रहीतुं योग्यानि॥

**भावार्थः** — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथाऽयं सूर्यलोकः सर्वाणि मूर्तद्रव्याणि प्रकाशय छित्वा वायुद्वाराऽन्तरिक्षे नीत्वा तस्मादधो निपात्य सर्वाणि रमणीयानि सुखानि जीवार्थं



छित्वा वायुद्वाराऽन्तरिक्षे नीत्वा तस्मादधो निपात्य सर्वाणि रमणीयानि सुखानि जीवार्थं नयति । पृथिव्या मध्ये स्थितानामेकोनपञ्चाशत् क्रोशपर्यन्तेन्तरिक्षे स्थूलसूक्ष्मलघुगुरुत्वरूपेण स्थितानां चापां सप्तसिन्ध्विति संज्ञैताः सर्वा आकर्षणेन धरति च तथा सर्वैर्विद्वद्विविद्याधर्माभ्यां सकलान् मनुष्यान् धृत्वाऽऽनन्दयितव्याः ।

**हि०भावार्थ** — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । जैसे यह सूर्यलोक सब मूर्तिमान् पदार्थों का प्रकाश छेदन वायुद्वारा अन्तरिक्ष में प्राप्त और वहाँ से नीचे गिर कर सब रमणीय सुखों को जीवों के लिये उत्पन्न करता और पृथिवी में स्थित और उनचास क्रोश पर्यन्त अन्तरिक्ष में स्थूल सूक्ष्म लघु और गुरु रूप में स्थित हुए जलों को अर्थात् जिन का सप्तसिन्धु नाम है आकर्षणशक्ति से धारण करता है वैसे सब विद्वान् लोग विद्या और धर्म से सब प्रजा को धारण कर के सब को आनन्द में रक्खें ।।

**सायण-भाष्य** —

पृथिव्याः सम्बन्धिनीः अष्टौ ककुभः प्राच्याद्याश्चतस्रो दिश आग्नेय्याद्या—श्चतस्रो विदिश इत्येवमष्टौ दिशः व्यख्यत् सविता प्रकाशितवान् । तथा योजना प्राणिनः स्वस्वभोगेन योजयितृन् धन्व अन्तरिक्षोपलक्षितान् त्री त्रिसंख्याकान् पृथिव्यादिलोकान् सप्त सिन्धून् गङ्गादिनदीः समुद्रान्वा सविता व्यख्यत् । हिरण्याक्षः । हितरमणीयचक्षुर्युक्तो हिरण्यमयाक्षो वा सविता देवः आगात् इहागच्छतु । किं कुर्वन् । दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय वार्याणि वरणीयानि रत्नानि दधत् प्रपच्छन् ।। अख्यत् । ख्यातेर्लुङि अस्यातिवक्ति इत्यादिना च्लेः अडादेशः । त्री । 'शेष्ठन्दसि बहुलम्' इति शैर्लोपः । धन्व । 'रिवि रवि धवि गत्यर्थाः' । 'इदितो नुम् धातोः' इति नुम् । अस्मात् 'कनिन्युवृषितक्षिराजिघन्विद्युप्रतिदिवः' इति कनिन् । 'सुपां सुलुक्' इति विभक्तेर्लुक् । नलोपः । प्रत्ययस्य नित्वादाद्युदात्तत्वम् । योजना । योजयन्ति प्राणिन उपभोगेनेति योजनानि । नन्दादिलक्षणो ल्युः । 'णेरनिटि' इति णिलोपः । पूर्ववत् शैर्लोपः । हिण्याक्षः । हिरण्यमयान्यक्षीणि यस्याप्सौ हिरण्याक्षः । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः' (पा०सू० ५.४.११३) इति समासान्तः षच्प्रत्ययः । अगात् । एतेर्लुङि 'इणो गा लुङि' (पा०सू० २.४.४५) इति गादेशः । 'गातिस्था' इति सिचो लुक् । दधत् । शतरि 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमागमप्रतिषेधः । 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इति आकारलोपः । 'अभ्यस्तानामादिः' इत्याद्युदात्तत्वम् । दाशुषे । 'दाश्वान्साह्वान्' इत्यादिना क्वसुप्रत्ययान्तो निपातितः । चतुर्थ्येकवचने 'वसोः संप्रसारणम्' इति संप्रसारणम् । परपूर्वत्वम् । 'शासिवसिघसीनां च' इति षत्वम् । वार्याणि । वृङ् संभक्तौ । ऋहलोर्ण्यत् । 'ईडवन्द' इत्यादिनाद्युदात्तत्वम् ।।

**शब्दा०** — अष्टौ — आठ, व्यख्यत् — प्रकाशित किया है, ककुभः — दिशाओं को, पृथिव्याः — पृथिवी के, त्री — तीन धन्व — अन्तरिक्षादि को, योजना — प्राणियों के कर्मों को, सप्त — सात, सिन्धून् — नदियों को, हिरण्याक्षः — स्वर्णमयी आँख वाले, सविता — सवितृ, देवः — देव, आ अगात् — आये हैं, दधत् — धारण करते हुए, रत्ना — बहुमूल्य धनों को, दाशुषे — हवि प्रदान करने वाले के लिये, वार्याणि — वरणीय ।



नदियों को (सवितृ देव ने) प्रकाशित किया है। स्वर्णमयी आँख वाले सवितृ देव हवि प्रदान करने वाले के लिये वरणीय धन को धारण करते हुए आये हैं।

व्याकरण —

- त्री — द्वितीया विभक्ति का बहुवचन। 'शेषश्छन्दसि' से विभक्ति का छान्दस लोप।
- योजना — युज्+ल्युट् (अन = योजन। द्वितीया विभक्ति, बहुवचन वैदिक रूप।
- व्यख्यत् — वि+ख्या धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।
- वधत् — धा+शतृ = दधत्।
- आगात् — आ+इण् (गा) धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।
- वार्याणि — 'वृ' धातु से "ऋहलोर्ण्यत्" ण्यत् प्रत्यय।
- विशेष — मैकडानल ने इस मन्त्र के पहले दो पादों का अर्थ इस प्रकार किया है — He has surveyed the eight peaks of the earth, the three waste lands, the leagues, the seven rivers।

मण्डल — १

सूक्त-३५

मन्त्र-९

संहिता पाठ

हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते।  
अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति॥९॥

पदपाठ —

हिरण्यपाणिः। सविता। विचर्षणिः। उभे इति। द्यावापृथिवी इति। अन्तः। ईयते॥ अपं। अमीवाम्। बाधते। वेति। सूर्यम्। अभि कृष्णेन। रजसा। द्याम्। ऋणोति॥९॥  
अन्वयः — हिरण्यपाणिः विचर्षणिः सविता उभे द्यावापृथिवी अन्तः ईयते, अमीवाम् अप बाधते, सूर्य वेति, कृष्णेन रजसा द्याम् अभि ऋणोति।

दयानन्द-भाष्य —

(हिरण्यपाणिः) हिरण्यानि ज्योतींषि पाणयो हस्तवद्ग्रहणासाधनानि यस्य सः (सविता) रसानां प्रसविता (विचर्षणिः) विलेखनस्वभावेन विच्छेदकः। कृषेरादेश्च चः। उ० २।१००। इति कृषविलेखने धातोरनिः प्रत्ययः। (उभे) द्वे (द्यावापृथिवी) प्रकाशपृथिव्यौ (अन्तः) अन्तरिक्षस्य मध्ये (ईयते) प्रापयति (अप) दूरीकरणे (अमीवाम्) रोगपीडाम् (बाधते) निवारयति (वेति) प्रजनयति। अत्रान्तर्गतोऽप्यर्थः (सूर्यम्) सरणशीलं स्वकीयरश्मिगणम् (अभि) सर्वतोभावे (कृष्णेन) पृथिव्यादिना (रजसा) लोकसमूहेन (द्याम्) प्रकाशम् (ऋणोति) प्रापयति। अत्रान्तर्गतोऽप्यर्थः॥

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। हे सभापते यथायं सूर्यो बहुभिलोकैः



## सवितृ सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-३५ )

सहाकर्षणसम्बन्धेन वर्तमानः सर्वे वस्तुजातं प्रकाशयन् प्रकाशपृथिव्योरान्तर्यं करोति तथैव त्वया भवितव्यमिति ।।

**हि०भावार्थ** — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। हे सभापते! जैसे यह सूर्यलोक बहुत लोकों के साथ आकर्षण सम्बन्ध से वर्तमान सब वस्तुमात्र को प्रकाशित करता हुआ प्रकाश तथा पृथिवी लोक का मेल करता है वैसे स्वभावयुक्त आप हूजिये ।।

**सायण—भाष्य** —

हिरण्यपाणिः सुवर्णमयहस्तयुक्तः । यद्वा । यजमानेभ्यो दातुं हिरण्यं हस्ते धृतवान् । विचर्षणिः विविधदर्शनयुक्तः । विचर्षणिः पश्यत्यर्थः । 'विचर्षणिः विश्ववर्षणिः' (नि० ३.११.६) इति तन्नामसु पाठात् । सविता देवः उभे द्यावापृथिवी अन्तः उभयोर्लोकयोर्मध्ये ईयते गच्छति । अमीवां रोगादिबाधाम् अप बाधते सम्यक् निराकरोति । तथा सूर्य वेति गच्छति । यद्यपि सवितृसूर्ययोरेकदेवतात्वं तथापि मूर्तिभेदेन गन्तृगन्तव्यभावः । कृष्णेन तमसः कर्षकेण निवर्तकेन रजसा तेजसा द्याम् आकाशम् अभि ऋणोति सर्वतो व्याप्नोति ।। द्यावापृथिवी । 'दिवसश्च पृथिव्याम्' (पा०सू० ६.३.३०) इति चशब्दात् दिवशब्दस्य द्यावादेशः । 'देवताद्वन्द्वे च' इत्युभयपद प्रकृतिस्वरत्वम् । 'नोत्तरपदेऽनुदात्तादौ' (पा०सू० ६.२.१४२) इति न निषेधः, 'अपृथिवी रुद्रपूषमन्थिषु' इति पर्युदस्तत्वात् । ईयते । 'ईङ्गत्तौ' । 'तिङ्ङतिङ्' इति निघातः । बाधते । बाधते च वेति चेति समुच्चयार्थप्रतीतिः चशब्दस्याप्रयोगात् 'चादिलोपे विभाषा' इति निघातप्रतिषेधः । वेति । 'वी गतिप्रजनकान्त्यशनखादनेषु' । अदादित्यवात् शपो लुक् । तिपः पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरः । यद्यप्येषा द्वितीया तथापि तिङ्ङः परत्वात् निघाताभावः । ऋणोति । 'ऋणु गतौ' तनादित्वात् उः । तनादिषु करोतेरेव गुणे नान्येषामिति आपिशलिमतेन गुणाभावः ।।

**शब्दा०** — हिरण्यपाणिः = स्वर्णहस्तवाले, सविता = सवितृ, विचर्षणिः = सबको देखनेवाले, उभे = दोनों, द्यावापृथिवी = आकाश तथा पृथिवी, अन्तः = बीच में, ईयते = जाते हैं, अमीवाम् = रोग को, अपबाधते = दूर करते हैं, वेति = जाते हैं, सूर्यम् = सूर्य के पास, कृष्णेन = अन्धकारयुक्त, रजसा = लोकसे, द्याम् = आकाश को, अभि ऋणोति = व्याप्त करते हैं ।

**हि०अ०** — स्वर्णहस्तवाले, सबको देखने वाले, सवितृ दोनों आकाश तथा पृथिवी के बीच विचरण करते हैं । रोग को दूर करते हैं; सूर्य के पास जाते हैं; अन्धकारयुक्त लोक से (होकर) द्युलोक को व्याप्त करते हैं ।

**व्याकरण** —

**द्यावापृथिवी—द्यौः** च पृथिवी च । 'दिव्' के स्थान पर 'द्यावा' आदेश ।

**ईयते** — आत्मनेपदी ई धातु, लट्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

**बाधते** — आत्मनेपदी बाध् धातु, लट्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

**वेति** — अदादि गण की 'वी' धातु, लट्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

**ऋणोति** — तनादि गण की 'ऋणु' धातु, लट्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

**विशेष** — मैकडानल ने 'विचर्षणिः' का अर्थ 'सक्रिय' (active) और 'कृष्णेन रजसा' का अर्थ 'अन्धकार से आच्छन्न स्थान से' (through the dark space) किया है।

**मण्डल — १****सूक्त-३५****मन्त्र-१०****संहिता पाठ**

हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः सुमृळीकः स्वर्वा यात्वर्वाङ् ।

अपसेधन्नक्षसो यातुधाना नास्थाद्देवः प्रतिदोषं गृणानः ॥१०॥

**पदपाठ —**

हिरण्यहस्तः । असुरः । सुनीथः । सुमृळीकः । स्ववान् । यातु । अर्वाङ् । अपसेधन् ।  
रक्षसः । यातुधानान् । अस्थात् । देवः । प्रतिदोषम् । गृणानः ॥

**अन्वयः** — हिरण्यहस्तः असुरः सुदीप अमृळीकः रथवान् (सविता) अर्वाङ् यातु । (सविता)  
देवः रक्षसः यातुधानान् (च) अपसेधन् प्रतिदोषं गुणानः अस्थात् ।

**दयानन्द-भाष्य —**

(हिरण्यहस्तः) हिरण्यानि सर्वतो गमनानि हस्ता इव यस्य सः । अत्र गत्यर्थाद्वय्य  
धातोरौणादिकः कन्यन् प्रत्ययः । (असुरः) असून् प्राणान् राति ददात्यविद्यमानरूपगणो वा  
सोऽसुरो वायुः । आतोनुपसर्गे कः । अ० ३।२।३ । इत्यसूपपदाद्राधातोः कः । (सुनीथः)  
शोभनं नीथो नयनं प्रापणं यस्य सः (सुमृळीकः) यः शोभनेन मृडयति सुखयति सः । मृडः  
कीकच् कङ्कणौ । उ० ४।२५ । इति कीकच् । (स्ववान्) स्वे प्रशस्ताः स्पर्शादयो गुणा विद्यन्ते  
यस्मिन् सः । अत्र प्रशंसार्थं मतुप् । (यातु) प्राप्नोति प्राप्नोतु वा (अर्वाङ्) अर्वतः स्वकीयानध  
ऊर्ध्वतिर्यग्गमनाख्यवेगानश्चति प्राप्नोतीति । अत्र ऋत्विग्दधृक्०२ । इति क्विन् । क्विन्प्रत्ययस्य  
कुः इति कवर्गादेशः । (अपसेधन्) निवारयन् सन् (रक्षसः) चोरादीन् दुष्टकर्मकर्तृन् । रक्षो  
रक्षयितव्यमस्मात् । निरु० ४।१८ । (यातुधानान्) यातवो यातनाः पीडा धीयन्ते येषु तान्  
दस्यून् (अस्थात्) स्थितवानस्ति (देवः) सर्वव्यवहारसाधकः (प्रतिदोषम्) रात्रिं रात्रिं प्रति ।  
अत्र रात्रेरुपलक्षणत्वादिवसस्यापि ग्रहणमस्ति; प्रतिसमयमित्यर्थः । दोषेति रात्रिनामसु पठितम् ।  
निघ० १।७ । (गृणानः) स्वगुणैः स्तोतुमर्हः ॥

**भावार्थः** — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । हे सभापते यथायं वायुः स्वकीयाकर्षणबलादिगुणै  
सर्वान् पदार्थान् व्यवस्थापयति यथा च दिवसे चोराः प्रबला भवितुं नार्हन्ति तथैव भवतापि  
भवितव्यम् । येन जगदीश्वरेण बहुगुणसुखप्रापका वाय्वादयः पदार्था रचितास्तस्मै सर्वेर्धन्यवादा  
देयाः ॥

**हि०भावार्थ** — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । हे सभापति! जैसे यह वायु अपने  
आकर्षण और बल आदि गुणों से सब पदार्थों को व्यवस्था में रखता है और जैसे दिन  
में चोर प्रबल नहीं हो सकते हैं वैसे आप भी हूजिए और तुम को जिस जगदीश्वर ने



## सवितृ सूक्त (मण्डल-१, सूक्त-३५)

बहुत गुणयुक्त सुख प्राप्त करने वाले वायु आदि पदार्थ रचे हैं, उसी को सब धन्यवाद देने योग्य हैं।

### सायण-भाष्य -

हिरण्यहस्तः असुरः प्राणदाता सुनीथः सुष्टुः नेता प्रशस्य इत्वर्थः। 'सुनीथः पाकः' (नि० ३.८.७) इति प्रशस्यनामसु पाठात्। सुमृळीकः सुष्टु सुखयिता स्ववान् धनवान् अर्वाङ् अभिमुखः कर्मदेशे गच्छतु। किंचार्य देवः प्रतिदोषं प्रतिरात्रि गृणानः स्तूयमानः अस्थात् स्थितवान्। किं कुर्वन्। रक्षसः बाधकत्वेन रक्षणनिमित्तभूतान् 'रक्षो रक्षितव्यमस्मात्' (निरु० ४.१८) इति यास्कः। यातुधानान् असुरान् अपसेधन् निराकुर्वन्।। हिरण्यहस्तादयो गताः। सुमृळीकः। सुष्टुः मृळीकं सुखं यस्यासौ तथोक्तः। 'नञ्सुभ्याम्' इत्युत्तरपदान्तोदात्तव्यम्। स्ववान्। स्वम् अस्यास्तीति स्ववान्। 'मादुपधायाः' इति दत्वत्। संहितायां नकारस्य 'दीर्घायटि समानपादे' इति रुत्वम्। 'आयोऽटि नित्यम्' इति सानुनासिक आकारः। रोर्यत्वम्। यलोपश्च। अपसेधन्। 'विधु गत्वाम्'। शपः पित्त्वादनुदात्तत्वम्। शतुश्च लतार्वधातुकस्वरेण कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्। रक्षसः। 'रक्ष पालने' इत्यस्मात् अपादाने औणादिक असिप्रत्ययः। यद्वा। रक्षन्त्यनेनेति रक्षो बलम्। करणेऽसुन्। तदेषामस्तीति रक्षस्विनः। मत्यर्थप्रत्ययलोपच्छान्दसः। प्रत्ययस्वरः। यातुधानान्। 'यत् निकारोपसंस्कारयोः'। तस्मात् व्यन्तात् औणादिको भावे उप्रत्ययः। यातयो यातना, एषु धीयन्ते इति यातुधानाः। अधिकरणे स्युट्। 'ळिति' इति प्रत्ययात्पूर्वस्योदात्तत्वम्। अस्यात्। 'गातिस्था' इति सिचो लुक्। प्रतिदोषम्। दोषांदोषाम्। प्रति दीप्तालक्षणे यथार्थे अव्ययीभावः। गृणानः। 'गृ शब्दे'। कर्मणि लटः शानच्। व्युत्त्ययेन श्ना। 'प्वादीनां ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वम्। 'चितः' इत्यन्तोदात्तत्वम्।।

**शब्दा० -** हिरण्यहस्तः = स्वर्णहस्तवाले, असुरः = प्राण देने वाले, सुनीथः = सुन्दर मार्ग दर्शन करने वाले, सुमृळीकः = दयालु, स्ववान् = धनवान्, प्रकाशवान्, यातु = आवें, अर्वाङ् = हमारी तरफ, अपसेधन् = दूर करते हुये, रक्षसः = राक्षसों को, यातुधानान् = मायावियों को, अस्थात् = स्थित हुये हैं, देवः = देव, प्रतिदोषम् = प्रतिरात्रि को, गृणानः = स्तूयमान।

**हि०अ० -** स्वर्णहस्तवाले, प्राण देनेवाले सुन्दर मार्ग-दर्शक, दयालु तथा धनवान् सवितृ हमारी तरफ (यज्ञ में) आवें। प्रति रात्रि को स्तूयमान होते हुए देव (सवितृ) राक्षसों तथा मायावियों को दूर करते हुए स्थित हुये हैं।

### व्याकरण -

सुनीथः - नी+क्थन् = नीथ। शोभनः नीथः यस्य स = सुनीथः।

सुमृळीकः - शोभनं मृळीकं यस्य स = सुमृळीकः।

स्ववान् - स्व+मतुप् = स्ववत्। प्रथमा का एकवचन।

गृणानः - गृ+(श्ना)+शानच् = गृणान्।

रक्षसः - रक्ष+असि = रक्षस्। द्वितीया का बहुवचन।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

अपसेधन् — अप+सिध्+शतृ = अपसेधत् । प्रथमा का एकवचन ।

प्रतिदोषम् — दोषा-दोषा प्रति प्रतिदोषम् । अव्ययीभाव समास ।

अस्थात् — स्था धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

विशेष — मैक्डोनल के 'सुमृळीकः' का अर्थ 'सबसे अधिक दयालु' (most gracious) और 'स्ववान्' का अर्थ 'अच्छी सहायता देने वाला' (aiding well) किया है । सायण के अनुसार 'रक्षसः' का अर्थ है — अपनी रक्षा करने वाले, परन्तु मैक्डोनल ने इसका अर्थ 'राक्षस' (demons) किया है ।

मण्डल — १

सूक्त-३५

मन्त्र-११

संहिता पाठ

ये ते पन्थाः सवितः पूर्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे ।

तेभिर्नो अद्य पथिभिः सुगेभी रक्षां च नो अधि च ब्रूहि देव ॥११॥

पदपाठ —

ये । ते । पन्थाः । सवितः । पूर्यासः । अरेणवः । सुकृताः । अन्तरिक्षे ॥ तेभिः । नः । अद्य । पथिभिः । सुगेभिः । रक्षां । च । नः । अधि । च । ब्रूहि । देव ॥

अन्वयः — (हे) सवितः, ये ते पूर्यासः अरेणवः सुकृताः पन्था अन्तरिक्षे (सन्ति) तेभिः सुगेभिः पथिभिः अद्य नः रक्षां (हे) देव (नः) अधि ब्रूहि च ।

दयानन्द-भाष्य —

(ये) वक्ष्यमाणाः (ते) तव (पन्थाः) धर्ममार्गाः । अत्र सुपां सुलुग् इति जसः स्थाने सुः । (सवितः) सकलजगदुत्पादकेश्वर (पूर्यासः) पूर्वेः कृताः साधिताः सेविताश्च । अत्र पूर्वेः कृतमिनियौ च । अ० ४ । ४ । १३३ । इति पूर्वशब्दाद्यः प्रत्ययः आज्ञसेरसुग् । इत्यसुगागमश्च । (अरेणवः) अविद्यमाना रेणवो धूल्यंशा इव विघ्ना येषु ते । अजिवृरी० । उ० ३ । ३७ । इति रीधातोर्णुः प्रत्ययः । (सुकृताः) सुष्ठु निर्मिताः (अन्तरिक्षे) स्वव्याप्तिरूपे ब्रह्माण्डे (तेभिः) तैः (नः) अस्मान् (अद्य) अस्मिन्नहनि (पथिभिः) उक्तमार्गैः (सुगेभिः) सुखेन गच्छन्ति येषु तैः । सुदुरोरधिकरणे० । अ० ३ । २ । ४८ । इति वार्तिकेन सूपपदाद् गमधातोर्दः प्रत्ययः (रक्षां) पालय । अत्र द्व्यचोतस्तिङ् इति दीर्घः । (च) समुच्चये (नः) अस्मभ्यम् (अधि) ईश्वरार्थ उपरिभावे (च) अपि (ब्रूहि) उपदिश (देव) सर्वसुखप्रदातरीश्वर ॥

भावार्थ — हे ईश्वर त्वया ये सूर्यादि लोकानां भ्रमणार्था मार्गा प्राणिसुखाय च धर्ममार्गा अन्तरिक्षे स्वमहिम्नि च रचितास्तेष्विमे यथानियमं भ्रमन्ति विचरन्ति च तान् सर्वेषां पदार्थानां मार्गान् गुणांश्चास्मभ्यं ब्रूहि । येन वयं कदाचिदितस्ततो न भ्रमेमेति ॥

हि०भावार्थ — हे ईश्वर! आपने जो सूर्य आदि लोकों के घूमने और प्राणियों के सुख के लिए आकाश वा अपने महिमारूप संसार में शुद्ध मार्ग रचे हैं, जिन में सूर्यादि लोक



उपदेश कीजिये कि जिससे हम लोग इधर उधर चलायमान न होवें।।

**सायण-भाष्य —**

हे सवितः ते तव पन्थाः मार्गाः पूर्यासः पूर्वसिद्धाः अरेणवः धूलिरहिताः अन्तरिक्षे सुकृताः सुष्टु संपादिताः। सुगेभिः सुष्टु गन्तुं शक्यैः तेभिः पथिभिः तैर्मार्गैरागत्य अद्य अस्मिन् दिने नः अस्मान् रक्ष च पालनमपि कुरु। तथा हे देव नः अस्मान् अनुष्ठातृन् अधि ब्रूहि च देवानामग्रेऽधिकत्वेन कथय च।। पन्थाः। 'सुपां सुलुक्' इति जसः सुः। 'पथिमथोः सर्वनामस्थाने' इत्याद्युदात्तत्वम्। पूर्यासः। पूर्वैः कृताः पूर्याः। 'पूर्वैः कृतमिनियौ च' (पा०सू० ४.४.१३३) इति यः। प्रत्ययस्वरः असुगागमः। अरेणवः। 'नञ्सुभ्याम्' इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। सुकृताः। कर्मणि क्तः। 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। सुगेभिः। सुष्टु गच्छन्त्येष्विति सुगा। 'सुदुरोरधिकरणे' (पा०सू० ३.२.४८.३) इति गमेर्दप्रत्ययः। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्। रक्ष। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' इति संहितायां दीर्घः।।

शब्दा० — ये = जो, ते = तुम्हारे, पन्थाः = मार्ग, सवितः = हे सवितृ, पूर्यासः = पहिले के, अरेणवः = धूलिरहित सुकृताः = अच्छी प्रकार से, अन्तरिक्षे = अन्तरिक्ष में, तेभिः = उनसे, नः = हमारी, अद्य = आज, पथिभिः = मार्गों से, सुगेभिः = सुगम्, रक्ष = रक्षा करो, च = और, नः = हमारी, च = और, अधि ब्रूहि = तरफ से बोलो, देव = हे देव। हि०अ० — हे सवितृ! तुम्हारे प्राचीन तथा धूलि-रहित मार्ग, जो अन्तरिक्ष में अच्छी प्रकार से निर्मित हैं, आज उन्हीं सुगम मार्गों से (यहाँ आकर) मेरी रक्षा करो, तथा हे देव, हमारी तरफ से बोलो।

**व्याकरण —**

- पूर्यासः — पूर्व भवः अर्थ में 'यत्' प्रत्यय। पूर्व+यत्=पूर्व्य। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन वैदिक रूप। लोक में 'पूर्व्ये' रूप होगा।
- पन्थाः — पथिन् शब्द, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। वैदिक रूप।
- सुकृताः — सु+कृ+क्त = सुकृत।
- सुगेभिः — सुष्टु गन्तु योगः अर्थ में 'सु+गम्+धातु से' सुदोरधिकरणे 'च' सूत्र से 'ङ' प्रत्यय। सु+गम्+ङ = सुग। तृतीया का बहुवचन। वैदिक रूप। लोक में 'सुगैः' रूप होगा।
- रक्ष — रक्ष् धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।
- ब्रूहि — ब्रू धातु, लोट् लकार, मध्यमे पुरुष, एकवचन।



## उषस् सूक्त

देवता—उषा

ऋषि—प्रस्कण्व

छन्द—बार्हत प्रगाथ

(बृहती और सतोबृहती का मिश्रण)

मण्डल —१

सूक्त-४८

मन्त्र—१

संहिता पाठ

सह वामेन न उषो व्युच्छादुहितर्दिवः ।

सह द्युम्नेन बृहता विभावरिराया देवि दास्वती ॥१॥

पद पाठ —

सह । वामेन । नः । उषः । वि । उच्छ । दुहितः । दिवः ॥ सह । द्युम्नेन । बृहता । विभावरि ।  
राया । देवि । दास्वती ॥१॥

अन्वयः — (हे) दिवः दुहितर उषः, (हे) विभावरि देवि, दास्वती (त्वम्) बृहता द्युम्नेन राया सह नः वि उच्छ ।

दयानन्द-भाष्य —

(सह) संगे (वामेन) प्रशस्येन (नः) अस्मान् (उषः) उषवद्वर्तमाने (वि) विविधार्थे (उच्छ) विवस (दुहितः) पुत्रीव (दिवः) प्रकाशमानस्य सूर्यस्य (सह) सार्द्धम् (द्युम्नेन) प्रकाशनेन विद्यासुशिक्षारूपेण (बृहता) महागुणविशिष्टेन (विभावरि) विविधा दीप्तयो यस्यास्तत्सम्बुद्धौ (राया) विद्याचक्रवर्तिराज्यश्रिया (देवि) विद्यासुशिक्षाभ्यां द्योतमाने (दास्वती) प्रशस्तानि दानानि विद्यन्तेऽस्याः सा ॥

भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यतो यदुत्पद्यते तत्तस्याऽपत्यवद्भवति यथा कश्चित्स्वामिभृत्यः स्वामिनं प्रबोध्य सचेतनं कृत्वा व्यवहारेषु प्रयोजयति यथोषाश्च पुरुषार्थयुक्तान् प्राणिनः कृत्वा महता पदार्थसमूहेन सुखेन वा सार्द्धं योजयित्वाऽऽनन्दितान्कृत्वा सायं कालस्थेषा व्यवहारेभ्यो निवर्त्यारामस्थानं करोति तथा मातापितृभ्यां विद्यासुशिक्षादिव्यवहारेषु स्वकन्याः प्रेरितव्याः ॥१॥

हि०भावार्थ — यहाँ वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । जैसे कोई स्वामी भृत्य को वा भृत्य स्वामी को सचेत कर व्यवहारों में प्रेरणा करता है और जैसे उषा अर्थात् प्रातःकाल की बेला प्राणियों को पुरुषार्थ युक्त कर बड़े बड़े पदार्थ समूह युक्त सुख से आनन्दित कर सायंकाल में सब व्यवहारों से निवृत्त कर आरामस्थ करती है वैसे ही माता विद्या और अच्छी शिक्षा आदि व्यवहारों में अपनी कन्याओं को प्रेरणा करें ॥१॥

सायण-भाष्य —

हे दुहितर्दिवः द्युदेवतायाः पुत्रि उषः उषःकालदेवते नः अस्मदर्थं वामेन धनेन सह व्युच्छ प्रभातं कुरु । हे विभावरि उषोदेवते बृहता प्रभूतेन द्युम्नेन अन्नेन सह व्युच्छ । हे देवि त्वं दास्वतीं दानयुक्ता सती राया पशुलक्षणेन धनेन सह व्युच्छ । उच्छ । 'उच्छी



विवासे' । दुहितर्दिवः । 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्सरे' इत्यत्र 'परमपि छन्दसि' (पा०वा० २.१.२.६) इति वचनात् दिवः इत्यस्य पूर्वाङ्गवद्गवे सति 'आमन्त्रितस्य च' इति षष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् । बृहता । 'बृहन्महतोरुपसंख्यानम्' इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । विभावरी । 'भा दीप्तौ' । 'आतो मनिन्' इत्यादिनो वनिप् । 'वनो र च' इति डीप्; तत्संनियोगेन नकारम्य रेफादेशः संबुद्धौ ह्रस्वत्वम् । दास्वती । 'दुदाञ् दाने' । भावे असुन्प्रत्ययः । तदस्या अस्तीति दास्वती । 'मादुपधावाः' इति मतुपो वत्वम् । 'उगितश्च' इति डीप् ।।

शब्दा० — सह = साथ, वामेन = धन के, नः = हमारे लिये, उषः = हे उषा, व्युच्छ = विविध रूप से प्रकाशित होवो, दुहितर्दिवः = हे आकाश की पुत्री, सह = साथ, द्युम्नेन = अन्नादिरूप धन के, बृहता = प्रचुर, विभावरी = हे प्रकाशवाली, राया = पशवादिरूप धन के साथ, देवि = हे देवि, दास्वती = देने वाली ।

हि०अ० — हे प्रकाशवती आकाश की पुत्री उषा देवी, दान देने वाली (तुम) प्रचुर अन्नरूप धन तथा पशवादिरूप धन के साथ हमारे लिये विविध रूप से प्रकाशित होवो ।

व्याकरण :

विभावरी = वि+भा दीप्तौ, धातु से 'वनिप्' प्रत्यय=विभावन् । 'वनो र च' सूत्र से डीप् और 'न' को 'र' आदेश=विभावरी । सम्बोधन के एकवचन में "ह्रस्व" ।

दास्वती = 'दुदाञ् दाने' धातु से भाव में 'असुन्' प्रत्यय=दास् । दाः अस्य अस्ति अर्थ में 'मत्तुप्' प्रत्यय । 'म' को 'व' होकर = दास्वत् । डीप् प्रत्यय करने पर=दास्वती ।

विशेष — सायण के अनुसार 'उच्छ' रूप 'उच्छी विवासे' धातु से बना है । यूरोपीय विद्वान् इसे 'वस्' धातु से निष्पन्न मानते हैं, जिसका अर्थ है — to shine । 'वाम' पद विशेषण और संज्ञा दोनों है । विशेषण रूप में इसका अर्थ है — सुन्दर, प्रशंसनीय । संज्ञा रूप में इसका अर्थ है — धन ।

सायण ने 'द्युम्न' पद का अर्थ 'अन्न' किया है । पीटर्सन के अनुसार 'द्युम्न' पद की निष्पत्ति 'दिव्' धातु से होती है, जिसका अर्थ है चमकना (to shine) । अतः द्युम्न का अर्थ है — (wealth characterised by splendour) । उसने इसका अर्थ कीर्ति (glory) भी किया है ।

'राया' शब्द 'रै' धातु से निष्पन्न हुआ है । इसका अर्थ है — देना (to give) । सायण ने इसका अर्थ पशुरूप धन किया है ।

मण्डल — १

सूक्त-४८

मन्त्र-२

संहिता पाठ

अश्वावतीर्गोमंतीर्विश्वसुविदो भूरि च्यवन्त वस्तवे ।

उदीरय प्रति मा सूनृता उषश्चोद राधो मघोनाम् ॥२॥



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****पदपाठ —**

अश्वऽवतीः । गोऽमतीः । विश्वऽसुविदः । भूरि । च्यवन्त । वस्तवे ।। उत् । ईरय । प्रति । मा ।  
सूनृताः । उषः । चोद । राधः । मघोनाम् ।।

अन्वयः — अश्वावतीः गोमतीः विश्वसुविदः (उषाः) व तवे भूरि च्यवन्त । (हे) उषः, मा प्रति  
सूनृताः उद् ईरय; मघोनां राधः चोद ।

**दयानन्द-भाष्य —**

(अश्वावती) प्रशस्ता अश्वा विद्यन्ते यासान्ताः (गोमतीः) बह्व्यो गावो विद्यन्ते  
यासां ताः (विश्वसुविदः) विश्वानि सर्वाणि सुष्ठुतया विदन्ति याभ्यस्ताः (भूरि) बहु  
(च्यवन्तः) च्यवन्ते (वस्तवे) निवस्तुम् (उत्) उत्कृष्टार्थे (ईरय) गमय (प्रति) अभिमुखे (मा)  
माम् (सूनृताः) सुष्ठुसत्यप्रियवाचः (उषः) दाहगुणयुक्तोषवत् (चोद) प्रेरय (राधः) अनुत्तमं  
धनम् (मघोनाम्) धनवतां सकाशात् ।।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यथा शुम्भमानोषाः सर्वान्प्राणिनः सुखयति तथा  
स्त्रियः पत्यादीन् सततं सुखयेयुः ।।

भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कारः है । जैसे अच्छी शोभित उषा सब प्राणियों  
को सुख देती है वैसे स्त्रियाँ अपने पतियों को निरन्तर सुख दिया करें ।।

**सायण-भाष्य —**

अश्वातीतः बह्वश्वोपेताः गोमतीः बहुभिर्गोभिर्युक्ताः विश्वसुविदः कृत्स्नस्य  
धनस्य सुष्ठु लम्बयित्र्यः उषोदेवताः वस्तवे प्रजानां निवासाय भूरि प्रभूत यथा भवति तथा  
च्यवन्त प्राप्ताः । हे उषोदेवते मा प्रति मामुद्दिश्य सूनृताः प्रियहितवाचः उदीरय ब्रूहि । मघोनां  
धनवतां संबन्धि राधः धनं चोद अस्मदर्थे प्रेरय ।। अश्वावतीः 'मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य  
मतौ' (पा०सू० ६.३.१३१) इति पूर्वपदस्य दीर्घत्वम् । 'वा छन्दसि' इति पूर्वसवर्णदीर्घनिषेधस्य  
पाक्षिकस्योक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घत्वम् । च्यवन्त । 'च्युङ् गतौ' । लङि 'बहुलं छन्दस्यामाङ्योगेऽपि'  
इति अडभावः । वस्तवे । 'वस निवासे' । 'तुमर्थे सेसेन्' इति तवेन्प्रत्ययः । नित्वादाद्युदात्तत्वम् ।  
ईरय । 'ईर गतौ कम्पने च' । 'हेतुमति च' इति णिच् । चोद । 'चुद् संचोदने' । चौरादिकः ।  
लोटि 'छन्दस्युभयथा' इति शपः आर्धधातुकत्वात् 'णेरनिटि' इति णिलोपः । शपः पित्वादनुदात्तत्वे  
धातुस्वरः । पादादित्वात् निघाताभावः । मघोनाम् । षष्ठी बहुवचने 'श्वयुवमघोनामतद्धिते'  
(पा०सू० ६.४.१३३) इति संप्रसारणम् ।

शब्दा० — अश्वावतीः = अश्वोंवाली, गोमतीः = गायोंवाली, विश्वसुविदः = सभी प्रकार  
के सुन्दर धन देने वाली, भूरि = प्रचुर, अधिक संख्या में, च्यवन्तः = प्रवृत्त हुई है, वस्तवे  
= प्रकाशित करने के लिये, उदीरय = बोलो, प्रति = लिये, मा = मेरे, सूनृताः = सुन्दर,  
उषः = हे उषा, चोद = प्रेरित करो, भेजो, राधः = धन, मघोनाम् = धनवान दानियों का ।  
हि०अ० — अश्वों वाली, गायों वाली, तथा सभी प्रकार के सुन्दर धन देने वाली (उषायें)  
प्रकाशित करने के लिये अधिक संख्या में प्रवृत्त हुई हैं । हे उषा, मेरे प्रति सुन्दर वाणी



## उषस् सूक्त (मण्डल-१, सूक्त-४८)

बोलो; धनवान् दानियों का धन (दक्षिणा के रूप में) हमारे लिये भेजो।

व्याकरण :

अश्वावती = 'अश्वाः सन्ति अस्याः' अर्थ में वतुप्। अश्व+वत्+डीप्।

'मन्त्रौसोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ' सूत्र से दीर्घ होकर अश्वावती।

विश्वसुविदः = विश्वं सुष्ठु विन्दति अथवा वेत्ति। विश्व+सु+विद्+क्विप्= विश्वसुवित्।

प्रथमा विभक्ति का बहुवचन=विश्वसुविदः।

वस्तवे = 'वस्' धातु से 'तुमर्थेसेसेन्०' सूत्र से तवेन् प्रत्यय।

मधोनाम् = 'मधवन्' शब्द षष्ठी विभक्ति का बहुवचन।

विशेष — 'विश्वसुविदः' का अर्थ 'सबको अच्छी प्रकार जानने वाली' भी हो सकता है।

पीटर्सन ने इस शब्द का अर्थ किया है — excellent obtainers of every blessing।

पीटर्सन के अनुसार 'वस्तवे' यहाँ वस् to shine से बना है और इसका अर्थ है — to

bring light। उसके अनुसार उदीरय का अर्थ है — send on तथा सूनृता का अर्थ है

— gifts।

इस सूक्त में बार्हत प्रगाथ छन्द है अर्थात् सूक्त के मन्त्रों में बृहती और सतो बृहती दोनों छन्द हैं। सूक्त के १,३,५,७,९,११,१३,१५ मन्त्रों में बृहती (८,८,१२,८) छन्द हैं तथा २,४,६,८,१०,१२,१४,१६ मन्त्रों में सतोबृहती (२,८,१२,८) छन्द हैं।

मण्डल — १

सूक्त-४८

मन्त्र-३

संहिता पाठ

उवासोषा उच्छाच्च नु देवी जीरा रथानाम्।

ये अस्या आचरणेषु दधिरे समुद्रे न श्रवस्यवः॥३॥

पदपाठ —

उवासं। उषाः। उच्छात्। च। नु। देवी। जीरा। रथानाम्॥ ये। अस्याः। आचरणेषु।  
दधिरे। समुद्रे। न। श्रवस्यवः॥

अन्वयः — उषाः उवास नु उच्छात् च। (सा) देवी रथानां जीरा, ये अस्याः आचरणेषु समुद्रे  
श्रवस्यवः न दधिरे।

दयानन्द-भाष्य —

(उवास) वसति (उषाः) प्रभजती (उच्छात्) विवसनात् (च) समुच्चये (नु)  
शीघ्रम् (देवी) सुखदात्री (जीरा) वेगयुक्ता (रथानाम्) रमणसाधनानां यानानाम् (ये) विद्वांसः  
(अस्याः) सत्स्त्रियाः (आचरणेषु) समन्ताच्चरन्ति जानन्ति व्यवहरन्ति येषु तेषु (दधिरे)  
धरन्ति (समुद्रे) जलमयेऽन्तरिक्षे वा (न) इव (श्रवस्यवः) आत्मनः श्रवणमिच्छवः॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः। येन स्वसदृशी विदुषी सर्वथाऽनुकूला प्राप्यते स सुखमवाप्नोति  
नेतरः॥



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। जिस को अपने समान विदुषी पण्डिता और सर्वथा अनुकूल स्त्री मिलती है वह सुख को प्राप्त होता है और नहीं।।

सायण-भाष्य — उषाः देवी उवास पुरा निवासमकरोत् प्रभातं कृतवतीत्यर्थः। च नु अद्यापि उच्छात् व्युच्छति प्रभातं करोति। कीदृशी देवी। रथानां जीरा प्रेरयित्री उषःकाले हि रथाः प्रेर्यन्ते। अस्याः उषसः आचरणेषु आगमनेषु ये रथाः दधिरे धृताः सज्जीकृता भवन्ति तेषां रथानामिति पूर्वत्रान्वयः। रथप्रेरणे दृष्टान्तः। श्रवस्यवः धनकामाः समुद्रे न यथा समुद्रमध्ये नावः सज्जीकृत्य प्रेरयन्ति तद्वत्।। उवास। 'वस निवासे'। 'णलि लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' (पा०सू० ६.१.१७) इति अभ्यासस्य संप्रसारणम्। लिट्स्वरेण प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम्। उच्छात् लेटि आडागमः। 'इतश्चलोपः' इति इकारलोपः। तुदादित्वात् शप्रत्ययः। आगमानुदात्तत्वे प्रत्ययस्वरः। उषाः इत्यस्य वाक्यान्तरगतत्वात् तदेपेक्षयास्य निघातो न भवति, 'समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः' (पा०वा० ८.१.१८.५) इति वचनात्। जीरा। जु इति गत्यर्थः सौत्रो धातुः। 'जोरी च' (उ०सू० ३.२३) इति रक्प्रत्ययः। अस्याः। 'इदमोऽन्वादेशे' इति आशादेशोऽनुदात्तः विभक्तिरपि सुप्त्वादनुदात्तेति सर्वानुदात्तत्वम्। आचरणेषु। चर गत्यर्थः। 'ल्युट् च' (पा०सू० ३.३.११५) इति भावे ल्युट्। लिट्स्वरेण प्रत्ययात् पूर्वस्यादात्तत्वम्। दधिरे। 'धृङ् अवस्थाने'। लिट्ः कित्वादगुणाभावे यणादेशः। चित्त्वादन्तोदात्तत्वम्। यच्छब्दयोगादनिघातः। श्रवस्यवः। श्रूयते इति श्रवो धनम्। असुन्। तदात्मन इच्छन्तीति श्रवस्यवः। 'सुप आत्मन क्यच्'। 'क्याच्छन्दसि' इति उप्रत्ययः।।

शब्दा० — उवास = चमकी थी, प्रकाशित हुई थी, उषाः = उषा, उच्छात् = प्रकाश करे, च = और, नु = अब, देवी = देवी, जीरा = प्रेरित करने वाली, रथानाम् = रथों को ये = जो, अस्याः = इसके, आचरणेषु = आगमन पर, दधिरे = तैयार हो जाते हैं, समुद्रे = समुद्र में, न = तरह, श्रवस्यवः = धन की इच्छा वाले।

हि०अ० — उषा (पहले) चमकी थी, आज भी (वह) प्रकाश करे। देवी (उषा) रथों को प्रेरित करने वाली है, जो इसके आने पर स्वयं तैयार हो जाते हैं, जैसे धन की इच्छा वाले समुद्र में।

व्याकरण :

उवास	= 'वस' धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एक वचन।
जीरा	= 'जु गतौ' धातु से 'जोरी च' सूत्र से रक् प्रत्यय तथा 'उ' को 'ई' आदेश। जीर+टाप्=जीरा।
आचरणेषु	= आ+चर्+ल्युट् (अन) = आचरण।
दधिरे	= 'धृङ् अवस्थाने' धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।
अवस्यवः	= 'श्रूयते' अर्थ में असुन् प्रत्यय। श्रू+असुन्=श्रवस्। श्रवः आत्मानमिच्छति अर्थ में 'सुप आत्मनः क्यच्' सूत्र से क्यच् प्रत्यय=श्रवस्य। 'क्यग्च्छन्दसि' से 'उ' प्रत्यय होकर= श्रवस्यु। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन = श्रवस्यवः।



## उषस् सूक्त (मण्डल-१, सूक्त-४८)

विशेष — पीटर्सन ने 'उवास' पद को वस् to shine से निष्पन्न माना है। उसने 'श्रवस्' का अर्थ यश (glory, fame) करके श्रवस्यु का अर्थ किया है — bent on fame, ambitious।

मण्डल — १

सूक्त-४८

मन्त्र-४

संहिता पाठ

उषो ये ते प्र यामेषु युञ्जते मनो दानाय सूरयः ।

अत्राह तत्कण्वं एषां कण्वतमो नाम गृणाति नृणाम् ॥४॥

पदपाठ —

उषः। ये। ते। प्र। यामेषु। युञ्जते। मनः। दानाय। सूरयः। अत्र। अहं। तत्। कण्वः।  
एषाम्। कण्वतमः। नाम। गृणाति। नृणाम्।

अन्वयः — (हे) उषः ते यामेषु ये सूरयः दानाय मनः प्रयुञ्जते, एषां नृणां तत् नाम कण्वतमः  
अत्र अहं गृणाति।

दयानन्द-भाष्य —

(उषः) उषसः (ये) (ते) तव (प्र) प्रकृष्टार्थे (यामेषु) प्रहरेषु (युञ्जते) अभ्यस्यन्ति (मनः) विज्ञानं (दानाय) विद्यादिदानाय (सूरयः) स्तोतारो विद्वांसः। सूरिरिति स्तोतृना०। निघ० ३।१६। (अत्र) अस्यां विद्यायाम् (अहं) विनिग्रहार्थे। अहं इति विनिग्रहार्थीयः। निरु० १।१५ (तत्) (कण्वः) मेधावी (एषाम्) (कण्वतमः) अतिशयेन मेधावी (नाम) सञ्ज्ञादिकम् (गृणाति) प्रशंसति (नृणाम्) विद्याधर्मेषु नायकानां मनुष्याणां मध्ये॥

भावार्थ — ये जना एकान्ते पवित्रे निरुपद्रवे देशे स्वासीना यमादिसंयमान्तानां नवानामुपासनाङ्गानामभ्यासं कुर्वन्ति ते निर्मलात्मानः सन्तः प्राज्ञा आप्ताः सिद्धा जायन्ते ये चैतेषां संगसेवे विदधति तेऽपि शुद्धान्तःकरण भूत्वाऽऽत्मयोगजिज्ञासवो भवन्ति॥

हि० भावार्थ — जो मनुष्य एकान्त पवित्र निरुपद्रव देश में स्थिर होकर यमादि संयमान्त उपासना के नव अंगों का अभ्यास करते हैं वे निर्मल आत्मा होकर ज्ञानी श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं और जो इन का संग और सेवा करते हैं वे भी शुद्ध अन्तःकरण हो के आत्मयोग के जानने के अधिकारी होते हैं।

सायण-भाष्य —

हे उषः ते तव यामेषु गमनेषु सत्सु ये सूरयः विद्वांसः दानाभिज्ञाः दानाद धनादिदानार्थं मनः स्वकीयं प्र युञ्जते प्रेरयन्ति। दानशीला उदाराः प्रभवः प्रातः काले दातुमिच्छन्तीत्यर्थः। एषां दातुमिच्छतां नृणां तत् नाम दानविषये लोकप्रसिद्धं नाम कण्वतमः अतिशयेन मेधावी कण्वः महर्षिः अत्राह अत्रैव उषः काले गृणाति उच्चारयति। यो



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

दातुमिच्छति यश्च नामग्रहणेन दातारं प्रशंसति तावुभावप्युषःकाले एव तथा कुरुत इत्युषसः स्तुतिः ।। गृणाति । 'गृ शब्दे' । क्रैयादिकः । 'प्वादीनां ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वम् । नृणाम् नामि 'नृ च' (पा०सू० ६.४.६) इति दीर्घप्रतिषेधः । 'न चान्यतरस्याम्' (पा०सू० ६.१.१८४) इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ।।

शब्दा० — उषः = हे उषा, ये = जो, ते = तुम्हारे, यामेषु = आगमन पर, प्रयुञ्जते = प्रवृत्त करते हैं, मनः = मन को, दानाय = दान के लिये, सूरयः = दानी संरक्षक, अत्र = यहाँ, अह = पूर्ववर्ती शब्द पर बल देने वाला एक निपात, तत् = उन, कण्वः = कण्व ऋषि, एषाम् = उनके, कण्वतमः = कण्ववंश में प्रमुख, नाम = नाम, गृणाति = प्रशंसा करता है, नृणाम् = मनुष्यों के ।

हि०अ० — के उषा! तुम्हारे आगमन पर जो संरक्षक दान देने के लिए मन को प्रवृत्त करते हैं; यहाँ (उसी समय) कण्व वंश में श्रेष्ठ कण्व ऋषि उन्हीं सभी दानी मनुष्यों के नाम की प्रशंसा करता है ।

व्याकरण :

यामेषु = 'या गतौ' धातु से 'म' प्रत्यय = याम ।

गृणाति = 'गृ शब्दे' इस क्रयादि गण की धातु से बना है । 'प्वादीनां ह्रस्वः' सूत्रा से ह्रस्व हुआ ।

नृणाम् = नृ शब्द, षष्ठी विभक्ति का बहुवचन । 'नाभि नृ च' सूत्र से दीर्घत्व का निषेध हुआ ।

विशेष — सायण ने 'याम' पद का अर्थ 'गमन' किया है । यह अर्थ उपयुक्त नहीं जंचता । 'उषा के आगमन होने पर' यह अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । 'याम' का अर्थ 'आगमन' प्रायः सभी विद्वानों ने किया है । 'सूरि' शब्द 'देवता' अर्थ में सामान्यतः आता है । पीटर्सन के अनुसार इसका यहाँ अर्थ है । वैदिक कवियों के प्रशंसक या संरक्षक (patrons of Vedic poets) । 'कण्वतमः' पद में कण्व शब्द का प्रयोग कण्व कुल के लिये प्रयुक्त हुआ है तथा उनमें अतिशय बताने के लिये संज्ञा में भी तमुप् प्रत्यय किया गया है । 'सर्वानुक्रमणी' में इस सूक्त का देवता प्रस्कण्व कहा गया है । उसका भी यही अभिप्राय हो सकता है कि कण्व कुल में सबसे मेधावी कण्व ।

मण्डल — १

सूक्त-४८

मन्त्र-५

संहिता पाठ

आ धा योषेव सुनर्युषा याति प्रभुञ्जती ।

जरयन्ती वृजनं पद्वदीयत उत्पातयति पक्षिणः ।।५।।

पद पाठ —

आ । घ । योषाऽइव । सुनरीं । उषाः । याति । प्रभुञ्जती । जरयन्ती । वृजनम् । पत्स्वत् ।



ईयते । उत् । पातयति । पक्षिणः ।।

अन्वयः — सूनरी योषा इव उषाः प्रभुञ्जती वृजनं जरयन्ती आ याति घ । (उषःकाले) पदवद् ईयते । (इयम् उषाः) पक्षिणः उत् पातयति ।

दयानन्द-भाष्य —

(आ) समन्तात् (घ) एव (योषेव) यथा स्त्री तथा (सूनरी) या सुष्ठु नयति (उषाः) प्रबोधदात्री (याति) प्राप्नोति (प्रभुञ्जती) प्रकृष्टं पालनं कुर्वती (जरयन्ती) या जीर्णामवस्थां भावयन्ती (वृजनम्) मार्गम् (पद्वत्) पदभ्यां तुल्यम् (ईयते) प्राप्नोति (उत्) ऊर्ध्वं (पातयति) जागरयति (पक्षिणः) विहङ्गमानः ।।

भावार्थ — यथोषा निर्मला सर्वथा सुखप्रदा योगाभ्यासनिमित्ता भवति तथैव स्त्रीभिर्भवितव्यम् ।।  
हि०भावार्थ — जैसे प्रातःकाल की वेला निर्मल तथा सब प्रकार से सुख की देने वाली योगाभ्यास का कारण है उसी प्रकार स्त्रियों को होना चाहिये ।।

सायण-भाष्य —

उषाः देवी प्रभुञ्जति प्रकर्षेण सर्वं पालयन्ती आ याति घ प्रतिदिनमागच्छति खलु । तत्र दृष्टान्तः । सूनरी सुष्ठु गृहकृत्यस्य नेत्री योषेव गृहिणीव । कीदृशी उषाः वृजनं गमनशीलं जङ्गमं प्राणिजातं जरयन्ती जरां प्राप्यन्ती । असकृदुषस्यावृत्तायां वयोहान्या प्राणिनो जीर्णा भवन्ति । किञ्च उषःकाले पद्वत् पादयुक्तं प्राणिजातम् ईयते निद्रां परित्यज्य स्वस्वकृत्यार्थं गच्छति । किं च इयमुषाः पक्षिणः उत्पातयति । पक्षिणो ह्युषःकाले समुत्थाय तत्र तत्र भवन्ति । घ 'ऋचि तुनुषः' इत्यादिना संहितायां दीर्घः । सुष्ठु नयतीति सूनरी । 'नृ नये' । 'अच च' इति हप्रत्ययः । गतिसमासे 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् (परिभा० २८) इति वचनात् 'कृदिकारादक्तिनः' (पा०सू० ४.१.४५) इति डीप् । 'परादिश्छन्दसि बहुलम्' इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । 'निपातस्य च' इति पूर्वपदस्य दीर्घः । प्रभुञ्जता । 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' । लटः शतृ । रुधादित्वात् शनम् । 'शनसोरल्लोपः' इति अकारलोपः । 'उगितश्च' इति डीप् 'शतुरनुमः' इति नद्या उदात्तत्वम् । वृजनम् । 'वृजी वर्जने' । वर्ज्यते इति वृजनं प्राणिजातम् । 'कृपृवृजिमन्दिनिधाज्भ्यः क्युः' (उ०सू० २.२३९) इति क्युप्रत्ययः । कित्वात् लघूपधगुणाभावः । योरनादेशे प्रत्ययस्वरः । पद्वत् । पत् पादः तदस्यास्तीति पद्वत् । 'क्षयः' इति मतुपोवत्वम् । व्यत्ययेन मतुप उदात्तत्वम् । न च 'स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्' (परि०७९) इति व्यञ्जनस्य अविद्यमानवस्वे सति 'ह्रस्वनुङ्भ्यां मतुप' इति मतुप् उदात्तत्वमिति वाच्यम् । ह्रस्वादित्येव सिद्धे पुनर्नुङ्ग्रहणसामर्थ्यादेषा परिभाषा नाश्रीयते इति वृत्तावुक्तम् (का०६.१.१७६) । इतरथा हि मरुत्वान् इत्यत्रापि मतुप उदात्तत्वं स्यात् ।।

शब्दा० — घ = निश्चित अर्थ का वाचक एक निपात, योषेव = युवती की तरह, सूनरी = सुन्दरी, उषाः = उषा, आयाति = आती है, प्रभुञ्जती = सबको आनन्दित करती हुई, जरयन्ती = जगाती हुई, वृजनम् = जंगम प्राणिसमूह को, पद्वत् = पैरवालों को, ईयते = अपने कार्य पर भेजती है, उत्पातयति = उड़ाती है, पक्षिणः = पक्षियों को ।।



ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

हि०अ० — उषा एक सुन्दरी युवती की तरह सबको आनन्दित करती हुई आती है; सम्पूर्ण प्राणिसमूह को जगाती हुई पैरवालों को (अपने-अपने कार्य पर) भेजती है, तथा पक्षियों को (आकाश में) उड़ाती है।

व्याकरण :

सूनरी = सू+नर+डीप् = सूनरी। नृ+अच् = नर।

प्रभुञ्जती = प्र+भुज्+शतृ+डीप् = प्रभुञ्जती। रुधादि गण की धातु होने से श्नम् का आगम हुआ तथा श्नसोरत्त्वोपः से 'न' के 'अ' का लोप हुआ।

वृजनम् = 'वृज्' धातु से 'कृपृवृजिमन्दिनिधाज्भ्यः क्युः' इस उणादि सूत्र से क्यु प्रत्यय। वृज्+यु(अन) = वृजन।

विशेष — सायण का अर्थ अन्य भाष्यकारों से पर्याप्त भिन्न है। सायण ने योषा का अर्थ 'गृहिणी' किया है। इस शब्द का प्रयोग प्रायः 'युवती स्त्री' के लिये हुआ है। 'सूनरी' शब्द की निष्पत्ति सायण ने की है — सुष्टु गृहकार्यस्य नेत्री। उषा की उपमा अनेक स्थलों पर सुन्दरी युवती से दी गई है। यहाँ भी यही भाव अधिक उपयुक्त है। अतः 'सूनरी' का अर्थ सुन्दरी करना उचित होगा। पीटर्सन ने भी सुनरी योषा का अर्थ किया है — A lovely young lady। 'भुज्' धातु के दो अर्थ हैं — रक्षा करना और उपभोग करना। सायण ने 'प्रभुञ्जती' का अर्थ किया है — रक्षा करती हुई, परन्तु पीटर्सन तथा अन्य पाश्चात्य विद्वान् इसका अर्थ करते हैं — आनन्द मनाती हुई (rejoicing)।

'जरयन्ती' शब्द का अर्थ किया गया है — वृद्धावस्था को प्राप्त कराती हुई। यह शब्द 'जृ' धातु से या 'जु' धातु से बन सकता है। 'जृ' धातु का अर्थ है — गाना, जागृत करना, क्रियाशील होने के लिये जागृत करना। 'जृ' धातु का अर्थ है — क्षीण होना, वृद्ध होना। सायण ने इस शब्द को 'जृ' धातु से निष्पन्न माना है। पाश्चात्य विद्वान् इसे 'जृ' से निष्पन्न मानते हैं। वे 'वृजनम्' को 'पद्वत्' का विशेषण मानकर 'पद्वत् वृजनम् जरयन्ती' का अर्थ करते हैं — waking to activity the entire predestrian population। 'ईयते' क्रिया को पीटर्सन ने उषा से सम्बद्ध किया है। उसने इस पद को 'ई to go quickly' से निष्पन्न मानकर अर्थ किया है — She moves swiftly।

मण्डल — १

सूक्त-४८

मन्त्र-६

संहिता पाठ

वि या सृजति समनं व्यर्थिनः पदं न वेत्योदती।

वयो नकिंष्टे पप्तिवांसं आसते व्युष्टौ वाजिनीवति॥

पद पाठ —

वि। या। सृजतिं। समनम्। वि। अर्थिनः। पदम्। न। वेति। ओदती। वयः। नकिं। ते। पप्तिऽवांसः। आसते। विऽउष्टौ। वाजिनीऽवति॥६॥



## उषस् सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-४८ )

अन्वयः — या समनं वि सृजति, (या) अर्थिनः वि (सृजात) । ओदती (उषाः) पदं न वेति ।  
(हे) वाजिनीवति, ते व्युष्टौ पप्तिवांसः वयः नकिः आसते ।

दयानन्द-भाष्य —

(वि) विविधार्थे (या) उषर्वत्स्त्री (सृजति) (समनम्) समीचीनं संग्रामम् ।  
समनमिति संग्रामना० । निघं० २ । १७ । (वि) विशेषार्थे (अर्थिनः) प्रशस्ता अर्था यस्य सन्ति  
(पदम्) प्रापणीयम् (न) इव (वेति) व्याप्नोति (ओदती) उन्दनं कुर्वन्ती (वयः) पक्षिणः  
(नकिः) या न शब्दयति सा (ते) तव (पप्तिवांसः) पतनशीला (आसते) (व्युष्टौ) विशेषेणोष्यन्ते  
दह्यन्ते यया कान्त्या तस्याम् (वाजिनीवती) वहवो वाजिन्यः क्रिया विद्यन्ते यस्यां  
सा । ॥ ६ ॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः । यथा स्त्रियो व्यवहारेण स्वकीयान्पदार्थान्प्राप्नुवन्ति तथोषाः  
स्वप्रकाशेन स्वव्यवहाराधिकारं प्राप्नोति यथा सा दिनमुत्पाद्य सर्वान्प्राणिन उत्थाप्य  
स्वस्वव्यवहारेषु वर्त्तयित्वा रात्रिं निवर्तयति दिनस्य प्रादुर्भावाद्दाहं जनयति तथैव  
स्त्रीभिर्भवितव्यम् ।।

हि० भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है । जैसे स्त्रियां व्यवहार से अपने पदार्थों को प्राप्त  
होती हैं वैसे उषा अपने प्रकाश से अधिकार को प्राप्त होती हैं, जैसे वह दिन को उत्पन्न  
और सब प्राणियों को उठाकर अपने अपने व्यवहार में प्रवर्तमान कर रात्रि को निवृत्त  
करती और दिन के होने से दाह को भी उत्पन्न करती हैं वैसे ही सब स्त्री जनों को भी  
होना चाहिये ।।

सायण-भाष्य —

या देवता समनं समीचीनचेष्टावन्तं पुरुषं वि सृजति प्रेरयति ।  
गृहारामादिचेष्टाकुशलान् पुरुषान् उषःकालः शयनादुत्थाप्य स्वस्वव्यापारे प्रेरयतीति प्रसिद्धम् ।  
किंच उषाः अर्थिनः याचकान् वि सृजति । ह्युषःकाले समुत्थाय स्वकीयदातृगृहे गच्छन्ति ।  
ओदती उषोदेवता पदं स्थानं न वेति न कामयते । उषःकालः शीघ्रं गच्छतीत्यर्थः । हे  
वाजिनीवति उषोदेवते ते व्युष्टौ त्वदीये प्रभातकाले पप्तिवांसः पतनयुक्ता वयः पक्षिणः नकिः  
आसते न तिष्ठन्ति किन्तु स्वस्वनीडाद्विनिर्गत्य गच्छन्तीत्यर्थः ।। सृजति । 'सृज विसर्गे' ।  
तुदादित्वात् शः । तस्य डित्त्वात् लघूपधगुणाभावः । प्रत्ययस्य पित्त्वादनुदात्तत्वे विकरणस्वरः ।  
यद्वृत्तयोगादनिघत्तः । ओदती । 'उन्दी क्लेदने' । उनति सर्वे नीहारेण इति ओदती उषाः ।  
शतरि व्यत्ययेन शप् । व्यत्ययेन अनुनासिकलोपे लघूपधगुणः । 'उगितश्च' इति डीप् ।  
आगमानुशासनस्यानित्यत्वात् नुमभावः । शपः पित्त्वादनुदात्तत्वम् । शतुः अदुपदेशात्  
लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तत्वम् । न च 'शतुरनुमः' इति नद्या उदात्तत्वम्,  
अन्तोदात्तात् शतुः परस्यास्तद्विधानात् । नकिष्टे । 'युष्मत्तत्तक्षुःध्वन्तःपादम्' इति षत्वम् ।  
पप्तिवांसः । 'पत्लृ गतौ' लिटः कसुः । क्रादिनियमात् प्राप्त इट् 'वस्वेकालाद्वसाम्' इति  
नियमात् न प्राप्नोति । तत्क्रियते सर्वविधीनां छन्दसि विकल्पितत्वात् । 'तत्रिपत्योश्छन्दसि'



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

(पा०सू० ६.४.९९) इति उपधालोपः । 'द्विर्वचनेऽत्रि' इति स्थानिवद्भावात् द्विर्भावः । प्रत्ययस्वरः । वाजिनीवति । वाजोऽत्रमस्या अस्तीति वाजिनी क्रिया । मत्वर्थीय इनिः । 'ऋन्नेभ्यः' इति डीप् । तादृशी क्रिया यस्याः सा । 'तदस्यास्ति' इति मतुप् । 'संज्ञायाम्' इति मतुपो वत्वम् ।।  
**शब्दा०** — या = जो, विसृजति = कार्य पर अलग-अलग भेजती है, समनम् = एकत्रित समुदाय को, चेष्टावान् पुरुष को, वि = प्रवृत्त करती है, अर्थिनः = याचकों को, पदम् = रुकना, देर करना, न = नहीं, वेति = जानती है, ओदती = ओस बरसाने वाली, वयः = पक्षी, नकिः = कोई नहीं, ते = तुम्हारे, पप्तिवांसः = पंखवाले, आसते = बैठे रहते हैं, व्युष्टौ = प्रकाशित होने पर, वाजिनीवती = हे प्रचुर धनवाली ।

**हि०अ०** — जो (यह उषा है यह) एकत्रित समुदाय को कार्य में प्रवृत्त करती है, याचकों को (अपने कार्य में) प्रवृत्त करती है; ओस बरसाने वाली यह उषा देर करना नहीं जानती । हे प्रचुर धनवाली (उषा), तुम्हारे प्रकाशित होने पर पंखवाले पक्षी बैठे नहीं रहते ।

**व्याकरण :**

- समनम् — सम्+अन्+अच् = समन ।  
 ओदती — 'उन्दी क्लेदने' धातु से उन्द्+शतृ+डीन् = ओदती  
 पप्तिवांस — पत्+क्वसु = पप्तिवस् ।  
 व्युष्टि — वि+वस्+क्तिन् = व्युष्टि । सप्तमी विभक्ति का एक वचन = व्युष्टौ ।  
 वाजिनीवति — वाजः अस्या अस्ति अर्थ में वाज+इनि+डीम् = वाजिनी । वाजिनी क्रिया यस्या सा अर्थ में वाजिनी+मतुम्+डीम् = वाजिनीवती ।

**विशेष** — पीटर्सन के अनुसार 'समन' पद का अर्थ यहाँ bestrive gathering है । इस प्रकार 'या समनम् विसृजति' का अर्थ है — who starts festive party । 'समनम्' का अर्थ युद्ध भी होता है । जो उषा युद्ध की ओर प्रेरित करती है । पीटर्सन के अनुसार 'अर्थिन' शब्द 'अर्थ' से बना है, जिसका अर्थ है — दिन का कार्य । इससे अर्थ हुआ — जो उषा दिन का कार्य करने वाले कार्यकर्त्ताओं को भेजती है । उषा के उदित होने पर सभी व्यक्ति अपने दैनिक कार्यों के लिये चले जाते हैं । 'पदम् न वेति ओदती' का अर्थ पाश्चात्य भाष्यकारों ने भिन्न प्रकार से किया है । पदम्=footstep । न=as if । वेति = follows । ओदती =bwistful, full of longing । इस प्रकार इस वाक्य का अर्थ होगा — जो उषा मानों अभिलाषाओं से भरी हुई सूर्य के पदों का अनुसरण करती है ।

'पदम् न वेति' का यह अभिप्राय भी हो सकता है — जो उषा कभी विश्राम के स्थान की कामना नहीं करती ।

सायण के अनुसार 'वाज' शब्द का अर्थ अन्न है । गेल्डनर, पीटर्सन आदि के अनुसार यहाँ 'वाज का अर्थ' उपहार, 'दक्षिणा' है । अतः वाजिनीवती का अर्थ होगा — goddess rich in gifts ।



## संहिता पाठ

एषायुक्त परावतः सूर्यस्योदयनादधि ।

शतं रथेभिः सुभगोषा इयं वि यात्यभि मानुषान् ॥७॥

## पदपाठ -

एषा । अयुक्त । परावतः । सूर्यस्य । उत्स्रयनात् । अधि । शतम् । रथेभिः । सुभगा । उषाः । इयम् । वि । याति । अभि । मानुषान् ॥७॥

अन्वयः - एषा (उषाः) परावतः सूर्यस्य उदयनाद् अधि शतं (रथान्) अयुक्त । इयं सुभगा उषाः रथेभिः मानुषान् अभि वि याति ।

## दयानन्द-भाष्य -

(एषा) वक्ष्यमाणा (अयुक्त) युङ्क्ते । अत्र लङर्थे लुङ् बहुलं छन्दसि इति शनमो लुक् । (परावतः) दूरदेशात् (सूर्यस्य) सवितृमण्डलस्य (उदयनात्) उदयात् (अधि) उपरान्तसमये (शतम्) असंख्यातान् (रथेभिः) रमणीयैः किरणैः (सुभगा) शोभना भगा ऐश्वर्याणि यस्याः सा (उषाः) सुशोभा कान्तिः (इयम्) प्रत्यक्षा (वि) विविधार्थे (याति) प्राप्नोति (अभि) आभिमुख्ये (मानुषान्) मनुष्यादीन् ॥७॥

भावार्थ - यथा पतिव्रताः स्त्रियो नियमेन स्वपतीन् सेवन्ते यथोपसः पदार्थानां च दूरदेशात्संयोगो जायते तथैव दूरस्थैः कन्यावरैर्विवाहः कर्तव्यो यतो दूरदेशेऽपि प्रीतिर्वर्द्धेत यथा समीपस्थानां विवाहः क्लेशकारी भवति तथैव दूरस्थानां च सुखदायी जायते ।

हि० भावार्थ - जैसे पतिव्रता स्त्रियां नियम से अपने पतियों की सेवा करती हैं । जैसे उषा से सब पदार्थों का दूर देश से संयोग होता है वैसे दूरस्थ कन्या पुत्रों का युवावस्था में स्वयंवर विवाह करना चाहिये जिससे दूरदेश में रहने वाले मनुष्यों से प्रीति बढ़े । जैसे निकटस्थों का विवाह दुःखदायक होता है वैसे ही दूरस्थों का विवाह आनन्दप्रद होता है ।

## सायण-भाष्य -

एषा उषोदेवी शतम् अयुक्त स्वकीयानां रथानां शतं योजितवती । सुभगा सौभाग्ययुक्ता इयम् उषाः परावतः दूरस्थात् सूर्यस्योदयनादधि सूर्योदयस्थानादधिकात् द्युलोकात् मानुषान् अभि मनुष्यानुद्दिश्य रथेभिः शतसंख्याकैः युक्तैः रथैः वि याति विशेषेण गच्छति ॥ अयुक्त । लुङि 'झलो झलि' (पा०सू० ८.२.२६) इति सिचो लोपः । उदयनात् । उदेत्यत्रेति उदयनम् । 'इण् गतौ' । अधिकरणे ल्युट् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् । सुभगा । शोभनो भगो यस्याः सा । 'आद्युदात्त द्वयच्छन्दसि' इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । मानुषान् । मनोः पुत्रा मानुषाः । -मनोर्जातावज्यतौ षुक् च' इति अज् षुगागमश्च । जित्वादाद्युदात्तत्वम् । मानुषान् । मनोः पुत्रा मानुषाः ।

शब्दा० - एषा = इसने, अयुक्त = जोता है, परावतः = बहुत दूर से, सूर्यस्य = सूर्य के, उदयनात् = उदय स्थान से, अधि = आगे, शतम् = सौ, रथेभिः = रथों से, सुभगा



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

= सौभाग्यवती, उषाः = उषा, इयम् = यह, वि = विशेष रूप से, याति = जाती है, अभि = ओर, मानुषान् = मनुष्यों की।

हि०अ० — इसने बहुत दूर सूर्य के उदय-स्थान से भी आगे से (अपने रथ को) जोता है। यह सौभाग्यवती उषा सौ रथों से मनुष्यों की तरफ विशेष रूप से जाती है।

**व्याकरण :**

अयुक्त — युज् धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एक वचन।

उदयनात् — 'उदेति अत्र' अर्थ में उत्+इ+ल्युट् (अन)=उदयन। पञ्चमी विभक्ति का एक वचन = उदयनात्।

रथेभिः — तृतीया विभक्ति का बहुवचन। वैदिक रूप।

सुभगा — शोभनः भगः यस्याः सा। सु+भग+टाप् = सुभगा।

मानुषान् — मनोः पुत्रः अर्थ में 'मनोर्जातावज्यतौ षुक् च' सूत्र से अज् प्रत्यय और षुक् का आगम। मनु+ष्+अ। आदि अच् को वृद्धि होकर = मानुष।

विशेष — पीटर्सन ने युज् धातु का अर्थ to harness the horses to the chariot मानकर 'अयुक्त' का अर्थ — she comes on chariot किया है। उसने सुभगा का अर्थ सुन्दरी (lovely) किया है।

मण्डल — १

सूक्त-४८

मन्त्र-८

संहिता पाठ

विश्वमस्या नानाम चक्षसे जगज्ज्योतिष्कृणोति सूनरीं।

अप द्वेषो मघोनीं दुहिता दिव उषा उच्छदप स्त्रिधः॥८॥

**पदपाठ —**

विश्वम्। अस्याः। ननाम। चक्षसे। जगत्। ज्योतिः। कृणोति। सूनरीं॥ अपं। द्वेषः। मघोनीं। दुहिता। दिवः। उषाः। उच्छत्। अपं। स्त्रिधः॥

अन्वयः — विश्वं जगत् अस्याः चक्षसे ननाम। (एषा) सूनरी ज्योतिः कृणोति। मघोनी दिवः दुहिता उषाः द्वेषः अप (उच्छत्); स्त्रिधः अप उच्छत्।

**दयानन्द-भाष्य —**

(विश्वम्) सर्वम् (अस्याः) उषसः (ननाम) नमति। अत्र तुजादित्वाद् अभ्यासदीर्घत्वम्। (चक्षसे) द्रष्टुम् (जगत्) संसारम् (ज्योतिः) प्रकाशम् (कृणोति) करोति (सूनरी) सुष्ठु नेत्री (अप) दूरीकरणे (द्वेषः) द्विषन्ति ये शत्रवस्ते। अत्र अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते इति विच्। (मघोनी) प्रशस्तानि मघानि पूज्यानि धनानि यस्याः सन्ति सा (दुहिता) पुत्रीव (दिवः) प्रकाशमानस्य सवितुः (उषाः) प्रभातः (उच्छत्) विवासयति (अप) अपराधे (स्त्रिधः) हिंसकान्॥

भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा सत्त्री विघ्नान्निवार्य क्रियमाणानि कार्याणि



साधनोति तथैवोषा दस्युचोरशत्र्वादीन्निवार्य कार्यसाधिका भवतीति ।।

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । जैसे सती स्त्री विघ्नों को दूर कर कर्त्तव्य कर्मों को सिद्ध करती है, वैसे ही उषा डाकू, चोर, शत्रु आदि को दूर कर कार्य की सिद्धि कराने वाली होती है ।।

सायण-भाष्य —

विश्वं सर्वं जगत् जङ्गमं प्राणिजातम् अस्याः उषसः चक्षसे प्रकाशाय ननाम प्रह्वीभवति । रात्रौ तमसि निमग्नाः सर्वे जनारस्तन्निवारयित्रीमुषसमुपलभ्य नमस्कुवन्तीत्यर्थः । कुतः । यस्मादेषा सूनरी सुष्टु नेत्री अभिमतफलस्य प्रापयित्री उषाः ज्योतिष्कृणोति सर्वं प्रकाशयति । किं च मघोनी मघवती धनवती दिवः दुहिता द्युलोकसकाशादुत्पन्ना उषाः द्वेषः द्वेष्टन् अप उच्छत् अपवर्जयति । तथा स्त्रिधः शोषयितृन् अप उच्छत् अपवर्जयति । तस्मादिष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारहेतुभूतामुषोदेवतां विश्वं जगन्नमस्करोतीत्यर्थः ।। अस्याः 'इदमोऽन्वादेशे' इति अशादेशः अनुदात्तः विभक्तिश्च सुप्त्वादनुदात्तेति सर्वानुदात्तत्वम् । ननाम । संहितायाम् 'अन्येषामपि दृश्यते' इति अभ्यासस्य दीर्घत्वम् । तुजादित्वे हि तूतुजानः इत्यादाविव पदकालेऽपि दीर्घः श्रूयते । ज्योतिः । 'इणः षः' इत्यनुवृत्तौ 'इसुसोः सामर्थ्ये' (पा०सू० ८.३.४४) इति विसर्जनीयस्य षत्वम् । द्वेषः । 'द्विष अप्रीतौ' । 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति विच् । लघूपधगुणः । मघोनी । मघं वनति संभजते इति मघोनी । 'अनुक्षन्' इत्यादिना मघवञ्शब्दः कनिन्प्रत्ययान्तो निपातितः । स्त्रियाम् 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीप् । भसंज्ञायां 'श्वयुवमघोनामतद्विते' इति संप्रसारणम् । उच्छत् । 'उच्छी विवासे' । विवासो वर्जनम् । 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' इति वर्तमाने लङ् । 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' इति अडागमाभावः । स्त्रिधः । 'स्त्रिधु शीर्षके' । 'क्विप् च' इति क्विप् ।।

शब्दा० — विश्वम् = सम्पूर्ण, अस्याः = इसको, ननाम = नमस्कार करते हैं, चक्षसे = देखने के लिये, जगत् = जंगम जीव, ज्योतिः = प्रकाश, कृणोति = करती है, सूनरी = सुन्दरी, द्वेषः = द्वेष करने वालों को, मघोनी = प्रचुर धन देने वाली, दुहिता = पुत्री, दिवः = आकाश की, उषाः = उषा, अप उच्छत् = दूर करे, अप = दूर करे, स्त्रिधः = बाधा उपस्थित करने वालों को ।

हि०अ० — सम्पूर्ण प्राणी देखने के लिये इसको नमस्कार करते हैं, सुन्दरी (उषा) प्रकाश का निर्माण करती है । प्रचुर धन देनेवाली, आकाश की पुत्री उषा, द्वेष करने वालों को दूर करे; बाधा उपस्थित करने वालों को दूर करे ।

व्याकरण :

नानाम — 'ननाम' नम् धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष का एक वचन है । यहाँ अभ्यास को 'अन्येषामपि दृश्यते' सूत्र से वैदिक दीर्घ हुआ है ।

चक्षसे — चक्ष+असेन् = चक्षसे ।

ज्योतिष्कृणोति— 'इसुसोः सामर्थ्ये' सूत्र से विसर्गों को द् आदेश ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

- द्वेषः** — 'द्विष् अप्रीतौ' धातु से विच् प्रत्यय । द्विष्+विच् । विच् का पूरा लोप तथा द्विष् की उपधा को गुण = द्वेष । द्वितीया विभक्ति का बहुवचन = द्वेषः ।
- मधोनी** — मधवन्+ङीप् । 'श्वयुवमधोनामतद्धिते' सूत्र से सम्प्रसारण होकर= मधोनी ।
- स्त्रिधः** — 'स्त्रिधु शोषणे' धातु से क्विप् प्रत्यय । स्त्रिध्+क्विप् । क्विप् का पूरा लोप । द्वितीया विभक्ति का बहुवचन = स्त्रिधः ।

**विशेष** — पीटर्सन ने 'मधोनी' का अर्थ सुन्दर रूप वाली (beautiful) किया है । 'स्त्रिधः' पद का अर्थ सायण ने 'शोषण करने वाले' किया है । ग्रासमान के अनुसार स्त्रिध् शब्द द्वेष का ही पर्यायवाची है । मेल्डनर के अनुसार इस पद का अर्थ है — विफलता, निराशा (failure, disappointment) । पीटर्सन ने इसका अर्थ किया है — रुकावट उत्पन्न करने वाले (obstructors) ।

**मण्डल — १****सूक्त-४८****मन्त्र-९****संहिता पाठ**

उष आ भाहि भानुना चन्द्रेण दुहितर्दिवः ।  
आवहन्ती भूर्यस्मभ्यं सौभगं व्युच्छन्ती दिविष्टिषु ॥९॥

**पद पाठ —**

उषः । आ । भाहि । भानुना । चन्द्रेण । दुहितः । दिवः । आवहन्ती । भूरि । अस्मभ्यम् । सौभगम् । विऽउच्छन्ती । दिविष्टिषु ॥

**अन्वयः** — (हे) दिवः दुहितर् उषः, अस्मभ्यं भूरि सौभगम् आवहन्ती, दिविष्टिषु व्युच्छन्ती चन्द्रेण भानुना आ भाहि ।

**दयानन्द-भाष्य —**

(उषः) उषा इव कमनीये (आ) समन्तात् (भाहि) (भानुना) सूर्येण (चन्द्रेण) इन्दुना (दुहितः) पुत्रीव (दिवः) प्रकाशस्य (आवहन्ती) सर्वतः सुखं प्रापयन्ती (भूरि) बहु (अस्मभ्यम्) पुरुषार्थिभ्यः (सौभगम्) शोभनानां भगानामैश्वर्याणामिदम् (व्युच्छन्ती) निवासं कुर्वन्ती (दिविष्टिषु) प्रकाशितासु कान्तिषु ॥

**भावार्थ** — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यथा सुकन्या मातृपतिकुले उज्ज्वलयति तथोषा उभे स्थूलसूक्ष्मे वस्तुनी प्रकाशयति ॥

**हि० भावार्थ** — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कारः है । जैसे विदुषी धार्मिक कन्या दोनों माता और पति के कुलों को उज्ज्वल करती है वैसे उषा दोनों सूक्ष्म अर्थात् बड़ी छोटी वस्तुओं को प्रकाशित करती है ।

**सायण-भाष्य —**

हे दिवः दुहितः द्युलोकस्य पुत्रि उषः उषोदेवते चन्द्रेण सर्वेषां— माह्लादकेन भानुना प्रकाशेन आ समन्तात् भाहि प्रकाशस्व । किं कुर्वती । दिविष्टिषु दिवसेषु भूरि प्रभूतं



सौभगं सौभाग्यम् अस्मभ्यम् आवहन्ती संपादयन्ती तथा व्युच्छन्ती तमांसि वर्जयन्ती ।। उषः षाष्ठिकमामन्त्रिताद्युदात्तत्वम् । दुहितर्दिवः । परमपि च्छन्दसि इति दिवः इत्यस्य परस्य षष्ठ्यन्तस्य पूर्वामन्त्रिताङ्गवद्भावे सति षष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् । आवहन्ती । डीष्णपौ पित्त्वादनुदात्तौ । शतुश्च अदुपदेशात् लसार्वधातुकस्वरेणानुदात्तत्वम् । अतो धातुस्वरः शिष्यते । समासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् । भूरि । प्रभवति न विनश्यतीति भूरि 'अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन्' (उ०सू० ४.५०५) इति क्रिन् । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । सुभगस्य भावः सौभगम् । 'सुभगान्मन्त्रे' इति उदगात्रादिषु पाठात् अञ्प्रत्ययः । 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इति उभयपदवृद्धौ प्राप्तायां 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्पयन्ते' इति वचनात् अत्रोत्तर पदवृद्धिर्न भवतीति वृत्तावुक्तम् (का० ७.३.१९) । व्युच्छन्ती । 'उच्छी विवासे' । विवासो वर्जनम् । तौदादिकः । अदुपदेशात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वे विकरणस्वरः । दिविष्टिषु । दिवशब्देन दिविष्टः आदित्यो लक्ष्यते । तस्य इष्टयः एषणानि गमनानि येषु दिवसेषु ते दिविष्टयः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ।।

शब्दा० — उषः = हे उषा, आ भाहि = सर्वत्र प्रकाश करो, भानुना = प्रकाश से, चन्द्रेण = चमकीले, दुहितर्दिवः = हे आकाश की पुत्री, आवहन्ती = लाती हुई, भूरि = प्रचुर, अस्मभ्यम् = हमारे लिये, सौभगम् = सौभाग्य, व्युच्छन्ती = प्रकाशित होती हुई, दिविष्टिषु = प्रतिदिन ।

हि०अ० — हे आकाश की पुत्री, उषा, हमारे लिये प्रचुर सौभाग्य लाती हुई, प्रतिदिन प्रकाशित होती हुई (अपनी) चमकीली किरणों से सर्वत्र प्रकाश करो ।

व्याकरण :

भानुना — 'भा दीप्तौ' धातु से 'नु' प्रत्यय ।

चन्द्रेण — 'चदि आह्लादे' धातु से चद्+र (नुम् का आगम) = चन्द्र ।

आवहन्ती — आ+वह+शतृ+डीप् = आवहन्ती

भूरि — 'भवति न विनश्यति' अर्थ में 'भू' धातु से 'अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन्' सूत्र से उणादि क्रिन् प्रत्यय । भू+क्रिन् = भूरि ।

सौभगम् — सुभगस्य भावः अर्थ में 'सुभगान्मन्त्रे' सूत्र से अञ् प्रत्यय 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' सूत्र से उभयपद को वृद्धि प्राप्त होने पर 'वेद में सभी विधियाँ विकल्प से हो सकती है । इस विधान के कारण केवल पूर्व पद में वृद्धि हुई ।

दिविष्टिषु — दिवि कृता इष्टि = दिविष्टि, तासु = दिविष्टिषु ।

विशेष — सायण आदि आचार्यों ने 'चन्द्र' शब्द को 'चदि आह्लादे' धातु से निष्पन्न मानकर इसका अर्थ आह्लादक किया है । परन्तु पीटर्सन के अनुसार यह शब्द चन्द to shine, to gleam धातु से निष्पन्न है । अतः उसने चन्द्रेण भानुना का अर्थ किया है — with shining light ।



सायण ने 'उच्छदन्ती' पद की निष्पत्ति 'उच्छी विवासे' धातु से मानी है और विवास का अर्थ वर्जन किया है। 'दिविष्टिसु' की व्युत्पत्ति वह करता है — दिव् = दिविष्टः, आदित्यः। तस्य इष्टयः एषणानि गमनानि येषु दिवसेषु ते दिविष्टयः। इस प्रकार दिविष्टिषु का अर्थ हुआ — दिवसेषु। उसके अनुसार 'दिविष्टिषु व्युच्छन्ती' का अर्थ हुआ — दिनों में अन्धकारों को वर्जित करती हुई। परन्तु 'उच्छ' धातु का प्रयोग इसी सूक्त में प्रकट होने, प्रकाशित होने के अर्थ में किया जा चुका है। 'उषः वि उच्छ' (मन्त्र-१) हे उषा! प्रकट होओ प्रकाशित होओ। 'दिविष्टि' पद की निष्पत्ति 'दिवि इष्टि' = दिन में किया गया यज्ञ, अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। अतः दिविष्टिषु व्युच्छन्ती' का अर्थ — प्रतिदिन किये जाने वाले यज्ञों में प्रकाशित होती हुई, अधिक उपयुक्त है। मैक्समूलर ने 'दिविष्टि' का अर्थ दैनिक यज्ञ (daily sacrifice) किया है तथा गेल्डनर ने इसका समर्थन किया है। ग्रासमान ने 'दिविष्टि' की व्याख्या की है — दिव् heaven + इष्टि from इष् = wishing for heaven।

मण्डल — १

सूक्त-४८

मन्त्र-१०

संहिता पाठ

विश्वस्य हि प्राणनं जीवनं त्वे वि यदुच्छसिं सूनरि।  
सा नो रथेन बृहता विभावरी श्रुधि चित्रामघे हवम्॥१०॥

पदपाठ —

विश्वस्य। हि। प्राणनम्। जीवनम्। त्वे इति। वि। यत्। उच्छसिं। सूनरि॥ सा नः। रथेन। बृहता। विभावरि। श्रुधि। चित्रामघे। हवम्॥

अन्वयः — (हे) सूनरि, हि विश्वस्य प्राणनं जीवनं त्वे, यत् वि उच्छसिः, (हे) विभावरी चित्रामघे, सा (त्वम्) नः बृहता रथेन (आ याहि) हवम् श्रुधि।

दयानन्द-भाष्य —

(विश्वस्य) सर्वस्य (हि) खलु (प्राणनम्) प्राणधारणम् (जीवनम्) जीविकाप्रापणम् (त्वे) त्वयि। अत्रसुपां सुलुग० इति शे आदेशः। (वि) विविधार्थे (यत्) या (उच्छसि) (सूनरि) सुष्ठुतया व्यवहारनेत्री (सा) (नः) अस्मभ्यम् (रथेन) रमणीयेन स्वरूपेण विमानादिना वा (बृहता) महता (विभावरी) या विविधतया भाति प्रकाशयति तत्सम्बुद्धौ (श्रुधि) शृणु (चित्रामघे) चित्राण्यद्भुतानि मघानि धनानि यस्यास्तत्संबुद्धौ। अत्र अन्येषामपि० इति पूर्वपदस्य दीर्घः। (हवम्) श्रोतव्यं श्रावयितव्यं वा शब्दसमूहम्॥

भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथोषसा सर्वस्य प्राणिजातस्य सुखानि जायन्ते तथा सत्या स्त्रिया प्रसीदन्तं। सर्व आनन्दाः प्राप्नुवन्ति॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जैसे उषा से सब प्राणिजात को सुख होता है, वैसे ही पतिव्रता स्त्री से प्रसन्न पुरुष को सब आनन्द होते हैं।



## सायण-भाष्य -

हे सूनरि उषोदेवि विश्वस्य प्राणिजातस्य प्राणनं चेष्टनं जीवनं प्राणधारणं च त्वे हि त्वय्येव वर्तते। यत् यस्मात् त्वं वि उच्छसि तमो वर्जयसि। हे विभावरी विशिष्टप्रकाशयुक्ते सा तादृशी त्वं नः अस्मान्प्रति वृहता प्रौढेन रथेन आयाहीति शेषः। तथा हि चित्रमघे विचित्रधनयुक्ते उषोदेवि नः अस्मदीयं हवम् आह्वानं श्रुधि शृणु॥ प्राणनम्। 'धन चेष्टायाम्'। 'ल्युट् च' इति भावे ल्युट्। योरनादेशः। समासे 'अनितेः' (पा०सू० ८.४.१९) इति उपसर्गस्थात् रकारात् निमित्तात् उत्तरस्य नकारस्य णत्वम्। ननु 'अनितेः' इति हटा निर्देशात् कथम् 'अन चेष्टायाम्' इत्यस्य णत्वम्। तर्हि जीवनस्य पृथगुपादानात् तेनैव धातुना चेष्टा लक्ष्यते। समासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्। संहितायाम् एकादेशस्वरेण एकादेशस्योदात्तत्वम्। त्वे। 'सुपां सुलुक्' इति सप्तम्याः शेआदेशः। उच्छसि। 'उच्छी विवासे' तौदादिकः। सिपः पित्त्वादनुदात्तत्वेविकरणस्वरः। 'निपातैर्यद्यदिहन्त' इति निघातप्रतिषेधः। सूनरि। सुष्ठु नयतीति सूनरी। 'नृ नये' इत्यस्मात् 'अच इः' इति औणादिक इप्रत्ययः। गतिसमासे कृद्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणात् 'कृदिकारादक्तिनः' इति डीष्। 'निपातस्य च' इति पूर्वपदस्य दीर्घत्वम्। 'परादिश्छन्दसि बहुलम्' इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वे प्राप्ते 'आमन्त्रितस्य च' इति आष्टमिको निघातः। विभावरी। विशिष्टा भा यस्याः सा। 'छन्दसीवनिपौ' (पा०सू० ५.२.१०९.२) इति मत्वर्थीयो वनिप्। 'वनो र च' इति डीप्; तत्संनियोगेन नकारस्य रेफादेशश्च। श्रुधि। 'श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि' इति हेर्धिरादेशः। 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य लुक्। हेरपित्त्वेन प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्। पादादित्वात् निघाताभावः। मघम् इति धननाम। चित्रं मघं यस्याः सा चित्रमघा। 'अन्येषामपि दृश्यते' इति संहितायां पूर्वपदस्य दीर्घत्वम्। हवम्। 'ह्वेज् स्पर्धायां शब्दे च'। 'भावेऽनुपसर्गस्य' इति अण् प्रत्ययः; तत्संनियोगेन संप्रसारणं च॥

शब्दा० - विश्वस्य = सम्पूर्ण, हि = चूँकि, प्राणनम् = प्राण, जीवनम् = जीवन, त्वे = तुममे, यत = जब, व्युच्छसि = प्रकाशित होती हो, सूनरि = हे सुन्दरी, सा = वह (तुम), नः = हमारी, रथेन = रथ से, वृहता = बड़े, विभावरी = हे प्रकाशवाली, श्रुधि = सुनो, चित्रमघे = हे विचित्र धन वाली, हवम् = पुकार।

हि०अ० - चूँकि, हे सुन्दरी (उषा), जब तुम प्रकाशित होती हो, सम्पूर्ण प्राणियों का प्राण तथा जीवन तुम्हारे में रहता है, (अतः) हे प्रकाशवाली, वह (तुम) बड़े रथ से हमारी तरफ (आती हुई), हे विचित्र धन वाली, हमारी पुकार को सुनो।

व्याकरण :

प्राणनम् - प्र+अन् चेष्टायाम्+ल्युट् (अन)=प्राणन। 'न' को 'ण' होकर प्राणन।

त्वे - 'सुपां सुलुक्' सूत्र से सप्तमी विभक्ति में शे आदेश।

विभावरी - 'विशिष्टा भा यस्याः' अर्थ में 'छन्दसीवनिपौ' सूत्र के वनिप् प्रत्यय।

वि+भा+वनिप् = विभावन्। स्त्रीलिङ्ग में 'वनो र च' सूत्र से डीप् प्रत्यय



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

तथा 'न' को रेफ आदेश = विभावरी।

**श्रुधि** — श्रू धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एक वचन। 'प्रुशुणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि' सूत्र से 'हि' को 'धि' आदेश। 'बहुलं छन्दसि' से 'शुनुं' का लोप।

**चित्रामधे** — चित्रं मधं यस्याः सा। बहुव्रीहि समास। 'अन्येषामपि दृश्यते' सूत्र से वेद में दीर्घ।

**हवम्** — ह्वेञ् धातु से 'भावेऽनुपसर्गस्य' सूत्र से अप् प्रत्यय। ह्वे+अ। सम्प्रसारण, गुण और अव आदेश होकर हव।

**विशेष** — पीटर्सन ने 'प्राणनम्' शब्द का अर्थ प्राणवायु (breath) किया है। 'व्युच्छसि' का अर्थ 'प्रकट होती ही' है। सायण ने इसका अर्थ अन्धकारों को वर्जित करती हो, किया है। पीटर्सन ने 'चित्रमधे' का अर्थ किया है — giver of wonderful gifts।

**मण्डल — १**

**सूक्त-४८**

**मन्त्र-११**

**संहिता पाठ**

उषो वाजं हि वंस्व यश्चित्रो मानुषे जने।

तेना वह सुकृतो अध्वराँ उप ये त्वा गृणन्ति वहयः॥ ११॥

**पदपाठ —**

उषं। वाजंम्। हि। वंस्व। यः। चित्रः। मानुषे। जने॥ तेन। आ। वह। सुकृतः। अध्वरान्। उपं। ये। त्वा। गृणन्ति। वहयः॥११॥

**अन्वयः** — (हे) उषः, वाजं हि वंस्व, यः मानुषे जने चित्रः। ये सुकृतः वहयः त्वा गृणन्ति (तेषाम्) अध्वरान् उप आ वह।

**दयानन्द-भाष्य —**

(उषः) प्रभातवद्धहुगुणयुक्ते (वाजम्) ज्ञानमन्नं वा (हि) किल (वंस्व) सम्भज (यः) विद्वान् (चित्रः) अद्भुत शुभगुणकर्मस्वभावः (मानुषे) मनुष्ये (जने) विद्याधर्मादिभिर्गुणैः प्रसिद्धे (तेन) उक्तेन (आ) समन्तात् (वह) प्राप्नुहि (सुकृतः) शोभानानि कृतानि येन सः (अध्वरान्) अहिंसनीयान् गृहाश्रमव्यवहारान् (उप) उपगमे (ये) वक्ष्यमाणाः (त्वा) त्वाम् (गृणन्ति) स्तुवन्ति (वहयः) वोढारो विद्वांसो जितेन्द्रियाः सुशीला मनुष्याः॥११॥

**भावार्थ** — हे मनुष्या यथा सूर्य उषसं प्राप्य दिनं कृत्वा सर्वान्प्राणिनः सुखयति तथा स्वाः स्त्रियो भूषयेयुस्तान् दाराअप्यलंकुर्युरेवं परस्परं सुप्रीत्युपकाराभ्यां सदा सुखिनः स्युः॥

**हि०भावार्थ** — जो मनुष्य जैसे सूर्य उषा को प्राप्त होके दिन को कर सब को सुख देता है वैसे अपनी स्त्रियों को भूषित करते हैं उनको स्त्रीजन भी भूषित करती हैं इस प्रकार परस्पर प्रीति उपकार से सदा सुखी रहें।

**सायण-भाष्य —**

हे उषः वाजं हविर्लक्षणमन्नं हि श्रुतिषु प्रसिद्धं वंस्व याचस्व स्वीकुर्वित्यर्थः।



यः वाजः चित्रः चायनीयः मानुषे मनुष्ये जने जाते यजमाने वर्तते तं वाजमिति पूर्वत्रान्वयः । तेन कारणेन सुकृतः सुष्ठु कृतवतो यजमानान् अध्वरान् हिंसारहितान् यागान् उप आ वह प्रापय । ये यजमानाः वहयः यज्ञनिर्वाहकाः त्वा त्वां गृणन्ति स्तुवन्ति तान् सुकृत इति पूर्वेण संबन्धः । एतदुक्तं भवति । यजमानैः । प्रदत्तं हविः स्वीकृत्य पुनरपि तेषां यज्ञं संपादयेति । । वाजम् 'वज ब्रज गतौ' । कर्मणि घञ् । 'आजिब्रज्योश्च' (पा०सू० ७.३.६०) इत्यत्र चशब्दस्य अनुक्तसमुच्चयार्थत्वात् वाजो वाज्यमित्यत्रापि कुत्वाभाव इति वृत्तावुक्तत्वात् कुत्वाभावः । 'कर्षात्त्वतः' इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादित्वादाद्युदात्तत्वम् । वंस्व । 'वनु याचने' । अत्र याचनवाचिना धातुना तदुत्तरभावी स्वीकारो लक्ष्यते । 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य लुक् । अनुदात्तत्वात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः । 'हिं च' इति निघातप्रतिषेधः । सुकृतः । 'सुकर्मपाप' इत्यादिना करोतेः भूतार्थे क्विप् । तुगागमः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् । अध्वरान् । ध्वरो हिंसा नारुत्यस्मिन्निति बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । अध्वरान् इत्यस्य ईप्सिततमत्वात् 'कर्तुरीप्सिततमम्' (पा०सू० १.४.४९) इति कर्मसंज्ञा, सुकृत इत्यस्य तु 'अकथितं च' (पा०सू० १.४.५१) इति, 'नीवह्योर्हस्तेश्च' (पा०सू० १.४.५१) इति द्विकर्मकेषु वहतेः परिगणितत्वात् । अध्वरान् इत्यत्र नरकारस्य संहितायां 'दीर्घादटि' इति रुत्वम् । 'आतोऽटि नित्यम्' इति पूर्वस्य आकारस्य सानुनासिकता । गृणन्ति 'गृ शब्दे' । 'क्र्यादिभ्यः श्ना' । 'प्वादीनां ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वम् । 'श्नाभ्यस्तयोरातः' आकारलोपः । प्रत्ययस्वरः । यद्वृत्तयोगादनिघातः । ।

शब्दा० — उषः = हे उषा, वाजम् = हविरूप अन्न को, वस्व = स्वीकार करो, हि = प्रसिद्ध अर्थ का वाचक एक निपात, यः = जो, चित्रः = पूजनीय, मानुषे = मनुष्यों में, जने = यजमान में, तेन = उससे, आवह = लावो, सुकृतः = सुन्दर कार्य करने वाले, अध्वरान् = यज्ञों में, उप = समीप, ये = जो, त्वा = तुमको, गृणन्ति = प्रशंसा करते हैं, वहयः = यज्ञ कराने वाले ।

हि०अ० — हे उषा, इस हविरूप अन्न को, जो यजमान मनुष्यों में पूजनीय है, स्वीकार करो । उसके द्वारा सुन्दर कार्य करने वाले, यज्ञ करने वाले (दानियों) को जो तुम्हारी प्रशंसा करते हैं, यज्ञों में लावो ।

व्याकरण :

सुकृतः — सुष्ठु कुर्वन्ति अर्थ में सु+कृ+क्विप् का लोप तथा तुक् का आगम = सुकृत । द्वितीया विभक्ति का बहुवचन = सुकृतः । 'वह धातु' का द्विकर्मक धातुओं में पाठ होने से 'अकथितं च' सूत्र से कर्म संज्ञा होकर सुकृतः में द्वितीया विभक्ति हुई ।

अध्वरान् — ध्वरः न अस्ति अस्मिन् इति अध्वरः । बहुव्रीहि समास । अध्वर के ईप्सिततम होने से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई ।

विशेष — —वंस्व' पद को सायण ने 'वनु याचने' धातु से निष्पन्न मानकर इसका अर्थ



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

‘याचना करो’, किया है। पीटर्सन ने वन् to seek, to long for, to accept अर्थ मानकर ‘वंस्व’ का अर्थ किया है — प्रदान करो।

पीटर्सन के अनुसार वाजम् के अर्थ हैं — a deed of might or heroism, battle, competition, race; the prize of victory, dakshina। उसके अनुसार ‘वाजम् वंस्व’ का अर्थ है — Do give us gifts।

ग्रासमान ने ‘सुकृतः’ का अर्थ ‘देवता’ किया है। ‘वह्यः’ पद की निष्पत्ति वह to carry, to lead से हुई है तथा इसके अर्थ हैं — अग्नि, पुरोहित। इस प्रकार ‘आ वह सुकृतः अध्वरान् उप ये त्वा गृणन्ति वह्यः’ का अर्थ होगा — उनके यज्ञों में देवताओं को लाओ, जो पुरोहित तुम्हारी स्तुति करते हैं।

मण्डल — १

सूक्त-४८

मन्त्र-१२

संहिता पाठ

विश्वान्देवाँ आ वह सोमपीतयेऽन्तरिक्षादुषस्त्वम् ।  
सास्मासुधागोभदश्वावदुक्थ्यमुषो वाजं सुवीर्यम् ॥१२॥

पदपाठ —

विश्वान् । देवान् । आ । वह । सोमपीतये । अन्तरिक्षात् । उषः । त्वम् । सा । अस्मासु । धाः । गोऽमन्त । अश्ववत् । उक्थ्यम् । उषः । वाजम् । सुवीर्यम् ॥१२॥

अन्वयः — (हे) उषः, त्वं सोमपीतये विश्वान् देवान् अन्तरिक्षात् आ वह । (हे) उषः, सा (त्वम्) अस्मासु गोमद् अश्ववद् उक्थ्यं सुवीर्यं वाजं धाः ।

दयानन्द-भाष्य —

(विश्वान्) अखिलान् (देवान्) दिव्यगुणयुक्तान् पदार्थान् (आ) समन्तात् (वह) प्राप्नुहि (सोमपीतये) सोमानां पीतिः पानं यस्मिन् व्यवहारे तस्मै (अन्तरिक्षात्) उपरिष्ठात् (उषः) उषर्वदनुत्तमगुणे (त्वम्) (सा) (अस्मासु) मनुष्येषु (धाः) धेहि । अत्र लङर्थे लुङ्भावश्च । (गोमत्) प्रशस्ता गाव इन्द्रियाणि किरणाः पृथिव्यादयो वा विद्यन्ते यस्मिँस्तत् (अश्ववत्) बहवः प्रशस्ता वेगप्रदा अश्वा अग्न्यादयः सन्ति यस्मिँस्तत् । अत्र मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रिय० । अ० ६ । ३ । १३१ । इति दीर्घः । (उक्थ्यम्) उच्यते प्रशस्यते यत्तस्मै हितम् (उषः) उषर्वद्वितसंपादिके (वाजम्) विज्ञानमन्नं वा (सुवीर्यम्) शोभनानि वीर्याणि पराक्रमा यस्मात्तत् ॥१२॥

भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यथेयमुषाः स्वप्रादुर्भावेन शुद्धजलवायुप्रकाशादीन् प्रापय्य दोषान्नाशयित्वा सर्वमुत्तमपदार्थसमूहं प्रकटयन्ति तथोत्तमा स्त्री गृहकृत्येषु भवेत् ॥

हि०भावार्थ — इस मंत्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । जैसे यह उषा अपने प्रादुर्भाव में शुद्ध वायु जल आदि दिव्य गुणों को प्राप्त करा के दोषों का नाश कर सब उत्तम पदार्थसमूह को प्रकट करती है वैसे उत्तम स्त्री गृह कार्य में हो ॥



## उषस् सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-४८ )

सायण-भाष्य -

हे उषः! त्वं सोमपीतये सोमपानाय अन्तरिक्षात् अन्तरिक्षलोकात् विश्वान् सर्वान् देवान् आ वह अस्मदीयं देवयजनदेशं प्रापय । हे उषः सा तादृशी त्वं गोमत् गोमन्तं बहुभिर्गोभिर्युक्तं अश्वावत् अश्वैरुपेतम् उक्थ्यं प्रशस्यं सुवीर्यं शोभनवीर्योपेतं वाजम् अन्नम् अस्मासु धाः निधेहि स्थापयेत्यर्थः ।। धाः । दधाते: 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' इति प्रार्थनायां लुङ् । 'गतिस्था' इति सिचो लुक् 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' इति अङभावः । गोमत् । अश्वायत् । 'मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रिय' इति मतुपि दीर्घत्वम् । उभयत्र 'सुपां सुलुक्' इति विभक्तेर्लुक् । उक्थ्यम् । उक्थं स्तोत्रम् । तत्र भवमुक्थ्यम् 'भवे छन्दसि' इति यत् । 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्पयन्ते' इति 'यतोनाऽवः' इत्याद्युदात्तत्वाभावे 'तित्स्वरितम्' इति स्वरितत्वम् । उषः आमन्त्रिताद्युदात्तत्वम् । पादादित्वात् निघाताभावः । सुवीर्यम् । शोभनं वीर्यं यस्य । 'वीरवीर्यो च' इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ।।

शब्दा० - विश्वान् = सम्पूर्ण, देवान् = देवताओं को, आ वह = लावो, सोमपीतये = सोमपान करने के लिये, अन्तरिक्षात् = अन्तरिक्षलोक से, उषः = हे उषा, त्वम् = तुम, सा = वह, अस्मासु = हमको, धाः = धारण करावो, प्रदान करो, गोमत् = गायों से युक्त, अश्वावत् = अश्वों से युक्त, उक्थ्यम् = प्रशंसनीय, उषः = ओ उषा, वाजम् = धन, सुवीर्यम् = सुन्दर पराक्रम युक्त ।

हि०अ० - हे उषा! तुम सभी देवताओं को अन्तरिक्षादिलोकों से सोमपान करने के लिये (यहाँ) लावो । ऐसी तुम, हे उषा, पराक्रमयुक्त, प्रशंसनीय धन, जो गायों तथा अश्वों से युक्त है, हमको प्रदान करो ।

व्याकरण :

सोमपीति - सोमस्य पीतिः = सोमपीति ।

अश्वावत् - अश्वाः सन्ति अस्य' अर्थ में मतुप् प्रत्यय । अश्व+मत् । 'म' को 'द' आदेश = अश्ववत् । छान्दस दीर्घ = अश्वावत् ।

उक्थ्यम् - वच्+थ = उक्थ । 'उक्थे भवम्' अर्थ में यत् प्रत्यय = उक्थ्यम् ।

सुवीर्यम् - शोभनं वीर्यं यस्य तत् = सुवीर्यम् ।

विशेष - पीटर्सन ने 'वाजम्' का अर्थ उपहार (gift) किया है । उसके अनुसार 'वीर' शब्द का वेदों में प्रयोग वीर्यशाली पुत्र (valiant son) के अर्थ में हुआ है । अतः यहाँ 'सुवीर्यम्' का अर्थ wealth of valiant sons होना चाहिये ।

मण्डल - १

सूक्त-४८

मन्त्र-१३

संहिता पाठ

यस्या रुशन्तो अर्चयः प्रति भद्रा अदृक्षत् ।

स नो रयिं विश्ववारं सुपेशंस मुषा ददातु सुगम्यम् ।।१३।।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

### पदपाठ -

यस्याः। रुशन्तः। अर्चयः। प्रति। भद्राः। अदृक्षत॥ सा। नः। रयिम्। विश्ववारम्। सुपेशसम्। उषाः। ददातु। सुगम्यम्॥१३॥

अन्वयः - यस्याः रुशन्तः भद्राः अर्चयः प्रति अदृक्षत सा उषाः नः विश्ववारं सुपेशसं सुगम्यं रयिं ददातु।

### दयानन्द-भाष्य -

(यस्याः) प्रकाशिकायाः (रुशन्तः) चोरदस्वन्धकारादीन् हिंसन्तः (अर्चयः) प्रकाशाः (प्रति) प्रत्यक्षार्थे (भद्राः) कल्याणकारकाः (अदृक्षत) दृश्यन्ते (सा) (नः) अस्मभ्यम् (रयिम्) चक्रवर्तिराज्यश्रियम् (विश्ववारम्) येन विश्वं सर्वं वृणोति तत् (सुपेशसम्) शोभनं पेशो रूपं यस्मात्तत् (उषाः) उषर्वत्सुरूपप्रदा (ददातु) (सुगम्यम्) सुखेषु भवमानन्दम्॥ सुगममितिसुखना० ३।६।१३॥

भावार्थ - अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा दिननिमित्तयोषसा विना! सुखेन कार्याणि न सिद्ध्यन्ति। स्वरूपप्राप्तिश्च तथा सत्स्त्रिया विनैतदखिलं न जायते॥१३॥

हि०भावार्थ - इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कारः है। जैसे दिन की निमित्त उषा के विना सुख वा राज्य के कार्य सिद्ध नहीं होते और सुरुप की प्राप्ति नहीं होती वैसे ही समीचीन स्त्री के बिना यह सब नहीं होता॥

### सायण-भाष्य -

यस्याः उषसः अर्चयः प्रकाशाः रुशन्तः शत्रून् हिंसन्तः भद्राः कल्याणाः प्रति अदृक्षत प्रतिदृश्यन्ते सा तथाभूता उषाः नः अस्मभ्यं रयिं ददातु। कीदृशं रयिम्। विश्ववारं विश्वस्य वारकम्। यद्वा। विश्वैर्वरणीयम्। सुपेशसम् पेश इति रूपनाम। शोभनरूपोपेतं सुगम्यं सुष्ठु गन्तव्यम्। यद्वा। सुगम्यमिति मुखनाम। तद्धेतुत्वात् ताच्छब्दम्॥ रुशन्तः। 'रुश रिश हिंसायाम्'। शतरि तुदादित्वात् शः। अदुपदेशात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वे सति शिष्टत्वात् विकरणस्वरे प्राप्ते व्युत्ययेनाद्युदात्तत्वम्। अदृक्षत। दृशेः कर्मणि लुङि ह्रस्व अदादेशः। च्लेः सिच्। 'न दृशः' (पा०सू० ३.१.४७) इति क्सप्रतिषेधः। 'एकाचः' इति इट्प्रतिषेधः। 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' (पा०सू० १.२.११) इति सिचः कित्त्वात् लघूपधगुणाभावः। 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' (पा०सू० ६.१.२८) इति अमागमाभावश्च कित्त्वादेशः। षत्वकत्वषत्वानि। अडागम उदात्तः। यद्वृत्तयोगादनिघातः। विश्ववारम्। विश्वं वृणोतीति विश्ववारः। 'वृज् वरणे'। कर्मणि अण्। यद्वा। विश्वैर्व्रियते इति विश्ववारः। कर्मणि घञ्। मरुद्वृधादित्वात् पूर्वपदान्तोदात्तत्वम्। सुगम्यम्। सुष्ठु गन्तव्यः सुगमः। गमेः 'घञर्थे कविधानम्' इति कप्रत्ययः। 'गमहन' इत्यादिना उपधालोपः। तत्र भवं सुगम्यम् 'भवे छन्दसि' इति यत्। 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वम्॥

शब्दा० - यस्याः = जिसकी, रुशन्तः = चमकती हुई, अर्चयः = किरणें, प्रति = सम्मुख, भद्राः = कल्याणकारी, अदृक्षत् = दिखाई पड़ती हैं, सा = वह, नः = हम लोगों को,



## उषस् सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-४८ )

रयिम् = धन, विश्ववारम् = बहुतों के द्वारा अभिलषित, सुपेशसम् = सुन्दर रूपवाला, उषाः = उषा, ददातु = देवे, सुगम्यम् = सरलता से प्राप्त होने योग्य।

हि०अ० — जिसकी चमकती हुई कल्याणकारी किरणें हम लोगों के सम्मुख दिखाई पड़ती हैं, वह उषा बहुतों के द्वारा अभिलषित, सुन्दर रूपवाला सरलता से प्राप्त होने योग्य धन हम लोगों को प्रदान करे।

व्याकरण :

रुशन्तः — रुश्+शत् = रुशत्। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन = रुशन्तः।

विश्ववारम् — 'विश्वं वृणोति' अर्थ में विश्व+वृ+अण् = विश्ववार। अथवा 'विश्वैः त्रियते' अर्थ में विश्व+वृ+घञ्=विश्ववार। विश्वाः वाराः यत्र तत्=विश्ववारम्।

सुपेशसम् — शोभनं पेशः यस्य तत्।

सुगम्यम् — 'सुष्ठु गन्तव्यः' अर्थ में सु+गम्+क = सुगम्। तत्र भवम्; यत् प्रत्यय = सुगम्यम्।

विशेष — सायण ने 'रुशन्तः' पद की निष्पत्ति 'रुश् हिंसायाम्' से मानकर इसका अर्थ किया है — शत्रुओं को मारती हुई। पीटर्सन ने 'रुशन्' का अर्थ चमकती हुई किया है।

मण्डल — १

सूक्त-४८

मन्त्र-१४

संहिता पाठ

ये चिद्धि त्वामृषयः पूर्वं ऊतये जुहूरे ऽवसे महि।

सा नः स्तोमाँअभि गृणीहि राधसा उषः शुक्रेण शोचिषा ॥१४॥

पदपाठ —

ये। चिद्। हि। त्वाम्। ऋषयः। पूर्वं। ऊतये। जुहूरे। अवसे। महि॥ सा। नः। स्तोमान्। अभि। गृणीहि। राधसा। उषः। शुक्रेण। शोचिषा॥१४॥

अन्वयः — (हे) महि, ये चित् हि पूर्व ऋषयः अतये अवसे त्वां जुहूरे, (हे) उषः, सा (त्वम्) शुक्रेण शोचिषा राधसा नः स्तोमान् अभि गृणीहि।

दयानन्द-भाष्य —

(ये) वक्ष्यमाणाः (चित्) अपि (हि) खलु (त्वाम्)(ऋषयः) वेदार्थविदो विद्वांसः (पूर्वं) येऽधीतवन्तः (ऊतये) अतिशयेन गुणप्राप्तये (जुहूरे) शब्दयन्ति (अवसे) रक्षणादिप्रयोजनाय (महि) महागुणविशिष्टान् (सा)(नः) अस्माकम् (स्तोमान्) स्तुतिसमूहान् (अभि) आभिमुख्ये (गृणीहि) स्तुहि (राधसा) परमेण धनेन (उषः) उषर्वत्स्तोतुं योग्ये (शुक्रेण) शुद्धेन कर्महेतुना (शोचिषा) प्रकाशेन ॥१४॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः। मनुष्यैर्येऽधीतवेदास्ते पूर्वं येऽधीयते तेऽर्वाचीना ऋषयो वेद्याः, यथा विद्वांसो यान् पदार्थान् विदित्वोपकुर्वन्ति तथैवान्यैरपि कर्तव्यम्। नैव केनापि मूर्खाणामनुकरणं कार्यम्। यथा विद्वांसः स्वविद्यया पदार्थगुणान्प्रकाशयन् विद्योपकारौ जनयेयुः।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

यथेयमुषा सर्वान् पदार्थान् संद्योत्य सुखानि जनयति तथाऽखिलविद्याः स्त्रियो विश्व-  
मलङ्कुर्वन्तु ।।१४।।

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। मनुष्यों को योग्य है कि जिन्होंने वेदों को अध्ययन किया वे पूर्व ऋषि और जो वेदों को पढ़ते हों उनको नवीन ऋषि जानें, और जैसे विद्वान् लोग जिन पदार्थों को जान कर उपकार लेते हों वैसे अन्य पुरुषों को भी करना चाहिये किसी मनुष्य को मूर्खों की चालचलन पर न चलना चाहिये और जैसे विद्वान् लोग अपनी विद्या के पदार्थों के गुणों को प्रकाश कर उपकार करते हैं जैसे यह उषा अपने प्रकाश से सब पदार्थों को प्रकाशित करती है वैसे ही विद्वान् स्त्रियां विश्व को सुभूषित कर देती हैं ।।१४।।

### सायण-भाष्य —

हे महि महिते पूजनीये वा उषोदेवते त्वां ये चिद्धि ये खलु प्रसिद्धाः पूर्वे चिरंतनाः ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः ऊतये रक्षणाय । अव इति अन्ननाम । अवसे अन्नाय च जुहूरे जुह्विरे आहूतवन्तः सूक्तरूपैर्मन्त्रैः स्तुतवन्त इत्यर्थः । हे उषः सा तादृशी त्वं राधसा अस्माभिर्दत्तेन हविलक्षणेन धनेन शुक्रेण शोचिषा दीप्तेन तमो निवारयितुं समर्थेन तेजसा चोपलक्षिता सती तेषामृषीणामिव नः अस्माकं स्तोमान् अभि स्तुतीरभिलक्ष्य गृणीहि सम्यक् स्तुतमिति शब्दय । अस्मदीयाभिः स्तुतिभिः संतुष्टा भवेत्यर्थः ।। ऊतये । अवतेः क्तिनि 'ज्वरत्वर' इत्यादिना वकारस्य उपधायाश्च ऊट् । 'ऊतियूति' इत्यादिना क्तिन् उदात्तो निपातितः । जुहूरे । 'ह्वेज्' स्पर्धायां शब्दे च । लिटि 'अभ्यस्तस्य च' इति द्विर्वचनात् पूर्वमेव अभ्यस्तकारणभूतस्य ह्वयतेः संप्रसारणम् । 'अभ्यस्तस्य यो ह्वयतिः कश्चाभ्यस्तस्य ह्वयतिः यस्तस्य कारणम्' (का० ६.१.३३) इति व्याख्यातत्वात् । परपूर्वत्वे 'हलः' इति दीर्घत्वम् । द्विर्वचनादीनि । 'इरयो रे' इति इरेचो रेआदेशः । 'चितः' इत्यन्तोदात्तत्वम् । यद्वृत्तयोगादनिघातः । तत्र हि पञ्चमी निर्देशेऽपि व्यवहितेऽपि कार्यं भवतीत्युक्तम् (का० ८.१.६६) । महि । 'मह पूजायाम्' औणादिकः इप्रत्ययः । 'कृदिकारादक्तिनः' इति डीष् । संबुद्धौ 'अम्बार्थ' (पा०सू० ७.३.१०७) इति ह्रस्वत्वम् । स्तोमान् । संहितायां नकारस्य रुत्वाद्युक्तम् । नित्वादाद्युदात्तत्वम् । गृणीहि । 'गृ शब्दे' । क्रैयादिकः । शिति 'प्वादीनां ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वम् । राधसा । राधनोत्यनेनेति राधः । असुनो नित्वादाद्युदात्तत्वम् । उषः । पादादित्वात् आष्टमिकनिघाताभावे षाष्टिकमामन्त्रिताद्युदात्तत्वम् ।।

शब्दा० — ये = जो, चित् = निश्चित अर्थ का वाचक एक निपात, हि = प्रसिद्ध अर्थ का वाचक एक निपात, त्वाम् = तुमको, ऋषयः = ऋषियों ने, पूर्वे = पहिले के, ऊतये = रक्षा के लिये, जुहूरे = बुलाया था, अवसे = अन्न के लिये, महि = हे महान्, सा = वह (तुम), नः = हमारे, स्तोमान् = स्तोत्रों को, अभिगृणीहि = सम्मानित करो, राधसा = धन से, उषः = हे उषा, शुक्रेण = दीप्त, चमकने वाले, शोचिषा = प्रकाश से ।

हि०अ० — हे महती (उषा), पहिले के वे सभी महान् ऋषि थे, जिन्होंने सहायता के लिये



## उषस् सूक्त (मण्डल-१, सूक्त-४८)

तथा अन्न के लिये तुमको बुलाया था। हे उषा, ऐसी तुम, हमारे स्तोत्रों को धन से तथा दीप्त प्रकाश से सम्मानित करो।

व्याकरण :

ऊतये — 'अव रक्षणे' धातु से क्तिन् प्रत्यय। अव्+ति। ज्वरत्वर° इत्यादि सूत्र से व और उपधा को ऊट् आदेश=ऊति। चतुर्थी विभक्ति का एकवचन= ऊतये।

महि — 'मह पूजायाम्' धातु से औणादिक इ प्रत्यय = महि।

शुक्रेण — 'शुचि दीप्तौ' धातु से 'र' प्रत्यय = शुक्र।

विशेष — पीटर्सन ने 'ऊतये' और 'अवसे' दोनों शब्दों की निष्पत्ति 'अव to protect or to aid' से मानकर दोनों शब्दों को समानार्थक माना है तथा इनका अर्थ किया है — for aid and protection। उनके अनुसार 'राधसा' पद का अर्थ है — with wealth.

मण्डल — १

सूक्त-४८

मन्त्र-१५

संहिता पाठ

उषो यदद्य भानुना वि द्वारावृणवो दिवः।

प्र नो यच्छतादवृकं पृथु छर्दिः प्र देवि गोमंतीरिषः॥१५॥

पदपाठ —

उषः। यत्। अद्य। भानुना। वि। द्वारौ। ऋणवः। दिवः॥ प्र। नः। यच्छतात्। अवृकम्। पृथु। छर्दिः। प्र। देवि। गोमंतीः। इषः॥१५॥

अन्वयः — (हे) उषः, (त्वम्) अद्य यत् मानुना दिवः द्वारौ वि ऋणवः, (हे) देवि, अवृकं पृथु छर्दिः, गोमतीः इषः नः प्र यच्छतात्।

दयानन्द-भाष्य —

(उषः) उषर्वत्प्रकाशिके (यत्) या (अद्य) अस्मिन् दिने (भानुना) सदर्थप्रकाशकत्वेन (वि) विशेषार्थे (द्वारौ) गृहादीन्द्रिययोः प्रवेशनिर्गमनिमित्तौ (ऋणवः) ऋणुहि (दिवः) द्योतमानान् गुणान् (प्र) प्रकृष्टार्थे (नः) अस्मभ्यम् (यच्छतात्) देहि (अवृकम्) हिंसकप्राणिरहितम् (पृथु) सर्वर्तुस्थानाऽवकाशयोगेन विशालम् (छर्दिः) शुद्धाच्छादनादिना संदीप्यमानं गृहम्। छर्दिरिति गृहना०। निघं० ३।४ (प्र) प्रत्यक्षार्थे (देवि) दिव्यगुणे (गोमतीः) प्रशस्ताः स्वराज्ययुक्ता गावः किरणा विद्यन्ते यासु ताः (इषः) इच्छाः॥१५॥

भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथोषाः स्वप्रकाशेन पूर्वस्मिन्नागामिनि दिवसे सर्वान्मार्गान् द्वाराणि च प्रकाशयति तथा मनुष्यैः सर्वर्तुसुखप्रदानि गृहाणि रचयित्वा तत्र सर्वान्भोग्यान्पदार्थान्संस्थाप्यैतत्सर्वं कृत्वा प्रतिदिनं सुखयितव्यम्॥१५॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जैसे उषा अपने प्रकाश से अतीत वर्तमान और आने वाले दिनों में सब मार्ग और द्वारों को प्रकाशमान करती है वैसे ही



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

मनुष्यों को चाहिये कि सब ऋतुओं में सुख देने वाले घरों के रच उनमें सब भोग्य पदार्थों को स्थापन और वह सब स्त्री के आधीन कर प्रतिदिन सुखी रहे ॥१५॥

### सायण-भाष्य -

हे उषः! त्वम् अद्य अस्मिन्, प्रभातसमये यत् यस्मात् भानुना प्रकाशेन दिवः अन्तरिक्षस्य द्वारौ द्वारभूतौ पूर्वापरदिग्भागावन्धकारेणाच्छादितौ वि ऋणवः विश्लिष्य प्राप्नोषि, तस्मात् त्वं नः अस्मभ्यं छर्दिः तेजस्वि गृहं प्र यच्छतात् देहि। कीदृशं छर्दिः। अवृकं हिंसकरहितं पृथु विस्तीर्णम्। अपि च हे देवि देवनशीले गोमतीः बहुभिर्गोभिर्युक्ताः इषः अन्नानि। प्र इत्युपसर्गस्य आवृत्तेः यच्छतात् इत्यनुषज्यते। प्रयच्छतात् देहि। त्वदागमनस्यास्मद्रक्षणार्थत्वादस्मदभीष्टं गृहादिकं प्रयच्छेत्यर्थः। छर्दिः इति गृहनाम, 'छर्दिः छदिः' (नि० ३.४.१८) इति तन्नामसु पाठात्। ऋणवः। 'ऋणु गतौ'। छान्दसे लङि सिपि तनादित्वात्। उप्रत्ययः। ततो व्यत्ययेन शपि गुणावादेशौ। शपः पित्त्वादनुदात्तत्वे उप्रत्ययस्वरः शिष्यते। यद्वृत्तयोगादनिघातः दिवः। 'ऊडिदम्' इत्यादिनो विभक्तेरुदात्तत्वम्। प्र नः। 'उपसर्गाद्वहुलम्' इति बहुलवचनात् नसो णत्वाभावः। यच्छतात्। 'दाण् दाने'। शपि 'पाघ्रा' इत्यादिना यच्छादेशः। अवृकम्। नास्ति वृकोऽस्मिन्निति बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। पृथु। 'प्रथ प्रख्याने'। 'प्रथिभ्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च' (उ०सू० १.२८) इति कुप्रत्ययः सम्प्रसारणं च। छर्दिः इतिगृहनाम। 'उच्छदिर् दीप्तिदेवनयोः'। अर्चिशुचिहुसृपिच्छादिच्छर्दिभ्य इसिः' (उ०सू० २.२६५) इति इसिप्रत्ययः। लधूपधगुणः। प्रत्ययस्वरः॥

शब्दा० -उषः = हे उषा, यत् = जब, अद्य = आज, भानुना = प्रकाश से, द्वारौ = दोनों फाटकों को, वि ऋणवः = खोला है, दिवः = आकाश के, प्र = विशेष रूप से, नः = हमको, यच्छतात् = प्रदान करो, अवृकम् = भय रहित, पृथु = विस्तृत, छर्दिः = सुरक्षित स्थान, प्र = (प्रदान करो), देवि = ओ देवी, गोमतीः = दूध से युक्त, इषः = अन्न।  
हि०अ० - हे उषा, आज, जब तुमने प्रकाश से आकाश के दोनों फाटकों को खोला है, हमें भयरहित, विस्तृत स्थान तथा हे देवी, दूध से युक्त अन्न प्रदान करो।

### व्याकरण :

ऋणवः—'ऋण गतौ' धातु लङ् लकार। सिप् प्रत्यय। वैदिक अडागम का भाव। तनादि 'उ' प्रत्यय और शप् का आगम। ऋण्+उ+अ+स्। गुण, अवादेश और विसर्ग होकर = ऋणवः।

अवृकम्—न अस्ति वृकः अस्मिन् = अवृक। बहुव्रीहि समास।

पृथु —'प्रथ प्रख्याने' धातु से 'प्रथिभ्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च' सूत्र से 'कु' प्रत्यय और सम्प्रसारण = पृथु।

छविः —'उच्छदिर् दीप्तिदेवनयोः' धातु से उणादि इसि प्रत्यय। छृद्+इस्। स्वधा को गुण = छर्दिस्।



विशेष — 'वृक्' शब्द 'व्रश्च्' धातु से बना है और इसका अर्थ है — who tears to pieces, a wolf, a rapacious man.

मण्डल — १

सूक्त-४८

मन्त्र-१६

संहिता पाठ

सं नो राया बृहताविश्वपेशसा मिमिक्ष्वा समिळाभिरा ।

सं द्युम्नेन विश्वतुरोषो महि सं वाजैर्वाजिनीवति ॥१६॥

पदपाठ —

सम् । नः । राया । बृहता । विश्वपेशसा । मिमिक्ष्व । सम् । इळाभिः । आ ॥ सम् । द्युम्नेन । विश्वतुरा । उषः । महि । सम् । वाजैः । वाजिनीवति ॥१६॥

अन्वयः — (हे) महि उषः, नः बृहता विश्वपेशसा राया सं मिमिक्ष्व, इळाभिः आ सम् (मिमिक्ष्व), विश्वतुरा द्युम्नेन सम् (मिमिक्ष्व), (हे) वाजिनीवति, वाजैः सम् (मिमिक्ष्व) ।

दयानन्द-भाष्य —

(सम्) सम्यगर्थे (नः) अस्मभ्यम् (राया) प्रशस्तधनेन (बृहता) महता (विश्वपेशसा) विश्वानि सर्वाणि पेशांसि रूपाणि यस्मात्तेन (मिमिक्ष्व) मेढुमिच्छ । अत्र अन्येषामपि० इति दीर्घः । (सम्) एकीभावे (इळाभिः) भूमिवाणीनीतिभिः । इडेति पृथिवीना० । निघं० १।१ । वाङ्ना० निघं० १।११ । पदना० । निघं० ५।५ । अनेन प्राप्तुं योग्या नीतिगृह्यते । (आ) समन्तात् (सम्) श्रेष्ठ्यर्थे (द्युम्नेन) विद्याधर्मादिगुणप्रकाशवता (विश्वतुरा) यद्विश्वं सर्वं तुरति त्वरयति तेन (उषः) उषर्वत् सर्वरूप प्रकाशिके (महि) पूजनीये (सम्) सम्यक् (वाजैः) युद्धैरन्नैर्विज्ञानैर्वा (वाजिनीवति) प्रशस्ता वाजनी क्रिया विद्यते यस्यास्तत्सम्बुद्धौ ॥१६॥

भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । विदुषां शिक्षयोषर्गुणज्ञानेन सुहितैर्मनुष्यैर्भूत्वाऽनेन पुरुषार्थसिद्धेः सर्वाणि सुखनिमित्तानि वस्तूनि जायन्ते तथा मातृशिक्षयैवाऽपत्यान्युत्तमानि भवन्ति नान्यथा ॥१६॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कारः है । जैसे विद्वानों की विद्या शिक्षा से उषा के गुण का ज्ञान हो के उस से पुरुषार्थसिद्धि फिर उसे से सब सुखों की निमित्त विद्या प्राप्त होती है वैसे ही माता की शिक्षा से पुत्र उत्तम होते हैं और प्रकार से नहीं ॥१६॥

सायण-भाष्य —

हे उषः नः अस्मान् राया धनेन सं मिमिक्ष्व संसिञ्च संयोजयेत्यर्थः । कीदृशेन धनेन । बृहता प्रभूतेन विश्वपेशसा । पेश इति रूपनाम । बहुविधरूपयुक्तेन । तथा इळाभिः आ गोभिश्च अस्मान् सं मिमिक्ष्व । इळा इति गोनाम । 'इळा जगती' (नि० २.११.७) इति



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

तन्नामसु पाठात्। आकारः समुच्चये पदान्ते वर्तमानत्वात्। उक्तं च — 'एतस्मिन्नेवार्थे देवेभ्यश्च पितृभ्य एत्याकारः' (निरु० १.४) इति। किंच हे महि महनीये उषोदेवते द्युम्नेन यशसा सं मिमिक्ष्व। 'द्युम्नं द्योततेर्यशो वान्नं वा' (निरु० ५.५) इति यास्कः। कीदृशेन द्युम्नेन। विश्वतुरा सर्वेषां शत्रूणां हिंसकेन। तथा हे वाजिनीवति अन्नसाधनभूतक्रियायुक्ते वाजैः अन्नैः अस्मान् सं मिमिक्ष्व। 'अन्नं वै वाजः' (श०ब्रा० ९.३.४.१) इति श्रुत्यन्तरात्।। राया। 'ऊडिदम्' इत्यादिना विभक्तेरुदात्तत्वम्। 'बृहन्महतोरुपसंख्यानम्' इति विभक्तिरुदात्ता। विश्वपेशसा। विश्वानि पेशांसि यस्यासौ विश्वपेशाः। 'बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्' इति व्यत्ययेन असंज्ञायामपि पूर्वदान्तोदात्तत्वम्। यद्वा। मरुद्वृधादिर्द्रष्टव्यः मिमिक्ष्व। 'मिहसेचने'। व्यत्ययेन आत्मनेपदम्। लोटि 'बहुलं छन्दसि' इति शपः श्लुः। द्विर्भावहलादिशेषौ। ढत्वकत्वषत्वानि। प्रत्ययस्वरस्य सतिशिष्टत्वात् स एव शिष्यते। पूर्वपदस्य असमान-वाक्यस्थत्वात् 'तिङ्ङितिङः' इति निघातो न भवति, समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः' इति वचनात्। विश्वतुरा। तूर्वतीति तूः। तुर्वी हिंसार्थः। 'क्विप् च' इति क्विप्। राल्लोपः इति वलोपः। विश्वेषां तूः विश्वतूः। 'समासस्य' इत्यन्तोदात्तत्वम् वाजिनीवति। वाजोऽन्नमस्या अस्तीति वाजिनी क्रिया। तादृशी क्रिया यस्याः सा तथोक्ता।।

शब्दा० — नः = हमें, राया = धन से, बृहता = प्रचुर, बड़े, विश्वपेशसा = विविध रूपवाले, संमिमिक्ष्व = संयुक्त करो, सम् = संयुक्त, इष्ठाभिः = वद्ध से, सम् = संयुक्त करो, द्युम्नेन = यश से, विश्वतुरा = सबको जीतने वाले, उषः = हे उषा, महि = हे महान्, सम् = संयुक्त करो, वाजैः = अन्न से, वाजिनीवति = हे प्रचुर धनवाली।

हि०अ० — हे महती उषा, प्रचुर तथा विविध रूपवाले धन से, पुष्टिकारक अन्न से, सबको जीतने वाले यश से, तथा हे प्रचुर धनवाली, अन्न से हमें संयुक्त करो।

व्याकरण :

विश्वपेशसा — 'विश्वानि पेशांसि यस्य तेन। बहुव्रीहि समास।

मिमिक्ष्व — 'मिह सेचने' धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

विश्वतुरा — तुर्वति अर्थ में 'तुर्व' धातु से क्विप् प्रत्यय। क्विप् का सम्पूर्ण लोप और 'राल्लोपः' सूत्र से 'तुर्व' के व् का लोप= तुर। विश्वस्य तूः=विश्वतुर। तृतीया विभक्ति का एकवचन =विश्वतुरा।

वाजिनीवति — 'वाजः अस्याः अस्ति सा' अर्थ में इनि प्रत्यय। स्त्रीलिङ्ग वाजिनी। वाजिनी क्रिया यस्याः अस्ति सा वाजिनीवति।

विशेष — पीटर्सन 'इला' शब्द की व्याख्या करते हुये लिखते हैं — इला asacrificial offering and has been personified as a goddess and अग्नि is spoken of as her son in ऋ० ३.२९.३ and as her father in —६.३३.१६। बर्गेन का मन्तव्य है कि — इला represents (a liquid) offering as well as the prayer accompanying it। पीटर्सन ने 'वाजैः' का अर्थ The pairs of heroic deeds किया है।



## इन्द्र सूक्तम्

देवता—इन्द्रः

ऋषि—गौतम

छन्द—बृहती

मण्डल —१

सूक्त-८०

मन्त्र—१

संहिता पाठ

इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्मा चकार वर्धनम् ।

शविष्ठ वज्रन्नोजसा पृथिव्या निःशशा अहिम् । अर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥१॥

पदपाठ —

इत्था । हि । सोम । इत् । मदे । ब्रह्मा । चकार । वर्धनम् ॥ शविष्ठ । वज्रिन् । ओजसा । पृथिव्याः । निः । शशाः । अहिम् । अर्चन् । अनु । स्वराज्यम् ॥१॥

अन्वयः — हे शविष्ठ वज्रिन्! यथा सूर्योऽहिं यथा ब्रह्मोजसा पृथिव्या मदे सोमे स्वराज्यमन्वर्चन्नित्वा वर्धनं चकार तथा हि त्वं सर्वानन्यायाचारान्निः शशाः ॥

दयानन्द भाष्य —

(इत्था) अनेन हेतुना (हि) खलु (सोमे) ऐश्वर्यप्रापके (इत्) अपि (मदे) आनन्दकारके (ब्रह्मा) चतुर्वेदवित् (चकार) कुर्यात् (वर्धनम्) येन वर्धन्ति तत् (शविष्ठ) अतिशयेन बलवान् (वज्रिन्) शस्त्रास्त्रविद्यासंपन्न (ओजसा) पराक्रमेण (पृथिव्याः) विस्तृताया भूमेः (निः) नितराम् (शशाः) उत्प्लवस्व (अहिम्) सूर्यो मेघमिव (अर्चन्) पूजयन् (अनु) पश्चात् (स्वराज्यम्) स्वस्य राज्यम् ॥१॥

भावार्थ — मनुष्याश्चक्रवर्तिराज्यकरणस्य सामग्रीं विधाय पालनं कृत्वा विद्या सुखोन्नतिं कुर्युः ॥

हि०भावार्थ — मनुष्यों को चाहिये कि चक्रवर्तिराज्य की सामग्री इकट्ठी कर और उसकी रक्षा करके विद्या और सुख की निरन्तर वृद्धि करें ॥

सायण भाष्य —

हे वज्रिन्! शविष्ठ! इन्द्र! त्वमतिशयेन बलवान् वज्रधारी चासि । 'मदे सोमे' सोमपानानन्तरं हृष्टे प्रवृद्धे तृप्ते त्वयि ब्रह्मा स्रोता तथा वर्धनं चकार । त्वदर्थं तुष्टिप्रदं स्तुतिसमूहं प्रेरितवान् । इत्थमेव प्रकारेण वयमसि त्वदर्थं स्तुतिसमूहं सम्पादयामः । त्वमपि पृथिव्याः सशाद् अहिम् आगत्य हन्ताणि मेघं तं चावरकं वृत्रं निः शशाः । प्रभविष्णुना शासनेन निष्काशय । किं कुर्वन् । स्वराज्यं स्वस्य राजत्वं प्रकाशकत्वं प्रकटयन् अर्चन् दीपयन् । त्वमेव स्वामित्वे दीप्तोऽसीति प्रबोधयान् ।

हि०अ० — हे अतिशय बल श्रेष्ठ इन्द्र! आप वज्रधर हैं । आप सोमपान के अनन्तर उत्पन्न ओजस्वी मद के कारण आपको प्रसन्न, तृप्त तथा प्रबुद्ध देखकर उदात्त-स्तुति वचनों द्वारा स्रोता 'चकार वर्धनम्' अभिनन्दन और सम्बोधन करते हैं । इसी प्रकार हमारे स्तुति वचनों से प्रसन्न होकर आप 'अहिम्' हिंसक को 'पृथिव्याः' पृथ्वी का कंटक न बनने दें



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

और उसे दूर भगा दें। 'स्वराज्यम् अनु अर्चन' इस प्रकार अपने प्रदीप्त स्वामित्व को प्रकाशित करके स्वराज्य की प्रतिष्ठा को स्थापित कीजिये।

**व्याकरण** — शशाः — 'शशु अनुशिष्टौ' लङ्। 'बहुलं छन्दसि' शपः श्लुः स्वराज्यम् — स्वस्य राज्यम्।

**मण्डल—१****सूक्त—८०****मन्त्र—२****संहिता पाठ**

स त्वा॒मद॒द वृ॒षा म॒दः सोमः॑ श्ये॒नाभृ॑तः सु॒तः ।

येना॑ वृ॒त्रं नि॒रद्व॑योः जघ॑न्थ वज्रि॒न्नो ज॒सार्च॑न्ननु॑ स्व॒राज्य॑म् ॥२॥

**पदपाठ —**

सः। त्वा। अमदत्। वृषा। मंदः। सोमः। श्येन। आभृतः। सुतः। येन। वृत्रम्। निः। अतः। जघन्थ। वज्रिन्। ओजसा। अर्चन्। अनु। स्वराज्यम् ॥२॥

**अन्वयः** — हे वज्रिन येन वृषणा मदेन श्येनाभृतेन सुतेन सोमेन त्वमोजसा स्वराज्यमन्वर्चन् यथा सूर्योदयः पृथक् कृत्य वृत्रं जलं स्वीकुर्वन्तं मेघं निर्जघान तथा प्रजाभ्यः प्रथक्कृत्य प्रजासुखं स्वीकुर्वन्तं शत्रुं निर्जघन स वृषा मदः श्येनाभृतः सुतः सोमस्त्वामदत् ॥

**दयानन्द भाष्य**

(सः) (त्वा) त्वाम् (अमदत्) हर्षयेत् (वृषा) न्यायवर्षकः (मदः) आह्लादकारकः (सोमः) ऐश्वर्यप्रदः पदार्थसमूहः (श्येनाभृतः) यः श्येन इव विज्ञानादिगुणैः समन्ताद् भ्रियते सः (सुतः) संतापितः (येन) (वृत्रम्) जलं स्वीकुर्वन्तं प्रजासुखं स्वीकुर्वन्तं वा (निः) नितराम् (अदभ्यः) जलेभ्यः प्रजाभ्यो वा (जघन्थ) हन्ति (वज्रिन्) शस्त्रास्त्रविद्याभिज्ञ (ओजसा) पराक्रमेण (अर्चन्) सत्कुर्वन् (अनु) आनुकूल्ये (स्वराज्यम्) स्वकीयं राज्यम् ॥२॥

**भावार्थ** — अत्रलुप्तोपमालङ्कारः। पुरुषैर्यैः पदार्थैः कर्मभिश्च प्रजा प्रसन्ना स्यात्तै समुन्नेया शत्रून्निवार्य धर्मराज्यं नित्यं प्रशंसनीयम् ॥२॥

**हि०भावार्थ** — इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार है। मनुष्यों को चाहिये कि जिन पदार्थों और कामों से प्रजा प्रसन्न हो, उनसे प्रजा की उन्नति करें और शत्रुओं की निवृत्ति करके धर्मयुक्त राज्य की नित्य प्रशंसा करें ॥

**सायण भाष्य —**

हे इन्द्र! यः सोमः वृषा आनन्दवर्षणस्वभावः मद्य तृप्तिकरः सुतः निष्पादितः 'श्येनाभृतः' श्येनाकाररूपया गायत्र्याऽऽहृतः संभृतोऽस्ति। स त्वा त्वाम् अमदत् आनन्दं प्रापयत्। हे वज्रधारिन्! येन सोम मदेन त्वं वृत्रम् अद्वत्रः अन्तरिक्षजलात् 'निर्जघन्थ' निष्काश्य हतवानसि। अर्चन् अनु स्वराज्यं स्वमहिम्ना स्वराज्यस्य महिमानं ख्यापयन्। त्वमेव सम्राऽसीति विज्ञापयन्।

**हि०अ०** — हे इन्द्र! वह सोमरस आपको निरन्तर आनन्दित करता रहे जिसे कि श्येन



**इन्द्र सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-८० )**

(बाज पक्षी) रूप आकार वाली गायत्री ने आहरण किया था, जो 'वृषा' आनन्द वृष्टि करने वाला तथा 'मदः' तृप्तिकर है। जिस सोममद को प्राप्त करके आपने वृत्र को 'अद्वत्र' अन्तरिक्ष-जल से निष्कासन करके 'निर्जघन्थ' मार डाला। इस प्रकार आपने 'अर्चन्' अपने स्वराज्य की महिमा को विस्तृत तथा सुविख्यात किया।

**व्याकरण** — अमदत् — 'मदी हर्षे' णिचि। 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वे लङि 'छन्दस्युभयथा' शप आर्धधातु कते 'णेरनिटि' णि लोपः। अद्वत्रः — आप इत्यन्तरिक्षनाम। 'अपोभि' इति पकारस्य तत्वम्। नियम प्राप्तस्य इटः 'उपदेशोऽत्वतः' इति प्रतिषेधः। 'अभ्यासाच्च' इति हकारस्य घत्वम्।

मण्डल-१

सूक्त-८०

मन्त्र-३

संहिता पाठ

प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते।

इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्॥३॥

पदपाठ —

प्र। इहि। अभि। इहि। धृष्णुहि। न। ते। वज्रः। नि। यंसते। इन्द्र। नृम्णम्। हि। ते। शवः। हनः। वृत्रम्। जयाः। अपः। अर्चन्। अनु। स्वराज्यम्॥३॥

**अन्वयः** — हे इन्द्रः! यथा सूर्यस्य वज्रो वृत्रं हनोऽपो निर्यसते तथा ये ते शत्रवस्तान् हत्वा स्वराज्यमन्वर्चन् हि नृम्णं प्रेहि। शवोऽभीहि शरीरात्मवलेन धृष्णुहि जया एवं कुर्वतस्ते पराजयो न भविष्यति॥

दयानन्द भाष्य —

(प्र) प्रकृष्टार्थ (इहि) प्राप्नुहि (अभि) आभिमुख्ये (इहि) जानीहि (धृष्णुहि) (न) निषेधे (ते) तव (वज्रः) किरणसमूहः (निः) क्रियायोगे (यंसते) यच्छन्ति (इन्द्र) संभाध्यक्ष (नृम्णम्) धनम्। नृम्णमिति धनना०॥ निघं० २।१०॥ (हि) किल (ते) तव (शवः) बलम् (हनः) हन्याः (वृत्रम्) मेघम् (जयाः) (अपः) जलानि (अर्चन्) सत्कुर्वन् (अनु) आनुकूल्ये (स्वराज्यम्) स्वस्य राज्यम्॥३॥

**भावार्थ** — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। ये राजजना सूर्यवत्प्रकाशितकीर्तयः सन्ति ते राज्यैश्वर्यभोगिनो भवन्ति॥

**हि०भावार्थ** — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जो राजपुरुष सूर्यप्रकाश के तुल्य प्रसिद्ध कीर्तिवाले हैं, वे राज्य के ऐश्वर्य के भोगनेहारे होते हैं॥

सायण भाष्य —

हे इन्द्र न! 'न ते वज्रो नियंसते' न केनापि ते तव वज्रः नियंसते नियन्तुं शक्यते अतः प्रेहि अभीहि तांश्च अवरोधकान् धृष्णुहि विनाशय। हे इन्द्र! तव 'शवः' नृम्णम् मानवेभ्यो हितकारी बलं ते नामकं च। तव तेजोबलं निरीक्ष्य सर्वेभयान् नमन्ति। अतः वृत्रं



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

मेघं 'हनः' जहि अपश्च उदकानि च 'जयाः' वशे स्थापय । वृत्रं मेघं विनाश्य तत् उदकानि प्रापय । अर्चन् अनु स्वराज्यम् ।

हि०अ० — हे इन्द्र! आपका वज्र किसी भी अपघातक से अवरुद्ध नहीं हो सकता । इस कारण हन्तव्य शत्रुओं के प्रति प्रहार कीजिये और अभिभव करके उनका विनाश कीजिये । आपका 'शवः' बल 'नृम्णम्' मनुष्यों में नम्रता, अनुशासन और कल्याण का सम्पादन करने वाला है, इस कारण वृत्र (मेघ) का विनाश करके जल-शक्ति पर 'जयाः' अपना प्रभुत्व स्थापित कीजिये और अपने स्वराज्य की महिमा का जयघोष होने दीजिये ।

व्याकरण — यंसते — यमधातोः 'सिब्वहुलं' लेटि । इति सिप् । हनः — लोट् लङ् । जयाः जयते, लेटि आडागमः ।

मण्डल—१

सूक्त—८०

मन्त्र—४

संहिता पाठ

निरिन्द्र भूम्या अधि वृत्रं जघन्थ निर्दिवः ।

सृज मरुत्वतीरव जीवधन्या इमा अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥४॥

पदपाठ —

निः । इन्द्र । भूम्याः । अधि । वृत्रम् । जघन्थ । निः । दिवः । सृज । मरुत्वतीः । अव । जीवधन्याः । इमाः । अपः । अर्चन् । अनु । स्वराज्यम् ॥४॥

अन्वयः — हे इन्द्र त्वं यथा सूर्यो वृत्रं हत्वा भूम्या ऽधीमा जीवधन्या मरुत्वतीरपो निर्जघन्थ दिवोऽवसृजति तथा दुष्टाचारान् हत्वा धर्माचारं प्रचार्य स्वराज्यमन्वर्चन् राज्यं शाधि विविधं वस्तु सृज ॥

दयानन्द भाष्य —

(निः) नितराम् (इन्द्र) परमैश्वर्यप्रद (भूम्याः) पृथिव्याः । भूमिरिति पृथिवीना० ॥ निघं० ११ ॥ (अधि) उपरि (वृत्रम्) मेघम् (जघन्थ) हन्ति (निः) नित्यम् (दिवः) किरणान् (सृज) (मरुत्वतीः) मनुष्यादिप्रजासम्बन्धिनीः (अव) (जीवधन्याः) या जीवेषु धन्या धनाय हिताः (इमाः) प्रत्यक्षाः (अपः) जलानि (अर्चन्) सत्कुर्वन् (अनु) आनुकूल्ये (स्वराज्यम्) ॥४॥  
भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यो राज्यं कर्तुमिच्छेत् स विद्याधर्मविनयान् प्रचार्य स्वयं धार्मिको भूत्वा प्रजासु पितृवद्वर्तेत ॥४॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । जो राज्य करने की इच्छा करे, वह विद्या, धर्म और विशेषनीति का प्रचार करके आप धर्मात्मा होकर सब प्रजाओं में पिता के समान वर्ते ॥४॥

सायण भाष्य —

हे इन्द्र! भूम्या अधि पृथिव्या उपरि निवर्तमानं वृत्रं त्वं निर्जघन्थ निःशेषेण



## इन्द्र सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-८० )

हतवानसि । निर्देश्च द्युलोकादपि पलायमानं मेघं त्वं हतवानसि । अथानन्तरं चेमा जीवधन्याः प्राणिनां तर्पणां स्वभावाः 'मरुत्वतीः' मरुद्गण संश्लिष्टाः (अपः) जलानि 'अवसृज' अवसृष्टवानसि । एतावान् महिमा तवास्तीति स्वराजत्वं प्रकटय ।

**शब्दा० — भूम्याः —** पञ्चम्यनां पदम् । **जघन्थ —** हन् धातोः लिटि । 'अभ्यासाच्च' इति हकारस्य घत्वम् । **अधि —** उपरिभावे । **जीवधन्याः —** जीवाः प्राणिनः धन्याः प्रसन्ना याभिस्ताः ।

**हि०अ० —** हे इन्द्र! आपने भूमि के ऊपर तथा द्युलोक से भी घेर कर वृत्र= मेघ का विनाश किया और 'जीवधन्याः' प्राणियों को तृप्त करने वाली मरुद्गण से संश्लिष्ट जलधाराओं का सृजन किया । ऐसी और इतनी ख्याति से युक्त आपकी प्रशंसा है, इस प्रकार अपने विशाल व्यक्तित्व के तेज को प्रकट कीजिये ।

मण्डल-१

सूक्त-८०

मन्त्र-५

संहिता पाठ

इन्द्रो वृत्रस्य दोधतः सानुं वज्रेण हीळितः ।

अभिक्रम्यावजिघ्नतेऽपः सर्माय चोदयन्नर्चन्ननुं स्वराज्यम् ॥५॥

पदपाठ —

इन्द्रः । वृत्रस्य । दोधतः । सानुम् । वज्रेण । हीळितः । अभिऽक्रम्यं । अवं । जिघ्नते । अपः । सर्माय । चोदयन् । अर्चन् । अनुं । स्वराज्यम् ॥४॥

**अन्वयः —** हे विद्वन् यथेन्द्रः सूर्यो वज्रेण वृत्रस्याऽपोभिक्रम्य सानुं छिनत्ति तथा त्वं स्वराज्यमन्वर्चन् जिघ्नते सर्माय स्ववलं चोदयन् दोधतः शत्रोर्बलमभिक्रम्य सेनां छित्त्वा हीळितः सन् क्रोधमवसृज ॥

दयानन्द भाष्य —

(इन्द्रः) उक्तपूर्वः (वृत्रस्य) मेघस्य (दोधतः) क्रुद्धतः दोधतीति क्रुध्यतिकर्मा ॥

निघं० २।१२॥ (सानुम्) अङ्गानां संविभागम् (वज्रेण) तीव्रेण तेजसा (हीळितः) अनादृतः । अत्र वर्णव्यत्ययेनेकारः । (अभिक्रम्य) सर्वतल्लङ्घ्य (अव) (जिघ्नते) हन्त्रे (अपः) जलानि (सर्माय) गच्छते (चोदयन्) प्रेरयन् (अर्चन्) (अनु) (स्वराज्यम्) ॥

**भावार्थ —** अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । ये सूर्यवदविद्यां निवार्य विद्यां प्रकाशय दुष्टान्संताड्य धार्मिकान्सत्कुर्वन्ति ते विद्वत्सु सत्कृता जायन्ते ॥५॥

**हि०भावार्थ —** इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । जो सूर्य के समान अविद्यान्धकार को छुड़ा, विद्या का प्रकाश कर, दुष्टों को दण्ड और धर्मात्माओं का सत्कार करते हैं, वे विद्वानों में सत्कार को प्राप्त होते हैं ।

सायण भाष्य —

अयम् बलबुद्धिप्रकर्षयुक्तः स इन्द्रः हीळितः प्रकुपितः सन् दोधतः कम्पाकुलस्य



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

वृत्रस्य सानुम् उच्छ्रितं स्थानं वज्रेण अभिक्रम्य अवजिघ्रते अवहन्ति । किमर्थम्? अपः वृष्टिजलानि सर्माय सरणाय चोदयन् प्रेरयन् । स्वमहिमानं च चेतयन् ।

हि०अ० — बल और मेधाशक्ति की प्रकर्षता से प्रकाशमान इन्द्र प्रकुपित होकर कम्पाकुल मेघ के उच्च स्थान को अपने वज्र के प्रहार से छिन्न-भिन्न कर देता है । ऐसा किसलिए? इस हेतु कि अपः — वृष्टि की जल धारायें 'सर्माय' सरणशील होकर जगत् कल्याण के निमित्त प्रेरित हों । इस प्रकार अपने ओजस्वी तेज को प्रशस्त करता हुआ इन्द्र अपने साम्राज्य को प्रकट करता है और अपने ऐश्वर्य को ख्यापित करता है ।

व्याकरण — दोधतः — धूज् कम्पने, यङ् लुगन्तात् शतृ । हीळितः — हेळते इति क्रुध्यतिकर्मा । निष्ठा । वर्णव्यत्ययः जिघ्रते — हन्ते लटि । व्यत्ययेन आत्मनेपदं बहुवचनं च शपः श्लुः । 'गमहन०' इत्युपधालोपः । सर्माय — सृ गतौ भावे मन् प्रत्ययः ।

मण्डल—१

सूक्त—८०

मन्त्र—६

संहिता पाठ

अधि सानौ नि जिघ्नते वज्रेण शतपर्वणा ।

मन्दान इन्द्रो अन्धसः सखिभ्यो गातुमिच्छत्यर्चन्ननु

स्वराज्यम् ॥६॥

पदपाठ —

अधि । सानौ । नि । जिघ्नते । वज्रेण । शतपर्वणा । मन्दानः । इन्द्रः । अन्धसः । सखिभ्यः । गातुम् । इच्छति । अर्चन् । अनु । स्वराज्यम् ॥६॥

अन्वयः — हे राजन् यथेन्द्रो विद्युच्छतपर्वणा वज्रेण वृत्रस्य सानावधि प्रहरन्तीव प्रकाशं निजिघ्नते मेधाय प्रतिकूलो वर्तते तथैव गातुमिच्छति स भवान् सखिभ्यो मन्दानः स्वराज्य मन्वर्चन्नन्ध सो दाता भव ।

दयानन्द भाष्य —

(अधि) उपरिभावे (सानौ) अवयवे (नि) नितराम् (जिघ्नते) हन्त्रे (वज्रेण) (शतपर्वणा) शतान्यसंख्यातानि पर्वाण्यलं कर्माणि वा यस्मात्तेन (मन्दानः) कामयमानो हर्षयन् वा (इन्द्रः) दाता (अन्धसः) अन्नस्य (सखिभ्यः) मित्रेभ्यः (गातुम्) सुशिक्षितां वाणीम् (इच्छति) काङ्क्षति (अर्चन्) (अनु) (स्वराज्यम्) ॥६॥

भावार्थ — अत्र श्लेषलुप्तोपमालङ्कारः । यथा सर्वजगदुपकारी सूर्योऽस्ति तथैव सभाध्यक्षादयः सततं स्युः ॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में श्लेष (और) लुप्तोपमालङ्कार है । जैसे सब जगत् का उपकार करनेवाला सूर्य है, वैसे ही सभाध्यक्ष आदि को भी होना चाहिये ॥

सायण भाष्य —

शतपर्वणा वज्रेण अनेकधारायुक्तेन वज्रेण इन्द्रो वृत्रस्य मेघस्य सानौ प्रदेशे



उच्छिखते देशे निजिघ्रते निर्हन्ति । स च इन्द्रः मन्दानः मन्दमानः स्रूयमानः सन् सखिभ्यः समानाख्यानेभ्यः मित्रवत्प्रियेभ्यः स्रोतुभ्यः अन्धसः अन्नानां प्राप्त्यर्थं गातुं मार्गमुपायम् इच्छति । धनोपलब्ध्युपायान् निर्दिशति । एवं स्वस्य तेजोबलं विस्तारयन् ।

हि०अ० — अनेकों धारों वाले वज्र से इन्द्र वृत्र के उच्च स्थान पर आघात करता है । इस प्रकार अपने उन्नत गुणों तथा कर्मों के कारण मित्रवत् प्रसन्न स्तुतिकर्ताओं से स्तुति पाता हुआ वह प्रतापी इन्द्र मित्रों के लिए अन्न प्राप्ति के हेतु अनेकों उपायों का सृजन करता है । अपने राजत्व को प्रकट करता है ।

व्याकरण— मन्दानः — मदि स्तुतौ कर्मणि शानच् । 'छन्दस्युभयथा' इति शानच् आर्धधातुकत्वात् अकारयकारयोर्लोपः । अन्धसः — अन्ध इति अन्न नाम ।

मण्डल-१

सूक्त-८०

मन्त्र-७

संहिता पाठ

इन्द्र तुभ्यमिन्द्रिवोऽनुत्तं वज्रिन् वीर्यम् ।

यद्ध त्वं मायिनं मृगं तमु त्वं मायया वधीरर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥७॥

पदपाठ —

इन्द्रं । तुभ्यम् । इत् । अद्रिऽवः । अनुत्तम् । वज्रिन् । वीर्यम् । यत् । ह । त्यम् । मायिनम् । मृगम् । तम् । ऊम् । इति । त्वम् । मायया । अवधीः । अर्चन् । अनुं स्वराज्यम् ॥७॥

अन्वयः — हे अद्रिवो वज्रिन्निन्द्र! त्वं यत्त्वं मायिनं मृगं माययाहावधीर्दिवः सूर्यस्येवाऽनुत्तं वीर्यं गृहीत्वा स्वराज्यमन्वर्चस्तमु दण्डयसि तस्मै तुभ्यमिदेव वयं करान् ददाम ॥

दयानन्द भाष्य —

(इन्द्र) सुखस्य दातः (तुभ्यम्) (इत्) अपि (अद्रिवः) मेघवत् पर्वतयुक्त राज्यालङ्कृत (अनुत्तम्) अप्रेरितं स्वाभाविकम् (वज्रिन्) प्रशस्ता व्रजाः शस्त्रास्त्राणि यस्य तत्सम्बुद्धौ (वीर्यम्) पराक्रमः (यत्) यतः (ह) किल (त्यम्) एतम् (मायिनम्) छलादिदोषयुक्तम् (मृगम्) परस्वापहर्तारम् । मृगो मार्ष्टर्गतिकर्मणः ॥ निरु० १।२० ॥ (तम्) (उ) वितर्कं (त्वम्) (मायया) प्रज्ञया (अवधीः) हंसि (अर्चन्) (अनु) (स्वराज्यम्) ॥

भावार्थ — ये प्रजापालनाय सूर्यवत्स्वबलन्यायविद्याः प्रकाश्य कपटिनो जनान् निबध्नन्ति ते राज्यं वर्द्धयितुं करान् प्राप्तुं च शक्नुवन्ति ॥७॥

हि०भावार्थ — जो प्रजा की रक्षा के लिये सूर्य के समान शरीर और आत्मा तथा न्यायविद्याओं का प्रकाश करके कपटियों को दण्ड देते हैं, वे राज्य के बढ़ाने और करों को प्राप्त होने में समर्थ होते हैं ॥७॥

सायण भाष्य —

हे अद्रिवः अद्रिवन् मेघरूपवाहनोपेत । वज्रिन् वज्रधारिन्! तुभ्यं वीर्यं तव सामर्थ्यं किल अनुत्तम् शत्रुभिः अतिस्कृतम् षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । तं च मृगं मार्गणशीलं मायिनं



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

मायाप्रपञ्चेन वञ्चयितारं वृत्रं माययैव अवधीः हतवानसि । अर्चन् अनुस्वराज्यम् । स्वस्य राजत्वं प्रकटयन् ।

हि०अ० — हे मेघरूप वाहन वाले! वज्रिन्! वज्रहस्त इन्द्र! आपका अनुपम सामर्थ्य है, जिसे शत्रु तिरस्कृत नहीं कर सकते। आपने उस मार्गणशील मायावी वृत्र को अपनी अनन्त माया शक्ति से ही पराजित किया है। इस प्रकार वृत्र वध करके अपने ऐश्वर्य का आपने विस्तार किया है।

व्याकरण — अद्रिवः — अद्रिरिति मेघनाम् । तद्वान् इन्द्रः । तत्सम्बुद्धौ अ त्तम् — 'नसत्त निषत्त०' इति निपातनात् । निष्ठा । नत्वाभावः । अवधीः — हन् हिंसागत्योः — 'लुङि च' इति वधादेशः । अदन्तत्वात् तस्य अतो लोपे सति स्थानिवद्भावात् सिचि वृद्धयभावः ।

मण्डल-१

सूक्त-८०

मन्त्र-८

संहिता पाठ

वि ते वज्रासोऽअस्थिरन्नवतिं नाव्या ३ अंनु ।

महत्तं इन्द्र वीर्यं बाह्वोस्ते बलं हितमर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥८॥

पदपाठ —

वि । ते । वज्रासः । अस्थिरन् । नवतिम् । नाव्याः । अंनु । महत् । ते । इन्द्र । वीर्यम् । बाह्वोः । ते । बलम् । हितम् । अर्चन् । अंनु । स्वराज्यम् ॥८॥

अन्वयः — हे इन्द्र सभापते! ते वज्रासो नवतिं नाव्या अनु व्यस्थिरन् यत् ते बाह्वोर्महद्वीर्यं बलं हितमस्ति तेन स्वराज्यमन्वर्चन् राज्यश्रियं त्वं प्राप्नुहि ॥

दयानन्द भाष्य —

(वि) विशेषार्थे (ते) तव (वज्रासः) शस्त्रकलाः समूहाः (अस्थिरन्) तिष्ठन्ति (नवतिम्) एतत्संख्याकाः (नाव्याः) नौकाः (अनु) आनुकुल्ये (महत्) (ते) तव (इन्द्र) (वीर्यम्) (बाह्वोः) (ते) तव (बलम्) (हितम्) सुखकारि (अर्चन्) (अनु) (स्वराज्यम्) ॥८॥

भावार्थ — ये राज्यं वर्धयितुमिच्छेयुस्ते वृहतीरग्न्यश्वतरीनौका निर्ममीरस्ताभि- द्वीपान्तरं गत्वाऽऽगत्य व्यवहारलाभान्नुनीय स्वराज्यं धनधान्यैरलं कुर्युः ॥८॥

हि०भावार्थ — जो विद्वान् राज्य के बढ़ाने की इच्छा करें, वे बड़ी अग्नियन्त्र से चलाने योग्य नौकाओं को बनाकर द्वीप-द्वीपान्तरों में जा-आ के व्यवहार से धन आदि के लाभों को बढ़ा के अपने राज्य को धन-धान्य से सुभूषित करें ॥८॥

सायण भाष्य —

नाव्याः नावा तार्याः नवतिं नवति संख्याकाः वृत्रेण निरुद्धाः नदीः अनु अभिलक्ष्य तव वज्राः खल्वपि अनन्ता जाताः । सर्वत्र व्यापकत्वात् । सर्वत्र प्रगतिशीलं वृत्रं प्रति एकोऽपि वज्रोऽनन्त इव दृश्यते । हे इन्द्र! महत् ते वीर्यम् । तव सामर्थ्यं वर्णनातीतम् । बाह्वोस्ते बलं हितम् । तव बलिष्ठयोर्भुजयो महद् बलं निहितम् । त्वं स्वस्य राजत्वं प्रकटयन्



सर्वातिशसन राजसे ।

हि०अ० — सहस्रों नौकाओं से आच्छादित नदियों में नाना प्रकार से प्रपञ्च दिखाने वाले वृत्र को लक्षित करके आपके वज्र भी अनन्त हो गये । सर्वत्र प्रगतिशील वृत्र के प्रति एक ही वज्र अनेक रूपों में दिखायी देता था । हे इन्द्र! आपका सामर्थ्य महान् है और आपकी वज्र सदृश भुजाओं में अनन्त बल है । इस हेतु अपने स्वराज्य की अर्चना को विभुता दीजिये ।

व्याकरण — अस्थिरन् — स्था+लुङि । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् 'मंत्रै घस०' च्ले लृक् । 'स्थाध्वोरिच्च' इति इत्वम् । नाव्याः—नावा तार्यम् । यत् । वज्रासः—वज्राः, 'आज्जसेरसुक्' ।

मण्डल-१

सूक्त-८०

मन्त्र-९

संहिता पाठ

सहस्रं साकमर्चत परिष्टोभत विंशतिः ।

शतैनमन्वनोनवुरिन्द्राय ब्रह्मोद्यतमर्चन्नु स्वराज्यम् ॥९॥

पदपाठ —

सहस्रम् । साकम् । अर्चत । परि । स्तोभत । विंशतिः । शता । एनम् । अनु । अनोनवुः । इन्द्राय । ब्रह्म । उत्पद्यतम् । अर्चन् । अनु । स्वराज्यम् ॥९॥

अन्वयः — हे मनुष्या यूयं यः स्वराज्यं स्वकीयं राष्ट्रमर्चन्सत्कुर्वन्वर्त्तते तमाश्रित्य तद्धर्माचरणात्पृथक् परिष्टोभत साकं सहस्रमर्चत् यं विंशतिः शतान्यन्वनोनवुर्य उद्यतं ब्रह्मार्चन्वर्त्तते तस्मा इन्द्राय सभाध्यक्षायानु स्तुवत ॥

दयानन्द भाष्य —

(सहस्रम्) असंख्यातगुणसंपन्नम् (साकम्) परस्परं मिलित्वा (अर्चत) सत्कुरुत (परि) सर्वतः (स्तोभत) स्तम्भयत (विंशतिः) एतत्संख्याकानि (शता) शतानि सैन्यानि (एनम्) सभाध्यक्षम् (अनु) आनुकूल्ये (अनोनवुः) स्तुवत (इन्द्राय) उत्कृष्टैश्वर्याय (ब्रह्म) वेदं सुसंस्कृतमन्नं वा (उद्यतम्) उद्वृतम् (अर्चन्) (अनु) (स्वराज्यम्) ॥९॥

भावार्थ — न हि विरोधत्यागेन विना परस्परं सुखं भवति न हि मनुष्यैर्विद्योत्तम सुशिक्षारहितो निन्दितो मनुष्यः सभाध्यक्षः कार्यः ॥९॥

हि०भावार्थ — मनुष्यों को विरोध के बिना छोड़े परस्पर सुख कभी नहीं होता । मनुष्यों को उचित है कि विद्या तथा उत्तम सुख से रहित और निन्दित मनुष्य को सभाध्यक्ष आदि का अधिकार कभी न देवें ॥९॥

सायण भाष्य —

एनम् इन्द्रं सहस्रं साकम् अर्चत परः सहस्रैः पुरुषैः मिलिता अर्चत अर्चामकुर्वन्निति कुर्वन्ति च । विंशतिः ऋत्विजो यजमानः पत्नी सदस्याः मित्रादयश्च एनमेव इन्द्रम् अनोनवुः पुनः पुनः स्तुतिमधारयन् । शतां शतसंख्याका ऋषयश्चैनमेव



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

अभ्यनन्दन्। अस्मा एवेन्द्राय दातुं ब्रह्म अन्नं हविः स्तोत्रं च उद्यतम् अवधृतं दरीदृश्यते।  
अयमेवेन्द्रः स्वराजतां प्रकाशयति।

हि०अ० — सहस्रौ महापुरुषौ ने एक साथ जिस इन्द्र की अर्चना की और करते हैं। १६ (सोलह) ऋत्विज्, यजमान, पत्नी, सदस्य तथा शमिता = बीस जिस इन्द्र की सर्वदा स्तुति करते रहते हैं। 'शता' सैंकड़ों ऋषि मुनि जिस पराक्रमी इन्द्र की बारम्बार स्तुति-उपासना-अर्चना में लीन रहते हैं, उसी इन्द्र के लिये सदा ब्रह्म (स्तुति, अन्न, व्रत, हवि आदि) उद्यत तत्पर रहता है। यही एक ऐश्वर्यशाली इन्द्र सदैव अपने स्वराज्य की महिमा का प्रख्यापन करता रहता है।

व्याकरण — परिष्टोभत — स्तोभति स्तुतिकर्मा। 'उपसर्गात् सुनोति०' इति षत्वम्। अनोनवुः — 'णु स्तुतौ' अस्मात् यङ्लुगन्तात् लुङि। 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' इति झेः उस्। उद्यतम् उत्पूर्वात् 'यम उपरमे' कर्मणि निष्ठा।

मण्डल-१

सूक्त-८०

मन्त्र-१०

संहिता पाठ

इन्द्रो वृत्रस्य तविषीं निरहन्त्सहसा सहः।

महत्तदस्य पौंस्यं वृत्रं जघन्वाँ असृजदर्चन्ननु स्वराज्यम्॥१०॥

पदपाठ —

इन्द्रः। वृत्रस्यं। तविषीम्। निः। अहन्। सहसा। सहः। महत्। तत्। अस्य। पौंस्यम्।  
वृत्रम्। जघन्वान्। असृजत्। अर्चन्। अनुं। स्वराज्यम्॥१०॥

अन्वयः — य इन्द्रो वृत्रमिव शत्रुं जघन्वान् यः सहसा वृत्रस्य सूर्य इव शत्रोस्तविषीं निरहन स्वराज्यमन्वर्चन् सुखमसृजन्तदस्य महत्पौंस्यं सहोस्तीति विद्वान् विजानातु॥

दयानन्द भाष्य —

(इन्द्रः) विद्युदिव पराक्रमी सभाध्यक्षः (वृत्रस्य) मेघस्य वा शत्रोः (तविषीम्) बलम् (निः) नितराम् (अहन्) हन्यात् (सहसाः) बलेन (सहः) बलम् (महत्) (तत्) (अस्य) (पौंस्यम्) पुंसो भावः कर्म बलं वा। पौंस्यमिति बलना०॥ निघ० २।९॥ (वृत्रम्) (जघन्वान्) हतवान् (असृजत्) सृजति (अर्चन्) (अनु) (स्वराज्यम्)॥१०॥

भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा सूर्यो महता बलेन तेजसा सर्वमाकृष्य प्रकाशते तथैव सभाध्यक्षादिभिर्महता बलेन शुभगुणानाकृष्य न्यायप्रकाशेन राज्यमनुशासनीयम्॥१०॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जैसे सूर्य अत्यन्त बल और तेज से सबका आकर्षण और प्रकाश करता है, वैसे सभाध्यक्ष आदि को उचित है कि अपने अत्यन्त बल से शुभ गुणों के आकर्षण और न्याय के प्रकाश से राज्य की शिक्षा करें॥१०॥



सायण भाष्य —

अयम् साक्षात् शक्ति साहससम्पन्नः इन्द्रः वृत्रस्य तविषीं समस्त बलं निरहन् विनष्टं चकार। तस्य वृत्रस्य यदवरोधकं सहः आयुधं तदपि स्वकीयेन सहसा शक्ति सम्पन्नेनायुधेन जघन्वान् हतवान्। असृजत् वृत्रेण निरुद्धानि जलानि च नीचैरवागमयत्। अस्य इन्द्रस्य पौंस्यं बलम् महत् अतिप्रभूतं खलु। अर्चन् अनु स्वराज्यम्। एवं स्वस्थ राजत्वं प्रकटयन् असौ इन्द्रः चमत्कुरुते।

हि०अ० — शक्ति और साहस से महान् इन्द्र सदा सम्पन्न है। उसने वृत्र की 'तविषी' शक्ति-बल को 'निरहन्' क्षीण कर दिया और उसके 'सहः' आयुध को अपने 'सहसा' आयुध से निरर्थक बना दिया। इन्द्र ने अवरोधक वृत्र का विनाश कर दिया तथा अवरुद्ध जल 'असृजत्' का सृजन किया। इन्द्र का पौरुष महान् और अर्चनीय है। इस प्रकार इन्द्र ने अपने तेज और साहस को प्रकट करते हुए स्वराज्य की श्री को प्रकट किया।

व्याकरण— पौंस्यम् — 'पुंस अभिवर्धने'। 'अचोयत्' इति यत्। जघन्वान् हन्ते लिटः क्वसुः। 'विभाषा गम हन विद०, इति इटो विकल्पादभावः। 'अभ्यासाच्च' इति हकारस्य घत्वम्।

मण्डल-१

सूक्त-८०

मन्त्र-११

संहिता पाठ

इमे चित्तव मन्यवे वेपेते भियंसा मही।

यदिन्द्र वज्रिन्नोजंसा वृत्रं मरुत्वां अवधिरर्चन्ननु स्वराज्यम्॥११॥

पदपाठ —

इमे इति। चित्। तव। मन्यवे। वेपेते इति। भियंसा। मही इति। यत्। इन्द्र। वज्रिन्। ओजसा। वृत्रम्। मरुत्वां। अवधीः। अर्चन्। अनु। स्वराज्यम्॥११॥

अन्वयः — हे वज्रिन्निन्द्र सभाध्यक्ष यद्यस्य तवौजसा यथा सूर्यस्याकर्षणेन ताडनेन चेमे मही वेपेते तत्तुल्यस्य तव भियसा मन्यवे बलेन शत्रवोऽनुकम्पन्ते यथा मरुत्वानिन्द्रो वृत्रं हन्ति तथा स्वराज्यमन्वर्चन्नांश्चिदवधीः॥

दयानन्द भाष्य —

(इमे) वक्ष्यमाणे (चित्) अपि (तव) (मन्यवे) न्यायव्यवस्था पालनहेतवे (वेपेते) चलतः (भियसा) भयेन (मही) महत्यौ द्यावापृथिव्यौ (यत्) यस्य (इन्द्र) सभाध्यक्षराजन् (वज्रिन्) सुशिक्षितशस्त्रविद्यायुक्त (ओजसा) सेनाबलेन (वृत्रम्) मेघमिवारीन् (मरुत्वां) प्रशस्तवायुमान् (अवधीः) हिन्धि (अर्चन्) (अनु) (स्वराज्यम्)॥११॥

भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा सभाप्रबन्धेन प्रजाः सुखेन सन्मार्गेण गच्छन्त्यागच्छन्ति तथैव सूर्यस्याकर्षणेन सर्वे भूगोला गच्छन्त्यागच्छन्ति यथा सूर्यो मेघं हत्वा जलेन प्रजाः पालयति तथैव सभा सभाध्यक्षौ शत्र्वन्यायौ हत्वा विद्यान्यायप्रचारेण प्रजाः पालयेताम्॥११॥



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जैसे सभा प्रबन्ध के होने से सुखपूर्वक प्रजा के मनुष्य अच्छे मार्ग में चलते चलाते हैं, वैसे ही सूर्य के आकर्षण से सब भूगोल इधर-उधर चलते-फिरते हैं। जैसे सूर्य मेघ को वर्षा के सब प्रजा का पालन करता है, वैसे सभा और सभापति आदि को भी चाहिये कि शत्रु और अन्याय का नाश करके विद्या और न्याय के प्रचार से प्रजा का पालन करें। ॥११॥

सायण भाष्य —

हे इन्द्र! मरुत्वान् मरुद्भिः युक्त स्त्वं यदा ओजसा दृढेन बलेन वृत्रम् अवधीः तदा त्वदीयं रूपं निभाल्य इमे मही महत्यौ द्यावापृथिव्यावपि भियसा भयेन वेपैते कम्पेत। कम्पाकुले जाते। एवं स्वस्य राजत्वं प्रकटयन् इन्द्रो महान् राजते।

हि०अ० — हे इन्द्र! मरुद्गण से युक्त आपने जब वृत्र पर भयानक प्रहार किया तब आपके तेजस्वी स्वरूप को देखकर यह पृथ्वी और यह आकाश दोनों काँप गये। इस प्रकार अपने महान् साम्राज्य को प्रकट करके इन्द्र ने अपने ऐश्वर्य को प्रख्यापित किया।

अन्वय — वेपैते — 'दुवेपृ कम्पने'। भियसा — ग्निभीभये कसि प्रत्ययः।

मण्डल—१

सूक्त—८०

मन्त्र—१२

संहिता पाठ

न वेपसा न तन्यतेन्द्रं वृत्रो वि बीभयत्॥

अभ्येनं वज्रं आयसः सहस्रभृष्टिरायतार्चन्ननु स्वराज्यम्॥१२॥

पदपाठ —

न। वेपसा। न। तन्यता। इन्द्रम्। वृत्रः। वि। बीभयत्। अभि। एनम्। वज्रः। आयसः सहस्रभृष्टिः। आयत। अर्चन्। अनु। स्वराज्यम्॥१२॥

अन्वयः — हे सभाध्यक्ष स्वराज्यमन्वर्चस्त्वं यथा वृत्रं इन्द्रं वेपसा न विबीभयत्तन्यता न विबीभयदेनं मेघं प्रति सूर्यप्रेरितः सहस्रभृष्टिः रायसो वज्रोऽभ्यायत तथा शत्रून् प्रति भव॥

दयानन्द भाष्य —

(न) निषेधार्थे (वेपसा) वेगेन (न) निषेधे (तन्यता) तन्यतुना गर्जनेन शब्देन। अत्र सुपांसुलुगिति डादेशः। (इन्द्रम्) सभाध्यक्षम् (वृत्रः) मेघ इव शत्रुः (वि) विशेषे (बीभयत्) भयितुं शक्नोति (अभि) आभिमुख्ये (एनम्) शत्रुं पर्जन्यं वा (वज्रः) शस्त्रसमूहः किरणसमूहो वा (आयसः) अयसा निष्पन्नस्तेजोमयो वा (सहस्रभृष्टिः) सहस्रमसंख्याता भृष्टयः पीडा दाहा वा यस्मात् सः (आयत) समन्ताद्भवन्ति। अत्र यमो गन्धने। अ०१।२।१५॥ (अर्चन्) (अनु) (स्वराज्यम्)॥

भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा मेघादयः सूर्यस्य पराजयं कर्तुं न शक्नुवन्ति तथैव शत्रवो धार्मिकौ सभाध्यक्षौ परिभवितुन् शक्नुवन्ति॥



## इन्द्र सूक्त (मण्डल-१, सूक्त-८०)

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है; जैसे मेघ आदि सूर्य को नहीं जीत सकते वैसे ही शत्रु भी धर्मात्मा, सभा और सभापति का तिरस्कार नहीं कर सकते।।

सायण भाष्य —

वृत्रः स्वकीयेन वेपसा कम्पनभयेन इन्द्रं न विभीभयत् भयत्रस्तं नाकरोत्। स्वकीयेन तन्यता घोरगर्जनेन च भीतं न चकार। एतस्मिन्नेवान्तरे इन्द्रेण प्रयुक्ता सहस्रभृष्टिः अनेकधारोपेतः वज्रः तथानिधं वृत्रं प्रति आयत आगच्छत्। एवं स्वराजभावं प्रकटयन् महान् इन्द्रो राजते।

हि०अ० — वृत्र ने अपने झम्प-कम्प दिखा कर इन्द्र को भयभीत करना चाहा और अपने घोर गर्जन से भी त्रस्त करने में प्रवृत्त हुआ पर किसी प्रकार उसे सफलता नहीं मिली। इतने में सहस्रों धार वाला वज्र वृत्र के प्रति उन्मुख हुआ। इस प्रकार वृत्र-वध के साथ इन्द्र ने अपने राजत्वं के कौशल को प्रकट किया।

अन्वयः — तन्यता — “स्तन शब्दे” ‘तनोर्ती र्यतुच्’ बहुलवचनात् अस्मादपि भवति। सलोपश्च। ‘सुपां सुलुक्०’ इति तृतीयाया डादेशः। विभीभयत् — ‘जिभी भये’ ‘हेतुमति च’ इति णिच्। लुङि च्लेशचङ्। आयत-अपगलै, आत्मनेपदी।

मण्डल-१

सूक्त-८०

मन्त्र-१३

संहिता पाठ

यद्वृत्रं तव चाशनिं वज्रेण समयोधयः।

अहिमिन्द्र जिघांसतो दिवि ते बद्बधे शवोऽर्चन्नु स्वराज्यम्॥१३॥

पदपाठ —

यत्। वृत्रम्। तव। च। अशनिम्। वज्रेण। सम्। ऽयोधयः। अहिम्। इन्द्र। जिघांसतः। दिवि। ते। बद्बधे। शवः। अर्चन्। अनु। स्वराज्यम्॥१३॥

अन्वयः — हे इन्द्र स्वराज्य मन्वर्चस्त्वं यद्यथा दिविसूर्योऽशनिं प्रहृत्याऽहिं बद्बधे तथा वज्रेण शस्त्रास्त्रैः स्वसेनास्ता शत्रुभिस्सह समयोधयः शत्रून् जिघांसतस्तव शवो बलमुत्तमं भवतु एवं वर्तमानस्य ते तव यशश्च वर्धिष्यते॥

दयानन्द भाष्य —

(यत्) यथा (वृत्रम्) (तव) (च) समुच्चये (अशनिम्) विद्युतम् (वज्रेण) प्रापणेन. (समयोधयः) सम्यग्योधयसि (अहिम्) व्यापनशीलं मेघम् (इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त (जिघांसतः) हन्तुमिच्छतः (दिवि) आकाशे (ते) तव (बद्बधे) अत्र वाच्छन्दसीति सन् हलादिः शेषो न भवति। (शवः) बलम् (अर्चन्) (अनु) (स्वराज्यम्)॥

भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा सूर्यः किरणसमूहेन विद्युतं वृत्रेण योधयति तथैव सेनाध्यक्ष आग्नेयास्त्रयुक्ता सेना शत्रुबलेन सह योधयेत्। न हीदृशस्य सेनापतेः कदाचित्पराजयो भवितुं शक्यः॥



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जैसे सूर्य अपने बहुत से किरणों से बिजुली और मेघ का परस्पर युद्ध करता है, वैसे ही सेनापति आग्नेय आदि अस्त्रयुक्त सेना को शत्रु सेवा के साथ युद्ध करावे। इस प्रकार के सेनापति का भी पराजय नहीं हो सकता।।

**सायण भाष्य —**

हे इन्द्र! त्वं यदा तं तथाविधं महाशक्तं वृत्रं तेन प्रेरिता प्रहाराविष्टाम् अशनिं च स्वकीयेन वज्रेण समयोधयः सम्यक् अयोधयः तदा तम् अहिम् आगत्य हन्तारं वृत्रं जिघांसतः हन्तुमिच्छतः ते शवः बलं दिवि बद्बधे। व्याप्तम् आसीत्। तथाविधस्त्वं स्वराज्यम् अर्चन् कीर्तयन् प्रवृद्धोऽसि।

हि०अ० — हे इन्द्र! आपने वृत्र तथा वृत्र प्रेरित आयुधों पर अपने वज्र के साथ भली प्रकार संप्रहार किया। आकर हनन करने की इच्छा वाले वृत्र का जब आपने विध्वंस किया उस समय आकाश में भी आपकी महाशक्ति का ओज प्रकट हुआ। इस प्रकार अपनी गरिमा का आपने राजत्व रूप में प्रदर्शन किया।।

व्याकरण — जिघांसतः — हन्तेरिच्छायां सन्। 'अज्झनगमां-सनि' इति उपधा- दीर्घत्वम्। बद्बधे — 'बध बन्धने' कर्मणि लिटि व्यत्ययेन हलादिशेषो न।

**मण्डल-१**

**सूक्त-८०**

**मन्त्र-१४**

**संहिता पाठ**

अभिष्टने तै अद्रिवो यत्स्था जगच्च रेजते।

त्वष्टां चित्तवं मन्यव इन्द्र वेविज्यते भियार्चन्ननु स्वराज्यम्॥१४॥

**पदपाठ —**

अभिऽस्तने। ते। अद्रिऽवः। यत्। स्थाः। जगत्। च। रेजते। त्वष्टां। चित्। तवं। मन्यवे। इन्द्र। वेविज्यते। भिया। अर्चन्। अनु। स्वऽराज्यम्॥१४॥

अन्वयः — हे अद्रिव इन्द्र यद्यदा ते तवाभिष्टने स्था जगच्च रेजते त्वष्टा सेनापतिस्तव मन्यवे ते भिया चिद्वेविज्यते तदा भवान् स्वराज्यमन्वर्चन् सुखी भवेत्।।

**दयानन्द भाष्य —**

(अभिष्टने)अभितः शब्दयुक्ते व्यवहारे (तै) तव (अद्रिवः) बहुमेघ युक्तसूर्यवत्सेनायुक्त (यत्) यदा (स्थाः) स्थावरम् (जगत्) जङ्गमम् (च) (रेजते) कम्पते (त्वष्टा) छेत्ता (चित्) अपि (तव) (मन्यवे) क्रोधाय (इन्द्र) राज्यधारक सभाध्यक्ष (वेविज्यते) अत्यन्तं विभेति सम्यक् (भिया) भयेन (अर्चन्) (अनु) (स्वराज्यम्)।।

भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। मनुष्यैर्यथा सूर्यस्य योगेन प्राणिनः स्वस्वकर्मसु प्रवर्तन्ते भूगोला यथानुक्रमं भ्रमन्ति तथैव सभया प्रशासितस्य राज्यस्य योगेन सर्वे प्राणिनो



**इन्द्र सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-८० )**

धर्मेण स्वस्वव्यवहारे वर्त्तित्वा सन्मार्गेऽनुचलन्तीति वेद्यम् ।

**हि०भावार्थ** — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । मनुष्यों को चाहिये कि जैसे सूर्य के योग से प्राणधारी अपने-अपने कर्म में वर्त्तते और सब भूगोल अपनी-अपनी कक्षा में यथावत् भ्रमण करते हैं वैसे ही सभा से प्रशासन किये राज्य के संयोग से सब मनुष्यादि प्राणि धर्म के साथ अपने-अपने व्यवहार में वर्त्त के सन्मार्ग में अनुकूलता से गमनागमन करते हैं ।।

**सायण भाष्य** —

हे इन्द्र! — 'स्थाः' स्थावरं भोग्य प्रपञ्चजातं जडभूतादि जगत् च जंगम रूपं भोक्तं प्रपञ्चाख्यं च सर्वं जड़चेतनात्मक जगत् तव अभिष्टने गर्जने सति रेजते कम्पाकुलं जायते । त्वष्टा चित् वज्रनिर्माणकर्ता खल्वपि त्वष्टा तव मन्यवे वृत्रहननयोग्याय कोपाय वेविज्यते इत्यर्थं कम्पते । तथा विध स्त्वं स्वराज्यम् अर्चन् स्वस्य राजभावं भावयन् प्रकाशितो ऽसि ।

**हि०अ०** — हे इन्द्र! 'स्थाः' सारा स्थावर जगत् तथा 'जगत्' सारा गतिशील चेतन जगत् आपके 'अभिष्टने' गर्जन से 'वेपते' भत्ररुत होकर कांपने लगता है । वज्र जैसे आयुध का निर्माता त्वष्टा भी आपके वृत्र-हनन योग्य कोप सामर्थ्य को देखकर भयाकुल होकर काँपने लगता है । ऐसे बल सम्पन्न आप अपने राजत्व को प्रकट करते हुए प्रकाशमान हैं ।

**व्याकरण** — स्थाः — तिष्ठतेः क्विप् । वे विज्यते — 'ओविजी भय — चलनयोः' क्रियासमभिहारे यङ् । 'सन्यङो' इति द्वित्वम् ।

**मण्डल-१**

**सूक्त-८०**

**मन्त्र-१५**

**संहिता पाठ**

नहिं नु यादधीमसीन्द्रं को वीर्या परः ।

तस्मिन्नुम्णमुत क्रतुं देवा ओजांसि संदधुरर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥१५॥

**पदपाठ** —

नहि । नु । यात् । अधिऽइमसिं । इन्द्रम् । कः । वीर्या । परः । तस्मिन् । नृम्णम् । उत । क्रतुम् । देवाः । ओजांसि । सम् । दधुः । अर्चन् । अनुं । स्वऽराज्यम् ॥१५॥

**अन्वयः** — यः परः स्वराज्यमन्वर्चन् वर्त्तते यस्मिन् देवा नृम्णमुत क्रतुमुताप्योजांसि नु नहि संदधुर्यं प्राप्य वीर्याधीमसितमिन्द्रं प्राप्य कः नृम्णं नु नहि यात् तस्मिन् को नृम्णमुत् क्रतुमप्योजांसि नहि सन्दध्यात् ॥

**दयानन्द भाष्य** —

(नहि) निषेधे (नु) शीघ्रम् (यात्) यायात् । लेट्प्रयोगः । (अधीमसि) सर्वोपरि विराजमानं प्राप्नुमः (इन्द्रम्) अनन्तपराक्रमं जगदीश्वरं पूर्ण वीर्यं विद्वांसं वा (कः) कश्चित् (वीर्या) विद्यादिवीर्याणि (परः) प्रकृष्टगुणः (तस्मिन्) इन्द्रे (नृम्णम्) धनम् (उत) अपि



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

(क्रतुम्) प्रज्ञा पुरुषार्थ वा (देवाः) विद्वांसः (ओजांसि) शरीरात्मनः पराक्रमान् (सम्) सम्यक् (दधुः) दधति । अन्यत् सर्वं पूर्ववद् बोध्यम् । (अर्चन्) (अनु) (स्वराज्यम्) ।।

भावार्थ — नहि कश्चिदपि परमेश्वरं विद्वांसं चाप्राप्य विद्यां शुद्धां धियमुत्कृष्टं सामर्थ्यं प्राप्तुं शक्नोति तस्मादेतदाश्रयः सदा सर्वैः कर्तव्यः ।।

हि०भावार्थ — कोई भी मनुष्य परमेश्वर वा परम विद्वान् की प्राप्ति के बिना उत्तम विद्या और श्रेष्ठ सामर्थ्य को नहीं प्राप्त हो सकता, इस हेतु से इनका सदा आश्रय करना चाहिये ।।

सायण भाष्य —

वयम् अल्पमतयः तं तथाविधं 'प्रशस्तम् इन्द्रं यथावत् न जानीमः । तम् 'यात्' यान्तं सर्वत्र अतिक्रम्य वर्तमानम् इन्द्रं अधीमसि' न हि वयं सम्यग् अवगच्छामः । अतोऽपि परः परस्तात् अतिदूरे ऽज्ञाते स्थाने प्रकाशमानम् इन्द्रं वीर्या स्वकीयेन वीर्येण बलसामर्थ्येन दीप्यमानं को नु खलु विजानीयात् न कोऽपि अवगाहितुं समर्थः । कस्माद् हेतोः? तस्मिन् खलु इन्द्रे नृम्यं नृम्योहितं धनं क्रतुं कर्मसामर्थ्यम् ओजांसि च देवाः संदधुः स्थापयामासुः । अस्मात् कारणात् अयमिन्द्रोऽन्यान् देवान् अतिक्रम्य वर्तते ।

हि०अ० — हम लोग अल्प सामर्थ्य रखते हैं, अतः 'यात्' सर्वत्र विद्यमान इन्द्र को सम्यक् नहीं जान पाते । 'परः' परस्तात् बहुत दूर देश में अपने तेज और सामर्थ्य से अलंकृत इन्द्र को भला कौन जान सकता है? इसका प्रबल कारण यही है कि देवों ने इन्द्र के ही अन्तराल में मानव-हित साधन तथा 'क्रतु' श्रेष्ठ कर्म एवम् 'ओजांसि' प्रभूत बलों की स्थापना की है । अतः इन्द्र न केवल सर्वोपरि है, अपितु अपने स्वराज्य के माहात्म्य को भली प्रकार प्रकट कर रहा है ।

व्याकरण — यात् — 'या प्रायणे' शतृ । 'सुपा सुलुक्०' इति द्वितीयाया लुक् । अधीमसि — 'इणगतौ' । 'इदन्तो मसिः' । वीर्या — 'सुपां सुलुक्०' इति तृतीयाया आकारः ।

मण्डल—१

सूक्त—८०

मन्त्र—१६

संहिता पाठ

यामथर्वा मनुषिता दध्यङ् धियमत्नत ।

तस्मिन् ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था समग्मतार्चन्ननु स्वराज्यम् ।।१६।।

पदपाठ —

याम् । अथर्वा । मनुः । पिता । दध्यङ् । धियम् । अत्नत । तस्मिन् । ब्रह्माणि । पूर्वथा । इन्द्रे । उक्था । सम् । अग्मत । अर्चन् । अनु । स्वऽराज्यम् ।।१६।।

अन्वयः — हे मनुष्या यथा स्वराज्यमन्वर्चन् दध्यङ्ङथर्वा पिता मनुष्या धियं प्राप्य यस्मिन् सुखानि तनुते तथैतां प्राप्य यूयं सुखान्यत्नते यस्मिन्निन्द्रे पूर्वथा ब्रह्माण्युक्था प्राप्नोति तस्मिन् सेविते सप्येतानि समग्मत सङ्गच्छध्वम् ।।



दयानन्द भाष्य —

(याम्) वक्ष्यमाणम् (अथर्वा) हिंसादिदोषरहितः (मनुः) विज्ञानवान् (पिता) अनूचानोध्यापकः (दध्यङ्) दधति यैस्ते दधयः सदगुणास्तानञ्चति प्रापयति वा सः । अत्र कृतो बहुलमति करणे किस्ततोऽञ्चतेः क्विप् । (धियम्) शुभविद्यादिगुणक्रियाधारिकां बुद्धिम् (अत्नत) प्रयतध्वम् (तस्मिन्) (ब्रह्माणि) प्रकृष्टान्यन्नानि धनानि (पूर्वथा) पूर्वाणि (इन्द्रे) सम्यक् सेविते (उक्था) वक्तुं योग्यानि (सम्) सम्यक् (अगमत) प्राप्नुत अन्यत्सर्व पूर्ववत् (अर्चन्) (अनु) (स्वराज्यम्) ।।

भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । मनुष्यैः परमेश्वरोपासकानां विद्वत्सङ्गप्रीति— नामनुकरणं कृत्वा प्रशस्तां प्रज्ञामनुत्तमान्यन्नानि धनानि वा वेदविद्यासुशिक्षितानि भाषणानि प्राप्यैतानि सर्वेभ्यो देयानि ।।

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । मनुष्य परमेश्वर की उपासना करने वाले विद्वानों के संग प्रीति के सदृश कर्म करके सुन्दर बुद्धि, उत्तम अन्न, धन और वेदविद्या से सुशिक्षित संभाषणों को प्राप्त होकर उनको सब मनुष्यों के लिये देने चाहिये ।

सायण भाष्य —

इन्द्र एवं वृत्रवधादिभिरर्चनीयैः कर्मभिः स्वाधिपत्यं प्रकटी करोति । अथर्वा, सर्वेषां पितृस्थानीयो मनुः दध्यङ् अथर्वणः पुत्रः एते तत्र भवन्त ऋषयः यां स्वधेयम् अतृत यत् पूजनीयं कर्म प्रकाशितवन्तः तस्मिन् प्रशस्ते कर्मणि यानि ब्रह्माणि पूज्यानि हवींषि यानि च 'उक्था' उक्थरूपाणि स्तोत्राणि सर्वाणि वस्तूनि स्तुतयश्च तस्मिन्नेव इन्द्रे समगमत संगतानि भवन्ति । स एव एतेषामुपायानां समुद्रभूतः ।

हि०अ० — इन्द्र ही वृत्र-वध आदि स्वकीय शुभकर्मों से अपने स्वामित्व से प्रकट कर रहे हैं । अथर्वा ऋषि, सबके पिता मनु, अथर्वा के पुत्र दध्यङ्ग आदि पूजनीय ऋषियों ने जिस 'धियम्' अर्चनीय कर्म को प्रकाशित किया है उस पवित्र कर्म में जितनी पूजा-सामग्री है और जितनी 'उक्था' प्रकाशित करने योग्य स्तुतियाँ हैं, सभी इन्द्र में ही समाहित हो जाती हैं । ऐसे इन्द्र ने ही स्वराज्य की अर्चना में अपना महान् योगदान दिया है ।

व्याकरण — अतृत — 'तनु विस्तारे' 'तनिपत्योश्छन्दसि' इति उपधालोपः । 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य लुक् । पूर्वथा — इवार्थे पूर्वशब्दात् थाल् । उक्था — 'शेछन्दसि-बहुलम्' इति शैलेपिः । समगमत — 'स मो गभ्यृच्छिभ्याम्' । 'इवात्मने पदम् लुङि' । 'मंत्रे घस०' इलिच्चेर्लुक् । गम हन०' इति उपधालोपः



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****मरुत् सूक्त****ऋषि—गौतम्****देवता—मरुत्****छन्द—१२वें मंत्र में त्रिष्टुप्, शेष में जगती****मण्डल १****सूक्त ८५****मंत्र १****संहिता—पाठः**

प्र ये शुम्भन्ते जनयो न सप्तयो यामनु०स्य सूनवः सुदसाः ।

रोदसी हि मरुतश्चक्रिरे वृधे मदन्ति वीरा विदथेषु घृष्वयः ।।

**पद—पाठः**प्र । ये । शुम्भन्ते । जनयः । न । सप्तयः । यामन् । रुद्रस्य । सूनवः । सुदसंसः ।  
रोदसी इति । हि । मरुतः च क्रिरे । वृधे । मदन्ति । वीराः । विदथेषु । घृष्वयः ।।१।।अन्वय — ये मरुतः यामन् जनयः न प्र शुम्भन्ते, सप्तयः रुद्रस्य सूनवः सुदसंसः । हि वृधे  
रोदसी चक्रिरे वीराः घृष्वयः विदथेषु मदन्ति ।**दयानन्द—भाष्य**पदार्थ — (प्र) प्रकृष्टे (ये) वक्ष्यमाणाः (शुम्भन्ते) शोभन्ते (जनयः) जायाः (न) इव (सप्तयः)  
अश्वा इव । सप्तिरित्यश्वनाम० ।। निघं० १ ।१४।। (यामन्) यान्ति यस्मिन् मार्गे तस्मिन् ।  
अत्र सुपां सुलुगिति डेलुक् । सर्वधातुभ्योमनित्रित्यौणदिको मनिन् प्रत्ययः । (रुद्रस्य) शत्रूणां  
रोदयितुर्महावीरस्य (सूनवः) पुत्राः (सुदसंसः) शोभनानि दसांसि कर्माणि येषान्ते । दंस इति  
कर्मनाम० ।। निघं २ ।१।। (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (हि) खलु (मरुतः) तथा वायवस्तथा  
(चक्रिरे) कुर्वन्ति (वृधे) वर्धनाय (मदन्ति) हर्षन्ति । विकरणव्यत्ययेन श्यः स्थाने शप् ।  
(वीराः) शौर्यादिगुणयुक्ताः पुरुषाः (विदथेषु) संग्रामेषु (घृष्वयः) सम्यग् घर्षणशीलाः । कृविघृष्वि  
।।उ० ४ । ५७।। घृषु संघर्ष इत्यस्माद्विन् प्रत्ययः ।।१।।भावार्थ — अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ । यथा सुशिक्षिता पतिव्रता स्त्रियः पतौन्वा  
स्त्रीव्रताः पतयो जायाः सेवित्वा सुखयन्ति । यथा शोभमाना बलवन्तो हयाः पथि शीघ्रं  
गमयित्वा हर्षयन्ति तथा धार्मिका वीराः सर्वाः प्रजा मोदयन्ति ।।१।।हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । जैसे अच्छी  
शिक्षा और विद्या को प्राप्त हुई पतिव्रता स्त्रियां अपने पतियों का अथवा स्त्रीव्रत सदा अपनी  
स्त्रियों ही से प्रसन्न ऋतुगामी पति लोग अपनी स्त्रियों का सेवन करके सुखी और जैसे  
सुन्दर बलवान् घोड़े मार्ग में शीघ्र पहुंचा के आनन्दित करते हैं वैसे धार्मिक राजपुरुष सब  
प्रजा को आनन्दित किया करें ।।१।।**सायण—भाष्य**शब्दार्थ — चक्रिरे = बनाया है । वृधे = वृद्धि के लिये । मदन्ति = प्रसन्न होते  
हैं । वीरा = विशेष रूप से फौक देने वाले, प्रेरणा देने वाले । विदथेषु = युद्धो में । घृष्वयः  
= घर्षणशील ।



## मरुत् सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-८५ )

**हिन्दी व्याख्या** — जो मरुत् नाम के देवता जाते समय जिस प्रकार स्त्रियां अपने अङ्गो को सजाती हैं। उसी प्रकार अपने अङ्गो को सजाते हैं। जो सर्पणशील अर्थात् भ्रमणशील हैं। रुद्र नामक परमेश्वर के पुत्र हैं और उत्तम कर्म करने वाले हैं। उन मरुत देवताओं ने निश्चय ही वर्षा आदि द्वारा लोक की वृद्धि के लिये द्युलोक और पृथिवी लोक को बनाया है और वे मरुत् शत्रुओं को विशेष रूप से फेंक देने वाले या प्रेरणा देने वाले तथा घर्षणशील अर्थात् अपनी टक्करों से वृक्ष पर्वत आदि को गिरा देने वाले होते हुये यज्ञों में सोमपान के द्वारा प्रसन्न होते हैं।

**व्याकरण** —

**शुम्भन्ते** — 'शुम्' दीप्तौ, धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

**जनयः** — जायते अस्याम् अपत्यम् अर्थ में, 'जन्' धातु से "इन् सर्वधातुभ्यः" से 'इन्' प्रत्यय। जन्+इन् (इ) = जानि। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

**यामन्** — या प्रापणे' धातु से या +मनिन् (मन्) = यामन्। सप्तमी विभक्ति के अर्थ में विभक्ति का छान्दस लोप।

**घृष्वयः** — घृषु 'संघर्षे' धाते से 'विन्' प्रत्यय। घृष्+विन् = घृष्वि। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

**विशेष** — मैकडानल ने 'सुदंससः' का अर्थ 'आश्चर्यो वाले' (wondrous) किया है।

मण्डल १

सूक्त ८५

मंत्र २

संहिता-पाठः

त उक्षितासो महिमानमाशत दिवि रुद्रासो अधि चक्रिरे सदः।

अर्चन्तौ अर्कजनयन्त इन्द्रियम् अधिश्रियो दधिरे पृश्निमातरः॥

पद-पाठः

ते। उक्षितासः। महिमानम्। आशत। दिवि। रुद्रासः। अधि। चक्रिरे। सदः। अर्चन्तः। अर्कम्। जनयन्तः। इन्द्रियम्। अधि। श्रियः। दधिरे। पृश्निमातरः॥२॥

**अन्वय** — उक्षितासः ते महिमानम् आशत। रुद्रासः दिवि सदः अधिचक्रिरे अर्कम् अर्चन्तः इन्द्रियम् जनयन्तः पृश्निमातरः श्रियः अधिदधिरे।

**दयानन्द-भाष्य**

**पदार्थ** — (ते) पूर्वोक्ताः (उक्षितासः) वृष्टिद्वारा सेत्कारः (महिमानम्) उत्तमप्रतिष्ठाम् (आशत) व्याप्नुवन्ति। अत्र बहुलं छन्दसीति शनोर्लुक्। (दिवि) दिव्यन्तरिक्षे (रुद्रासः) वायवः (अधि) उपरिभावे (चक्रिरे) कुर्वन्ति (सदः) स्थिरम् (अर्चन्तः) सत्कुर्वन्तः (अर्कम्) सत्कर्तव्यम् (जनयन्तः) प्रकटयन्तः (इन्द्रियम्) धनम्। इन्द्रिय- मिति धनना०॥ निघं० २।१०॥ (अधि) उपरिभावे (श्रियः) चक्रवर्त्यादिराज्यलक्ष्मीः (दधिरे) धरन्ति (पृश्निमातरः) पृश्निरन्तरिक्षं माता येषां वायूनां ते॥१॥



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

**भावार्थ** — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यथा वायवो वृष्टिहेतवो भूत्वा दिव्यानि सुखानि जनयन्ति तथा सभाध्यक्षादयो विद्यया सुशिक्षिताः परस्परमुपकारिणः प्रीतिमन्तो भवन्तु ॥२॥

**हि० भावार्थ** — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । जैसे वायु वृष्टि का निमित्त होके उत्तम सुखों को प्राप्त कराते हैं, वैसे सभाध्यक्ष लोग विद्या से सुशिक्षित हो के परस्पर उपकारी और प्रीतियुक्त होंगे ॥२॥

### सायण-भाष्य

ये पूर्वोक्तगुणविशिष्टाः ते मरुतः उक्षितासः ये वैराभिषिक्ताः सन्तः महिमानं महत्त्वं आशत प्राप्नुवन् रुद्रासः रुद्रस्य पुत्राः । उपचारजन्ये जनक शब्दः । ते रुद्रपुत्राः मरुतः दिवि द्योतमाने नभसि सदः सदनं स्थानम् अधिचक्रिरे अधिकं सर्वोत्कृष्टं कृतवन्तः । अर्कम् अर्चनीयमिन्द्रम् अर्चन्तः पूजयन्तः इन्द्रियम् इन्द्रस्य लिङ्गं कीर्णं जनयन्तः । प्रहर भगवो जहि वीर यस्व (ऐ० ब्रा० ३.२०) इत्येव रूपेण वाक्येनोत्पादयन्तः पृश्निमातरः (पृश्नेर्नानारुपायाः भूमेः पुत्राः मरुतः श्रियः ऐश्वर्याणि अधि दधिरे आधिक्येनाधारयन् ।

**शब्दार्थ** — उक्षितासः = अभिषिक्त होते हुये । आशत = प्राप्त किया है । दिवि = प्रकाशमान द्युलोक में । रुद्रासः = रुद्र के पुत्र । सदः = स्थान को । अधिचक्रिरे = सर्वोत्कृष्ट बनाया है । अर्चन्तः = पूजा करते हुये । अर्कम् = पूजनीय इन्द्र की । जनयन्तः = उत्पन्न करते हुये । इन्द्रियम् = इन्द्र के चिह्न भूत पराक्रम को । श्रियः = ऐश्वर्यों को । अधिदधिरे = अधिकार पूर्वक धारण किया है । पृश्निमातरः = नाना रूपों वाली भूमि के पुत्र ।

**हिन्दी व्याख्या** — देवताओं द्वारा अभिषिक्त होते हुये उन मरुतों ने महिमा को प्राप्त किया है । रुद्र के पुत्र उन मरुतों ने प्रकाशमान द्युलोक में अपने स्थान को सर्वोत्कृष्ट बनाया है । इन्द्र की पूजा करते हुये और इन्द्र के चिह्नभूत पराक्रम को उत्पन्न करते हुये, नाना रूपों वाली भूमि के पुत्र उन मरुतों ने ऐश्वर्यों को अधिकार पूर्वक धारण किया है ।

### व्याकरण —

**उक्षितासः** — 'उक्ष् सेचने' धातु से कर्म में 'क्त' प्रत्यय = उक्षित । प्रथमा का एकवचन वैदिक रूप । अथवा उक्षित + असुक् = उक्षितासः ।

**पृश्निमातरः** — प्राश्नुते सर्वानि रूपाणि इति पृश्निः भूमिः । पृश्निः माता येषां ते पृश्निमा रः ।

**विशेष** — मैक्डानल ने 'उक्षितासः' का अर्थ 'having waxed strong' और 'अर्कम् अर्चन्तः' का अर्थ 'singing their songs' किया है ।

मण्डल १

सूक्त ८५

मंत्र ३

संहिता-पाठः

गोमा॒तरो॒ यच्छु॒भय॑न्ते अ॒ञ्जिभि॑स् त॒नूषु॑ शु॒भ्रा द॑धिरे वि॒रुक्म॑तः ।

बाध॑न्ते वि॒श्वम॑भि॒माति॑न्म॒प व॑र्त्मान्ये॒षाम॑नु॒रीय॑ते घृ॒तम् ॥



## पद-पाठः

गोऽमातरः । यत् । शुभयन्ते । अञ्जिभिः । तनूषु । शुभ्राः । दधिरे । विरुक्मतः । बाधन्ते । विश्वम् । अभिमातिनम् । अपं । वर्त्मानि एषाम् । अनु । रीयते । घृतम् ॥३॥

अन्वय — गोमातरः यत् अञ्जिभिः शुभयन्ते तनूषु शुभ्राः विरुक्मतः दधिरे । विश्वम् अभिमातिनम् अपबाधन्ते, एषाम् । वर्त्मानि अनु घृतम् रीयते ।

## दयानन्द-भाष्य

पदार्थ — (गोमातरः) गौः पृथिवीव माता मानप्रदा येषां वीराणां ते (यत्) ये (शुभयन्ते) शुभमाऽऽचक्षते (अञ्जिभिः) व्यक्तैर्विज्ञानादिगुणनिमित्तैः (तनूषु) विस्तृतबिलयुक्तेषु शरीरेषु (शुभ्राः) शुद्धधर्माः (दधिरे) धरन्ति (विरुक्मतः) प्रशस्ता विविधा रुचो दीप्तयो विद्यन्ते येषु ते (बाधन्ते) (विश्वम्) सर्वम् (अभिमातिनम्) शत्रुगणम् (अप) विरुद्धार्थे (वर्त्मानि) मार्गान् (एषाम्) सेनाध्यक्षादीनाम् (अनु) आनुकूल्ये (रीयते) गच्छति (घृतम्) उदकम् ॥३॥

भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जैसे वायुओं से अनेक सुख और प्राण के बल से पुष्टि होती है वैसे ही शुभगुणयुक्त विद्या, शरीर और आत्मा के बलयुक्त सभाध्यक्षों से प्रजाजन अनेक प्रकार के रक्षणों को प्राप्त होते हैं ॥३॥

हि०भावार्थ — यथा वायुभिरनेकानि सुखानि प्राणबलेन पुष्टिश्च भवति तथैव शुभगुणयुक्तविद्याशरीरात्मबलान्वितसभाध्यक्षादिभिः प्रजाजना अनेकानि रक्षणानि लभन्ते ॥३॥

## सायण-भाष्य

गोमातरः गोरूपा भूमिर्माता येषां ते मरुतः अञ्जिभिः रूपाभिः— व्यञ्जकैराभरणैः, यत् यदा शुभयन्ते स्वकीयान्यङ्गानि शोभायुक्तानि कुर्वन्ति तदानीं शुभ्रा दीप्ता मरुतः तनूषु स्वशरीरेषु विरुक्मतः विशेषेण रोचमानानलंकारान् दधिरे धारयन्ति । अपि च विश्वं सर्वम् अभिमातिनं शत्रुम् अपबाधन्ते हिंसन्ति । एषां मरुतां वर्त्मानि मार्गानुपसृत्य घृतं क्षरणशीलमुदकं रीयते स्रवति । यत्र मरुतो गच्छन्ति वृष्ट्युदकम् अपि तदनुसारेण तत्र गच्छतीत्यर्थः ।

शब्दार्थ — गोमातरः = गोरूप पृथिवी माता के पुत्र । शुभयन्ते = अलङ्कृत करते हैं । अञ्जिभिः = रूप को उज्ज्वल करने वाले अलङ्कारों से । शुभ्राः = श्वेत । विरुक्मतः विशेष रूप से चमकने वाले । अभिमातिनम् = शत्रुओं को । अपबाधन्ते = मार डालते हैं । वर्त्मानि अनु = मार्गों का अनुसरण करके । घृतम् = बरसने वाला जल । रीयते = बहता है ।

हिन्दी व्याख्या — गौ अर्थात् पृथिवी रूप माता के पुत्र से मरुत् देवता जब रूप को उज्ज्वल करने वाले अलङ्कारों से अपने अङ्गों को अलङ्कृत करते हैं, अपने शरीरों पर श्वेत विशेष रूप से चमकने वाले अलङ्कारों को धारण करते हैं और सभी शत्रुओं को मार डालते हैं, तो इनके मार्गों का अनुसरण करके बरसने वाला जल भी बहता है ।

## व्याकरण —

अञ्जिभिः — 'अञ्ज्' धातु से औणादिक 'इ' प्रत्यय = अञ्जि । तृतीया विभक्ति



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

का बहुवचन ।

**विरुक्मतः** — रोचते इति, अर्थ में रुच्+क्विप् = रुक् । विशिष्टा रुक् = विरुक् ।  
'विरुक् यस्य स' अर्थ में मतुप् प्रत्यय = विरुक्मत । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन ।

**शुभ्राः** — 'शुभ् दीप्तौ' धातु से 'र' प्रत्यय = शुभ्र ।

**अभिमातिनम्** — 'अभि+मीञ् हिंसायाम्' धातु से क्त प्रत्यय = अभिमात ।  
'अभिमातम् अस्य अस्ति' अर्थ में इनि प्रत्यय = अभिमातिन् । द्वितीया विभक्ति का एकवचन = अभिमातिनम् । अभिमुखी भूय हिनस्ति इति अभिमाति शत्रुः ।

**विशेष—** मैकडानल ने 'विरुक्मतः' का अर्थ 'चमचमाते शस्त्र' करके इस प्रकार अर्थ किया है — They put on their bodies brilliant weapons । 'घृतम्' का अर्थ वसा युक्त होना (fatness) है ।

मण्डल १

सूक्त ८५

मंत्र ४

संहिता-पाठः

वि ये भ्राजन्ते सुमखास ऋष्टिभिः प्रच्यावयन्तो अच्युता चिदोजसा ।

मनोजुवो यन्मरुतो रथेषु वृषव्रात स पृषतीरयुग्धम् ॥४॥

पद-पाठः

वि । ये । भ्राजन्ते । सुमखासः । ऋष्टिभिः । प्रच्यावयन्तः । अच्युता । चित् ।  
ओजसा । मनःजुवः । यत् । मरुतः । रथेषु । आ । वृषव्रातासः । पृषतीः । अयुग्धम् ॥४॥  
अन्वय — सुमखासः ये ऋष्टिभिः विभ्राजन्ते ओजसा अच्युता चित् च्यावयन्तः मरुतः  
मनोजुवः वृषव्रातासः रथेषु यत् पृषतीः आ अयुग्धम् ।

**दयानन्द-भाष्य**

**पदार्थ** — (वि) विशेषार्थे (ये) सभाध्यक्षादयः (भ्राजन्ते) प्रकाशन्ते (सुमखासः) शोभनाः  
शिल्पसंबन्धिनः संग्रामा यज्ञा येषान्ते (ऋष्टिभिः) यन्त्रचालनार्थेर्मनागमन-निमित्तैर्दण्डैः  
(प्रच्यावयन्तः) विमानादीनि यानानि प्रचालयन्तः सन्तः (अच्युता) क्षेतुमशक्येन (चित्) इव  
(ओजसा) बलयुक्तेन सैन्येन सह वर्तमानाः (मनोजुवः) मनोवद्गतयः (यत्) याः (मरुतः)  
वायवः (रथेषु) विमानादियानेषु (आ) समन्तात् (वृषव्रातासः) वृषाः शस्त्रास्त्रवर्षयितारो  
व्रातासो मनुष्या येषान्ते (पृषतीः) मरुत्सम्बन्धिनीरपः (अयुग्धम्) योजयत ॥४॥

**भावार्थ** — मनुष्यैर्मनोजवेषु विमानादियानेषु जलाग्निवायून् संप्रयुज्य तत्र स्थित्वा  
सर्वत्रभूगोले गत्वागत्य शत्रून् विजित्य प्रजाः संपाल्य शिल्पविद्याकार्याणि प्रवृध्य सर्वोपकाराः  
कर्तव्याः ॥४॥

**हि०भावार्थ** — मनुष्यों को उचित है कि मन के समान वेगयुक्त विमानादि यानों  
में जल, अग्नि और वायु को संयुक्त कर उसमें बैठ के सर्वत्र भूगोल में जा-आके शत्रुओं  
को जीतकर प्रजा को उत्तम रीति से पाल के शिल्पविद्या कर्मों को बढ़ा के सबका उपकार



किया करें ॥४॥

### सायण—भाष्य

सुमखासः शोभनयज्ञाः ये मरुतः, ऋष्टिभिः आयुधैः विभ्राजन्ते विशेषेण दीप्यन्ते ते मरुतः अच्युताः चित् च्यावयितुमशक्यानि दृढानि पर्वतान्यादि ओजसा स्वकीयेन बलेन प्रच्यावयन्तः प्रकर्षेण च्यावयितारः प्रेरयितारो भवन्ति। उतरार्धः प्रत्यक्षकृतः। हे मरुतः मनोजुवः मनोवद्वेगगतयः वृषव्रातासः वृष्ट्युदकसेचनसमर्थ— सप्तसघात्मका यूयं रथेषु आत्मीयेषु पृषतीः पृषत्यः इति मरुद्वारहनानां संज्ञा पृषत्यो मरुताम् (नि० १.१५.६) इत्युक्तत्वात् पृषद्भिः श्वेतबिन्दुभिर्युक्ता मृगीः यत् यदा आ युग्मध्वम् अभिमुख्येन नियुक्ता अवृद्धम्। तदानीं पर्वतादिकं प्रच्यवते इत्यर्थः।

शब्दार्थ — विभ्राजन्ते = विशेष रूप से शोभायमान होते हैं। सुमखासः = उत्तम यज्ञ वाले। ऋष्टिभिः = आयुधों से। प्रच्यावयन्तः = गिरा देने वाले। अच्युता = गिराये न जा सकने वाले। मनोजुवः = मन के समान तीव्र गति वाले। वृषव्रातासः = वृष्टि को उत्पन्न करने वाली सात वायुओं से संघर्ष करने वाले। पृषतीः = सफेद बिन्दुओं से अलङ्कृत मृगियों को। आ अयुग्मध्वम् = जोतते हो।

हिन्दी व्याख्या — उत्तम यज्ञ वो जो मरुत् देवता अपने आयुधों से विशेष रूप से शोभायमान होते हैं, वे अपने बल से गिराये न जा सकने वाले पर्वतों को भी गिरा देते हैं। ऐसे ही मरुत् देवताओं ! मन के समान तीव्र गति वाले और वृष्टि को उत्पन्न करने वाली सात वायुओं से संघर्ष करने वाले तुम अपने रथों में जब सफेद बिन्दुओं से अलङ्कृत मृगियों को जोतते हो। तब तुम्हारे रथ की गति से पर्वत आदि गिर जाते हैं, यह भाव है।

### व्याकरण —

मनोजुवः — 'जु' गतौ धातु से क्विप्। मनः इव जूः येषां ते मनोजुवः।

विशेष — मैक्डानल ने 'सुमखासः' का अर्थ 'बड़े योद्धा' (great warriors) 'ऋष्टि' का अर्थ 'भाला' (spear), 'वृषव्रातासः' का अर्थ शक्तिशाली सेनायें (strong hosts) और 'पृषतीः' का अर्थ 'घोड़ियाँ' (mares) किया है।

मण्डल १

सूक्त ८५

मंत्र ५

संहिता—पाठः

प्र यद्रथेषु पृषतीरयुग्ध्वं वाजे अद्रिं मरुतो रंहयन्तः।

उतारुषस्य वि ष्यन्ति धाराश् चर्मवोदभिव्युन्दन्ति भूमं।

पद—पाठः

प्र। यद्। रथेषु। पृषतीः। अयुग्ध्वम्। वाजैः। अद्रिम्। मरुतः। रंहयन्तः। उत। अरुषस्य वि। स्वन्ति। धाराः। चर्मऽहव। उदऽभिः। वि। उन्दन्ति। भूमं॥५॥

अन्वय — मरुत! यत् रथेषु पृषतीः प्र अयुग्ध्वम् अद्रिम् वाजे रंहयन्तः, उत अरुषस्य धाराः



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

विष्यन्ति चर्म इव भूम उदभिः व्युन्दन्ति ।

### दयानन्द-भाष्य

पदार्थ — (प्र) प्रकृष्टार्थे (यत्) येषु (रथेषु) विमानादियानेषु (पृषतीः) अग्निवायुयुक्ता अपः (अयुग्ध्वम्) संप्रयुग्ध्वम् (बाजे) युद्धे (अद्रिम्) मेघम् । अद्रिरिति मेघनाम० ॥ निघं० १ । १० ॥ (मरुतः) वायवः (रंहयन्तः) गमयन्तः (उत) अपि (अरुषस्य) अश्वस्येव । अरुष इति अश्वनाम० ॥ निघं० १ । १४ ॥ (वि) विशेषार्थे (स्यन्ति) कार्याणि समापयति (धाराः) जलप्रवाहान् (चर्मव) चर्मवत्काष्ठादिनावृत्य (उदभिः) उदकैः (वि) (उन्दन्ति) क्लेदन्ति (भूम) भूमिम् । अत्र सुपांसुलुगिति सुप्लुगिकारस्य स्थानेऽकारश्च ॥ ५ ॥

भावार्थ — अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ । हे मनुष्या यथा वायुधनान्सधत्ते गमयति तथा शिल्पिनः सुशिक्षयाऽग्न्यादेः संप्रयोगेण स्थानान्तरं प्रापय्य कार्याणि साध्नुवन्ति ॥ ५ ॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । हे मनुष्यों! जैसे वायु बादलों को संयुक्त करता और चलाता है वैसे शिल्पि लोग उत्तम शिक्षा और हस्तक्रिया अग्नि आदि अच्छे प्रकार जाने हुए वेग कर्त्ता पदार्थों के योग से स्थानान्तर को प्राप्त हो के कार्यों को सिद्ध करते हैं ॥ ५ ॥

### सायण-भाष्य

हे मरुतः पृषती यत् यदा रथेषु प्र अयुध्वं प्रायूयुजत । किं कुर्वन्तः । बाजे अन्ने निमित्तभूते सति अद्रिं मेघ रंहयन्तः वर्षणार्थं प्रेरयन्तः । उत तदानीम् अरुषस्य आरोचमानस्य सूर्यस्य वैद्यु ताग्नेर्वा सकाशाद् वृष्ट्युद्भुदकधाराः भवन्तः विष्यन्ति विमुञ्चन्ति । विमुक्तास्ताश्च धाराः उदभिः उदकैः चर्मव परिमितमल्पं चर्म यथा अप्रयोजनेन क्लेद्यते एवं भूम सर्वा भूमिं व्युन्दन्ति विशेषेणार्द्रां कुर्वन्ति ।

शब्दार्थ — बाजे = अन्न की उत्पत्ति के लिये । अद्रिम् = मेघ को । रंहयन्तः = प्रेरित करते हो । उत = उस समय । अरुषस्य = न चमकने वाले सूर्य की, बिजलियों के सामर्थ्य से गिरने वाले जल की । विष्यन्ति = बरसने लगती है । उदभिः = जलों से । व्युन्दन्ति = भिगो देती है । भूम = पृथिवी को ।

हिन्दी व्याख्या — हे मरुत् देवताओं ! जब तुम अपने रथों में श्वेत बिन्दुओं वाली हरियाली रूप वाहनों को जोतते हो और मेघ को अन्न की उत्पत्ति के निमित्त वर्षा करने के लिये प्रेरित करते हो उस समय न चमकने वाली सूर्य के या बिजलियों के सामर्थ्य से गिरने वाली जल धारायें गीले चमड़े के समान सारी पृथिवी को जलों से भिगो देती हैं ।

### व्याकरण —

रंहयन्तः — णिजन्त 'रहि गतौ' धातु से शतृ प्रत्यय = रंहयत् । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन ।

स्यन्ति — 'षो अन्तकर्मणि' इस दिवादिगणी धातु से लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।



उन्दन्ति — 'उन्दी क्लेदने' धातु से लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।

भूम — द्वितीया का एकवचन । "सुपां सुलुक०" सूत्र से विभक्ति को 'डा' आदेश और छान्दस ह्रस्व ।

विशेष — मैक्डानल ने इस मन्त्र का अर्थ भिन्न प्रकार से किया है । उसने 'वाजे' का अर्थ 'तेज चलने वाली', 'अद्रि' का अर्थ 'युद्ध में पत्थर के समान दृढ़', 'अरुषस्य' का अर्थ 'चमकदार' और 'चर्म' का अर्थ 'त्वचा' किया है । इसके अनुसार पूरे मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है —

When ye have yoked the spotted mares before yuor cars, speeding,  
O maruts the stone in the conflict, they discharge the streams of the ruddy  
(stone) and moisten the earth like a skin with waters.

मण्डल १

सूक्त ८५

मंत्र ६

संहिता-पाठः

आ वोँ वहन्तु सप्तयो रघुष्यदो रघुपत्वानः प्र जिगात बाहुभिः ।

सीदता बहिरुरु वः सदस्कृतं मादयध्वं मरुतो मध्वो अन्धसः ॥

पद-पाठः

आ । वः । वहन्तु । सप्तयः । रघुस्यदः । रघुपत्वानः । प्र । जिगात । बाहुभिः ।  
सीदत । आ । बर्हिः । उरु । व । सदः । कृतम् । मादयध्वम् । मरुतः । मध्वः । अन्धसः ॥ ६ ॥  
अन्वय — मरुतः ! रघुस्यदः सप्तयः वः आ वहन्तु । रघुपत्वानः प्रजिगात । वः सदः उरु  
कृतम् बर्हिः आसीदत । मध्वः अन्धसः मादयध्वम् ।

दयानन्द-भाष्य

पदार्थ — (आ) समन्तात् (वः) युष्मान् (वहन्तु) देशान्तर प्रापयन्तु (सप्तयः) संयुक्ताः शीघ्रं  
गमयितारोऽग्निवायुजलादयोऽश्वाः (रघुस्यदः) ये मार्गान् स्यन्दन्ते ते ।  
गत्यर्थाद्रघिधातोर्बाहुलकादौणादिक उः प्रत्ययो नकारलोपश्च । (रघुपत्वानः) ये रघून् पथः  
पतन्ति ते । अत्रान्येभ्योऽपि दृश्यन्त इति वनिप् प्रत्ययः । (प्र) उत्कृष्टार्थे (जिगात) स्तुत्यानि  
कर्माणि कुरुत (बाहुभिः) हस्तक्रियाभिः (सीदत) देशान्तरं गच्छत (आ) सर्वतः (बर्हिः)  
अन्तरिक्षम् (उरु) बहु (वः) युष्माकम् (सदः) स्थानम् अत्र छन्दसि वा कृकमिकंसकुम्भ०  
॥ अ० ८ ॥ ३ ॥ ४६ ॥ अनेन सूत्रेण विसर्जनीयस्य सत्वम् । (कृतम्) निष्पादितम् (मादयध्वम्)  
आनन्दम् प्रापयत (मरुतः) वायव इव ज्ञानयोगेन शीघ्रं गन्तारो मनुष्याः (मध्वः) मधुरगुणयुक्तानि  
(अन्धसः) अन्नानि ॥ ६ ॥

भावार्थ — सभाष्यध्यादयो मनुष्याः क्रियाकौशलेन शिल्पविद्यासिद्धानि कार्याणि  
कृत्वा संभोगान् प्राप्नुवन्तु नहि केनचिदस्मिन् जगति पदार्थविज्ञानक्रियाभ्यां विनोत्तमा भोगाः  
प्राप्तुं शक्यन्ते तस्मादेतन्नित्यमनुष्ठेयम् ॥ ६ ॥



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

हि०भावार्थ — सभाध्यक्षादि मनुष्य लोग क्रियाकौशल से शिल्पविद्या से सिद्ध करने योग्य कार्यों को करके अच्छे भोगों को प्राप्त हों, कोई भी मनुष्य इस जगत् में पदार्थ विज्ञान क्रिया के बिना उत्तम भोगों को प्राप्त होने में समर्थ नहीं होता, इससे इस काम का नित्य अनुष्ठान करना चाहिये ॥६॥

**सायण-भाष्य**

हे मरुतः वः युष्मान् सप्तयः सर्पणशीला अश्वाः आ वहन्तु । कीदृशाः सप्तयः । रघुष्यद लघु शीघ्रं स्यन्दमानाः । वेगेन गच्छन्त इत्यर्थः । रघुपत्वानः लघु शीघ्रं पतन्तो गच्छन्तो यूयं बाहुभिः स्वकीयैहस्तैः अस्मभ्यं दातव्यं धनमाहृत्य प्र जिगात प्रकर्षेण गच्छत । हे मरुतः ! वः युष्माकं सदः सदनं वेदिलक्षणं स्थानम् उरु विस्तीर्णं कृतम् । तत्र यदास्तीर्णं बर्हिः तत् आ सीदत तस्मिन् बर्हिष्युपविशत । उपविश्य च मध्वः मधुरस्य अन्धसः सोमलक्षणस्यान्नस्य पानेन मादयध्वं तृप्ता भवत ।

शब्दार्थ — सप्तयः = घोड़े । रघुष्यदः = तीव्र गति वाले । रघुपत्वानः = शीघ्रता से चलते हुये । प्रजिगात = शीघ्र चले आओ । आ सीदत = आकर बैठो । बर्हिः = कुशा पर । उरु कृतम् = वि तीर्ण कर दिया है । सदः = स्थान को । मादयध्वम् = तृप्त हो जाओ । मध्वः = मीठे । अन्धसः = सोमरस रूप अन्न का ।

हिन्दी व्याख्या — हे मरुतो ! तीव्र गति वाले घोड़े तुमको हमारे यज्ञों में ले आवें । शीघ्रता से चलते हुये तुम अपने हाथों से लाये हुये हमारे लिये दातव्य धन को लेकर शीघ्र चले आओ । हे मरुतो ! हमने तुम्हारे उस यज्ञ की वेदि रूप स्थान को विस्तीर्ण कर दिया है । तुम इस बिछाये हुये कुशा पर आकर बैठो और बैठ कर मीठे सोमरस रूप अन्न का उपभोग करके तृप्त हो जाओ ।

**व्याकरण —**

रघुस्यदः — रलयोरभेदः । 'लघु स्यन्दितुं शीलं येषां ते' अर्थ में रघु + स्यन्द + क्विप् = रघुस्यद् । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन ।

विशेष — मैक्डानल ने 'मादयध्वम्' का अर्थ 'आनन्द लेना' (rejoice) किया है, जब कि सायण ने इसका अर्थ 'तृप्त होना' किया है ।

मण्डल १

सूक्त ८५

मंत्र ७

**संहिता-पाठः**

तैऽवर्धन्त स्वतंवसो महित्वना ना कं तस्थुरु चक्रिरे सदः ।

विष्णुर्यद्वदवृषणं मदच्युतं न सीदन्नधि बर्हिषि प्रिये ॥७॥

**पद-पाठः**

ते । अवर्धन्त । स्वतंवसः । महित्वना । आ । नाकम् । तस्थुः । उ । चक्रिरे । सदः । विष्णुः । यत् । ह । आवत् । वृषणम् । मदच्युतम् । वयः । न । सीदन् । अधि । बर्हिषि । प्रिये ॥७॥



अन्वय — ते स्वतवसः अवर्धन्त । महित्वना आ नाकं तस्थुः । उरुसदः चक्रिरे । यत् वृषणम् मदच्युतम् विष्णुः ह आवत्, प्रिये बर्हिषि वय, न अधिसीदन् ।

### दयानन्द-भाष्य

पदार्थ — (ते) मनुष्याः (अवर्धन्त) वर्धन्ते (स्वतवसः) स्वं स्वकीयं तवो बलं येषां ते (महित्वना) महिम्ना । महित्वेनेति प्राप्ते वा च्छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति विभक्तेर्नादेशः । अत्र सायणाचार्येण व्यत्ययेन नाभावः कृत्तः सोऽशुद्धः । (आ) समन्तात् (नाकम्) सुखविशेषं स्वर्गम् (तस्थुः) तिष्ठन्तु (उरु) बहु (चक्रिरे) कुर्वन्ति (सदः) सुखस्थानम् (विष्णुः) शिल्पविद्याव्यापनशीलो मनुष्यः (यत्) यम् (ह) किल (आवत्) रक्षणादिकं कुर्यात् (वृषणम्) अग्निजलवर्षणयुक्तं यानसमूहम् (मदच्युतम्) यो मदं हर्षं च्योतति तम् (वयः) पक्षी (न) इव (सीदन्) गच्छन् (अधि) उपरिभावे (वर्हिषि) अन्तरिक्षे (प्रिये) प्रीतिकरे ॥७॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः । यथा पक्षिण आकाशे सुखेन गत्वाऽऽगच्छन्ति तथैव ये प्रशस्तशिल्पविद्याविद्भ्योऽध्यापकेभ्यः साङ्गोपाङ्गा शिल्पविद्यां साक्षात्कृत्य तथा यानानि संसाध्य सम्यग्रक्षित्वा वर्धयन्ति त एवोत्तमां प्रतिष्ठां प्रशस्तानि धनानि च प्राप्य नित्यं वर्धन्त इति ॥७॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है । जैसे पक्षी आकाश में सुखपूर्वक जाके आते हैं वैसे ही साङ्गोपाङ्ग शिल्पविद्या को साक्षात् करके उससे उत्तम यानादि सिद्ध करके अच्छी सामग्री को रख के बढ़ाते हैं वे ही उत्तम प्रतिष्ठा और धनों को प्राप्त होकर नित्य बढ़ा करते हैं ॥७॥

### सायण-भाष्य

ते मरुतः अवर्धन्त वृद्धिं गताः । कीदृशाः । स्वतवसः स्वाश्रयबलाः । नान्यस्य कस्यचिद् बलमपेक्षन्ते । वृद्धिं प्राप्य च महित्वना महिम्ना महत्त्वेन नाकं स्वर्गम् आ तस्थुः आस्थितवन्तः । सदः सदनं नभोलक्षणं स्थानं च स्वकीयनिवासाय उरु विस्तीर्णं चक्रिरे । यत् येभ्यो मरुद्भ्यो यदर्थं वृषणं कामाभिवर्षकं मदच्युतं हर्षस्य आसिक्तारं यज्ञं । विष्णु ह आवत् विष्णुरेवागत्य रक्षति ते मरुतः वयो न पक्षिणो यथा शीघ्रमागच्छन्ति एवं शीघ्रमागत्य बर्हिषि अधि अस्मदीये यज्ञे प्रिये प्रीतिकरे सीदन् सीदन्तु उपविशन्तु ।

शब्दार्थ — अवर्धन्त = वृद्धि को प्राप्त हुये । स्वतवसः = अपने बल से । महित्वना = महिमा से । नाकम् = स्वर्ग । आ तस्थुः = अधिकार कर लिया है । उरु = विस्तृत । सदः = आकाश रूपी स्थान को । आवत् = रक्षा की है । वृषणम् = कामनाओं की पूर्ति करने वाले । मदच्युतम् = हर्ष को देने वाले । वयः = पक्षियों के सामान । अधिसीदन् = आकर बैठें ।

हिन्दी व्याख्या — वे मरुत् देवता अपने ही बल का आश्रय लेकर वृद्धि को प्राप्त हुये हैं । अपनी महिमा से उन्होंने स्वर्ग पर अधिकार कर लिया है । उन्होंने अपने रहने के लिये विस्तृत आकाश रूपी स्थान को बना लिया है । जिन मरुतों के लिये कामनाओं



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

की पूर्ति करने वाले और हर्ष को देने वाले यज्ञ की स्वयं विष्णु ने ही रक्षा की है। प्रीति देने वाले उस यज्ञ की वेदि पर बिछी कुशा पर मरुत् पक्षियों के समान शीघ्र आकर बैठें।  
व्याकरण —

आवत् — 'अव रक्षणे' धातु लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। वर्तमान के अर्थ में लङ् लकार।

मदच्युतम् — 'मदं च्योतयति' अर्थ में मद+च्युत्+क्विप् = मदच्युत्।

विशेष — 'मदच्युतं वृषणम्' का मैक्डानल ने अर्थ किया है — मस्त हुआ बैल (bull reeling with intoxication)। इस बैल की रक्षा विष्णु करते हैं।

मण्डल १

सूक्त ८५

मंत्र ८

संहिता-पाठः

शूरां इवेद्युधयो न जग्मयः श्रवस्यवो न पृतनासु येतिरे।

भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भ्यो राजान इव त्वेषसंदृशो नरः॥

पद-पाठः

शूराः इव। इत्। युयुधयः। न। जग्मयः। श्रवस्यवः। न। पृतनासु। येतिरे। भयन्ते। विश्वा। भुवना। मरुद्भ्यः। राजान इव। त्वेषसंदृशः। नरः॥८॥

अन्वय — शूराः इव इत् युयुधयः न जग्मयः श्रवस्यवः न पृतनासु येतिरे। मरुद्भ्यः विश्वा भुवना भयन्ते। नरः राजानः इव त्वेषसंदृशः।

दयानन्द-भाष्य

पदार्थ — (शूरा इव) यथा शस्त्राऽस्त्रप्रक्षेपयुद्धकुशलाः पुरुषास्तथा (इत्) एव (युयुधयः) साधुयुद्धकारिणः। उत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात् ॥ अ० ३ ॥ २॥ [१७१] ॥ अनेन वार्तिकेनाऽत्र युधधातोः किन् प्रत्ययः। (न) इव (जग्मयः) शीघ्रगमनशीलाः (श्रवस्यवः) आत्मनः श्रवोऽत्रमिच्छन्तः (न) इव (पृतनासु) सेनासु (येतिरे) प्रयतन्ते (भयन्ते) विभ्यति। अत्र बहुलं छन्दसीति शपः स्थाने श्लुर्न व्यत्ययेनात्मनेपदं च। (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (भुवना) भुवनानि लोकाः (मरुद्भ्यः) वायूनामाधार— बलाकर्षणेभ्यः (राजान इव) यथा सभाध्यक्षास्तथा (त्वेषसंदृशः) त्वेषं दीप्तिं पश्यन्ति ते सम्यग्दर्शयितारः (नरः) नेतारः॥८॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः। यथा निर्भयाः पुरुषाः युद्धान्न निवर्तन्ते, यथा योद्धावो युद्धाय शीघ्रं धावन्ति, यथा बुभुक्षवोऽत्रमिच्छन्ति तथा ये सेनासु युद्धमिच्छन्ति, यथा दण्डाधीशेभ्यः सभाध्यक्षेभ्योऽन्यायकारिणो जना उद्विजन्ते तथैव वायुभ्योऽपि सर्वे कुपथ्यकारिणोऽन्यथा तत्सेविनः प्राणिन उद्विजन्ते स्वमर्यादायां तिष्ठन्ति॥८॥

हि० भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालंकार है। जैसे भयरहित पुरुष युद्ध से निवर्त नहीं होते, जैसे युद्ध करने हारे लड़ने के लिए शीघ्र दौड़ते हैं, जैसे क्षुधातुर मनुष्य अन्न की इच्छा और जैसे सेनाओं में युद्ध की इच्छा करते हैं। जैसे दण्ड देने हारे न्यायाधीशों



**मरुत् सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-८५ )**

से अन्यायकारी मनुष्य उद्विग्न होते हैं। वैसे ही कुपथ्यकारी (वायुओं का) अच्छे प्रकार उपयोग न करने हारे मनुष्य वायुओं में भय को प्राप्त होते और अपनी मर्यादा में रहते हैं।

**सायण-भाष्य**

इत् इत्येतत् समुच्चये शूरा इवेत् शौर्योपेताः युयुत्सवः पुरुषाः इव च युयुधयः शत्रुभिर्युध्यमानाः पुरुषा इव च जग्मयः शीघ्रं गच्छन्तो मरुतः श्रवस्यवो न श्रवोऽन्नमात्मन इच्छन्तः पुरुषा इव पृतनासु संग्रामेषु येतिरे प्रयतन्ते वृत्रादिभिर्युद्धे व्याप्रियन्ते। तादृशेभ्यः मरुद्भ्यः विश्वा भुवना सर्वाणि भूतजातानि भयन्ते विभ्यति। ये नरः वृष्ट्यादेर्नेतारो मरुतः राजान इव राजमाना नृपतय इव त्वेषसंदृशः दीप्तसंदर्शना उग्ररुपतया द्रष्टुमशक्या भवन्ति तेभ्य इत्यर्थः।

**शब्दार्थ** — युयुधयः = युद्ध की इच्छा करने वाले। जग्मयः = तीव्रता से चलने वाले। श्रवस्यवः = अन्न या कीर्ति की इच्छा रखने वाले। पृतनासु = संग्रामों में। येतिरे = प्रयत्न करते हैं। नरः = वृष्टि लाने वाले। त्वेषसंदृशः = चमचमाते हुए रूप वाले हैं।

**हिन्दी व्याख्या** — शौर्य ये युक्त पुरुषों के समान और युद्ध करने की इच्छा करने वाले पुरुषों के समान तीव्रता से चलने वाले एवं अपने लिये अन्न का कीर्ति की इच्छा रखने वाले पुरुषों के समान ये मरुत् देवता संग्रामों में प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार के मरुतों से सभी लोक डरते हैं। वृष्टि आदि के लाने वाले वे मरुत् उज्ज्वल राजाओं के सामने चमचमाते हुये रूप वाले हैं।

**व्याकरण —**

**युयुधयः** — 'युध् संप्रहारे' धातु से "उत्सर्गश्छन्दसि" से क्विन् (इ) प्रत्यय। द्वित्व होकर = युयुधि। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

**जग्मयः** — गम्+ क्विन् = जग्मि। प्रथमा का बहुवचन।

**श्रवस्यवः** — 'श्रवः आत्मने इच्छति' अर्थ में "वयाच्छन्दसि" सूत्र से 'यु' प्रत्यय। श्रवस्+यु = श्रवस्यु। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

**त्वेषसंदृशः** — 'त्विष् दीप्तौ', धातु से "पचाद्यच्" अच् प्रत्यय। त्विष्+अच् (अ) = त्वेष। सम्+दृश्+क्विप् = संदृश्। त्वेषः संदृक् येषां ते।

**विशेष** — मैक्डानल के अनुसार 'श्रवस्यवः' का अर्थ 'कीर्ति को चाहने वाले' (fame seeking) 'येतिरे' का अर्थ 'व्यूह बद्ध खड़ा होना' (have arrayed) और 'त्वेषसंदृशः' का अर्थ 'भयानक आकृति वाले (of terrible aspect) है।

**मण्डल १****सूक्त ८५****मंत्र ९****संहिता-पाठः**

त्वष्टा यदवज्रं सुकृतं हिरण्ययं सहस्रभृष्टि स्वपा अवर्तयत्।

धत्त इन्द्रो नर्यपांसि कर्तवऽहन्वृत्रं निरपामौब्जदर्णवम्॥



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

### पद-पाठः

त्वष्टां । यत् । वज्रम् । सुकृतम् । हिरण्ययम् । सहस्रभृष्टिम् । सुअपाः । अवर्तयत् । धत्ते । इन्द्रः । नरि अपांसि । कर्तवे । अहन् । वृत्रम् । निः । अपाम् । औब्जत् । अर्णवम् ॥१॥  
अन्वय — स्वपाः त्वष्टा यत् सुकृतम् हिरण्यम् सहस्रभृष्टिम् वज्रम् अवर्तयत् इन्द्रः नरि अपांसि कर्तवे धत्ते । वृत्रम् अहन् अपाम् निः औब्जत् ।

### दयानन्द-भाष्य

पदार्थ — (त्वष्टा) दीप्तिमत्त्वेन छेदकः । त्विषेर्देवतायामकारश्चोपधाया अनिट्त्वं च ॥ अ० ३ । २ । [१३५] ॥ अनेन वार्तिकेन त्विषधातोस्तृन् । (यत्) यम् (वज्रम्) किरणसमूहजन्यं विद्युदाख्यम् (सुकृतम्) सुष्ठुनिष्पन्नम् (हिरण्यम्) ज्योतिर्मयम् । ऋत्त्य वा० ॥ अ० ६ । ४ । १७५ ॥ अनेन सूत्रेण मयट् प्रत्ययस्य मकारलोपो निपात्यते (सहस्रभृष्टिम्) सहस्रमसंख्याता भृष्टयः पाका यस्मात्तम् (स्वपाः) सुष्ठु अपांसि कर्माणि यस्मात् (अवर्तयत्) वर्तयति (धत्ते) धरति (इन्द्रः) सूर्यः (नरि) नीतिमार्गे मनुष्ये (अपांसि) कर्माणि (कर्तवे) कर्तुम् (अहन्) हन्ति (वृत्रम्) मेघम् (निः) नितराम् (अपाम्) उदकानाम् (औब्जत्) उब्जति सरलीकरोति (अर्णवम्) समुद्रम् ॥१॥

भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यथा सूर्यो मेघं धृत्वा वर्षयित्वा प्रजाः पालयति तथा राजादयोऽविद्याऽन्याययुक्तान् दुष्टान् हत्वा सर्वहिताय सुखसागरं साध्नुवन्तु ॥१॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । जैसे सूर्य मेघ को धारण और हनन कर वर्षा के समुद्र को भरता है वैसे सभापति लोग विद्या न्याययुक्त प्रजा के पालन का धारण करके अविद्या अन्याययुक्त दुष्टों का ताड़न करके सबके हित के लिये सुखसागर को पूर्ण भरें ॥१॥

### सायण-भाष्य

स्वपा शोभनकर्मा त्वष्टा विश्वनिर्माता यद्वज्रम् अवर्तयत् इन्द्रं प्रत्यगमयत् दत्तवानित्यर्थः । कीदृशम् । सुकृतं सम्यङ् । निष्पादितं हिरण्ययं सुवर्णमयं सहस्रभृष्टिम् अनेकाभिर्धाराभिर्युक्तम् । तद्वज्रम् इन्द्रः धत्ते धारयति । किमर्थम् । नरि । अत्र नृसम्बन्धात् नृशब्देन संग्रामोऽभिधीयते । संग्रामे अपांसि शत्रुहननादिलक्षणानि कर्माणि कर्तवे कर्तुम् । एवं वज्रं धृत्वा तेन वज्रेण वृत्रं वृष्ट्याद्युदकस्यावरकम् अर्णवम् अर्णवोदकेन युक्तं मेघम् अहन् अवधीत् । अपां तेन निरुद्धा अपश्च सः निः औब्जत् निःशेषेण अधोमुखमपातयत् । प्रवृष्टा अकरोदित्यर्थः ॥

शब्दार्थ — त्वष्टा = विश्व की रचना करने वाला । सुकृतम् = अच्छी प्रकार से बनाया गया । हिरण्ययम् = सोने का बनाया हुआ । सहस्रभृष्टिम् = हजारों धारों वाला । स्वपा = उत्तम कार्य करने वाला । अवर्तयत् = दिया था । नरि = युद्ध में । कर्तवे = मुक्त करने के लिये । अहन् = मारा । वृत्रम् = वर्षा को रोकने वाले वृक्ष को । अपाम् = जलों



**मरुत् सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-८५ )**

को। निःऔब्जम् = नीचे गिरा दिया। अर्णवम् = मेघ को।

**हिन्दी व्याख्या** — उत्तम कार्य करने वाले और विश्व की रचना करने वाले ने अच्छी प्रकार से बनाये गये, सोने के बनाये हुये हजारों धारों वाले जिस वज्र को इन्द्र के लिये दिया था, इन्द्र उस वज्र को युद्ध में जलों को मुक्त करने के लिये अथवा शत्रु हनन आदि कर्मों को करने के लिये धारण करता है। उस इन्द्र ने वर्षा को रोकने वाले वृत्र को जल से भरे हुये मेघ को मारा तथा जलों को सम्पूर्ण रूप से नीचे गिरा दिया अर्थात् बरसा दिया।

**व्याकरण —**

**हिरण्यम्** — 'हिरण्यस्य विकारः' अर्थ में हिरण्य=मयट्, 'म' का छान्दस लोप= हिरण्यय।

**कर्तवे** — 'कर्तुम्' अर्थ में 'कृ' धातु से 'तुमर्थे सेसेन्' तवे (अवे) प्रत्यय।

**औब्जत्** — उब्ज् धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

**अर्णवम्** — 'अर्णासि अस्य सन्ति' अर्थ में 'व' प्रत्यय। अर्णस्+व (स का लोप)= अर्णव।

**विशेष** — मैक्डानल ने 'नरि' का अर्थ 'मनुष्योचित (manly) और अपांसि' का अर्थ 'कार्य' (deeds) किया है।

मण्डल १

सूक्त ८५

मंत्र १०

**संहिता-पाठः**

ऊर्ध्वं नुनद्रऽवतं त ओजसा दादहाणं चिद्विभिदुर्वि पर्वतम्।

धमन्तो वाणं मरुतः सुदानवो मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे॥

**पद-पाठः**

ऊर्ध्वम्। नुनुद्रे। अवतम्। ते। ओजसा। दादहाणम्। चित्। विभिदुः। वि। पर्वतम्। धमन्तः। वाणम्। मरुतः। सुदानवः। मदे। सोमस्य। रण्यानि। चक्रिरे॥१०॥

**अन्वय** — ते अवतम् ओजसा ऊर्ध्वम् नुनुद्रे। दादहाणम् चित् पर्वतम् वि विभिदुः। सुदानवः मरुतः वाणम् धमन्तः सोमस्य मदे रण्यानि चक्रिरे।

**दयानन्द-भाष्य**

**पदार्थ** — (ऊर्ध्वम्) उत्कृष्टमार्गं प्रति (नुनुद्रे) नुदन्ति (अवतम्) रक्षणादियुक्तम् (ते) मनुष्याः (ओजसा) बलपराक्रमाभ्याम् (दादहाणम्) दहितुं शीलम् (चित्) इव (विभिदुः) भिन्दन्तु (वि) विविधार्थं (पर्वतम्) मेघम् (धमन्तः) कम्पयमानाः (वाणम्) वाणदिशस्त्रास्त्रसमूहम् (मरुतः) वायवः (सुदानवः) शोभनानि दानानि येषां ते (मदे) हर्षे (सोमस्य) उत्पन्नस्य जगतो मध्ये (रण्यानि) रणेषु साधूनि कर्माणि (चक्रिरे) कुर्वन्ति॥१०॥

**भावार्थ** — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। मनुष्या अस्य जगतो मध्ये जन्म प्राप्य विद्याशिक्षां गृहीत्वा वायुवत् कर्माणि कृत्वा सुखानि भुञ्जीरन्॥१०॥



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमलङ्कार है। मनुष्य लोग इस जगत् में जन्म पा, विद्या शिक्षा का ग्रहण और वायु के समान कर्म करके सुखों को भोगें।।१०।।

### सायण-भाष्य

अथेयम् आख्यायिका। गौतम ऋषिः पिपासया पीडितः सन् मरुत उदकं ययाचे। तदनन्तरं मरुतोऽदूरस्थं कूपमुद्धृत्य यत्र स गौतम ऋषिस्तिष्ठति तां दिशं नीत्वा ऋषीसमीपे कूपमवस्थाप्य तत्पार्श्वे आहवं च कृत्वा तस्मिन्नाहवे कूपमुत्सिच्य तमृषिं तेनोदकेन तर्पयाञ्चक्रुः। अयमर्थोऽनयोत्तरया च प्रतिपाद्यते। ते मरुतः अवतम्। अधस्तात्ततो भवतीति अवतः कूपः कूपनामसु च 'अवतः अवरः' (नि० ६.२३.७) इति पठितम्। तम् ऊर्ध्वम् उपरि यथा भवति तथा ओजसा स्वकीयेन बलेन नुनुद्रे प्रेरितवन्तः उत्खातवन्त इत्यर्थः। एवं कूपमुल्खाय ऋषेराश्रमं प्रति नयन्तः मरुतः मार्गमध्ये ददहाणं प्रवृद्धं गतिनिरोधकं पर्वतं चित् पर्ववन्तं शिलोच्चयमपि वि बिभिदुः विशेषेण बभञ्जुः। सुदानवः शोभनदानास्ते मरुतः वाणं शतसंख्याभिः तन्त्रीभिर्युक्तं वीणा विशेषं धमन्तः वादयन्तः सोमस्य मदे सोमपानेन हर्षे सति रणयानि स्तुत्यानि रमणीयानि धनानि चक्रिरे स्तोतृभ्यः कुर्वन्ति।

शब्दार्थ — ऊर्ध्वम् = ऊपर तक। नुनुद्रे = प्रेरित किया है। अवतम् = नीचे तल वाले कुयें को। ददहाणम् = गतिरोधक पर्व वाले पर्वत को। बिभिदुः = तोड़ दिया है। धमन्तः = बजाते हुये। वाणम् = सौ तारों वाली विशेष प्रकार की वीणा। सुदानवः = उत्तम दान करने वाले। मदे = प्रसन्नता में। रणयानि = रमणीय धनों को।

हिन्दी व्याख्या — उन मरुत् देवताओं ने नीचे तल वाले इस कुये को अपने बल से ऊपर तक प्रेरित किया है। अर्थात् जिस प्रकार से उसमें ऊपर तक पानी भर जावे, उस प्रकार से खोदा है। उस कुये को ऋषि गौतम के आश्रम की ओर ले जाते हुये मार्ग में बटे हुये गतिरोधक पर्व वाले पर्वत को तोड़ दिया है। उत्तम दान करने वाले इन मरुतों ने सौ तारों वाली एक विशेष प्रकार की वीणा को बजाते हुये सोमपान की प्रसन्नता में रमणीय धनों को उपासकों को प्रदान किया है।

### व्याकरण —

ददहाणम् — 'दहि वृद्धौ' धातु के लिट् लकार के अर्थ में 'कानच्' प्रत्यय।

रणयानि — रण् धातु से यत् प्रत्यय।

धमन्तः — ध्मा+शतृ = धमत्।

सुदसवः — शोभनं दानं मेषां तु सुदानवः।

विशेष — मैक्डानल ने 'रणयानि' का अर्थ 'यशस्वी कार्य (glorious deeds) किया है।

इस सूक्त के सम्बन्ध में एक कथा प्रसिद्ध है। एक बार प्यास से व्याकुल गौतम ऋषि ने मरुतों से जल मांगा। मरुतों ने एक कुआ खोदा और उसको उठाकर गौतम ऋषि के पास ले आये। वहाँ उन्होंने एक चौबच्चा बनाकर और उसमें कुयें के जल को भर ऋषी को पिलाया।



मण्डल १

सूक्त ८५

मंत्र ११

संहिता-पाठः

जिह्वां नुनुदऽवतं तया दिशा सिञ्चन्नुत्सं गोतमाय तृष्णजे ।  
आ गच्छन्तीमयंसा चित्रभानवः कामं विप्रस्य तर्पयन्त धामभिः ॥

पद-पाठः

जिह्वम् । नुनुद्रे । ऊवतम् । तया । दिशा । असिञ्चन् । उत्सम् । गोतमाय । तृष्णजे ॥  
आ । गच्छन्ति । ईम् । अवसा । चित्रभानवः । कामम् । विप्रस्य । तर्पयन्त । धामभिः ॥११॥  
अन्वय — अवतम् तया दिशा जिह्वमनुनुद्रे, तृष्णजे गोतमाय उत्सम् असिञ्चन् । चित्रभानवः  
ईम् अवसा आगच्छन्ति, धामभिः विप्रस्य कामम् तर्पयन्त ।

दयानन्द-भाष्य

पदार्थ — (जिह्वम्) कुटिलम् (नुनुद्रे) प्रेरयन्ति (अवतम्) निम्नदेशस्थम् (तया) अभीष्टया  
(दिशा) (असिञ्चन्) सिञ्चन्ति (उत्सम्) कूपम् । उत्सइति कूपनाम० ॥ निघं० ३।२३॥  
(गोतमाय) गच्छतीति गौः सोतिशयितो गोतमस्तस्मै भृशं मार्गे गन्त्रे जनाय (तृष्णजे) तृषितु  
शीलाय । स्वपितृषोर्नजिङ् । अ० ३।२।१७२॥ अनेन सूत्रेण तृषधातोर्नजिङ् । प्रत्ययः ।  
(आ) समन्तात् (गच्छन्ति) यान्ति (ईम्) पृथिवीम् (अवसा) रक्षणादिना (चित्रभानवः)  
आश्चर्यप्रकाशाः (कामम्) इच्छासिद्धिम् (विप्रस्य) मेधाविनः (तर्पयन्त) तर्पयन्ति (धामभिः)  
स्थानविशेषैः ॥११॥

भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । मनुष्याः कूपं सम्पाद्य क्षेत्रवाटिका— दीनि  
संसिच्य तत्रोत्पन्नेभ्योऽन्नफलादिभ्यः प्राणिनः सन्तर्प्य सुखयन्ति तथैव सभाध्यक्षादयः  
शास्त्रविशारदान् विदुषः कामैरलंकृत्यैतैर्विद्यासुशिक्षाधर्मान् सम्प्रचार्य प्राणिन आनन्दयन्तु ॥११॥

हि०भावार्थ — जैसे मनुष्य कूप को खोद खेत वा बगीचे आदि को सींचके उसमें  
उत्पन्न हुए अन्न और फलादि से प्राणियों को तृप्त करके सुखी करते हैं वैसे ही सभाध्यक्ष  
आदि लोग वेदशास्त्रों में विशारद विद्वानों को कामों से पूर्ण करके इनसे विद्या, उत्तम शिक्षा  
और धर्म का प्रचार कराके सब प्राणियों को आनन्दित करें ॥११॥

सायण-भाष्य

मरुतः अवतम् उद्धृतं कूपं यस्यां दिशि ऋषिर्वसति तया दिशा जिह्वां वक्रं तिर्यञ्चं  
नुनुद्रे प्रेरितवन्तः । एवं कूपं नीत्वा ऋष्याश्रमेऽवस्थाप्य तृष्णजे तृषिताय गोतमाय ऋषये  
तदर्थम् उत्सं जल प्रवाहं कूपादुद्धृत्य असिञ्चन् आहवे अवानयन् । एवं कृत्वा ईम् एवं  
स्तोतारमृषि चित्रभानवः विचित्रदीप्तयस्ते मरुतः अवसा ईदृशेन रक्षणेन सह आ गच्छन्ति  
तस्समीपं प्राप्नुवन्ति । प्राप्य च विप्रस्य मेधाविनो गोतमस्य कामम् अभिलाषं धामभिः  
धारकैरुदकैः तर्पयन्त अतर्पयन् ।

शब्दार्थ — जिह्वा = तिरछा । नुनुद्रे = प्रेरित किया । असिञ्चन् = भरा । उत्सम्



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

= जल प्रवाह को, चौबच्चे को। गौतमाय = गौतम ऋषि के लिये। तृष्णजे = प्यासे। आगच्छन्ति = आये हैं। अवसा = रक्षा करने के लिये। चित्रभानवः = सुन्दर कान्ति वाले। कामम् = इच्छा को। विप्रस्य = ब्राह्मण गोतम की। तर्पयन्त = तृप्त किया। धामभिः = आयु को धारण करने वाले जलों से।

हिन्दी व्याख्या — उन मरुतों ने उस खोदे हुये कुयें को, जिस दिशा में ऋषि गौतम थे, उस दिशा में तिरछा प्रेरित किया अर्थात् ले गये। वहाँ जाकर उन्होंने प्यासे गौतम ऋषि के लिये चौबच्चे को भरा। इसके बाद सुन्दर कान्ति वाले मरुत ऋषि की रक्षा के लिये आये और उन्होंने आयु को धारण करने वाले जलों से उन ब्राह्मण गौतम ऋषि की इच्छा को तृप्त किया। 'ईम्' शब्द यहाँ निरर्थक है और केवल पादपूर्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है।

व्याकरण —

तृष्णजे — 'जितृषा' धातु से "स्वपितृषोर्नजिङ्" से नजिङ् (नज्) प्रत्यय। तृष्+नजिङ् = तृष्णज्। चतुर्थी विभक्ति का एकवचन। अथवा तृष्+नङ्+जन्+ङ = तृष्णज्।

धामभिः — धा + मनिन् = धामन्। तृतीया का बहुवचन।

विशेष — मैक्डानल ने 'धामभिः' का अर्थ किया है — अपनी शक्तियों से (by their powers)।

मण्डल १

सूक्त ८५

मंत्र १२

संहिता-पाठः

या वः शर्म शशमानाय सन्ति त्रिधातूनि दाशुषे यच्छताधि।

अस्मभ्यं तानि मरुतो वि यन्त रयि नो धत्त वृषणः सुवीरम्।

पद-पाठः

या। वः। शर्म। शशमानाय। सन्ति। त्रिधातूनि। दाशुषे। यच्छत। अधि। अस्मभ्यम्। तानि। मरुतः। वि। यन्त। रयिम्। नः। धत्त। वृषणः। सुवीरम्॥१२॥

अन्वय — मरुतः ! वः या त्रिधातुनि शर्म शशमानाय सन्ति, दाशुषे अधियच्छत, तानि अस्मभ्यम् वि यन्त! वृषणः नः सुवीरम् रयिम् धत्त।

दयानन्द-भाष्य

पदार्थ — (या) यानि (वः) युष्माकम् (शर्म) शर्माणि सुखानि (शशमानाय) विज्ञानवते। शशमान इति पदना० निघं० ४।३॥ (सन्ति) वर्तन्ते (त्रिधातूनि) त्रयो वातपित्तकफा येषु शरीरेषु वाऽयः सुवर्णरजतानि येषु धनेषु तानि (दाशुषे) दानशीलाय (यच्छत) दत्त (अधि) उपरिभावे (अस्मभ्यम्) (तानि) (मरुतः) मरणधर्माणो मनुष्यास्तत्सम्बुद्धौ (वि०) (यन्त) प्रयच्छत। अत्र यमधातोर्बहुलछन्दसीति शपोलुक्। (रयिम्) श्रीसमूहम् (नः) अस्मान् (धत्त) (वृषणः) वर्षन्ति ये तत्सम्बुद्धौ (सुवीरम्) शोभना वीरा यस्मात्तम्॥१२॥



**मरुत् सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-८५ )**

**भावार्थ** — सभाध्यक्षादिभिः सुखदुःखावस्थायां सर्वान् प्राणिनः स्वात्मवन् मत्वा सुखधनादिभिः पुत्रवत्पालनीयाः । प्रजासेनास्थैः पुरुषैश्चैते पितृवत्सत्कर्त्तव्या इति ॥१२॥

**हि० भावार्थ** — सभाध्यक्षादि लोगो को योग्य है कि सुख-दुःख की अवस्था में सब प्राणियों को अपने आत्मा के समान मान के सुख धनादि से युक्त करके पुत्रवत् पालें और प्रजा सेना के मनुष्यों को योग्य है कि उनका सत्कार पिता के समान करें ॥१२॥

**सायण-भाष्य**

हे मरुतः व युष्माकं सम्बन्धीनि या यानि शर्म शर्माणि सुखानि गृहाणि वा । कीदृशानि । त्रिधातूनि पृथिव्यादिषु त्रिषु स्थानेष्ववस्थितानि शशमानाय युष्मान् स्तुतिभिर्यजमानाय दातुं सम्पादितानि । पूर्वोक्तलक्षणानि शर्माणि यानि सन्ति यानि च दाशुषे हविर्दत्तवन्ते यजमानाय अधियच्छत अधिकं प्रयच्छत । हे मरुतः तानि सर्वाणि शर्माणि अस्मभ्यं वि यन्त विशेषेण प्रयच्छत । किं च हे वृषणः कामानां वर्षितारो मरुतः नः अस्मभ्यं सुवीरं शोभनैः वीरैः पुत्रादिभिर्युक्त रयिं धनं धत्त दत्त ।

**शब्दार्थ** — शर्म = सुख, घर । शशमानाय = स्तुति करने वाले उपासकों के लिये । त्रिधातूनि = तीन स्थानों पर बने हुये । दाशुषे = हवि प्रदान करने वाले यजमान के लिये । अधियच्छत = अधिक देते हो । वियन्त = विशेष रूप से दो । रयिम् = धन को । वृषणः = कामनाओं की वर्षा करने वाला । सुवीरम् = उत्तम वीर पुत्र आदि से युक्त ।

**हिन्दी व्याख्या** — हे मरुतो ! तुम्हारे जो तीन स्थानों पर बने हुये सुख अथवा घर स्तुति करने वाले उपासकों के लिये हैं और जिनको तुम हवि प्रदान करने वाले यजमानों के लिये अधिक देते हो, हे मरुतो ! उन सुखों को और घरों को हमें भी विशेष रूप से दो । हे कामनाओं की वर्षा करने वाले मरुतो ! हमारे लिये उत्तम वीर पुत्र आदि से युक्त धन को दो ।

**व्याकरण —**

**शशमानाय** — 'शश प्लुतगतौ' धातु से 'शानश्' प्रत्यय = शशमान ।

**यन्त** — 'यन्' धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन ।

**वृषणः** — वृष+कनिन् (अन्) = वृषन् । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन ।

**विशेष** — मैक्डानल ने 'शशमानाय' का अर्थ 'उत्साही' (zealous man) और 'शर्म' का अर्थ 'शरणास्थल' (shelters) किया है ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****सूर्य सूक्त****ऋषि-कुत्स****देवता-सूर्य****छन्द-त्रिष्टुप्****मण्डल १****सूक्त ११५****मंत्र १****संहिता-पाठः**

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।

आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगत्तस्थुषश्च ।।

**पद-पाठः**

चित्रम् । देवानाम् । उत् । अगात् । अनीकम्, चक्षुः । मित्रस्य । वरुणस्य । अग्नेः ।  
 आ । अ प्राः । द्यावापृथिवी । इति । अन्तरिक्षम्, सूर्यः । आत्मा । जगत् । तस्थुषः । च ।।१।।  
 अन्वय - देवानाम् अनीकम् चित्रम् मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः चक्षुः सूर्यः उदगात् । द्यावापृथिवी  
 अन्तरिक्षम् आ अप्राः । जगतः तस्थुषः च आत्मा ।

**दयानन्द-भाष्य**

(चित्रम्) अदभुतम् (देवानाम्) विदुषां दिव्यानां पदार्थानां वा (उत्) उत्कृष्टतया  
 (अगात्) प्राप्तमस्ति (अनीकम्) चक्षुरादीन्द्रियैरप्राप्तम् (चक्षुः) दर्शकं ब्रह्म (मित्रस्य) सुहृद  
 इव वर्तमानस्य सूर्यस्य (वरुणस्य) आह्लादकस्य जलचन्द्रादेः (अग्नेः) विद्युदादेः (आ)  
 समन्तात् (अप्राः) पूरितवान् (द्यावापृथिवी) प्रकाशभूमि (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (सूर्यः)  
 सवितेव ज्ञानप्रकाशः (आत्मा) अतति सर्वत्र व्याप्नोति सर्वान्तर्यामी (जगतः) जङ्गमस्य  
 (तस्थुषः) स्थावरस्य (च) सकलजीवसमुच्चये ।।१।।

**भावार्थ** - न खलु दृश्यं परिच्छिन्नं वस्तु परमात्मा भवितुमर्हति, नो कश्चिदप्यव्यक्तेन  
 सर्वशक्तिमता जगदीश्वरेण बिना सर्वस्य जगत् उत्पादनं कर्तुं शक्नोति, नैव कश्चित्  
 सर्वव्यापकसच्चिदानन्दस्वरूपमनन्तर्यामिणं सर्वात्मानं परमेश्वरमन्तरा जगद्धर्तुं जीवानां  
 पापपुण्यानां साक्षित्वं फलदानं च कर्तुं मर्हति, नह्ये तस्योपासनया बिना धर्मार्थकाममोक्षान्  
 लब्धुं कोऽपि जीवः शक्नोति, तस्मादयमेवोपास्य इष्टदेवः सर्वैर्मन्तव्यः ।।१।।

**हि०भावार्थ** - जो देखने योग्य परिमाण वाला पदार्थ है, वह परमात्मा होने के  
 योग्य नहीं । न कोई भी उस अव्यक्त सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर के बिना समस्त जगत् को  
 उत्पन्न कर सकता है और न कोई सर्वव्यापक, सच्चिदानन्दस्वरूप, अनन्त, अन्तर्यामी,  
 चराचर जगत् के आत्मा परमेश्वर के बिना संसार के धारण करने, जीवों को पाप और  
 पुण्यों को साक्षीपन और उनके अनुसार जीवों को धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष फल प्रदान  
 करने में समर्थ नहीं है । अतः उसी इष्टदेव की सबको उपासना करनी चाहिए ।

**सायण-भाष्य**

देवानाम् । दीव्यन्ति इति देवाः रश्मयः । तेषां देवजनानामेव वा अनीकं समूहरूपं  
 चित्रमाश्चर्यकरं सूर्यस्य मण्डलमुदगात् उदयाचलं प्राप्तमासीत् । कीदृशम् । मित्रस्य



## सूर्य सूक्त (मण्डल-१, सूक्त-११५)

वरुणस्याग्नेश्च । उपलक्षणमेतत् । तदुपलक्षितानां जगतां चक्षुः प्रकाशकं चक्षुरिन्द्रियस्थानीयं वा । उदयं प्राप्य च द्यावापृथिवी दिवं पृथिवीमन्तरिक्षं च आ अप्राः स्वकीयेन तेजसा आ समन्तादपूरयत् । ईदृग्भूतमण्डलान्तर्वर्ती सूर्यान्तर्यामितया सर्वस्य प्रेरकः परमात्मा जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य चात्मा स्वरूपभूतः । स हि सर्वस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य कार्यवर्गस्य कारणम् । कारणाच्च कार्यं नातिरिच्यते । तथा च पारमर्ष सूत्रम् । 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इति (ब्रह्मसूक्त २.१.१४) । यद्वा स्थावरजङ्गमात्मकस्य संघस्य प्राणिजातस्य जीवात्मा । उदिते हि सूर्ये मृतप्रायं सर्वं जगत्पुनश्चेतनायुक्तं सदुपलभ्यते । तथा च श्रूयते । 'योऽसौ तपन्नुपन्नुदेति स सर्वेषां भूतानां प्राणानादायोदेति' इति (तै०आ० १. १४.१) ।

शब्दार्थ — देवानाम् = किरणों का, देवताओं का । चित्रम् = आश्चर्यजनक । उदगात् = उदय हुआ है । अनीकम् = समूह । चक्षुः = प्रकाशक । आ अप्राः = चारों ओर से भर दिया है । जगतः = गतिशील संसार का । तस्थुषः = स्थावर संसार का ।

हिन्दी व्याख्या — किरणों का या देवताओं का समूह रूप, आश्चर्यजनक और मित्र, वरुण एवं अग्नि का अर्थात् सम्पूर्ण संसार का चक्षुः अर्थात् प्रकाशक वह सूर्य देवता उदय हुआ है । उदय होने के बाद उसने द्युलोक, पृथिवी लोक और अन्तरिक्ष लोक को सब ओर से प्रकाश से भर दिया है । वह सूर्य जङ्गम अर्थात् गतिशील और तस्थुषः अर्थात् स्थावर संसार की आत्मा है । सूर्य के उदय होने पर स्थावर और जङ्गम की संसार में वृद्धि होती है ।

### व्याकरण —

उदगात् — उत् + इण् धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

अनीकम् — अन् + ईकक् ।

चक्षुः — चक्ष् + उस् ।

अप्राः — 'प्रा पूरणे' धातु, लङ् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन । प्रथम पुरुष के स्थान पर वैदिक मध्यम पुरुष ।

द्यावापृथिवी — द्यौः च पृथिवी च इस द्वन्द्व समास में 'द्यौ' को 'द्यावा' आदेश ।

सूर्यः — सरति सारयति वा अर्थ में 'क्यप्' प्रत्यय ।

जगत् — गम् + क्विप् (गम् को द्वित्व) ।

तस्थुषः — स्था + क्वसु (द्वित्व और सम्प्रसारण) ।

विशेष — सायण ने 'अनीक' का अर्थ 'समूह' किया है, परन्तु पीटर्सन इसका अर्थ 'सुख' करते हैं । छन्द की पूर्ति के लिए दूसरे चरण में 'मित्रस्य' को 'मित्रसिय' पढ़ना चाहिये ।

प्रस्तुत मन्त्र में छन्दविषयक अनियमितता है । त्रिष्टुप् छन्द होने से प्रत्येक चरण में ११ वर्ण होने चाहियें, परन्तु दूसरे चरण में १० वर्ण हैं ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

मण्डल १

सूक्त ११५

मंत्र २

संहिता-पाठः

सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां, मर्यो न योषामभ्येति पश्चात् ।

यत्र नरो देवयन्तो युगानि, वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम् ॥

पद-पाठः

सूर्यः । देवीम् । उषसम् । रोचमानाम् । मर्यः । न । योषाम् । अभि । एति । पश्चात् ।  
 यत्र । नरः । देवयन्तः । युगानि । वितन्वते । प्रति । भद्राय । भद्रम् ॥२॥  
 अन्वय — सूर्यः रोचमानाम् देवीम् उषसम् पश्चात् अभ्येति मर्यः योषाम् न । यत्र देवयन्तः  
 नरः प्रतिभद्राय भद्रम् युगानि वितन्वते ।

दयानन्द-भाष्य

(सूर्यः) सविता (देवीम्) द्योतिकाम् (उषसम्) सन्धिवेलाम् (रोचमानाम्) रुचिकारिकाम्  
 (मर्यः) पतिर्मनुष्यः (न) इव (योषाम्) स्वभार्याम् (अभि) अभितः (एति) (पश्चात्) (यत्र)  
 यस्मिन् । अत्र दीर्घः । (नरः) नयनकर्तारो गणकाः (देवयन्तः) कामयमाना गणितविद्यां  
 जानन्तो ज्ञापयन्तः (युगानि) वर्षाणि कृतत्रेताद्वापरकलिसंज्ञानि वा (वितन्वते) विस्तारयन्ति  
 (प्रति) (भद्राय) कल्याणाय (भद्रम्) कल्याणम् ॥२॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः । हे विद्वांसो युष्माभिर्यनेश्वरेण सूर्यं निर्माय प्रतिब्रह्माण्डस्य  
 मध्ये स्थापितस्तमाश्रित्य गणितादयः सर्वे व्यवहाराः सिध्यन्ति स कुतो न सेव्येत ॥२॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है । हे विद्वानो ! तुम लोगो से जिस ईश्वर  
 ने सूर्य को बनाकर प्रत्येक ब्रह्माण्ड में स्थापना किया, उसके आश्रय से गणित आदि  
 समस्त व्यवहार सिद्ध होते हैं, वह ईश्वर क्यों न सेवन किया जाय ॥२॥

सायण-भाष्य

सूर्यो देवीं दानादिगुणयुक्तां रोचमानां दीप्यमानामुषसं पश्चादभ्येति उषसः प्रादुर्भावानन्तरं  
 तामभिलक्ष्य गच्छति । तत्र दृष्टान्तः । मर्यो न योषाम् । यथा कश्चिन्मनुष्यः शोभनावयवां  
 गच्छन्तीं युवतिं स्त्रियं सततमनुगच्छति तद्वत् । यत्र यस्यामुषसि जातायां देवयन्तो देवं  
 द्योतमानं सूर्यं यष्टुमिच्छन्तो नरो यज्ञस्य नेतारो यजमानाः । युगानि । युगशब्दः कालवाची ।  
 तेन च तत्र कर्तव्यानि कर्माणि लक्ष्यन्ते यथा दर्शपूर्णमासाविति । अग्निहोत्रादीनि कर्माणि  
 वितन्वते विस्तारयन्ति । यद्वा देवयन्तो देवयागार्थं धनमात्मन इच्छन्तो यजमानपुरुषा युगानि  
 हलावयवभूतानि कर्षणाय वितन्वते प्रसारयन्ति । तामुषसमनुगच्छन्तीत्यर्थः । एवं विधं भद्रं  
 कल्याणं सूर्यं प्रति भद्राय कल्याणरूपाय कर्मफलाय स्तुम इति शेषः । यद्वा देवयन्तो  
 देवकामा यजमाना युगानि युग्मानि भूत्वा पत्नीभिः सहिताः सन्तो भद्रं कल्याण- मग्निहोत्रादिकं  
 कर्म भद्राय तत्फलार्थं प्रति प्रत्येकं यस्यामुषसि प्रवृत्तायां वितन्वते विस्तारयन्ति ।

शब्दार्थ — देवीम् = प्रकाशमान होती हुई । उषसम् = उषा देवी के । रोचमानाम्  
 = दीप्तिमती । मर्यः = युवक मनुष्य । योषाम् = सुन्दर युवती के । अभ्येति = आता है ।



देवयन्तः = सूर्य देव की उपासना करते हुये, सूर्य को अपना बनाने के इच्छुक। युगानि = कर्मों को, हल के जुओं को। वितन्वते = सम्पन्न करते हैं, जोतते हैं। भद्राय प्रति = कल्याणकारी फल को प्राप्त करने के लिए।

हिन्दी व्याख्या —सूर्य प्रकाशमान होती हुई दीप्तिमती उषा देवी के पीछे-पीछे उसी प्रकार आता है, जिस प्रकार कोई युवक मनुष्य किसी सुन्दर युवती के पीछे-पीछे आता है। जिस उषा देवी के उदय होने पर सूर्य देव की उपासना करते हुये अथवा सूर्य को अपना बनाने के इच्छुक भक्त मनुष्य प्रत्येक उषा काल में उत्तम कल्याणकारी फल को प्राप्त करने के लिए कल्याणकारी कर्मों को सम्पन्न करते हैं। अथवा कल्याणकारी फलों को प्राप्त करने के लिये कल्याणकारी हलों के जुओं को जोतते हैं।

व्याकरण —

रोचमानाम् — रुच्+शानच्+टाप् (शप् और मुक् का आगम)

मर्यः — 'मृड्. प्राणत्यागे' धातु से 'छन्दसि निष्टक्यं', आदि सूत्र से निपातनात् यत् प्रत्यय।

एति — इण् गतौ धातु से लट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन।

युगानि — 'युजिर् योगे' धातु से धञ् प्रत्यय। छान्दस गुणाभाव।

देवयन्तः — देवम् आत्मनः इच्छन्तः अर्थ में 'क्यच्' प्रत्यय। वैदिक विशेषता के कारण 'अ' को 'ई' नहीं हुआ।

वितन्वते — वि+तन् धातु से लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

विशेष — मन्त्र के उत्तरार्ध के सायण ने अनेक अर्थ किये हैं, परन्तु उसका कोई अर्थ युक्ति संगत नहीं है, ऐसा पीटर्सन का कहना है। रॉथ ने 'युगानि' का अर्थ जुआ (Yoke) किया था। ग्रासमान के अनुसार 'युगानि वितन्वते' का अर्थ 'जुए को खोलते हैं' (to unyoke) है। लुडविग के अनुसार इसका अर्थ है — where pious men stretch out their generations happily under the eye of the auspicious sun, पीटर्सन ने लुडविग के अनुसार ही अर्थ किया है, परन्तु 'प्रति' के अर्थ को उसने ठीक नहीं समझा।

मर्यः, योषा, देवयन्तः ये सभी वैदिक रूप हैं। लोक में मर्त्य, योषित्, देवीयन्तः रूप बनने चाहिये।

छन्द की पूर्ति के लिए दूसरे चरण में 'मर्य' का उच्चारण 'मरिय' होना चाहिये।

मण्डल १

सूक्त ११५

मंत्र ३

संहिता-पाठः

भद्रा अश्वां हरितः सूर्यस्य चित्रा एवंग्वा अनुमाद्यांसः।

नमस्यन्तो दिव आ पृष्ठमस्थुः परि द्यावापृथिवी यन्ति सद्यः॥



## पद-पाठः

भद्राः । अश्वाः । हरितः । सूर्यस्य । चित्राः । एतङ्गवाः । अनुमाद्यासः । नमस्यन्तः । दिवः । आ । पृष्ठम् । अस्थुः । परि । द्यावापृथिवी । इति । यन्ति । सद्यः ॥

अन्वय — भद्राः चित्राः एतङ्गवाः अनुमाद्यासः हरितः सूर्यस्य अश्वाः नमस्यन्तः दिवः पृष्ठम् आ अस्थुः । सद्यः द्यावापृथिवी परियन्ति ।

## दयानन्द-भाष्य

(भद्राः) कल्याणहेतवः (अश्वाः) महान्तो व्यापनशीलाः किरणाः (हरितः) दिशः । हरित इति दिङ्नाम ॥ निघं० १।६ ॥ (सूर्यस्य) सवितृलोकस्य (चित्राः) अद्भुता अनेकवर्णाः (एतङ्गवाः) एतान् प्रत्यक्षान् पदार्थान् गच्छन्तीति (अनुमाद्यासः) अनुमोदकारकगुणेन प्रशंसनीयाः (नमस्यन्तः) सत्कुर्वन्तः (दिवः) प्रकाश्यस्य पदार्थस्य (आ) पृष्ठम् पश्चाद् भागम् (अस्थुः) तिष्ठन्ति (परि) सर्वतः (द्यावापृथिवी) आकाशभूमि (यन्ति) प्राप्नुवन्ति (सद्यः) शीघ्रम् ॥३॥

भावार्थ — मनुष्याणां योग्यमस्ति श्रेष्ठानध्यापकानाप्तान् प्राप्त नमस्कृत्य गणितादिक्रियाकौशलतां परिगृह्य सूर्यसम्बन्धिव्यवहारानुष्ठानेन कार्यसिद्धिं कुर्युः ॥३॥

हि०भावार्थ — मनुष्यों को योग्य है कि श्रेष्ठ पढ़ानेवाले शास्त्रवेत्ता विद्वानों को प्राप्त हो, उनका सत्कार कर। उनसे विद्या पढ़, गणित आदि क्रियाओं की चतुराई को ग्रहण कर, सूर्यसम्बन्धि व्यवहारों का अनुष्ठान कर कार्यसिद्धि करें ॥३॥

## सायण-भाष्य

भद्राः कल्याणाः । अश्वाः एतङ्गवा इत्येतदुभयमश्वानाम् । तत्रैकं क्रियापरं योजनीयम् । अश्वास्तुरगा व्यापनशीला वा । हरितो हर्तारश्चित्राः विचित्रावयवाः अनुमाद्यासोऽनुक्रमेणा सर्वैः स्तुत्या मादनीयाः इति यावत् । एवंभूताः सूर्यस्यैतङ्गवाः अश्वाः । यद्वा एतं गन्तव्यं मार्गं गन्तारोऽश्वाः एतं शबलवर्णं नीलवर्णं वा प्राप्नुवन्तोऽश्वाः । नमस्यन्तोऽस्माभिर्मनस्यमानाः सन्तो दिवोऽन्तरिक्षस्य पृष्ठपरिदेशं पूर्वभागलक्षणम् आ तरस्थुः । आतिष्ठन्ति प्राप्नुवन्ति । यद्वा हरितो रसहरणशीला रश्मयो भद्रादिलक्षणविशिष्टाः दिवः पृष्ठं नभःस्थलमातिष्ठन्ति । आस्थाय च द्यावापृथिव्यौ सद्यस्तदानीमेवैकेनाह परियन्ति । परितो गच्छति व्याप्नुवन्तीत्यर्थः ।

शब्दार्थ — भद्राः = कल्याण करने वाला । अश्वाः = घोड़े । हरितः = हरे रंग के, हरित् नाम वाले, चित्राः विचित्र, रंगबिरंगे, अद्भुत अङ्गों वाले । एतङ्गवाः = तीव्र गति वाले, आकाश में गति करने वाले । अनुमाद्यासः = स्तुति करने योग्य । नमस्यन्तः = नमस्कार किये जाते हुये, झुक कर चलते हुये । दिवः = आकाश के । आ अस्थुः = अधिष्ठित हो चुके हैं । परियन्ति = परिक्रमा करते हैं ।

हिन्दी व्याख्या — कल्याण करने वाले, विचित्र या रंगबिरंगे, अद्भुत अवयवों वाले, तीव्र गति वाले या आकाश में गति करने वाले, एक-एक करके स्तुति या प्रशंसा करने योग्य, हरे रंग के या 'हरित्' इस नाम वाले सूर्य के घोड़े हमारे द्वारा नमस्कार किये जाते हुए या झुक कर चलते हुए आकाश के पृष्ठ पर अधिष्ठित हो चुके हैं । अथवा इस प्रकार



की व्याप्ति करने वाले सूर्य की किरणें आकाश को अधिष्ठित कर चुकी है। वे घोड़े शीघ्र ही, एक दिन में द्युलोक और पृथिवी लोक के चारों ओर परिक्रमा कर लेते हैं।

**व्याकरण —**

**अश्वाः** — 'अश्' व्याप्तौ धातु से 'क्वन्' प्रत्यय।

**एतग्वाः** — 'इण्' गतौ धातु से 'तन्' प्रत्यय होकर एत। 'गम्' धातु से औणादिक 'ङ्व' प्रत्यय = ग्व। एतम् एतव्यं प्रति ग्वो गमनं येषां ते एतग्वाः।

**अनुमाद्यासः** — 'अनु उपसर्ग पूर्वक मद स्तुतौ' धातु से प्रेरणा अर्थ में णिच्। यत् प्रत्यय होकर अनुमाद्य। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन = अनुमाद्यासः। अनुमादयितुं योग्याः अनुमाद्यासः।

**नमस्यन्तः** — नमस्+क्यच् (पूजनार्थक)। 'शतृ' प्रत्यय करके नमस्यत्।

**अस्थुः** — 'स्था' धातु लुङ् लकार प्रथम पुरुष बहुवचन। लट् के स्थान पर लुङ् का प्रयोग हुआ है।

**विशेष** — 'एतग्वाः' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में तीन स्थानों पर हुआ है और यह अश्व के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। सायण के अनुसार 'एतग्व' शब्द अश्ववाचक भी हो सकता है। जैसे कि 'अश्व' के पर्यायों में 'एतग्व' की गणना है। तब 'अश्व' इसका विशेषण होगा।

प्रथम और द्वितीय चरण में १०-१० वर्ण हैं। अतः सूर्यस्य को सूर्यसिय तथा अनुमाद्यासः को अनुमादियासः पढ़ना चाहिये।

**मण्डल १**

**सूक्त ११५**

**मंत्र ४**

**संहिता-पाठः**

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महत्त्वं, मध्या कर्तोर्विततं सं जभार।

यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासंस्तनुते सिमस्मै॥

**पद-पाठः**

तत्। सूर्यस्य। देवत्वम्। तत्। महित्वम्। मध्या। कर्तोः। विततम्। सम्। जभार। यदा। इत्। अयुक्त। हरितः। सधस्थात्। आत्। रात्री। वासः। तनुते। सिमस्मै॥४॥  
अन्वय — सूर्यस्य तत् देवत्वम् तत् महित्वम् कर्तोः मध्या विततम् सम् जभार। यदा इत् हरितः सधस्थात् अयुक्त आत् रात्री सिमस्मै वासः तनुते।

**दयानन्द-भाष्य**

(तत्) यत् प्रथममन्त्रोक्तं ब्रह्म (सूर्यस्य) सूर्यमण्डलस्य (देवत्वम्) देवस्य प्रकाशमयस्य भावः (तत्) (महित्वम्) (मध्या) मध्ये। अत्र सप्तम्येकवचनस्याकारः। (कर्तोः) कर्म (विततम्) व्याप्तम् (सम्) (जभार) हरित (यदा) (इत्) (अयुक्त) युनक्ति (हरितः) दिशः (सधस्थात्) समानस्थानात् (आत्) अनन्तरम् (रात्री) (वासः) वसनम् (तनुते) (सिमस्मै) सर्वस्मै



लोकाय ।।४।।

**भावार्थ** — हे सज्जना यदपि सूर्य आकर्षणेन पृथिव्यादि पदार्थान् धरति पृथिव्यादिभ्यो महानपि वर्तते विश्वं प्रकाशय व्यवहारयति च तदप्ययं परमेश्वरस्यो—  
त्पादनधारणाकर्षणैर्विनोत्पत्तुं स्थातुमाकर्षितुं च न शक्नोति नैतमीश्वरमन्तरेणेदृशानां लोकानां  
रचनं धारणं प्रलयं च कर्तुं कश्चित् समर्थो भवति ।।४।।

**हि० भावार्थ** — हे सज्जनो! यद्यपि सूर्य आकर्षण से पृथिवी आदि पदार्थों का धारण करता है, पृथिवी आदि लोकों से बड़ा भी वर्तमान है। संसार का प्रकाश कर व्यवहार भी कराता है, तो भी यह सूर्य परमेश्वर के उत्पादन, धारण और आकर्षण आदि गुणों के बिना उत्पन्न होने, स्थिर रहने और पदार्थों का आकर्षण करने को समर्थ नहीं हो सकता। न इस ईश्वर के बिना ऐसे-ऐसे लोक-लोकान्तरों की रचना, धारणा और इनके प्रलय करने को कोई समर्थ होता है ।।४।।

**सायण-भाष्य**

सूर्यस्य सर्वप्रेरकस्यादित्यस्य तद्देवमीश्वरत्वं स्वातन्त्र्यमिति यावत् । महित्वं महत्त्वं माहात्म्यं च तदेव । तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दाध्याहारः । यत्कर्तोः । कर्मनामैतत् । प्रारब्धापरिसमाप्तस्य कृष्यादिलक्षणस्य कर्मणो मध्या मध्ये अपरिसमाप्त एव तस्मिन् कर्मणि विततं विस्तीर्ण स्वकीयं रश्मिजालमस्तं गच्छन्सूर्यः सं जभार । अस्माल्लोकात्स्वात्मन्युपसंहरति । कर्मकरश्च प्रवृत्तपरिसमाप्तमेव विसृजत्यस्तं यन्तं सूर्यं दृष्ट्वा । ईदृशं स्वातन्त्र्यं महिमा च सूर्यव्यतिरिक्तस्य कस्यास्ति, न कस्यापि । सूर्य एवेदृशं स्वातन्त्र्यं महिमानं चावगाहते । अपि च । इदित्यवधारणे यदेत् यस्मिन्नेव काले हरितो रसहरणशीलान्स्वरश्मीन् हरिद्वर्णानश्वान्वा सधस्थात्सहस्थानादस्मात् पार्थिवाल्लोकादादायायुक्त । अन्यत्र संयुक्तान्करोति । यद्वा युजिः केवलोऽपि विपूर्वो द्रष्टव्यः । यदैवासौ स्वरश्मीनश्वान्वा सधस्थात् । सह तिष्ठन्त्यस्मिन्निति सधस्थो रथः तस्मादयुक्तं अमुञ्चत् । आदनन्तरमेव रात्री निशा वास आच्छादयितुं तमः सिमस्मै । सिमशब्दः सर्वशब्दपर्यायः । सप्तम्यर्थे चतुर्थी । सर्वस्मिल्लोके तनुते विस्तारयति । यद्वा वासो वासरमहः । तत् सर्वस्माल्लोकादपनीय रात्री तमस्तनुते ।

**शब्दार्थ** — देवत्वम् = देवत्व, स्वामित्व । महित्वम् = महिमा । मध्या = बीच में । कर्तोः = कार्य करने वाले का । विततम् = फैले हुये । सं जभार = समेट लेते हैं । यदा = जिस समय । इत् = निश्चय ही । अयुक्त = खोलते हैं । सधस्थात् = साथ बैठने वाले रथ से, अधिष्ठित स्थान से । आत् = इसके अनन्तर । वासः = आच्छादित करने वाले अन्धकार को । तनुते = विस्तृत कर देता है । सिमस्मै = सम्पूर्ण विश्व के लिये ।

**हिन्दी व्याख्या** — सबको प्रेरणा देने वाले सूर्य देवता का देवत्व अर्थात् स्वामित्व है और उस प्रकार की महिमा है कि वे कार्य करने वाले मनुष्यों की क्रियाओं के बीच में ही, अर्थात् उनके कार्यों के समाप्त होने से पहले ही अपने फैले हुए किरणों के जाल को समेट लेते हैं । जिस समय निश्चय ही सूर्य अपने हरे रंग के या हरित् नाम के घोड़ों को



साथ बैठने वाले रथ से या अधिष्ठित स्थान से खोलते हैं तो इसके अनन्तर ही रात्रि सम्पूर्ण विश्व को आच्छादित करने वाले अन्धकार को विस्तृत कर देती है।

व्याकरण -

महित्वम् - मह्+इन् = महि। महि+त्व = महित्व।

मध्या - सप्तमी विभक्ति का एकवचन वैदिक रूप। लोक में 'मध्ये' बनता है।

कर्तोः - कृ + तुन् = कर्तु। षष्ठी विभक्ति का एकवचन।

विततम् - वि + तन् + क्त = वितन।

जभार - 'ह' धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। ह्यग्रहोर्भश्छन्दसि सूत्र से 'ह' को 'भ' आदेश।

अयुक्त - 'युजिर्' 'धातु' लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन = युक्त (वैदिक रूप) न + युक्त = अयुक्त।

सधस्थात् - सह + स्था से "घञर्थे कविधानम्" से क प्रत्यय। "सधमाधस्थयोश्छन्दसि" से 'सह' को 'सध' आदेश।

सिमरस्मै - सिम शब्द, चतुर्थी विभक्ति, एकवचन। 'सर्व' का पर्यायवाची है।

रात्री - 'रात्रि' शब्द से "रात्रेश्चाजसौ" से डीप्।

तनुते - तन् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

विशेष - मध्या, कर्तोः, जभार, अयुक्त, इत्, सधस्थात्, आत्, सिमरस्मै ये सभी वैदिक रूप हैं। 'जभार' और 'अयुक्त' में लिट् और लुङ् लकार का प्रयोग वर्तमान के अर्थ में है।

सायण ने इस मन्त्र का अर्थ सायंकाल के वर्णन में किया है। उसने 'अयुक्त' का अर्थ 'अन्यत्र संयुक्त करना' किया है। इसी प्रकार से सायण ने 'कर्तोः' को 'तोसुन्' प्रत्ययान्त माना है। परन्तु पीटर्सन के अनुसार यहाँ प्रातःकाल का वर्णन है। उसने 'अयुक्त' का अर्थ 'जोता' किया और 'कर्तोः' को 'तृन्' प्रत्ययान्त मानकर यहाँ षष्ठी विभक्ति प्रतिपादित की। पीटर्सन के अनुसार इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है -

यह सूर्य का देवत्व है, यह महत्त्व है कि जब वह अपना कार्य आरम्भ कर रहा था, तभी उसने फैले हुए अन्धकार को समेट लिया। जब सूर्य अपने घोड़ों को अश्वशाला से जोता रहा था, रात्रि अपने आच्छादक अन्धकार से विश्व को ढके हुये थी।

गेल्डनर ने भी पीटर्सन के समान अर्थ किया है। उसने 'सिम' शब्द को 'स्वयं' का पर्यायवाची माना है, क्योंकि १०/२८/११ में 'सिम' शब्द का अर्थ 'स्वयं' है, गेल्डनर का अर्थ इस प्रकार है -

This is the god-head, that the might of Surya, in the midst of her work, the rolled up the spread out web, so soon as he yoked the boys from the stall. And the night works the viel for herself. That is the Ratri spins by



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

nights a web of darkness over the world and in the morning, she covers herself with it and disappears.

मण्डल १

सूक्त ११५

मंत्र ५

संहिता-पाठः

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्यौरुपस्थे ।

अनन्तमन्यद्रुशंसस्य पाजः कृष्णमन्यदधरितः सं भरन्ति ।।

पद-पाठः

तत् । मित्रस्य । वरुणस्य । अभिचक्षे । सूर्यः । रूपम् । कृणुते । द्योः । उपस्थे । अनन्तम् । अन्यत् । रुशत् । अस्य । पाजः । कृष्णम् । अन्यत् । हरितः । सम् । भरन्ति ।।५।।  
अन्वय — तत् मित्रस्य वरुणस्य अभिचक्षे सूर्यः द्योः उपस्थे रूपम् कृणुते । अस्य हरितः अन्यत् अनन्तम् रुशम् पाजः सम् भरन्ति, अन्यत् कृष्णम् ।

दयानन्द-भाष्य

(तत्) चेतनं ब्रह्म (मित्रस्य) प्राणस्य (वरुणस्य) उदानस्य (अभिचक्षे) संयुखदर्शनाय (सूर्यः) सविता (रूपम्) चक्षुर्ग्राह्यं गुणम् (कृणुते) करोति (द्योः) प्रकाशस्य (उपस्थे) समीपे (अनन्तम्) देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यम् (अन्यत्) सर्वेभ्यो भिन्नं सत् (रुशत्) ज्वलितवर्णम् (अस्य) (पाजः) बलम् । पाज इति बलना० ।। निघं० २ ।। १ ।। (कृष्णम्) तिमिराख्यम् (अन्यत्) भिन्नम् (हरितः) दिशः (सम्) (भरन्ति) धरन्ति ।।५।।

भावार्थ — यस्य सामर्थ्येन रूपदिनरात्रिप्राप्तिनिमित्तः सूर्यः श्वेतकृष्ण-रूपविभाजकत्वेनाहर्निशं जनयति तदनन्तं ब्रह्म विहाय कस्याप्यन्यस्योपासनं मनुष्या नैव कुर्युरिति विद्वद्भिः सततमुपदेष्टव्यम् ।।५।।

हि०भावार्थ — जिसके सामर्थ्य से रूप, दिन और रात्रि की प्राप्ति का निमित्त सूर्य श्वेत-कृष्ण रूप के विभाग से दिन रात्रि को उत्पन्न करता है । उस अनन्त परमेश्वर को छोड़ कर किसी और की उपासना मनुष्य नहीं करें, यह विद्वानों को निरन्तर उपदेश करना चाहिये ।।५।।

सायण-भाष्य

तत्तदानीमुदयसमये मित्रस्य वरुणस्य एतदुभयोर्लक्षितस्य सर्वस्य जगतो अभिचक्षे अभिमुख्येन प्रकाशनाय द्योर्नभस उपस्थे उपस्थाने मध्ये सूर्यः सर्वस्य प्रेरकः सविता रूपं सूर्यस्य निरुपकं प्रकाशकं तेजः कृणुते करोति । अपि च अस्य सूर्यस्य हरितो रसहरणशीला रश्मयो हरिद्वर्णा अश्वा वा अनन्तमवसानरहितं कृत्स्नस्य जगतो व्यापकं रुशद्दीप्य मानं श्वेतवर्णं पाजः । बलनामैतत् । बलयुक्तम् अतिबलस्यापि नैशस्य तमसो निवारणे समर्थम् अन्यत्तमसो विलक्षणं तेजः संभरन्ति अहनि स्वकीयागमनेन निष्पादयन्ति । तथा कृष्णं कृष्णवर्णमन्यत्तमः स्वकीयापगमनेन रात्रौ अस्य रश्मयोऽप्येवं कुर्वन्ति । किमु वक्तव्यं तस्य



माहात्म्यमिति सूर्यस्य स्तुतिः ।

शब्दार्थ — अभिचक्षे = देखने के लिये । द्योः = आकाश के । उपस्थे = शिखर पर, मध्य में । अनन्तम् = अपार । रुशत् = चमकदार । पाजः = बल को, तेज को । कृष्णम् = काले अन्धकार को । संभरन्ति = निष्पन्न करती है ।

हिन्दी व्याख्या — उस समय मित्र और वरुण के अर्थात् उनसे उपलक्षित समग्र विश्व के देखने के लिये, वास्तविक स्वरूप ज्ञान के लिये सूर्य आकाश के शिखर पर मध्य में अपने तेजोमय रूप प्रकाश को प्रकट करता है । इस सूर्य के हरे रंग के घोड़े या किरणें कभी तो विलक्षण व्यापक अपार चमकदार बल को अर्थात् तेज को निष्पादित करती हैं और कभी तेज से भिन्न काले अन्धकार को निष्पन्न करती हैं । दिन और रात्रि के चक्र को सूर्य ही प्रवर्तित करता है ।

व्याकरण —

अभिचक्षे — अभि+चक्ष्+क्विप् । चतुर्थी विभक्ति का एकवचन ।

द्योः — 'द्यो' शब्द की षष्ठी विभक्ति का एकवचन (वैदिक रूप) ।

उपस्थे — उप+स्था+क = उपस्थ ।

कृणुते — कृ धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

पाजः — 'पा रक्षणे' धातु से पा + असुन् ("पातेर्बलेजुट्" जुट् का आगम) । पाति रक्षति स्वं स्वीयान् वा इति पाजः ।

रुशत् — 'रुश् दीप्तौ' धातु से शतृ प्रत्यय ।

भरन्ति — भृ धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।

विशेष — यहाँ मित्र और वरुण शब्द सूर्य और चन्द्रमा के वाचक हैं । ये जगत् में ओज और रस को प्रदान करते हैं । वरुण शक्ति रस का संचय करता है और मित्र शक्ति उसका औषधियों आदि में विस्तार करती है । इस प्रकार ये दोनों शब्द समस्त विश्व के उपलक्षक हैं । इस मन्त्र के द्वारा यह कहा गया है कि सूर्य के घोड़े अर्थात् किरणें दिन और रात्रि के नियामक हैं । दिन में ये प्रकाश को फैलाते हैं और रात्रि में अन्धकार को ।

मण्डल १

सूक्त ११५

मंत्र ६

संहिता-पाठः

अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरहंसः पिपृता निरवद्यात् ।

तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥

पद-पाठः

अद्य । देवाः । उत्ऽइता । सूर्यस्य । निः । अहंसः । पिपृत । निः । अवद्यात् । तत् । नः । मित्रः । वरुणः । मामहन्ताम् । अदितिः । सिन्धुः । पृथिवी । उत । द्यौः । ॥६॥



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

अन्वय — देवाः ! अद्य सूर्यस्य उदिता अंहसः निष्पिपृत अवद्यात् निः । नः तत् मित्रः वरुणः  
अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः मामहन्ताम् ।

**दयानन्द-भाष्य**

(अद्य) इदानीम् । अत्र दीर्घः । (देवाः) विद्वांसः (उदिता) उत्कृष्टप्राप्तौ (सूर्यस्य)  
जगदीश्वरस्य (निः) नितराम् (अंहसः) पापात् (पिपृत) अत्र दीर्घः (निः) (अवद्यात्) गह्वरात्  
(तत्, नः०) पूर्ववत् ॥६॥

भावार्थ — मनुष्यैः पापाद्वारे स्थित्वा धर्ममाचर्य जगदीश्वरमुपास्य शान्त्या  
धर्मार्थकाममोक्षाणां पूर्तिः संपाद्या ॥६॥

हि०भावार्थ — मनुष्यों को चाहिये कि पाप से दूर रह धर्म का आचरण और  
जगदीश्वर की उपासना कर शान्ति के साथ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की परिपूर्ण सिद्धि  
करें ॥६॥

**सायण-भाष्य**

हे देवा द्योतमानाः सूर्यरश्मयः अद्य अस्मिन् काले सूर्यस्यादित्यस्योदिता उदितौ  
उदये सति इतस्ततः प्रसरन्तो यूयमस्मानंहसः पापान्निष्पिपृत निष्कृष्य पालयत ।  
यदिदमस्माभिरुक्तं नोस्मदीयं तन्मित्रादयः षड्देवता मामहन्तां पूजयन्तु । अनुमन्यन्ताम्  
रक्षन्त्विति यावत् ॥

शब्दार्थ — देवाः = प्रदीप्त होती हुई सूर्य की रश्मियों । उदिता = उदय होने  
पर । अंहसः = पाप से । निःपिपृत = छुड़ाओ । अवद्यात् = निन्द्य कर्म से । मित्रः = हिंसा  
से रक्षा करने वाला सूर्य । वरुणः = आवरण शक्ति से युक्त वरुण देव । मामहन्ताम् =  
अनुमोदन करें । अदितिः = अखण्डनीय शक्ति वाली देवमाता ।

हिन्दी व्याख्या — प्रदीप्त होती हुई हे सूर्य की रश्मियों ! आज सूर्य के उदय होने  
पर तुम हमें पाप से छुड़ाओं और निन्द्य कर्मों से हमें बचाओं । और हमारी उस प्रार्थना का  
मित्र (हिंसा से रक्षा करने वाले सूर्य), वरुण, (आवरण शक्ति से युक्त वरुण देव), अदिति  
(अखण्डनीय शक्ति वाली देवमाता), सिन्धु (स्यन्दनशीलजलाभिमानी देवी), पृथिवी (भूलोक  
की अधिष्ठात्री, धारणशील शक्ति) और द्यौ (द्युलोक की अधिष्ठात्री दीप्तियुक्त शक्ति)  
अनुमोदन करें ।

**व्याकरण —**

अद्या — यहाँ 'निपातस्य च' (६.३.१२६) सूत्र से दीर्घ हुआ ।

उदिता — उत् + इण् + क्त = उदित । सप्तमी विभक्ति का एकवचन । वैदिक  
रूप उदिता ।

अवद्यात् — वद् + यत् = वद्य । न + वद्य = अवद्य । पञ्चमी विभक्ति, एववचन  
= अवद्यात् ।

अंहसः — अम् + हुक् + असुन् = अंहस् । पञ्चमी विभक्ति का एकवचन ।



## सूर्य सूक्त (मण्डल-१, सूक्त-११५)

पिपृता — “पृ पालन पूरणयोः, धातु, लोट् लकार’ मध्यम पुरुष, बहुवचन।  
“ऋचितुनु धातु” (६.३.१३) से दीर्घ हुआ।

सिन्धुः — स्यन्द+उ। ‘य’ को सम्प्रसारण तथा द् को ध् = सिन्धु।

मामहन्ताम् — ‘मह’, धातु, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

विशेष — पीटर्सन ने इस मन्त्र में ‘अंहस्’ का अर्थ ‘भय’ और ‘अवद्य’ का अर्थ ‘पापकर्मजन्य लज्जा’ किया है। उसके अनुसार इसका अर्थ है — हमें भय से मुक्त करो और हमें लज्जा से मुक्त करो (Free us from danger, free us from shame)। प्रथम चरण में छन्द की पूर्ति के लिये ‘सूर्यस्य’ के स्थान ‘सूरियस्य’ इस प्रकार उच्चारण करना चाहिये।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****अग्नि-सूक्त****ऋषि-** दीर्घतमा**देवता-** अग्नि**छन्द-** जगती, अंतिम मंत्र में त्रिष्टुप**मण्डल १****सूक्त १४३****मंत्र १****संहिता-पाठः**

प्र तव्यंसीं नव्यंसीं धीतिमग्नये वाचो मतिं सहसः सूनवे भरे ।

अपां नपाद्यो वसुभिः सह प्रियो, होता, पृथिव्यां न्यसीददृत्वियः ।।

**पद-पाठः**

प्र । तव्यंसीम् । नव्यंसीम् । धीतिम् । अग्नये । वाचः । मतिम् । सहसः । सूनवे । भरे ।  
 अपाम् । नपात् । यः । वसुभिः । सह । प्रियः । होता । पृथिव्याम् । नि । असीदत् । ऋत्वियः ।।१।।  
 अन्वय — सहस सूनवे अग्नये तव्यसीम् नव्यसीम् धीतिम् वाचः मतिम् भरे । यः अपाम् नपात्  
 प्रियः होता ऋत्वियः वसुभिः सह पृथिव्याम् नि असीदत् ।

**दयानन्द-भाष्य**

(प्र) (तव्यसीम्) अतिशयेन बलवतीम् (नव्यसीम्) अतिशयेन नवीनाम् (धीतिम्)  
 धियन्ति विजयं यया ताम् (अग्नये) अग्निवतीबुद्धये (वाचः) वाण्याः (मतिम्) प्रज्ञाम्  
 (सहसः) शरीरात्मबलवतः (सूनवे) (भरे) धरे (अपाम्) जलानाम् (नपात्) यो न पतति सः  
 (यः) (वसुभिः) प्रथमकल्पैर्विद्वद्भिः (सह) (प्रियः) प्रीतः (होता) गृहीता (पृथिव्याम्) (नि)  
 (असीदत्) सीदति (ऋत्वियः) य ऋतूनर्हति सः ।।१।।

भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । विदुषां योग्याऽस्ति यथा सूर्योऽपां, धर्ताऽस्ति  
 तथा पवित्रान् धीमतः प्रियाचरणान् सद्यो विद्यानां ग्रहीतृन् विद्यार्थिनो गृहीत्वा विद्याविज्ञानं  
 सद्यो जनयेयुरिति ।।१।।

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । विद्वानों की योग्यता है कि  
 जैसे सूर्य जलो की धारणा करनेवाला है वैसे पवित्र बुद्धिमान् प्रिय आचरण करने और शीघ्र  
 विद्याओं को ग्रहण करनेवाले विद्यार्थियों को लेकर विद्या का विज्ञान शीघ्र उत्पन्न  
 करावें ।।१।।

**सायण-भाष्य**

अहमग्ने तव्यसीम् तवीयसीम् अतिशयेन वर्धयित्रीम् । नव्यसीम् नवतराम— पूर्वा  
 धीतिं यागलक्षणामुक्तगुणकं कर्म प्र भरे प्रकर्षणं करोमि । यथोक्तलक्षणां वाचो मतिं स्तुति  
 रूपं कर्म भरे कीदृशायाग्नये । सहसा बलस्य सूनवे पुत्राय । किं च योऽग्निरपां नपात् तासां  
 नप्ता । अद्भ्यः औषधयः ओषधिभ्योऽग्निरित्यग्ने— नृपृत्वम्, अथवा अपां न पातयिता  
 वैद्युतान्निरूपेण प्रवर्षकत्वादिति भावः तथा प्रियो यजमानस्य प्रीणयिता प्रियतमो वा तस्य  
 होता होमनिष्पादकः । सोऽग्निऋत्वियः प्राप्तकालः प्राप्तप्रदानसमयः सन्पृथिव्यां वेदिलक्षणायां  
 वसुभिर्निवासयोग्यैर्गवादिधनैः सहितो न्यसीदत् नितरां सीदति ।



## अग्नि सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-१४३ )

**शब्दार्थ** — तव्यसीम् = अत्यधिक बलवती, बल को बढ़ाने वाली। नव्यसीम् = अत्यधिक नवीन। धीतिम् = यज्ञ रूप कर्म को। वाचः = वाणी के। मतिम् = स्तुति रूप कर्म को। सहसः = बल के। सूनवे = पुत्र। प्रभरे = प्रस्तुत करता हूँ। अपां नपात् = जलों का पौत्र या नाती। वसुभिःसह = निवास करने योग्य धनों के साथ। प्रियः = प्रेम करने वाला। नि असीदत् = स्थित हो रहा है। ऋत्वियः = ऋतुओं को जानने वाला।

**हिन्दी व्याख्या** — बल के पुत्र अर्थात् बल से श्रम से उत्पन्न किये जाने वाले अग्नि देवता के लिये अत्यधिक बलवती बल को बढ़ाने वाली, अत्यधिक नवीन अपूर्व यज्ञ रूप कर्म को और वाणी से सम्पादित स्तुति रूप कर्म को प्रस्तुत करता हूँ। जो अग्निदेवता जलों का पौत्र या नाती है अथवा जलों की अत्यधिक वर्षा कराने वाला है, प्रेम करने वाला है, यज्ञों का होता है और ऋतुओं को जानने वाला अथवा समय के अनुसार प्राप्त होने वाला है, और जो निवास करने योग्य गो आदि धनों के साथ या वसु देवताओं के साथ वेदी रूपी पृथिवी पर स्थित हो रहा है।

### व्याकरण —

**तव्यसीम्** — वृद्ध अर्थक 'तु' धातु तृच् प्रत्यय = तोत्। अतिशय अर्थ में 'ईयसुन्' प्रत्यय। तोत्+ईयस्। 'तुरिष्ठे मे०' इत्यादि = सूत्र से 'ई' का लोप और 'ओ' को अवादेश = वतीयस्। छान्दस 'ई' का लोप = तव्यस्। स्त्रीलिङ्ग में तव्यसी।

**नव्यसीम्** — नव+ईयसुन्+डीप् (अ और ई का छान्दस लोप) = नवीयसी।

**धीतिम्** — ध्या + क्तिन्। सम्प्रसारण होकर धीति।

**वाचः** — वच् + क्विप्। उपधा को दीर्घ = वाच्। षष्ठी का एकवचन।

**मतिम्** — मन्+क्तिन् = मति।

**प्रियः** — प्री क(अ)। इ को इयङ् आदेश।

**भरे** — 'भृ' धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन (आत्मनेपद)।

**नपात्** — वेद में निपातनात् बनता है।

**ऋत्वियः** — ऋतु + इ + क = ऋत्विय (वैदिक निपातन से)

**विशेष** — सायण ने 'नपात्' का अर्थ 'नप्ता' किया है, जो पौत्र या नाती का वाचक है। पीटर्सन ने इसका अर्थ पुत्र किया है। अपां नपात् = जलों का पुत्र (Son of Waters)। सायण ने 'वसु' का अर्थ निवास के योग्य 'धन' किया है। रॉथ और पीटर्सन के अनुसार 'वसुभिः सह प्रियः' का अर्थ है — dwelling as a beloved companion with the gods or gladly dwelling with the gods.

मन्त्र के चौथे चरण में छन्द की पूर्ति के लिये 'पृथिव्याम्' का उच्चारण 'पृथिवियाम्' करना चाहिये।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****मण्डल १****सूक्त १४३****मंत्र २****संहिता-पाठः**

स जायमानः परमे व्योमन्याविरग्निरभवन्मातरिश्वने ।

अस्य क्रत्वा समिधानस्य मज्मना प्र द्यावा शोचिः पृथिवी अरोचयत् ।।

**पद-पाठः**सः । जायमानः । परमे । विऽओमनि । आविः । अग्निः । अभवत् । मातरिश्वने । अस्य ।  
क्रत्वा । संऽइधानस्य । मज्मना । प्र । द्यावा । शोचिः । पृथिवी इति । अरोचयत् ।।२।।अन्वय — जायमानः सः अग्निः परमे व्योमनि मातरिश्वने आविरभवत् । अमिधानस्य अस्य  
मज्मना क्रत्वा शोचिः द्यावा पृथिवि प्रारोचयत् ।**दयानन्द-भाष्य**(सः) अधीयानः (जायमानः) उत्पद्यमानः (परमे) प्रकृष्टे (व्योमनि) व्योमवद्व्यापके  
सर्वरक्षादिगुणान्विते ब्रह्मणि (आविः) प्राकट्ये (अग्निः) पावक इव (अभवत्) भवेत् (मातरिश्वने)  
अन्तरिक्षस्थाय वायवे (अस्य) (क्रत्वा) प्रज्ञया कर्मणा वा (समिधानस्य) सम्यक् प्रदीप्तस्य  
(मज्मना) बलेन (प्र) (द्यावा) (शोचिः) पवित्रः (पृथिवी) (अरोचयत्) प्रकाशयेत् ।।२।।**भावार्थ** — यदि विद्वांसो विद्यार्थिनः प्रयत्नेन सुविद्यासशिक्षाधर्मयुक्तान् कुर्युस्तर्हि  
सर्वदा कल्याणभाजो भवेयुः ।।२।।**हि०भावार्थ** — जो विद्वान् लोग विद्यार्थियों को प्रयत्न के साथ विद्या, अच्छी शिक्षा  
और धर्म नीतियुक्त करें तो वे सर्वदैव कल्याण का सेवन करने वाले होंगे ।।२।।**सायण-भाष्य**स पूर्वोक्तोऽग्निर्जायमानः अरणीभ्यामुत्पद्यमानः काष्ठेषु वा प्रादुर्भूतः सन् तदानीमेव  
परमे उत्कृष्टे व्योमनि विविधरक्षणवतिवेदिदेशे मातरिश्वने अन्तरिक्षसंचारिणे वायवे  
प्रथमाविरभवत्प्रत्यक्षोऽभूत् । "त्वमग्ने प्रथमो मातरिश्वन आविर्भवे इत्यादिश्रुत्यन्तरप्रसिद्धेः  
वायुसंयोगात्प्रज्वलित इत्यर्थः । अथवा मातरि फलस्य निर्मातरि यज्ञे श्वसिति चेष्टत इति  
मातरिश्वा यजमानः तदर्थम् । किंच समिधानस्य इन्धनैः सम्यग्वर्धमानस्याग्नेर्मज्मना, बलनामैतत्!,  
बलवता, क्रत्वा क्रतुना कर्मणा ज्वालनादिव्यापारेण शोचिः द्यावा पृथिवी च प्रारोचयत्  
प्रकर्षणादीपयत् । प्रबलेन समिन्धनादिव्यापारेण समिध्यमानस्याग्नेत्यर्थः ।**शब्दार्थ** — जायमानः = उत्पन्न होता हुआ । परमे व्योमनि = सर्वोच्च आकाश  
में । आविः अभवत् = प्रकट हुआ था । मातरिश्वने = वायु के लिये, यजमान के लिये ।  
क्रत्वा = कर्म से । समिधानस्य = ईंधनों से प्रज्वलित होते हुये । मज्मना = बल से युक्त ।  
शोचिः = चमक ने । प्र अरोचयत् = प्रकाशित कर दिया है ।**हिन्दी व्याख्या** — अरणियों में काष्ठों में उत्पन्न होता हुआ वह अग्नि उत्कृष्ट  
विविध रक्षक उपायों से रक्षित यज्ञवेदि में अथवा सर्वोच्च आकाश में वायु के लिये या  
यजमान के लिये प्रकट हुआ था । वायु के संयोग से अग्नि उत्पन्न होती है, यह प्रसिद्ध



## अग्नि सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-१४३ )

है, ईंधनों से प्रज्वलित होते हुए इन अग्नि के बल से युक्त कर्म की अर्थात् लपटों से युक्त जलने की क्रिया की चमक ने द्युलोक और पृथिवी लोक को प्रकाशित कर दिया है।

**व्याकरण —**

**व्योमनि** — वि+अव् रक्षणे धातु से 'मनिन्' प्रत्यय। सप्तमी विभक्ति का एकवचन।

**मातरिश्वने** — मातरि श्वसिति अर्थ में निपातनात् मातरिश्वन्। चतुर्थी का एकवचन।

**जायमानः** — जन्+श्यन्+(भुक्)+शानच्।

**द्यावा** — दिव् शब्द को छान्दस द्यावा आदेशः

**क्रत्वा** — 'क्रतु' शब्द तृतीया विभक्ति का एकवचन। यह वैदिक रूप है। लोक में 'क्रातुना' होगा।

**समिधानस्य** — सम्+इन्धी दीप्तौ धातु से शानच्। इन्ध् के 'न' का छान्दस लोप।

**विशेष** — पीटर्सन का कथन है कि सायण ने 'परमे व्योमनि' का अर्थ ठीक नहीं किया है। निरुक्तकार की मातरिश्वन् के लिये 'मातरि श्वसिति' व्याख्या भी ठीक नहीं है। 'मातरिश्वा' शब्द का प्रयोग 'ऋग्वेद' में अनेक स्थानों पर है और यह कहीं कहीं अग्नि का भी वाचक है। ३/२९/४ और १०/११४/१ में इसे देखा जा सकता है। कहीं पर यह शब्द यजमानरूपी शक्ति का वाचक है, जो भृगुओं के लिये अग्नि को अन्तरिक्ष लोक से देवताओं से छीन कर भूलोक में लाता है (१/६०/१ और ३/५/१० ऋग्वेद)। इस अवस्था में इसे अन्तरिक्ष से भूलोक में अग्नि को लाने वाला यजमान नहीं माना जा सकता, क्योंकि यजमान भी मनुष्य ही होता है। अतः मातरिश्वा को एक अर्ध देवता (Demi-god) मानना चाहिये। यह कभी द्युलोक में और कभी भूलोक में रहता है। वैदिक गाथाओं में इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं। मातरिश्वा ने भृगु और भृगु ने मनुष्यों को अग्नि प्राप्त कराई। अग्नि की प्राप्ति की यह परम्परा है। ६/१६/१३ मन्त्र में बताया गया है कि अग्नि को भूलोक में लाने वाला ऋषि अथर्वा है। अथर्वा की बहिनों को मातरिश्वरी कहा गया है (१०/१२०/९)। यहाँ द्यावा और पृथिवी का दृढ साहचर्य नहीं दिखाया गया है, क्योंकि दोनों के बीच में 'शोचिः' शब्द आ जाने से समास शिथिल हो गया है।

वायु द्वारा अग्नि की वृद्धि होती है और वायु तथा अग्नि की परस्पर मित्रता है, ऐसा वर्णन अनेक स्थानों पर मिलता है, जैसे "त्वमग्ने प्रथमः मातरिश्वन् आविर्भव (१/३१/३)।

मन्त्र के प्रथम पाद में छन्द की पूर्ति के लिये 'व्योमनि' का उच्चारण 'विओमनि' करना चाहिये।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

मण्डल १

सूक्त १४३

मंत्र ३

संहिता-पाठः

अस्य त्वेषा अजरा अस्य भानवः सुसन्दृशः सुप्रतीकस्य सुद्युतः ॥  
 भात्वक्षसो अत्यक्तुर्न सिन्धवोऽग्ने रेजन्ते अससन्तो अजराः ॥

पद-पाठः

अस्य । त्वेषाः । अजराः । अस्य । भानवः । सुसंदृशः । सुप्रतीकस्य । सुद्युतः ।  
 भात्वक्षसः । अति । अक्तुः । न । सिन्धवः । अग्नेः । रेजन्ते । अससन्तः । अजराः ॥३॥  
 अन्वय — अस्य अग्नेः त्वेषाः अजराः, सुप्रतीकस्य सुद्युतः अस्य भानवः सुसंदृशः । भात्वक्षसः  
 अक्तुः अति सिन्धवः अससन्त अजराः न रेजन्ते ।

दयानन्द-भाष्य

(अस्य) (त्वेषाः) विद्यासुशीलप्रकाशाः (अजराः) हानिरहिताः (अस्य) सूर्यस्य (भानवः)  
 किरणा इव (सुसंदृशः) सत्यासत्ययोः सुष्ठु सम्यग्रष्टुः (सुप्रतीकस्य) सुष्ठुप्रतीतियुक्तस्य  
 (सुद्युतः) अभितः प्रकाशमानस्य (भात्वक्षसः) भाः विद्याप्रकाशस्त्वक्ष बलं यासां ताः । त्वक्ष  
 इति बलना० ॥ निघं० २ ॥ ११ ॥ (अति) (अस्तु) रात्रिः (न) इव (सिन्धवः) प्रवाहरूपः  
 (अग्नेः) सूर्यस्य (रेजन्ते) कम्पन्ते (अससन्तः) जागृताः (अजराः) हानिरहिताः ॥३॥

भावार्थ — ये मनुष्याः सूर्यवद्विद्याप्रकाशका अविद्याऽन्धकारनाशकाः सर्वेषामानन्दप्रदा  
 भवन्ति अतएव मनुष्यशिरोमणयो जायन्ते ॥३॥

हि० भावार्थ — जो मनुष्य सूर्य के समान विद्या के प्रकाश करने, अविद्यान्धकार के  
 विनाश करने और सबको आनन्द देने वाले होते हैं, वे ही मनुष्यों के शिरोमणि होते  
 हैं ॥३॥

सायण-भाष्य

अस्य स्तूयमानस्याग्नेः त्वेषाः दीप्तयः अजराः जरारहिता अजीर्णाः अविरता इत्यर्थः ।  
 नजो जरमरेत्यादिनोत्तरपदाद्योदात्तत्वम् । तथा सुप्रतीकस्य शोभन- मुखस्याग्नेर्भानवो रश्मयः  
 दीप्तेरुक्तत्वादत्र विस्फुलिङ्गा अवगन्तव्याः । ते च सुसंदृशः सुष्ठु सम्यग्रष्टारः सर्वतो व्याप्ताः  
 इत्यर्थः । सुद्यातः सुष्ठु सर्वतो द्योतमानाः । तथा अस्याग्नेर्भात्वक्षसः त्वक्ष इति बलनाम 'त्वक्षः  
 शर्ध' इति बलनामसु पाठात् । भासमानबलाः । अक्तुरिति रात्रिनामैतत् अक्तुरुर्म्येति  
 तन्नामसूक्त्वात् । द्वितीयार्थे प्रथमा । अक्त जगदञ्जक नैशं तमः अति अतिक्रम्य सिन्धवः  
 स्यन्दमानाः सर्वत्र व्याप्नुवन्तः अससन्तः स्वव्यापारेष्वपन्तः अविरताः अत एवाजरा न  
 रेजन्ते न कम्पन्ते दाहपाकादिषु न चलन्ति न चालयन्ते वान्यैः । यद्वा न शब्दो दृष्टान्तवचनः ।  
 भात्वक्षसो भा एव त्वक्षो बल यस्य तादृशं स्यादित्यस्य सिन्धवो न रश्मय इव । ते यथा  
 स्यन्दनशीला व्याप्तिमन्तः अक्तुरिति अञ्चकं तमोऽतिक्रम्य अससन्तो रेजन्ते  
 तद्वद्भात्वक्षसोऽस्याग्नेरुक्तलक्षणादीप्तयोऽपि सर्वत्र रेजन्ते कम्पन्ते व्याप्नुवन्तीत्यर्थः ।

शब्दार्थ — त्वेषाः = दीप्तिर्याँ । अजराः = जीर्ण नहीं होती । भानवः = किरणें ।



## अग्नि सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-१४३ )

सुसंदृशः = अच्छी प्रकार देखने योग्य। सुप्रतीकस्य = सुन्दर मुख वाले। सुद्युतः = सुन्दर कान्ति वाले। भात्वक्षसः = प्रकाश का बल रखने वाले। अति अक्तुः = अतिक्रमण करने वाली हैं। सिन्धवः = व्यापनशील। अससन्तः = विश्राम न करती हुई। अजराः = जीर्ण न होती हुई।

हिन्दी व्याख्या — स्तूयमान इस अग्नि की दीप्तियाँ कभी जीर्ण नहीं होती। सुन्दर मुख वाले और सुन्दर कान्ति वाले इस अग्नि की किरणें अच्छी प्रकार से देखने योग्य बनी रहती हैं। प्रकाश का बल रखने वाले अग्नि की किरणें रात्रि के अन्धकार का अतिक्रमण करने वाली हैं और व्यापनशील होती हुई, कभी विश्राम न करती हुई और कभी जीर्ण न होती हुई, वे अपने कार्य से कभी विचलित नहीं होती।

व्याकरण —

त्विष — घञ् = त्वेष। प्रथमा का बहुवचन।

सुसंदृशः — सु+सम्+दृश्+क्विप् = सुसंदृश्। षष्ठी का एकवचन।

सुद्युतः — सु+द्युत्+क्विप् = सुद्युप्।

भानवः — भा+नु = भानु। अक्तुः = अञ्ज्-क्रतुन्।

अससन्तः — नञ् पूर्वक 'सस् स्वप्ने' धातु से निपातनात् सिद्ध है।

भात्वक्षसः — भा+त्वक्ष्+असुन्। भाः त्वक्षो यस्य तस्य।

विशेष — इस मन्त्र में 'न' को इवार्थक भी समझा जा सकता है। तब भात्वक्षस् का अर्थ 'सूर्य' होगा। उस समय अर्थ होगा — सूर्य के समान उस अग्नि की किरणें प्रकाशित हो रही हैं।

लीडर के अनुसार 'सिन्धवः' नदी वाची है और सिन्धोः के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। उसके अनुसार यहाँ इस प्रकार अर्थ होगा — Like the steamer which floats on the surface of the steam। लुडविग के अनुसार 'भात्वक्षसः' अग्नि का विशेषण है और 'अत्युक्तुः' का अर्थ सारी रात (All night through) है।

छन्द की पूर्ति के लिए तीसरे पाद के 'अत्युक्तुः' को अति अक्तुः और चौथे पाद के 'ऽग्नेः' को 'अग्ने' पढ़ना चाहिये।

मण्डल १

सूक्त १४३

मंत्र ४

संहिता-पाठः

यमेरिरे भृगवो विश्ववेदसं नाभां पृथिव्या भुवनस्य मज्मनां।

अग्निं तं गीर्भिर्हिनुहि स्व आ दमे य एको वस्वो वरुणो न राजति॥

पद-पाठः

यम्। आऽईरिरे। भृगवः। विश्वऽवेदसम्। नाभां। पृथिव्याः। भुवनस्य। मज्मनां।

अग्निम्। तम्। गीऽभिः। हिनुहि। स्वे। आ। दमे। यः। एकः। वस्वः। वरुणः। न।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

राजति ॥४॥

अन्वय — विश्ववेदसम् यम् भृगवः नाभा मज्मना भुवनस्य आ एरिरे, तम् अग्निम् गीर्भिः स्वे दमे आ हिनुहि यः एकः वरुणः न वस्वः राजति ।

### दयानन्द-भाष्य

(यम्) परमात्मानम् (एरिरे) समन्ताज्जानीयुः (भृगवः) विद्यायाऽविद्याया भर्जका निवारका विद्वांसः । भृगवइति पदना० ॥ निघ० ५ । ५ ॥ (विश्ववेदसम्) समग्रस्य विदितारम् (नाभा) मध्ये (पृथिव्याः) अन्तरिक्षस्य (भुवनस्य) लोकजातस्य (मज्मना) अनन्तेन बलेन (अग्निम्) सूर्यमिव स्वप्रकाशम् (तम्) (गीर्भिः) प्रशंसिताभिर्वाग्भिः (हिनुहि) जानीहि (स्वे) स्वकीये (आ) समन्तात् (दमे) गृहरूपे हृदयाऽवकाशे (यः) (एकः) अद्वितीयः (वस्वः) वसोर्द्रव्यरूपस्य (वरुणः) अतिश्रेष्ठः (न) इव (राजति) प्रकाशते ॥४॥

भावार्थ — हे मनुष्या यो विद्वद्वेदितव्यः सर्वाऽभिव्यापी प्रशंसितुमर्हः सच्चिदानन्दादिलक्षणः सर्वशक्तिमानद्वितीयोऽतिसूक्ष्मः स्वप्रकाशोऽन्तर्यामी परमेश्वरोऽस्ति तं योगाङ्गानुष्ठानसिद्ध्या स्वस्मिन्विजानीत ॥४॥

हि०भावार्थ — हे मनुष्यो ! जो विद्वानों से जानने योग्य सब में सब प्रकार व्याप्त प्रशंसा के योग्य सच्चिदानन्दादि लक्षण सर्वशक्तिमान् अद्वितीय अति-सूक्ष्म आप ही प्रकाशमान अन्तर्यामी परमेश्वर है, उसको योग के अङ्गों के अनुष्ठान की सिद्धि से अपने हृदय में जानो ॥४॥

### सायण-भाष्य

विश्ववेदसं सर्वधनम् । वेद इति धननाम । 'वेदो वरिवा' इति तन्नामसु पाठात् । तादृशं यमग्नि भृगवः भृगुगोत्रोत्पन्नाः पापस्य भर्जकाः पृथिव्या वेद्याः । एकदेशे कृत्स्नशब्दः यद्वा एतावती वै पृथिवीत्याद्विश्रुतेर्वेद्याः पृथिवीत्वम् । तस्या नाभौ उत्तरवेद्यां भुवनस्य भूतजातस्य मज्मना बलेन निमित्तेन आ आभिमुख्येन ईरिरे ईरितवन्तः स्थापितवन्तः । तमग्नि स्वं स्वकीये दमे गृहे उत्तरवेद्यां गीर्भिः स्तुतिभिः ता हिनुहि प्राप्नुहि । हि गतौ वृद्धौ च । उतश्च प्रत्ययाच्छन्दसि वा वचनमिति हेर्लुगभावः । योऽग्निरेको मुख्यः सन् एक एव वा वस्वः वसुनो गवादिधनस्य राजति ईश्वरो भवति । प्रदातुमिति शेषः । राजतीत्यैश्वर्यकर्मा । क्षिपति राजतीति तन्नामसु पाठात् । तत्र दृष्टान्तः । वरुणो न वारक आदित्य इव । स यथा सर्वस्येष्टे तद्वत् ।

शब्दार्थ — आ ईरिरे = स्थापित किया था । भृगवः = भृगु कुल में उत्पन्न हुये ऋषि । विश्ववेदसम् = सब प्रकार के धनों से सम्पन्न । नाभा = मध्य भाग से । मज्मना = बल से । गीर्भिः = स्तुतियों द्वारा । आ हिनुहि = लाइये । दमे = घर से । वस्वः = धनों का । राजति = स्वामी बनाता है ।

हिन्दी व्याख्या — सब प्रकार के धनों से सम्पन्न जिस अग्नि को भृगु कुल में उत्पन्न हुए ऋषियों ने अथवा पापों को भून देने वाले मुनियों ने पृथिवी रूपी वेदी के मध्य भाग में से अपने बल से संसार के लिये स्थापित किया था, उस अग्नि को स्तुतियों द्वारा



अपने घर में लाइये अर्थात् बढ़ाइये। यह अग्नि अकेला होता हुआ ही वरुण देवता के समान सम्पूर्ण धनों का स्वामी बनता है।

व्याकरण —

ईरिरे — 'ईर' धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन (वैदिक रूप)।

विश्ववेदसम् — विश्वं वेदः यस्य तम्।

भृगवः — भ्रस्ज् धातु से निपातनात् = भृगु। प्रथमा का बहुवचन।

भुवनस्य — भू+क्युन् (अन) ऊ को उबड़. आदेश।

वस्वः — वसु शब्द षष्ठी विभक्ति के एकवचन का छान्दस रूप।

नाभा — 'नाभि' शब्द, सप्तमी विभक्ति का एकवचन (वैदिक रूप)।

मज्जना — मज्जति मनः यत्र तत् मज्जन् बलम्। मस्ज्+मनस्+ङ।

हिनुहि — 'हि गतौ वृद्धौ च' धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

विशेष — 'विश्ववेदस्' का अर्थ विश्वप्रज्ञ (विश्व को जानने वाला) भी होता है।

मण्डल १

सूक्त १४३

मंत्र ५

संहिता-पाठः

न यो वराय मरुतामिव स्वनः, सेनेव सृष्टा दिव्या यथाशनिः।

अग्निर्जम्भैस्तिगितैरति भवति, योधो न शत्रून्त्स वना न्यूञ्जते॥

पद-पाठः

न। यः। वराय। मरुताम्ऽइव। स्वनः। सेनाऽइव। सृष्टा। दिव्या। यथा। अशनिः।  
अग्निः। जम्भैः। तिगितैः। अति। भवति। योधः। न। शत्रून्। सः। वना। नि। ऋञ्जते॥५॥  
अन्वय — यः अग्निः वराय न, म+ताम् स्वनः इव, सृष्टा सेना इव, दिव्या अशनिः यथा।  
तिगितैः जम्भैः अति, भवति। योधः शत्रून् न स वना न्यूञ्जते।

दयानन्द-भाष्य

(न) निषेधे (यः) (वराय) स्वीकरणाय (मरुतामिव) यथा वायूनां विदुषां तथा (स्वनः) शब्दः (सेनेव) (सृष्टा) (दिव्या) दिवि कारणे वाय्वादिकार्ये च भवा (यथा) (अशनिः) विद्युत् (अग्निः) पावकः (जम्भैः) विस्फुरणैः (तिगितैः) तीक्ष्णैः (अति) भक्षयति (भवति) हिनस्ति (योधः) प्रहर्ता (न) इव (शत्रून्) (सः) (वना) वनानि (नि) (अञ्जते) साध्नोति ॥५॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः। प्रचण्डवायुना प्रेरितोऽग्निः शत्रुहिंसनमिव पदार्थान् दहति नासौ सहसा निवारणीय इति॥५॥

हि०भावार्थ — प्रचण्ड वायु से प्रेरित अति जलता हुआ अग्नि शत्रुओं को मारने के तुल्य पदार्थों को जलाता है, वह सहसा नहीं रुक सकता॥५॥



**सायण-भाष्य**

योऽग्निर्वराय वरणाय निग्रहाय शक्तो न भवति । तत्र दृष्टान्तत्रयमुच्यते । मरुतां स्वन इव । स यथा अग्राह्यस्तद्वत् । तथा सृष्टा वैरिक्षयार्थं प्रबलेनाभिसृष्टा सेनेव । सा यथान्यैरनिरोध्या तद्वत् । तथा दिव्या दिवि भवा अशनिर्यथा पतत्येव न निवार्यते तद्वत् । ईदृक्सामर्थ्यमस्तीति दर्शयति । अयमग्निस्तिगितैः निशितैः तीक्ष्णीभूतैः । अन्त्यविकारश्छान्दसः । जम्भैः दन्तैः दन्तस्थानीयाभिर्वालाभिः अत्ति अस्मद्विरोधिनो भक्षयति । तथा भर्वति हिनस्ति । तत्र दृष्टान्तः । योधो न संप्रहर्ता शूर इव । स यथा शत्रून्भर्वति भक्षयति तद्वत् । किं च सोऽग्निः वना वनानि वृक्षादिसमूहान् न्यूञ्जते नितरां प्रसावयति दहतीत्यर्थः ।

**शब्दार्थ** — न वराय = आवृत नहीं किया जा सकता । मरुताम् = हवाओं की । स्वनः = गर्जना । सृष्टा = प्रेरित की गई, भेजी गई । अशनिः = वज्र, आकाश में उत्पन्न बिजली । जम्भैः = दांतों से, दांत रूपी ज्वालाओं से । तिगितैः = तीक्ष्ण । अत्ति = खा जाता है । भर्वति = हिंसा करता है, चबा डालता है । योधः = योद्धा । न = के समान । शत्रून् = शत्रुओं को । वनानि = वनों को । न्यूञ्जते = जला डालता है ।

**हिन्दी व्याख्या** — जिस अग्नि को किसी के द्वारा आवृत किया या रोका नहीं जा सकता, जिस प्रकार हवाओं की गर्जनाओं को, प्रेरित की गई सेना को और दिव्य वज्र को या आकाश में उत्पन्न बिजली को रोका नहीं जा सकता । वह अग्नि तीक्ष्ण दांतों रूपी ज्वालाओं से सबको खा जाता है और चबा डालता है । जिस प्रकार योद्धा शत्रुओं की हिंसा करता है; वह वनों को जला डालता है ।

**व्याकरण —**

वराय — वृ + अप् = वर ।

सृष्टा — सृज् + क्त + टाप् ।

स्वनः — स्वन् + अप् = स्वन ।

दिव्या — दिव् + यत् + टाप् = दिव्या ।

अशनिः — अश् + अनि = अशनि ।

ऋञ्जते — ऋजि (ऋज्) धातु (आत्मनेपद), लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

जम्भैः — जम्भ् + अच् । तृतीया विभक्ति का बहुवचन ।

तिगितैः — तीक्ष्ण+इत् अवस्था में "पृषोदरादित्वात्" से निपातित हुआ । अथवा तिज् निशाने धातु से तिज्+क्त = तिगित ।

भर्वति — 'भर्व् हिंसायाम्' धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

**विशेष** — यहाँ 'वराय' का अर्थ है आच्छादित करने के लिए । पीटर्सन ने 'न यो वराय' का अर्थ किया है — who cannot be hindered, who is not for hindering. छन्द की पूर्ति के लिये मन्त्र के प्रथम पाद में 'दिव्या' का 'दिविया' और न्यूञ्जते का निऋञ्जते उच्चारण करना चाहिये ।



मण्डल १

सूक्त १४३

मंत्र ६

संहिता-पाठः

कुविन्नो अग्निरुचथस्य वीरसद्वसुष्कुविद्वसुभिः काममावरत् ।  
चोदः कुवित्तुतुज्यात्सातये धियः, शुचिप्रतीकं तमया धिया गृणे ॥

पद-पाठः

कुवित् । नः । अग्निः । उचथस्य । वीः । असत् । वसुः । कुवित् । वसुभिः । कामम् ।  
आवरत् । चोदः । कुवित् । तुतुज्यात् । सातये । धियः । शुचिप्रतीकम् । तम् । अया । धिया ।  
गृणे ॥ ६ ॥

अन्वय — अग्निः नः उचथस्य कुवित् वीः असत् । वसुः वसुभिः कामम् कुवित् आवरत् । चोदः  
धियः सातये कुवित् तुतुज्यात् । शुचिप्रतीकम् तम् अया धिया गृणे ।

दयानन्द-भाष्य

(कुवित्) महान् (नः) अस्मभ्यम् (अग्निः) विद्युदादिरूपः (उचथस्य) उचितस्य  
(बीः) व्यापकः (असत्) भवेत् (वसुः) वासयिता (कुवित्) महान् (वसुभिः) वासयितृभिः  
(कामम्) (आवरत्) आवृणुयात् (चोदः) चुद्यात् प्रेरयेत् (कुवित्) महान् (तुतुज्यात्) प्रेरयेत्  
(सातये) विभागाय (धियः) प्रज्ञाः (शुचिप्रतीकम्) (तम्) (अया) अनया । अत्र  
वाच्छन्दसीत्येकारादेशाभावः (धिया) प्रज्ञया कर्मणा वा (गृणे) स्तौमि ॥ ६ ॥

भावार्थ — ये विद्युद्वदुचितकामप्रापका बुद्धिबलप्रदायका महान्तो विद्वांसः स्वबुद्ध्या  
सर्वाञ्जनान् विदुषः कुर्वन्ति तान् सर्वे प्रशंसन्तु ॥ ६ ॥

हि०भावार्थ — जो बिजली के समान उचित काम प्राप्त कराने और बुद्धि बल  
अत्यन्त देनेवाले बड़े प्रशंसित विद्वान् अपनी बुद्धि से सब मनुष्यों को विद्वान् करते हैं,  
उनकी सब लोग प्रशंसा करें ॥ ६ ॥

सायण-भाष्य

अयमग्निर्नोऽस्माकमुचथस्य उचथस्य स्तोत्रस्य कुवित् बहुवारं वीः कामयिता असत्  
भवतु । यद्वा उचथस्य एतन्नामकस्य महर्षेर्गोत्रप्रभवस्य न इति सम्बन्धः । तथा वसुः  
वासयिता सर्वेषां वसस्थानीयो वा वसुभिः वासयितृभिर्धनैः कामम् अत्यर्थमभिमतं वा कुवित्  
अतिप्रभूतं आवरत् आवृणोतु । अभिमतप्रदानेन कामं निवर्तयत्वित्यर्थः । अयमग्निश्चोदः अस्माकं  
कर्मसु प्रेरकः सन् धियः कर्माणि सातये लाभाय कुवित् बह्वं तुतुज्यात् त्वरयितुं प्रेरयत्वित्यर्थः ।  
शुचिप्रतीकं शोभनावयवं शोभनज्वालं तमग्निं अया धिया अनया स्तुतिरूपया प्रज्ञया गृणे  
उच्चारयामि स्तौमीत्यर्थः ।

शब्दार्थ — कुवित् = अनेक बार, बहुत अधिक । नः = हमारे । उचथस्य =  
स्तोत्र का । वीः = चाहने वाला । असत् = होवे । वसुः = बसने वाला । वसुभिः = बसाने  
वाले धनों से । कामम् = इच्छानुसार । आवरत् = प्राप्त करावे । चोदः = प्रेरणा देने  
वाला । तुतुज्यात् = प्रेरणा दे । सातये = सुखलाभ के लिये । धियः = कर्मों को ।



शुचिप्रतीकम् = सुन्दर अवयवों वाले, सुन्दर ज्वालाओं वाले। अया = इस। धिया = बुद्धि से। गृणे = स्तुति करता हूँ।

हिन्दी व्याख्या — वह अग्नि हमारे स्तोत्र का अनेक बार चाहने वाला होवे। सबको बसाने वाला वह अग्नि निवास प्रदान करने वाले धनों से इच्छानुसार अभीष्ट वस्तु को प्रचुर मात्रा में प्राप्त करावे। कर्मों को करने के लिए प्रेरणा देने वाला वह अग्नि हमारे कर्मों को सुखलाभ के लिये बहुत अधिक प्रेरणा दे। सुन्दर अवयवों वाले या सुन्दर ज्वालाओं वाले उस अग्नि की मैं इस स्तुति रूप बुद्धि से स्तुति करता हूँ।

व्याकरण —

उचथस्य — वच्+अथक ('व्' को सम्प्रसारण) = उचथ।

असत् — 'अस्' धातु, लेट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। लोट् के अर्थ में लेट् लकार का प्रयोग है।

आवरत् — आ+वृ धातु, लेट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। लोट् के अर्थ में लेट् लकार का प्रयोग हुआ है।

तुतुज्यात् — 'तुज्' प्रेरणे धातु विधिलिङ्ग प्रथम पुरुष, एकवचन। छान्दस द्वित्व।

सातये — षणु (सन्) + क्तिन् = साति। चतुर्थी का एकवचन।

धियः — ध्या+क्विप्। य् को इ सम्प्रसारण तथा दीर्घ = धी। द्वितीया का बहुवचन। चोदः = 'चुद्' प्रेरणे धातु से अच् प्रत्यय।

अया — 'इदम्' शब्द, स्त्रीलिङ्ग में प्रथमा विभक्ति, एकवचन। लोक में 'अनया' होगा।

गृणे — 'गृ' संशब्दने धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन। ऋ को छान्दस ह्रस्व तथा आत्मनेपद।

विशेष — 'कुवित्' का अर्थ सायण ने बहुत अधिक किया है। पीटर्सन के अनुसार यह प्रश्नवाचक (Interrogative particle) है। 'वीः' का चाहने वाला अर्थ में प्रयोग अन्य उपलब्ध नहीं है।

मण्डल १

सूक्त १४३

मंत्र ७

संहिता-पाठः

घृत प्रतीकं व ऋतस्य घूर्षदमग्निं मित्रं न समिधान ऋज्जते।

इन्धानो अक्रो विदथेषु दीद्यच्छुक्रवर्णामुदु नो यंसते धियम्॥

पद-पाठः

घृतऽप्रतीकम्। वः। ऋतस्यं। घूर्ऽसदम्। अग्निम्। मित्रम्। न। सम्ऽइधान। ऋज्जते। इन्धानः। अक्रः। विदथेषु। दीद्यत्। शुक्रऽवर्णाम्। उत्। ऊं। इति। नः। यंसते। धियम्॥७॥



अन्वय — समिधानः घृतप्रतीकम् वः ऋतस्य धूर्षदम् अग्निम् मित्रम् न ऋज्जते । इन्धानः अक्रः विदथेषु दीद्यत् नः धियम् शुक्रवर्णाम् उदयंसते ।

दयानन्द-भाष्य

(घृतप्रतीकम्) यो घृतमाज्यं प्रत्येति तम् (वः) युष्मभ्यम् (ऋतस्य) सत्यस्य (धूर्षदम्) यो धूर्ष हिंसकेषु सीदति तम् (अग्निम्) पावकम् (मित्रम्) सखायम् (न) इव (समिधानः) सम्यक् प्रकाशमानः (ऋज्जते) प्रसाध्नोति (इन्धानः) प्रदीप्तस्सन् (अक्रः) अन्यैरक्रान्तः । अत्र पृषोदरादिनेष्टसिद्धिः । (विदथेषु) संग्रामेषु (दीद्यत्) दैदीप्यमानः (शुक्रवर्णाम्) शुद्धस्वरूपाम् (उत्) (उ) इति वितर्क (नः) अस्माकम् (यंसते) रक्षति (धियम्) प्रज्ञाम् ॥७॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः । यो विद्युद्वत्सर्वशुभगुणकरो मित्रवत्सुखप्रदाता संग्रामेषु वीरइव शत्रुजेता दुःखप्रध्वंसको वर्तते तं विद्वांसमाश्रित्य सर्वे मनुष्या विद्याः प्राप्नुयुः ॥७॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है । जो बिजुली के समान समस्त शुभ गुणों की खान, मित्र के समान सुख का देने, संग्रामों में वीर के तुल्य शत्रुओं को जीतने और दुःख का विनाश करने वाला है, उस विद्वान् का आश्रय कर सब मनुष्य विद्याओं को प्राप्त होवे ॥७॥

सायण-भाष्य

घृतप्रतीकं घृतोपक्रमं प्रयाजादिष्वाज्यैर्हूयमानत्वात् । यद्वा प्रतीकङ्गलम् दीप्तज्वालमित्यर्थः । किं च वः युष्मत्संबन्धिनः ऋतस्य यज्ञस्य धूर्षदं धुरि निर्वहणे सीदन्तं यज्ञनिर्वाहकमग्निं मित्रं न मित्रमिव समिधानः इध्मैर्दीपमानः ऋज्जते प्रसाधयति । ऋज्जति प्रसाधनकर्मा । इन्धानः सम्यग्दीप्यमानः । अक्रः ज्वालासमिदादिभिराक्रान्तः अन्यैरनाक्रान्तो वा । विदथेषु यज्ञेषु वेदयत्सु स्तोत्रेषु निमित्तभूतेषु दीद्यत् स्वयं दीप्यमानः अस्मदीयां धियं प्रज्ञां यागादिविषयां शुभ्रवर्णां निर्मलां ज्योतिष्टोमादि कर्म वा उदयंसते उद्योजयत्येव ।

शब्दार्थ — घृतप्रतीकम् = घृत द्वारा परिवर्धित, प्रदीप्त ज्वालाओं वाले । ऋतस्य = यज्ञ का । धूःसदम् = भार को वहन करने वाला, यज्ञ के अग्रभाग में क्रियाओं को सम्पादित करने वाला । मित्रम् न = मित्र के समान । समिधानः = समिधाओं से दीप्त होता हुआ । ऋज्जते = दहन करता है, प्रसाधित करता है, आत्मरूप बनाता है । इन्धानः = ईधन से प्रदीप्त । अक्रः = ज्वालाओं से परिवेष्टित, समिधाओं से आवेष्टित, दुर्धर्ष, अनाक्रान्त । विदथेषु = यज्ञों में, सभाओं में । दीद्यत् = दीप्यमान होता हुआ । शुक्रवर्णाम् = उज्ज्वल वर्णवाली । उदयंसते = उन्नत बनाता है ।

हिन्दी व्याख्या — समिधाओं से दीप्त होता हुआ अग्नि घृत के द्वारा परिवर्धित किये गये अथवा प्रदीप्त ज्वालाओं वाले और तुम्हारे यज्ञ के भार को वहन करने वाले अथवा यज्ञ के अग्रभाग में क्रियाओं को सम्पादित करने वाले अग्नि देवता को मित्र के समान प्रसाधित कर लेता है, आत्मरूप बना लेता है । ईधन से प्रदीप्त एवं ज्वालाओं में आवेष्टित अथवा समिधाओं से आवेष्टित अथवा दुर्धर्ष अनाक्रान्त, यज्ञों में या सभा में



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

दीप्यमान् होता हुआ वह अग्नि देव हमारी यज्ञादि विषयक बुद्धि को उज्ज्वल वर्ण वाली करता हुआ उन्नत बनाता है।

**व्याकरण —**

**ऋतस्य** — ऋ+क्त। षष्ठी विभक्ति का एकवचन।

**धूर्षदम्** — धुर्+सद्+अच् = धूर्षद। द्वितीया विभक्ति का एकवचन।

**मित्रम्** — मिनाते: हिंसाया: त्रायते इति मित्रम्।

**समिधानः** — सम्+इध् (इन्ध्) + अन् + अण् = समिधान।

**इन्धानः** — इन्ध्. शानच् = इन्धान। **अक्रः** — न + क्रम् + ड। टि का लोप =

अक्र।

**विदथेषु** — विद् + अथच् = विदथ। पीटर्सन के अनुसार इसकी निष्पत्ति 'वि+धा' से हुई है।

**दीद्यत्** — 'दिक्' धातु से निपातनात् सिद्ध होता है।

**यंसते** — 'यम्' धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। वैदिक रूप है।

**विशेष** — ओल्डन वर्ग ने 'ऋतस्य धूर्षदम्' का अर्थ किया है, ऋत का सारथि (The charioteer of Rita)। ऋज्ज् धातु का अर्थ प्रसाधन करना है। अग्नि का प्रसाधन उसका तीव्रता से जलना ही है। 'अक्रः' शब्द के सायणकृत अर्थ को पीटर्सन ने अशुद्ध माना है, परन्तु उसने स्वयं भी कोई समुचित व्याख्या इस शब्द की नहीं की। 'ऋग्वेद' के एक स्थान पर 'अक्र' शब्द 'घोड़ा' के लिये प्रयुक्त हुआ है (१/१८७/९)। पीटर्सन के अनुसार 'विदथ' शब्द की निष्पत्ति 'वि+धा' से हुई है, जिसका अर्थ है — Distribution, disposition or ordinance। 'विदथ' का प्रयोग सभा के लिये भी होता है। अतः 'विदथेषु दीद्यत्' का अर्थ सभा में प्रभावशाली (A person influential in Council) हो सकता है।

छन्दपूर्ति के लिये तीसरे पाद के 'दीद्यत्' को 'दीदियत्' पढ़ना चाहिये।

**मण्डल १**

**सूक्त १४३**

**मंत्र ८**

**संहिता-पाठः**

अप्रयुच्छन्प्रयुच्छदिभरग्ने शिवेभिर्नः पायुभिः पाहि शग्मैः।

अदब्धेभिरदृपितेभिरिष्टेऽनिमिषद्भिः परि पाहि नो जाः॥

**पद-पाठः**

अप्रयुच्छन्। अप्रुच्छत्सभिः। अग्ने। शिवेभिः। नः। पायुभिः। पाहि। शग्मैः।  
अदब्धेभिः। अदृपितेभिः। इष्टे। अनिमिषत्सभिः। परि। पाहि। नः। जाः॥८॥

**अन्वय** — अग्ने ! अप्रयुच्छन् अप्रयच्छद्भिः शिवेभिः शग्मैः पायुभिः नः पाहि। इष्टे। अदब्धेभिः  
अदृपितेभिः अनिमिषद्भिः नः जाः परिः पाहि।



## दयानन्द-भाष्य

(अप्रयुच्छन्) प्रमादमकुर्वन् (अप्रयुच्छद्भिः) प्रमादरहितैर्विद्वद्भिस्सह (अग्ने) विद्याविज्ञानप्रकाशयुक्त (शिवेभिः) कल्याणकारिभिः (नः) अस्मान् (पायुभिः) रक्षकैः (पाहि) रक्ष (शग्मैः) सुखप्रापकैः (अदब्धेभिः) अहिंसकैः (अदृषितेभिः) मोहादिदोषरहितैः (इष्टे) पूजितुं योग्य। अत्र संज्ञायां क्तिच्। (अनिमिषद्भिः) नैरन्तर्येणालस्यरहितैः (परि) सर्वतः (पाहि) (नः) अस्मान् (जाः) यो जनयति सुखानि ॥८॥

भावार्थ — मनुष्यैस्सततमिदमेष्टव्यं प्रयतितव्यं च धार्मिकैर्विद्वद्भिस्सह धार्मिका विद्वांसोऽस्मान् सततं रक्षयुरिति ॥८॥

हि०भावार्थ — मनुष्यों को निरन्तर यह चाहना और ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि धार्मिक विद्वानों के साथ धार्मिक विद्वान् हमारी निरन्तर रक्षा करें ॥८॥

## सायण-भाष्य

हे अग्ने ! अप्रयुच्छन् अस्मास्वप्रमाद्यन् । 'युच्छ प्रमादे' । अविच्छिन्नप्रवृत्तिः सन् अप्रयुच्छद्भिः अप्रमाद्याद्भिः अनवधानरहितैः शिवेभिः मन्त्रकल्याणैः शग्मैः सुखकरैः पायुभिः रक्षणप्रकारैः नोऽस्मान् पाहि रक्ष । किंच हे इष्टे सर्वरेषणीयाग्ने जाः जायमानः अस्माभिर्दीप्यमानः सन् अदब्धेभिः अहिंसितैः अदृषितेभिः केनचिदप्य- परिभूतैः । अनिमिषद्भिः निमेषरहितैः अनलसस्वभावैः । ईदृशैः लक्षणैर्नोऽस्मान् परि परितः पाहि पालय । यद्वा । उपर्युपरि जायन्त इति जाः । नो जाः अस्मत्सम्बन्धिनीः पुत्रपौत्रादिरूपाः प्रजाः परिपाहि परितो रक्ष । न केवलमस्मान् किंतु त्वस्मत्पुत्रपौत्रादीनपि रक्ष ।

शब्दार्थ — अप्रयुच्छन् = प्रमाद न करता हुआ । अप्रयुच्छद्भिः = प्रमाद न करने वाले । शिवेभिः = कल्याण करने वाले । पायुभिः = रक्षणों से । पाहि = रक्षा करो । शग्मैः = सुखकारी । अदब्धेभिः = हिंसित न होने वाले । दृषितेभिः = पराभूत न होने वाले । इष्टे = हे अग्ने । अनिमिषद्भिः = आलस्य न करने वाले । परि = चारों ओर से । नः जाः = हमारी सन्तति की ।

हिन्दी व्याख्या — हे अग्नि देवता ! हमारी रक्षा में प्रमाद न करते हुए आप प्रमाद न करने वाले अर्थात् सावधान रहने के लिए चेतावनी देने वाले, कल्याण करने वाले, सुखकारी रक्षणों के प्रकारों से हमारी रक्षा कीजिए । सब के द्वारा वाञ्छनीय है अग्नि ! आप हिंसित न होने वाले, दूसरों के द्वारा पराभूत न होने वाले और आलस्य न करने वाले साधनों के द्वारा हमारी और हमारी सन्तति की सब ओर से रक्षा कीजिए ।

## व्याकरण —

अप्रयुच्छन् — नञ्+प्र+युच्छ्+शतृ । प्रथमा विभक्ति का एकवचन ।

शग्मैः—'शक्' धातु से 'म' प्रत्यय वैदिक रूप, तृतीया विभक्ति बहुवचन ।

शिवेभिः — 'अदब्धेभिः, अदृषितेभिः — तृतीया विभक्ति के बहुवचन हैं । छान्दस होने से 'भिस्' को 'ऐस्' नहीं हुआ ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

पायुभिः — पा+इण् (युक् का आगम) = पायु। तृतीया का बहुवचन।

पाहि — पा धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

इष्टे — यज्+क्तिन् = यष्टि। सम्बोधन का एकवचन।

अनिमिषदिभः — नज्+नि+मिष्+शतृ। तृतीया विभक्ति का बहुवचन।

जाः — 'जनी प्रादुर्भावे' अर्थ में जन्+ड+टाप्+जा। लोक में उपसर्ग पहले होने पर भी ए होता है।

विशेष — रॉथ ने 'शग्म' का अर्थ सहायक (helpful) किया है। छन्द की पूर्ति के लिये चतुर्थ पाद में निमिषद्भिः को 'अनिमिषद्भिः' बोलना चाहिये।



## विष्णु सूक्त

ऋषि—दीर्घतमा

देवता—विष्णु

छन्द—त्रिष्टुप्

मण्डल १

सूक्त १५४

मंत्र १

संहिता—पाठः

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।

यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥

पद—पाठः

विष्णोः । नु । कम् । वीर्याणि । प्र । वोचम् । यः । पार्थिवानि । विममे । रजांसि ।

यः । अस्कभायत् । उत्तरम् । सधस्थम् । विचक्रमाणः । त्रेधा । उरुगायः ॥१॥

अन्वय — विष्णोः वीर्याणि नु कम् प्रवोचम्, यः पार्थिवानि रजांसि विममे, यः त्रेधा विचक्रमाणः उरुगायः उत्तरम् सधस्थम् अस्कभायत् ।

दयानन्द—भाष्य

(विष्णोः) वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वत्र स विष्णुस्तस्य (नु) सद्यः (कम्) सुखम् (वीर्याणि) पराक्रमान् (प्र) (वोचम्) वदेयम् (यः) (पार्थिवानि) पृथिव्यां विदितानि (विममे) (रजांसि) लोकान् (यः) (अस्कभायत्) स्तब्धनाति (उत्तरम्) प्रलयादनन्तरं कारणाख्यम् (सधस्थम्) सहस्थानम् (विचक्रमाणः) विशेषेण प्रचालयन् (त्रेधा) त्रिभिः प्रकारैः (उरुगायः) य ऊरुभिर्बहुभिर्मन्त्रैर्गीयते स्तूयते वा ॥१॥

भावार्थ — यथा सूर्यः स्वाकर्षणेन सर्वान् भूगोलान् धरति तथा सूर्यादील्लोकान् कारणं जीवाश्च जगदीश्वरो धत्ते य इमानसंख्यलोकान् सद्यो निर्ममे तस्मिन्निमे प्रलीयन्ते च सएव सर्वैरुपास्यः ॥१॥

हि०भावार्थ — जैसे सूर्य अपनी आकर्षण शक्ति से सब भूगोलों को धारण करता है वैसे सूर्यादि लोक, कारण और जीवों को जगदीश्वर धारण कर रहा है। जो इस असंख्य लोको को शीघ्र निर्माण करता और जिसमें प्रलय को प्राप्त होते हैं, वही सबको उपासना करने योग्य है ॥१॥

सायण—भाष्य

हे नराः ! विष्णोर्व्यापनशीलस्य देवस्य वीर्याणि वीरकर्माणि नु कम् अतिशीघ्रं प्रवोचं ब्रवीमि । अत्र यद्यपि नु कम् इति पदद्वयं तथापि यास्केन नवोत्तराणि पदानीत्युक्त्वात् (निघण्टु ३-१२) शाखान्तरे एकत्वे पाठाच्च नु इत्येतस्मिन्नेवार्थे नु कम् इति पदद्वयम् । कानि तानीति तत्राह — यो विष्णुः पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि रज्जनात्मकानि क्षित्यादिलोकत्रयाभिः— मानीन्यग्निवाय्वादित्यरूपाणि रजांसि विममे विशेषेण निर्ममे । अत्र त्रयो लोका अपि पृथिवीशब्दवाच्याः । तथा च मन्त्रान्तरम् — यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्यामुत स्थः । (ऋग १/१०८/९) तैत्तिरीयेऽपि “योऽस्यां पृथिव्यामस्यायुषे”



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

त्युपक्रम्य यो द्वितीयस्यां तृतीयस्यां पृथिव्यामिति (तै० सं० १/२/१२/१) तस्माल्लोकत्रयस्य पृथिवीशब्दवाच्यत्वम् । किं च यश्च विष्णुः उत्तरमुदगततरम् अतिविस्तीर्ण सधस्थ सहस्थानं लोकत्रयाश्रयभूत अन्तरिक्षं अस्कभायत् तेदामाधारत्वेन स्तम्भितवान्! निर्मितवानित्यर्थः । अनेनान्तरिक्षाश्रितं लोकत्रयमपि सृष्टवानित्युक्तं भवति । यद्वा यो विष्णुः पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि पृथिव्या अधस्तनसप्तलोकान् विममे विविधं निर्मितवान् । रजःशब्दो लोकवाची लोकाः रजांस्युक्तिर्यास्कस्य (निघण्टु ४/३/१९) किं च यश्च उत्तरमुदगततरम् उत्तरभाविनं सधस्थं सहस्थानं पुण्यकृतां सहनिवासयोग्यं भूरादिलोकसप्तकं अस्कभायत् स्कम्भेः 'स्तुम्भु स्तम्भु' इति विहितस्य श्नः छन्दसि शायजपीति व्यत्ययेन शायजादेशः (पाणिनिः ३/१/४८) । अथवा पार्थिवानि पृथिवी निमित्तकानि रजांसि भूरादिलोकत्रयं विममे इत्यर्थः । भूम्यामुपार्जितकर्मभोगार्थत्वादितरेषां लोकानां तत्कारणत्वात् । किं च यश्चोत्तरमुत्कृष्टतरं सर्वेषां लोकानामुपरिभूतं, अपुनरावृत्ते— स्तस्योत्कृष्टत्वम् । सधस्थमुपासकानां सहस्थानं सत्यलोकं अस्कभायत् ध्रुवं स्थापितवान् । किं कुर्वन् त्रेधा विचक्रमाणः त्रिप्रकारं स्वसृष्टान् लोकान् क्रममाणः । विष्णोस्त्रेधाः क्रमणम् । 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' (१/२२/१७ ऋक्) इत्यादि श्रुतिषु प्रसिद्धम् । अत एवोरुगाय उरुभिर्महद्भिर्गीयमानः, अति प्रभूतं गीयमानो वा । य एवं कृतवान् तादृशस्य विष्णोर्वीर्याणि प्रवोचम् ।

**शब्दार्थ —** विष्णु = व्यापनशील विष्णु देवता । नु = शीघ्र । वीर्याणि = वीर कार्यो का । प्रवोचम् = कहता हूँ । पार्थिवानि = पृथ्वी सम्बन्धी । रजांसि = रजकणों को, लोकों को । विममे = विशेष रूप से बनाया । अस्कभायत् = स्तम्भित किया, आधार रूप से बनाया । उत्तरम् = अति उत्कृष्ट । सधस्थम् = साथ रहने का स्थान । विचक्रमाणः = लांघते हुये । त्रेधा = तीन प्रकार से, या तीन डगों में । उरुगायः = महान पुरुषों से स्तुति किया जाता हुआ ।

**हिन्दी व्याख्या —** हे मनुष्यो ! मैं व्यापनशील विष्णु देवता के वीर कार्यो को बहुत शीघ्र कहता हूँ, जिस विष्णु ने पृथिवी सम्बन्धी रजकणों अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य आदि विशेष लोकों की विशेष रूप से रचना की । और जिस विष्णु ने तीन प्रकार से या तीन डगों में अपने बनाये हुए लोकों को लांघते हुए एवं महान् पुरुषों से स्तुति किये जाते हुए होकर ऊँचे या अति उत्कृष्ट तीनों लोकों के आश्रयभूत साथ रहने के स्थान को स्तम्भित किया, आधार रूप से बनाया ।

### व्याकरण —

**विष्णोः** — 'विष्णु व्याप्तौ' धातु से विष्+नु = विष्णु । षष्ठी विभक्ति का एकवचन ।

**वीर्याणि** — वीर+यत् = वीर्य । नपुंसकलिंग, द्वितीया विभक्ति, बहुवचन ।

**प्रवोचम्** — 'प्र+वच्' धातु लङ्, लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन । छान्दस अङ्. का अभाव । वर्तमानकाल में 'लङ्.' का प्रयोग ।

**पार्थिवानि** — पृथिवी+अण् = पार्थिव ।



## विष्णु सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-१५४ )

अस्कभायत् — 'स्कम्भ' धातु लङ्. लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। यहाँ 'श्ना' को वैदिक 'शायच्' आदेश हुआ। लोक में 'अस्कम्भनात्' रूप होगा।

विचक्रमाणः — वि+क्रम् धातु से लिट् के अर्थ में कानच् प्रत्यय।

त्रेधा — त्रि+धा = त्रेधा।

विममे — वि+मा धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

उरुगायः — 'उरुभिः गीयते' अर्थ में उरु+गै+अच्।

उत्तरम् — उत्+तरप् = उत्तर।

सधस्थम् — सह+स्था+क = सधस्थ।

विशेष — 'त्रेधा विचक्रमाणः' का अर्थ पीटर्सन ने 'तीन डगों में परिक्रमा करते हुये किया है। छन्द की पूर्ति के लिये 'वीर्याणि' का 'वीरियाणि' एवं 'त्रेधा' का 'त्रयेधा' उच्चारण करना चाहिये।

मण्डल १

सूक्त १५४

मंत्र २

संहिता-पाठः

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥

पद-पाठः

प्र। तत्। विष्णुः। स्तवते। वीर्येण। मृगः। न। भीमः। कुचरः। गिरिऽस्थाः। यस्यं। उरुषु। त्रिषु। विऽक्रमणेषु। अधिऽक्षियन्ति। भुवनानि। विश्वा॥२॥

अन्वय — यस्य उरुषु त्रिषु विक्रमणेषु विश्वा भुवनानि अधिक्षियन्ति तत् विष्णुः वीर्येण प्रस्तवते, भीमः कुचरः गिरिष्ठाः मृगः न।

दयानन्द-भाष्य

(प्र) (तत्) सः (विष्णुः) सर्वव्यापीश्वरः (स्तवते) स्तौति (वीर्येण) स्वपराक्रमेण (मृगः) (न) इव (भीमः) भयङ्करः (कुचरः) यः कुत्सितं चरति सः (गिरिष्ठाः) यो गिरौ तिष्ठति (यस्य) (उरुषु) विस्तीर्णेषु (त्रिषु) नामस्थानजन्मसु (विक्रमणेषु) विविधेषु सृष्टिक्रमेषु (अधिक्षियन्ति) आधाररूपेण निवसन्ति (भुवनानि) भवन्ति भूतानि येषु तानि लोकजातानि (विश्वा) सर्वाणि॥२॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः। नहि कश्चिदपि पदार्थ ईश्वरसृष्टिनियम-क्रममुल्लङ्घितुं शक्नोति यो धार्मिकाणां मित्र इवाह्लादप्रदो दुष्टानां सिंह इव भयप्रदो न्यायादिगुणधर्ता परमात्माऽस्ति स एव सर्वेषामधिष्ठाता न्यायाधीशोऽस्तीति वेदितव्यम्॥२॥

हि०भावार्थ — कोई भी पदार्थ ईश्वर और सृष्टि के नियम को उल्लङ्घन नहीं कर सकता है, जो धार्मिक जनों को मित्र के समान आनन्द देने, दुष्टों को सिंह के समान भय देने और न्यायादि गुणों का धारण करनेवाला परमात्मा है वही सबका अधिष्ठाता और न्यायाधीश है, यह जानना चाहिये॥२॥



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

### सायण-भाष्य

यस्येति वक्ष्यमाणत्वात् स इत्यवगम्यते । स महानुभावो वीर्येण स्वकीयेन वीरकर्मणा पूर्वोक्तरूपेण स्तवते स्तूयते सर्वैः । कर्मणि व्यत्ययेन शप् । वीर्येण स्तूयमानत्वे दृष्टान्तः मृगो न सिंहादिरिव । यथा स्वविरोधिनो मृगयिता सिंहो भीमो भीतिजनक कुचरः कुत्सितहिंसादिकर्ता दुर्गमप्रदेशगन्ता च गिरिष्ठाः पर्वताद्युन्नतप्रदेशस्थायी सर्वैः स्तूयते । मृगः मार्ष्टर्गतिकर्मणः । भीमो बिभ्यत्यस्मात् । भीष्मोऽप्येतस्मादेव । कुचर इति चरतिकर्म कुत्सितम् । अथ चेद्वताभिधानं क्वायं न चरतीति वा । गिरिष्ठा गिरिस्थायी गिरिः पर्वतः समुदगीणो भवति पर्ववान् पर्वतः पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा नि० १-२० । इति । तद्वदयमपि मृगः अन्वेष्टा शत्रूणां भीमः भयानकः सर्वेषां भीत्युपादानभूतः । कुषु सर्वाषु भूमिषु लोकत्रये सञ्चारी । यद्वा गिरिमन्त्रादिरूपायां वाचि सर्वदा वर्तमानः । किं च यस्य विष्णोरुरुषु विस्तीर्णेषु त्रिसंख्याकेषु विक्रमणेषु पादप्रक्षेपेषु विश्वा सर्वाणि भूतजातानि आश्रित्य निवसन्ति स विष्णुः स्तूयते ।

**शब्दार्थ** - प्रस्तवते = स्तुति किया जाता है । भीमः = भयानक । कुचरः = कुत्सित हिंसा आदि कार्य करने वाला, स्वतन्त्रता पूर्वक भूमि पर विचरण करने वाला । गिरिष्ठाः = पर्वतों में रहने वाला । उरुषु = विस्तीर्ण । विक्रमणेषु = डगों में । अधिक्षियन्ति = निवास करते हैं ।

**हिन्दी व्याख्या** - जिस विष्णु के विस्तीर्ण लम्बे तीन डगों में सम्पूर्ण लोक आ जाते हैं या आश्रय लेकर निवास करते हैं, उस विष्णु की वीर कार्यों से स्तुति उसी प्रकार की जाती है, जिस प्रकार भयानक, कुत्सित हिंसा आदि कार्य करने वाले या स्वतन्त्रता पूर्वक भूमि पर विचरण करने वाले, पर्वत आदि उन्नत प्रदेशों में रहने वाले एवं विरोधियों को ढूँढकर मारने वाले सिंह आदि की स्तुति की जाती है ।

### व्याकरण -

**स्तवते** - 'स्तु' धातु से कर्म कारक में लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन । व्यत्यय से 'यक्' के स्थान पर 'शप्' हुआ ।

**कुचरः** - कु + चर् + ट ।

**मृगः** - मार्ष्टि गच्छति अन्विषति अर्थ में मृज् + क = मृग । अथवा मृ + गम् + अ = मृग ।

**गिरिष्ठाः** - गिरिषु तिष्ठानि अर्थ में - गिरि + स्था + क्विप् ।

**विश्वा** - प्रथमा विभक्ति, बहुवचन । लोक में 'विश्वानि' बनेगा ।

**वीर्येण** - वीर् + यत् = वीर्य । तृतीया विभक्ति, एकवचन = वीर्येण ।

**स्तवते** - स्तु धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष एकवचन = स्तवते । वैदिक रूप । लोक में स्तुनोति रूप होगा ।

**विक्रमणेषु** - वि + क्रम् + ल्युट् (अन) = विक्रमण । सप्तमी विभक्ति, बहुवचन = विक्रमणेषु ।



## विष्णु सूक्त (मण्डल-१, सूक्त-१५४)

अधिक्षियन्ति — अधि + क्षि, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

विशेष — सायण ने 'कुचरः' का अर्थ 'कुत्सित हिंसा आदि कर्म करने वाला' किया है। पीटर्सन के अनुसार इसका अर्थ है — स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करने वाला। सायण के अनुसार 'गिरिष्ठाः' का अर्थ 'उन्नत प्रदेश में रहने वाला' है। पीटर्सन और मैकडानल ने इसका अर्थ पर्वतो में विचरण करने वाला किया है। सायण ने 'स्तवते' को कर्मवाच्य में मानकर 'स्तूयते' अर्थ किया, परन्तु पीटर्सन इसे ठीक नहीं मानता। उसके अनुसार यह कर्तृवाच्य ही है। विष्णु स्वयं अपने कार्यों की प्रशंस करता है — Vishnu praises, makes loud boast of this। वीर्येण को उसने क्रिया-विशेषण मानकर mightly अर्थ किया। ग्रासमान ने 'तत्' को प्रस्तवते का कर्म माना और 'वीर्येण' का अर्थ might किया — Undertakes this glorious mighty deeds।

छन्द के आग्रह से 'वीर्येण' को वीरियेण और 'विक्रमणेष्वधि' को सन्धि तोड़ कर विक्रमणेषु अधि पढ़ना चाहिए।

मण्डल १

सूक्त १५४

मंत्र ३

संहिता-पाठः

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षितं उरुगायाय वृष्णे।

य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्यदेभिः॥

पद-पाठः

प्र। विष्णवे। शूषम्। एतु। मन्म। गिरिक्षिते। उरुगायाय। वृष्णे। यः। इदम्। दीर्घम्। प्रयतम्। सधस्थम्। एकः। विममे। त्रिभिः। इत्। पदेभिः॥३॥

अन्वय — यः इदम् दीर्घम् प्रयतम् सधस्थम् एकः इत् त्रिभिः पदेभिः विममे, गिरिक्षिते उरुगायाय वृष्णे विष्णवे मन्म शूषम् प्र एतु।

दयानन्द-भाष्य

(प्र) (विष्णवे) न्यायकाय (शूषम्) बलम् (एतु) प्राप्नोतु (मन्म) विज्ञानम् (गिरिक्षिते) गिरयो मेघा शैलावाक्षितोव्युष्टायस्मिंस्तस्मै (उरुगायाय) बहुभिः प्रशंसिताय (वृष्णे) अनन्तवीर्याय (यः) (इदम्) (दीर्घम्) वृहत् (प्रयतम्) प्रयत्नसाध्यम् (सधस्थम्) तत्त्वावयवैः सह स्थानम् (एकः) असहायोऽद्वितीयः (विममे) विशेषेण रचयति (त्रिभिः) स्थूलसूक्ष्मातिसूक्ष्मैरवयवैः (इत्) एव (पदेभिः) ज्ञातुमर्हैः॥३॥

भावार्थ — न खलु कश्चिदप्यनन्तबल जगदीश्वरमन्तरेदं विचित्रं जगत्स्रष्टुं धर्तुं प्रलाययितुं च शक्नोति तस्मादेतं विहायान्यस्योपासनं केनचिदपि नैव कार्यम्॥३॥

हि०भावार्थ — कोई भी अनन्त पराक्रमी जगदीश्वर के बिना इस विचित्र जगत् के रचने धारण करने और प्रलय करने को समर्थ नहीं हो सकता, इससे इसको छोड़ और की उपासना किसी को न करनी चाहिये॥३॥



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

### सायण-भाष्य

विष्णवे सर्वव्यापकाय शूषमस्मत् कृत्यादिजन्यं महद् बल मन्म मननीयं शूषं बल वा विष्णुमेतु प्राप्नोतु। कर्मणाः सम्प्रदानत्वात् चातुर्थी। कीदृशाय। गिरिक्षिते वाचि तिष्ठते गिरिवदुन्नतप्रदेशे वा तिष्ठते। उरुगायाय बहुभिर्गीयमानाय वृष्णे वर्षयित्रे कामानाम् एवं महानुभावं शूषं प्राप्नोतु। कोऽस्य विशेषः — यो विष्णुरिदं प्रसिद्ध दृश्यमानं दीर्घमति विस्तृतं प्रयत नियतं सधस्थं सहस्थानं लोकत्रयं एक इत् एक एव अद्वितीयः सन् त्रिभिः पदेभिः पादैर्विममे विशेषेण निर्मितवान्।

शब्दार्थ — शूषम् = बल। प्र एतु = प्राप्त होवे। मन्म = मननीय, स्तुति के योग्य। गिरिक्षिते = वाणियों में निवास करने वाले, उन्नत प्रदेश में रहने वाले। वृष्णे = कामनाओं को पूर्ण करने वाले। दीर्घम् = विस्तृत। प्रयतम् = नियमों में बंधा हुआ। सधस्थम् विममे = नाप लिया था।

हिन्दी व्याख्या — जिस विष्णु ने इस दृश्यमान् अति विस्तृत नियमों में बंधे हुए सबके सम्मिलित स्थान लोकत्रय को अकेले ही तीन डगों में नाप लिया था, उस वाणियों में निवास करने वाले या उन्नत प्रदेश में रहने वाले बहुतों के द्वारा स्तुति किये जाने वाले, कामनाओं को पूर्ण करने वाले सर्वव्यापक विष्णु के लिये हमारा यह मननीय या स्तुति के योग्य बल, जो हमारे कृत्यों से उत्पन्न हुआ है, प्राप्त होवे।

### व्याकरण —

शूषम् — शूष् + घञ्। मन्म — मन् + मनिन्।

गिरिक्षिते — गिरि + क्षि + क्विप् = गिरिक्षित्। गिरौ क्षयति अर्थ में।

उरुगायाय — उरुभिः गीयते तस्मै। उरु + गारु यक् = उरुगाय। चतुर्थी विभक्ति, एकवचन = उरुगायाय।

प्रयतम् — प्र + यम् + क्त = प्रयत।

सधस्थम् — सह + स्था + क = सधस्थ। सह' के 'ह' को 'ध' आदेश।

विममे — वि + मा, धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

वृष्णे — वृष् + कनिन् (अन्) = वृषन् वेद में चतुर्थी का एकवचन।

विशेष — उरुगायाय पद में 'गा' का अर्थ सायण ने 'गान करना' किया है। परन्तु पीटर्सन ने इसका अर्थ 'गमन करना' किया है और 'उरुगायाय' का अर्थ बड़े-बड़े पद वाला बैल (wide pacing bull) किया है। 'शूषम्' की निष्पत्ति रॉथ के अनुसार 'श्वस्' धातु से होती है और इसका अर्थ Piping sound है।

छन्द पूर्ति के लिए 'शूषम्' को 'शु उषम्' उच्चारण करना चाहिये।



## विष्णु सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-१५४ )

मण्डल १

सूक्त १५४

मंत्र ४

संहिता-पाठः

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति ।

य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा ।।

पद-पाठः

यस्य । त्री । पूर्णा । मधुना । पदानि । अक्षीयमाणा । स्वधया । मदन्ति । यः । ऊँ  
इति । त्रिधातु । पृथिवीम् । उत । द्याम् । एकः । दाधार । भुवनानि । विश्वा ।।४।।

अन्वय — यस्य मधुना पूर्णा त्री पदानि अक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति, य उ एकः पृथिवीम्  
द्याम् उत त्रिधातु विश्वा भुवनानि दाधार ।

दयानन्द-भाष्य

(यस्य) जगदीश्वरस्य मध्ये (त्री) त्रीणि (पूर्णा) पूर्णानि (मधुना) मधुराद्येन गुणेन  
(पदानि) प्राप्तुमर्हाणि (अक्षीयमाणा) क्षयरहितानि (स्वधया) स्वस्वरूपधारणया क्रियया  
(मदन्ति) (यः) (उ) (त्रिधातु) त्रयः सत्त्वरजस्तमआदिधातवो येषु तानि (पृथिवीम्) भूमिम्  
(उत) अपि (द्याम्) सूर्यम् (एकः) अद्वैतः (दाधार) धरति पोषयति वा (भुवनानि) (विश्वा)  
सर्वाणि ।।४।।

भावार्थ — योऽनादिकारणात् सूर्यादिप्रकाशवत् क्षितीरुत्पाद्य सर्वैर्भोग्यैः पदार्थैः सह  
संयोज्याऽऽनन्दयति तद्गुणकर्मोपासनेनानन्दो हि सर्वैर्वर्द्धनीयः ।।४।।

हि०भावार्थ — जो अनादि कारण से सूर्य आदि के तुल्य प्रकाशमान पृथिवियों को  
उत्पन्न कर समस्त भोग्य पदार्थों के साथ उनका संयोग करा उनको आनन्दित करता है  
उसके गुण कर्म की उपासना से आनन्द ही सबको बढ़ाना चाहिये ।।४।।

सायण-भाष्य

यस्य विष्णोः मधुना मधुरेण दिव्यामृतेन पूर्णा पूर्णानि त्रीणि पदानि पादप्रक्षेपणानि  
अक्षीयमाणा अक्षीयमाणानि स्वधया अन्नेन मदन्ति मादयन्ति तदा श्रितजनान् । य उ य एव  
पृथिवी प्रख्यातां भूमिं द्यामुत द्योतनात्मकमन्तरिक्षं च विश्वा भुवनानि सर्वाणि भूतजातानि  
चतुर्दश लोकांश्च । यद्वा पृथिवीशब्देन अधोवर्तीन्यतलवितलादिसप्तभुवनानि उपात्तानि । द्यु  
शब्देन तदवान्तररूपाणि भूरादिसप्तभुवनानि । एवं चतुर्दशलोकान् विश्वा भुवनानि सर्वाण्यपि  
तत्रत्यानि भूतजातानि । त्रिधातु त्रयाणां धातूनां समाहारस्त्रिधातु । पृथिव्यप्तेजोरूपधातु-  
त्रयविशिष्टं यथा भवति तथा । दाधार धृतवान् । तुजादित्वादभ्यासदीर्घत्वम् । उत्पादितवानित्यर्थः ।  
छान्दोग्यारण्यके । तत्तोऽसृजत तदन्नमसृजत ता आप ऐक्षतेति भूतत्रयसृष्टिमुक्त्वा  
हन्ताहमिमास्तिस्रो देवतास्तासां त्रिवृत्तां त्रिवृतमेकैकानां करवाणीत्यादिना  
त्रिवृत्करणसृष्टिरूपपादिता । छा०उ०६.२.३.३ । यद्वा । त्रिधातु कालत्रयं गुणत्रयं वा  
दधारेत्यन्वयः ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

शब्दार्थ — पूर्णा = भरे हुये। मधुना = दिव्य अमृत से। अक्षीयमाणा = क्षीण न होते हुये। स्वधया = अन्न के द्वारा। मदन्ति = आनन्दित करते हैं। त्रिधातु = पृथिवी जल तेज इन तीनों धातुओं से युक्त। उत = और। दाधार = धारण करता है।

हिन्दी व्याख्या — जिस विष्णु के मधुर दिव्य अमृत से भरे हुए तीन पद कभी क्षीण न होते हुए अन्न के द्वारा आनन्दित करते हैं, और जो अकेला ही विस्तृत पृथिवी लोक को द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक को, तीन धातुओं पृथिवी, जल, तेज से युक्त बनाता हुआ सभी लोकों को धारण करता है।

**व्याकरण —**

त्री — 'जस्' का लोप और 'त्रि' को दीर्घ। वैदिक रूप। लोक में 'त्रीणि' होगा।

अक्षीयमाणा — क्षि + यक् + (मुक् का आगम) + शानच् = क्षीयमाण। न + क्षीयमाण = अक्षीयमाण। पूर्णा — लोक में पूर्णानि होगा।

मदन्ति — 'मदो हर्षे' धातु 'लट् लकार' प्रथम पुरुष, बहुवचन। लोक में 'मदयन्ति' या 'माद्यान्ति' रूप होगा।

त्रिधातु — त्रयाणां धातूनां समाहारः।

विश्वा — वैदिक रूप। लोक में 'विश्वानि' होगा।

द्याम् — द्यो शब्द, द्वितीया का एकवचन।

दाधार — धृ धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

विशेष — सायण ने 'स्वधा' का अर्थ 'अन्न' किया है। परन्तु वेदो में अनेक स्थानों पर इस शब्द के प्रयोग को देखकर रॉथ ने अनेक अर्थ बताये — accustomed place, home comfort, contentment, sweet drink, oblation। छन्द के आग्रह से सन्धि तोड़कर पदान्यक्षीयमाण को 'पदानि अक्षीयमाणा' पढ़ना चाहिये।

मण्डल १

सूक्त १५४

मंत्र ५

संहिता-पाठः

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।

उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः॥

पद-पाठः

तत्। अस्य। प्रियम्। अभि। पाथः। अश्याम्। नरः। यत्र। देवयवः। मदन्ति।

उरुक्रमस्य। सः। हि बन्धुः। इत्था। विष्णोः। पदे। परमे। मध्वः। उत्सः।

अन्वय — अस्य प्रियम् तत् पाथः अभि अश्याम्, यत्र देवयवः नरः मदन्ति। उरुक्रमस्य विष्णोः परमे पदे मध्व उत्सः। इत्था स हि बन्धुः।

दयानन्द-भाष्य

(तत्) (अस्य) (प्रियम्) येन प्रीणाति तत् (अभि) (पाथः) वर्त्म (अश्याम्) प्राप्नुयाम्



(नरः) नेतारः (यत्र) यस्मिन् (देवयवः) ये देवान् दिव्यान् भोगान् कामयन्ते (मदन्ति) आनन्दयन्ति (उरुक्रमस्य) बहुपराक्रमस्य (सः) (हि) खलु (बन्धुः) दुःखविनाशकत्वेन सुखप्रदः (इत्था) अनेन प्रकारेण (विष्णोः) व्यापकस्य (पदे) प्राप्तव्ये (परमे) अत्युत्तमे मोक्षे पदे (मध्वः) मधुरादिरसयुक्तस्य (उत्सः) कूपइव तृप्तिकरः ॥५॥

**भावार्थ** — अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ । ये परमेश्वरेण वेदद्वारा दत्तामाज्ञामनुगच्छन्ति ते मोक्षसुखमश्नुवते । यथा जना बन्धुं प्राप्य सहायं लभन्ते तृप्तिता वा मधुरजलं कूपं प्राप्य तृप्यन्ति तथा परमेश्वरं प्राप्य पूर्णानन्दा जायन्ते ॥५॥

**हि०भावार्थ** — इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । जो परमेश्वर की वेदद्वारा दी हुई आज्ञा के अनुकूल चलते हैं, वे मोक्ष सुख को प्राप्त होते हैं । जैसे जन बन्धु को प्राप्त होकर सहायता को पाते हैं वा प्यासे जन मीठे जल से पूर्ण कुँए को पाकर तृप्त होते हैं, वैसे परमेश्वर को प्राप्त होकर पूर्ण आनन्द को प्राप्त होते हैं ॥५॥

### सायण-भाष्य

अस्य महतो विष्णोः प्रियं प्रियभूतं तत् सर्वेः सेव्यत्वेन प्रसिद्ध पाथः अन्तरिक्षं (नि० ६.७) अविनश्वरं ब्रह्मलोकमित्यर्थः । अभि अश्यां व्याप्नुयामित्यर्थः । तदेव विशेष्यते — यत्र स्थाने देवयवः देव द्योतनस्वभावं विष्णुमात्मने इच्छन्तः यज्ञदानादिभिः प्राप्तुमिच्छन्तो नराः मदन्ति तृप्तिमनुभवन्ति तदश्यामित्यर्थः । पुनरपि तदपि विशेष्यते — उरुक्रमस्य सर्वं जगद् आक्रममाणस्य विष्णोर्व्यापनशीलस्य परमेश्वरस्य परमे उत्कृष्टे पदे स्थाने मध्वः मधुरस्य उत्सः निष्यन्दो भवति । तदश्याम् — यत्र क्षुतृष्णा जरामरणपुनरावृत्त्यादिभयं नास्ति । इत्था इत्थमुक्तप्रकारेण स हि बन्धुः स खलु सर्वेषां बन्धुभूतः तस्य पदं प्राप्तवता न च पुनरावृत्तिः । न च पुनरावर्तते इति श्रुतेः । श्रुतेस्तस्य बन्धुत्वम् । हि शब्दः सर्वश्रुतिस्मृतिपुराणादि-प्रसिद्धद्योतनार्थः ।

**शब्दार्थ** — पाथः = लोक को । अभि अश्याम् = प्राप्त करूँ । देवयवः = विष्णु देवता के भक्त । मदन्ति = आनन्दित होते हैं । उरुक्रमस्य = परम पराक्रम वाले, महान् डगों वाले । इत्था = इस प्रकार से । मध्वः = मधुर अमृत का । उत्सः = स्रोत ।

**हिन्दी व्याख्या** — इस विष्णु के प्रिय उस लोक को प्राप्त करूँ, जहाँ उस विष्णु देव के भक्त जन आनन्द का अनुभव करते हैं । परम पराक्रम वाले अथवा महान् डगों वाले सर्वव्यापक विष्णु के परम स्थान में मधुर अमृत का स्रोत है । इस प्रकार से वह विष्णु निश्चय से सबका बन्धु है ।

### व्याकरण —

अश्याम् — अश् धातु, आशीर्लिङ्ग, उत्तम पुरुष, एकवचन ।

पाथः — पा + असुन् (थुद् का आगम)

देवयवः — देव + यु + क्विप् = देवयु । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन ।

मदन्ति — मद धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

इत्था — 'इत्थम्' का वैदिक रूप।

मध्जः — 'मधु' शब्द षष्ठी विभक्ति का एकवचन। लोक में 'मधुनः' बनेगा।

विशेष — लौकिक संस्कृत में 'पाथस्' का अर्थ जल है। सायण ने ऋग्वेद १/४७/३३ में, पाथस् का अर्थ स्नान किया है। पिशेल ने इत्था का अर्थ 'अत्र' किया और इत्था बन्धुः का अर्थ किया — यह मित्रों का समाज है (This is society of friends)।

मण्डल १

सूक्त १५४

मंत्र ६

संहिता-पाठः

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्वै, यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासः।

अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि॥

पद-पाठः

ता। वाम्। वास्तूनि उश्मसि। गमध्वै। यत्र। गावः। भूरिश्रृङ्गा अयासः। अत्र। अहं। तत। उरुगायस्य। वृष्णः। परमम्। पदम्। अवं। भाति। भूरि॥६॥

अन्वय — यत्र भूरिश्रृङ्गा गावः अयासः, वाम् ता वास्तूनि गमध्वै उश्मसि। अत्र अह उरुगायस्य वृष्णः तत् परमम् पदम् भूरि अव भाति।

दयानन्द-भाष्य

(ता) तानि (वाम्) युवयोरध्यापकोपदेशकयोः परमयोगिनोः (वास्तूनि) वासाऽधिकरणानि (उश्मसि) कामयेमहि (गमध्वै) गन्तुम् (यत्र) यस्मिन् (गावः) किरणाः (भूरिश्रृङ्गाः) भूरिबहुश्रृङ्गाणीवोत्कृष्टानि तेजांसि येषु ते (अयासः) प्राप्ताः (अत्र) (अह) (तत्) (उरुगायस्य) बहुधा प्रशंसितस्य (वृष्णः) सुखवर्षकस्य (परमम्) प्रकृष्टम् (पदम्) प्राप्तुमर्हम् (अव) (भाति) प्रकाशते (भूरि) बहु। इमं मन्त्रं यास्कमुनिरेवं व्याचष्टे — तानि वां वास्तूनि कामयामहे गमनाय यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा भूरीति बहूनोनामघेयं प्रभवतीति सतः श्रृङ्ग श्रयतेर्वा शृणोतेर्वा शम्नातेर्वा शरणायोदगतमिति वा शिरसो निर्गतमिति वाऽयासोऽयनाः। तत्र तदुरुगायस्य विष्णोर्महागतेः परमं पदं परार्ध्यस्धमवभाति भूरि। पादः पद्यतेस्तन्निधानात्पदं पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानीति॥निरु० २।७।६॥

भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यत्र विद्वांसो मुक्तिं प्राप्नुवन्ति तत्र किञ्चिदप्यन्धकारो नास्ति प्राप्तमोक्षाश्च भास्वरा भवन्ति तदेवाप्तानां मुक्तिपदं ब्रह्म सर्वप्रकाशकमस्तीति॥६॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जहां विद्वान् जन मुक्ति पाते हैं, वहां कुछ भी अन्धकार नहीं है और वे मोक्ष को प्राप्त हुए प्रकाशमान होते हैं, वही आप्त विद्वानों का मुक्तिपद है, सो ब्रह्म सबका प्रकाश करने वाला है॥६॥



## सायण-भाष्य

हे पत्नीयजमानौ ! वां युष्मदर्थं ता तानि गन्तव्यत्वेन प्रसिद्धानि स्थानानि गमध्यै युवयोगमनाय उश्मसि कामयामहे । तानि कानीत्याह — यत्र वास्तुषु गावो रश्मयो भूरिश्रृङ्गा अत्यन्तोन्नताः बहुभिराश्रयणीया वा । अयासः अयना गन्तारः, यद्वा यासः गन्तारः, अतादृशाः अत्यन्तप्रकाशयुक्ता इत्यर्थः । अत्राह — अत्र खलु वास्त्वाधारभूते द्युलोके उरुगायस्यबहुभिर्मात्मभिर्गातव्यस्य वृष्णः कामनां वर्षितुर्विष्णोस्तत् तादृशं सर्वत्रपुराणादिषु गन्तव्यत्वेन प्रसिद्ध परम निरतिशयं पदं स्थानं भूरि अतिप्रभूतमवभाति स्वमहिम्ना स्फुरति । यत्र गावः भूरिश्रृङ्गा बहश्रृङ्गा भूरीति बहुनो नामधेयं प्रभवतीति सतः श्रृङ्ग श्रयतेर्वा श्रणातेर्वा शम्नातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निगतमिति वा अयासोऽयनाः तत्र तदुरुगायस्य विष्णोर्महागतेः परमं पदं परार्धस्थमवभाति भूरि, स्वमहिम्ना स्फुरति । पादः पद्यते (नि० २-७) ।

**शब्दार्थ** — वास्तुनि = निवास योग्य स्थान या लोक । उश्मसि = कामना करते हैं । गमध्यै = जाने के लिये । गावः = गौयें, किरणे । भूरिश्रृङ्गाः = बड़े ऊँचे सींगों वाली, अनेक प्रकार से फैलने वाली । अयासः = निवास करती है, प्रकाश से युक्त है । अह = निश्चय से । अवभाति = प्रकाशित हो रहा है । भूरि = अत्यधिक ।

**हिन्दी व्याख्या** — हे यजमान और हे उसकी पत्नी! जहाँ बड़े बड़े ऊँचे सींगों वाली गौयें अथवा अनेक प्रकार से फैलने वाली किरणे निवास करती हैं या अत्यधिक प्रकाश से युक्त है, तुम दोनों के उन निवास योग्य स्थानों या लोकों पर जाने के लिये हम कामना करते हैं । यहाँ निश्चय महान् जनों से या बहुतों से स्तुति किये जाने वाले और कामनाओं को पूरा करने वाले विष्णु देव का परम पद या सर्वोत्कृष्ट अन्तरिक्ष लोक अत्यधिक रूप से प्रकाशित हो रहा है ।

## व्याकरण —

ता — वैदिक रूप है । लोक में 'तानि' होगा ।

गमध्यै — 'गम्' धातु से 'तुमुन्' प्रत्यय के अर्थ में वैदिक अध्यैन् प्रत्यय ।

धाम् — युवयोः का रूप है ।

उश्मसि — 'वश् कान्तौ' धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन । छान्दस रूप ।

अयासः — 'इण् गतौ' धातु + अच् = अय । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन वैदिक रूप ।

अवभाति — अव + भा धातु लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

**विशेष** — सायण ने यहाँ 'वाम्' का अर्थ 'यजमान और उसकी पत्नी' किया है । परन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने इस अर्थ को ठीक नहीं माना । उनके अनुसार यहाँ 'विष्णु' और उसके साथी 'इन्द्र' इन दो देवताओं का ग्रहण करना चाहिये । 'अयासः' का अर्थ मैकडानल ने 'द्रुतगामी' (nimble) एवं पीटर्सन ने 'अविश्रान्त (unresting)' किया है । मैकडानल और पीटर्सन के अनुसार 'भूरिश्रृङ्गाः गावः' का अर्थ अनेक सींगों वाली गौयें हैं ।



## द्यावापृथिवी सूक्त

ऋषि—दीर्घतमस्

देवता—द्यावापृथिवी

छन्द — जगती

मण्डल १

सूक्त १६०

मंत्र १

संहिता—पाठः

ते हि द्यावापृथिवी विश्वशंभुव ऋतावरी रजसो धारयत्कवी ।

सुजन्मनी धिषणे अन्तरीयते देवो देवी धर्मणा सूर्यः शुचिः ।।

पद—पाठः

ते इति । हि । द्यावापृथिवी इति । विश्वशंभुवा । ऋतावरी । इत्युतऽवरी । रजसः । धारयत्कवी इति धारयत्ऽकवी । सुजन्मनी इति सुजन्मनी धिषणे इति अन्तः । ईयते । देवः । देवी इति । धर्मणा । सूर्यः शुचिः ।।१।।

अन्वय — ते हि विश्वशंभुवा ऋतावरी रजसः धारयत्कवी सुजन्मनी धिषणे देवी द्यावापृथिवी अन्तः शुचिः देवः सूर्यः धर्मणा ईयते ।

दयानन्द—भाष्य

पदार्थ — (ते) द्वे (हि) खलु (द्यावापृथिवी) विद्युदन्तरिक्षे (विश्वशम्भुवा) विश्वस्मिन् शं सुखं भावुकेन (ऋतावरी) सत्यकारणयुक्ते (रजसः) लोकान् (धारयत्कवी) धारयन्तौ कवी विक्रान्तदर्शनौ सूर्यविद्युतौ ययोस्तौ (सुजन्मनी) शोभनं जन्म ययोस्ते (धिषणे) प्रोसोद्व्यौ (अन्तः) मध्ये (ईयते) प्राप्नोति (देवः) दिव्यगुणः (देवी) देदीप्यमाने (धर्मणा) स्वधर्मेण (सूर्यः) (शुचिः) पवित्रः ।।१।।

भावार्थ — यथा सर्वेषां लोकानां वायुविद्युदाकाशाऽधिकरणानि सन्ति तथेश्वरो वाय्वादीनामाधारोऽस्ति । अस्यां सृष्टावेकैकस्य ब्रह्माण्डस्य मध्य एकैकः सूर्यलोकोऽस्तीति सर्वे विद्युः ।।१।।

हि०भावार्थ — जैसे सब लोको के वायु बिजली और आकाश ठहरने के स्थान हैं वैसे ईश्वर उन वायु आदि पदार्थों का आधार है । इस सृष्टि में एक एक ब्रह्माण्ड के बीच एक एक सूर्यलोक है यह सब जानें ।।१।।

सायण—भाष्य

ते हि ते प्रसिद्धे द्यावापृथिवी अन्तः तयोरन्तराले शुचिः शुद्धो । विश्वस्य शोचयिता वा देवः दीप्यमानः सूर्यः धर्मणा प्रकाशोदकदानादिधारणेन युक्तः सन् ईयते सर्वदा गच्छति । ईड गतौ दौवादिकः । तादृशं कर्म युवयोरज्जुग्रहादिति स्तुतिः । कीदृश्यौ ते । विश्वाशंभुवा विश्वं सुखभावयितृ ययोः ते विश्वशंभुवा । विश्वस्य सुखयित्र्यावित्यर्थः । ऋतावरी ऋतवत्यौ । ऋतशब्दात् "छन्दसी वनिपौ०" इति वनिप्, "वनो र च" इति दीब्रे फौ । रजसः उदकस्य उदकौत्पत्तौ । 'उदकं रज उच्यते' (नि० ४.१.९) इति निरुक्तम् । धारयत्कवी । अकृच्छ्रेण धारकंकवि ययोस्ते तादृश्यौ । वृष्ट्युदकधारयत्सूर्योपेते इत्यर्थः । सुजन्मनी शोभनजन्मवत्यौ



**द्यावापृथिवी सूक्त (मण्डल-१, सूक्त-१६०)**

धिषणे धर्षणोपेते स्वव्यापारेषु प्रगल्भे इत्यर्थः । देवी द्योतमाने । अत्र यद्यपि धिषणे इत्येतत् 'धीषणे रोदसी' (नि० ३.३०.३) इति तन्नामसु उक्तत्वात् द्यावापृथिवी नाम, तथापि द्यावापृथिवी इत्यस्य विद्यमानत्वात् यौगिक द्रष्टव्यम् ।

**शब्दार्थ** — विश्वशम्भुवा = विश्व को सुख देने वाली । ऋतावरी = जल से भरी हुई । रजसः = जल के । धारयत्कवी = बिना प्रयास के जल को उत्पन्न करने वाली, धारण किये जाने वाले जल वाली । सुजन्मनी = सुन्दर जन्म वाली । धिषणे = धर्षण से युक्त, अपने कार्य में प्रगल्भ । अन्तः = मध्य में । ईयते = गति करते हैं । देवी = प्रकाशमान होती हुई । धर्मणा = धारण करने वाले धर्म से । शुचि = प्रकाशमान ।

**हिन्दी व्याख्या** — उन प्रसिद्ध, विश्व को सुख देने वाली, जल से भरी हुई, जल को उत्पन्न करने के लिये प्रयास न करने वाली अर्थात् बिना प्रयास के जल को उत्पन्न करने वाली अथवा जल की उत्पत्ति में धारण किये जाने वाले जल वाली, सुन्दर जन्म वाली, धर्षण से युक्त अर्थात् अपने कार्य में प्रगल्भ, प्रकाशमान होती हुई द्यावा और पृथिवी के बीच में पवित्र प्रकाशमान सूर्य देवता अपने प्रकाश आदि धारण करने वाले धर्म से सदा गति करते हैं ।

**व्याकरण** —

**धारयत्कवी** — णिजन्त 'धृ' धातु से शतृ = धारयत् । क जलम् अस्ति यत्र तत् कवि । मतुप् अर्थ में 'क' शब्द से 'वि' प्रत्यय । स्त्रीलिङ्ग के द्विवचन में = कवी । धारयन्तौ कवि चेति = धारयत्कवी ।

**ऋतावरी** — ऋतमस्य अस्ति अर्थ में ऋत+वनिप् । 'वन्' के 'न्' को "वनो र च" से 'र्' आदेश । स्त्रीलिङ्ग में = ऋतावरी ।

**विशेष** — मैक्डानल ने 'ऋतावरी' का अर्थ 'नियमों का पालन करने वाली' (observing order), 'रजसः धारयत्कवी' का अर्थ 'वायु के ऋषि को सहारा देने वाली' (supporting the sage of air) और 'धर्मणा' का अर्थ 'निश्चित नियम' (fixed law) किया है ।

**मण्डल १**

**सूक्त १६०**

**मंत्र २**

**संहिता-पाठः**

उरुव्यचंसा महिनी असश्चता पिता माता च भुवनानि रक्षतः ।

सुधृष्टमे वपुष्ये न रोदसी पिता यत्सीमभि रूपैरवासयत् ।।

**पद-पाठः**

उरुव्यचंसा । महिनी इति । असश्चता । पिता । माता । च । भुवनानि । रक्षतः । सुधृष्टये इति सुधृष्टमे । वपुष्ये इति । न । रोदसी इति । पिता । यत् । सीम । अभि । रूपैः । अवासयत् ।।२।।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

अन्वय — उरुव्यचसा महिनी असश्चता पिता माता च भुवनानि रक्षतः । सुधृष्टमे रोदसी वपुष्ये न यत् सीम् पिता रूपैः अभि अवासयत् ।०

### दयानन्द-भाष्य

पदार्थ — (उरुव्यचसा) बहुव्यापिनौ (महिनी) महत्यौ (असश्चता) विक्षणस्वरूपे (पिता) (माता) (च) (भुवनानि) भवन्ति भूतानि येषु तानि (रक्षतः) (सुधृष्टमे) सुष्ठु अतिशयेन प्रसोद्व्यौ (वपुष्ये) वपुषि रूपे भवे (न) इव (रोदसी) द्यावापृथिवी (पिता) पालकोऽग्निर्विद्युद्वा (यत्) ये (सीम्) सर्वतः (अभि) आभिमुख्ये (रूपैः) शुल्कादिभिः (अवासयत्) आच्छादयति ।।२।।

भावार्थ — यथा सर्वाणि भूतानि भूमिसूर्यो रक्षतो धरतश्च तथा मातापितरौ सन्तानान् पालयतो रक्षतश्च यदप्सु पृथिव्यामेतद्विकारेषु च रूपं दृश्यते तद्व्याप्तस्याऽग्नेरे वास्तीति वेदितव्यम् ।।२।।

हि०भावार्थ — जैसे समस्त प्राणियों को भूमि और सूर्यमण्डल पालते और धारण करते हैं वैसे माता पिता सन्तानों की पालना और रक्षा करते हैं । जो जलों और पृथिवी वा इन के विकारों में रूप दिखाई देता है वह व्याप्त अग्नि ही का है यह समझना चाहिये ।।२।।

### सायण-भाष्य

उरुव्यचसा प्रभूतव्यचनवत्यौ अतिविस्तीर्णे महिनी अत एव महत्यौ असश्चता असज्जमाने परस्परवियुक्ते इत्यर्थः । पिता पालयित्री द्यौः माता निर्मात्री पृथिवी च इत्युक्ते भुवनार्थं भूतजातानि रक्षतः पालयतः । "द्यौषितः पृथिवी मातः" (ऋ० सं० ६.५१.५) इत्यादिश्रुतेर्मातापितृरूपत्वम् । किं च सुधृष्टमे अतिशयेन धृष्टे । छान्दसत्कारलोपः । प्रगल्भे रोदसी द्यावापृथिवी वपुष्ये न वपुषो हिते इव प्राणिनां पितराविव शरीररक्षके इत्यर्थः । तदेवोपपादयति । यत् यस्मात् सीं सर्वतः पिता पितृस्थानीया द्यौः रूपैः निरूपण साधनैः प्रशस्तैः प्रकाशैः निरूप्यमाणैर्वृष्ट्यादिभिर्वा अभि अवासयद् अभिवासयति अधितिष्ठति तस्मात् पिता माता च भुवनानि रक्षतः ।

शब्दार्थ — उरुव्यचसा = अत्यधिक विस्तार वाले । महिनी = महान् । असश्चता = परस्पर न टकराने वाले । पिता = पालन करने वाले पिता रूप । माता = निर्माण करने वाली माता रूप । सुधृष्टमे = अत्यधिक धृष्ट, प्रगल्भ । वपुष्ये = शरीर के लिये हितकारी । रोदसी = द्युलोक और पृथिवीलोक । सीम् = सब ओर से । रूपैः = रूपों द्वारा, प्रकाशों द्वारा, वर्षा के द्वारा । अभि अवासयत् = अधिष्ठित हो रहा है ।

हिन्दी व्याख्या — अत्यधिक विस्तार वाले, महान्, परस्पर न टकराने वाले ये पालन करने वाला पिता रूप द्युलोक और निर्माण करने वाली माता रूप पृथिवी लोक सभी लोकों की या प्राणियों की रक्षा करते हैं । अत्यधिक धृष्ट अर्थात् प्रगल्भ द्युलोक और पृथिवी लोक शरीर के लिये हितकारी माता-पिता के समान है । जो कि सब ओर से यह पिता रूप द्यु लोक अपने विविध रूपों द्वारा अथवा प्रकाशों द्वारा या वर्षा के द्वारा अधिष्ठित हो



## द्यावापृथिवी सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-१६० )

रहा है। अर्थात् द्यु लोक भुवनों के रक्षक है।

**व्याकरण —**

उरुव्यचसा — 'व्यच् विस्तारे' धातु से 'असुन्' प्रत्यय। व्यच्+असुन् (अस्) = व्यचस्। उरु व्यचः ययोः ते। द्विवचन के अर्थ में 'आ' आदेश।

असश्चता — 'षस्ज्' गतौ धातु को 'जस्य चः' आदेश। सश्च्+शतृ = सश्चत्। न+सश्चत् = असश्चत्। द्विवचन में 'आ' आदेश।

**विशेष** — मैक्डानल ने "असश्चता" का अर्थ 'न थकने वाले (inexhaustible)' 'वपुष्पे' का अर्थ 'सुन्दर स्त्री' (fair woman) और 'सुधृष्टमे' का अर्थ सबसे अधिक धमण्डी (most proud) किया है।

मण्डल १

सूक्त १६०

मंत्र ३

संहिता—पाठः

स वहि॑न्ः पु॒त्रः पि॒त्रोः प॒वित्र॑वान् पु॒नाति॑धी॒रो भु॑व॒नानि॑ मा॒यया॑ ।

धे॒नु च॑ पृ॒श्निं वृ॑षभ॒ सुर॑त॒सं वि॒श्वाहः॑ शु॒क्र प॑यों अ॒स्य दु॑क्षत ।।

पद—पाठः

सः । वहि॑न् । पु॒त्रः । पि॒त्रोः । प॒वि॒त्र॑वान् । पु॒नाति॑ । धी॒रः । भु॑व॒नानि॑ । मा॒यया॑ । धे॒नुम् । च । पृ॒श्निम् । वृ॑षभम् । सु॒रेत॑सम् । वि॒श्वाहा॑ । शु॒क्रम् । प॑यः । अ॒स्य॒धु॒क्ष॒त॒ ।।३॥

अन्वय — पि॒त्रोः पु॒त्रः प॒वित्र॑वान् धी॒र स॒ वहि॑ः मा॒यया॑ भु॒ वना॑नि पु॒नाति॑ । पृ॒श्निम् च॒ धे॒नुम् सु॒रेत॑सम् वृ॑षभम् वि॒श्वाहा॑ । अ॒स्य शु॒क्रम् प॑यः धु॒क्ष॒त॒ ।

**दयानन्द—भाष्य**

पदार्थ — (सः) (वह्निः) वोढा (पु॒त्रः) अपत्यमिव (पि॒त्रोः) वाय्वाकाशयोः (प॒वित्र॑वान्) बहूनि पवित्राणि कर्माणि विद्यन्ते यस्य सः (पु॒नाति॑) पवित्री करोति (धी॒रः) ध्यानवान् (भु॑व॒नानि) लोकान् (मा॒यया॑) प्रज्ञया (धे॒नुम्) गामिव वर्तमानां वाणीम् (च) (पृ॒श्निम्) सूर्यम् (वृ॑षभम्) सर्वलोकस्तम्भकम् (सु॒रेत॑सम्) सुष्ठुबलम् (वि॒श्वाहा॑) सर्वाणि दिनानि (शु॒क्रम्) आशुकरम् (प॑यः) दुग्धम् (अ॒स्य) वह्नेः (धु॒क्ष॒त॒) प्रदुहन्ति । अत्र वाच्छन्दसीति भभावः ।।३॥

भावार्थ — यश्चा सूर्यः सर्वाँल्लोकान् धरति पवित्रयति तथा सुपुत्राः कुलं शुन्वन्ति ।।३॥

हि०भावार्थ — जैसे सूर्य समस्त लोको को धारण करता और पवित्र करता है वैसे सुपुत्र कुल को पवित्र करते हैं ।।३॥

**सायण—भाष्य**

पि॒त्रोः मा॒तापि॒त्रोः द्या॒वापृ॒थिव्योः । 'पिता॑ मा॒त्रास॑' इति पिता शिष्यते । 'उ॒दा॒त्त॒यणः॑' इति पितुर्विभक्तिरुदात्ता । पु॒त्रः पु॒रु॒त्रा॒ता पु॒त्र॒स्था॒नीय॑ आ॒दित्यः॑ प॒वित्र॑वान् पा॒वन॑रश्मि॒युक्तः॑



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

धीरः धीमान् सः वह्निः फलस्य वोढा धारकः सन् मायया प्रज्ञया स्वकीयया भुवनानि भूतजातानि पुनाति पावयति प्रकाशयतीत्यर्थः। किं च स एव पुत्रः पृश्निं शुक्लवर्णां धेनुं प्रीणयित्रीं भूमिं सुरेतसं शोभनसामर्थ्यं शोभनोदकं वा वृषभं सेत्तारं द्युलोकं च मायया पुनाति प्रकाशयतीत्यर्थः। कदा विश्वाहा सर्वाण्यप्यहानि सर्वकालमित्यर्थः। किं च अस्य द्युलोकस्य। यद्वा कर्मणि षष्ठो। इमं द्युलोकं। शुक्रं पयः दीप्तं पयः सदृशमुदकं धुक्षत दोग्धि।

**शब्दार्थ —** वह्निः = वहन करने वाला या फलों को प्रदान करने वाला सूर्य। पित्रोः = द्युलोक और पृथिवी लोक इन माता-पिता का। पवित्रवान् = पवित्र रश्मियों वाला। पुनाति = पवित्र करता है, प्रकाशित करता है। धीरः = धीरतायुक्त। मायया = बुद्धि से, सामर्थ्य से। धेनुम् = गो रूप पृथिवी को। पृश्निम् = श्वेत वर्ण की। वृषभम् = जल बरसाने वाले। सुरेतसम् = सुन्दर सामर्थ्य वाले। विश्वाहा = सब दिनों में। शुक्रम् = दीप्तिमान्। पयः धुक्षत = दुहता है।

**हिन्दी व्याख्या —** द्यु लोक और पृथिवी लोक इन माता-पिता का पुत्र के तुल्य, पवित्र रश्मियों वाला, धीरता युक्त वह सबको वहन करने वाला अथवा फलों को प्रदान करने वाला सूर्य, अपनी बुद्धि से या सामर्थ्य से सब भुवनों को पवित्र करता है या प्रकाशित करता है। वह सूर्य श्वेत वर्ण की गौ रूप पृथिवी को सुन्दर सामर्थ्य वाले एवं जल बरसाने वाले द्युलोक को भी सब दिनों में पवित्र करता है। वह इस द्यु लोक के दीप्तिमान् दूध सदृश जल को दुहाता है अर्थात् सूर्य आकाश से जल को बरसाता है।

**व्याकरण —**

पृश्निम् — पृच्छ् + निङ् = पृश्नि।

**विशेष —** मैक्डानल ने 'मायया' का अर्थ 'गूढ़ शक्ति' (mysterious power) किया है। उसके अनुसार 'पृश्निं धेनुम्' का अर्थ चितकबरी गाय (speckled cow) और 'सुरेतसं वृषभम्' का अर्थ वीर्यवान् बैल (the bull abounding in seed) है।

**मण्डल १**

**सूक्त १६०**

**मंत्र ४**

**संहिता-पाठः**

अयं देवानामपसामपरतमो यो जजान् रोदसी विश्वशंभुवा।

वि यो ममे रजसी सुक्रतययाजरेभि रक्मन्नेभि समानृचे॥

**पद-पाठः**

अयम्। देवानाम्। अपसाम्। अपःस्तमः। यः। जजान्। रोदसी। इति। विश्वशंभुवा। वि। यः। ममे। रजसी इति। सुक्रतुयया। अजरेभिः। रक्मन्नेभिः। सम् अनृचे॥४॥

**अन्वय —** अयम् देवानाम् अपसाम् अपस्तमः। यः विश्वशंभुवा रोदसी जनान्। यः सुक्रतूयया रजसी विममे। अजरेभिः रक्मन्नेभिः सम् आनृचे।



## द्यावापृथिवी सूक्त ( मण्डल-१, सूक्त-१६० )

### दयानन्द-भाष्य

पदार्थ — (अयम्) (देवानाम्) पृथिव्यादीनाम् (अपसाम्) कर्मणाम् (अपस्तमः) अतिशयेन क्रियावान् (यः) (जजान) प्रकटयति (रोदसी) धावापृथिव्यौ (विश्वशम्भुवा) विश्वस्मिन् शं सुखं भावुकेन (वि) (यः) (ममे) मापयति (रजसी) लोकौ (सुक्रतूयया) सुष्ठु प्रज्ञया कर्मणा वा (अजरेभिः) अजरैर्हानिरहितैः प्रबन्धैः (स्कम्भनेभिः) स्तम्भनैः (सम्) (आनृचे) स्तौमि ।।४।।

भावार्थ — सुष्ठुत्पत्तिस्थितिप्रलयकरणादीनि कर्माणि यस्य जगदीश्वरस्य भवन्ति यो हि कारणादखिलविविधं कार्यं रचयित्वाऽनन्तवलेन धरति तमेव सर्वे सदा प्रशंसन्तु ।।४।।

हि०भावार्थ — सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करने आदि काम जिस जगदीश्वर के होते हैं जो निश्चय के साथ कारण से समस्त नाना प्रकार के कार्य को रच कर अनन्त बल से धारण करता है उसी को सब लोग सदैव प्रशंसित करें ।।४।।

### सायण-भाष्य

पूर्व पुत्रमाहात्म्येनैते प्रशस्य स्वोत्पादकस्तुत्या प्रशंसति । अयं देवानां मध्ये देवतयः अपसामपस्तमः । अप इति कर्म नाम । तेन तद्वान् लक्ष्यते । कर्मवतां मभ्ये प्रकृष्टकर्मा । अयमित्युक्तम् इत्याह । यः देवः विश्वशंभुवा सर्वप्रकारेण भूतानां सुखस्य भावयित्र्यौ रोदसी द्यावापृथिव्यौ महानुभावेन जजान उत्पादितवान् । न केवलमुत्पादनमात्रम् अपितु यः देवः रजसो रञ्जनात्मिके द्यावापृथिव्यौ । रजसी इति द्यावापृथिव्योर्नाम, 'रजसी सदसी' (नि० ३. ३०.८) इति तन्नामसु पाठात् । उक्तरूपे विममे विशेषेण परिच्छिनत्ति । किं स्वोपभोगाय नेत्याह । सुक्रतूतया शोभनकर्मच्छया । येन कर्मणा प्राणिनां सुखं संभवति तादृक् कर्मच्छया अथवा एतदुत्तरेण संबाध्यते । सुक्रतूतया उक्तेन निमित्तेन इमं द्यावापृथिव्यौ अजरेभिः अजीर्णैर्दृढतरैः स्कम्भनेभिः गतिप्रति बन्धसाधनैः शङ्कुभिः समानृचे सम्यक् सर्वतः पूजितवान् स्थापितवान् इत्यर्थः ।

शब्दार्थ — अपसाम् = कर्म करने वाले व्यक्तियों में । अपस्तमः = सबसे अधिक कर्मशील है । जजान = उत्पन्न किया । विश्वशंभुवा = सभी प्राणियों को सुख देने वाले । विममे = विशेष रूप से बनाया । रजसी = रञ्जनात्मक द्यावापृथिवी को । सुक्रतूयया = उत्तम कर्म करने की इच्छा से । अजरेभिः = कभी जीर्ण न होने वाले । स्कम्भनेभिः = गति के प्रतिबन्धक खूंटों से । समानृचे = अच्छी प्रकार पूजा की ।

हिन्दी व्याख्या — यह सूर्य देवता सब देवताओं में सबसे श्रेष्ठ है । कर्म करने वाले व्यक्तियों में सबसे अधिक कर्मशील है । जिसने सब प्रकार से सभी प्राणियों को सुख देने वाले द्यु लोक और पृथिवी लोक को उत्पन्न किया है । जिसने उत्तम कर्म करने की इच्छा से रञ्जनात्मक द्यावापृथिवी को विशेष रूप से बनाया है और जिसने कभी जीर्ण न होने वाले गति के प्रतिबन्धक खूंटों से इनकी अच्छी प्रकार से पूजा की है अर्थात् इनको दृढ किया है ।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

### व्याकरण —

आनृचे — 'ऋच् स्तुतौ' आत्मनेपदी, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

विशेष — मैकडानल ने 'विममे' का अर्थ 'मापना', 'सुक्रतूयया' का अर्थ 'अन्तदृष्टि से', 'अजरेभिः' का अर्थ अनादि काल से होने वाले, 'स्कम्भनेभिः', का अर्थ 'सहारा' एवं 'आनृचे' का अर्थ 'प्रशंसा' किया जाना, किया है । इस प्रकार उसके अनुसार अन्तिम दो पादों का अर्थ इस प्रकार है —

He who with insight has measured out the two spaces (and upheld them) with unaging support, has been universally raised.

मण्डल १

सूक्त १६०

मंत्र ५

संहिता-पाठः

ते नौ गृणाने माहिनी महिश्रव क्षत्रं द्यापृथिवी धासथो बृहत् ।

येनाभि कृष्टीस्ततनाम विश्वहापनाय्यभोजो अस्मेसमिन्वतम् ।

पद-पाठः

ते इति । न । गृणाने इति । माहिनी इति । महि । श्रवः । क्षत्रम् । द्यावापृथिवी इति । धासथः । बृहत् । येन । अभि । कृष्टी । ततनाम । विश्वहा । पनाय्यम् । ओजः । अस्मे इति । सम् । इन्वतम् ॥ ५ ॥

अन्वय — गृणाने माहिनी ते द्यावापृथिवी नः महि श्रवः बृहत् क्षत्रम् धासथः । येन कृष्टीः विश्वहा अभिततनाम, पनाय्यम् ओजः अस्मे सम् इन्वतम् ।

दयानन्द-भाष्य

पदार्थ — (ते) उभे (नः) अस्मभ्यम् (गृणाने) स्तूयमाने । अत्र कृतो बहुलमिति कर्मणि शानच् (माहिनी) महत्यौ (महि) पूज्यम् (श्रवः) अन्नम् (क्षत्रम्) राज्यम् (द्यावापृथिवी) भूमिसवितारौ (धासथः) दध्याताम् । अत्र व्यत्ययः (बृहत्) महत् (येन) (अभि) (कृष्टीः) मनुष्यान् (ततनाम) विस्तारयेम (विश्वहा) सर्वाणि दिनानि (पनाय्यम्) स्तोतुमर्हम् (ओजः) पराक्रमम् (अस्मे) अस्मासु (सम्) (इन्वतम्) वर्द्धवतम् ॥ ५ ॥

भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । ये भूमिगुणविद्विद्यां विदित्वा तयोपयोक्तुं जानन्ति ते महद्वलं प्राप्य सार्वभौमं राज्यं कर्तुं शक्नवन्तीति ॥ ५ ॥

हि० भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । जो जन भूमि के गुणों को जानने वालों की विद्या को जान के उससे उपयोग करना जानते हैं, वे अत्यन्त बल को पाकर सब पृथिवी का राज्य कर सकते हैं ॥ ५ ॥

सायण-भाष्य

ते प्रसिद्धे द्यावापृथिव्यौ गृणाने अस्माभिः स्तूयमाने सत्यौ । कर्मणि कर्तृ प्रत्ययः ।



## द्यावापृथिवी सूक्त (मण्डल-१, सूक्त-१६०)

महि महदतिप्रभूतं श्रवः सर्वत्र प्रसिद्धमन्नं सर्वत्र श्रूयमाणां कीर्तिं वा नः अस्मभ्यं धासथः । तदेव विशिष्यते । येन अन्नबलेन विश्वहा सर्वेष्वपि अहं सु कृष्टीः पुत्रादिरूपाः प्रजाः अभि ततनाम अभितो विस्तारयामास । तनोतेर्लोटि छान्दसो विकरणस्य श्लु । आडुत्तमस्य इति अडागमः । तस्य छन्दस्युभयथा इति आर्धधातुकत्वात् अभ्यस्ताद्यु दात्तत्वाभावे धातुस्वरः । कृष्टय इति मनुष्यनाम । 'कृष्टयः चर्षणयः' (नि० २.३.७) इति तन्नामसु पाठात् । किं च पनाय्यं स्तुत्वम् ओजः शरीरबलम् अस्मे अस्मासु सम् सम्यक् इन्वतं व्याप्नुतं प्रवर्धयामित्यर्थः । इन्वतिर्व्याप्तिवचनः । इन्वति ननक्ष (नि० २.१८.१) इति तन्नामसु पाठात् ।

शब्दार्थ — गृणाने = स्तुति किये जाते हुए । महिनी = महिमाशाली । महि = प्रभूत, महिमाशाली । श्रवः = अन्न, कीर्ति । बृहत् = अत्यधिक । क्षत्रम् = बल को । धासथः = धारण करते हैं । कृष्टीः = पुत्र आदि प्रजा को । विश्वहा = सदा । अभिततनाम = चारों ओर खूब विस्तृत करें । पनाय्यम् = प्रशंसनीय । ओजः = शारीरिक बल को । अस्मे = हमारे अन्दर । समन्वतम् = व्याप्त करें ।

हिन्दी व्याख्या — हमारे द्वारा स्तुति किये जाते हुये और महिलाशाली वे द्यावा और पृथिवी हमारे लिये प्रभूत अन्न को या महिमाशाली कीर्ति को और अत्यधिक बल को धारण करते हैं । जिस बल के द्वारा वे पुत्र आदि प्रजा को सदा चारों ओर खूब विस्तृत करें और प्रशंसनीय शारीरिक बल को हमारे अन्दर व्याप्त करें अर्थात् बढ़ावें ।

व्याकरण —

ततनाम — 'तनु विस्तारे' लट् लकार ।

धासथः — 'धा' धातु लेट् लकार ।

विशेष — मैक्डानल ने 'धासथः' का अर्थ 'प्रदान करना' (bestow) और 'महिश्रवः' का अर्थ 'प्रचुर राज्य' (ample dominion) किया है ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****इन्द्र-सूक्त****ऋषि-गृत्समद****देवता-इन्द्र****छन्द-त्रिष्टुप्****मण्डल २****सूक्त १२****मंत्र १****संहिता-पाठः**

यो जा॒त ए॒व प्र॒थ॒मो मन॑स्वान्दे॒वो दे॒वान्क्र॑तु॒ना पर्य॑भूषत् ।

यस्य॑ शु॒ष्मा॒द्रोद॑सी॒ अभ्य॑सेतां, नृ॒म्णस्य॑ म॒हा स ज॑ना॒स इन्द्रः॑ ।।

**पद-पाठः**

यः । जा॒तः । ए॒व । प्र॒थ॒मः । मन॑स्वान् । दे॒वः । दे॒वान् । क्र॑तु॒ना । परि॒ऽअभू॑षत् । यस्य॑ । शु॒ष्मात् । रोद॑सी॒ इति॑ । अभ्य॑सेताम् । नृ॒म्णस्य॑ । म॒हा । सः । ज॒ना॒सः । इन्द्रः॑ ।।१।।  
 अन्वय — जनासः ! यः जातः एव प्रथमः मनस्वान् देव क्रतुना देवान् पर्यभूषत् यस्य शुष्मात् रोदसी अभ्यसेताम्, नृम्णस्य महा स इन्द्रः ।

**दयानन्द-भाष्य**

(यः) (जातः) उत्पन्नः (एव) (प्रथमः) आदिमो विस्तीर्णो वा (मनस्वान्) मनो विज्ञानं विद्यते यस्य सः (देवः) द्योतमानः (देवान्) प्रकाशितव्यान् दिव्यगुणान् पृथिव्यादीन् (क्रतुना) प्रकाशकर्मणा (पर्यभूषत्) सर्वतो भूषत्यलङ्करोति (यस्य) (शुष्मात्) बलात् (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (अभ्यसेताम्) प्रक्षिप्ते भवतः (नृम्णस्य) धनस्य (महा) महत्त्वेन (सः) (जनासः) विद्वांसः (इन्द्र) दारयिता सूर्यः ।।१।।

**भावार्थ** — येनेश्वरेण सर्वप्रकाशकः सर्वस्य धर्त्ता स्वप्रकाशाकर्षण- द्वयवस्थापकः सूर्यलोको निर्मितः स सूर्यस्य सूर्योऽस्तीति वेद्यम् ।।१।।

**हि०भावार्थ** — जिस ईश्वर ने सबका प्रकाश करने और सबका धारण करनेवाला अपने प्रकाश से युक्त आकर्षण शक्तियुक्त लोकों की व्यवस्था करनेवाला सूर्यलोक बनाया है, वह ईश्वर सूर्य का भी सूर्य है, यह जानना चाहिये ।।१।।

**सायण-भाष्य**

गृत्समदो ब्रूते । जनासः जनाः हे असुराः । यो जात एव जायमान एव सन् प्रथमः देवानां प्रधानभूतः मनस्वान् मनस्विनामग्रगण्यः देवः द्योतमानः सन् क्रतुना वृत्रवधादि लक्षणेन स्वकीयेन कर्मणा देवान् सर्वेषां यागदेवान् पर्यभूषत् रक्षकत्वेन पर्यग्रहीत् । भूष अलङ्कारे भूवादिः । लङि.रूपम् । यद्वा सर्वानन्यान्देवान्पर्य- भूषत् पर्यभवत् । अत्यक्रामत् । अस्मिन् पक्षे भवतेर्व्यत्ययेन वसः । 'युक्' कितीट प्रतिषेधः । यस्येन्द्रस्य शुष्मात् शरीरात् बलात् रोदसी द्यावापृथिव्यौ अभ्यसेतामविभी- ताम् । भ्यस भये । अनुदात्तेत् । भ्यस भय-वेपनयोरिति निरुक्तः (३-२१) । अभ्यसेतामवेपेतां वा । तथा च मन्त्रान्तरम् । इमं चित्तव मन्यवे वेपेते भयसा मही इति (ऋग १-८०-११) नृम्णस्य सेनालक्षणस्य बलस्य महा महत्त्वेन युक्तः स इन्द्रो, नाहमिति । अत्र निरुक्तम् । यो जात एव प्रथमो मनस्वी देवा देवान्क्रतुना कर्मणा



पर्यभवत्पर्यगृह्णात्पर्यरक्षदत्यक्रामदिति वा । यस्य बलात् द्यावापृथिव्यावप्य- विभीतां नृम्णस्य महा बलस्य महत्त्वेन स जनास इन्द्र इत्यृषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्तेति । (नि० १०-१०) ।

**शब्दार्थ** — जातः = उत्पन्न हुआ । प्रथमः = प्रमुख, परम । मनस्वान् = मनस्वी । देवः = दिव्य गुणों से युक्त । क्रतुना = यक्ष से कर्म से । परि अभूषत् = अतिक्रमण किया । शुष्मात् = बल से । रोदसी = द्युलोक और पृथिवी लोक । अभ्यसेताम् = डरते थे काँपते थे । नृम्णस्य = सेना के । महा = महत्त्व से । जनासः = हे मनुष्यो, असुरो ।

**हिन्दी व्याख्या** — हे मनुष्यो ! अथवा हे असुरो ! जो उत्पन्न होते ही सब देवताओं में प्रमुख परम मनस्वी हुआ, दिव्य गुणों से युक्त होते हुए, जिसने यज्ञ से या वृत्र के वध आदि कर्मों से अन्य देवताओं को अलङ्कृत किया या अन्य देवताओं की शक्ति का अतिक्रमण किया, जिसके शारीरिक बल से द्युलोक, पृथिवी लोक डरते थे या काँपते थे, महती सेना के महत्त्व से युक्त वह ही इन्द्र है ।

**व्याकरण** —

जातः — जन् + क्त ।

मनस्वान् — मनस् + मत्तुप् (वत्) = मनस्वत् । प्रथमा का एकवचन ।

पर्यभूषत् — 'परि + भूष्' धातु, लङ्. लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन । अथवा परि + भू वैदिक व्यत्यय से यहाँ 'शप्' न होकर 'क्स' हुआ ।

शुष्मात् — शुष् + मनिन् = शुष्म ।

महा — 'मह पूजायाम्' धातु से 'इ' प्रत्यय = महि । तृतीया का एकवचन । वैदिक रूप ।

नृम्णस्य — नृ + म्ना + क = नृम्णा । नृणां म्ना नम् आवृत्तिः । यत्र तत् नृम्णम् ।

अभ्यसेताम् — भ्यस् धातु (आत्मनेपद), लङ्. लकार, प्रथम पुरुष, द्विवचन) ।

जनासः — जन का प्रथमा का बहुवचन । वैदिक रूप । लोक में जनाः होगा ।

इन्द्र — इदि परमैश्वर्य (इन्द्र) + र = इन्द्र ।

**विशेष** — सायण ने 'मनस्वान्' का अर्थ 'मनस्वी' किया है । मैक्डानल ने इसका अर्थ 'बुद्धिमान' और पीटर्सन ने 'भयानक' किया है । सायण के अनुसार 'पर्यभूषत्' का अर्थ सुरक्षित करना है । मैक्डानल और पीटर्सन ने इसका अर्थ 'अतिक्रमण करना' किया है । यास्क ने दोनों अर्थ किये हैं ।

**परिचय** — इस सूक्त की रचना के सम्बन्ध में कुछ प्राचीन कथायें प्राचीन साहित्य में हैं । 'बृहद्देवता' में इस प्रकार की कथा है —

गृत्समद ऋषि ने महान् तपस्या की और वे इन्द्र के समान महिमाशाली शरीर वाले हो गये । द्युलोक और अन्तरिक्ष में उनकी महिमा दिखाई देने लगी । धुनि और चुमुरि



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

नाम के दो भयानक शक्तिशाली दैत्यों ने इनको इन्द्र समझा तथा वे ऋषि को मारने के लिए आये। उनके उस बुरे अभिप्राय को समझ ऋषि ने इन मन्त्रों द्वारा इन्द्र की पहचान बताई।

इस सम्बन्ध में महाभारत में भी दो कथाएँ आती हैं —

पहले कभी इन्द्र आदि देवता राजा वैन्ध्य के यज्ञ में गये। गृत्समद ऋषि भी उस यज्ञ में पहुँचे। इन्द्र को मारने की इच्छा से दैत्य वहाँ आये। दैत्यों को देखकर इन्द्र ने गृत्समद का रूप बनाया और वहाँ से निकल गया। वैन्ध्य से सत्कार पाकर गृत्समद भी वहाँ से निकले। गृत्समद को इन्द्र समझ कर दैत्यों ने उसको घेर लिया। तब गृत्समद ने इस सूक्त द्वारा उनको इन्द्र की महत्ता बताई।

दूसरी कथा इस प्रकार है — गृत्समद ऋषि के यज्ञ में इन्द्र अकेला ही पहुँचा। अकेला जानकर दैत्यों ने उसको घेर लिया। तब गृत्समद का रूप धारण करके यज्ञशाला में गये। पहले एक गृत्समद को गया देखकर उन्होंने समझा कि गृत्समद तो पहले चले गये, अब उनका रूप धारण करके यह इन्द्र यहाँ है। अब गृत्समद को इन्द्र समझकर दैत्यों ने उनको पकड़ लिया। तब इस सूक्त के द्वारा गृत्समद ने दैत्यों को इन्द्र का रूप बताया।

मण्डल २

सूक्त १२

मंत्र २

संहिता—पाठः

यः पृथिवीं व्यथमानामदृहद्यः यः पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात् ।

यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः ॥

पद—पाठः

यः पृथिवीम् । व्यथमानाम् । अदृहत् । यः । पर्वतान् । प्रकुपितान् । अरम्णात् । यः । अन्तरिक्षम् । विममे । वरीयः । यः । द्याम् । अस्तभ्नात् । सः । जनासः । इन्द्रः । ॥२॥  
अन्वय — जनासः! यः व्यथमानाम् पृथिवीम् अदृहत्, यः प्रकुपितान् पर्वतान् अरम्णात्, यः वरीयः अन्तरिक्षाम् विममे, यः द्याम् अस्तभ्नात् स इन्द्रः ।

दयानन्द—भाष्य

(सः) (पृथिवीम्) विस्तीर्णा भूमिम् (व्यथमानाम्) चलन्तीम् (अदृहत्) धरति (यः) (पर्वतान्) मेघान् (प्रकुपितान्) प्रकोपयुक्तान् शत्रुनिव वर्तमानान् (अरम्णात्) वधति । रम्णातीति वधकर्मा० ॥ निघ० २।१९॥ (यः) (अन्तरिक्षम्) द्वयोर्लोकयोर्मध्यस्थमाकाशम् (विममे) विशेषेण मिमीते (वरीयः) अतिशयेन बहु (यः) (द्याम्) प्रकाशम् (अस्तभ्नात्) स्तभ्नाति धरति (सः) (जनासः) (इन्द्रः) ॥२॥

भावार्थ — हे मनुष्या यदीश्वरो विद्युतं सूर्यं वा न रचयेत्तर्हि चलतो महतो भूगोलान् को धरेत् कश्च मेघं वर्षयेत्कोऽन्तरिक्षं स्वप्रकाशेन पूरयेच्च ॥२॥



हि०भावार्थ — हे मनुष्यो ! जो ईश्वर बिजुली वा सूर्य को न रचे तो चलते हुए बड़े बड़े भूगोलों को कौन धारण करे, कौन मेघ को वर्षावे और कौन अन्तरिक्ष को अपने प्रकाश से पूरित करे ॥२॥

### सायण-भाष्य

हे जनाः ! यः इन्द्रः ! व्यथमानां चलन्तीं पृथिवीमदृहत् शर्कराभिर्दृढामकरोत् । दृहं 'दृहि वृद्धौ' । यश्च प्रकुपितान् इतस्ततश्चलितान् पक्षयुक्तान् पर्वतानरम्णात् नियमितवान् स्वे स्वे स्थाने स्थापितवान् । अरम्णात् रमु क्रीडायाम् । अन्तर्भावितण्यर्थस्य व्यत्ययेन श्ना प्रत्ययः । यश्च वरीयः उरुतममन्तरिक्षं विममे निर्ममे वितीर्ण चकारेत्यर्थः । यश्च द्यां दिवमस्तम्नात् तस्तम्भ निरुद्धामकरोत् । 'स्तम्भु रोधने' इति सौतो धातुः । सैवेन्द्रो नाहमिति ।

शब्दार्थ — व्यथमानाम् = हिलती हुई । अदृहत् = स्थिर कर दिया था । प्रकुपितान् = कुपित हुये, इच्छानुसार इधर-उधर स्वच्छन्द विचरण करते हुये । अरम्णात् = नियमित कर दिया था । वरीयः = विस्तृत । अस्तम्नात् = थामा हुआ है । द्याम् = द्युलोक को ।

हिन्दी व्याख्या — हे असुरों ! जिसने हिलती हुई पृथिवी को स्थिर कर दिया था अर्थात् जिसने पृथिवी को और उस पर रहने वाले प्राणियों को स्थिरता प्रदान की थी । जिसने कुपित हुए अर्थात् इच्छानुसार इधर उधर स्वच्छन्द विचरण करते हुए पंखों से युक्त पर्वतों को अपने अपने स्थान पर नियमित कर दिया था, जिसने विस्तृत अन्तरिक्ष की रचना की थी या विस्तार किया था और जिसने द्युलोक को थामा हुआ है, वही इन्द्र है ।

### व्याकरण —

व्यथमानाम् — व्यथ् + शानच् (शप् और मुक् का आगम) ।

अदृहत् — दृह, धातु, लङ्. लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

प्रकुपितान् — प्र + कुप् + (इट्) + क्त = प्रकुपित ।

अरम्णात् — अन्तर्भावित ण्यर्थ रम् धातु, लङ्. लकार, प्रथम पुरुष एकवचन । छान्छस परस्मैपद और 'शप्' के स्थान पर श्ना ।

प्रकुपितां — अरम्णात् — वैदिक सन्धि होकर 'न्' को २ ।

वरीयः — उरु + ईयसुन् । 'उरु' को 'वर्' आदेश ।

अस्तम्नात् — स्तम्भु रोधने, लङ्. लकार, प्रथम पुरुष, एक वचन ।

विशेष — वैदिक भाषा में 'कुप्' धातु का मूल अर्थ 'संचलन' तथा 'रम्' धातु का अर्थ 'स्थिरीकरण' था । ये अर्थ भौतिक थे । लौकिक संस्कृत में ये धातुयें मानसिक अर्थों में प्रयुक्त होने लगी तथा इनका अर्थ 'क्रोध करना' और 'क्रीड़ा करना' हुआ ।

इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भिक काल में पृथिवी पर भूकम्प बहुत आते थे, इन्द्र ने उनको शान्त किया । पौराणिक कथाओं के अनुसार पहले पर्वतों के पंख थे । वे उड़कर जहाँ तहाँ चले जाते थे । इससे भूलोक में हाहाकार हो रहा था । इन्द्र



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

ने पर्वतों के पर काट कर उनको एक स्थान पर स्थिर कर दिया। वे पंख बादलों के रूप में परिवर्तित हो गये। इसीलिये बादल पर्वतों की ओर जाते हैं।

**मण्डल २****सूक्त १२****मंत्र ३****संहिता-पाठः**

यो हत्वाहिमरिणात्सप्त सिन्धून्यो गा उदाजदपधा बलस्य।  
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः॥

**पद-पाठः**

यः। हत्वाः। अहिम्। अरिणात्। सप्त। सिन्धून्। यः। गाः। उत्ऽआजत्। अपऽधा। बलस्य। यः। अश्मनोः। अन्तः। अग्निम्। जनानं। सम्ऽवृक्। समत्ऽसु। सः। जनासः। इन्द्रः॥३॥

अन्वय — जनासः ! यः अहिम् हत्वा सप्त सिन्धून् अरिणात्, यः बलस्य अपधा गाः उदाजत्, यः अश्मनोः अन्तः अग्निम् जजान, समत्सु संवृक् स इन्द्रः।

**दयानन्द-भाष्य**

(यः) (हत्वा) (अहिम्) मेघम् (अरिणात्) गमयति (सप्त) सप्तविधान् (सिन्धून्) समुद्रान्नदीर्वा (यः) (गाः) पृथिवीः (उदाजत्) ऊर्ध्वं क्षिपति (अपधा) योऽपदधाति सः। अत्र सुपां सुलुगिति विभक्तेर्डादेशः। (बलस्य) (यः) (अश्मनोः) पाषाणयोर्मेघयोर्वा (अन्तः) मध्ये (अग्निम्) पावकम् (जजान) जनयति (संवृक्) यः सम्यग्वर्जयति सः (समत्सु) संग्रामेषु (सः) (जनासः) (इन्द्रः)॥३॥

भावार्थ — हे मनुष्या यः सूर्यलोको मेघं वर्षयित्वा समुद्रान् भरति सवान् भूगोलान् स्वं प्रत्याकर्षति स्वकिरणैर्मघस्य सन्निहितस्य पाषाणस्य मध्ये उष्णताञ्जनयति सोऽग्निरस्तीति वेद्यम्॥३॥

हि०भावार्थ — हे मनुष्यो! जो सूर्यलोक मेघ को वर्षाकर समुद्रों को भरता है, सब भूगोलों को अपने प्रति खींचता है, अपनी किरणों से मेघ और समीपस्थ पाषाण के बीच ऊष्मा को उत्पन्न करता है, वह अग्निरूप है, यह जानना चाहिये॥३॥

**सायण-भाष्य**

यः अहिं मेघं हत्वा मेघहननं कृत्वा सप्त सर्पणशीलाः सिन्धून् स्यन्दनशीला अपः अरिणात् प्रेरयत्। यद्वा सप्तगङ्गयमुनाद्या मुख्या नदीररिणात्। 'रीड्' स्रवणे' क्र्यादिः। यश्च बलस्य बलनामकस्यासुरस्य अपधा तत्कर्तृकान्निरुद्धा गा उदाजत् निरगमयत्। अपधा। अपपूर्वाद्धातेरातश्चोपसर्ग इति भावे अङ्। प्रत्ययः। सुपां सुलुगिति पञ्चम्या आकारः। यश्च अश्मनोः अश्नुते व्याप्तनोति अन्तरिक्षा— मित्यश्मामेघाः। अत्यन्तमृदुरूपयोर्मघयोरन्तर्मध्ये वैद्युतमग्निं जजान उत्पादयामास। यश्च समत्सु सभक्षयन्ति योद्घृणामायूंषीति समदः संग्रामाः तेषु संवृक् भवति वृणाक्तेर्हिसार्थस्य क्वपि रूपम्। स



इन्द्रो नाहमिति ।

शब्दार्थ — हत्वा = मार कर, हटा कर । अहिम् = वृत्र को, जल रोकने वाले पर्वत को । अरिणात् = बहाया था । सिन्धून् = नदियों को । वलस्य = बल नामक दैत्य की । उदाजत् = बन्धन से मुक्त कर बाहर निकाला था । अपधा = रोकी गयी । अश्मनोः = मेघों के, चट्टानों के । अन्तः = मध्य में । अग्निम् = विद्युत अग्नि को । जजान = उत्पन्न किया था । संवृक् = विनाश किया था । समत्सु = युद्धों में ।

हिन्दी व्याख्या — हे असुरो ! जिस इन्द्र ने वृत्र को मारकर अर्थात् जल रोकने वाले पर्वतों को हटाकर सात नदियों को बहाया था, जिसने बल नामक दैत्य के द्वारा गुफा में रोकी गई गायों को बन्धन से मुक्त कर बाहर निकाला था, जिसने दो मेघों के या चट्टानों के मध्य में विद्युत अग्नि को उत्पन्न किया था और जिसने युद्धों में शत्रुओं का अच्छी प्रकार विनाश किया था, वही इन्द्र है ।

व्याकरण —

अरिणात् — 'रीङ् प्रस्रवणे' क्र्यादि गण की धातु 'लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

हत्वा — हन् + क्त्वा ।

अश्मनोः — अश् + मनिन् = अश्मन् । षष्ठी का द्विवचन

उदाजत् — 'उत् + अज्' धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

अपधा — अप + धा + अङ् ।

जजान — 'जनी प्रादुर्भावे' धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

संवृक् — सम् + वृज् + क्विप् ।

विशेष — सायण ने 'अहिम्' का अर्थ 'मेघ' एवं मैकडानल और पीटर्सन ने 'सर्प' किया है । सायण ने 'अश्मनोः अन्तः' का अर्थ 'मेघों के अन्दर' किया है । इससे मेघों की विद्युत की ओर संकेत मिलता है । इससे यह भी अभिव्यक्त हो सकता है कि दो पत्थरों के टकराने से अग्नि उत्पन्न होती है ।

मण्डल २

सूक्त १२

मंत्र ४

संहिता-पाठः

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि, यो दासं वर्णमधरं गुहाकः ।

श्वध्नीव यो जिगीवां लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः ॥

पद-पाठः

येन । इमा । विश्वा । च्यवना । कृतानि । यः । दासम् । वर्णम् । अधरम् । गुहा । अकरित्यकः । श्वध्नीऽइव । यः । जिगीवान् । लक्षम् । आदत् । अर्यः । पुष्टानि । सः । जनासः । इन्द्रः ॥४॥



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

अन्वय — येन इमा विश्वा च्यवना कृतानि, यः दासम् वर्णम् अधरम् गुहा अकः, यः लक्षम् जिगीवान्, यः अर्थः पुष्टानि श्वधनी इव आदत्, जनाणि इन्द्रः ।

### दयानन्द-भाष्य

(येन) ईश्वरेण (इमा) इमानि (विश्वा) सर्वाणि भुवनानि (च्यवना) प्राप्तानि (कृतानि) उत्पादितानि (यः) (दासम्) दातुं योग्यम् (वर्णम्) रूपम् (अधरम्) निम्नम् (गुहा) गुहायाम् (अकः) करोति (श्वधनीव) या शुनो हन्ति तद्वत् (यः) (जिगीवान्) जयशीलः (लक्षम्) लक्षितुं योग्यम् (आदत्) आदत्ते (अर्थः) ईश्वरः । अर्थ इति ईश्वरनाम० ॥ निघ० २।२२॥ (पुष्टानि) दृढानि (सः) (जनासः) (इन्द्रः) ॥४॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः । य ईश्वरः कारणाद्विविधान् लोकान् पदार्थाश्च निर्मिमीते यः सर्वेषां कर्माणि लक्ष्यभूतानि रक्षति स सर्वैरुपासनीयः ॥४॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है । जो ईश्वर कारण से विविध प्रकार के लोकों और पदार्थों को रचता और जो सब कर्मों को लक्ष सा रखता है, वह सबको उपासना करने योग्य है ॥४॥

### सायण-भाष्य

येन इन्द्रेण इमा इमानि विश्वा विश्वानि च्यवना नश्वराणि भुवनानि कृतानि स्थिरीकृतानि । यश्च दासं वर्णं शूद्रादिकं यद्वा दासमुपक्षपयितारमधरं निकृष्टमसुरं गुहा गुहायां गूढस्थाने नरके वा अकः अकार्षीत् । करोतेर्लुङि । मन्त्रे धसेत्यादिना च्छेर्लुकि रूपं लक्षं लक्ष्यं जिगीवान् । 'जि जये' क्वसौ सन् लिटोर्जैरित्यभ्यासादुत्तरस्य कुत्वम् । दीर्घश्छान्दसः । जितवान् योऽर्योऽरे । षष्ठ्येकवचने छान्दसो यणादेशः । शत्रोसम्बन्धीनि पुष्टानि समृद्धानि आदत् आदत्ते । तत्र दृष्टान्तः । श्वधनीव श्वभिर्मृगान् हन्तीति श्वधनी व्याघ्रः । यथा व्याधो जिघृक्षन्तं मृगं परिगृह्णाति तद्वत् ।

शब्दार्थ — विश्वा = सम्पूर्ण भुवन । च्यवना = नश्वर । कृतानि = स्थिर किया है । दासं वर्णम् = हिंसा करने वाली जाति को । अधरम् = निकृष्ट असुर । गुहा = गूढ स्थान, नरक । अकः = कर दिया है, डाल दिया है । श्वधनी = शिकारी, जुआरी । जिगीवान् = जीत लिया है । लक्षम् = लक्ष्य को । आदत् = छीन लिया है । अर्थ = शत्रु के । पुष्टानि = धनों को ।

हिन्दी व्याख्या — जिसने इन सम्पूर्ण नश्वर भुवनों को स्थिर किया है, जिसने दास अर्थात् शूद्र आदि वर्णों को गुफा आदि स्थानों में स्थापित कर दिया है, अथवा हिंसा करने वाली असुर जाति को नरक में डाल दिया है, जिसने लक्ष्य को जीत लिया है और जिसने शत्रुओं के धनों को उसी प्रकार छीन लिया है, जैसे शिकारी या जुआरी छीन लेता है, हे असुरों! वही इन्द्र है ।

### व्याकरण —

इमा, विश्वा — इमानि तथा विश्वानि का छान्दस रूप ।



## इन्द्र सूक्त (मण्डल-२, सूक्त-१२)

च्यवना — च्यु + ल्यु (अन) = च्यवन। प्रथमा विभक्ति बहुवचन (नपुंसक लिङ्ग) लोक में च्यवनानि बनेगा।

गुहा — सप्तमी विभक्ति का एकवचन। विभक्ति का छान्दस लोप।

अकः — 'कृ' धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। वैदिक रूप है।

जिगीवान् — 'जि जये' धातु से 'क्वसु' प्रत्यय।

जिगीवाँ लक्षम् — वैदिक सन्धि होकर 'न्' को २।

श्वध्नी — श्व + हन् से निपातनात् बनता है।

आदत् — आ + दा धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। वैदिक रूप।

अर्यः — 'अरि' शब्द, षष्ठी विभक्ति का एकवचन। छान्दस रूप। लोक में 'अरेः' रूप बनेगा।

पुष्टानि — पुष + क्त = पुष्ट।

विशेष — सायण ने 'कृतानि' का अर्थ 'स्थिरीकृतानि' किया है, जब कि ग्रासमान के अनुसार इसका अर्थ 'बनाना' है। ग्रासमान ने अर्थ किया है — Who is the maker of all that moves। पीटर्सन के अनुसार 'दासम् वर्णम्' का अर्थ है — Hostile colour dark skin। ऋग्वेद में आर्येतर जातियों के लिये दास, दस्यु आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है और ये शब्द घृणा-सूचक हैं। सायण ने 'श्वध्नी' का अर्थ 'शिकारी' एवं पीटर्सन और मैकडानल ने 'जुआरी' किया है।

मण्डल २

सूक्त १२

मंत्र ५

संहिता-पाठः

यं स्मां पृच्छन्ति कुह सेतिं घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।

सो अर्यः पुष्टीर्विजंइवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥

पद-पाठः

यम्। स्म। पृच्छन्ति। कुहं। सः। इतिं। घोरम्। उत। ईम्। आहुः। न। एषः। अस्ति। इतिं। एनम्। सः। अर्यः। पुष्टीः। विजःइव। आ। मिनाति। श्रत्। अस्मै। धत्त। सः। जनासः। इन्द्रः॥५॥

अन्वय — कुह सः इति यम् घोरम् पृच्छन्ति स्म, उत ईम् एषः न अस्ति इति आहुः, सःविजः इव अर्यः पुष्टीः आ मिनाति, श्रत् अस्मै धत्त, जनासः स इन्द्रः।

दयानन्द-भाष्य

(यम्) (स्म) एव। अत्र निपातस्य चेति दीर्घः। (पृच्छन्ति) (कुह) क्व (इति) (घोरम्) हननम् (उत) अपि (ईम्) सर्वतः (आहुः) कथयन्ति (न) निषेधे (एषः) (अस्ति) (इति) (एनम्) (सः) (अर्यः) ईश्वरः (पुष्टीः) पोषणानि (विजइव) भयेन सञ्चलित इव (आ) (मिनाति) हिनस्ति (श्रत्) सत्यम् (अस्मै) (धत्त) धरत (सः) (जनासः) (इन्द्रः)॥५॥



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

**भावार्थ** — य आश्चर्यगुणकर्मस्वभावः परमेश्वरोऽस्ति तं केचित्क्वास्तीति ब्रुवन्ति केचिदेनं भयङ्करं केचिच्छान्तं केचिदयं नास्तीति बहुधा वदन्ति स सर्वस्या— धारभूतस्सन् सत्यं धर्म जीवनोपायाँश्च वेदद्वारोपदिशति स सर्वैरुपासनीयः । ॥५॥

**हि०भावार्थ** — जो आश्चर्य गुणकर्मस्वभावयुक्त परमेश्वर है, उसको कोई वह कहाँ है, ऐसा कहते हैं, कोई उसको भयङ्कर, कोई शान्त और यह नहीं है, ऐसा बहुत प्रकार से कहते हैं। वह सबका आधारभूत हुआ सत्य धर्म और जीवन के उपायों का वेद के द्वारा उपदेश करता है, वह सबको उपासना करने के योग्य है । ॥५॥

### सायण-भाष्य

अपश्यन्तो जना घोरं शत्रुणां घातकं यं पृच्छन्ति स्म कुह सेति स इन्द्रः कुत्र वर्तत इति । सेति । सोचि लोपे चेत्पादपूरणमिति सोर्लोपे गुणः । न क्वचिदसौ तिष्ठतीति मन्यमाना जना एनमिन्द्रमाहुः एषः इन्द्रो नास्तीति । तथा च मन्त्रे । नेन्द्रोऽस्तीति नेम उत्त्व आहेति । ईमिति पूरणः । स इन्द्रो विज इव । इव शब्द एवार्थो । उद्वेजक एव सन् । अर्यः अरेः सम्बन्धीनि पुष्टीः पोषकाणि गवाश्वादीनि धनानि आमिनाति सर्वसो हिनस्ति । मीड् हिंसायाम् मीनातेर्निगम इति ह्रस्वः । तस्मात् श्रदस्मै इन्द्राय धत्त स इन्द्रोऽस्तीति विश्वासमत्र कुरुत यद्यप्यसौ विशेषतोऽस्माभिर्न दृश्यते तथाप्यस्तीति विश्वासं कुरुत । एवं निर्धारणमहिमोपेतः स इन्द्रो नाहमिति ।

**शब्दार्थ** — कुह = कहाँ है । घोरम् = भयानक । उत ईम् एनम् = और निश्चय से जिसके विषय में । पुष्टीः = पोषक सम्पत्तियों को । विजः इव = विजेता के समान । आमिनाति = छीन लेता है । श्रत् = श्रद्धा । धत्त = धारण करो ।

**हिन्दी व्याख्या** — वह कहाँ है? इस प्रकार जिस भयानक इन्द्र के सम्बन्ध में लोग पूछते रहते हैं और निश्चय ही जिसके विषय में वह नहीं है, इस प्रकार कहते हैं, वह विजेता के समान शत्रु की पोषक सम्पत्तियों गौ आदि को छीन लेता है । इस इन्द्र के लिए श्रद्धा को धारण करो । हे असुरो! वही इन्द्र है ।

### व्याकरण —

कुह — किम्+ह (वैदिक प्रत्यय) ।

सेति — सः + इति । 'सोऽपि लोपे चेत्पादपूरणाम्' सूत्र से बाद की पूर्ति के लिये विसर्ग का लोप होकर गुणसन्धि ।

अर्यः — अरि शब्द, षष्ठी विभक्ति । वैदिक रूप । लोक में अरेः होगा ।

पुष्टीः — पुष् + क्तिन् । द्वितीया का बहुवचन ।

मिनाति — 'मीञ् हिंसायाम्' धातु लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन को वैदिक ह्रस्व ।

**विशेष** — 'विजः' शब्द के अनेक अर्थ हैं — उद्वेजक, विजेता, जुआरी, आफ़ेक्ट ने 'घोरम्' को क्रिया-विशेषण माना है और इसका अर्थ किया है — 'In an unlawful



manner 'श्रत्' शब्द लैटिन के 'Credo' शब्द से मिलता है और दावा का अर्थ — Place your trust। छन्द की पूर्ति के लिए 'विज इव को 'विजेवा' और 'सो अर्यः' को 'सोऽर्यः' पढ़ना चाहिये।

मण्डल २

सूक्त १२

मंत्र ६

संहिता—पाठः

यो र॒ध्रस्य॑ चोदि॒ता यः कृ॒शस्य॑ यो ब्र॒ह्मणो॑ नाध॒मानस्य॑ कीरेः।

यु॒क्तग्रा॑व्यो योऽवि॒ता सु॒शिप्रः॑ सु॒तसोम॑स्य स ज॒नास॑ इन्द्रः॑।

पद—पाठः

यः। र॒ध्रस्य॑। चोदि॒ता। यः। कृ॒शस्य॑। यः। ब्र॒ह्मणः॑। नाध॒मानस्य॑। कीरेः। यु॒क्तग्रा॑व्यः।  
यः। अवि॒ता। सु॒शिप्रः॑। सु॒तसोम॑स्य। सः। ज॒नास॑। इन्द्रः॑।

अन्वय — यः र॒ध्रस्य चोदि॒ता यः कृ॒शस्य यः नाध॒मानस्य कीरेः ब्र॒ह्मणः सु॒शिप्रः यः यु॒क्तग्रा॑व्यः  
सु॒तसोम॑स्य अवि॒ता जना॑सः सः इन्द्रः॑।

दयानन्द—भाष्य

(यः) (र॒ध्रस्य) हिंसकस्य (चोदि॒ता) प्रेरकः (यः) (कृ॒शस्य) दुर्बलस्य (यः) (ब्र॒ह्मणः) (नाध॒मानस्य) सकलैश्वर्यप्रापकस्य (कीरेः) संकलविद्यास्तोतुः (यु॒क्तग्रा॑व्यः) युक्ता ग्रावाणो मेघाः पाषाणा वा यस्मिस्तस्य (यः) (अवि॒ता) रक्षकः (सु॒शिप्रः) शोभनानि शिप्राणि सेवनानि यस्मिन् सः। अत्र शेवृ धातोः पृषोदरादिनेष्टसिद्धिः। (सु॒तसोम॑स्य) सुता उत्पादिताः सोमाः पदार्थो येन तस्य (सः) (जना॑सः) (इन्द्रः॑)॥६॥

भावार्थ — हे मनुष्यास्तमेव जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयकर्तारं सकलविद्या— युक्तस्य वेदस्य प्रज्ञापकं परमेश्वरं यूयमुपाध्वम्॥६॥

हि०भावार्थ — हे मनुष्यो ! उसी परमेश्वर की उपासना तुम करो कि जो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयकर्ता तथा सकल विद्यायुक्त वेद का उत्तम ज्ञान कराने वाला है॥६॥

सायण—भाष्य

यो र॒ध्रस्य। र॒ध्र हिंसासंराद्धयोः। समृद्धस्य चोदि॒ता धनानां प्रेरयिता भवति। यश्च कृ॒शस्य दरिद्रस्य च यश्च नाध॒मानस्य। नाधृ णाधृ याञ्चोपतापैश्वर्या— शीषुः। याचमानस्य कीरेः। करोतेः कीर्तयतेर्वा स्तोतुर्ब्रह्मणो ब्राह्मणस्य च धनानां प्रेरयिता। यश्च सु॒शिप्रः शोभनहनुः सुशीर्षको वा सन् यु॒क्तग्रा॑व्यः अभिषवार्थमुद्यतग्राव्यः सु॒तसोम॑स्य अभिषुतसोमस्य यजमानस्य अवि॒ता रक्षिता भवति स एवेन्द्रो नाहमिति। ब्रह्मशब्दस्य त्वन्नपरत्वे ह्याद्युत्तता स्यात्। यथा ब्रह्मवन्वानो आलं सुवीरमिति (ऋग् ३।८।२)। अयं त्वनोदात्तः पठ्यत इति नान्नपरः।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

शब्दार्थ — रधस्य = समृद्धिशाली व्यक्ति का। चोदिता = प्रेरणा देने वाला। कृशस्य = निर्धन का ब्रह्मणः = ब्राह्मण का। नाधमानस्य = याचना करने वाले। कीरेः = स्तुति करने वाले का। युक्तग्राव्यः = अभिषव करने के लिए पत्थरों को उद्यत किये हुये था। अविता = रक्षा करने वाला। सुशिप्रः = सुन्दर ठोड़ी वाला। सुतसोमस्य = सोमरस को निचोड़ने वाले का।

हिन्दी व्याख्या — जो समृद्धशाली व्यक्ति को प्रेरणा देने वाला है, जो निर्धन को प्रेरणा देने वाला है, जो याचना करने वाले और स्तुति करने वाले ब्राह्मण को प्रेरणा देने वाला है और सुन्दर ठोड़ी वाला जो अभिषव करने के लिए पत्थरों को उद्यत किये हुए सोमरस को निचोड़ने वाला यजमान की रक्षा करता है, हे असुरो! वही इन्द्र है।

**व्याकरण —**

रधस्य — 'रध हिंसासंराद्धयो' धातु से 'र' प्रत्यय।

चोदिता — चुद् + (इट्) + तृच् = चोदितृ। प्रथमा का एकवचन।

कृशस्य — कृश् + क (अ) = कृश। षष्ठी का एकवचन।

नाधमानस्य — नाधृ + शानच् (मुक् का आगम)। षष्ठी विभक्ति का एकवचन।

कीरेः — कृ अथवा कीर्त् धातु से 'इ' प्रत्यय। वैदिक रूप।

ब्रह्मण — बृह् + मनिन् ब्रह्मन्। षष्ठी का एकवचन।

युक्तग्राव्यः — युक्ताः ग्राव्यः येन तस्य। युज्+ज् = युक्त।

सुशिप्रः — शोभनं शिप्रं यस्य स।

विशेष — सायण ने 'रध' का अर्थ 'समृद्ध' किया है, परन्तु रॉथ ने इसका अर्थ 'सुस्त' (lazy) किया है। सेन्टपीटर्सवर्ग डिक्शनरी में 'अरध' शब्द को जिन्दावेस्ता के अरेड्रा (Aredra) का समानार्थक माना गया है और 'रधस्य चोदिता' का अर्थ किया है — 'He who impels the miser to be liberal'। 'कीरि' शब्द का अर्थ Small, wretched poor भी है। मैक्डानल ने 'शिप्र' का अर्थ 'होठ' और पीटर्सन ने 'मुख' (face) किया है।

छन्द के आग्रह से 'योऽविता' को 'यो अविता' उच्चारण करना चाहिये।

मण्डल २

सूक्त १२

मंत्र ७

संहिता-पाठः

यस्याश्वांसः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथांसः।

यः सूर्यं य उषसं जजान् यो अपां नेता स जनास इन्द्रः॥

पद-पाठः

यस्यं। अश्वांसः। प्रदिशिं। यस्यं। गावं। यस्यं। ग्रामां। यस्यं। विश्वे। रथांसः।  
यः। सूर्यम्। यः। उषसम्। जजानं। यः। अपाम्। नेता। सः। जनास। इन्द्रः॥७॥



## इन्द्र सूक्त ( मण्डल-२, सूक्त-१२ )

अन्वय — अस्य प्रदिशि अश्वासः, यस्य गावः, यस्य ग्रामाः, यस्य विश्वे रथासः, यः सूर्यम्, य उषसम्, जजान, यः अपाम् नेता, जनासः । स इन्द्रः ।

### दयानन्द-भाष्य

(यस्य) विद्युदाख्यस्य (अश्वासः) व्याप्तिशीला वेगाद्योगुणाः (प्रदिशि) उपदिशि (यस्य) (गावः) किरणाः (यस्य) (ग्रामाः) मनुष्यनिवासाः (यस्य) (विश्वे) सर्वे (रथासः) रमणसाधनाः (यः) कारणाख्यो विद्युदग्निः (सूर्यम्) सवितृमण्डलम् (यः) (उषसम्) प्रत्यूषकालम् (जजान) जनयति (यः) (अपाम्) जलानाम् (नेता) प्रापकः (सः) (जनासः) (इन्द्रः) ॥७॥

भावार्थ — हे मनुष्या यदि भवन्तो वेगाद्यनेकगुणयुक्तं सर्वमूर्त्तव्याधारं शीघ्रगामी विमानादियानवर्षानिमित्तं विद्युदग्निं जानीयुस्तर्हि किं किमुत्तमं कार्यं साधितुं न शक्नुयुः ॥७॥

हि०भावार्थ — हे मनुष्यों ! यदि आप लोग वेगादि अनेक गुणयुक्त सर्वमूर्त्तिमान् पदार्थों के आधाररूप शीघ्रगामी विमान आदि यान और वर्षा निमित्त बिजुली रूप अग्नि को जाने तब तो कौन कौन उत्तम कार्य सिद्ध न कर सकें ॥७॥

### सायण-भाष्य

यस्य सर्वान्तर्यामितया वर्तमानस्य प्रदिशि प्रदेशने अनुशासने अश्वासः अश्वा वर्तन्ते । यस्यानुशासने गावः यस्यानुशासने ग्रामाः । ग्रसन्तेऽत्रेतिग्रामाः जनपदाः । यस्याज्ञायां विश्वे सर्वे रथासः रथा वर्तन्ते । यश्च वृत्रं हत्वा सूर्यं जनान् जनयामासः यश्चोषसम् । तथा मन्त्रं जजान सूर्यमुषसं सुन्दसा इति । यश्च मेघभेदनद्वारा अपां नेता प्रेरकः स इन्द्रः इत्यादि प्रसिद्धम् ।

शब्दार्थ — अश्वासः = घोड़े हैं । प्रदिशि = अनुशासन में । विश्वे = सब । रथासः = रथ हैं । जजान = उत्पन्न किया था । अपाम् नेता = मेघों में से जलों का लाने वाला ।

हिन्दी व्याख्या — जिसके अनुशासन में घोड़े रहते हैं, जिसके अनुशासन में गौयें रहती हैं, जिसके अनुशासन में गाँव रहते हैं, जिसके अनुशासन में सब रथ रहते हैं, जिसने सूर्य को और जिसने ऊषा को उत्पन्न किया था एवं जो मेघों में से जलों का लाने वाला है, हे असुरों ! वही इन्द्र है ।

### व्याकरण —

अश्वासः, रथासः — प्रथमा विभक्ति का बहुवचन । वैदिक रूप है । लोक में अश्वाः रथाः इस प्रकार के रूप होंगे ।

प्रदिशि — प्र + दिश् + क्विप् । सप्तमी विभक्ति का एकवचन ।

जनान् — अन्तर्मावित् प्यर्थं जन् धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

नेता — णीञ् (नी) प्रापणे + तृच् = नेतृ । प्रथमा का एकवचन ।

विशेष — छन्द के आग्रह से 'सूर्यम्' का उच्चारण 'सूरियम्' होगा ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

मण्डल २

सूक्त १२

मंत्र ८

संहिता-पाठः

यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्राः ।

समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः ॥

पद-पाठः

यम् । क्रन्दसी । इति । संयती इति सम्ऽयती । विह्वयेते इति विऽह्वयेते । परे । अवरे । उभयाः । अमित्रः । समानम् । चित् रथम् । आतस्थिवांसा । नाना । हवेते इति । सः । जनास् । इन्द्रः ॥

अन्वय — क्रन्दसी संयती यम् विह्वयेते । परे अवरे उभयाः अमित्राः । समानम् चित् रथम् आतस्थिवांसा नाना हवेते । जनासः । स इन्द्रः ।

दयानन्द-भाष्य

(यम्) सूर्यम् (क्रन्दसी) रोदनशब्दनिमित्ते (संयती) संयमेन गच्छन्त्यौ द्यावापृथिव्यौ (विह्वयेते) विस्पर्द्धेते इव (परे) प्रकृष्टाः (अवरे) अर्वाचीनाः (उभयाः) प्रकाशाऽप्रकाशोभयकोटिसम्बन्धिनः (अमित्राः) शत्रवः (समानम्) (चित्) इव (रथम्) रथादियानम् (आतस्थिवांसा) समन्तात्तिष्ठन्तौ (नाना) अनेकविधा (हवेते) आदत्तः (सः) (जनासः) (इन्द्रः) ॥८॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः । यथा द्वे सेने सम्मुखे स्थित्वा युध्येते तथैव प्रकाशाऽप्रकाशौ वर्तते ॥८॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है । जैसे दो सेना सम्मुख खड़ी होकर युद्ध करती हैं, वैसे प्रकाश और अप्रकाश वर्तमान है ॥८॥

सायण-भाष्य

यं क्रन्दसी रोदसी शब्दं कुर्वाणे मानुषी दैवी च द्वे सेने वा संयती परस्पर संगच्छन्त्यौ यमिन्द्रं विद्वयेते स्वरक्षार्थं विविधमाह्वयतः । परे उत्कृष्टाः अवरे अधमाश्च उभया उभयविधाः उभयमाह्वयन्ति । समानं इन्द्ररथसदृशं रथं आतस्थिवांसा आस्थितौ द्वौ रथिनौ तमेवेन्द्रं नाना पृथक् पृथक् ह्वयेते आह्वयेते । यद्वा समानमेकरथमारुढाविन्द्राग्नी ह्वयेते यज्ञार्थं यजमानैः पृथगाह्वयेते । तयोरन्यतरः स इन्द्रो नाहमिति ।

शब्दार्थ — क्रन्दसी = द्युलोक और पृथिवी लोक, शोर करती हुई दो सेनायें । संयती = मिल कर । विह्वयेते = आवाहन करती हैं । परे = उत्तम । अवरे = अधम । उभया = दोनों प्रकार के । अमित्राः = शत्रु । आतस्थिवांसा = बैठे हुये । नाना = अनेक प्रकार से । हवेते = पुकारे जाते हैं ।

हिन्दी व्याख्या — शब्द करते हुए द्युलोक और पृथिवी लोक मिलकर जिसका अपनी रक्षा के लिए आह्वान करते हैं अथवा शोर करती हुई परस्पर युद्ध के लिये सामने खड़ी दो सेनायें सहायता के लिये जिसको पुकारती हैं, उत्तम और अधम दोनों प्रकार के



## इन्द्र सूक्त (मण्डल-२, सूक्त-१२)

शत्रु जिसका आह्वान करते हैं, इन्द्र के रथ के समान रथ पर बैठे हुए दोनों पक्ष अनेक प्रकार से जिसका आह्वान करते हैं, एक ही रथ पर बैठे हुए इन्द्र और अग्नि यज्ञ के लिये यजमानों द्वारा पुकारे जाते हैं; असुरों ! वही इन्द्र है।

व्याकरण -

क्रन्दसी - 'क्रादि' धातु से निपातनात् वैदिक रूप।

संयती - सम् + इ + शतृ + डीप् = संयती।

विह्वयेते - 'वि+हेज्' धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, द्विवचन (आत्मनेपद)।

आतस्थिवांसा - आ + स्था + क्वसु। प्रथमा का द्विवचन।

उभयाः - उभय शब्द, प्रथमा का बहुवचन। लोक में उभये होगा।

अवर उभयाः - अवेरे = उभयाः। स्वरसन्धि।

विशेष - मैकडानल ने 'परे, अवेरे' का अर्थ 'पास के और दूर के' किया है। पीटर्सन ने इसका अर्थ 'high and low' किया है। सायण के अनुसार यहाँ दो सेनायें दैवी और मानुषी हैं। परन्तु पीटर्सन आदि यहाँ दो मानव सेनाओं को ही लक्षित मानते हैं, जो सहायता के लिए इन्द्र देवता को पुकार रही है। 'समानम् रथम् आतस्थिवांसा' का अभिप्राय एक ही रथ पर बैठे हुये सारथि और योद्धा भी हो सकते हैं।

छन्द की पूर्ति के लिये 'अमित्राः' को 'अमितराः' पढ़ना चाहिये।

मण्डल २

सूक्त १२

मंत्र ९

संहिता-पाठः

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनांसो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।

यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत्स जनास इन्द्रः॥

पद-पाठः

यस्मात्। न। ऋते। विजयन्ते। जनांसः। यम्। युध्यमानाः। अवसे। हवन्ते। यः। विश्वस्य। प्रतिमानम्। बभूव। यः। अच्युतच्युत्। सः। जनासः। इन्द्रः॥१॥

अन्वय - यस्मात् ऋते जनासः न विजयन्ते, युध्यमानाः अवसे यम् हवन्ते, यः विश्वस्य प्रतिमानम् बभूव, यः अच्युतच्युत्, जनासः! स इन्द्रः।

दयानन्द-भाष्य

(यस्मात्) (न) (ऋते) विना (विजयन्ते) (जनासः) योद्धारः (यम्) (युध्यमानाः) (अवसे) रक्षणाय (हवन्ते) (यः) परमेश्वरो विद्वन् वा (विश्वस्य) संसारस्य (प्रतिमानम्) परिमाणुसाधकः (बभूव) भवति (यः) (अच्युतच्युत्) योऽच्युतेषु च्यवते ताँश्च्यावयति (सः) (जनासः) (इन्द्रः)॥१॥

भावार्थ - अत्र श्लेषालङ्कारः। ये परमेश्वरत्रोपासते विद्युद्विद्यां न जानन्ति ते विजयिनो न भवन्ति यदिदं विश्वं यच्च रूपं तत्सर्वं परमेश्वरस्य विद्युतो विज्ञापकमस्ति ॥



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

**हि० भावार्थ** — इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। जो परमेश्वर की उपासना नहीं करते, बिजली की विद्या को नहीं जानते, वे विजयशील नहीं होते। जो यह विश्व और जो सब पदार्थों का रूपमात्र है, वह परमेश्वर और बिजुली का विज्ञान कराने वाला है। ॥९॥

### सायण-भाष्य

यस्मादृते जनासो जनाः न विजयन्ते विजयं न प्राप्नुवन्ति। अतः युध्यमानाः युद्धं कुर्वाणा जनाः अवसे स्वरक्षणाय यमिन्द्रं हवन्ते आह्वयन्ति। यश्च विश्वस्य सर्वस्य जगतः प्रतिमानं प्रतिनिधिर्वभूव। यश्चाच्युतच्युत अच्युतरहितानां क्षयरहितानां पर्वतादीनां च्यावयिता स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम्।

**शब्दार्थ** — ऋते = बिना। विजयन्ते = विजय प्राप्त करते हैं। अवसे = रक्षा के लिये। हवन्ते = आह्वान करते हैं। प्रतिमानम् = प्रतिनिधि, रक्षक। अच्युतच्युत् = क्षय रहित पर्वतों का विनाश करने वाला, अचल को चल बनाने वाला।

**हिन्दी व्याख्या** — जिस इन्द्र के बिना मनुष्य विजय को प्राप्त नहीं करते, युद्ध करते हुए सैनिक अपनी रक्षा के लिये जिसका आह्वान करते हैं, जो सम्पूर्ण जगत का प्रतिनिधि या रक्षक है, जो क्षय रहित पर्वतों का भी विनाश करने वाला है, अथवा अचल को भी चल बनाने वाला है, हे असुरों ! वही इन्द्र है।

### व्याकरण —

यस्माद् ऋते — 'ऋते' के योग में पञ्चमी विभक्ति है।

विजयन्ते — वि + जि धातु, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

युध्यमाना — युध् + (श्यन्) + (मुक्) + शानच् = युध्यमान।

अवसे — अव + असे (तुमुन् के अर्थ में वैदिक 'अ' प्रत्यय) = अवसे।

हवन्ते — 'ह्वेज्' या 'हू' धातु लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

प्रतिमानम् — प्रति + मा + ल्युट् (अन)।

अच्युतच्युत् — अच्युतानां च्यावयिता। च्यु + क्त = च्युत। न + च्युत = अच्युत। च्यु + क्विप् = च्युत्।

**विशेष** — मैक्डानल ने 'प्रतिमानम्' का अर्थ 'सदृश' (match) किया है। जो इन्द्र सब शक्तिशाली पदार्थों के समान है।

छन्द की पूर्ति के लिये 'न ऋते' का उच्चारण 'नर्ते' करना चाहिये।

मण्डल २

सूक्त १२

मंत्र १०

संहिता-पाठः

यः शश्वतो म॒ह्येनो दधा॑नानम॒न्यमाना॑ञ्छर्वा ज॒घान॑।

यः शर्धते॑ नानुददाति शू॒ध्यां यो दस्यो॑र्हन्ता स ज॒नास॑ इन्द्रः॑॥



## पद-पाठः

यः । शश्वतः । महि । एनः । दधानान् । अमन्यमानान् । शर्वा जघान । यः । शर्घते ।  
न । अनुददाति । श्रुध्याम् । यः । दस्योः । हन्ता । सः । जनासः । इन्द्रः ॥१०॥

अन्वय — यः महि एनः दधानान् अमन्यमानान् शश्वतः शर्वा जघान, यः शर्घते श्रुध्याम् न  
अनुददाति, यः दस्योः हन्ता, जनासः! स इन्द्रः!

## दयानन्द-भाष्य

(यः) परमेश्वरः (शश्वतः) अनादिस्वरूपान्पदार्थान् (महि) महत् (एनः) पापम्  
(दधानान्) धरतः (अमन्यमानान्) अज्ञानिनः शठान् (शर्वा) शासन वज्रेण (जघान) हन्ति  
(यः) (गर्हते) यः शर्द्ध करोति तस्मै (न) (अनुददाति) (श्रुध्याम्) शब्दकुत्साम् (यः)  
(दस्योः) परपदार्थहर्तुर्दुष्टस्य (हन्ता) (सः) (जनासः) (इन्द्रः) ॥१०॥

भावार्थ — यदि परमेश्वरो दुष्टाचारान्न ताडयेद्भार्मिकान्न सत्कुर्यादस्यून्न हन्यात्तर्हि न्यायव्यवस्था  
नश्येत् ॥१०॥

हि०भावार्थ — जो परमेश्वर दुष्टाचारियों को न ताड़ना दे, धार्मिकों का सत्कार न करे  
और डाकुओं को न मारे तो न्याय व्यवस्था नष्ट हो जाय ॥१०॥

## सायण-भाष्य

यो महि महदेनः पापं दधानान् शश्वतो बहूनमन्यमानान् आत्मानमजानत इन्द्रमपूज्यतो  
वा जनान् शर्वा । शृणाति शत्रूननेनेति शरुर्वज्रः तेनायुधेन जघान । हन्तेर्लिटि रूपम् । यश्च  
शर्घते उत्साह कुर्वते अनात्मज्ञाय जनाय श्रुध्यामुत्साहनीयं कर्म नानुददाति न प्रयच्छति ।  
अनपूर्वात् ङुदाङ्दानेजौहोत्यादिकः । अभ्यस्तानामा- दिरिति (पा० ४, ९, ८९) तिङि चोदात्तावतीति  
गते निघातः यश्च दस्योरुपक्षपयितुः शत्रोर्हन्ता घातकः स इन्द्र इत्यादि पूर्ववत् ।

शब्दार्थ — शश्वतः = बहुतों का । महि = महान्, अत्यधिक । एनः = पाप को ।  
दधानान् = धारण करने वाले । अमन्यमानान् = अवज्ञा करने वाले । शर्वा = वज्र से ।  
जघान = वध कर दिया था । शर्घते = हिंसा करने वाले को, चुनौती देने वाले को, श्रुध्याम्  
= उत्साह से युक्त कर्म । हन्ता = मारने वाला ।

हिन्दी व्याख्या — जिसने अत्यधिक पाप को धारण करने वाले और अवज्ञा करने  
वाले बहुत से व्यक्तियों का वज्र से वध कर दिया था, जो हिंसा करने वाले या चुनौती देने  
वाले व्यक्तियों को उत्साह से युक्त कर्म को नहीं देता है, जो दस्युओं को मारने वाला है,  
हे असुरो ! वही इन्द्र है ।

## व्याकरण —

दधानान् — धा + शानच् । द्वितीया का बहुवचन ।

अमन्यमानान् — मन् + (श्यन्) + (मुक्) + शानच् = मन्यमान । न + मन्यमान  
= अमन्यमान ।

जघान — हन् धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

शर्धते — शृधु (शृध) + शतृ = शधत् चतुर्थी विभक्ति का एकवचन ।

शृध्याम् — शृध् + क्यप् + टाप् = शृध्या ।

शर्वा — 'शरु' शब्द, तृतीया विभक्ति का एकवचन ।

हन्ता — हन् + तृच् = हन्तृ + प्रथमा का एकवचन ।

**विशेष —** मैक्डानल के अनुसार 'शरु' का अर्थ 'बाण' 'अमन्यमानान्' का अर्थ 'पापफल की प्राप्ति की आशा न करने वाले', 'शर्धते' का अर्थ 'क्षमा करना' और 'शृध्या' का अर्थ 'उद्दण्डता' है । छन्द की पूर्ति के लिये 'मह्येनो' को 'महि एनो' और 'शर्वा' को 'शरु आ' पढ़ना चाहिये ।

मण्डल २

सूक्त १२

मंत्र ११

संहिता-पाठः

यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत् ।

ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः ॥

पद-पाठः

यः । शम्बरम् । पर्वतेषु । क्षियन्तम् । चत्वारिंश्याम् । शरदि । अनुऽअविन्दत् । ओजायमानम् ।

यः । अहिम् । जघानम् । दानुम् । शयानम् । सः । जनासः । इन्द्रः ॥११॥

अन्वय — यः पर्वतेषु क्षियन्तम् शम्बरम् चत्वारिंश्याम् शरदि अन्वविन्दत्, यः ओजायमानम् अहिम् शयानम् जघान, जनासः । सः इन्द्रः ।

दयानन्द-भाष्य

(यः) (शम्बरम्) मेघम् (पर्वतेषु) अभ्रेषु (क्षियन्तम्) निवसन्तम् (चत्वारिंश्याम्) चत्वारिंशतः पूर्णायाम् (शरदि) शरदृतौ (अन्वविन्दत्) अनुलभते (ओजायमानम्) ओजः पराक्रममिवाचरन्तम् (यः) (अहिम्) मेघम् (जघान) हन्ति (दानुम्) दातारम् (शयानम्) कृतशयनमिव वर्तमानम् (सः) (जनासः) इन्द्रः ॥११॥

**भावार्थ —** यदि चत्वारिंशद्वर्षाणि वृष्टिर्न स्यात्तर्हि कः प्राणं धर्तुं शक्नुयात् । यदि सूर्यो जलं नाकर्षेन्न धरेन्न वर्षयेत्तर्हि को बलं प्राप्तुमर्हेत् ॥११॥

**हि० भावार्थ —** जो चालीस वर्ष पर्यन्त वर्षा न हो तो कौन प्राण धर सके । जो सूर्य जल को न खींचे, न धारण करे और न वर्षावे तो कौन बल पाने को योग्य हो ॥११॥

सायण-भाष्य

यः पर्वतेषु क्षियन्तं इन्द्रभिया बहुन् संवत्सरान् प्रच्छन्नो भूत्वा पर्वतगुहासु निवसन्तं शम्बरमेतन्नामकं मायाविनमसुरं चत्वारिंश्यां शरदि चत्वारिंशे सम्वत्सरे अन्वविन्दत् सन्विष्यालभत् । लब्ध्वा च य ओजायमानम् । कर्तुः क्यङ्ः सलोपश्च । ओजसोऽप्सरसो नित्यमिति सकारलोपः बलमाचरन्तमहिमा हन्तारं दानुं दानवं शम्बरमसुरं जघान हतवान्, स इन्द्रो नाहमिति ।



शब्दार्थ — शम्बरम् = शम्बर नाम के असुर को। क्षियन्तम् = निवास करने वाले। चत्वारिंश्याम् = चालीसवीं। शरदि = शरद ऋतु में। अन्वविन्वत् = खोज कर पा लिया था। भोजायमानन् = बल का प्रदर्शन करते हुए। अहिम् = प्रहार करने वाले। दानुन् = दनु के पुत्र असुर को। शयानन् = सोते हुए को, लेटे हुए को।

हिन्दी व्याख्या — जिसने अपने डर से पर्वतों में छिप कर निवास करने वाले शम्बर नाम के असुर को चालीसवीं शरद ऋतु में (चालीसवें वर्ष में) खोज कर पा लिया था और जिसने बल का प्रदर्शन करते हुए, प्रहार करने वाले उस दनु के पुत्र असुर को सोते हुए को या लेटे हुए को मार डाला था, हे असुरों! वही इन्द्र है।

व्याकरण —

क्षियन्तम् — क्षि + शत् = क्षियत्। द्वितीया विभक्ति का एकवचन।

चत्वारिंश्याम् — चत्वारिंशताम् पूरणः अर्थ में तस्य पूरणे डट्। चत्वारिंशत् + ड + डीप् = चत्वारिंशी। सप्तमी का एकवचन।

शयानम् — शी + शानच् + शयान।

ओजायमानम् — ओजस् + क्यङ् + शानच् = ओजायमान। ओजसोऽप्सरसो नित्यम्" से 'स' का लोप।

दानुम् — दनोः अपत्यम् अर्थ में दनु + अण्।

विशेष — सायण ने 'अहि' का अर्थ 'हन्ता' किया है परन्तु मैक्डानल ने 'साँप' और पीटर्सन ने दैत्य (dragon) किया है।

इस मन्त्र में दिवोदास की कथा का संकेत है, जिसमें इन्द्र ने उसको शम्बर असुर से बचाया था। शम्बर के अनेक दुर्गों का वर्णन ऋग्वेद में आया है, जिनको इन्द्र ने नष्ट कर दिया था। इन्द्र के अनेक शत्रुओं में शम्बर का नाम आता है। कुछ विद्वान् शम्बर और वृत्र को पर्यायवाची मानते हैं, कुछ के अनुसार ये दोनों असुर अलग-अलग हैं।

'शयानम्' का अर्थ वर्षा के या झरनों के जलों को रोकने वाला भी किया गया है। तिलक ने 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज पुस्तक में 'चत्वारिंश्यां शरदि' पर विशेष विवेचना की है और इसका अर्थ 'शरद ऋतु की चालीसवीं तिथि' किया है।

छन्द की पूर्ति के लिये 'शरद्यन्व०' को शरदि अन्व' पढ़ना चाहिये।

मण्डल २

सूक्त १२

मंत्र १२

संहिता-पाठः

यः सप्त॒र॒श्मि॒वृष॑भस्तुविष्मानवासृजत्स॒र्तवे॑ स॒प्त सिन्धून्॑।

यो रौहि॒णमस्फु॑रद्वज्रबाहुद्यामारोह॒न्तं स ज॑नास॒ इन्द्रः॑॥

पद-पाठः

यः। स॒प्त॒ऽर॒श्मिः॑। वृ॒षभः॑। तुवि॒ष्मान्। अव॒ऽसृ॒जत्। स॒र्तवे॑। स॒प्त। सिन्धून्॑। यः।



रौहिणम् । अस्फुरत् । वज्रबाहुः । द्याम् । आरोहन्तम् । सः । जनासः । इन्द्रः ॥१२॥

अन्वय — सप्तरश्मिः वृषभः तुविष्मान् यः सप्त सिन्धून् सर्तवे अवासृजत् । वज्रबाहुः यः द्याम् आरोहन्तम् रौहिणम् अस्फुरत्, जनासः सः इन्द्रः ।

दयानन्द भाष्य

(यः) (सप्तरश्मिः) सप्तविधा रश्मयो यस्य सः (वृषभः) मेघशक्ति निरोधकः (तुविष्मान्) बहुबलाकर्षणयुक्तः (अवासृजत्) अवसर्जति (सर्तवे) गन्तुम् (सप्त) सप्तविधान् (सिन्धून्) नदान् (यः) (रौहिणम्) रोहणशीलं मेघम् (अस्फुरत्) स्फुरति संचालयति वा (वज्रबाहुः) बाहुरिव वज्रः किरणसमूहो यस्य (द्याम्) प्रकाशम् (आरोहन्तम्) (सः) (जनासः) (इन्द्रः) ॥१२॥

भावार्थ— यस्मिन् रक्तादिवर्णाः सप्तप्रकाराः किरणाः सन्ति स एव सूर्यलोको वृष्टिद्वारा नदी नदानापूरयति पुनरुर्ध्वं जलमाकृष्य धरति पुनर्वर्षति एवमेवेश्वरनियोगेनेदं चक्रं प्रवर्तते ॥१२॥

हि०भावार्थ — जिसमें रक्तादि वर्णयुक्त सात प्रकार के किरण विद्यमान हैं वही सूर्यलोक वर्षा द्वारा नदी और नदों को अच्छे प्रकार से परिपूर्ण करता और फिर ऊपर को जल खींच के धारण करता, फिर वर्षाता है, ऐसे ही ईश्वर के आज्ञारूप नियम से यह संसारचक्र वर्तमान है ॥१२॥

सायण-भाष्य

यः सप्तरश्मिः सप्तसंख्याका पर्जन्या रश्मयो यस्य । ते च रश्मयो वराह— वस्वतपसो विद्युन्महसोधूपयः श्वापयो गृहमेघाश्चेतीति ये चेयेविमिविद्विषः पर्जन्या सप्त पृथिवीमभिवर्षन्ति वृष्टिभिरिति तैत्तिरियारण्यके ह्याम्नाताः । वृषभो वर्षकस्तुविष्मान् बुद्धिमान्बलवान्वा सप्त सपर्णस्वभावान् सिन्धूनपः सर्तवे सरणाय अवासृजत् अवसृष्टवान् । यद्वा गङ्गाद्याः सप्त मुख्याः नदीरसृजत् । यश्च वज्रबाहुः सन् द्यां दिवमारोहन्तं रौहिणमसुरं अस्फुरत् जघान । स्फुर स्फुरणे तुदादिः ।

शब्दार्थ — सप्तरश्मिः = सात प्रकार के मेघों का नियन्ता । वृषभः = वर्षा करने वाला । तुविष्मान् = शक्तिशाली, बुद्धिमान् । अवासृजत् = प्रवाहित किया था । सर्तवे = बहने के लिये । सप्त = बहने वाले । सिन्धून् = जलों को । रौहिणम् = रौहिण नाम के असुर को । अस्फुरत् = मारा था । वज्रबाहुः = वज्र को बाहु में उठा कर । आरोहन्तम् = चढ़ते हुये ।

हिन्दी व्याख्या — सात प्रकार के मेघों के नियन्ता, वर्षा करने वाले, शक्तिशाली या बुद्धिमान् जिसने बहने के स्वभाव वाले जलों को बहने के लिये प्रवाहित किया था और वज्र को बाहु में उठाकर जिस इन्द्र ने द्युलोक में चढ़ते हुए रौहिण नाम के असुर को मारा था, हे असुरों ! वही इन्द्र है ।



## व्याकरण —

तुविष्मान् — 'तु गतौ' धातु से 'असुच' प्रत्यय = तुविष् । तुविष् + मतुप् ।

सर्तवे — 'सृ' धातु से 'तुमृन्' के अर्थ में वैदिक प्रयोग ।

अस्फुरत् — स्फुर धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

आरोहन्तम् — आ + रुह् + शतृ = आरोहत् । द्वितीया का एकवचन ।

विशेष — मैक्डानल ने 'सप्तरश्मिः वृषभः' का अर्थ 'सात लगामों वाला बैल' और पीटर्सन ने 'सात रस्सियों वाला बैल' किया है । मैक्डानल और पीटर्सन ने 'सप्त सिन्धु' का अर्थ सात नदियाँ किया है । सायण ने 'रश्मि' का अर्थ 'मेघ' किया है । वह इन्द्र सात पर्जन्यों का नियन्ता है । तैत्तिरीय आरण्यक में वे सात मेघ इस प्रकार गिनाये गये हैं — वराहव, विद्युन्महस् धूपि, श्वापि, गृह-मेघ, शिमिविद्वष् ।

मण्डल २

सूक्त १२

मंत्र १३

संहिता-पाठः

द्यावां चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिवदस्य पर्वता भयन्ते ।

यः सोमपा निंचितो वज्रबाहुः यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः ॥

पद-पाठः

द्यावां । चित् । अस्मै । पृथिवी इति । नमेति । इति । शुष्मात् । चित् । अस्य । पर्वताः । भयन्ते । यः । सोमपाः । निंचितः । वज्रबाहुः । यः । वज्रहस्तः । सः । जनासः । इन्द्रः ॥१३॥  
अन्वय — अस्मै द्यावा चित् पृथिवी नमेते, अस्य शुष्मात् पर्वताः चित् भयन्ते । यः सोमपा निंचितः वज्रबाहुः, यः वज्रहस्तः, जनासः सः इन्द्रः ॥

दयानन्द-भाष्य

(द्यावा) द्यौः (चित्) इव (अस्मै) सूर्याय (पृथिवी) भूमिः (नमेते) प्रभूतं शब्दयेते (शुष्मात्) बलात् (चित्) अपि (अस्य) सूर्यस्य (पर्वताः) मेघाः (भयन्ते) विभ्यति । अत्र व्यतययेनात्मनेपदम् । (यः) (सोमपाः) यः सोमं रसं पिबति सः (निंचितः) निश्चितश्चितः (वज्रबाहुः) बाहुवत् किरणाबलः (यः) (वज्रहस्तः) वज्राः किरणा हस्ता यस्य सः (जनासः) (इन्द्रः) ॥१३॥

भावार्थ — हे मनुष्या यस्याकर्षणेन प्रकाशक्षिति नम्र इव वर्तते मेघा भ्रमन्ति हस्ताभ्यामिव यो रसमूर्ध्वन्नयति तं यथावत्संप्रयुजत ॥१३॥

हि०भावार्थ — हे मनुष्यो ! जिसके आकर्षण से प्रकाश और क्षिति नमे हुए वर्तमान हैं, मेघ भ्रमि रहे हैं, हाथों के समान जो रस को ऊर्ध्व पहुँचाता है, उसका यथावत् अच्छे प्रकार प्रयोग करो ॥१३॥

सायण-भाष्य

अस्मै इन्द्राय द्यावा पृथिवी । इतरेतरापेक्षया द्विवचनं प्रमित्रयोवरुणयो- रितियावत् ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

नमेते स्वयमेवप्रह्वीभवतः। णमु प्रह्वत्वे कर्मकर्तरि न दुहस्नुनमां यक् चिणाविति यकः प्रेतिषेधः। चिदपि च अस्येन्द्रस्य शुष्माद्वलात् पर्वता भयन्ते विभ्यति। यः सोमपाः समस्य पाता निचिः सर्वैः। यद्वा अन्येभ्योऽपि दृढाङ्गः। वज्रबाहुः वज्रसदृशबाहुः। यश्च वज्रहस्तः वज्रयुक्तः स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम्।

**शब्दार्थ** — नमेते = प्रणाम करने के लिये झुक जाते हैं। शुष्मात् = बल से। भयन्ते = भय खाते हैं। सोमपाः = सोमरस् का पान करने वाला। निचितः = दृढ़ अङ्गो वाला। वज्रबाहुः = वज्र के समान कठोर भुजा वाला। वज्रहस्तः = वज्र को हाथ में धारण करने वाला।

**हिन्दी व्याख्या** — इस इन्द्र के लिये द्युलोक और पृथिवी लोक भी प्रणाम करने के लिये स्वयं झुक जाते हैं। इसके बल से पर्वत भी भय खाते हैं। जो इन्द्र सोम रस का पान करने वाला है, दृढ़ अङ्गो वाला है, वज्र के समान कठोर भुजाओं वाला है, और जो हाथ में वज्र को धारण किये हुए है, हे असुरो ! वही इन्द्र है।

**व्याकरण —**

**द्यावाचिदस्मै पृथिवी** — द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिवी। द्वन्द्व समास। वैदिक व्यत्यय के अनुसार समस् पदों के बीच में 'चिदस्मै' पद आ गये हैं।

**भयन्ते** — 'भी भये' धातु, लट लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन में वैदिक प्रयोग। लोक में 'विभ्यति' रूप होगा।

**सोमपाः** — सोमं पिबति अर्थ में सोम + पा + क्विप्।

**निचितः** — नि + चि + क्त।

**विशेष** — सायण ने 'निचित' का अर्थ 'दृढ़ अङ्गों वाला' किया है। परन्तु मैकडोनल ने एक शब्द का अर्थ 'जाना गया' किया है। वे 'सीमपानिचितः' को समस्त पद मानकर इसका अर्थ 'जो सोमपान करने वाला जाना गया है' करते हैं। पीटर्सन और मैकडोनल ने 'वज्रबाहुः और वज्रहस्तः' को एक ही अर्थ का सूचक माना है।

**मण्डल २****सूक्त १२****मंत्र १४****संहिता-पाठः**

यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं सः शसन्त यः शशमानमूती।

यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः॥

**पद-पाठः**

यः। सुन्वन्तम्। अवति। यः। पचन्तम्। यः। शसन्तम्। यः। शशमानम्। ऊती। यस्य। ब्रह्म। वर्धनम्। यस्य। सोमः। यस्य। इदम्। राधः। जनासः। इन्द्रः॥१४॥

**अन्वय** — यः सुन्वन्तम् अवति, यः पचन्तम्, यः ऊती शसन्तम्, यः शशमानम्, ब्रह्म यस्य वर्धनम्, यस्य सोम, यस्य इदम् राधः, जनासः सः इन्द्रः।



## दयानन्द-भाष्य

(यः) (सुन्वन्तम्) सर्वस्य सुखायाभिषवं निष्पादयन्तम् (अवति) रक्षति (यः) (पचन्तम्) परिपक्वं कुर्वन्तम् (यः) (शंसन्तम्) प्रशंसा कुर्वन्तम् (यः) (शशमानम्) अधर्ममुल्लङ्घ्य (ऊती) रक्षणाद्यया क्रियया (यस्य) (ब्रह्म) वेदः (वर्धनम्) (यस्य) जगदीश्वरस्य (सोमः) चन्द्रौषधिगणः (यस्य) (इदम्) (राधः) धनम् (सः) (जनासः) (इन्द्रः) ॥१४॥

भावार्थ — हे मनुष्या येन परमात्मना वेदोपदेशाद्वारा मनुष्योन्नातिः कृता येन धार्मिका रक्ष्यन्ते दुष्टाचारास्ताडयन्ते यस्येदं जगत्सर्वमेश्वर्यमस्ति तमात्मसु सततं ध्यायत ॥१४॥

हि०भावार्थ — हे मनुष्यो! जिस परमात्मा ने वेदोपदेश द्वारा मनुष्यों की उन्नति की वा जिससे धर्मात्मा जन पलते व जिससे दुष्टाचरण करने वाले ताड़ना पाते वा जिसका यह सब जगत् ऐश्वर्य रूप है, उसका ध्यान अपने अपने आत्माओं में निरन्तर करो ॥१४॥

## सायण-भाष्य

यः सुन्वन्तं सोमाभिषवं कुर्वन्तं यजमानमवति रक्षति । यश्च पुरोडाशादीनि हवीषि पचन्तं यश्च ऊती उतये । सुपां सुलुगिति (वपा० ७.१.३६) चतुर्थ्याः पूर्वसवर्णदीर्घः । स्वरक्षायै शस्त्राणि शंसन्तं यश्च शशमानमवति । स्तोत्रं कुर्वाणं रक्षति । ब्रह्म परिवृढं स्तोत्रं यस्य वर्धनं वृद्धिकरं भवति । तथा यस्य सोमो वृद्धिहेतुर्भवति । यस्य चेदमस्मदीयं राधः पुरोडाशादिलक्षणमन्नं वृद्धिकरं भवति स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम् ।

शब्दार्थ — सुन्वन्तम् = सोम रस निकालने वाले को । अवति = रक्षा करता है । पचन्तम् = हवियों को पकाने वाले की । शंसन्तम् = स्तुति करने वाले की । शशमानम् = स्तोत्र पढ़ने वाले की, यज्ञ करने वाले की । ऊती = रक्षा करने के लिये । ब्रह्म = ब्रह्मा नामक स्तोत्र । वर्धनम् = बढ़ाने वाला । राधः = आदि अन्न ।

हिन्दी व्याख्या — जो सोम का रस निकालने वाले यजमान की रक्षा करता है जो पुरोडाश आदि हवियों को पकाने वो यजमान की रक्षा करता है, जो रक्षा करने के लिये स्तुति करने वाले यजमान की रक्षा करता है, जो स्तोत्र ब्रह्म नामक स्तोत्र जिसकी बढ़ाते हैं, सोम रस जिसका बढ़ाने वाला है, यह सब पुरोडाश आदि अन्न जिसके हैं, हे असुरो ! वही इन्द्र है ।

## व्याकरण —

सुन्वन्तम् — सु + शतृ (शु का आगम और नु के उ को व), द्वितीया विभक्ति का एकवचन ।

पचन्तम्, शंसन्तम् — पच् और शंस् धातु + शतृ = पचत् और शंसत् । द्वितीया का एकवचन ।

शशमानम् — शम् + कानच् ।

ऊती — 'अव रक्षणे' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय और निपातानात् 'ऊति' । चतुर्थी का



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

एकवचन वैदिक रूप ।

वर्धनम् — वृध् + ल्युट् (अम) वर्धन ।

राधः — राध + असुन् = राधस् ।

**विशेष** — सायण ने 'शशमानम्' का अर्थ 'स्तौत्र पढने वाला और पीटर्सन एवं मैकडानल ने यज्ञ को सम्पन्न करने वाला, (Who has prepared the sacrifice) किया है। 'शशमानम्' का मूल अर्थ to work, to labour या to be active है। 'ऊती' की तृतीया का एकवचन मान कर इसका अर्थ 'सहायता से' भी किया गया है।

मण्डल २

सूक्त १२

मंत्र १५

संहिता-पाठः

यः सुन्वते पचते दुध आ चिद् वाजं दर्दषि स किलांसि सत्यः ।

वयं त इन्द्र विश्वहं प्रियासः सुवीरांसो विदथमा वदेम ॥

पद-पाठः

यः । सुन्वते । पचते । दुधः । आ । चित् । वाजम् । दर्दषि । सः । किल । असि । सत्यः । वयम् । ते । इन्द्र । विश्वहं । प्रियासं । सुवीरांसः । विदथम् आ । वदेम् ॥१५॥

**अन्वय** — दुधः य सुन्वते पचते चित् वाजम् आदर्दषि, किल सः सत्यः असि । इन्द्र । वयम् ते प्रियासः सुवीरांसः विश्वह विदथम् आ वदेम् ।

**दयानन्द-भाष्य**

(यः) (सुन्वते) अभिषवं कुर्वते (पचते) परिपक्वं संपादयते (दुधः) दुःखेन धर्त्त योग्यः । अत्र छान्दसो वर्णलोपो वेति वर्णलोपो घञर्थे कविधानमिति धृधतोः कः प्रत्ययः । (आ) समन्तात् (चित्) अपि (वाजम्) सर्वेषां वेगम् (दर्दषि) भृशं विदृणासि (यः) (किल) (असि) (सत्यः) त्रैकाल्याऽबाध्यः (वयम्) ते तव (इन्द्र) परमेश्वर्यप्रद (विश्वह) विश्वेषु अहस्म । अत्र छान्दसो वर्णलोपो वेत्यलोपः सुपां सुलुगिति विभक्तेर्लुक् । (प्रियासः) प्रीताः कामयमानाः (सुवीरांसः) शोभना वीरा येधान्ते (विदथम्) विज्ञानस्वरूपम् (श्रा) (वदेम) उपदिशेम ॥१५॥

**भावार्थ** — हे मनुष्याः यः परमेश्वरो मूखैरधर्मात्मभिर्ज्ञातुमशक्यः सर्वस्य जगतः सन्धाता विच्छेदको विज्ञानस्वरूपोऽविनाश्यस्ति तमेव प्रशंसतोपाध्वं च ॥१५॥

**हि०भावार्थ** — हे मनुष्यों! जो परमेश्वर मूर्ख अधर्मियो से जाना नहीं जा सकता और वह सब जगत का यथातथ्य रचने वाला वा विनाश करने वाला विज्ञान स्वरूप अविनाशी है उसी की प्रशंसा और उपासना करो ॥१५॥

**सायण-भाष्य**

इदानीमृषिः साक्षात् कृतमिन्द्र प्रति प्रब्रूते । हे इन्द्र ! यो दुधो दुर्धरः सन् सुन्वते सोमाभिषव कुर्वते पुरोडाशादिहवीभिः पचते यजमानाय वाजमन्नं बलं वा आददर्षि भृशं



## इन्द्र सूक्त ( मण्डल-२, सूक्त-१२ )

प्रापयसि स तादृशस्त्वं सत्यो यथार्थभूतोऽसि । न पुनर्नास्तीति बुद्धियोग्योऽसि । किलेति प्रसिद्धाः । ते तव प्रियाः सुवीरासः कल्याणपुत्रपौत्राः सन्तो वयं विश्वह सर्वेष्वहः सु विदथं स्तोत्रम् आवेदम् ब्रूयाम ।

**शब्दार्थ** — सुन्वते = सोम का अभिषव करने वाले के लिये । पचते = हवियों को पकाने वाले के लिये । दुध्रः = दुर्धर, असह्य प्रभाव डाला । वाजम् = बल, अन्न । दर्दषि= देता है । विश्वह =सब दिनों में । प्रियासः = प्रिय होते हुये । सुवीरासः = उत्तम पुत्र-पौत्रों से युक्त होते हुये । विदथम् = स्तुति को । आवेदम् = अच्छी प्रकार से गाते रहें ।

**हिन्दी व्याख्या** — दुर्धर अर्थात् असह्य प्रभाव वाला होता हुआ जो इन्द्र सोम अभिषव करने वाले और पुरोडाश आदि हवियों को पकाने वाले यजमान के लिये बल या अन्न को प्रदान करता है, निश्चय से वह तू सत्य ही है, अर्थात् तेरी सत्ता वास्तविक है । हे इन्द्र ! हम तुम्हारे प्रिय होते हुए उत्तम पुत्र पौत्रों से युक्त होते हुए सब दिनों में अर्थात् सब तुम्हारी स्तुति को अच्छी प्रकार से गाते रहे ।

**व्याकरण** —

सुन्वते, पचते — सु + श्नु+शतृ, पच्+शप्+शतृ । चतुर्थी विभक्ति का एकवचन ।

दुध्रः — दुर् + धृ + क (अ) । निपातनात् 'दुर्' के 'र्' का लोप ।

सत्यः — यङ् लुगन्त 'दृ' धातु, लट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

प्रियासः, सुवीरासः — प्रथमा विभक्ति, बहुवचन । वैदिक रूप । लोक में प्रियः और सुवीराः होगा ।

विश्वह — विश्वानि अहानि अर्थ में छान्दस रूप ।

विदथम् — 'विद्' धातु वैदिक निपातनात् रूप बना ।

**विशेष** — पीटर्सन ने 'दुध्र' का अर्थ शक्तिशाली देवता (mighty god) और मैक्डानल ने अति भयानक (most fierce) किया है । मैक्डानल के अनुसार 'वाजम्' का अर्थ 'लूटा हुआ धन' (booty) है, तथा 'वाजम् आदर्दषि' का अर्थ है — जो इन्द्र लूटे हुये धन को देवताओं को जबरदस्ती देता है ।

इस अन्तिम श्लोक में वर्णन है कि इस प्रकार गृत्समद ऋषि की स्तुतियों से प्रसन्न होकर इन्द्र उनके समक्ष उपस्थित हुये ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****रुद्र सूक्तम्**

देवता—इन्द्रः

ऋषि—गृत्समद

छन्द—त्रिष्टुप्

मण्डल—२

सूक्त—३३

मन्त्र—१

संहिता पाठ

आ ते पितॄर्मरुतां सुम्नमेतु मा नः सूर्यस्य सन्दृशो युयोथाः ।  
अभि नो वीरो अर्वति क्षमेत् प्र जायेमहि रुद्र प्रजाभिः ॥१॥

पदपाठ —

आ । ते । पितॄः । मरुताम् । सुम्नम् । एतु । मा । नः । सूर्यस्य । सन्दृशः । युयोथाः । अभि ।  
नः । वीरः । अर्वति । क्षमेत् । प्र । जायेमहि । रुद्र । प्रजाभिः ॥

अन्वय — (हे) मरुतां पितः, ते सुम्नम् आ एतु । सूर्यस्य सन्दृशः नः मा युयोथाः । नः वीरः  
अर्वति अभि क्षमेत् । (हे) रुद्र (वयम्) प्रजाभिः प्रजायेमहि ।

दयानन्द भाष्य —

(आ) समन्तात् (ते) तव (पितः) पितृस्वरूप (मरुताम्) मनुष्याणाम् (सुम्नम्)  
सुखम् (एतु) प्राप्नोतु (मा) (नः) अस्मभ्यम् (सूर्यस्य) सूर्यस्येव वर्तमानस्य (सन्दृशः) यः  
सम्यक् पश्यति तस्य (युयोथाः) पृथक् कुर्याः (अभि) (नः) अस्माकम् (वीरः) शुभगुणव्यापी  
(अर्वति) उत्तमेऽश्वे स्थित्वा (क्षमेत्) सहेत (प्र) (जायेमहि) (रुद्र) दुष्टानां रोदयितः  
(प्रजाभिः) सन्तानादिभिः ॥

भावार्थ — सर्वे मनुष्याः परमेश्वरं परमं पितरं न्यायकारिणं मत्वा सुखमभिवर्द्धयन्तु  
कदाचिदीश्वरं मत्वा विरुद्धा मा भवन्तु सहनशीला भूत्वा वीरत्वं संपाद्य प्रजया सह  
सुखयन्तु ।

भावार्थ — सब मनुष्य परमेश्वर को परमपिता न्यायकारी मान कर सुख बढ़ावें कभी ईश्वर  
को मानकर विरुद्ध न हों, सहनशील होकर वीरता सिद्ध कर प्रजा के साथ सुखी हों ।

सायण भाष्य —

हे मरुतां पितः मरुत्संज्ञानां देवानामुत्पादक रुद्र । 'परमपि छन्दसि' इति  
षष्ठ्यन्तस्य पूर्वमन्त्रिताङ्गवद्भावात् सर्वानुदात्तत्वम् । ते त्वदीयमस्मभ्यं दातव्यं सुम्नं सुखम्  
आ एतु आगच्छतु । रुद्रस्य च मरुतां पितृत्वम् 'इदं पित्रे मरुताम्' (ऋ०सं० १.११४.६)  
इत्यत्राख्यायिकामुखेनावदिष्टम् । तथा त्वं नः अस्मान् सूर्यस्य सन्दृशः सन्दर्शनात् मा युयोथाः  
मा पृथक्कार्षीः । 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' । लङि छान्दसः शपः श्लुः । 'छन्दस्युभयथा  
इत्यार्धधातुकत्वेन डित्त्वाभावात् गुणः । अर्वति शत्रौ । 'भ्रातृव्यो वा अर्वा' (तै०सं० ६.३.८.४)  
इति श्रुतेः । नः अस्माकं वीरः वीर्यवान् पुत्रादिः अभि क्षमेत् अभिभवतु । यद्वा वीरस्त्वं  
नोऽस्मानभिक्षमेथाः अस्मान् कृतापराधानभिक्षमस्व । हे रुद्र प्रजाभिः पुत्रपौत्रादिभिः प्र जायेमहि  
प्रभूताः स्याम ।



## रुद्र सूक्त ( मण्डल-२, सूक्त-३३ )

शब्दा० - ते = तुम्हारा, पितर्मरुताम् = हे मरुतों के पिता, सुम्नम् = सुख, आ एतु = आवे, मा = मत, नः = हम लोगों को, सूर्यस्य = सूर्य की, संदृशः = दृष्टि से, युयोथाः = अलग करो, नः = हमारे, वीरः = बहादुर (पुत्र पौत्रादि), अर्वति = शत्रु को, अभिक्षमेत् = पराजित करें, प्र जायेमहि = वृद्धि को प्राप्त करें, रुद्र = हे रुद्र, प्रजाभिः = संतति द्वारा ।

हिन्दी व्याख्या - हे मरुतों के पिता (रुद्र), तुम्हारे (द्वारा प्रदत्त) सुख (हमारे पास) आवे। सूर्य की दृष्टि से हमको अलग मत करो। हमारे वीर (पुत्र, पौत्रादि) शत्रु को पराजित करें, हे रुद्र, हम संतति से वृद्धि को प्राप्त करें।

व्याकरण - पितः - पितृ शब्द, सम्बोधन, एकवचन ।

एतु - इण् धातु, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

युयोथाः - 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' धातु, लङ्लकार, मध्यम पुरुष एक वचन । छान्दस रूप ।

क्षमेत् - क्षम् धातु, विधिलिङ्, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

जायेमहि - जन् धातु, विधिलिङ् उत्तम पुरुष, बहुवचन ।

विशेष - मैक्डानल ने 'सुम्नम्' का अर्थ 'सदिच्छा' (goodwill) किया है। उसने अर्वत् का अर्थ घोड़ा करके तीसरे पाद की व्याख्या इस प्रकार की है - May the hero be merciful to us in regard to our steeds.

मण्डल-२

सूक्त-३३

146294

मन्त्र-२

संहिता पाठ

त्वादत्तेभी रुद्र शन्तमेभिः शतं हिमां अशीय भेषजेभिः ।  
व्य स्मद्वेषो वितरं व्यंहो व्यमीवाश्चातयस्वा विषूचीः ॥२॥

पदपाठ -

त्वाऽदत्तेभिः । रुद्र । शम्ऽतमेभिः । शतम् । हिमां । अशीय । भेषजेभिः । वि । अस्मत् । द्वेषः । विऽतरम् । वि । अंहः । वि । अमीवाः । चातयस्व । विषूचीः ॥

अन्वय - (हे) रुद्र, त्वादत्तेभिः शन्तमेभिः भेषजेभिः (अहम्) शतं हिमाः अशीय । द्वेषः अस्मत् वितरं वि (चातयस्व), अंहः वि (चातयस्व), अमीवाः वि चातयस्व ।

दयानन्द भाष्य -

(त्वादत्तेभिः) त्वया दत्तेभिः (रुद्र) सर्वरोगदोषनिवारक (शन्तमेभिः) अतिशयेन सुखकारकैः (शतम्) (हिमाः) संवत्सरान् (अशीय) प्राप्नुयाम् (भेषजेभिः) औषधैः (वि) (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् (द्वेषः) द्वेष्टन् ईर्ष्यादीन् दोषान् वा (वितरम्) विशेषण तरणीयमुल्लङ्घनीयम् (वि) (अंहः) पापात्मकं कर्म कुपथ्यादिकं वा (वि) (अमीवाः) रोगान् (चातयस्व) याचयस्व । अत्रान्येषामपीति दीर्घः । (विषूचीः) समग्रशरीरव्यापकान् रोगान् ॥



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

भावार्थ — हे वैद्या यूयं अत्युत्तमैरौषधैः सर्वेषां महतो रोगान्निवार्य्य रागद्वेषोन्मादादिदोषांश्च वियोज्य शतवार्षिकान्प्रायो जनान् कुरुत ।।

भावार्थ — हे वैद्य लोगों! तुम अत्युत्तम औषधियों से सबके बड़े बड़े रोगों को निवारण करके रागद्वेषों को और उन्माद आदि दोषों को अलग कर शतवर्ष आयु जिनकी, ऐसे मनुष्यों को सिद्ध करो ।

सायण भाष्य —

हे रुद्र त्वादत्तेभिः त्वया दत्तैः शंतमेभिः अतिशयेन सुख करैः भेषजेभिः भेषजैरौषधैः शतं हिमाः शतं हेमन्तान् शतसंवत्सरान् अशीय व्याप्नुयाम् । अश्नोतेर्लिङि छान्दसो विकरणस्य लुक् । अपि च अस्मत् अस्मत्तः द्वेषः द्वेष्दृन् वि चातयस्व विनाशय । तथा अंहः पापं वितरम् अत्यन्तं विचातयस्व । अमीवाः रोगान् विषूचीः विषु नाना अश्वतीः कृत्स्नशरीरव्यापकान् रोगान् विचातयस्व अस्मत्तः पृथक्कृत्य विनाशय ।।

शब्दा० — त्वादत्तेभिः = तुम्हारे द्वारा प्रदत्त, रुद्र = हे रुद्र, शंतमेभिः = कल्याणकारी, शतम् = सौ, हिमाः = शरद् ऋतु, अशीय = प्राप्त करें, भेषजेभिः = औषधियों से, अस्मत् = हमसे, द्वेषः = शत्रुओं को, वितरम् = अत्यन्त, अंहः = पाप को, अमीवाः = रोगों को, वि चातयस्व = नष्ट करो, विषूचीः = सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहने वाले ।।

हिन्दी व्याख्या — तुम्हारे द्वारा प्रदत्त कल्याणकारी औषधियों से, हे रुद्र, (हम) सौ शरद् ऋतु (वर्ष की आयु) प्राप्त करें । शत्रुओं को हमसे दूर कर अत्यन्त रूप से नष्ट करो; पापों को पूर्णतया नष्ट करो; सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रोगों को नष्ट करो ।

व्याकरण — शंतमेभिः, भेषजेभिः — तृतीया के बहुवचन में वैदिक रूप है । लोक में शंतमैः, भेषजैः रूप बनेंगे ।

त्वादत्तेभिः— त्वया दत्तैः । छान्दस रूप ।

अशीय — अश् धातु, विधिलिङ्, उत्तम पुरुष, एकवचन ।

द्वेषः — द्विष् + विच् = द्वेष । द्वितीया का बहुवचन ।

विचातयस्व—णिजन्त चत् धातु लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

विशेष — मैक्डानल के अनुसार इस मन्त्र का अर्थ कुछ भिन्न है । उसने 'शंतमेभिः' का अर्थ 'लाभदायक प्रभाव रखने वाली' (Most salutary) 'द्विषः' का अर्थ 'घृणा करने वाले' (hatred) और 'अंह' का अर्थ कष्ट (distress) किया है । उसके अनुसार 'विषूचीः' विशेषण नहीं अपितु क्रिया, विशेषण है और 'अमीवाः विचातयस्व विषूचीः' का अर्थ है — Drive away discases in all directions.

मण्डल—२

सूक्त—३३

मन्त्र—३

संहिता पाठ

श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो ।

पर्षिणः पारमंहंसः स्वस्ति विश्वा अभीती रपंसो युयोधि ।।३।।



## रुद्र सूक्त ( मण्डल-२, सूक्त-३३ )

पदपाठ -

श्रेष्ठः। जातस्य। रुद्र। श्रिया। असि। तवःस्तमः। तवसाम्। वज्रबाहो इति वज्रबाहो॥  
पर्षि। नः। पारम्। अंहसः। स्वस्ति। विश्वाः। अभीतीः। रपसः। युयोधि॥

अन्वय - (हे) रुद्र, जातस्य श्रिया श्रेष्ठः असिः (हे) वज्रबाहो, तवसां तवस्तमः (असि);  
(अत एव) नः अंहसः पारं स्वस्ति पर्षि (तथा) रपसः विश्वा अभीतीः युयोधि।

दयानन्द भाष्य -

(श्रेष्ठः) अतिशयेन प्रशंसितः (जातस्य) प्रसिद्धस्य जगतो मध्ये (रुद्र) रोगाणां प्रलयकृत् (श्रिया) शोभया लक्ष्म्या वा (असि) (तवस्तमः) अतिशयेन बली (तवसाम्) बलिनाम् (वज्रबाहो) वज्रवदौषधं बाहौ यस्य तत्सम्बुद्धौ (पर्षि) पारयसि (नः) अस्मान् (पारम्) (अंहसः) कुपथ्यजन्याऽपराधात् (स्वस्ति) सुखम् (विश्वाः) सर्वाः (अभीतीः) अभितः सर्वत इत्या प्राप्त्या (रपसः) पापस्य (युयोधि) पृथक् करोषि॥

भावार्थ - ये स्वयमरोगाः शोभमाना बलिष्ठा वैद्या अन्यानरोगान् कृत्वा सततं सुखयन्ति ते सर्वैः सर्वदा सत्कर्तव्याः।

भावार्थ - जो आप रोगरहित शोभते हुए अतीव बलवान् हैं औरों को रोगरहित करके निरन्तर सुखी करते हैं, वे सबको सर्वदा सत्कार करने योग्य हैं।

सायण भाष्य -

हे रुद्र जातस्य उत्पन्नस्य सर्वस्य जगतो मध्ये श्रिया ऐश्वर्येण श्रेष्ठः प्रशस्यतमः असि भवसि। तथा हे वज्रबाहो आयुधहस्त रुद्र तवसां प्रवृद्धानां मध्ये तवस्तमः अतिशयेन प्रवृद्धोऽसि। स त्वं नः अस्मान् अंहसः पापस्य पारं तीरं स्वस्ति क्षेमेण पर्षि पारय। तथा रपसः पापस्य विश्वाः सर्वाः अभीतीः अभिगमनानि युयोधि पृथक्कुरु॥ यौतेश्छान्दसः शपः श्लुः। 'वा छान्दसि' इति अपित्वस्य विकल्पनात् छित्वाभावे 'अडितश्च' इति हेर्धिः॥

शब्दा० - श्रेष्ठः = सबसे अच्छा, जातस्य = उत्पन्न होने वाले का, रुद्र = हे रुद्र, श्रिया = यश से, असि = हो, तवस्तमः = सबसे शक्तिमान् तवसाम् = शक्तिशालियों में, वज्रबाहो = हे वज्रधारण करने वाले, पर्षि = पार करो, नः = हम लोगों को, पारम् = पार, अंहसः = पाप से, स्वस्ति = सुरक्षापूर्वक, विश्वाः = सम्पूर्ण, अभीतीः = प्रहारों से, रपसः = पाप से, युयोधि = अलग करो।

हिन्दी व्याख्या - हे रुद्र, यश में उत्पन्न प्राणियों में तुम सर्वश्रेष्ठ हो; हे वज्र धारण करनेवाले, शक्तिशालियों में तुम सबसे शक्तिमान् हो। सुरक्षापूर्वक पाप के समुद्र से हमें पार करो; पाप के सम्पूर्ण प्रहारों से दूर करो।

व्याकरण - जातस्य - जन+क्त = जात। षष्ठी का एकवचन

तवस्तमः - तवस्+तमप् = तवस्तम।

पर्षि - पृ धातु, लोट्लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन, वैदिक रूप।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

अभीती: — अभि+इ+क्तिन् = अभीति (द्वितीया का बहुवचन)

युयोधि — यु धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन, वैदिकरूप।

विशेष — मैक्डानल के अनुसार, 'श्रिया' का अर्थ 'यश' (glory) और 'रपसः' का अर्थ बुराईयाँ (mischief) है।

मण्डल—२

सूक्त—३३

मन्त्र—४

संहिता पाठ

मा त्वां रुद्र चुक्रुधामा नमोभिर्मा दुष्टुती वृषभ मा सहूती।

उन्नो वीराँ अर्पय भेषजेभिर्भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि॥४॥

पदपाठ —

मा। त्वा। रुद्र। चुक्रुधाम। नमःऽभिः। मा। दुःस्तुती। वृषभ। मा। सहूती। उत्। नः। वीरान्। अर्पय। भेषजेभिः। भिषक्स्तमम्। त्वा। भिषजाम्। शृणोमि॥

अन्वय — रुद्रात्वा नमोभिः मा चुक्रुधाम। वृषभ! दुष्टुती मा सहूती मा। नः वीरान् उत् भेषजेभिः अर्पय। त्वा भिषजाम् भिषक्तमम् शृणोमि।

दयानन्द भाष्य —

(मा) (त्वा) त्वाम् (रुद्र) कुपथ्यकारिणां रोदयितः (चुक्रुधाम) कुपिता भवेम। अत्राऽन्येषामपीति दीर्घः। (नमोभिः) सत्कारैः (मा) (दुष्टुती) दुष्टया स्तुत्या। अत्र सुपामिति पूर्वसवर्णः। (वृषभ) श्रेष्ठ (मा) (सहूती) समानया स्पर्द्धया (उत्) (नः) अस्मभ्यम् (वीरान्) अरोगान् बलिष्ठान् पुत्रादीन् (अर्पय) समर्पय (भेषजेभिः) रोगनिवारकैरौषधैः (भिषक्तमम्) वैद्यशिरोमणिम् (त्वा) त्वाम् (भिषजाम्) वैद्यानां मध्ये (शृणोमि)॥

भावार्थ — केनचिद्वैद्येन सह विरोधः कदाचिन्न कर्तव्यो नैतेन सहेर्ष्या कार्य्या किन्तु प्रीत्या सर्वोत्तमो वैद्यः सेवनीयो येन रोगेभ्यः पृथग् भूत्वा सुखं सततं वर्द्धेत॥

भावार्थ — किसी को वैद्य के साथ विरोध कभी न करना चाहिये न इसके साथ ईर्ष्या करनी चाहिये किन्तु प्रीति के साथ सर्वोत्तम वैद्य की सेवा करनी चाहिये जिससे रोगों से अलग होकर सुख निरन्तर बढ़े॥

सायण भाष्य —

हे रुद्र त्वा त्वां नमोभिः अयथाक्रियमाणैर्नमस्कारैर्हविर्भिर्वा मा चुक्रुधाम मा क्रोधयाम क्रुद्धं मा कार्ष्ण्यम्। 'क्रुध कोपे'। अस्माण्यन्तात् लुङि चङिरूपम्। हे वृषभ कामानां वर्षितः दुष्टुती दुःस्तुत्या अशोभनया स्तुत्या मा चुभेधामेत्येव। तथा सहूती सहूत्या विसदृशैरन्यैर्देवैः सहाह्वानेन मा क्रोधयाम। श्रेष्ठो हि स्वस्मान्यूनेन सहाह्वाने क्रुद्धो भवति। स त्वं नः अस्माकं वीरान् पुत्रान् भेषजेभिः त्वदीयैर्क्रुषजैरौषधैः उत् अर्पय उत्कृष्टं संयोजय। हे रुद्र त्वा त्वां भिषजां चिकित्साभिज्ञानां मध्ये भिषक्तमम् अतिशयेन भेषज्यस्य कर्तारं शृणोमि। 'प्रथमो दैव्यो भिषक्' (तै०सं० ४.५.१.२; वा०सं० १६.५) इति च मन्त्रान्तरेऽप्युक्तम्॥



शब्दा० - मा = मत, त्वा = तुमको, चुक्रुधाम = क्रोधित करें, उत्तेजित करें, नमोभिः = (अधूरी) स्तुतियों द्वारा, मा = मत, दुष्टुती = अयोग्य स्तुतियों द्वारा, वृषभ = हे शक्तिशाली, मा = मत, सहूती = अन्य महत्त्वहीन देवताओं की एक साथ स्तुति द्वारा, नः = हमारे, वीरान् = पुत्र पौत्रादिकों को, उदर्पय = उत्कृष्ट करो, भेषजेभिः = औषधियों से, भिषक्तमम् = सर्वश्रेष्ठ वैद्य, त्वा = तुमको, भिषजाम् = वैद्यों में, शृणोमि = सुनता हूँ ।

हिन्दी व्याख्या - हे रुद्र, (अपूर्ण) प्रार्थनाओं से (हम) तुमको उत्तेजित न करें; हे शक्तिशाली, अयोग्य स्तुतियों द्वारा न (क्रोधित करें); अन्य महत्त्वहीन देवताओं की) सहस्तुतियों द्वारा न (क्रोधित करें) । हमारे वीरों (पुत्र पौत्रादिकों) को अपनी औषधियों से उत्कृष्ट करो, (क्योंकि) तुमको वैद्यों में सबसे बड़ा वैद्य सुनता हूँ ।

व्याकरण - चुक्रुधाम - क्रुध् धातु, लुङ् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन ।

दुष्टुती - दुस्+स्तुति = दुष्टुती

सहूती - ह्वे+क्तिन् = हूति । समाना हूतिः = सहूति । तृतीया का एकवचन, वैदिक रूप ।

भेषजेभिः - भेषज का तृतीया का एकवचन । वैदिक रूप ।

अर्पय - णिजन्त ऋ धातु, लोटलकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

विशेष - यहाँ मैकडानल ने 'वृषभ' का अर्थ 'बैल'(bull) और 'वीर' का अर्थ 'यौद्धा' (hero) किया है ।

मण्डल-२

सूक्त-३३

मन्त्र-५

संहिता पाठ

हवींमभिर्हवन्ते यो हविर्भि रव स्तोमेभी रुद्रं दिषीय ।

ऋदूदरः सुहवो मा नो अस्यै बभ्रुः सुशिप्रो रीरधन्मनायै ॥५॥

पदपाठ -

हवींमभिः । हवन्ते । यः । हविःभिः । अव । स्तोमेभिः । रुद्रम् । दिषीय ॥ ऋदूदरः । सुहवः । मा । नः । अस्यै । बभ्रुः । सुशिप्रः । रीरधत् । मनायै ॥

अन्वय - यः हवीमभिः हविर्भिः हवते (तम्) रुद्रं स्तोमेभिः अव दिषीय । ऋदूदरः सुहवः बभ्रुः सुशिप्रः नः अस्यै मनायै मा रीरधत् ।

दयानन्द भाष्य -

(हवीमभिः) सुष्ट्वौषधदानैः (हवते) स्पर्द्धते (यः) जनः (हविर्भिः) होतुं ग्रहीतुमर्हैः (अवः) (स्तोमेभिः) श्लाघाभिः (रुद्रम्) वैद्यम् (दिषीय) खण्डयेयम् (ऋदूदरः) मृदूदरः । ऋदूदरः सोमो मृदूदरो मृदुरुदरेष्विति [वार निरुक्ते ६।४।। (सुहवः) सुष्टुदानः (मा) (नः) अस्माकम् (अस्यै) (बभ्रुः) पालकः (सुशिप्रः) सुन्दराननः (रीरधत्) हिंस्यात् (मनायै)



मन्यमानायै प्रज्ञायै ।।

भावार्थ — ये वैद्या रोगानिवारणेनास्माकं प्रज्ञां वर्द्धयन्ति तैस्सह वयं कदाचिन्न विरुध्येम ।

भावार्थ — जो वैद्यजन रोग निवारण से हमारी बुद्धि को बढ़ाते हैं उनके साथ हम लोग कभी न विरोध करें ।।

सायण भाष्य —

यः रुद्रः हविर्भिः चरुपुरोडाशादिभिः सहितैः हवीमभिः आह्वानैः स्तुतिलक्षणैः हवते आहूयते स्तूयते । व्यत्ययेन कर्मणि कर्तृप्रत्ययः । 'बहुलं छन्दसि' इति ह्वयतेः संप्रसारणम् । तं रुद्रं स्तोमेभिः स्तोत्रैः अव दिषीय अवखण्डयामि पृथक्करोमि । अपगतक्रोधं करोमीति यावत् । 'दो अवखण्डने' । व्यत्ययेनात्मनेपदम् । 'बहुलं छन्दसि' इतीत्वम् । ऋदूदरः । 'ऋदूदरो मृदूदरः' (निरु० ६.४) इति यास्कः । सुहवः शोभनाह्वानः बभ्रुः भर्ता सर्वस्य बभ्रुवर्णो वा सुशिप्रः । शिप्रे हनू नासिके वा । शोभनशिप्रः । एवंगुणविशिष्टः स रुद्रः अस्थै मनायै । हन्मीति मन्यमाना बुद्धिर्मना । तस्थै नः अस्मान् मा रीरधत् । मा वशं नैषीत् । 'रध हिंसासंराद्धयोः' । अस्माण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् । 'रध्यतिर्वशगमने' इति यास्कः । शब्दा० — हवीमभिः = आह्वानों द्वारा, हवते = पूजा जाता है, यः = जो, हविर्भिः = हविर्द्रव्यों द्वारा, स्तोमेभिः = स्तोत्रों द्वारा, रुद्रम् = रुद्र को, अव दिषीय = शान्त करूँ, ऋदूदरः = उदार, सरल हृदय वाला, सुहवः = आसानी से प्रार्थनाओं को सुनने वाला, मा = मत, नः = हम लोगों को, अस्थै = उस, बभ्रुः = भूरे रंग वाला, सुशिप्रः = सुन्दर ओष्ठ वाला, रीरधत् = शिकार वनावे, मनायै = क्रोध का ।

हिन्दी व्याख्या — (उस) रुद्र को स्तुतियों से शान्त करूँ, जो आह्वानों तथा यज्ञों द्वारा पूजा जाता है । उदार, आसानी से (प्रार्थनाओं को) सुनने वाला, भूरे वर्ण वाला, सुन्दर ओष्ठ वाला (रुद्र) हमको (अपने विख्यात) क्रोध का शिकार न बनावे ।

व्याकरण — हवते — ह्वे धातु (कर्मवाच्य), लट्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन

स्तोमेभिः — स्तोम शब्द, तृतीया विभक्ति, बहुवचन । वैदिक रूप ।

ऋदूदरः — ऋदु उदरं यस्य स ।

दिषीय — 'दिङ्' क्षये या दो 'अवखण्डने' धातु, लिङ् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन । वैदिक रूप है ।

रीरधत् — 'रध् हिंसासंराद्धयोः' धातु लिङ् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन का ण्यन्त रूप ।

विशेष — मैकडोनल ने 'ऋदूदरः' का अर्थ 'दयालु' (Compassionate) और 'सुशिप्रः' का अर्थ 'सुन्दर होठों वाला' (fair lipped) किया है ।



मण्डल-२

सूक्त-३३

मन्त्र-६

संहिता पाठ

उन्मां ममन्द वृषभो मरुत्वान्त्वक्षीयसा वयसा नाधमानम् ।

घृणीव छायामरपा अशीयाविवासेयं रुद्रस्य सुम्नम् ॥१॥

पदपाठ -

उत् । मा । ममन्द । वृषभः । मरुत्वान् । त्वक्षीयसा । वयसा । नाधमानम् । घृणिंइव । छायाम् ।  
अरपाः । अशीय । आ । विवासेयम् । रुद्रस्य । सुम्नम् ॥

अन्वय - वृषभः मरुत्वान् त्वक्षीयसा वयसा नाधमानं मा उत् ममन्द । (अहम्) अरपाः घृणीव  
छायाम् रुद्रस्य सुम्नम् अशीय । (तदर्थं तं रुद्रम्) आ विवासेयम् ।

दयानन्द भाष्य -

(उत्) (मा) माम् (ममन्द) मन्दते कामयते (वृषभः) सुखानां वर्षयिता (मरुत्वान्)  
मनुष्यादिबहुप्रजायुक्तः (त्वक्षीयसा) प्रदीप्तेन (वयसा) आयुषा (नाधमानम्) याचमानम्  
(घृणीव) प्रदीप्तः सूर्य्यइव (छायाम्) गृहम् । छायेति गृहना० ॥ निघं० ३।४॥ (अरपाः)  
अविद्यमानं रपः पापं यस्य सः (अशीय) प्राप्नुयाम् । अत्र संहितायामिति दीर्घः । (आ)  
(विवासेयम्) परिचरेयम् (रुद्रस्य) वैद्यस्य सकाशात् (सुम्नम्) सुखम् ॥

भावार्थ - अत्रोपमालङ्कारः । ये वैद्या अस्माकं रोगान्निवार्य दीर्घायुषो जनान् कुर्वन्ति ते  
सूर्य्य इव प्रदीप्तकीर्तयो भवन्ति ॥

भावार्थ - इस मन्त्र में उपमालङ्कार है । जो वैद्य हमारे रोगों का निवारण कर मनुष्यों को  
दीर्घ आयुवाले करते हैं, वे सूर्य्य के समान प्रकाशित कीर्तिवाले होते हैं ॥

सायण भाष्य -

वृषभः कामानां वर्षिता मरुत्वान् मरुद्भिः पुत्रैर्युक्तो रुद्रः नाधमानं याचमानं मा  
मां त्वक्षीयसा दीप्तेन वयसा अन्नेन उत् ममन्द उत्कर्षेण तर्पयतु । अपि चाहं घृणीव छायां  
यथा सूर्यकिरणसंतप्तः छायां प्रविशति एवं रुद्रस्य सुम्नं सुखम् अरपाः अपापः सन् अशीय  
व्याप्नुयाम् । तदर्थं तं रुद्रम् आ विवासेयं परिचरेयम् । विवासतिः परिचरणकर्मा ।

शब्दा० - मा = मुझको, उत् ममन्द = आनन्दित करे, वृषभः = शक्तिशाली (रुद्र),  
मरुत्वान् = मरुतों के साथ, त्वक्षीयसा = तेजस्वी, वयसा = शक्ति से, नाधमानम् =  
प्रार्थना करने वाले को, घृणीव = सूर्य किरणों से संतप्त व्यक्ति की तरह, छायाम् = छाया  
की, अरपाः = पापरहित होकर, अशीय = प्राप्त करूँ, आ विवासेयम् = सेवा करूँ,  
रुद्रस्य = रुद्र के, सुम्नम् = सुख को ॥

हिन्दी व्याख्या - शक्तिशाली (रुद्र) मरुतों के साथ मुझ स्तुति करने वाले को अपनी  
तेजस्वी शक्ति से आनन्दित करे । मैं (रुद्र की) सेवा करूँ, (ताकि) पापरहित होकर रुद्र  
के सुख को उसी प्रकार प्राप्त करूँ जिस प्रकार सूर्य किरणों से संतप्त (व्यक्ति) छाया में  
(सुख पाता है) ।



व्याकरण — मरुत्वान् — मरुतः अस्य सन्ति । मरुत्+मतुप् (वत्)=मरुतवत् ।  
 त्वक्षीयसा — त्वक्ष्+ईयसुन्=त्वक्षीयस् । तृतीया का एकवचन ।  
 ममन्द — मदि(मन्द) धातु, लिट् लकार, प्रथमपुरुष, एकवचन ।  
 नाधमानम् — नाध्+(शप्)+(मुक्)शानच् = नाधमान ।  
 अशीय — अश् धातु, विधिलिङ्, उत्तमपुरुष, एकवचन ।  
 विवासेयम् — वि+वास् धातु, विधिलिङ्, उत्तमपुरुष, एकवचन ।

विशेष — मैकडानल ने 'त्वक्षीयसा वयसा' का अर्थ 'ओजस्वी शक्ति' (Vigorous force) किया है । उसके अनुसार 'अरपाः' का अर्थ 'अक्षत' (unscathed) और 'सुम्न' का अर्थ 'सद्भावना' (goodwill) है ।

मण्डल-२

सूक्त-३३

मन्त्र-७

संहिता पाठ

क्वस्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः ।  
 अपभर्ता रपसो दैव्यस्या भी नु मां वृषभ चक्षमीथाः ।।७।।

पदपाठ —

क्व । स्यः । ते । रुद्र । मृळयाकुः । हस्तः । यः । अस्ति । भेषजः । जलाषः । अपभर्ता । रपसः ।  
 दैव्यस्य । अभि । नु । मा । वृषभ चक्षमीथाः ।।

अन्वय — (हे) रुद्र, ते स्यः मृळयाकुः हस्तः यः भेषजः जलाषः अस्ति, क्व? (हे) वृषभ, दैव्यस्य रपसः अपभर्ता (त्वं) मा नु अभि चक्षमीथाः ।

दयानन्द भाष्य —

(क्व) कुत्र (स्यः) सः (ते) तव (रुद्र) दुःखनिवारक (मृळयाकुः) सुखयिता (हस्तः) यो हसति सः (यः) (अस्ति) (भेषजः) भिषग् जनः (जलाषः) सुखकर्ता (अपभर्ता) अपबिभर्ति दूरीकरोतीति (रपसः) पापानि (दैव्यस्य) यो देवैः सह वर्तते तस्य (अभि) अभिमुख्ये (नु) सद्यः (मा) माम् (वृषभ) श्रेष्ठ (चक्षमीथाः) सहस्व ।।

भावार्थ — यदाऽध्यापको वैद्यः शिष्यानध्यापयेत्तदा सम्यगध्याप्य पुनः परीक्षयेत् । यो याथातथ्येन प्रश्नोत्तराणि कर्त्ता स्यात्तं वैद्यककार्यं नियुञ्जीध्वम् ।।

भावार्थ — जब अध्यापक वैद्य शिष्यों को पढ़ावे तब अच्छे प्रकार, पढ़ाकर फिर परीक्षा करे । जो यथार्थ प्रश्नोत्तर करने वाला हो उसको वैदिकी (वैद्यकी) करने को आज्ञा देओ ।

सायण भाष्य —

हे रुद्र ते तव मृळयाकुः सुखयिता स्यः सः हस्तः क्व कुत्र वर्तते । यः हस्तः भेषजः भेषज्यकृत् जलाषः सर्वेषां सुखकरः अस्ति भवति । स हस्तो विद्यते एव । तेन हस्तेन मां रक्षेति भावः । अपि च हे वृषभ कामानां वर्षितः दैव्यस्य देवकृतस्य रपसः पापस्य अपभर्ता



अपहर्ता विनाशयिता भूत्वा कृतापराधं मा मां नु क्षिप्रम् अभि चक्षमीथाः अभिक्षमस्व । 'क्षमूष् सहने' । लङि छान्दसः शपः श्लुः । 'बहुलं छन्दसि' इतीडागमः ।।

शब्दा० — क्व = कहाँ, स्यः = वह, ते = तुम्हारा, रुद्र = हे रुद्र, मृळयाकुः = सुखदायी, हस्तः = हाथ, यः = जो, अस्ति = है, भेषजः = स्वास्थ्य देने वाला, जलाषः = शीतलता पहुँचाने वाला, अपभर्ता = दूर करने वाले, रपसः = पाप को, दैव्यस्य = देवताओं द्वारा भेजा हुआ, नु = अभी, मा = मेरे ऊपर, वृषभ = हे शक्तिशाली, अभि चक्षमीथाः = दया करो ।

हिन्दी व्याख्या — हे रुद्र, वह तुम्हारा सुखदायी हाथ, जो सबको स्वास्थ्य एवं शीतलता (आराम) पहुँचाने वाला है, कहाँ है? हे शक्तिशाली, देवताओं द्वारा प्रेषित पाप को (भी) दूर करने वाले (जो तुम हो) मेरे ऊपर दया करो ।

व्याकरण — स्यः — सर्वनाम त्यद् शब्द, पुल्लिङ्ग, प्रथमा का एकवचन ।

अपभर्ता — अप्+भृ+तृच् ।

जलापः — लङ्योरभेदः नियम से 'जलं जडतां स्यति खण्डयति' अर्थ में जल+षो अन्तकर्मणि, क=जलाप ।

चक्षमीथा — 'क्षमूष् सहने' धातु आत्मनेपदी, लोट् लकार, मध्यम पुरुष एकवचन, वैदिक रूप ।

विशेष — मैक्डानल के अनुसार 'मृळयाकुः' का अर्थ 'दयालु' (merciful), 'जलाषः' का अर्थ 'ठण्डक देने वाला' (cooling) और 'रपस' का अर्थ 'क्षत' (injury) है । देवों द्वारा होने वाले क्षत को रुद्र दूर करता है ।

मण्डल-२

सूक्त-३३

मन्त्र-८

संहिता पाठ

प्र बभ्रवे वृषभाय शिवतीचे महो महीं सुष्टुतिमीरयामि ।

नमस्या कल्मलीकिनं नमोभिर्गृणीमसि त्वेषं रुद्रस्य नाम ।।८।।

पदपाठ —

प्र । बभ्रवे । वृषभाय । शिवतीचे । महः । महीम् । सुऽस्तुतिम् । ईरयामि । नमस्य । कल्मलीकिनम् । नमऽभिः । गृणीमसि । त्वेषम् । रुद्रस्य । नाम ।।

अन्वय — बभ्रवे वृषभाय शिवतीचे महः महीं सुऽस्तुतिं प्र ईरयामि । कल्मलीकिनं नमोभिः नमस्य । (वयं) रुद्रस्य त्वेषं नाम गृणीमसि ।

दयानन्द भाष्य —

(प्र) (बभ्रवे) धारकाय (वृषभाय) श्रेष्ठाय (शिवतीचे) यः शिवतिमावरणमञ्चति तस्मै (महः) महते (महीम्) महतीम् (सुष्टुतिम्) शोभनां स्तुतिम् (ईरयामि) प्रेरयामि (नमस्य) नम्रो भव । अत्र संहितायामिति दीर्घः । (कल्मलीकिनम्) देदीप्यमानम् ।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

कल्मलीकिनमिति ज्वलतो नाम ।। निघं० १ ।। १७ ।। (नमोभिः) नमस्कारैः (गृणीमसि) प्रशंसामः (त्वेषम्) प्रकाशमानम् (रुद्रस्य) सदैवस्य (नाम) ।।

भावार्थ — विद्यार्थिनां योग्यताऽस्ति यो विद्या ग्राहयेत्तं सदा सत्कुर्युः । यस्य वैद्यकशास्त्रे प्रसिद्धिरस्ति तस्मादेव वैद्यकविद्याऽध्येतव्या ।।

भावार्थ — विद्यार्थियों की योग्यता है, जो कि विद्या ग्रहण करावे उसका सदा सत्कार करें, जिसकी वैद्यक शास्त्र में प्रसिद्धि है, उसी से वैद्य विद्या का अध्ययन करना चाहिये ।।

### सायण भाष्य —

बभ्रवे विश्वस्य भर्त्रे बभ्रुवर्णाय वा वृषभाय कामानां वर्षित्रे तद्वत्प्रसह्यकारिणे वा श्वितीचे श्वैत्यमञ्चते । 'श्विता वर्णे' । औणादिक इन्द्रप्रत्ययः । श्वितिमञ्चतीत्यञ्चते: 'ऋत्विक्' इत्यादिना क्विन् । चतुर्थ्येकवचने 'अचः' इत्यकारलोपे 'चौ' इति दीर्घत्वम् । उदात्तनिवृत्तिस्वरेण विभक्तेरुदात्तत्वम् । उदात्तनिवृत्तिस्वरेण विभक्तेरुदात्तत्वम् । एवं गुणविशिष्टाय रुद्राय महो महीं महतोऽपि महतीं सुष्टुतिं शोभनस्तुतिं प्र ईरयामि प्रकर्षेणोच्चारयामि । हे स्तोतः कल्मलीकिनम् । ज्वलतो नामधेयमेतत् (निरु० १.१७) । ज्वलन्तम् । कलयति अपगमयति मलमिति कल्मलीकं तेजः । तद्वन्तं रुद्रं नमोभिः नमस्कारैः हविर्भिर्वा नमस्य पूजय । वयं च रुद्रस्य महादेवस्य त्वेषं दीप्तं नाम गृणीमसि गृणीमः संकीर्तयामः । 'गृ' शब्दे । क्रैयादिकः । इदन्तो मसिः । 'प्वादीनां ह्रस्वः' ।।

शब्दा० — बभ्रवे = भूरे वर्णवाले, वृषभाय = शक्तिशाली के लिये, श्वितीचे = सफेद आकृतिवाले, महः = बड़े से (भी), महीम् = बड़ी, सर्वश्रेष्ठ, सुष्टुतिम् = सुन्दर स्तुति को, प्र ईरयामि = प्रकृष्ट रूप से अर्पित करता हूँ, भेजता हूँ, नमस्य = नमस्कार करो, कल्मलीकिनम् = कलुष को नष्ट करने वाले, नमोभिः = स्तुतियों द्वारा, गृणीमसि = गान करते हैं, त्वेषम् = दीप्तिमान्, रुद्रस्य = रुद्र के, नाम = नाम का ।

हिन्दी व्याख्या — भूरे वर्णवाले, शक्तिशाली, सफेद आकृति वाले (रुद्र) को मैं अपनी सर्वश्रेष्ठ सुन्दर स्तुति प्रकृष्ट रूप से अर्पित करता हूँ । कलुष को नष्ट करने वाले (रुद्र) को स्तुतियों द्वारा नमस्कार करो । हम लोग रुद्र के दीप्तिमान् नाम का गान करते हैं ।

व्याकरण — श्वितीचे — 'श्विता वर्णे' धातु से औणादिक 'इन्' प्रत्यय = श्विति । श्वितिम् अञ्चति अर्थ में क्तिन् प्रत्यय — श्वितीच् । चतुर्थी विभक्ति का एकवचन ।

ईरयामि — णिजन्त ईर् धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन ।

कल्मलीकिनम् — कल्मलीक+इनि = कल्मलीकिन् । द्वितीया का एकवचन ।

गृणीमसि — 'गृ सं शब्दने' धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन, वैदिक रूप ।

विशेष — सायण ने 'महोमहीम्' का अर्थ किया है — महतोऽपि महतीम् । परन्तु मैक्डानल इससे सहमत नहीं हैं । वे 'महः' को रुद्र का और 'महीम्' को 'सुष्टुति' का विशेषण



मानकर अर्थ करते हैं। 'महान्' रुद्र की महान् स्तुति (a mighty enlogy of the mighty one) उनके अनुसार 'त्वेष्टम्' का अर्थ भयानक (terrible) है।

मण्डल-२

सूक्त-३३

मन्त्र-९

संहिता पाठ

स्थिरेभिः अङ्गैः पुरुरूपं उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः ।  
ईशानादस्य भुवनस्य भूरे न वा उ योषद् रुद्रादसुर्यम् ॥९॥

पदपाठ -

स्थिरेभिः । अङ्गैः । पुरुरूपः । उग्रः । बभ्रुः । शुक्रेभिः । पिपिशे । हिरण्यैः ॥ ईशानात् । अस्य ।  
भुवनस्य । भूरेः । न । वै । उँ । इति । योषत् । रुद्रात् । असुर्यम् ॥

अन्वय - पुरुरूपः उग्रः बभ्रुः स्थिरेभिः अङ्गैः शुक्रेभिः हिरण्यैः पिपिशे । अस्य भुवनस्य  
ईशानात् भूरेः रुद्रात् असुर्यं न वै उ योषत् ।

दयानन्द भाष्य -

(स्थिरेभिः) दृढैः (अङ्गैः) अवयवैः (पुरुरूपः) बहुरूपयुक्तः (उग्रः) क्रूरस्वभावः  
(बभ्रुः) धर्ता (शुक्रेभिः) शुद्धैर्वीर्यैः (पिपिशे) पिश्यात् (हिरण्यैः) किरणैरिव तेजोभिः (ईशानात्)  
जगदीश्वरात् (अस्य) (भुवनस्य) सर्वाधिकरणस्य लोकस्य (भूरेः) बहुरूपस्य (न) इव (वै)  
निश्चये (उ) वितर्के (योषत्) वियोजयेः (रुद्रात्) जगदीश्वरात् (असुर्यम्) असुरस्य स्वम् ॥  
भावार्थ - अत्रोपमालङ्कारः । ये तीव्रमृदुस्वभावास्ते यथा जगदीश्वरनिर्मितानि भूम्यादीनि  
वस्तूनि दृढानि सुन्दराणि सन्ति तथा बलिष्ठैः प्रशस्यैः सेनाङ्गैः दुष्टानां विजयं कृत्वाऽसुरभावं  
निवारयेयुः ।

भावार्थ - इस मंत्र में उपमालङ्कार है। जो तीव्र और मृदु स्वभाव वाले हैं, वे जैसे  
जगदीश्वर के बनाये हुए भूमि आदि पदार्थ दृढ़ और सुन्दर हैं, वैसे बलिष्ठ प्रशंसनीय  
सेनाङ्गों से दुष्टों को विजय कर असुरभाव का निवारण करें।

सायण भाष्य -

स्थिरेभिः स्थिरैः दृढैः अङ्गैः अवयवैर्युक्तः पुरुरूपः अष्टमूर्त्यात्मकैर्बहुभी रूपैरुपेतः  
उग्रः उद्गूर्णस्तेजस्वी बभ्रुः भर्ता बभ्रुवर्णो वा रुद्रः शुक्रेभिः दीप्तैः हिरण्यैः  
हिरण्यैर्हितरमणीयैर्वालङ्कारैः पिपिशे दीप्यते । 'पिश अवयवे' । कर्मणि लिट् । ईशानात्  
ईश्वरात् अस्य भुवनस्य भूतजातस्य भूरेः भर्तुः रुद्रात् असुर्यम् । 'असु क्षेपणे' । असेरुर्न ।  
असुरः क्षेप्ता । 'तत्र साधुः' । असुर्ये बलं न वा उ योषत् नैव पृथक् भवति । यौतेर्लेटयडागमः ।  
'सिब्वहुलं लेटि' इति सिप् ॥

शब्दा० - स्थिरेभिः = दृढ़, अङ्गैः = अङ्गों से युक्त, पुरुरूपः = अनेक रूप वाले, उग्रः  
= भयानक, बभ्रुः = भूरे रंग वाले, शुक्रेभिः = चमकते हुए, पिपिशे = अलंकृत किया है,  
हिरण्यैः = स्वर्णभूषणों से, ईशानात् = शासक से, अस्य = इस, भुवनस्य = लोक के,



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

भूरेः = सबके मालिक, न = नहीं, वै = पूर्ववर्ती शब्द पर जोर देने वाला एक निपात, योषत् = अलग होती है, असुर्यम् = प्राणदातृ शक्ति ।।

हिन्दी व्याख्या — दृढ़ अङ्गों से युक्त, अनेक रूपवाले, भयानक, भूरे रंगवाले (रुद्र) ने चमकते हुये स्वर्णाभूषणों से अपने को अलंकृत किया है। इस लोक के शासक, सबके मालिक रुद्र से प्राणदातृ शक्ति कभी अलग नहीं होती।

व्याकरण — पिपिशे — 'पिश्' धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

असुर्यम् — 'असु क्षेपणे' धातु — 'उरन्' प्रत्यय। अस्+ उरन् (उर) = असुर।

असुरे साधुः अर्थ में 'तत्र साधुः' से यत् प्रत्यय = असुर्य।

योषत् — 'यु मिश्रण मिश्रणयोः' धातु से लेट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

विशेष — मैक्डानल ने 'भूरेः को भुवनस्य' का विशेषण बताकर इसका अर्थ 'महान' किया है (great world)। 'असुर्यम्' का अर्थ उसने दिव्य साम्राज्य (divine dominion) किया है।

मण्डल—२

सूक्त—३३

मन्त्र—१०

संहिता पाठ

अर्हन्विभर्षि सायंकानि धन्वाहन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।

अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति॥१०॥

पदपाठ —

अर्हन्। विभर्षि। सायंकानि। धन्वं। अर्हन्। निष्कम्। यजतम्। विश्वरूपम्। अर्हन्। इदम्। दयसे। विश्वम्। अभ्वम्। न। वै। ओजीयः। रुद्र। त्वत्। अस्ति॥

अन्वय — (हे रुद्र) अर्हन् (त्वं) सायकानि धन्व विभर्षिः अर्हन् (त्वं) यजतं विश्वरूपं निष्कं (विभर्षि); अर्हन् (त्वं) इदं विश्वम् अभ्वं दयसे; (हे) रुद्र त्वद् ओजीयः न वै अस्ति।

दयानन्द भाष्य —

(अर्हन्) योग्यो भवान् (विभर्षि) धरसि (सायकानि) शस्त्रास्त्राणि (धन्व) धनुरादीनि (अर्हन्) (निष्कम्) सुवर्णभूषणम् (यजतम्) सङ्गन्तव्यम् (विश्वरूपम्) विचित्रस्वरूपम् (अर्हन्) (इदम्) (दयसे) (विश्वम्) सर्वं जगत् (अभ्वम्) महत् (न) निषेधे (वै) निश्चये (ओजीयः) बलिष्ठम् (रुद्र) दुष्टानां रोदयितः (त्वत्) (अस्ति)॥

भावार्थ — ये योग्यतां प्राप्यायुधानि सेना राज्यं धनञ्च धरन्ति सर्वेषां धर्मात्मनामुपरि दयां च कुर्वन्ति ते बलिष्ठा जायन्ते॥

भावार्थ — जो योग्यता को प्राप्त होकर आयुध सेना राज्य और धन को धारण करते तथा सब धर्मात्माओं पर दया करते हैं वे बलिष्ठ होते हैं॥

सायण भाष्य —

हे रुद्र त्वम् अर्हन् अर्हो योग्य एव सन् सायकानि शरान् धन्य धनुश्च विभर्षि



## रुद्र सूक्त ( मण्डल-२, सूक्त-३३ )

धारयसि। तथा अर्हन् एव यजतं यजनीयं पूजनीयं विश्वरूपं बहुविधरूपयुक्तं निष्कं हारं बिभर्षि। तथा अर्हन् एव इदं विश्वं सर्वम् अभ्वम्। महन्नामैतत्। अतिविस्तृतं जगत् दयसे रक्षति। 'देङ् रक्षणे'। हे रुद्र त्वत् त्वत्तोऽन्यत् किञ्चित् ओजीयः ओजस्वितरं बलवत्तरं न वै अस्ति न खलु विद्यते। अतस्त्वमेव उक्तव्यापारेषु योज्य इत्यर्थः। ओजःशब्दात् मत्वर्थीयो विनिः। ततः आतिशायनिकः इष्टन्। 'विन्मतोर्लुक्'। 'टेः' इति टिलोपः।।

शब्दा० - अर्हन् = योग्य होते हुये, बिभर्षि = धारण करते हो, सायकानि = बाणों को, धन्व = धनुष को, अर्हन् = योग्य होते हुए, निष्कम् = हार, यजतम् = पूजनीय, विश्वरूपम् = विभिन्न रूपों की, अर्हन् = योग्य होते हुये, इदम् = इसको, दयसे = रक्षा करते हो, विश्वम् = सम्पूर्ण, अभ्वम् = विस्तृत सृष्टि की, न = नहीं, वै = पूर्ववर्ती शब्द पर जोर देने वाला एक निपात, ओजीयः = अधिक शक्तिशाली, रुद्र = हे रुद्र देवता, त्वत् = तुमसे अलग, अस्ति = है।

हिन्दी व्याख्या - (हे रुद्र) योग्य होते हुये (तुम) बाण तथा धनुष धारण करते हो; योग्य होते हुये (तुम) पूजनीय तथा विभिन्न रूपों की माला (धारण करते हो)। योग्य होते हुये (तुम) सम्पूर्ण सृष्टि की रक्षा करते हो; तुमसे बढ़कर शक्तिशाली, हे रुद्र, कोई नहीं है।

व्याकरण - अर्हत् - अह्+शत् = अर्हत्। प्रथमा का एकवचन।

यजतम् - यज्+अतच् = यजत्।

दयसे - दय् धातु + लट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

ओजीयः - ओजस्+ईयसुन् = ओजीयस्।

विशेष - मैक्डानल ने 'दयसे' का अर्थ 'शासन करना' और 'अभवम्' का अर्थ 'शक्ति' किया है। इस प्रकार तीसरे चरण का अर्थ इस प्रकार है - Worthy thou wildest all this force.

मण्डल-२

सूक्त-३३

मन्त्र-११

संहिता पाठ

स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम्।

मृळा जरित्रे रुद्र स्तवानोऽन्यं ते अस्मन्नि वपन्तु सेनाः॥११॥

पदपाठ -

स्तुहि। श्रुतम्। गर्तसदम्। युवानम्। मृगम्। न। भीमम्। उपहत्नुम्। उग्रम्। मृळ। जरित्रे। रुद्र। स्तवानः। अन्यम्। ते। अस्मत्। नि। वपन्तु। सेनाः॥

अन्वय - श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीमं उपहत्नुम् उग्रं (रुद्रं) स्तुहि। (हे) रुद्र, स्तवानः (त्वम्) जरित्रे मृळ। ते सेनाः अस्मद् अन्यं नि वपन्तु।

दयानन्द भाष्य -

(स्तुहि) (श्रुतम्) यश्श्रुतवान् तम् (गर्तसदम्) यो गर्तं गृहे सीदति तम्



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

(युवानम्) पूर्णबलम् (मृगम्) सिंहम् (न) इव (भीमम्) भयंकरम् (उपहन्तुम्) य उपहन्ति तम् (उग्रम्) क्रूरम् (मृळ) सुखय। अत्र द्वयचोऽतस्तिड इति दीर्घः। (जरित्रे) स्तावकाय (रुद्र) अन्यायकारिणां रोदयितः (स्तवानः) स्तुवन् (अन्यम्) धर्मात्मानम् (ते) तव (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् (नि) (वपन्तु) विस्तारयन्तु (सेनाः) बलानि॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः। ये राज्यं वर्द्धितुमिच्छेयुस्ते सिंहवच्छत्रूणां भयङ्कराङ्घ्रेष्ठा-  
नामानन्दप्रदान् राजकार्ये सेनायां च सत्कृत्य नियोज्य न्यायेन राज्यं सततं पालयेयुः॥

भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। जो राज्य बढ़ाने की इच्छा करें वे सिंह के समान शत्रुओं में भयङ्कर और श्रेष्ठों में आनन्द देनेवालों का राज कार्य और सेना में सत्कार कर और उनको आज्ञा दे न्याय से निरन्तर राज्य की पालना करें॥

### सायण भाष्य —

हे स्तोतः श्रुतं विश्रुतं प्रख्यातं रुद्रं स्तुहि। कीदृशम् गर्तसदं गर्तो रथः। तत्र सीदन्तं युवानं नित्यतरुणं मृगं न भीमं मृगं सिंहमिव भयंकरम्। उपहन्तुम् उपहन्तारं शत्रूणाम् उग्रं उदगूर्णं हे रुद्र त्वं स्तवानः अस्माभिः स्तूयमानः सन् जरित्रे स्तोत्रे मह्यं मृळ सुखय। ते त्वदीयाः सेनाः अस्मत् अन्यम् अस्मद्व्यतिरिक्तं पुरुषं नि वपन्तु निघ्नन्तु।

शब्दा० — स्तुहि = स्तुति करो, श्रुतम् = विख्यात, गर्तसदम् = रथ पर बैठे हुये, युवानम् = युवक की, मृगम् = जंगली पशु की, न = तरह, भीमम् = भयानक, उपहन्तुम् = शत्रु को मारने वाले, उग्रम् = भयानक, मृळ = दया करो, जरित्रे = स्तुति करने वाले के लिए, रुद्र = हे रुद्र, स्तवानः = स्तूयमान होकर, अन्यम् = दूसरे को, ते = तुम्हारे, अस्मत् = हमसे भिन्न को, नि वपन्तु = नष्ट कर, सेनाः = शस्त्र॥

हिन्दी व्याख्या — विख्यात, रथ पर बैठे हुये युवक, जंगली पशु की तरह भयंकर, (शत्रु को) मारने वाले, भयानक रुद्र की स्तुति करो। हे रुद्र, स्तूयमान होकर स्तुति गायक के लिये दया करो। तुम्हारे शस्त्र हमसे अन्य (शत्रु) का विनाश करें।

### व्याकरण —

श्रुतम् — श्रु+क्त = श्रुत। गर्तसदम् — गर्ते सीदति। गर्त+ सद+अच् = गर्तसद।

स्तवानः — स्तू+शानच् = स्तवान।

वपन्तु — वप् धातु, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

जरित्रे — 'जृ'+ तृच् (इट् का आगम) = जरितृ। चतुर्थी का एकवचन।

विशेष — मैक्डानल के अनुसार 'मृगम्' पद 'उपहन्तुम्' का कर्म है और इसका अर्थ है — That stays like a dread beast। उसने 'सेनाः' शब्द का अर्थ फेंक कर मारने वाला शस्त्र (missiles) किया है।



मण्डल-२

सूक्त-३३

मन्त्र-१२

संहिता पाठ

कुमारश्चित्पितरं वन्दमानं प्रति ननाम रुद्रोपयन्तम् ।  
भूरैर्दातारं सत्पतिं गृणीषे स्तुतस्त्वं भेषजा रास्यस्मे ॥१२॥

पदपाठ -

कुमारः । चित् । पितरम् । वन्दमानम् । प्रति । ननाम । रुद्र । उपयन्तम् ॥ भूरैः । दातारम् ।  
सत्पतिम् । गृणीषे । स्तुतः । त्वम् । भेषजा । रासि । अस्मेऽइति ॥

अन्वय - (हे) रुद्र! वन्दमानं पितरं कुमारश्चित् उपयन्तं (त्वां) प्रति ननाम । भूरैः दातारं सत्पतिं त्वां गृणीषे । स्तुतः त्वम् अस्मे भेषजा रासि ।

दयानन्द भाष्य -

(कुमारः) ब्रह्मचारी (चित्) इव (पितरम्) जनकम् (वन्दमानम्) स्तूयमानम् ।  
अत्र कर्मणि शानच् । (प्रति) (ननाम) नमति । अत्र तुजादीनामित्यभ्यासदैर्घ्यम् ॥ {अ०  
६।१।७३ (रुद्र) (उपयन्तम्) समीपं प्राप्नुवन्तम् (भूरैः) बहोः (दातारम्) (सत्पतिम्) सतां  
पालकम् (गृणीषे) स्तौषि (स्तुतः) प्रशंसितः (त्वम्) (भेषजा) औषधानि (रासि) ददासि  
(अस्मे) अस्मभ्यम् ॥

भावार्थ - अत्रोपमालङ्कारः । यथा सत्पुत्रः पितरं सत्करोति नमति स्तौति तथा सदध्येताध्यापकं प्रसादयति ।

भावार्थ - इस मन्त्र में उपमालङ्कार है । जैसे अच्छा पुत्र पिता का सत्कार करता वा नमता वा स्तुति करता है, वैसे अच्छा विद्यार्थी पढ़ाने वाले को प्रसन्न करता है ॥

सायण भाष्य -

वन्दमानम् आयुष्मान्भव सौम्य इति स्तुवन्तं पितरं कुमारश्चित् यथा कुमारः ।  
चिदत्येतदुपमार्थे । हे रुद्र उपयन्तम् अस्मत्समीपे गच्छन्तं त्वां प्रति ननाम प्रतिनतोऽस्ति ।  
अपि च भूरैः बहुनो धनस्य दातारं सत्पतिं सतां पालयितारम् । 'पत्यावैश्वर्ये' इति  
पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । हे रुद्र एवंभूतं त्वां गृणीषे स्तौमि । मिषः 'तिडां तिडो भवन्ति' इति  
सेआदेशः । स्तुतः च त्वम् अस्मे अस्मभ्यं भेषजा भेषजानि रासि देहि ।

शब्दा० - कुमारः = पुत्र, चित् = उपमा अर्थ का वाचक एक निपात, पितरम् = पिता  
को, वन्दमानम् = आशीर्वचन बोलने वाले, प्रति = की ओर, ननाम = प्रणाम करता हूँ,  
रुद्र = हे रुद्र, उपयन्तम् = अपने पास आने वाले तुमको, भूरैः = प्रचुर, दातारम् = देने  
वाले, सत्पतिम् = सत्यस्वामी की, गृणीषे = गाता हूँ, स्तुतः = स्तूयमान होकर, त्वम्  
= तुम, भेषजा = औषधियाँ, रासि = प्रदान करते हो, अस्मे = हम लोगों के लिए ।

हिन्दी व्याख्या - जिस प्रकार एक पुत्र आशीर्वचन बोलने वाले पिता को (प्रणाम करता है), उसी प्रकार हे रुद्र, मैं अपने पास आने वाले तुमको प्रणाम करता हूँ । मैं प्रचुरता में



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

देने वाले सत्यस्वामी (तुम्हारी) स्तुति लगाता हूँ। (उन गुणों से युक्त) तुम स्तूयमान होकर औषधियाँ प्रदान करते हो।

व्याकरण – वन्दमानम् – वन्द + (शप्) + शानच् = वन्दमान। द्वितीया का एकवचन।

उपयन्तम् – उप + इ + शतृ। द्वितीया का एकवचन।

नानाम – नम् धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। पूर्वे का छान्दस दीर्घ।

गृणीषे – गृ धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन। छान्दस रूप।

सत्पतिम् – सतां पालयितारम्। षष्ठी समास।

अस्मे – अस्मभ्यम् का वैदिक रूप।

रासि – रा धातु, लट् लकार मध्यम पुरुष, एकवचन।

विशेष – मैक्डानल ने 'सत्पतिम्' का अर्थ 'सच्चा प्रभु' (The True Lord) किया है।

मण्डल-२

सूक्त-३३

मन्त्र-१३

संहिता पाठ

या वो भेषजा मरुतः शुचीनि या शन्तमा वृषणो या मयोभु।

यानि मनुर्वृणीता पिता नस्ता शं च योश्च रुद्रस्य वश्मि॥१३॥

पदपाठ –

या। वः। भेषजा। मरुतः। शुचीनि। या। शन्तमा। वृषणः। या। मयःऽभु। यानि। मनुः। अवृणीत। पिता। नः। ता। शम्। च। योः। च। रुद्रस्य। वश्मि॥

अन्वय – (हे) वृषणः मरुतः, वः भेषजा, या शुचीनि, या शन्तमा या मयोभु, यानि नः पिता मनुः अवृणीत ता रुद्रस्य शं च योः च वश्मि।

दयानन्द भाष्य –

(या) यानि (वः) युष्मभ्यम् (भेषजा) औषधानि (मरुतः) मनुष्यान् (शुचीनि) पवित्राणि (या) यानि (शन्तमा) अतिशयेन सुखकराणि (वृषणः) वर्षयितारः (या) यानि (मयोभु) सुखं भावुकानि (यानि) (मनुः) वैद्यकविद्यावित् (अवृणीत) स्वीकरोति। अत्राऽन्येषामपीति दीर्घः। (पिता) जनकः (नः) अस्मभ्यम् (ता) तानि (शम्) सुखम् (च) बलम् (योः) त्यक्तव्यस्य (च) उत्पद्यमानस्य (रुद्रस्य) रोदयितूरोगस्य (वश्मि) कामये॥

भावार्थ – अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। मनुष्यैः पितृपितामहेभ्योऽध्यापकेभ्योऽन्येभ्यो विद्वद्भ्यश्च प्रतिरोगस्य निवारणायौषधीर्विज्ञाय स्वेषां परेषां च रोगान्निवार्य सर्वार्थं सुखं कामनीयम्।

भावार्थ – इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। मनुष्यों को चाहिये कि पिता और पितामहों तथा अध्यापक वा अन्य विद्वानों से प्रतिरोग के निवारण के अर्थ औषधियों को जानकर अपने और दूसरों के रोगों को निवारण करके सबके लिये सुख की आकांक्षा करें॥



## रुद्र सूक्त ( मण्डल-२, सूक्त-३३ )

सायण भाष्य —

हे मरुतः रुद्रपुत्राः वः युष्माकं या यानि भेषजा भेषजान्यस्मदारोग्य हेतु भूतान्यौषधा नि शुचीनि शुद्धानि निर्मलानि सन्ति । हे वृषणः कामानां वर्षितारो मरुतः या यानि च युष्मदीयानि भेषजानि शंतमा अतिशयेन सुखकराणि । या यानि च भेषजानि मयोभु मयोभूनि मयसः सुखस्य भावयितृणि नः अस्मत्पिता मनुः यानि भेषजानि युष्मदीयानि अवृणीत वृतवान् ता तानि भेषजानि रुद्रस्य महादेवस्य सम्बन्धि शं च योश्च यच्छमनीयानां रोगाणामुपशमनं यावनीयानां भयानां यद्यावनमस्मत्तः पृथक्करणं तदुभयं च वेशिम कामये ॥ 'वश कान्तौ' । आदादिकः ।

शब्दा० — या = जो, वः = तुम्हारी, भेषजा = औषधियाँ, मरुतः = हे मरुद्गण, शुचीनि = पवित्र, या = जो, शंतमा = अत्यधिक कल्याणकारी, वृषणः = हे शक्तिशालियो, या = जो, मयोभु = हितकारी, यानि = जिनको, मनुः = मनु ने, अवृणीत = चुना था, पिता = पिता, नः = हम लोगों के, ता = उन औषधियों की, शम् = आनन्द, च = और, योः = कल्याण, च = और, रुद्रस्य = रुद्र की, वश्मि = इच्छा करता हूँ ॥

हिन्दी व्याख्या — हे मरुद्गण, तुम्हारी औषधियाँ जो पवित्र हैं, जो अत्यधिक सुख देनेवाली हैं, हे शक्तिशाली, जो हितकारी हैं, जिनको हमारे पूर्वज मनु ने चुना था, उन (औषधियों) की तथा रुद्र की (औषधियों) की, जो आनन्द तथा कल्याण प्रदान करने वाली हैं, इच्छा करता हूँ ।

व्याकरण — वः — युष्माकम् का दूसरा रूप ।

या, भेषजा, शंतमा — प्रथमा विभक्ति, बहुवचन । वैदिक रूप । लोक में यानि भेषजानि, शंतमानि रूप होगा ।

अवृणीत — वृ धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

वश्मि — वश् धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन ।

मयोभु — मयम्+भू+क्विप् ।

विशेष — मैक्डानल ने इस मन्त्र में 'शंतमा' का अर्थ 'स्वास्थ्यप्रद' (Wholesome), 'वृषणः' का अर्थ 'शक्तिशाली' (Mighty ones), 'मयोभु' का अर्थ 'लाभदायक' (Beneficial) और 'शम् योः' का अर्थ (Healing and blessing) किया है ।

मण्डल-२

सूक्त-३३

मन्त्र-१४

संहिता पाठ

परिं णो हेती रुद्रस्य वृज्याः परि त्वेषस्य दुर्मतिर्मही गात् ।

अवं स्थिरा मघर्वद्व्यस्तनुष्व मीद्वस्तोकाय तनयाय मृळ ॥१४॥

पदपाठ —

परिं । नः । हेतिः । रुद्रस्य । वृज्याः । परि । त्वेषस्य । दुःस्मतिः । मही । गात् । अवं । स्थिरा ।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

मघवन्तुऽभ्यः । तनुष्व । मीद्वः । तोकाय । तनयाय । मृळ ॥

अन्वय — रुद्रस्य हेतिः नः परि वृज्याः । त्वेषस्य मही दुर्मतिः परि गात् । (हे) मीद्वः स्थिरा मघवद्भ्यः अव तनुष्व (तथा) तोकाय तनयाय (च) मृळ ।

दयानन्द भाष्य —

(परि) सर्वतः (नः) अस्मान् (हेतिः) वज्रादिव पीडा । हेतिरिति वज्र ना० ॥  
निघं० २।२० ॥ (रुद्रस्य) दुःखप्रदस्य रोगस्य (वृज्याः) वर्जनीयाः पीडाः (परि) अभितः  
(त्वेषस्य) प्रदीप्तस्य (दुर्मतिः) दुष्टा मतिः (मही) महती पूज्या वाक् । महीति वाङ्नाम० ॥  
निघं० १।११ ॥ (गात्) प्राप्नुयात् (अव) (स्थिरा) स्थिराणि (मघवद्भ्यः) पूजितघनेभ्यः  
(तनुष्व) विस्तृणीहि (मीद्वः) सुखसेचक (तोकाय) सद्यो जातायाऽपत्याय (तनयाय)  
प्राप्तकुमाराऽवस्थाय (मृळ) सुखय ।

भावार्थ — मनुष्यैः सुशिक्षया दुष्टा मतिं वैद्यकरीत्या सर्वान् रोगान्निवार्य स्वस्वकुलं सदां सुखनीयम् ॥

भावार्थ — मनुष्यों को उत्तम शिक्षा से दुष्ट मति को तथा वैद्यक रीति से सब रोगों को निवारण कर अपने कुल को सदा सुखी करना चाहिये ।

सायण भाष्य —

रुद्रस्य महादेवस्य हेतिः आयुधं नः अस्मान् परि वृज्याः परिवर्जयतु । तथा त्वेषस्य दीप्तस्य रुद्रस्य मही महती दुर्मतिः दुःखकारिणी बुद्धिश्च परि गात् अस्मान् वर्जयित्वा अन्यत्र गच्छतु । 'अपपरी वर्जने' (पा०सू० १.४.८८) । हे मीद्वः सेचनसमर्थ रुद्र स्थिरा स्थिराणि त्वदीयानि धनूषि मघवद्भ्यः हविलक्षणधनयुक्तेभ्यो यजमानेभ्यः अव तनुष्व अवततज्यानि कुरु । तथा तोकाय अस्मत्पुत्राय तनयाय तत्पुत्राय च मृळ सुखं कुरु ।

शब्दा० — नः = हम लोगों को, हेतिः = शस्त्र, रुद्रस्य = रुद्र का, परि वृज्याः = दूर रखे, त्वेषस्य = तेजस्वी रुद्र का, दुर्मतिः = क्रोध, मही = भयानक, परिगात् = दूर जावे, स्थिरा = दृढ़, मघवद्भ्यः = उदार दाताओं के लिये, अवतनुष्व = ढीला करो, मीद्वः = हे दयालु, तोकाय = पुत्रों पर, तनयाय = पौत्रों पर, मृळ = दया करो ।

हिन्दी व्याख्या — रुद्र का शस्त्र हमको अलग रखे; तेजस्वी (रुद्र) का भयानक क्रोध हमसे दूर रहे । (हमारे) उदार दाताओं के लिये (अपने) दृढ़ (धनुषों) को ढीला करो; हे दयालु (रुद्र), (हमारे) पुत्र पौत्रादिकों पर दया करो ।

व्याकरण — वृज्याः — 'वृज्' धातु विधिलिङ्, प्रथमपुरुष, एकवचन, वैदिकरूप ।

गात् — 'गा' धातु, लेट् लकार, प्रथमपुरुष, एकवचन ।

तोकाय — तुच्+धञ् = तोक ।

मीद्वः — 'भिह् सेचने' धातु से क्वसु प्रत्यय ।

मघवद्भ्यः — मघ+मतुप् = मघवत् । चतुर्थी का बहुवचन ।



तनुष्व — तन् घातु, लोट् लकार, मध्यमपुरुष, एकवचन।

विशेष — मैक्डानल ने 'त्वेष' का अर्थ 'भयानक' (terrible) और 'मीढ्वः' का अर्थ 'उदार' (Bounteous) किया है।

मण्डल-२

सूक्त-३३

मन्त्र-१५

संहिता पाठ

एवा बभ्रो बृषभ चेकितान् यथा देव न हृणीषे न हंसि।

हवनश्रुत्नो रुद्रेह बोधि बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥१५॥

पदपाठ —

एव। बभ्रोरति। बृषभ। चेकितान्। यथा। देव। न। हृणीषे। न। हंसि॥ हवनऽश्रुत्। नः।

रुद्र। इह। बोधि। बृहत्। वदेम। विदथे। सुवीराः॥

अन्वय — हे बभ्रो, वृषभ, चेकितान, देव, यथा एव (त्वम्) न हृणीषे न हंसि; (हे) रुद्र इह (त्वं) नः हवनश्रुत् बोधि। (वयं) सुवीराः विदथे बृहद् वदेम।

दयानन्द भाष्य —

(एव) निश्चये। अत्र निपातस्य चेति दीर्घः। (बभ्रो) धर्तः पोषक (बृषभ) रोगनिवारणेन बलप्रद (चेकितान) विज्ञापक (यथा)(देव) कमनीय (न)निषेध (हृणीषे) हरसि। अत्र विकरणव्यत्ययेन श्ना। (न) निषेधे (हंसि) (हवनश्रुत्) या हवनं दानमादानं शृणोति (नः) अस्माकम् (रुद्र) सर्वरोगनिवारक (इह) अस्मिन् (बोधि) बृध्यस्व (बृहत्) (वदेम) (विदथे) औषधविज्ञानव्यवहारे (सुवीराः) सुष्ठुप्राप्तवीर्याः सन्तः।

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः। ये वैद्याः राज्यन्यायाधीशाः स्युस्तेऽन्यायेन कस्यचित्किञ्चिन्न हरेयुः। न कञ्चिद्धन्युः किन्तु सदा सुपथ्यौषधव्यवहारसेवनेन बलपराक्रमान् वर्द्धयेयुरिति।

भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। जो वैद्यजन राज्य और न्याय के अधीश हों वे अन्याय से किसी का कुछ भी धन न हरें न किसी को मारें किन्तु सदा अच्छे पथ्य और औषधों के व्यवहार सेवन से बल और पराक्रम को बढ़ावें।

सायण भाष्य —

हे बभ्रो जगतो भर्तर्बभ्रुवर्ण वा वृषभ कामानां वर्षितः चेकितान सर्वं जानन् हे देव द्योतमान रुद्र यथा येन प्रकारेण न हृणीषे न क्रुध्यसि न च हंसि। 'हृणीङ् लज्जायाम्'। अयं क्रुध्यतिकर्मा च। एवं हवनश्रुत् अस्मदीयमाह्वानं शृण्वन् नः अस्मान् हे रुद्र इह अस्मिन् देशे बोधि बृध्यस्व। विदथे यज्ञे गृहे वा सुवीराः शोभनपुत्राः सन्तः बृहत् प्रौढं त्वदीयं स्तोत्रं वदेम उच्चारयाम।

शब्दा० — एवं = इस प्रकार, बभ्रो = हे भूरे रंग वाले, बृषभ = हे शक्तिशाली, चेकितान = हे सर्वज्ञ, यथा = जिस प्रकार, देव = हे देव, न = नहीं, हृणीषे = क्रोध करो, न



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

= नहीं, हंसि = मार सको, हवनश्रुत् = स्तुतियों को सुनने वाले, नः = हमारी, रुद्र = हे रुद्र, इह = यहाँ, बोधि = होवो, बृहत् = जोर से, वदेम = बोलें, विदथे = यज्ञ मण्डप में, सुवीराः = पुत्र पौत्रादिकों से युक्त ।

हिन्दी व्याख्या — हे भूरे रंगवाले, शक्तिशाली, सर्वज्ञ, देव, (ऐसे तुम) हमारी स्तुतियों को सुनने वाले होवो, जिससे हे रुद्र, तुम (मुझपर) क्रोध न कर सको (तथा) मार न सको । वीर (पुत्र-पौत्रादिकों) से युक्त हम यज्ञ मण्डप में जोरों से (तुम्हारा) स्तुति-गान करें ।

व्याकरण — चेकितान — कित् ज्ञाने धातु से कानच् प्रत्यय ।

हृणीषे — हृणी धातु, लट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

हंसि — हन् धातु, लट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

हवनश्रुत् — हवनं शृणोति इति स । हवन+श्रु+(तुक)+क्विप् = हवन श्रुत् ।

बोधि — बुध् धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन । वैदिक रूप ।

विशेष — मैक्डानल ने 'चेकितान्' शब्द का अर्थ महायशस्वी (far-famed) और 'वृषभ' का अर्थ 'बैल' (bull) किया है । उसने 'इह' को 'विदथे' के साथ अन्वित करके 'इह विदथे' का अर्थ किया है — at devine worship ।



## अश्वि सूक्तम्

देवता—अश्विनौ

ऋषि—गृत्समद

छन्द—त्रिष्टुप्

मण्डल—२

सूक्त—३९

मन्त्र—१

संहिता पाठ

ग्रावाणेव तदिदर्थं जरेथे गृध्रेव वृक्षं निधिमन्तमच्छ ।

ब्रह्माणेव विदथे उक्थशासा दूतेव हव्या जन्या पुरुत्रा ॥१॥

पदपाठ —

ग्रावाणइव । तत् । इत् । अर्थम् । जरेथे इति । गृध्राइव । वृक्षम् । निधिऽमन्तम् । अच्छ ।  
 ब्रह्माणांइव । विदथे । उक्थशासा । दूताइव । हव्या । जन्या । पुरुत्रा ॥

अन्वय — हे विद्वांसो यौ वाय्वग्नी ग्रावाणेव तदर्थमिदेव जरेथे विदधे गृध्रेव निधिमन्तं  
 वृक्षमच्छ जरेथे ब्रह्माणे वोक्थ शासा दूतेव हव्या जन्या पुरुत्रा वर्तते तौ यूयं संप्रयोजयत ।

दयानन्द भाष्य —

(ग्रावाणेव) मेघाविव (तत्) (इत्) एव (अर्थम्) द्रव्यम् (जरेथे) जरयतः  
 (गृध्रेव) गृध्राइव (वृक्षम्) वृक्षनीयं जलं स्थलं वा (निधिमन्तम्) बहवो निधयो विद्यन्ते  
 यस्मिंस्तम् (अच्छ) (ब्रह्माणेव) यथा समग्रवेदविदौ (विदथे) शिल्पाख्य यज्ञे (उक्थशासा)  
 उक्ता उक्था शासा शासनानि ययोस्तौ (दूतेव) दूतवद्वर्त्तमानौ (हव्या) आदातुमर्हौ (जन्या)  
 जनितारौ (पुरुत्रा) पुरुष बहुषु पदार्थेषु वर्त्तमानौ ।

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः । ये वह्न्यादयः पदार्था मेघवत्पक्षिवद्विद्वद्दूतवच्च कार्यसाधकाः  
 सन्ति तान् विज्ञाय प्रयोजनानि साधनीयानि ॥

भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है । जो वह्नि आदि पदार्थ मेघ वा पक्षियों तथा विद्वानों  
 और दूत के समान कार्यसिद्धि करने वाले हैं उन को जान के प्रयोजनों को सिद्ध करना  
 चाहिये ॥

सायण भाष्य —

हे अश्विनौ ग्रावाणेव अरातिं प्रति प्रेषितौ पाषाणाविव तत् अर्थम् ।  
 अर्तेर्धातोरर्थशब्दः । 'अर्थोऽर्तः' (निरु० १.१८) इति यास्कः । तमरातिमित्यर्थः । इत् इति  
 पूरणः । जरेथे जरयेथे अरातिं बाधेथाम् । यद्वा यथा गुरु ग्रावाणौ क्षिप्तौ तदानीमेव शीघ्रं  
 गच्छतस्तथा तत् तमर्थं गन्तारं जरेथे । शीघ्रं गत्वा स्तुतमित्यर्थः । जरतिः स्तुतिकर्मा । किंच  
 गृध्रेव गृध्राविव पक्षिणाविव वृक्षं फलितं वृक्षं निधिमन्तं धनवन्तं यजमानम् अच्छ । आगच्छतमिति  
 शेषः । विदथे यज्ञे । 'विदथः सवनम्' (नि० ३.१७.५) इति यज्ञनामसु पाठात् । 'उक्थशासा'  
 उक्थशंसितारौ ब्रह्माणेव ब्राह्मणाविव जन्या जनपदेषु दूतेव राज्ञा प्रेषितौ दूताविव पुरुत्रा  
 बहुभिः पुरुषैः हव्या ह्वातव्यौ युवाम् । अत्र उपमेयद्वित्वानुसारेण उपमानद्वित्वम् ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

हिन्दी व्याख्या — हे अश्विदेव! आप तोप से फेंके गये भयावह गोलों के समान शीघ्र ही शत्रु-विध्वंस कर देते हैं। 'विधिमन्तं वृक्षम्' फल-सम्पदा से भरे हुए वृक्ष के समान बाह्य एवम् अन्तः विभूतियों से सम्पन्न ऋषि के पास लोभी गृध्र के समान तत्काल पहुँच जाते हैं। स्तुति समूहों में प्रशंसा करने वाले प्रतिभा सम्पन्न ऋषि के समान उत्तम स्वभाव से युक्त आप हैं तथा प्रतिनिधित्व सम्पादन करने वाले गूढ़, दृढ़ एवं प्रियकर दूतों के समान आप नित्य ही प्रशंसा एवं प्रीति के पात्र हैं।

मण्डल—२

सूक्त—३९

मन्त्र—२

संहिता पाठ

प्रातर्यावाणा रथ्येव वीराजेव यमा वरमा सचेथे ।

मेने इव तन्वा३ शुम्भमाने दम्पतीव क्रतुविदा जनेषु ॥२॥

पदपाठ —

प्रातःऽयावाणा । रथ्यांऽइव । वीरा । अजाऽइव । यमा । वरम् । आ । सचेथे ऽइति । मेने इवेति । मेनेऽइव । तन्वा । शुम्भमाने इति । दम्पतीइवेति दम्पतीऽइव । क्रतुऽविदा । जनेषु ॥

अन्वय — यौ द्यावापृथिव्यौ जनेषु रथ्येव प्रातर्यावाणा अजेव वीरा यमा मेनेइव तन्वा शम्भमाने दम्पतीव क्रतुविदा वर्तते तौ विदित्वाऽध्यापकाध्येतारौ वरमा सचेथे ।

दयानन्द भाष्य —

(प्रातर्यावाणा) यौ प्रातर्यातस्तौ (रथ्येव) यथा रथाय हितावश्वौ (वीरा) विक्रान्तकर्माणौ (अजेव) यथाऽजौ (यमा) उपरतौ (वरम्) उत्तमम् (आ) (सचेथे) सम्बन्धीथः (मेनेइव) यथा मेने पक्षिण्यौ (तन्वा) शरीरेण (शुम्भमाने) सुशोभेते (दम्पतीव) यथा भार्यापती (क्रतुविदा) क्रतुं प्रज्ञां विन्दति याभ्याम् (जनेषु) मनुष्येषु ॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः । मनुष्यैर्यथा सुशिक्षिताऽश्वे समाने याने स्थित्वा— ऽजवद्वीरतां प्रकाश्य पक्षिवद्दम्पतीव शोभेते सुकर्माणि च जनयतस्तथा सूर्यभूमी सर्वोपकारिके वर्तते इति ज्ञेयम् ॥

भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है । मनुष्यों को जैसे सुशिक्षित घोड़े वाले एक यान में स्थिर होके बकरों के समान वीरता का प्रकाश कर पक्षियों वा स्त्री पुरुषों के समान शोभा को प्राप्त होते और अच्छे कर्मों को उत्पन्न कराते हैं, वैसे सूर्य और भूमि सबका उपकार करने वाले वर्तमान हैं, यह जानना चाहिये ॥

सायण भाष्य —

हे अश्विना प्रातर्यावाणा प्रातरेव यज्ञार्थं गन्तारौ रथ्येव रथिनाविव वीरौ स्वकर्मणि शूरौ । अजेव अजाविव छागाविव यमा यमलौ । मेनेइव नार्याविव तन्वा शरीरेण शुम्भमाने शोभमानौ । दम्पतीव जायापती इव संगतौ जनेषु विप्रयेषु क्रतुविदा कर्मविदौ युवां वरं संभक्तारम् आ सचेथे आगच्छथः ॥



## अश्वि सूक्त ( मण्डल-२, सूक्त-३९ )

हिन्दी व्याख्या — हे अश्विदेव! आप दोनों सुप्रभात वेला में ही हमारी तन्द्रा दूर कर देते हैं तथा हमारी चेतना में प्रसन्नता उत्पन्न करते हैं। आप दोनों अच्छे रण-कुशल वीर के समान सहनशील और हृष्ट-पुष्ट छाग के समान दृढ़ प्रकार करने वाले हैं। आप 'यमा' नियमनशील और अन्तः प्ररू हैं। आप गमन्-आगमन् समय के लिए अपने आपको सुन्दर स्त्रियों की भाँति सजते और सजाते हैं। मानवीय कर्तव्य निष्ठा में आप गृह-पालक दम्पती (पत्नी और पति) के समान कार्य-प्रज्ञा को प्रदर्शित करते हैं।

मण्डल-२

सूक्त-३९

मन्त्र-३

संहिता पाठ

शृङ्गेव नः प्रथमा गन्तमर्वाक् शफाविव जर्भुराणा तरोभिः ।

चक्रवाकेव प्रति वस्तोरुस्रावाञ्चा यात रथ्येव शक्रा ॥३॥

पदपाठ —

शृङ्गाऽइव । नः । प्रथमा । गन्तम् । अर्वाक् । शफौऽइव । जर्भुराणा । तरःऽभिः । चक्रवाकाऽइव । प्रति । वस्तोः । उस्त्रा । अर्वाञ्चा । यातम् । रथ्याऽइव । शक्रा ॥

अन्वय — हे उस्त्रा रथ्येव शक्रा युवां नोऽर्थागन्तं शृङ्गेव शफाविव जर्भुराणा प्रथमा तरोभिश्चक्रवाकेव प्रति वस्तोरर्वाञ्चा यातम् ॥

दयानन्द भाष्य —

(शृङ्गेव) शृङ्गवत्सम्बन्धिनौ हिंसकौ (नः) अस्मान् (प्रथमा) आदिमौ (गन्तम्) प्राप्नुतम् (अर्वाक्) पश्चात् (शफाविव) यथा खुरौ परस्परेण सम्बद्धौ (जर्भुराणा) भृशं धर्त्तारौ (तरोभिः) तरन्ति यैस्तानि तरांसि नौकादीनि तैः (चक्रवाकेव) यथा चक्रवाकौ पक्षिणौ (प्रति) (वस्तोः) दिनम् (उस्त्रा) किरण वद्वर्त्तमानौ (अर्वाञ्चा) अर्वागामिनौ (यातम्) प्राप्नुतम् (रथ्येव) यथा रथाय हितानि (शक्रा) शक्तिमन्तौ ।

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः । यद्यग्निवायू शिल्पकार्येषु सम्प्रयुज्येतां तर्हि बहूनि कार्याणि साधयेताम् ॥

भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है । यदि अग्नि वायु शिल्पकार्यों में संयुक्त किये जावें तो बहुत कार्यों को सिद्ध करें ।

सायण भाष्य —

हे अश्विनौ शृङ्गेव पशोः शृङ्गे इव प्रथमा देवानां प्रथमौ शफाविव अश्वादयः खुराविव तरोभिः वेगैः जर्भुराणा भृशं गच्छन्तौ युवां नः अस्मान्प्रति अर्वाक् अभिमुखम् आ गन्तम् आगच्छतम् । किञ्च हे अश्विनौ वस्तोः प्रति अहः प्रति चक्रवाकेव चक्रवाकाविव हे उस्त्रा शत्रूणामुत्सारकौ गमनशीलौ वा रथ्येव रथिनाविव हे शक्रा स्वकर्मणि शक्तौ अर्वाञ्चा अस्मदभिमुखौ यातं गच्छतम् ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

हिन्दी व्याख्या — हे अश्विदेव! आप दोनों महिष आदि के शृङ्गों के समान परस्पर अविभागापन्न और दृढ़ हैं। शफों (टापों) के समान धारण समर्थ और संभरण करने वाले हैं। आप वेग के साथ आयें और हमारे दुःख-रोग आदि कष्टों का निवारण करें। आप दोनों चक्रवाक्-मिथुन के समान सदा साथ रहने वाले वृषभों के समान विशाल और पुष्ट तथा महारथी के समान सशक्त हैं। अतः कृपा करके हमारे कल्याण के लिए शीघ्र पधारें।

मण्डल-२

सूक्त-३९

मन्त्र-४

संहिता पाठ

नावेव नः पारयतं युगेव नभ्येव न उपधीव प्रधीव।

श्वानेव नो अरिषण्या तनूनां खृगलेव विस्रसः पातमस्मान् ॥४॥

पदपाठ —

नावाऽइव। नः। पारयतम्। युगाऽइव। नभ्याऽइव। न'। उपधीइवेत्युपधीऽइव। प्रधीइवेति प्रधीऽइव। श्वानाऽइव। नः। अरिषण्या। तनूनाम्। खृगलाऽइव। विस्रसः। पातम्। अस्मान्॥

अन्वय — हे विद्वांसो यौ वायुविद्युतौ युगेव नावेव नः पारयातं नभ्येबोपधीव प्रधीव नः पारयतं श्यानेव नस्तनूनामरिषण्या स्तः खृगलेव विस्रसोऽस्मान् पातं तावस्मानुपदिशत॥

दयानन्द भाष्य —

(नावेव) यथोत्तमे नावौ (नः) अस्मान् (पारयतम्) पारयतः (युगेव) अश्वदिवत्संयोजितौ (नभ्येव) यथा रथचक्रमध्यप्रदेशाऽवयवौ (नः) अस्मान् (उपधीव) यथोपधिर्मध्यस्थस्य रथावयवस्य धारिका (प्रधीव) यथा सर्वस्य धर्त्री रथावयवा (श्वानेव) यथा चोरादिभ्यो रक्षकौ कुक्कुरौ (नः) अस्माकम् (अरिषण्या) अहिंसकौ (तनूनाम्) शरीराणाम् (खृगलेव) यौ खृ खननं गलयतस्तौ (विस्रसः) जीर्णावस्थायाः (पातम्) रक्षतः (अस्मान्) ॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः। नहि कश्चिदपि सृष्टिपदार्थानां गुणकर्मस्वभावान् विदित्वा पूर्णविद्यो जायते तस्मात्सृष्टिविद्याः संचारणीयाः।

भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कारः है। कोई भी सृष्टि के पदार्थों के गुण, कर्म और स्वभावों को न जान के पूर्ण विद्या वाला नहीं होता है, इससे सृष्टि की विद्याओं का अच्छे प्रकार से प्रचार करना चाहिए॥

सायण भाष्य —

हे अश्विनौ! नावेव नावाविव सिन्धून् नः अस्मान् दुर्गाणि पारयतम्। युगेव यथा रथस्य युग नभ्येव यथा च रथचक्रनाभिफलके। उपधी इव यथा तत्पार्श्वस्थे फलके प्रधीइव यथा वा चक्रवाह्यवल्यौ रथं पारयतः तथा नः अस्मान् दुर्गाणि पारयतम्। किं च श्वानेव श्वानाविव यथा श्वानौ बाधकेभ्यो रक्षन्तौ तनोर्हिसामपनयतः तथा नः अस्माकं



## अश्वि सूक्त ( मण्डल-२, सूक्त-३९ )

तनूनाम् अङ्गानाम् अरिषण्यौ अहिंसकौ भवतम् । खृगलेव यथा तनुत्राणे तनुहिंसाया रक्षतः  
तथा विस्रसः जरायाः अस्मान् युवां पातम् ॥

**हिन्दी व्याख्या** — हे अश्विदेव! आप दुःख सागर से हमारा उद्धार करते हैं। जिस प्रकार दृढ़ सुन्दर नौकायें सागर-पार कराने में समर्थ होती हैं उसी प्रकार आप दोनों शोक-सागर से परे पार पहुँचा देते हैं। युगेव, वभ्येव, उपधीव, प्रधीव यह चार उपमायें दी हैं। रथ — युग के समान, रथ — नाभि के समान, रथ — फलक के समान और रथ के लौह-घेरे के समान आप हमारे आश्रय, शरण स्थान और रक्षक हैं। आप सतत सावधान सारमेयों (कुत्ता) के समान बाधा पहुँचाने वालों से रक्षा करते हैं। आप अङ्गों को शिथिल करने वाली वृद्धावस्था से हमारी रक्षा करें, खृगला के समान। खृगला, कवच को कहते हैं, जिस प्रकार विक्रान्त वीर की रक्षा में खृगला दक्ष है, उसी प्रकार आप दोनों हमारी रक्षा में सक्षम हैं।

मण्डल-२

सूक्त-३९

मन्त्र-५

संहिता पाठ

वातेवाजुर्या नद्येव रीतिरक्षीइव चक्षुषा यातमर्वाक् ।

हस्ताविव तन्वे३ शम्भविष्ठा पादेव नो नयतं वस्यो अच्छ ॥५॥

पदपाठ —

वाताऽइव । अजुर्या । नद्याऽइव । रीतिः । अक्षीइवेत्यक्षीऽइव । चक्षुषा । आ । यातम् ।  
अर्वाक् । हस्तौऽइव । तन्वे । शम्भविष्ठा । पादाऽइव । नः । नयतम् । वस्यः । अच्छ ॥

**अन्वय** — हे विद्वांसौ यौ वातेवाजुर्या नद्येवरीतिर्गन्तारावक्षीइव चक्षुषाऽथ गायातं हस्ताविव  
तन्वे शम्भविष्ठा पादेव नो वस्योऽच्छ नयतं तौ जलाग्नी अस्मान् बोधय ॥

दयानन्द भाष्य —

(वातेव) वायुवत् (अजुर्या) अजीर्णो (नद्येव) नद्यां भवं जलं नद्यं तद्वत् सद्यो  
गन्तारौ (रीतिः) श्लेषणम् (अक्षीइव) यथाऽक्षिणी (चक्षुषा) दर्शनशक्तियुक्तौ (आ) (यातम्)  
समन्तात्प्राप्तुतः (अर्वाक्) अधः (हस्ताविव) (तन्वे) शरीराय (शम्भविष्ठा) अतिशयेन सुखं  
भावुकौ (पादेव) यथा पादौ (नः) अस्मान् (नयतम्) नयतः (वस्यः) अत्युत्तमं धनम् (अच्छ)  
सम्यक् ॥

**भावार्थ** — अत्रोपमालङ्कारः । यथा शरीराऽवयवा स्व स्व कर्माणि प्रवर्तमानाः शरीरं रक्षन्ति  
तथा वाय्वादयः पदार्थाः सर्वान् रक्षन्तीति वेद्यम् ।

**भावार्थ** — इस मन्त्र में उपमालङ्कारः है। जैसे शरीर के अङ्ग अपने अपने काम में प्रवर्तमान  
शरीर की रक्षा करते हैं, वैसे वायु आदि पदार्थ सबकी रक्षा करते हैं, यह जानना चाहिये।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****सायण भाष्य -**

हे अश्विनौ वातेव वाताविव अजुर्या जरितुमशक्यौ नद्येव नद्याविव रीतिः । व्यत्यये नैकवचनम् ।। शीघ्रं गन्तारौ युवाम् । अक्षीइव अक्षिणी इव चक्षुषा दर्शनेन अर्वाक् अस्मद्भिमुखम् आ यातम् आगच्छतम् । किं च हस्तेव हस्ताविव पादेव पादाविव तन्वे शरीराय शंभविष्टा सुखस्य भावयितृत्वमौ युवां नः अस्मान् वस्यः वसीयः श्रेष्ठं धनम् अच्छ प्रति नयतं प्रापयतम् ।।

**हिन्दी व्याख्या -** हे अश्विदेव! आप वायु के समान दीर्घायु और अजुर्या, वृद्धत्व अथवा अङ्गशैथिल्य से रहित हैं । सदा प्रसन्न, तृप्त और ब्रजबली हैं । आप दोनों सदैव नदियों के समान आत्मनिर्भर, प्रवाहपूर्ण और सरस हैं । आप नयनों के समान प्रियदर्शन और मार्गद्रष्टा हैं । दोनों आप हस्त युगल के समान शरीर के लिये सुख प्रदाता तथा चरणों के समान श्रेष्ठ धन के प्रति गतिप्रद हैं ।

**मण्डल-२****सूक्त-३९****मन्त्र-६****संहिता पाठ**

ओष्ठाविव मध्वास्ने वदन्ता स्तनाविव पिप्यतं जीवसे नः ।

नासेव नस्तन्वो रक्षितारा कर्णाविव सुश्रुता भूतमस्मे ।।६।।

**पदपाठ -**

ओष्ठाविव । मधु । आस्ने । वदन्ता । स्तनाविव । पिप्यतम् । जीवसे । नः । नासाविव । नः । तन्वः । रक्षितारा । कर्णाविव । सुश्रुता । भूतम् । अस्मेऽइति ।।

**अन्वय -** हे विद्वांसो यूयं यावास्ने मध्वोष्ठाविव वदन्ता जीवसे स्तनाविव नः पिप्यतं नासेव नस्तन्वो रक्षितारा अस्मे कर्णाविव सुश्रुता भूतं तावग्निवायू विदितौ कारयत ।

**दयानन्द भाष्य -**

(ओष्ठाविव) (मधु) (आस्ने) आस्याय मुखाय (वदन्ता) ब्रुवन्तौ (स्तनाविव) (पिप्यतम्) प्याययतो वर्द्धयतः (जीवसे) जीवितुम् (नः) अस्मभ्यम् (नासेव) नासिके इव (नः) अस्माकम् (तन्वः) शरीरस्य (रक्षितारा) रक्षकौ (कर्णाविव) (सुश्रुता) शोभनं श्रुतं याभ्यान्तौ (भूतम्) भवतः (अस्मे) अस्मभ्यम् ।।

**भावार्थ -** अत्रोपमालङ्कारः । येऽध्यापका जिह्वया रसमिव स्तनेन दुग्धमिव नासिकया गन्धमिव श्रोत्रेण शब्दमिव सर्वा विद्याः प्रत्यक्षीकारयन्ति ते जगत्पूज्या भवन्ति ।

**भावार्थ -** इस मन्त्र में उपमालङ्कारः है । जो अध्यापक जिह्वा से रस के समान, स्तनों से दुग्ध के समान, नासिका से गन्ध के तुल्य, कान से शब्द के समान, समस्त विद्याओं को प्रत्यक्ष कराते हैं, वे जगत्पूज्य होते हैं ।



सायण भाष्य —

हे अश्विनौ ओष्ठाविव आस्ने आस्याय मधुररसवद्वचनं वदन्तौ स्तनाविव नः अस्मान् जीवसे जीवनाय पिप्यतं प्याययतम् । किं च नासेव नासिके इव नः अस्माकं तन्वः तनोः रक्षितारा रक्षितारौ भूतं भवतम् । अपि च कर्णाविव अस्मे अस्माकं सुश्रुता सुश्रवणे युवां भूतं भवतम् ।।

हिन्दी व्याख्या — हे अश्विदेव! आप दोनों ही मिलकर मधुर-मंगल ध्वनि का उच्चारण करते हैं, जिस प्रकार कि दोनों ओष्ठ मिलकर ही मधुर-ध्वनि के उच्चारण में कारण बनते हैं । हमारे जीवन के लिये स्तनों के समान आप रसायन देते हैं । जिस प्रकार हमारी नासिका, हमारी स्थिरता के लिए प्राणदायिनी प्रतिष्ठा है, उसी प्रकार आप भी हमारे लिये प्राणाधायक हेतु हैं । जिस प्रकार हमारे लिये कर्ण शब्द रसायन देकर हमें बहुश्रुत बनाते हैं, उसी प्रकार विद्या वैभव देने में आप कर्ण-रसायन प्रस्तुत करते रहते हैं ।

मण्डल-२

सूक्त-३९

मन्त्र-७

संहिता पाठ

हस्तेव शक्तिमभि सन्ददी नः क्षामेव नः समजतं रजांसि ।

इमा गिरौ अश्विना युष्मयन्तीः क्ष्णोत्रेणेव स्वधितिं सं शिशीतम् ।।७।।

पदपाठ —

हस्ताऽइव । शक्तिम् । अभि । संददी इति संददी । नः । क्षामंऽइव । नः । सम् । अजतम् । रजांसि । इमाः । गिरः । अश्विना । युष्मयन्तीः । क्ष्णोत्रेणऽइव । स्वधितिम् । सम् । शिशीतम् ।।

अन्वय — हे अश्विनेव वर्तमानावध्यापकपरीक्षकौ यावग्निवायूशक्तिं हस्तेव नोऽभिसंददी क्षामेव नो रजांसि समजतं क्ष्णोत्रेणेव मा युष्मयन्तीर्गिरः स्वधितिमिव संशिशीतं तयोर्गुणकर्मस्वभावानस्मान् बोधयतम् ।।

दयानन्द भाष्य —

(हस्तेव) (शक्तिम्) तीक्ष्णाग्राम् (अभि) (संददी) याभ्यां सम्यग् ददतस्तौ (नः) अस्मान् (क्षामेव) निवासाधिकरणं पृथिवीम् । क्षामेति पृथिवी ना० ।। निघं० १ । १ ।। (नः) अस्माकम् (सम्) सम्यक् (अजतम्) प्रापयतः (रजांसि) ऐश्वर्याणि लोकान् वा (इमाः) (गिरः) सुशिक्षिता वाणीः (अश्विना) वाय्वग्नी (युष्मयन्तीः) या युष्मानाचक्षते ताः (क्ष्णोत्रेणेव) तेजस्विकारकेण साधनेनेव (स्वधितिम्) (वज्रम्) (सम्) सम्यक् (शिशीतम्) तीक्ष्णीकुर्याताम् । भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः । हे विद्वांसो ये हस्तक्रियाकारकाः पृथिवीवदैश्वर्यप्रदाः सुशिक्षिता वाग्वज्ज्ञापकास्तीक्ष्णवज्रवहारिद्यदुःखविनाशका अग्न्यादयः पदार्थाः सन्ति तानस्मानद्य ग्राहयतः ।।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कारः है। हे विद्वानो! जो हाथ की क्रिया को करने वाले पृथिवी के समान ऐश्वर्य देने अच्छी शिक्षित वाणी के समान पदार्थों को बताने, तीक्ष्ण वज्र के समान दारिद्र्य और दुःख का विनाश करने वाले अग्न्यादि पदार्थ हैं, उनको आज हम लोगों को ग्रहण कराओ॥

**सायण भाष्य —**

हे अश्विनौ हस्तेव हस्ताविव शक्तिं सामर्थ्यं नः अस्माकम् अभि संददी आभिमुख्येन सम्यक् प्रयच्छन्तौ भवतम्। किं च क्षामेव रोदसी इव रजांसि स्थानान्युदकानि वा। उद्धकं रज उच्यते (निरु० ४.१९) इति यास्कः। नः अस्माकं समजतं प्रेरयतम्। अपि च अश्विना हे अश्विनौ इमा गिरः अस्माभिः कृताः स्तुतीः युष्मयन्तीः युवामिच्छन्तीः स्वधितिम् असिं क्ष्णोत्रेणैव तेजनशाणवत् सं शिशीतं सम्यक् तीक्ष्णीकुरुतम्॥

हिन्दी व्याख्या — हे अश्विदेव! आप दोनों हमारे लिए हाथ के समान हस्तावलम्बन बनें। हमें सामर्थ्य प्रदान करें। द्युलोक और पृथ्वी लोक के समान जीवन प्राप्ति के लिए जल क्षेपण करते रहें। जिस प्रकार तलवार आदि हथियारों को सान पर चढ़ाकर चमकाया और तीक्ष्ण किया जाता है, इसी प्रकार हमारी स्तुतियों को चमकाकर तीक्ष्ण कर दीजिये, जिससे कि हमारी शब्द दरिद्रता और प्रतिभा की दरिद्रता दूर हो और हमारे मुख में सदा चमकती हुई वाणी का चमत्कार प्रकट हो।

मण्डल—२

सूक्त—३९

मन्त्र—८

**संहिता पाठ**

ए॒तानि॑ वा॒मश्वि॒ना व॒र्द्ध॑नानि॒ ब्रह्म॑ स्तोमं॒ गृत्स॑म॒दासो॑ अ॒क्रन् ।

तानि॑ न॒रा जु॒जुषा॑णो॒प या॑तं बृ॒हद्व॑देम॒ वि॒दथे॑ सु॒वीराः॑ ॥८॥

**पदपाठ —**

ए॒तानि॑ । वा॒म् । अ॒श्वि॒ना । व॒र्द्ध॑नानि । ब्रह्म॑ । स्तोमं॒म् । गृत्स॑म॒दासः॑ । अ॒क्रन् । तानि॑ । न॒रा । जु॒जुषा॑णा । उप॑ । या॒तम् । बृ॒हत् । व॒देम॑ । वि॒दथे॑ । सु॒वीराः॑ ॥

अन्वय — हे अश्विना नरेव वर्तमानावध्यापकपरीक्षकौ युवां वां यान्येतानि वर्द्धनानि ब्रह्म स्तोमं च गृत्समदासोऽक्रन् तानि जुजुषाणासन्तावास्मानुपयातं यतस्सुवीराः सन्तो वयं विदथे बृहत्सततं वदेम॥

**दयानन्द भाष्य —**

(ए॒तानि) (वा॒म) युवयोः (अ॒श्वि॒ना) सकलविद्याव्यापिनौ (व॒र्द्ध॑नानि) (ब्रह्म) धनम् (स्तोमम्) प्रशंसाम् (गृत्समदासः) गृत्सा अभिकाङ्क्षिता मदा हर्षा यैस्ते (अ॒क्रन्) कुर्युः (तानि) (न॒रा) नेतारौ (जु॒जुषा॑णा) सेवमानौ (उप) (या॒तम्) उपाप्नुतः (बृ॒हत्) महद्विज्ञानम् (व॒देम) अध्यापयेम उपदिशेम वा (वि॒दथे) विज्ञानमये यज्ञे (सु॒वीराः) शोभनाश्च



## अश्वि सूक्त ( मण्डल-२, सूक्त-३९ )

ते वीरा व्याप्तविद्यास्ते ।।

भावार्थ — ये मनुष्या विद्वदनुकरणं कुर्युस्तर्हि ते महान्तो भवेयुरिति ।। अत्र वाय्वग्न्यादिविदुषाञ्च गुणवर्णनादेतत्सूक्तार्थस्य पूर्वसूक्तार्थेन सह सङ्गतिर्वेद्या ।

भावार्थ — जो मनुष्य विद्वानों का अनुकरण करें तो वे महात्मा होंवें ।

सायण भाष्य —

अश्विना हे अश्विनौ वां युवयोः एतानि वर्धनानि वृद्धि साधनानि ब्रह्म ब्रह्माणि मन्त्रान् स्तोमं स्तोत्रं च गृत्समदासः गृत्समदाः अक्रन् अकुर्वन् । तानि ब्रह्माणि नरा नेतारौ जुजुषाणा भृशं प्रीयमाणौ युवाम् उप यातम् उपगच्छतम् । किं च सुवीराः शोभनपुत्रा वयं विदथे यज्ञे युवां वृहद्वदेम प्रभूतं स्तुमः ।

हिन्दी व्याख्या — हे अश्विदेव! आपके लिए इस प्रकार स्तुत्य शब्द—समूहों में गृत्समद ऋषियों ने संवर्धनशील स्तुतियों को प्रोत्साहन दिया है । इनका रसास्वादन करते हुए आप हमारी अभिलाषाओं को प्रीति और तृप्ति के साथ श्रवण करें और हम भी पुत्र—पौत्रों के साथ सदैव स्तुतियों द्वारा आपके गुण—ग्राम का कीर्तन करते रहें ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****नद्यः सूक्तम्**

देवता—नद्य

ऋषि—विश्वामित्र

छन्द— १-१२तक त्रिष्टुप १३ में अनुष्टुप

मण्डल—३

सूक्त—३३

मन्त्र—१

संहिता पाठ

प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वेइव विषिते हासमाने ।

गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते ॥१॥

पदपाठ —

प्र। पर्वतानाम् । उशती इति । उपस्थात् । अश्वे इवेत्यश्वेइव । विसिते इति विसिंदे । हासमाने इति । गावांइव । शुभ्रे इति । मातरां । रिहाणे इति । विपाट् । शुतुद्री । पयसा । जवेते इति ॥

अन्वय — पर्वतानाम् उपस्थात् उशती, विषिते हासमाने अश्वे इव, मातरा रिहाणे, शुभ्रे नखा इव, पयसा, विपाट् छुतुद्री प्र जवेते ।

दयानन्द भाष्य —

(प्र) (पर्वतानाम्) मेघानाम् (उशती) कामयमाने (उपस्थात्) समीपात् (अश्वेइव) अश्ववडवाविव (विषिते) विद्याशुभगुणकर्मव्याप्ते (हासमाने) (गावेव) यथा धेनुवृषभौ (शुभ्रे) श्वेते शुभगुणयुक्ते (मातरा) मान्यप्रदे (रिहाणे) आस्वदित्र्यौ । अत्र वर्णव्यत्ययेन लस्य स्थाने रः । (विपाट्) या विविधं पटति गच्छति विपाटयति वा सा (शुतुद्री) शु शीघ्रं तुदति व्यथयति सा (पयसा) जलेन । पयइत्युदकना० ॥ निघं० १।१२॥ (जवेते) गच्छतः ॥

भावार्थ — अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ । यथा पर्वतानां मध्ये वर्तमाना नद्योऽश्वा इव धावन्ति गाव इव शब्दायन्ते तथैव प्रसन्नाः शुभगुणकर्मस्वभावा विद्योन्नतिं कामयमानाः स्त्रियः कन्याः स्त्रियश्च सततं सुशिक्षेरन् ॥

भावार्थ — इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार हैं । जैसे पर्वतों के मध्य में वर्तमान नदियाँ घोड़ों के सदृश दौड़ती और गौओं के सदृश शब्द करती हैं, वैसे ही प्रसन्न और उत्तम गुण, कर्म, स्वभावयुक्त विद्या की उन्नति की कामना करनेवाली स्त्रियाँ कन्याओं और स्त्रियों को निरन्तर शिक्षा देवें ।

सायण भाष्य —

पर्वतानां गिरीणां शैलानाम् उपस्थात् उत्सङ्गान्निर्गत्य उशती समुद्रगमनं कामयमाने । गमने दृष्टान्तः । अश्वेइव । यथा विषिते मन्दुरातो विमुक्ते हासमाने अन्योन्यजवेन स्पर्धमाने । यद्वा हृष्यन्त्यावश्वे इव वडवे इव त्वरया गच्छन्त्यौ परस्परं हृष्यन्त्यौ । तथा गावेव शुभ्रे । यथा द्वौ गावौ शोभमानौ वर्तते तद्वच्छुभ्रे शोभमाने । किंच मातरा । यथा मातरौ धेनू रिहाणे । अन्तर्णीतसन्नर्थो लिहिः । वत्सं जिह्वया लेढुमिच्छन्त्यौ शीघ्रं गच्छतस्यद्वत् समुद्रं गन्तुम् जवात् गच्छन्त्यौ पयसा संयुक्ते विपाट् । कुलविपाटनात् विपाशनाद्वा विमोचनाद्वा



विपाट् । शुतुद्री । शु क्षिप्रं तु तुन्ना तुन्नेव द्रवति गच्छन्तीति शुतुद्री । एतन्नामके नद्यौ प्र जवेते समुद्रं प्रति शीघ्रं गच्छतः । अत्र निरुक्तं पर्वतानामुपस्थादुपस्थानादुशत्यौ कामयमाने अश्वे इव विमुक्ते इति वा विषण्णं इति वा हासमाने हासतिः स्पर्धायां हर्षमाणे वा गावाविव शुभ्रे शोभने मातरौ संरिहाणे विपाट्छुतुद्रयौ पयसा प्रजवेते ; निरु० ९.३९) इति ।। उशती । 'वश कान्तौ' । अस्य शतुर्दित्वात् 'ग्रहिज्यावयि' इत्यादिना संप्रसारणम् । विषिते । 'षिञ् बन्धने' इत्यस्य कर्मणि निष्ठा । संहितायां 'परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसह०' इत्यादिना षत्वम् । 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरः । हासमाने । हासतिः स्पर्धाकर्मा हसे हसने वा । शानच् । तस्य लसार्वधातुकस्वरे कृते धातुस्वरः । रिहाणे । 'लिह आस्वादने' । स्वरितेत्त्वादुभयपदी । शानच् । अदादित्वाच्छपो लुक् । लकारस्य रेफश्छान्दसः । रेफमवलम्ब्य णत्वम् । चित्त्वादन्तोदात्तः । विपाट् । 'पटगतौ' 'पश बाधनस्पर्शनयोः' इति वा ण्यन्तावेतौ विपूर्वौ । शकारस्य व्रश्चादिना षत्वम् । शुतुद्री । छान्दसी रूपसिद्धिः । जवेते । 'जुङ् गतौ' भौवादिः । डित्त्वादात्मनेपदम् । 'आतो डितः' इति इयादेशः । निघातः ।।

शब्दा० — पर्वतानाम्=पर्वतों की, उशती=इच्छा करती हुई, उपस्थात् = गोद से, अश्वे इव = दो घोड़ियों की तरह, विषिते = खुले लगाम वाली, हासमाने = परस्पर स्पर्धा से दौड़ती हुई, गावेव = दो गायों की तरह, शुभ्रे = सफेद रंग की, मातरा = मातायें, रिहाणे = चाटती हुई, विपाट् = विपाट् नाम की सिन्धु की सहायक एक नदी, शुतुद्री = शुतुदी नाम की सिन्धु की एक सहायक नदी, पयसा = जल के प्रवाह से, प्र जवेते = तेजी से बह रही है ।

हिन्दी व्याख्या — पर्वतों की गोद से निकल कर (समुद्र की ओर जाने की) इच्छा करती हुई, (परस्पर) स्पर्धा से दौड़ती हुई, खुले बागवाली दो घोड़ियों की तरह, (बछड़े को) चाटती हुई दो सफेद माता गायों की तरह, विपाट् और शतुद्री (अपने) प्रवाह से तेजी से बह रही है ।

व्याकरण :

उशती — वश कान्तौ । वश्+शतृ(अत्) + डीप्(ई) । 'ग्रहिज्या' सूत्र से सम्प्रसारण होकर = उशती ।

उपस्थात् — उपस्थीयते अत्र । उप+स्था+क (अ) = उपस्थ ।

विषिते — वि+षिञ् बन्धने । वि+षि+क्त = विषित ।

हासमाने — स्पर्धायां हर्षमाणे वा । हास्+शानच् = हासमान ।

शुभ्रे — शुभ कान्तौ । शुभ+र=शुभ्र ।

रिहाणे — लिह आस्वादने । लिह+शानच् (आन) 'ल' को छान्दस 'र' आदेश । न को ण होकर = रिहाण ।

विपाट् — वि+पट+गतौ, अथवा वि+पश बाधनस्पर्शनयोः । वि+पश्+णिच्+क्विप्= विपाश् ।

जवेते — जुङ् गतौ । आत्मनेपदी । लट् लकार, प्रथम पुरुष, द्विवचन ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

**विशेष** — इस सूक्त के सम्बन्ध में यह आख्यान प्रसिद्ध है कि विश्वामित्र ऋषि सुदास नामक राजा के पुरोहित थे। पौरोहित्य से उनको प्रभूत धन प्राप्त हुआ। उस धन को लेकर वे अपने अनुयायियों के साथ विपाशा और क्षुतुद्री नदियों के संगम पर पहुँचे। उन्होंने नदियों के पार जाने की इच्छा की। परन्तु नदियों के अगाध जल को देखकर उन्होंने उनकी स्तुति की।

सायण ने 'उशती' की निष्पत्ति 'वश कान्तौ' से करके इसका अर्थ कामना करती हुई किया है। पीटर्सन ने भी इसी प्रकार निष्पत्ति मानी है। परन्तु उसका अर्थ है — कान्ति से सम्भृत (full of ardour)। विषित = वि+सि to let loose लुई रेनु ने उशती का अर्थ 'joyful ones' किया है। सायण ने हास धातु के दो अर्थ यास्क का अनुकरण करते हुये बताये हैं — स्पर्श करना और प्रसन्न होना। परन्तु पाश्चात्य विद्वान् इसका अर्थ 'दौड़ में दौड़ना' भी करते हैं। पीटर्सन के अनुसार 'ऋग्वेद' में 'हासमान' पद का प्रयोग तीन स्थानों पर हुआ है और इसका भाव है — running a race। लुई रेनु ने यहाँ हासमाने का अर्थ who rush in to the arena किया है।

मण्डल—३

सूक्त—३३

मन्त्र—२

संहिता पाठ

इन्द्रेषिते प्रसवं भिक्षमाणे अच्छा समुद्रं रथ्येव याथः।

समाराणे ऊर्मिभिः पिन्वमाने अन्या वामन्यामप्येति शुभ्रे ॥२॥

पदपाठ —

इन्द्रेषिते। इतीन्द्रऽइषिते। प्रसवम्। भिक्षमाणे इति। अच्छ। समुद्रम्। रथ्याऽइव। याथः। समाराणे इति समऽआराणे। ऊर्मिभिः। पिन्वमाने इति। अन्या। वाम्। अन्याम्। अपि। एति। शुभ्रे इति॥

अन्वय — इन्द्रेषिते, प्रसवम्, भिक्षमाणे, समाराणे, ऊर्मिभिः पिन्वमाने, शुभ्रे समुद्रम् अच्छ रथ्याः इव याथः। वाम् अन्या अन्यम् अपि एति॥

दयानन्द भाष्य —

(इन्द्रेषिते) इन्द्रेण सूर्येण वर्षा द्वारा प्रेरिते (प्रसवम्) प्रकृष्टमैश्वर्यम् (भिक्षमाणे) (अच्छ) सम्यक्। अत्र निपातस्य चेति दीर्घः। (समुद्रम्) समुद्रवन्त्यापो यस्मिँस्तं मेघं सागरं वा। समुद्र इति मेघना०॥ निघं० १।१०॥१२ (रथ्येव) रथेषु साधू अश्वा इव (याथः) गच्छथः (समाराणे) सम्यक् समन्ताद्राणं दानं ययोस्ते (ऊर्मिभिः) तरङ्गैः (पिन्वमाने) सेक्यौ (अन्या) भिन्ना (वाम्) युवयोः (अन्याम्) (अपि) (एति) (शुभ्रे) शोभायमाने॥

भावार्थ — अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ। यथा युवतयो यूनः पतीन् प्राप्य प्रसवमिच्छन्ति नद्यः समुद्रं गच्छन्त्यश्वा मार्गे रथं नयन्ति तथैवाऽध्यापिकोपदेशि— काभिर्विद्यासुशिक्षादानेन सर्वाः स्त्रियः शुभगुणकर्मस्वभावाः सम्पादनीयाः॥



भावार्थ — इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार हैं। जैसे जवान स्त्रियाँ जवान पतियों को प्राप्त होके गर्भोत्पत्ति की इच्छा करती हैं और नदियाँ समुद्र के प्रति जाती हैं और घोड़े मार्ग में रथ को ले चलते हैं वैसे ही पढ़ने और उपदेश देनेवालियों को चाहिये कि विद्या व उत्तम शिक्षा के दान से संपूर्ण स्त्रियों को उत्तम गुण, कर्म, स्वभावयुक्त करें।।

सायण भाष्य —

हे नद्यौ इन्द्रेषिते इन्द्रेण प्रेषिते प्रसवं तस्येन्द्रस्यानुज्ञां भिक्षमाणे प्रार्थयमाने युवां समुद्रम् अच्छ आभिमुख्येन याथः गच्छथः। तत्र दृष्टान्तः। रथ्येव इति। यथा रथिनौ लक्ष्यं देशमभिगच्छतस्तद्वत्। किं कुर्वत्यौ। समाराणे परस्परं संगच्छन्त्यौ ऊर्मिभिः तरङ्गैः पिन्वमाने परिसरप्रदेशं संतर्पयन्त्यौ शुभ्रे शोभमाने। युवां समुद्रं गच्छथ इति पूर्वेणान्वयः। तथा वां युवयोर्मध्ये अन्या एका अन्याम् अपरां नदीम् अप्येति अपिगच्छति। परस्परमैक्यमापद्यत इत्यर्थः।। इन्द्रेषितः। 'इष गतौ' इत्यस्य कर्मणि निष्ठायाः 'तीषसह०' इत्यादिना इडागमः। तृतीया कर्मणि' इति पूर्वपदस्वरः। प्रसवम्। 'षू प्रेरणे' इत्यस्य अप्। थाथादिस्वरः। भिक्षमाणे। 'भिक्ष याच्यायाम्'। आत्मनेपदी। शानचो लसार्वधातुकस्वरेणानुदात्तत्वे धातुस्वरः। रथ्येव। रथस्येमौ। तस्येदम् इत्यर्थे 'रथाद्यत्' इति यत् प्रत्ययः। तित्स्वरितः। इवेन विभक्त्यलोपः इत्यादि। याथः यातेर्लटि रूपम्। समाराणे। 'ऋ गतौ' इत्यस्य लिट्। संपूर्वस्यार्तेः 'समो गमि०' इत्यादिना आत्मनेपदत्वात् तस्य कानजादेशः। 'ऋच्छत्यृताम्' इति गुणः। पिन्वमाने। 'पिवि सेचने'। भूवादिः। लसार्वधातुकस्वरेण शानचोऽनुदात्तत्वे धातुस्वरः।। शब्दा० — इन्द्रेषिते = इन्द्र के द्वारा भेजी गई, प्रसवम् = प्रवाहित होने के लिए, भिक्षमाणे = प्रार्थना करती हुई, अच्छ = और, समुद्रम् = समुद्र की, रथ्येव = दो रथियों की तरह, याथः = जा रही हो, समाराणे = एक साथ जाती हुई, ऊर्मिभिः = लहरों से, पिन्वमाने = उमड़ती हुई, अन्या = एक, वाम् = तुम दोनों, अन्याम् = दूसरे के पास, अपि = भी, एति = जा रही है, शुभ्रे = हे सफेद वर्ण वाली।।

हिन्दी व्याख्या — इन्द्र द्वारा भेजी गई, बहने के लिये प्रार्थना करती हुई, दो रथियों की तरह समुद्र की ओर जा रही हो। हे शुभ्रे! एक साथ जाती हुई, लहरों से उमड़ती हुई, तुममें से प्रत्येक एक दूसरे की ओर जा रही हो।

व्याकरण :

इन्द्रेषिते — इन्द्रेण इषिते। इष् गतौ। इष्+क्त, इट् का आगम=इषित।

भिक्षमाणे — भिक्ष याच्यायाम्। भिक्षु+शानच् = भिक्षमाण

प्रसवम् — प्र+पू प्रेरणे। प्र+सू+अ (अप्) = प्रसव।

रथ्या — रथस्य इदम्। 'तस्येदम्' अर्थ में 'रथाद्यत्' सूत्र से 'यत्' प्रत्यय। रथ+य= रथ्य।

याथ — या गतौ। लट् लकार, मध्यम पुरुष, द्विवचन।

समाराणे — सम्+आ+ऋ गतौ। ऋ+आन (कानच्)। गुण होकर = अराण।

सम्+आ+अराण=समाराण।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

पिन्वमाने — पिवि सेचने। पिक्+आन (शानच्)। नुम और मुक् का आगम होकर = पिन्वमान।

विशेष — 'प्रसवं भिक्षमाणे' का अर्थ पीटर्सन ने seeking acceleration और लुई रेनु ने imploring (the signal of) the race किया है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार यहाँ पिन्वमाने का अर्थ पफूलती हुई (swelling) है। पीटर्सन 'ऊर्मिभिः पिन्वती समाराणे' इस प्रकार अन्वय करके flowing together with swelling waves अर्थ किया है। परन्तु लुई रेनु ने समाराणे को अलग तथा ऊर्मिभिः पिन्वती को अलग विशेषण मान कर अर्थ किया है—When you have joined each other, swelling yourselves with waves.

मण्डल—३

सूक्त—३३

मन्त्र—३

संहिता पाठ

अच्छा सिन्धुं मातृत्तमामयासम् विपाशमुर्वी सुभगामगन्म ।  
वत्समिव मातरां संरिहाणे समानं योनिमनुं सञ्चरन्ती ॥३॥

पदपाठ —

अच्छं । सिन्धुम् । मातृत्तमाम् । अयासम् । विपाशम् । उर्वीम् । सुभगाम् । अगन्म् । वत्सम् । इव । मातरां । संरिहाणे इति । समरिहाणे । समानम् । योनिम् । अनुं । सञ्चरन्ती इति । समञ्चरन्ती ।।  
अन्वय — मातृत्तमाम् सिन्धुम् अच्छ अयासम्, उर्वीम्, सुभगाम् विपाशम् अगन्म् । मातरा वत्सम् इव संरिहाणे समानम् योनिम् अनुसञ्चरन्ती ।।

दयानन्द भाष्य —

(अच्छ) उत्तमरीत्या । अत्र निपातस्य चेति दीर्घः । (सिन्धुम्) समुद्रम् (मातृत्तमाम्) अतिशयेन मातरौ मातृवत्पालिका नद्यः । मातर इति नदीनाम् ॥ निघं० १।१३ ॥ अत्र सुपां व्यत्ययः । (अयासम्) अयासिषं प्राप्नुयाम । अत्र वाच्छन्दसीतीडभावः । (विपाशम्) विगता पाट् बन्धनं यस्यान्ताम् (उर्वीम्) महतीम् (सुभगाम्) सौभाग्ययुक्ताम् (अगन्म्) प्राप्नुयाम (वत्समिव) यथा गौर्वत्सम् (मातरा) मातृवद्वर्त्तमाने (संरिहाणे) सभ्यगास्वादकर्त्र्यौ (समानम्) (योनिम्) गृहम् (अनु) (सञ्चरन्ती) सभ्यगच्छन्त्यौ जानन्त्यौ ।।

भावार्थ — अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ । यथा समुद्रं नद्यो वत्सान् गावो दम्पती समानं गृहं च प्राप्नुतस्तथैवाऽध्यापिकोपदेशिका अस्मान् प्राप्नुवन्तु वयं च याः कन्याः सौभाग्यवत्यश्च ताः प्राप्नुयाम ।।

भावार्थ — इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार हैं । जैसे समुद्र को नदियाँ और बछड़ों को गौवें और स्त्री-पुरुष एक गृह को प्राप्त होते हैं, वैसे ही पढ़ाने और उपदेश देनेवाली स्त्रियाँ हम लोगों को प्राप्त हों और हम लोग जो कन्या और सौभाग्यवाली स्त्रियाँ हों उनको प्राप्त हों ।।



सायण भाष्य -

हे नद्यौ मातृतमाम् अतिशयेन मातरं सिन्धुं स्रवन्तीं शुतुद्रीं त्वाम् अच्छ आभिमुख्येन अयासं विश्वामित्रोऽहं प्राप्तोऽभूवम् । उर्वी महतीं सुभगां सौभाग्यवतीं विपाशं त्वाम् अगन्म वयं प्राप्ताः स्म । किं कुर्वत्यौ । मातरा मातरौ द्वे धेनू वत्समिव संरिहाणे । अन्तर्णीतसन्नर्थो लिहिः । जिह्वया लेढुमिच्छन्त्यौ यथा वत्समनुगच्छतस्तद्वत् समानम् एकं योनिं स्थानं समुद्रम् अनु अभिलक्ष्य संचरन्ती सम्यक् चरन्त्यौ । युवामयासिषमिति पूर्वेणान्वयः ।। अयासम् । 'या प्रापणे' इत्यस्य रूपम् । इडभावश्छान्दसः । अगन्म । गमेर्लङि 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुक् । 'म्बोश्च' इति मकारस्य नकारः । निघातः । संचरन्ती । चरतिर्गत्यर्थः । तृतीया- युक्तत्वाभावात् आत्मनेपदाभावः । शतुर्लसार्वधातुकस्व- रेणानुदात्तत्वे कृते धातुस्वरः ।। शब्दा० - अच्छ = ओर, सिन्धुम् = नदी, मातृतमाम् = श्रेष्ठ माता, अयासम् = भाया हूँ, विपाशम् = विपाद नदी, उर्वीम् = चौड़ी, सुभगाम् = सुन्दर, सौभाग्यवती, अगन्म = आया हूँ, वृत्समिव = बछड़े की तरह, मातरा = मातायें, संरिहाणे = एक साथ चाटती हुई, समानम् = समान, योनिम् = स्थान, अनु = लक्ष्य कर, सञ्चरन्ती = एक साथ बढ़ती हुई ।।

हिन्दी व्याख्या - श्रेष्ठ नदी माता (शुतुद्री) के पास आया हूँ, चौड़ी तथा सुन्दर विपाद के पास आया हूँ, बछड़े को चाटती हुई दो माताओं की तरह, एक ही स्थान (समुद्र को लक्ष्य कर) बहती हुई (शुतुद्री और विपाद के पास आया हूँ) ।

व्याकरण :

मातृतमाम् - अतिशयेन मातरम् । अतिशय अर्थ में तमप् प्रत्यय ।

अयासम् - या प्रापणे । लुङ्लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन ।

सुभगाम् - शोभनः भगः यस्याः ताम् । बहुव्रीहि समास ।

विशेष - सायण ने 'समानं योनिम्' का अर्थ 'एक स्थान समुद्र की ओर' किया है । परन्तु पाश्चात्य विद्वान् यहाँ योनि का अर्थ नदी का बहने या आश्रय स्थान (river bed) करते हैं । पीटर्सन और लुई रेन के अनुसार इस वाक्य का अर्थ है — They flow along a common bed । पीटर्सन का कहना है कि 'योनि' पद का अर्थ सामान्यतः place of residence है, परन्तु यहा 'bed' है ।

मण्डल-३

सूक्त-३३

मन्त्र-४

संहिता पाठ

एना वयं पर्यसा पिन्वमाना अनु योनिं देवकृतं चरन्तीः ।

न वर्तवे प्रसवः सर्गतक्तः किंयुर्विप्रो नद्यो जोहवीति ।।४।।

पदपाठ -

एना । वयम् । पर्यसा । पिन्वमानाः । अनु । योनिम् । देवऽकृतम् । चरन्तीः । न । वर्तवे ।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

प्रसवः । सर्गतक्तः । किंयुः । विप्रः । नद्यः । जोहवीति ॥

अन्वय — एना पयसा पिन्वमानाः वयम् देवकृतम् योनिम् अनुचरन्तीः । सर्गतक्तः प्रसवः वर्तवे न । किं युः विप्रः नद्यः जोहवीति ॥

दयानन्द भाष्य —

(एना) एनेन (वयम्) (पयसा) उदकेन (पिन्वमानाः) सिञ्चमानाः (अनु) (योनिम्) उदकम् । योनिरित्युदकना० ॥ निघं० १।१२ ॥ (देवकृतम्) देवैर्विद्वद्भिः कृतं निष्पादितं शास्त्रम् (चरन्तीः) प्राप्नुवन्त्यः (न) (वर्तवे) वरितुं स्वीकर्तुम् (प्रसवः) सन्तानः (सर्गतक्तः) यः सर्ग उत्पत्तौ तक्तो हरितः । अत्रवाच्छन्दसीतीडभावः । (किंयुः) आत्मनः किमिच्छुः । अत्र वाच्छन्दसीति क्यच् प्रतिषेधो न । (विप्रः) मेधावी (नद्यः) सरितः (जोहवीति) भृशं शब्दयति ॥  
भावार्थ — यथा सोदका नद्यः सर्वोपकारका भवन्ति कदाचिज्जलहीना न भवन्ति तथैव यः कृतब्रह्मचर्य्ययोः स्त्रीपुरुषयोः सन्तानो भूत्वा धर्म्येण ब्रह्मचर्य्येणाऽखिला विद्याः प्राप्य विद्वान् जायते स एव सर्वापनुपकर्तुं शक्नोति ॥

भावार्थ — जैसे जल सहित नदियाँ सबकी उपकार करने वाली होतीं और कभी जल से हीन नहीं होती हैं, वैसे जो ब्रह्मचर्य से युक्त स्त्री और पुरुष का सन्तान उत्पन्न हो और धर्मसम्बन्धी ब्रह्मचर्य से सम्पूर्ण विद्याओं को प्राप्त होकर विद्वान् होता है, वही सबका उपकार कर सकता है ।

सायण भाष्य —

एवं स्तुते नद्यौ विश्वामित्रं प्रत्यूचतुः । एना एनेन पयसा पिन्वमानाः संतर्पयन्त्यः देवकृतं देवेनेन्द्रेण कृतं संदिष्टं योनिं स्थानं समुद्रम् अनु लक्ष्यकृत्य चरन्तीः गच्छन्त्यः वयम् आस्महे । द्वयोर्बहुवचनं पूजार्थम् । तासामस्माकं सर्वतक्तः सर्गे गमने प्रवृत्तः प्रसवः उद्योगः न वर्तवे निवर्तनाय न भवति । किंयुः किमिच्छन् असौ विप्रः ब्राह्मणः नद्यः नदीः अस्मान् जोहवीति भृशमाह्वयति ॥ एना । एतच्छब्दस्य तृतीयाया एनादेशः । 'सुपां सुलुक्' इति तृतीयाया आजादेशः । 'ऊडिदम्०' इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । पिन्वमानाः । 'पिवि सेचने' । देवकृतम् । 'तृतीया कर्मणि' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । वर्तवे । 'वृत्तु वर्तने' । तुमर्थे तवेन्द्रत्ययः । नित्स्वरः । सर्गतक्तः । 'क्ते च' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । किंयुः । किमिच्छन् । 'क्यचि मान्ताव्ययप्रतिषेधः' (पा०सू० ३.१.८.१) इति छान्दसत्वादत्र प्रतिषेधो न भवतीति क्यच् । 'क्याच्छन्दसि' इत्युप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरः । नद्यः । छान्दसो यणादेशः । जोहवीति । ह्वेजः यङ्लुकि 'अभ्यस्तस्य च' इति संप्रसारणे कृते 'गुणो यङ्लुकोः' इत्यभ्यासस्य गुणः । 'यङो वा' इति इडागमः । गुणः । निघातः ।

शब्दा० — एना = ऐसी, वयम् = हम लोग, पयसा = धारा से, पिन्वमानाः = उमड़ती हुई, अनु = लक्ष्य कर, योनिम् = स्थान को, देवकृतम् = देवताओं द्वारा निर्मित, चरन्तीः = विचरण करती हुई, न = नहीं, वर्तवे = रुकने के लिए, प्रसवः = गति, सर्गतक्तः = स्वाभाविक रूप से प्रवाहित, किंयुः = किस इच्छा से, विप्रः = ब्राह्मण, नद्यः = नदियों



की, जोहवीति = बार-बार स्तुति कर रहा है ।

हिन्दी व्याख्या — ऐसी हम लोग, अपनी धारा से उमड़ रही हैं तथा देव (इन्द्र) द्वारा निर्मित स्थान पर चल रही हैं। स्वाभाविक रूप से प्रवाहित हम लोगों की गति रुकने के लिए नहीं है। किस इच्छा से ऋषि (विश्वामित्र) नदियों की बार-बार स्तुति कर रहा है।

व्याकरण :

एना — इदम् शब्द। तृतीया विभक्ति के एकवचन में 'इदम्' को एव आदेश और विभक्ति को आ आदेश।

देवकृतम् — देवेन कृतम्। तृतीया तत्पुरुष समास। कृ+क्त = कृत।

वर्तवे — 'वृ' धातु, तुमुन् के अर्थ में वैदिक त्वेन् प्रत्यय। वृ+तवे= वर्तवे।

प्रसवः — प्र+षू प्रेरणे। प्र+सू+अ (अप्) = प्रसवः

सातित्क — सर्गे तक्त। सृज्+धज् = सर्ग। तक्+क्त = तक्त।

किंयुः — 'किम् इच्छन्' अर्थ में क्यच् प्रत्यय। किम्+य। 'क्याच्छन्दसि' सूत्र से न प्रत्यय = किंयु।

जोहवीति — पुनः पुनः ह्वयते। यङ् प्रत्यय, यङ् का लोप, द्वित्व, अभ्यास को 'ज' आदेश और गुण, सम्प्रसारण, इट् का आगम, गुण और अव आदेश होकर = जोहवीति।

विशेष — पयसा पिन्वमाना का अर्थ पाश्चात्य विद्वानों ने swelling with water किया है। और योनि का अर्थ river bed किया है। इस स्थान पर बहने के लिये इन्द्र ने उन नदियों को निर्देश किया था। नदियाँ दो हैं, तथापि 'वयम्' में बहुवचन का प्रयोग आदर के लिये है। इस सूक्त में नदियाँ जब कुछ कहती हैं, तो अपने लिये बहुवचन का प्रयोग करती हैं।

सायण ने 'वर्तवे' पद को वृत्+तवे से निष्पन्न बताया है। सायण ने इस पद को 'वर्तवे' इस रूप से निष्पन्न बताकर अर्थ किया—निवर्तनाय (लौटने के लिये)। परन्तु पीटर्सन इस पद को 'वृ to stop +तवे' से निष्पन्न बताते हैं। यह अधिक उपयुक्त है। पीटर्सन ने 'सर्गतक्तः' को सृज् to let loose तथा 'तक् to rush' से निष्पन्न बताकर अर्थ किया है — dashing forward on account of the initial urge।

मण्डल-३

सूक्त-३३

मन्त्र-५

संहिता पाठ

रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुपं मुहूर्तमेवैः।

प्र सिन्धुमच्छां ब्रुहती मनीषावस्युरह्वे कुशिकस्य सुनुः॥५॥

पदपाठ —

रमध्वम्। मे। वचसे। सोम्याय। ऋतावरीः। उप। मुहूर्तम्। एवैः। प्र। सिन्धुम्। अच्छ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

बृहती। मनीषा। अवस्युः। अहे। कुशिकस्य। सूनुः॥

अन्वय — ऋतावरीः मे सोम्याय वचसे एवैः मुहूर्तम् उपरमध्वम्। कुशिकस्य सूनुः अवस्युः सिन्धुम् अच्छ बृहती मनीषा प्र अहे॥

**दयानन्द भाष्य —**

(रमध्वम्) क्रीडध्वम् (मे) मम (वचसे) वचनाय (सोम्याय) सोम इव शान्तिगुणयुक्ताय (ऋतावरीः) ऋतं पुष्कलमुदकं विद्यते यासु ताः (उप) (मुहूर्तम्) कालावयवम् (एवैः) प्रापकैर्गुणैः (प्र) (सिन्धुम्) समुद्रम् (अच्छ) सम्यक्। अत्र निपातस्य चेति दीर्घः। (बृहती) महती (मनीषा) प्रज्ञा (अवस्युः) आत्मनोऽव इच्छुः (अहे) प्रशंसामि (कुशिकस्य) विद्यानिष्कर्षप्राप्तस्य। अत्र वर्णव्यत्ययेन मूर्द्धन्यस्य तालव्यः। (सूनुः) अपत्यमिव वर्तमानः॥॥॥  
भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा नद्यः समुद्राऽभिमुखं गच्छन्ति तथैव विद्याधर्म्यव्यवहारं प्रत्यभिगच्छन्तु येन सुखेन समयो गच्छेत्॥

भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जैसे नदियाँ समुद्र के सम्मुख जाती हैं, वैसे ही मनुष्य लोग विद्या और धर्मसम्बन्धी व्यवहार को प्राप्त हों, जिससे सुखपूर्वक समय व्यतीत होवे।

**सायण भाष्य —**

विश्वामित्रो नदीः प्रति ब्रूते। ऋतावरीः। ऋतमुदकम् तद्वत्यो हे नद्यो यूयं मे विश्वामित्रस्य मम सोम्याय। उत्तीर्याहं सोमं संपादयामीत्येवं सोमसंपादिने वचसे तदर्थम् एवैः। पञ्चम्यर्थे तृतीया। शीघ्रगमनेभ्यः मुहूर्तं मुहूर्तमात्रम् उप रमध्वम्। उपपूर्वो रमिरुपसंहारे वर्तते। क्षणमात्रं शीघ्रगमनादुपरता भवत। सामान्येन नदीषूच्यमानासु समीहितं प्रयोजनमकुर्वतीषु पुरोवर्तिनीं शुतुद्रीं प्रति ब्रूते। कुशिकस्य राजर्षेः सूनुः विश्वामित्रोऽहं बृहती महत्या मनीषा मनीषया स्तुत्या अवस्युः आत्मनो रक्षणमिच्छन् सन् सिन्धुं शुतुद्रीं त्वाम् अच्छ आभिमुख्येन प्र अहे प्रकर्षणाह्वयामि। अत्र निरुक्तम् — 'उपरमध्वं मे वचसे सोम्याय सोमसंपादिना ऋतावरीऽऋतवस्य ऋतमित्युदकनाम प्रत्युतं भवति मुहूर्तमेवैग्यनैरवनैर्वा। प्राभिह्वयामि सिन्धुं बृहत्या महत्या मनीषया मनस ईषया स्तुत्या प्रज्ञया यावनाय कुशिकस्य सूनुः। कुशिको राजा बभूव (निरु० २.२५) इति॥ रमध्वम्। 'रमु उपरमे'। उपपूर्वाद्रमतेः विभाषाकर्मकात् (पा०सू० १.३.८५) इत्यात्मने पदम्। ऋतावरीः ऋतशब्दान्मत्वर्थे 'छन्दसीवनिपौ' इति वनिप्। 'वनो र च' इति डीप् रेफश्चान्तादेशः। 'वा छन्दसि' इति सवर्णदीर्घः। आमन्त्रितस्य पादादित्वात् षाष्टिकमाद्युदात्तत्वम्। एवैः। 'इण् गतौ'। 'इण्शीङ्भ्यां वन्'। आर्धधातुकलक्षणो गुणः। नित्स्वरः। बृहती मनीषा। उभयत्र तृतीयायाः पूर्वसवर्णदीर्घः। अवस्युः। अवो रक्षणमिच्छन्। सुप आत्मनः क्यच्। 'नः क्ये' इति नकारान्तस्य पदसंज्ञाया नियमितत्वादत्र सकारस्य रुर्न भवति। 'क्याच्छन्दसि' इत्युप्रत्ययः। अहे। ह्यतेर्लुङि सिचः 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' इत्यङादेशः। गुणः। निघातः॥

शब्दा० — रमध्वम् = रुक जावो, मे = मेरे, वचसे = वचन के लिये, सोम्याय = सोम



भरे, ऋतावरीः = हे पवित्र जलवाली, मुहूर्तम् = थोड़ी देर के लिए, एवैः = जाने से, सिन्धुम् = नदी को, अच्छ = लक्ष्य कर, बृहती = ऊँची, मनीषा = स्तुति से, अवस्युः = सहायता चाहने वाला, प्र अहे = आह्वान किया है, कुशिकस्य = कुशिक का, सूनूः = पुत्र।

हिन्दी व्याख्या — हे पवित्र जलवाली, सोम-भरे मेरे वचनों (के प्रति आदर भावना से) अपनी यात्रा से क्षण भर के लिये रुक जावो। (अपनी) सहायता का इच्छुक कुशिक का पुत्र(मैंने) ऊँची स्तुति से नदी(शुतुद्री) का आह्वान किया है।

व्याकरण :

ऋतावरीः — 'ऋतम् यस्याः सा' अर्थ में ऋत शब्द से मतुप् के अर्थ में 'छन्दसीवनिपौ' सूत्र से वनिप् प्रत्यय। ऋत्+वन्। 'वनो र च' सूत्र से डीप् और वन् के न को र आदेश। 'वा छान्दसि' से दीर्घ होकर = ऋतावरी।

एवैः — इण् गतौ 'इण्शीङ्भ्यां वन्' सूत्र से वन् प्रत्यय। इ+व। गुण होकर = एव। तृतीया का बहुवचन = एवैः। यहाँ पञ्चमी के अर्थ में तृतीया है।

मनीषा — मनसः ईषा = मनीषा। तृतीया के अर्थ में प्रथमा।

अवस्युः — 'अवः आत्मन इच्छति' अर्थ में 'सुप आत्मनः क्यच्' क्यच् प्रत्यय। अवस्+य। 'क्याच्छन्दसि' सूत्र से 'उ' प्रत्यय = अवस्युः।

विशेष — यहाँ सायण ने ऋत् का अर्थ 'उदक' करके 'ऋतावरी' का अर्थ 'जल से भरी हुई' किया है। सायण ने अपने अर्थ की पुष्टि यास्क के निरुक्त से की है — ऋतमित्युदक नाम। पीटर्सन ने 'ऋत' का अर्थ 'आदरणीय पवित्र' मानकर 'ऋतावरी' का अर्थ 'holy one' किया है। लुई रेनु ने इस शब्द का अर्थ riteobservers किया है। उसके अनुसार 'ऋत' का अर्थ 'दैनिक यज्ञ' है।

सायण 'सोम्याय' पद से यह अभिप्राय लेते हैं कि ऋषि ने नदी के पार जाकर सोम का सम्पादन करना है, अतः उनका वचन 'सौम्य' है। यास्क ने भी 'सोम्याय' का अर्थ 'सोमसम्पादिने' किया है। पीटर्सन इससे यह अभिप्राय लेते हैं कि विश्वामित्र ऋषि अपने कथन के साथ सोम भी प्रदान कर रहे हैं। (my words that have accompanied the Soma)। लुई रेनु सोम्याय में उपमा मानते हैं। विश्वामित्र के वचन सोम के समान मधुर है [my speech (sweet like) the Soma]।

सायण ने 'मनीषा' का अर्थ 'स्तुति' किया है। पीटर्सन इसका अर्थ अभिलाषा (longing) करते हैं। लुई रेनु ने इसका अर्थ विचार (thought) किया है। यास्क के अनुसार 'मनीषा' का अर्थ 'स्तुति अथवा प्रज्ञा' है।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

मण्डल-३

सूक्त-३३

मन्त्र-६

संहिता पाठ

इन्द्रो अस्माँ अरदद्वज्रबाहुरपाहन्वृत्रं परिधिं नदीनाम् ।  
 देवोऽनयत्सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः ॥६॥

पदपाठ -

इन्द्रः । अस्मान् । अरदत् । वज्रबाहुः । अप । अहन् । वृत्रम् । परिधिम् । नदीनाम् । देवः ।  
 अनयत् । सविता । सुपाणिः । तस्य । वयम् । प्रसवे । यामः । उर्वीः ।

अन्वय - वज्रबाहुः इन्द्रः अस्मान् अरदत् । नदीनाम् परिधिम् वृत्रम् अपाहन् । सविता  
 सुपाणिः देव अनयत् । वयम् उर्वीः तस्य प्रसवे यामः ॥

दयानन्द भाष्य -

(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (अस्मान्) (अरदत्) विलिखेत् (वज्रबाहुः)  
 शस्त्रभुजः (अप) (अहन्) हन्ति (वृत्रम्) आवरकं मेघम् (परिधिम्) सर्वतो धीयन्ते नद्यो  
 यस्मिंस्तम् (नदीनाम्) (देवः) दिव्यगुणस्वभावः (अनयत्) नयति (सविता) सूर्यः (सुपाणिः)  
 शोभनहस्तः (तस्य) (वयम्) (प्रसवे) ऐश्वर्य्ये (यामः) प्राप्नुयामः (उर्वीः) बहुसुखप्रदाः प्रजाः ।  
 भावार्थ - अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यथा सूर्यो भूम्यादीनाकर्षणेन व्यवस्थाप्य वर्षाः  
 कृत्वैश्वर्य्यं जनयति तथैव वयं सद्गुणानाकृष्याऽरीन् विजित्य राज्यश्रियं जनयेम ।

भावार्थ - इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । जैसे सूर्य, भूमि आदि पदार्थों को  
 आकर्षण से यथास्थान ठहरा और वृष्टि करके ऐश्वर्य्य को उत्पन्न करता है वैसे ही हम  
 लोग उत्तम गुणों का आकर्षण और शत्रुओं को जीत करके राज्य की शोभा को प्राप्त  
 करें ॥

सायण भाष्य -

नद्यः प्रत्यूचुः । हे विश्वामित्र वज्रबाहु । वज्रयुक्तो बाहुर्यस्यासौ वज्रबाहुः ।  
 तादृशो बलवान् इन्द्रः नदीः अस्मान् अरदत् । रदतिः खनतिकर्मा । अखनत् । कथमखनत् ।  
 उच्यते । नदीनां शब्दकारिणीनामपां परिधिं परितो निहितमुदकमन्तः कृत्वा परितो  
 वर्तमानमित्यर्थः । तादृशं वृत्रम् । वृणोत्याकाशमिति वृत्रो मेघः । तं मेघम् अपाहन् जघान ।  
 तस्मिन् हते आपः पतिताः । ताभिर्गच्छन्तीभिर्वयं खाताः । एवं मेघहननद्वारेणाखनत् । न  
 केवलमखनत् किं तर्हि सविता सर्वस्य जगतः प्रेरकः सुपाणिः शोभनहस्तः उत्पत्तिस्थिति-  
 कर्तृत्वात्तादृशः देवः द्योतमानः इन्द्रः अस्मान् अनयत् । मेघभेदनं कृत्वोदकप्रेरणेन समुद्रमपूरयत् ।  
 तस्य तादृश-सामर्थ्योपेतस्य इन्द्रस्य प्रसवे अभ्यनुज्ञायां वर्तमानाः उर्वीः उदकैः प्रभूताः वयं  
 यामः गच्छामः । न तव वचनादुपरमामहे । उक्तार्थं यास्को ब्रवीति - 'इन्द्रो अस्मानरदद्वज्रबाहू  
 रदतिः खनतिकर्मपाहन्वृत्रं परिधिं नदीनामिति व्याख्यातम् । देवोऽनयत्सविता सुपाणिः  
 कल्याणपाणिः । पाणिः पणायतेः पूजाकर्मणः प्रगृह्य पाणी देवान् पूजयन्ति । तस्य वयं प्रसवे  
 याम उर्वीरुर्व्यः' (निरु० २.२६) इति ॥ अरदत् । रदतेर्लङि रूपम् । वज्रबाहुः । बहुव्रीहौ



**नद्यः सूक्त ( मण्डल-३, सूक्त-३३ )**

पूर्वपदस्वरः । अहन् । हन्तेर्लङि रूपम् । निघातः । परिधिम् । 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' इत्यस्मात् कर्मण्युपसर्गे 'धोः किः' इति किप्रत्ययः । आतो लोपः । कृदुत्तरपदस्वरः । अनयत् । नयतेर्लङि रूपम् । सुपाणिः । 'पण व्यवहारे स्तुतौ च' । 'अशिपणाय्यो रुडायलुकौ च' (उ०सू० ४.५७२) इतीप् । आयलुक् । बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' इति स्वरः । प्रसवे । 'षू प्रेरणे' । 'ऋदोरप्' इति भावेऽप्रत्ययः । 'थाथघञ्क्ता' इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । यामः । 'या प्रापणे' इत्यस्य लटि रूपम् । निघातः । उर्वीः । उरुशब्दात् 'वोतो गुणवचनात्' इति डीप् । 'वा छन्दसि' इति सवर्णदीर्घः । प्रत्ययस्वरः ।

शब्दा० — इन्द्रः = इन्द्र ने, अस्मान् = हम लोगों को, अरदन् = खोद कर बाहर किया, वज्रबाहुः = हाथ में वज्र धारण करने वाले ने, अप अहन् = मारा, वृत्रम् = वृत्र नामक असुर को, परिधिम् = घेरने वाले, नदीनाम् = नदियों का, देवः = देव ने, अनयत् = लाया, सविता = सवितृ ने, सुपाणिः = सुन्दर हाथ वाले, तस्य = उनकी, वयम् = हम लोग, प्रसवे = आज्ञा में, यामः = जा रही हैं, उर्वीः = चौड़ी ।

हिन्दी व्याख्या — हाथ में वज्र धारण करने वाले इन्द्र ने हमको खोद कर बाहर किया । उसने नदियों को घेरने वाले वृत्र को मारा । सुन्दर हाथ वाले सवितृ देव ने हम लोगों को लाया । हम जितनी चौड़ी हैं, उसी की आज्ञा में (निरन्तर) बहती हैं ।

**व्याकरण :**

अरदत् — 'रद् धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

वज्रबाहुः — वज्रः बाहौ यस्य स । बहुव्रीहि समास ।

परिधिम् — परितः दधाति इति तम् । परि+धा । 'उपसर्गे धोः किः' सूत्र से 'कि' प्रत्यय । परि+धा+इ (कि) = परिधि ।

सुपाणिः — शोभनौ पाणी यस्य सः । 'पण व्यवहारे स्तुतौ च' इस धातु से 'अशिपणाय्यो रुडायलुकौ च' सूत्र से इण् प्रत्यय । पण्+इ (इण्) । आदि अच् को वृद्धि होकर = पाणि ।

उर्वीः — 'उरू' शब्द से 'ओतो गुणवचनात्' सूत्र से 'डीप्' प्रत्यय । उरू+ई (डीप्) यणादेश होकर = उर्वी ।

**विशेष** — इस मन्त्र में कवि के कहने का अभिप्राय यह है कि इन्द्र ने वज्र द्वारा खोद कर नदियों का मार्ग बनाया था । आकाश में स्थित मेघों के जल को वृत्र में रोक रखा था । इन्द्र ने वृत्र का वध करके उन जलों को मुक्त किया और इससे नदियाँ जलों से भर कर विशाल हो गई । वह इन्द्र ही नदियों को उनके मार्ग पर बहाता है और बहने के लिये प्रेरित करता है । इस प्रकार नदियाँ विश्वामित्र से कह रही हैं कि हम इन्द्र के निर्देशन में बहती हैं । तुम्हारे कहने से कैसे रुकें ?

सायण ने 'नदीनाम्' का अर्थ 'शब्दकारिणीनाम् अपाम्' किया है । परन्तु पीटर्सन और लुई रेनु इस शब्द का अर्थ नदियाँ (rivers) ही करते हैं । सायण ने देवः, सविता



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

और सुपाणि, इन तीनों शब्दों को इन्द्र का विशेषण मानकर अर्थ किया। परन्तु ये दूसरे पाश्चात्य विद्वान् सुपाणि और देवः को सविता का विशेषण मान कर अर्थ करते हैं — The god Savitar, of beautiful hands, has led us.

मण्डल—३

सूक्त—३३

मन्त्र—७

संहिता पाठ

प्रवाच्यं शश्वधा वीर्यन्तदिन्द्रस्य कर्म यदहिं विवृश्चत् ।  
वि वज्रेण परिषदो जघानायन्नापोऽयनमिच्छमानाः ॥७॥

पदपाठ —

प्रवाच्यम् । शश्वधा । वीर्यम् । तत् । इन्द्रस्य । कर्म । यत् । अहिम् । विवृश्चत् । वि । वज्रेण ।  
परिषदः । जघान । आयन् । आपः । अयनम् । इच्छमानाः ॥

अन्वय — यत् अहिम् विवृश्चत् इन्द्रस्य तत् वीर्यम् कर्म शश्वधा प्रवाच्यम् । परिषदः वज्रेण  
वि जघान । अयनम् इच्छमानाः आपः आयन् ॥

दयानन्द भाष्य —

(प्रवाच्यम्) प्रवक्तुं योग्यम् (शश्वधा) शश्वदेव (वीर्यम्) बलम् (तत्) (इन्द्रस्य)  
सूर्यस्य (कर्म) (यत्) (अहिम्) (विवृश्चत्) छिनत्ति (वि) (वज्रेण) किरणेन (परिषदः)  
परिषीदन्ति यासु ताः सभाः (जघान) हन्ति (आयन्) प्राप्नुयुः (आपः) (अयनम्) भूमिस्थानम्  
(इच्छमानः) अभिलषन्तः ॥

भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । हे मनुष्या यो धर्म कर्म कृत्वा दुष्टनिवारणाय  
स्वबलं दर्शयेत्तस्य तत्कर्मप्रशंसनं सदैव कार्य्यं ये परिषदि सभ्याः स्युस्ते न्यायेन सर्वोन्नतिं  
चिकीर्षेयुः ॥

भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । हे मनुष्यों! जो धर्म सम्बन्धी काम करके  
दुष्ट पुरुषों के निवारण के लिये अपना पराक्रम दिखावे उसके कर्म की प्रशंसा सब काल  
में करनी चाहिये । जो लोग सभा में श्रेष्ठ होवें वे न्याय से सब लोगों की उन्नति करने  
की इच्छा करें ॥

सायण भाष्य —

योऽयमिन्द्रः अहिं मेघं विवृश्चत् उदकप्रेरणार्थं जघानेति यत् कर्म छेदनरूपं  
तत् इदम् तस्य इन्द्रस्य वीर्यं सामर्थ्यं शश्वधा सर्वदा प्रवाच्यं प्रकर्षेण वचनीयम् । तथा स  
इन्द्रः परिषदः परितः सीदत आसीनान् प्रतिबन्धकारिणोऽसुरान् वज्रेण वि जघान । अथ  
अयनं स्थानम् इच्छमानाः इच्छन्त्यः आपः आयन् यान्ति ॥ प्रवाच्यम् । 'वच परिभाषणे'  
इत्यस्मात् 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत् । गित्त्वादुपधावृद्धिः । 'वचोऽशब्दसंज्ञायाम्' (पा०सू० ७.  
३.६७) इति कुत्वाभावः । व्यत्ययेनाद्युदात्तत्वम् । यद्वा वाचयतेः 'अचो यत्' । 'यतोऽनावः' इति  
स्वरः । शश्वधा । शश्वच्छब्दात् स्वार्थे धप्रत्ययस्तकारलोपश्च द्रष्टव्यः । विवृश्चत् । 'ओब्रश्चू'



छेदने' । तुदादिः । लङि 'ग्रहिज्यावयि०' इत्यादिना संप्रसारणम् । 'सह सुपा' इत्यत्र सहेति योगविभागात् समासः । समासस्वरः । परिषदः । किप् । संहितायां 'सदिरप्रतेः' इति षत्वम् । जघान हन्तेर्लिटि णलि रूपम् । निघातः । आयन् 'अय गतौ' इत्यस्य लङि रूपम् । पादादित्वादनिघातः । इच्छमानाः । इषु इच्छायाम् इत्यस्मात् व्यत्ययेन शानच् । तस्य लसार्वधातुकस्वरे कृते प्रत्ययस्वरः ।

शब्दा० — प्रवाच्यम् = कहने योग्य, शश्वधा = सर्वदा, वीर्यम् = पराक्रमयुक्त, तत् = वह, इन्द्रस्य = इन्द्र का, कर्म = कार्य, यत् = जो, अहिम् = अहि नामक असुर को जिसने जल को रोक रखा था, विवृश्चत् = काट डाला, वज्रेण = वज्र से, परिसदः = प्रतिबंधकों को, वि जघान = मारा, आयन् = प्रवाहित हुआ, आपः = जल, अयनम् = मार्ग, इच्छमानाः = ढूँढता हुआ ।।

हिन्दी व्याख्या — इन्द्र का वह पराक्रमयुक्त कार्य, जो उसने अहि को मारा, अवश्य कहने योग्य है । उसने वज्र से (जल के) प्रतिबंधकों को काट डाला । जल अपना मार्ग खोजता हुआ प्रवाहित हुआ ।

व्याकरण :

प्रवाच्यम् — 'प्र+वच परिभाषणे । 'ऋहलोर्ण्यत्' सूत्र से ण्यत् प्रत्यय । उपधा को वृद्धि होकर = प्रवाच्य ।

शश्वधा — शश्वत् शब्द । स्वार्थे में धा प्रत्यय, तथा त का लोप ।

विवृश्चत् — वि+ओव्रश्चू छेदने । लङ्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

परिषदः — परिसीदन्ति अर्थ में परि+सद्+क्विप् । संहितायां सदिरप्रतेः' से स को ष = परिषद् । द्वितीया विभक्ति का बहुवचन = परिषदः ।

जघान — हन् धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन

आयन् — अय गतौ, लङ्लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।

अयनम् — इ+अन (ल्युट्) । गुण और अयादेश होकर = अयनम् ।

विशेष — सायण ने 'प्रवाच्यम्' का अर्थ 'प्रकर्षेण वचनीयम्' किया है । पीटर्सन और लुई रेनु इनका अर्थ must be proclaimed करते हैं । 'परिषदः' का अर्थ ग्रासमान ने surrounding or besieging, गेल्डनर ने berriers, enclosure, लुई रेनु ने barriers और पीटर्सन ने barriers of waters किया है । अयनम् शब्द का अर्थ सायण ने स्याद, ग्रासमान ने path, गेल्डनर और लुई रेनु ने out let तथा पीटर्सन ने way किया है ।

मण्डल-३

सूक्त-३३

मन्त्र-८

संहिता पाठ

एतद्वचो जरित॒र्मापि॑ मृ॒ष्टा आ यत्ते॑ घो॒षानु॑त्तरा यु॒गानि॑ ।

उ॒क्थेषु॑ का॒रो प्रति॑ नो जुष॒स्व मा नो॒ नि कः॑ पुरु॒षत्रा॑ नमस्ते ॥८॥



पदपाठ —

एतत् । वचः । जरितः । मा । अपि । मृष्टाः । आ । यत् । ते । घोषान् । उत्तरा । युगानि ।  
उक्थेषु । कारो इति । प्रति । नः । जुषस्व । मा । नः । नि । करिति कः । पुरुषत्रा । नमः ।  
ते ॥

अन्वय — जरितः यत् ते वचः आ घोषान्, एतत् मा अपि मृष्टाः । कारो आ उत्तरा युगानि  
उक्थेषु नः प्रति जुषस्व । पुरुषत्रा नः नि मा कः । ते नमः ।

दयानन्द भाष्य —

(एतत्) (वचः) (जरितः) प्रशंसकः (मा) निषेधे (अपि) (मृष्टाः) सहेः । अत्र  
व्यत्ययेनात्मनेपदम् । (आ) (यत्) यानि (ते) तव (घोषान्) वाक्यप्रयोगान् (उत्तरा) उत्तराणि  
(युगानि) वर्षाणि (उक्थेषु) प्रशंसनीयेषु व्यवहारेषु (कारो) यः करोति तत्सम्बुद्धौ (प्रति)  
(नः) अस्मान् (जुषस्व) सेवस्व (मा) (नः) अस्मान् (नि) (कः) निकुर्याः (पुरुषत्रा) पुरुषान्  
(नमः) (ते) तुभ्यम् ॥

भावार्थ — हे मनुष्या यावान् भूतकालो गतस्तत्रत्यानां कर्मणां शिष्टं कार्यं कर्तव्यं विज्ञाय  
वर्तमाने भविष्यति च यथोन्नतिर्भूत्वा विघ्नानि निवर्त्तरेस्तथैवा— ऽनुतिष्ठत् ॥

भावार्थ — हे मनुष्यो! जितना भूतकाल गया उसमें व्यतीत हुए कर्मों के शेष करने योग्य  
कार्य को जान के वर्तमान और भविष्यत् काल में जिस प्रकार उन्नति होके विघ्न निवृत्त  
होवें वैसे ही करो ॥

सायण भाष्य —

नद्यः प्रसङ्गादिन्द्रस्तोत्रं कृत्वा विश्वामित्रं प्रत्यूचुः । जरितः स्तोतः हे विश्वामित्र  
ते त्वदीय यत् संवादात्मकं वचः, त्वं नः अभीत्या घोषान् उद्धाषयन् वर्तसे तद्वचः मापि मृष्टाः  
या विस्मार्षीः । किं कारणम् । उत्तरा युगानि उत्तरेषु याज्ञिकेषु युगेषु अहःसु उक्थेषु कारो  
शस्त्राणां कर्तस्त्वं नः अस्मान् प्रति जुषस्व संवादत्मकेन तेन वाक्येन प्रतिसेवरव । इदानीं न  
अस्मान् पुरुषत्रा पुरुषेषु मा नि कः । उक्तिप्रत्युक्तिरूपसंवादवाक्याध्यायनेन नितरां पुंवत्  
प्रागल्भाः मा कार्षीः । ते तुभ्यं नमः । मृष्टाः । मृजूष् शुद्धौ इत्यस्य लङि व्यत्ययेन  
आत्मनेपदम् । अदादित्वाच्छपो लुक् । ब्रश्वादिना षत्वम् । निघातः । घोषान् । 'घुषिर् संशब्दने'  
इत्यस्य शतरि सर्वविधीनां छन्दसि विकल्पितत्वात् 'अतो गुणे' इति पररूपत्वाभावः ।  
सवर्णदीर्घः । शतुर्लसार्वधातुकस्वरे कृते धातुस्वरः । युगानि । 'युजिर् योगे' । उञ्छादिषु  
घञन्तत्वेन निपातनादगुणत्वम् । विशिष्टविषयं च निपातनमिष्यते । 'कालविशेषे रथाद्युपकरणे  
च' इति तत्र पाठादेवान्तोदात्तत्वम् । 'कालाध्वनोरत्यन्त-संयोगे' इति द्वितीया । करोतेः  
'कृवापाजिमि०' इत्यादिना उणप्रत्ययः । आमन्त्रितत्वान्निघातः । कः । करोतेर्लुङि च्लेः 'मन्त्रे  
घस०' इत्यादिना लुक् । हल्ङयादिना सिचो लोपः । 'न माङ्योगे' इत्यङभावः । पुरुषत्रा ।  
'देवमनुष्यपुरुष- पुरुर्मर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्' इति सप्तम्यर्थे त्राप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरः ।  
शब्दा० — एतत् = इस, वचः = वचन को, जरितः = स्तुति गायक, मा = मत, अपि



## नद्यः सूक्त ( मण्डल-३, सूक्त-३३ )

= कभी भी, मृष्टाः = भूलो, यत् = जिससे, ते = तुम्हारे वचन को, आ घोषान् = सुन सकें, उत्तरा = भावी, युगानि = युगों के व्यक्ति, उक्थेषु = स्तुतियों में, कारो = हे कवि, प्रति = लिये, नः = हम, जुषस्व = आदर करो, मा = मत, नः = हम लोगों को, नि कः = नीचे करो, पुरुषत्रा = पुरुषों में, नमः = नमस्कार है, ते = तुमको ।।

हिन्दी व्याख्या — हे स्तुति-गायक इस वचन को कभी भी मत भूलो ताकि भावी युगों के लोग तुम्हारे इस वचन को सुन सकें। हे कवि, अपनी स्तुतियों में हमारा आदर रखो। हम लोगों को (उक्ति प्रत्युक्ति द्वारा) मनुष्यों (की कोटि) में नीचे मत लावो; (हम लोगों का) तुम्हें नमस्कार है।

व्याकरण :

घोषान् — 'घुषिर् संशब्दने' धातु से शतृ प्रत्यय। घुष्+अत्। अट् का आगम।  
घुष्+अत्। गुण होकर, छान्दस पररुत्व का अभाव तथा सवर्णदीर्घ =  
घोषात्=घोषात्। प्रथमा विभक्ति का एकवचन=घोषान्।

युगानि — 'युजिर् योगे' धातु से 'घञ्'। युज्+अ। निपातनात् गुण का अभाव और  
कुत्व होकर=युग।

उक्थेषु — वच्+थ। सम्प्रसारण और कुत्व होकर = उक्थ।

कारो — कृ धातु। 'कृवापाजिमिस्वादि' सूत्र से उणादि उण् प्रत्यय। कृ+उ। वृद्धि  
होकर —कारु। संबोधन का एकवचन=कारो।

पुरुषत्रा — पुरुषेषु अर्थ में पुरुष शब्द से 'देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्'  
सूत्र से सप्तमी के अर्थ में त्रा प्रत्यय=पुरुषत्रा।

विशेष — इस मन्त्र का अन्वय पाश्चात्य विद्वानों ने दूसरे प्रकार से किया है। पीटर्सन का अर्थ इस प्रकार से है — एतद् वचः जरितः मापि मृष्टाः = Do not forget these words, O Singer। आ यत्ते घोषानुत्तरा युगानि — So that future generations might listen to thee। उक्थेषु कारो प्रति नो जुषस्व = Have Kindly feelings to us in thy songs, O poet। या नो नि कः = Do not let us down amongst men। नमः ते = Bow unto thee।

'जरितः' पद का अर्थ सायण ने 'स्तोतः' किया है, परन्तु पीटर्सन और लुई रेनु इसका अर्थ गायक (singer) करते हैं। दोनों अर्थों का भाव प्रायः समान ही है। 'उत्तरानि युगानि' का अर्थ सायण ने 'उत्तरवर्ती युगों में होने वाले यज्ञ' किया है। परन्तु पीटर्सन और लुई रेनु दोनों ही इसका अर्थ future generation करते हैं। सायण ने 'आघोषान्' का अर्थ 'घोषित करते हुए' किया है। सायण का अनुसरण करते हुए ग्रासमान आ+घुष् का अर्थ proclaim loudly करते हैं। गेल्डनर ने इसका अर्थ listen किया है तथा पीटर्सन ने उसका अनुसरण करते हुए 'आघोषान्' का अर्थ might listen किया है। लुई रेनु ने इस शब्द का अर्थ may hear किया है। 'जुषस्व' के अर्थ करने में भी अन्तर है।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

सायण के अनुसार इसका अर्थ 'सेवस्य' है, लुई रेनु के अनुसार praise है और पीटर्सन के अनुसार have kindly feelings है। पीटर्सन ने इस पद की निष्पत्ति 'जुष् to show affection to' से की है।

सायण ने 'मृष्ठाः' पद को 'मृजूष् शुद्धौ' से निष्पन्न माना है, परन्तु पीटर्सन इसे 'अपि+मृष् to forget' से निष्पन्न मानते हैं।

मण्डल—३

सूक्त—३३

मन्त्र—९

संहिता पाठ

ओ षु स्वसारः कारवे शृणोत ययौ वो दूरादनसा रथेन ।

नि षू नमध्वं भवता सुपारा अधोअक्षाः सिन्धवः स्रोत्याभिः ॥९॥

पदपाठ —

ओ इति । सु । स्वसारः । कारवे । शृणोत । ययौ । वः । दूरात् । अनसा । रथेन । नि । सु । नमध्वम् । भवत । सुपाराः । अधःअक्षाः । सिन्धवः । स्रोत्याभिः ॥

अन्वय — ओ स्वसारः सिन्धवः । कारणे सु शृणोत । अनसा रथेन दूरात् वः ययौ । सुनिनमध्वम् । सुपाराः भवत । स्रोत्याभिः अधो अक्षाः ॥

दयानन्द भाष्य —

(ओ) सम्बोधने (सु) (स्वसारः) भगिनीवद्वर्त्तमानाः अङ्गुलयः (कारवे) शिल्पिने (शृणोत) (ययौ) प्राप्नोति (वः) युष्मान् (दूरात्) (अनसा) शकटेन (रथेन) (नि) नितराम् (सु) (नमध्वम्) (भवत) । अत्र संहितायामिति दीर्घः । (सुपाराः) शोभनः पारः पालनादि कर्म येषान्ते (अधोअक्षाः) अधोऽर्वाचीना अक्षाः इन्द्रियाणि येषान्ते । अक्षा इति पदना० । निघं० ५ । ३ ॥ (सिन्धवः) नद्यः (स्रोत्याभिः) स्रोतःसु भवाभिर्गतिभिः ।

भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । ये परस्मिन्परस्मिन् प्रीता बहुश्रुता अन्यरचितानि शीघ्रगामीनि यानानि दृष्ट्वा तादृशानि निर्माय पाराऽवारौ गच्छन्तो नम्राः स्युस्तान् स्रोतांसि नदीरिवैश्वर्यगुणाः प्राप्नुवन्ति ॥

भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जो लोग दूसरे दूसरे में प्रसन्न बहुत बातों को सुने हुए पुरुष, औरों से बनाए हुए शीघ्र चलने वाले वाहनों को देख और वैसे ही बना के जलाशयों के आर-पार जाते हुए नम्र होवें, उनको जैसे स्रोता नदियों को वैसे ऐश्वर्य गुण प्राप्त होते हैं।

सायण भाष्य —

विश्वामित्रो नदीः प्रत्युवाच । स्वसारः भगिन्यः सिन्धवः हे नद्यः कारवे स्तोत्रं कुर्वाणस्य मम वचनं सुष्ठु ओ शृणोत शृणुतैव । अनसा शकटेन रथेन च सह दूरात् विप्रकृष्टाद्देशात् वः युष्मान् वयो प्राप्तोऽस्मि । यूयं सु सुष्ठु नि नमध्वम् आत्मना स्वयं प्रह्वाः भवत । तथा सुपाराः रथादीनां तीरात् सुखेनावरोहणे यथा स्यातां तथा शोभनरोधसश्च



## नद्यः सूक्त ( मण्डल-३, सूक्त-३३ )

भवत । किंच यूयं स्रोत्याभिः स्रवणशीलाभिरद्भिः अधोअक्षाः रथाङ्गस्याक्षस्याधस्ताद्भवत् । यदापोऽक्षरयाधस्ताद्भवन्ति तदा रथादीनि नेतुं शक्यन्ते । तस्मात् तत्परिमाणोदकाः भवतेति अर्थाभिप्रायः ।। आ इति प्रगृह्यसंज्ञा । शृणोत । 'श्रु श्रवणे' इत्यस्य लोटि तत्प्रत्ययस्य 'तप्तनप्तनथनाश्च' इति तबादेशः । पित्वाद्गुणः । निघातः । ययौ । 'या प्रापणे' इत्यस्य भूतमात्रे लिट्युत्तमे णलि 'आत औ णलः' इत्यौकारः एकादेशस्वरः । वः । युष्मच्छब्दस्य द्वितीयायाः बहुवचनस्य वास्नसौ इति वसादेशः । षू । निपातस्य इति संहितायां दीर्घः । नमध्वम् । 'णमु प्रह्वत्वे शब्दे च' इत्यस्य कर्मकर्तरि 'न दुहस्नुनमां यक्विणौ' इति प्रतिषेधात् यगभावः । अधोअक्षाः अधरशब्दस्य 'पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम्' इत्यसिप्रत्ययो-ऽधादेशश्च । अक्षशब्दः 'अशू व्याप्तौ' इत्यस्मात् 'अशेर्दवने' (उ०सू० ३.३४५) इति सप्रत्ययान्तः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः । सिन्धवः । आमन्त्रितत्वान्निघातः । स्रोत्याभिः स्रोतःशब्दात् 'स्रोतसो विभाषा ड्यङ्ङ्यौ' (पा०सू० ४.४.११३) इति ड्यप्रत्ययः । डित्वात् टिलोपः । प्रत्ययस्वरः ।। शब्दा० - ओ = सम्बोधन का वाचक, स्वसारः = के बहनो, कारवे = कवि की बात, शृणोत = सुनो, ययौ = आया हूँ, वः = तुम लोगों के पास, दूरात् = बहुत दूर से, अनसा = गाड़ी से, रथेन = रथ से, सु = अच्छी प्रकार, नि नमध्वम् = नीचे झुक आवो, भवत = हो जावो, सुपाराः = आसानी से पार करने योग्य, अधोअक्षाः = चक्के के धुरे से नीचे होकर, सिन्धवः = हे नदियों, स्रोत्याभिः = अपनी जल धारा से ।

हिन्दी व्याख्या - हे सुन्दर बहनों, (मुझ) कवि की (बात) सुनो, (क्योंकि मैं) तुम्हारे पास बहुत दूर से गाड़ी तथा रथ के साथ आया हूँ। अच्छी प्रकार से झुक जावो। हे नदियों, अपनी जलधारा से अक्ष के नीचे होकर (बहती हुई) आसानी से पार करने योग्य हो जावो।

व्याकरण :

- शृणोत - श्रु धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन । शृणुत । 'तप्तमप्तनथनाश्च' से त को तप् आदेश तथा पितृ होने के कारण गुण= शृणोत ।
- ययौ - या प्रापणे । लिट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन । यहाँ 'भूतमात्रे लिट्युत्तमे णत्यात और णलः' से णल् को औ आदेश ।
- वः - युष्मद् शब्द, द्वितीया का बहुवचन । युष्मद् को वस् आदेश ।
- षू - निपात को संहिता में दीर्घ हुआ ।
- अधोअक्षाः - अक्षस्य अधः भवाः । अधर शब्द को 'पूर्वाधरावराणामसि' सूत्र से अध आदेश और असि प्रत्यय होकर अनः ।

स्रोत्याभिः - स्रोतसि भवा । 'स्रोतसो' विभाषा 'ड्यङ्ङ्यौ' सूत्र से ड्य प्रत्यय । स्रोतस्+ङ्य(य) । डित् होने से 'टि' का लोप । स्त्रीलिङ्ग में टाप्= स्रोत्या ।

विशेष - स्रोत्या का अर्थ पीटर्सन ने धारा stream किया है । इस मन्त्र में स्तुतियों से प्रसन्न नदियों से ऋषि कहते हैं कि हे बहनों! तुम अपना जल इतना कम कर लो कि वह रथ के अक्षों से ऊपर न आवे तथा मैं अच्छी प्रकार पार हो जाऊँ ।



आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन ।

नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते ॥१०॥

पदपाठ -

आ । ते । कारो इति । शृणवाम । वचांसि । ययाथ । दूरात् । अनसा । रथेन ॥ नि ।

ते । नंसै । पीप्यानाऽइव । योषा । मर्यायऽइव । कन्या । शश्वचै । त इति ते ॥

अन्वय - कारो! ते वचांसि आ शृणवाम । अनसा रथेन दूरात् ययाथ । पीप्याना योषा इव, शश्वचै, मर्याय, कन्या इव ते नि नंसै ॥

दयानन्द भाष्य -

(आ) समन्तात् (ते) तव (कारो) शिल्पविद्यासु कुशल (शृणवाम) । अत्र संहितायामिति दीर्घः । (वचांसि) विद्याप्रज्ञापकानि वचनानि (ययाथ) प्राप्नुयाः (दूरात्) (अनसा) (रथेन) (नि) (ते) तव (नंसै) नमेः (पीप्यानेव) विद्यावृद्धाविव (योषा) (मर्यायेव) यथा पुरुषाय (कन्या) (शश्वचै) परिष्वङ्गाय (ते) तुभ्यम् ॥

भावार्थ - अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ । ये दूरादागत्य विदुषां सकाशाद्विविधा विद्याः प्राप्य नम्रा भवन्ति ते विद्यावृद्धाः सन्तः पतिव्रता स्त्री पतिमिव कन्याऽभीष्टं वरमिव विद्यां प्राप्याऽऽनन्दन्ति ॥

भावार्थ - इस मन्त्र में [उपमा और श्रुति वाचकलुप्तोपमालङ्कार हैं । जो लोग दूर से आय के विद्वानों के समीप से अनेक प्रकार की विद्याओं को प्राप्त करके नम्र होते हैं, वे विद्यावृद्ध होकर जैसे पतिव्रता स्त्री पति और कन्या अभीष्ट वर को वैसे विद्या को प्राप्त होके आनन्दित होते हैं ॥

सायण भाष्य -

नद्यः पूर्वं विश्वामित्रं प्रत्याख्यायानयर्चा तस्य वाक्यमाशुश्रुवुः । कारो स्तोत्रं कुर्वाण हे विश्वामित्र ते तव वचांसि इमानि वाक्यानि आ शृणवाम शृणुमः । तव समीहितं प्रयोजनं कुर्म इत्यर्थः । अनसा शकटेन रथेन च सह ययाथ । यतो दूरात् आगतोऽसि । वयं च ते त्वदर्थं नि नै नीचैर्नमाम । प्रत्येकविवक्षया अत्रैकवचनम् । रथेन गन्तुं गाधोदका भवामेत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः । पीप्यानेव योषा । पीप्याना पुत्रं स्तनं पाययन्ती योषा माता यथा प्रह्वीभवति । दृष्टान्तान्तरम् । यथा कन्या युवतिः मर्यायेव मनुष्याय पित्रे भ्रात्रे वा शश्वचै परिष्वजनाय नम्रीभवति तद्वत् ते त्वदर्थं प्रह्वीभवामः । ते इति पुनरुक्तिरादरार्थम् । एतामृचं यास्क एवं व्याचष्टे - 'आशृणवाम ते कारो वचनानि याहि दूरादनसा च रथेन च निनमाम ते पाययमानेव योषा पुत्रं मर्यायेव कन्या परिष्वजनाय निनमा इति वा' (निरु० २.२७) इति ॥ कारो । 'संबुद्धौ शाकल्यस्येतौ' (पा०सू० १.१.१६) इति प्रगृह्यसंज्ञा । शृणवाम । 'श्रु



## नद्यः सूक्त (मण्डल-३, सूक्त-३३)

श्रवणे' इत्यस्य लोटि 'आडुत्तमस्य पिच्च' इत्याडागमः। पित्वात् गुणः। निघातः। ययाथ। 'या प्रापणे' इत्यस्य भूतमात्रे लिटि थलि 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इतीट्प्रतिषेधः। लिट्स्वरः। अनसा। सहार्थे तृतीया। नंसै। 'णमु प्रह्वत्वे' इत्यस्य लेट्युत्तमे लेटि सिब्वहुलमिति सिप्। 'वैतोऽन्यत्र' इत्यैकारादेशः। निघातः। पीप्यानेव। 'पीङ् पाने; इत्यस्यान्तर्भावि-तण्यर्थस्य लिटि कानचि रूपम्। चित्स्वरः। योषा। 'यू मिश्रणे'। 'वृत्वदिहनि' (उ०सू० ३. ३४२) इत्यादिना सप्रत्ययः। यौतीति योषा। वृषादित्वादाद्युदात्तः। शश्वचै। 'ष्वञ्ज परिष्वङ्गे' इत्यस्मात् संपदादिलक्षणो भावे क्विप्। पृषोदरादित्वादिष्ट-रूपसिद्धिरन्तोदात्तश्च॥

शब्दा० - ते = तुम्हारी, कारो = हे कवि, आ शृणवाम = सुनती हैं, वचांसि = बातों को, ययाथ = आये हो, दुरात् = दूर से, अनसा = गाड़ी से, रथेन = रथ से, ते = तुम्हारे लिये, नि नंसै = नीचे झुकती हूँ, पीप्यानेव = दूध भरे स्तनवाली की तरह, योषा = औरत, मर्यायेव = जैसे प्रेमी के लिये, कन्या = युवती, शश्वचै = आलिंगन करने के लिये, ते = तुम्हारे लिये॥

हिन्दी व्याख्या - हे कवि, हम तुम्हारी बातें सुनती हैं, (क्योंकि तुम बहुत दूर से गाड़ी तथा रथ के साथ आये हो। तुम्हारे लिये मैं नीचे झुकता हूँ, जैसे दूध भरे स्तनवाली औरत (अपने पुत्र के लिये) तथा जैसे युवती अपने प्रेमी का आलिंगन करने के लिए (झुकती है)।

व्याकरण :

शृणवाम - 'श्रू धातु लोट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन। शृ+णु+म। 'आडुत्तमस्य पिच्च' से आट् का आगम। शृ+णु+आ+म। पित् होने से गुण, अच् आदेश=शृणवाम।

नंसै - णमु प्रह्वत्वे। लेट् लकार, उत्तम पुरुष, एक वचन। प्रत्येक के अर्थ में एकवचन।

पीप्याना - पिङ् पाने। अन्तर्भावितण्यर्थ। लिट् लकार के अर्थ में कानच् प्रत्यय। पी+आन (कानच्)। द्वित्व और यणादेश = पीप्यान। स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय = पीप्याना।

योषा - यु मिश्रणे। यौति अर्थ में 'वृत्वदिहनि' से औणादिक स प्रत्यय। यु+स। गुण, स को मूर्धन्य ष, टाप् होकर = योषा।

शश्वचै - ष्वञ्च् परिष्वङ्गे। क्विप् प्रत्यय होकर पृषोदरादि गण में पाठ होने से शश्वचै।

विशेष - सायण ने 'पीप्याना' शब्द को 'पीङ् पाने' से निष्पन्न बताया है। परन्तु पीटर्सन इसे प्याप्यै to swell with milk से निष्पन्न करके पीप्याना का अर्थ with swelling bosom (sucking her baby) बताते हैं। दोनों का भाव एक ही है। पीटर्सन ने 'शश्वचै' पद को 'इवञ्च् to bend' से निष्पन्न माना है। सायण ने मर्याय और शश्वचै दोनों पदों में अलग-अलग अन्वय मानकर अर्थ किया है कि जैसे कन्या मर्याय - पिता, भाई आदि



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

मनुष्य के लिये और 'शश्वचै' आलिङ्गन करने वाले प्रेमी के लिये झुकती है। परन्तु पीटर्सन और लुई रेनु ने 'शश्वचै' को 'मर्याय' का विशेष मानकर lover या young lover अर्थ किया है।

**मण्डल-३****सूक्त-३३****मन्त्र-११****संहिता पाठ**

यदङ्ग त्वा भरताः संतरेयुर्गव्यन्ग्राम इषित इन्द्रजूतः।

अर्षादहं प्रसवः सर्गतक्त आ वो वृणे सुमतिं यज्ञियानाम्॥११॥

**पदपाठ -**

यत्। अङ्ग। त्वा। भरताः। सम्स्तरेयुः। गव्यन्। ग्रामः। इषितः। इन्द्रजूतः। अर्षात्। अहं। प्रसवः। सर्गतक्तः। आ। वः। वृणे। सुमतिम्। यज्ञियानाम्॥

अन्वय - अङ्ग यत् त्वा भरताः संतरेयुः। गव्यन् इषितः इन्द्रजूतः ग्रामः अर्षात्। सर्गतक्तः प्रसवः अहं। यज्ञियानाम् वः सुमतिम् आवृणे।

**दयानन्द भाष्य -**

(यत्) यम् (अङ्ग) मित्र (त्वा) त्वाम् (भरताः) सर्वेषां धर्तारः पोषकाः (सन्तरेयुः) (गव्यन्) गौरिवाचरन् (ग्रामः) मनुष्यसमूह इव (इषितः) प्रेरितः (इन्द्रजूतः) इन्द्रो विद्युदिव प्रतापयुक्तः (अर्षात्) प्राप्नुयात् (अहं) विनिग्रहे (प्रसवः) प्रकृष्टैश्वर्य्यः (सर्गतक्तः) जलस्य संकोचकः। अत्र सर्गइत्युदकना०॥ निघं० १।१२॥ (आ) समन्तात् (वः) युष्माकम् (वृणे) स्वीकुर्वे (सुमतिम्) शोभनां प्रज्ञाम् (यज्ञियानाम्) यज्ञस्य साधकानाम्॥

भावार्थ - यथा विद्वांसो विद्यापारं गत्वा प्राज्ञा जायन्ते तथेतरे मनुष्या अपि भवन्तु एवं कृते सर्वे दुःखान्तं गत्वा सुखिनः स्युः।

भावार्थ - जैसे विद्वान् लोग विद्या के पार जाय अर्थात् सम्पूर्ण विद्याओं को पढ़ के बुद्धिमान् होते हैं, वैसे और लोग भी हों। ऐसा करने से सम्पूर्ण जन दुःख के पार जाए अर्थात् दुःख को उल्लङ्घन करके सुखी हों।

**सायण भाष्य -**

विश्वामित्रो नदीः प्रत्युवाच। अङ्ग त्यामन्त्रणे। हे नद्यः यत् यस्मात् युष्माभिरुत्ति-  
तीर्षोः ममोत्तरणमभ्यनुज्ञातं तस्मात् भरताः भरतकुलजा मदीयाः सर्वे त्वा परस्परमेकतामापन्नां  
नदीं त्वां संतरेयुः सम्यगुत्तीर्णा भवेयुः। तदेव विशिनष्टि। गव्यन् गा उदकानि तरीतुमिच्छन्  
इषितः त्वयाभ्यनुज्ञातः इन्द्रजूतः युष्माकं प्रवर्तकेनेन्द्रेण च प्रेरितः ग्रामः भरतानां संघः अर्षात्  
संतरेत्। यतः सर्गतक्तः गमनाय प्रवृत्तः प्रसवः तेषामुद्योगः अहं पूर्वं युष्माभिरनुज्ञातः। अहं  
तु यज्ञियानां यज्ञार्हाणां वः युष्माकं सुमतिं शोभनां स्तुतिम् आ वृणे सर्वतः संभजे॥ भरताः।  
भरतशब्दादुत्सादित्वादज्। तस्य 'यजजोश्च' इति लुक्। अतच्प्रत्ययस्वरः। संतरेयुः। तरतेर्लिङ्गि  
जुसि रूपम्। झेर्लसार्वधातुकस्वरे धातुस्वरः। 'तिङि चोदात्तवति' इति गतेर्निधातः। गव्यन्।



**नद्यः सूक्त ( मण्डल-३, सूक्त-३३ )**

गा आत्मन इच्छन् । सुपः क्यच् । एकादेशस्वरः । ग्रामः । 'ग्रसतेरा च' (उ०सू० १.१४०) इति मन्प्रत्यय आकारादेशश्च । नित्स्वरः । इन्द्रजूतः । जू इति सौत्रो धातुर्गत्यर्थः । 'श्र्युकः किति' इति निष्ठायामिट्प्रतिषेधः । 'तृतीया कर्मणि' इति पूर्वपद प्रकृतिस्वरः । अर्षात् । 'ऋ गतौ' इत्यस्य लेटि तिपि 'सिब्वहुलम्' इति सिप् । लेट आडागमः । 'एकाचः' इतीट्प्रतिषेधः । गुणः । प्रत्ययस्य पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरः । वृणे । 'वृड् संभक्तौ' इत्यस्य लटि रूपम् । यज्ञियानाम् । 'यज्ञत्विग्भ्यां घखजौ' इति घप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरः ।

**शब्दा०** — यत् = चूँकि तुम्हारी अनुमति मिल गई है, इसलिए, अङ्ग = सम्बोधन का वाचक शब्द, त्वा = तुमको, भरताः = भरतवंशी विश्वामित्र तथा उनके अनुयायी, सन्तरेयुः = एक साथ पार करें, गव्यन् = पार जाने की इच्छा वाला, ग्रामः = झुण्ड, इषितः = तुम्हारे द्वारा अनुज्ञात, इन्द्रजूतः = इन्द्र द्वारा भेजा गया, अर्षात् = बहे, अह = एक निपात, प्रसवः = प्रवाह, सर्गतक्तः = स्वाभाविक रूप से प्रवाहित, चः = तुम्हारी, आवृणे = चाहता हूँ, सुमतिम् = समर्थन करने वाली सुन्दर मति, यज्ञियानाम् = पवित्र नदियों की ।।

**हिन्दी व्याख्या** — हे (नदियों), चूँकि (तुम्हारी अनुमति मिल गई है इसलिये) भरतवंशी (हम लोग) तुमको पार करें; पार जाने की इच्छा वाला, (तुम्हारे द्वारा) अनुज्ञात एवं इन्द्र द्वारा भेजा गया (भरतवंशियों का) झुण्ड (पार करें) । (तुम्हारा) प्रवाह अपनी स्वाभाविक गति में प्रवाहित होता हुआ बहे । मैं पवित्र नदियों का समर्थन चाहता हूँ ।

**व्याकरण :**

- भरताः** — भरतस्य अपत्यम् पुमान् । 'उत्सादिभ्योऽञ्' सूत्र से अञ् प्रत्यय तथा 'यजजोश्च' से प्रत्यय का लोप = भरत । बहुवचन में = भरताः ।
- गव्यम्** — गा आत्मन इच्छन् । क्यच् प्रत्यय । गो+य । अव आदेश होकर = गव्य । शतृ प्रत्यय = गव्यत् । प्रथमा विभक्ति एकवचन = गव्यन् ।
- तरेयुः** — तृ धातु विधिलिङ्, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।
- इषितः** — इष्+क्त । इट् का आगम = इषित ।
- इन्द्रजूतः** — इन्द्रेण जूतः । जू गतौ । जू+क्त=जूत ।
- ग्रामः** — ग्रस धातु । 'ग्रसतेराच' सूत्र से मन् प्रत्यय तथा आ आदेश = ग्राम ।
- अर्षात्** — ऋ गतौ । लेट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।
- प्रसव** — प्र+ष्+अप् = प्रसव ।
- सर्गतक्त** — सर्गे तक्तः । सृज्+घञ्= सर्ग । तक्+क्त = तक्त ।
- यज्ञियामाम्** — यज्ञम् अर्हति । 'यज्ञत्विग्भ्यां घखजौ' सूत्र से घ प्रत्यय तथा य को इय आदेश = यज्ञिय ।

**विशेष** — अङ्ग शब्द का प्रयोग आमन्त्रण के लिये किसी प्रिय को सम्बोधित करके किया जाता है । 'भरताः' पद का प्रयोग भरतवंशियों के लिये किया गया है । सायण ने 'गव्यन्'



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

का अर्थ किया है — 'गा उदकानि तरीतुमिच्छन् = जलों को पार करने की इच्छा करता हुआ।' 'उसने यहाँ 'गो' का अर्थ 'जल' माना है। परन्तु पाश्चात्य विद्वानों का मत इससे भिन्न है : पीटर्सन ने 'गो' का अर्थ गौ (cow) करके 'गव्यन्' का अर्थ going in search of cows किया। लुई रेनु के अनुसार इस पद का अर्थ है — going for booty। सायण के अनुसार 'ग्राम' शब्द का अर्थ समूह (भरतों का समूह) है। पीटर्सन ने इसका अर्थ, a clan, a band, a boat किया तथा लुई रेनु ने the army of Bharatas किया।

'सर्गतक्तः प्रसवः पदों का अन्वय सायण ने 'ग्राम' पद से किया' तथा इनका अर्थ किया — गमनाय प्रवृत्तस्तेवामुद्योगः = चलने के लिये प्रवृत्त होता हुआ उनका उद्योग। अर्थात् हे नदियो! यह भरतों का समूह चला जा रहा है। तुम इनको पार हो जाने दो। परन्तु सर्गतक्तः प्रसवः पदों का प्रयोग चतुर्थ मन्त्र में हुआ, जहाँ इनका अन्वय नदियों के साथ किया गया था और अर्थ किया गया था — बहने में प्रवृत्त होता हुआ उनका उद्योग (बहाव)। इस मन्त्र में भी इन पदों का अन्वय नदियों के साथ करने में अर्थ अधिक सङ्गत होता है। यही अर्थ पीटर्सन और लुई रेनु ने किया है। पीटर्सन ने अर्थ किया है 'there may thy current flow, dashing with its initial urge' और लुई रेनु ने अर्थ किया है — Them thy current will flow fast again. ये विद्वान् सायण के विपरीत 'अह' का अर्थ 'तदनन्तर' करते हैं।

मण्डल—३

सूक्त—३३

मन्त्र—१२

संहिता पाठ

अतारिषुर्भरता गव्यवः स अभक्त विप्रः सुमतिं नदीनाम्।

प्र पिन्वध्वमिषयन्तीः सुराधा आ वक्षणाःपृणध्वं यात शीभम्॥१२॥

पदपाठ —

अतारिषुः। भरताः। गव्यवः। सम्। अभक्त। विप्रः। सुमतिम्। नदीनाम्॥ प्र। पिन्वध्वम्।  
इषयन्तीः। सुराधाः। आ। वक्षणाः। पृणध्वम्। यात्। शीभम्॥

अन्वय — गव्यवः भरताः अतारिषुः। विप्रः नदीनाम् सुमतिम् सम् अभक्त। इषयन्तीः सुराधाः  
प्र पिन्वध्वम्। वक्षणाः आपृणध्वम्। शीभम् यात॥

दयानन्द भाष्य —

(अतारिषुः) तरन्तु (भरताः) धारकपोषकाः (गव्यवः) आत्मनो गां सुशिक्षितां वाचमिच्छवः (सम्) (अभक्त) सम्यग्भजेत (विप्रः) मेधावी (सुमतिम्) श्रेष्ठां बुद्धिम् (नदीनाम्) सरितामिव वर्तमानानां विदुषीणाम् (प्र) (पिन्वध्वम्) सेवध्वम् (इषयन्तीः) इषमन्नं कुर्वन्त्यः (सुराधाः) शोभनं राधो यस्य सः (आ) (वक्षणाः) वहमाना नद्यः (पृणध्वम्) पालयध्वम् (यात्) प्राप्नुत (शीभम्) क्षिप्रम्। शिभमिति क्षिप्रना०॥ निघं०, २।१५॥१२॥

भावार्थ — मनुष्या नदीसमुद्रादीन् जलाशयान् विद्वद्वत्प्रतीर्य सुखं सद्यः सेवन्ताम्॥



भावार्थ — मनुष्यों को चाहिये कि नदी और समुद्र आदि जलाशयों को विद्वानों के सदृश पार होके सुख का शीघ्र सेवन करें।।

सायण भाष्य —

गव्यवः गा आत्मन इच्छन्तः भरताः भरतकुलजाः सर्वे अतारिषुः तां नदीं समतरन् । विप्रः मेधावी विश्वामित्रः नदीनां सुमतिं शोभनां स्तुतिं समभक्त समभजत । यूयं तु यथापूर्वम् इषयन्तीः कुल्यादि द्वारा अन्नं कुर्वाणा अत एव सुराधाः शोभनधनोपेता यूयं वक्षणाः कृत्रिमसरितःकुल्याः प्र पिन्वध्वं प्रकर्षेण तर्पयत । आ पृणध्वं ताः सर्वतः पूरयत च । शीभं शीघ्रं यात गच्छत् च ।। अतारिषुः । 'तृप्लवनतरणयोः' इत्यस्य लुङि 'सिचि वृद्धिः परस्मैदेषु' इति वृद्धिः । अडागमस्वरः । गव्यवः । सुपः क्यच् । 'क्याच्छन्दसि' इत्युप्रत्ययः । तस्य स्वरः । अभक्त । 'भज सेवायाम्' इत्यस्य लुङि सिचः 'झलो झलि' इति लोपः । पादादित्वादनघातः । पिन्वध्वम् । 'पिवि सेचने' इत्यस्य लोटि रूपम् । निघातः । इषयन्तीः । इषं कुर्वत्यः । 'तत्करोति' इति णिच् । 'णाविष्ठवत्प्रातिपदिकस्य' इति इष्ठवद्वावात् 'टेः' इति टिलोपः । 'वा छन्दसि' इति सवर्णदीर्घः । प्रत्ययस्वरः । पृणध्वम् । 'पृण प्रीणने' । लोटि रूपम् । व्यत्ययेनात्मनेपदम् । वाक्यभेदादनघातः । यात । 'या प्रापणे' इत्यस्य लोटि रूपम् । अत्रापि न निघातः । शीभम् । 'शीभृ कथ्यने' । श्लाघ्यतेऽनेन तद्वानिति करणे घञ् । जित्स्वरः ।।

शब्दा० — अतारिषुः = पार कर लिया, भरताः = भरतवंशियों ने, गव्यवः = पार जाने की इच्छा वाले, समभक्त = प्राप्त कर लिया, विप्रः = ब्राह्मण ने, सुमतिम् = समर्थन, नदीनाम् = नदियों का, प्र पिन्वध्वम् = प्रवाहित होवो, इषयन्तीः = धन लाती हुई, सुराधाः = सुन्दर धनवाली तुम लोग, वक्षणाः = अपनी जगह पर, आ पृणध्वम् = भर जावो, यात् = बहो, शीभम् = शीघ्रता से ।

हिन्दी व्याख्या — पार जाने की इच्छावाले भरतवंशियों ने पार कर लिया; ब्राह्मण ने नदियों का समर्थन प्राप्त कर लिया । सुन्दर धन वाली (तुम लोग) धन लाती हुई अपनी जगह पर प्रवाहित होवो; भर जावो; शीघ्रता से बहो ।

व्याकरण :

अतारिषुः — तृ प्लवनतरणयोः । लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।

गव्यवः — गा आत्मन इच्छति । क्यच् प्रत्यय करके = गव्य । 'क्याच्छन्दसि' सूत्र से 'उ' प्रत्यय = गव्यु । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन = गव्यव ।

अभक्त — भज् सेवायाम् । लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

पिन्वध्वम् — पिवि सेचने । लोट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन ।

इषयन्तीः — इषं कुर्वन्ति इति ताः । इष्+णिच्+शतृ+ङीप् । नुम् का आगम = इषयन्ती ।

सुराधाः — शोभनं राधः यासां ताः ।

पृणध्वम् — पृण प्रीणने । लोट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

**शीभम्** — शीभृ कथने। शीभ्यते अनेन। करण कारक में घञ्।

**विशेष** — पहले मन्त्र के सदृश ही पीटर्सन ने 'गव्यवः' का अर्थ 'cow seeking' तथा लुई रेनु ने 'going for booty' किया है। सायण ने 'वक्षणाः' को 'पिन्वध्वम्' का कर्म मानकर अन्वय किया — इषयन्तीः, सुराधाः वक्षणाः प्र पिन्वध्वम् = अन्नो को उत्पन्न करती हुई और इस प्रकार शोभन धनों से युक्त होती हुई तुम नहरों को भर दो। उसने 'वक्षणाः' का अर्थ कृत्रिमसरितः कुल्याः (नहरें) किया है। परन्तु यह अर्थ संगत नहीं बैठता। वेंकटमाधव ने 'वक्षणाः' का अर्थ (कूलानि तटों) को किया है। अभिप्राय यह है कि नदियाँ दोनों तटों, अर्थात् तटवर्ती प्रदेशों को सिञ्चित करें। इस अवस्था में वक्षणाः पद पृणध्वम् का कर्म होगा। पाश्चात्य विद्वानों के अर्थ कुछ भिन्न हैं। पीटर्सन का अर्थ इस प्रकार है — इषयन्ती = giving new life, सुराधाः = bringing excellent gifts, प्र पिन्वध्वम् = swell forth, वक्षणाः = river bed, आपृणध्वम् = overflow। लुई रेनु का अर्थ इस प्रकार है — इषयन्ती = rich in help, सुराधाः = generous one, प्र पिन्वध्वम् = swell thy seives, वक्षणाः आपृणध्वम् = swell up thy breasts।

'शीभम्' का अर्थ सभी व्याख्याताओं ने 'शीघ्रता से' किया है। सायण ने इस शब्द की निष्पत्ति 'शीघ्र कथने = प्रशंसा करना' से बताई है। यदि धातु का अर्थ ग्रहण किया जावे तो 'शीभम् यात' का अर्थ होगा — 'प्रशंसनीय रूप से बहो।'

मण्डल—३

सूक्त—३३

मन्त्र—१३

संहिता पाठ

उद्व ऊर्मिः शम्या हन्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत।

मादुष्कृतौ व्येनसाघ्न्यौ शूनमारताम् ॥१३॥

पदपाठ —

उत्। वः। ऊर्मिः। शम्याः। हन्तु। आपः। योक्त्राणि। मुञ्चत। मा। अदुःकृतौ। विऽएनसा। अघ्न्यौ। शूनम्। आ। अरताम्।

**अन्वय** — वः ऊर्मिः शम्याः उत् हन्तु। आपः योक्त्राणि मुञ्चत। वि एनसा अदुः कृतौ अघ्न्यौ शूनम् मा आ अरताम्॥

दयानन्द भाष्य —

(उत्) उत्कृष्टे (वः) युष्मान् (ऊर्मिः) तरङ्ग इवोत्साहः (शम्याः) शम्यां कर्मणि भवाः (हन्तु) दूरीकुर्वन्तु (आपः) जलानीव (योक्त्राणि) योजनानि (मुञ्चत) त्यजत (मा) निषेधे (अदुष्कृतौ) अदुष्टाचारिणौ (व्येनसा) विनष्टपापाचरणेन (अघ्न्यौ) हन्तुमनर्हे (शूनम्) सुखम्। अत्रान्येषामपीति दीर्घः। (आ) (अरताम्) प्राप्नुताम्।

**भावार्थ** — यौ स्त्रीपुरुषौ दुःखबन्धनानि छित्त्वा दुष्टाचारं विहाय विद्योन्नतिं कुर्यातां तौ सततं सुखमाप्नुयातामिति॥



भावार्थ — जो स्त्री और पुरुष दुःख के बन्धनों को काट और दुष्ट आचरण को त्याग के विद्या की उन्नति करें तो वे निरन्तर सुख को प्राप्त होंगे।

सायण भाष्य —

पूर्वमुत्तितीर्षुविश्वामित्रो नदीरुक्त्वा अधुना उत्तितीर्षुः पुनराह। हे नद्यः वः युष्माकम् ऊर्मिः तरङ्गः शम्याः युग्मकण्ठपाश्वर्वादिसंलग्ना रज्जवः उत् ऊर्ध्वं यथा भवन्ति तथा हन्तु गच्छतु। स तरङ्गो रज्जुनामधोगच्छत्वित्यभिप्रायः। तथा हे आपः यूयं योक्त्राणि ता रज्जूः मुञ्चत। यथा न स्पृशन्ति तथा यान्त्वित्यभिप्रायः। व्येनसा विगतपापे अत एव अदुष्कृतौ कल्याणकर्मकारिण्यौ 'यौ अघ्न्ये' न केनापि तिरस्करणीये विपादुस्तुद्रयौ शूनं समृद्धिं मा आरताम् आगच्छताम्। एवं विश्वामित्रो नदीः स्तुत्वा ताभिरनुज्ञातोऽतरदिति।। ऊर्मिः। 'ऋ गतौ'। 'अर्तेरुच्च' इति मिप्रत्ययः। 'ऊः' इत्ययमादेशो धातोः। ऋच्छतीत्यूर्मिः। प्रत्ययस्वरः। शम्याः। 'शमु उपशमे'। 'पोरदुपधात्' इति यत्प्रत्ययः। 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वम्। हन्तु। 'हन हिंसागत्योः' इत्यस्य लोटि रूपम्। निघातः। योक्त्राणि। 'युजिर् योगे'। करणे 'दाम्नीशसयुयुज०' इत्यादिना ष्टन्प्रत्ययः। नित्स्वरः। मुञ्चत। मुच्लु मोक्षणे। निघातः। अदुष्कृतौ। 'इसुसोः सामर्थ्ये' इति विसर्जनीयस्य षत्वम्। व्येनसा। बहुव्रीहौ पूर्वपदस्वरः। सुपो डादेशः। अघ्न्यौ। 'हन हिंसागत्योः' इत्यस्य नञ्पूर्वस्य 'अध्न्यादयश्च' इति निपातनात् यक्। कित्वादुपधालोपः। 'हो हन्तेः' इति घत्वम्। सर्वविधिनां छन्दसि विकल्पितत्वादत्र औङः शीभावाभावः। एकादेशस्वरः। शूनम्। श्वयतेः 'नपुंसके भावे क्तः' इति क्तः। यजादित्वात् संप्रसारणम्। 'हल' इति दीर्घत्वम्। 'ओदितश्च' इति निष्ठा नत्वम्। 'निष्ठा च द्वयजनात्' इत्याद्युदात्तः। अरताम्। 'ऋ गतौ' इत्यस्य लुङि च्लेः 'सर्तिशास्त्यर्तिभयश्च' इत्यडादेशः। 'ऋदृशोऽङि गुणः'। 'न माङ्योगे' इत्यडभावः। निघातः।।

शब्दा० — वः = तुम्हारी, ऊर्मिः = धारा, शम्याः = जुवा की कील को, उत् हन्तु = ऊपर से आघात करे अर्थात् जुवा को कील के नीचे से बहे, आपः = जल, योक्त्राणि = रस्सियों को, मुञ्चत = छोड़ दे, मा = मत, अदुष्कृतौ = कुकृत्यों से रहित, व्येनसा = पापरहित, अघ्न्यौ = तिरस्कार न करने योग्य, शूनम् = वृद्धि, आ अरताम् = प्राप्त करें।

हिन्दी व्याख्या — तुम्हारी धारा जुवा को कील के नीचे से बहे। जल रस्सी को छोड़ दे; दुष्कृतों से रहित, पापरहित तथा तिरस्कार न करने योग्य (ये नदियाँ) वृद्धि न प्राप्त करें।

व्याकरण :

ऊर्मि — ऋ गतौ। 'अर्तेरुच्च' से 'ऋ' को 'ऊ' आदेश और मि प्रत्यय। रपरत्व होकर धातु को ऊर आदेश होगा। ऊर+मि = ऊर्मि।

शम्या — शमु उपशमे। 'पोरदुपधात्' सूत्र से यत् प्रत्यय। शम्+य+टाप् = शम्या।

हन्तु — हन् हिंसागत्योः। लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

योक्त्राणि — युजिर् योगे। 'दाम्नीशसयुयुज०' सूत्र से ष्टन् प्रत्यय। युज्+त्र+गुण और ज् को क् होकर = योक्त्र।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

**अदुष्कृतौ** — न+दुस्+कृत। 'इसुसोः सामर्थ्ये' सूत्र से षत्व = अदुष्कृत।

**व्येनसा** — विगतम् एनः ययोः तौ। विभक्ति को ङ आदेश।

**अघ्न्यौ** — हन् हिंसागत्यौः। यक् प्रत्यय। न+हन्+य। उपमा को लोप होकर 'हो हन्तेः' सूत्र से घत्व = अघ्न्य।

**शूनम्** — शिव+क्त। सम्प्रसारण, दीर्घ तथा निष्ठा के त को न = शून।

**आरताम्** — ऋ गतौ। लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, द्विवचन।

**विशेष** — इस मन्त्र के गान के सम्बन्ध में सायण का कथन है कि नदी को पार करने की इच्छा करने वाले ऋषि विश्वामित्र ने पहले नदी की स्तुति की। तदनन्तर नदी से अनुमति पाकर इस मन्त्र को गाकर वे पार उतर गये। पीटर्सन का कथन है कि वैदिक जन गहरी नदियों को पार करते समय इस मन्त्र का उच्चारण किया करते थे।

ओल्डनबर्ग का इसके सम्बन्ध में कथन है कि विश्वामित्र के नदी के पार उतरने के बाद नदियाँ पुनः पूरे वेग से बहने लगीं। इसी समय उनका एक शत्रु रथ पर आया और नदियों को पार करने लगा। परन्तु उसका यह प्रयास व्यर्थ रहा और उसका रथ नष्ट हो गया। उस समय ऋषि विश्वामित्र के इस मन्त्र-गान ने निरपराध बैलों के प्राणों की रक्षा की।

सायण ने 'शम्या' का अर्थ 'जुये में बाँधने वाली रस्सी' किया है। वेङ्कटमाधव ने भी यही अर्थ किया है। परन्तु पीटर्सन इसका अर्थ 'जुये की कीली' (Yoke pins) करते हैं और लुई रेनु ने इसका अर्थ 'चक्र की कीली (axle-pin)' किया है। सायण ने 'अदुष्कृतौ', 'व्येनसा' और 'अघ्न्यौ' को नदियों का विशेषण बताया है। उसका अर्थ इस प्रकार है — व्येनसा = पापों से रहित, अदुष्कृतौ = अत एव कल्याण कर्म करने वाली, अघ्न्यौ = किसी से तिरस्कृत न की जा सकने वाली विपाट और शुतुद्रि नदी, शूनम् = समृद्धि को, आरताम् = प्राप्त करें। इस व्याख्या में सायण 'मा' पद को छोड़ गये हैं। वेङ्कटमाधव ने भी इन पदों को नदियों का विशेषण बताया है। परन्तु उसने 'मा' पद को छोड़ा नहीं। उसके अनुसार — 'शूनम् मा आरताम् = हे नदियों! तुम वृद्धि को प्राप्त मत होओ। यह अर्थ होगा। पाश्चात्य भाष्यकारों ने वैदिक परम्पराओं के अनुसार 'अघ्न्य पद का अर्थ बैल करके 'अदुष्कृतौ' और 'व्येनसा' को उसका विशेषण बताकर अर्थ किया — May not the harmless and innocent buttocks suffer privations. 'अघ्न्यौ' पद में पुल्लिङ्ग है, अतः इसका बैल अर्थ करना अधिक उपयुक्त है। यदि कवि को इस पद को नदी के विशेषण के रूप में प्रयुक्त करना अभिप्रेत होता तो वे उसको स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त करते।



## मित्र-सूक्त

ऋषि—विश्वामित्र

देवता—मित्र

छन्द—१से५ त्रिष्टुप, ६से६ गायत्री

मण्डल ३

सूक्त ५९

मंत्र १

संहिता—पाठः

मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम् ।

मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत ॥

पद—पाठः

मित्रः । जनान् । यातयति । ब्रुवाणः । मित्रः । दाधार । पृथिवीम् । उत । द्याम् । मित्रः ।  
कृष्टीः । अनिमिषा । अभि । चष्टे । मित्राय । हव्यम् । घृतवत् । जुहोत ॥१॥

अन्वय — ब्रुवाणः मित्रः जनान् यातयति । मित्रः पृथिवीम् उत द्याम् दाधार । मित्रः अनिमिषा  
कृष्टीः अभि चष्टे । तस्मै मित्राय घृतवत् हव्यम् जुहोत ।

दयानन्द—भाष्य

(मित्रः) सखा (जनान्) (यातयति) पुरुषार्थयति (ब्रुवाणः) उपदेशेन प्रेरयन् (मित्रः)  
सूर्य इव परमात्मा (दाधार) धरति (पृथिवीम्) भूमिम् (उत) अपि (द्याम्) सूर्यलोकम् (मित्रः)  
सर्वस्य सुहृद्राजा (कृष्टीः) कर्षिका मनुष्यप्रजाः (अनिमिषा) अहर्निशजन्यया क्रियया (अभि)  
(चष्टे) अभितः ख्याति (मित्राय) वह्नये (हव्यम्) होतुमर्हम् (घृतवत्) बहुघृतादियुक्तं हविः  
(जुहोत) इत्त ॥१॥

भावार्थ — ये मनुष्या सत्योपदेशकं सत्यविद्याप्रदं सखायं सर्वाधारकं परमात्मानं  
सर्वव्यवस्थापकं राजानं सत्कुर्वन्ति त एव सर्वस्य सुहृदः सन्ति ॥१॥

हि० भावार्थ — जो मनुष्य लोग सत्य का उपदेश करने, सत्य विद्या देने, मित्रता  
रखने, सबको धारण करने वाले पारमात्मा और सबके व्यवस्थापक राजा का सत्कार करते  
हैं, वे ही सबके मित्र हैं ॥१॥

सायण—भाष्य

ब्रुवाणः स्तुयमानः शब्दं कुर्वाणो वा मित्रः । प्रकर्षेण सर्वैर्मीयते ज्ञायते तथा सर्वान्  
वृष्टिप्रदानेन जायते इति मित्रः सूर्यः जनान् कर्षकादिजनान् यातयति । कृष्यादिकर्मसु  
प्रयत्नं कारयति । तथा मित्र एव पृथिवीमथापि च द्यामेतावुभौ लोको वृष्टिद्वारत्रं यागाँश्च  
जनयन् दाधार धारयति । तथा सति मित्रोऽनिमिष— निमिषानुग्रहदृष्ट्या कृष्टीः कर्मवतो  
मनुष्यानभिचष्टे सर्वतः पश्यति । एतत्सर्वं ज्ञात्वा हे ऋत्विजो घृतवदुस्तरणाभिधारणयुक्तं  
हव्यं हवनयोग्यं पुरोडाशादिकं तस्मै मित्राय देवाय जुहोत । जुहुत प्रयच्छतेत्यर्थः ।

शब्दार्थ — मित्रः = सूर्य । जनान् = कृषक आदि मनुष्यों को । यातयति =  
कार्यों में लगाता है । ब्रुवाणः = स्तुति किया जाता हुआ । कृष्टीः = कृषकों को । अनिमिषा  
= निमेष रहित अथवा अनुग्रह की दृष्टि से । अभिचष्टे = सब ओर से देखता है । घृतवत्



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

= घृत से युक्त। जुहोतन = प्रदान करो।

हिन्दी व्याख्या — स्तुति किया जाता हुआ सूर्य कृषक आदि मनुष्यों को कार्यों में लगाता है। सूर्य ही पृथिवी और द्यु लोक को धारण करता है। सूर्य निमेष रहित अथवा अनुग्रह की दृष्टि से कृषकों को सब ओर से देखता है। हे ऋत्विजो! उस सूर्य के लिये घृत से युक्त हवियों को प्रदान करो।

**व्याकरण —**

ब्रुवाणः — ब्रू + शानच् (उवङ्. आदेश) ब्रुवाण।

यातयति — अयन्त यती प्रयत्ने धातु, लट् लकार।

दाधार — वृ धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। वैदिक व्यत्यय से लट् के अर्थ में लिट् का प्रयोग है।

कृष्टी — कृष् + क्तिन् = कृष्टि। द्वितीया का बहुवचन।

घृतवत् — वृ + मतुप् = घृतवत्।

हव्यम् — हु + यत् = हव्य।

विशेष — मैक्डानल के अनुसार 'ब्रु वाणः' की क्रिया सूर्य द्वारा है और इसका अर्थ है 'बोलता हुआ सूर्य' (Mitrasspeaking)। 'कृष्टीः' का अर्थ उसने 'जनसामान्य' (people) किया है।

मण्डल ३

सूक्त ५९

मंत्र २

संहिता-पाठः

प्र स मित्रं मर्तो अस्तु प्रयस्वान्यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन।

न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात्।

पद-पाठः

प्र। सः। मित्रं। मर्तः। अस्तु। प्रयस्वान्। यः। ते। आदित्य। शिक्षति। व्रतेनं। न। हन्यते। न जीयते। त्वाऽऊतः। न। एनम्। अंहः। अश्नोति। अन्तितः। न। दूरात्॥२॥

अन्वय — आदित्य। यः ते व्रतेन शिक्षति, मित्र ! सः मर्तः प्रयस्वान् प्र अस्तु। त्वा ऊतः न हन्यते न जीयते। एनम् अंहः न अन्तितः न दूरात् अश्नोति।

दयानन्द-भाष्य

(प्र) (सः) (मित्र) सखे (मर्तः) मनुष्यः (अस्तु) भवतु (प्रयस्वान्) प्रयत्नवान् (यः) (ते) तव (आदित्य) अविनाशिस्वरूप (शिक्षति) विद्यां गृह्णाति ग्राहयति वा। अत्र व्यत्ययेन परस्मैपदम्। (व्रतेन) कर्मणेव (न) (हन्यते) (न) (जीयते) जेतुं शक्यते (त्वोतः) त्वया रक्षितः (न) (एनम्) (अंहः) पापम् (अश्नोति) प्राप्नोति (अन्तितः) समीपात् (न) दूरात्॥२॥

भावार्थ — ये मनुष्या आप्तेश्वरयोगुणकर्मस्वभाववत्स्वगुणकर्मस्वभावान्कृत्वा सत्यन्यायेन सर्वाञ्छिक्षन्ते ते निष्पापा धर्मात्मानो भूत्वाऽऽप्तेश्वराभ्यां रक्षिताः सन्तो दुष्टैर्हन्तुं पराजितुं च



न शक्यन्ते । नैव ते दूरात्समीपाद्वा पक्षपातेन पापं भजन्ते ॥२॥

**हि०भावार्थ** — जो मनुष्य यथार्थवक्ता और स्वामी के गुण, कर्म और स्वभाव के सदृश अपने गुण, कर्म और स्वभावों को करके सत्य न्याय से सबको शिक्षा करते हैं, वे पाप रहित धर्मात्मा होकर यथार्थवक्ता और स्वामी से रक्षित हुए दुष्टों से नाश तथा पराजय को प्राप्त नहीं हो सकते और न वे दूर वा समीप से पक्षपात से पाप का सेवन करते हैं ॥२॥

### सायण-भाष्य

हे आदित्य व्रतेन यज्ञेन युक्तो यो मनुष्यस्ते तुभ्यं शिक्षति हविर्लक्षणमन्नं ददाति । हे मित्र स मर्तो मनुष्यः प्रयस्वानन्नवान् प्रास्तु प्रभवतु । त्वोतस्त्वया रक्षितः स मनुष्यः केनापि न हन्यते । न बाध्यते । न जीयते । नाभिभूयते च । एनं तुभ्यं हविर्दत्तवन्तं पुरुषमंहः पापान्तिवतः समीपान्नाश्नोति । न प्राप्नोति दूरादपि च न प्राप्नोति ।

**शब्दार्थ** — मर्तः = मनुष्य । प्रयस्वान् = अन्न वाला । शिक्षति = हवि प्रदान करता है । व्रतेन = यज्ञ से युक्त हुआ । हन्यते = मारा जाता है । जीयते = जीता जाता है । त्वोतः = तुम्हारे द्वारा रक्षा किया गया । अंहः = पाप । अश्नोति = प्राप्त होता है । अन्तिवतः = समीप से ।

**हिन्दी व्याख्या** — हे आदित्य ! जो मनुष्य यज्ञ से युक्त हुआ तुम्हारे लिये हवि प्रदान करता है, हे मित्र! वह मनुष्य अन्न वाला बने । हे मित्र तुम्हारे द्वारा रक्षा किया गया मनुष्य न तो कभी मारा जाता है और न किसी के द्वारा जीता जाता है । इस मनुष्य को पाप न तो समीप से और न दूर से प्राप्त होता है ।

### व्याकरण —

प्रयस्वान् — प्रयस् + मतुप् = प्रयस्वत् । प्रथमा का एकवचन ।

अस्तु — अस् धातु, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

शिक्षति — शिक्षतिर्दानकर्मा । व्यत्ययेन परस्मैपदम् ।

त्वोतः — त्वया ऊतः । अच् रक्षणे+क्त । अच् को ऊट् आदेश = ऊत । वैदिक नियम से युष्मद् को त्वा आदेश । त्वा+ऊत् = त्वोत ।

जीयते — जि (कर्मवाच्य), लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

**विशेष** — मैक्डानल ने इन शब्दों का अर्थ इस प्रकार किया है — प्रयस्वान् = प्रमुख (pre-eminent), शिक्षति = नमस्कार करता है (pays obeisance) और व्रतेन = आदेशानुसार (according to ordinance) ।



संहिता-पाठः

अ॒न॒मी॒वा॒स इ॒ळ॒या म॒द॒न्तो मि॒त॒ज्ञ॒वो व॒रि॒म॒न्ना पृ॒थि॒व्याः ।

आ॒दि॒त्य॒स्य व्र॒तमु॒प॒क्षि॒यन्तो व॒यं मि॒त्र॒स्य सु॒मतौ स्या॒म ॥

पद-पाठः

अ॒न॒मी॒वा॒सः । इ॒ळ॒या । म॒द॒न्तः । मि॒त॒ज्ञ॒वः । व॒रि॒म॒न् । आ । पृ॒थि॒व्याः । आ॒दि॒त्य॒स्य ।  
व्र॒तम् । उ॒प॒क्षि॒यन्तः । व॒यम् । मि॒त्र॒स्य । सु॒म॒तौ । स्या॒म ॥३॥

अन्वय — अनमीवासः इळवा मदन्तः पृथिव्याः वरिमन् मितज्ञवः आ वयम् आदित्यस्य व्रतम् उपक्षियन्तः मित्रस्य सुमतौ स्याम ।

दयानन्द-भाष्य

(अनमीवासः) शरीरात्मरोगरहिताः (इळया) सुशिक्षितया वाचा पृथिवीराज्येन वा (मदन्तः) आनन्दन्तः (मितज्ञवः) मितानि जानूनि येषान्ते (वरिमन्) बहुशीलसत्ययुक्तम् (आ) (पृथिव्याः) भूमेः (आदित्यस्य) सूर्यस्य (व्रतम्) क्षमां न्यायप्रकाशं वा कर्म (उपक्षियन्तः) उपनिवसन्तः (वयम्) (मित्रस्य) सर्वस्य सृष्टद ईश्वरस्याऽऽप्तस्य वा (सुमतौ) उत्तमाज्ञायां प्रज्ञायां वा (स्याम) भवेम ॥३॥

भावार्थ — ये परमेश्वरेणाऽप्तैस्सह सौहार्दं कृत्वा क्षमादिविद्यान्यायप्रकाशादि गुणान् स्वीकृत्य धर्म्यं पथि वर्तन्ते त एव परमेश्वरस्याप्तानां च प्रिया जायन्ते ॥३॥

हि०भावार्थ — जो लोग परमेश्वर और यथार्थवक्ता पुरुषों के साथ मित्रता कर और क्षमा आदि, विद्या, न्याय के प्रकाश आदि गुणों को स्वीकार करके धर्मयुक्त मार्ग में वर्तमान है, वे ही परमेश्वर और यथार्थवक्ता पुरुषों के प्रिय होते हैं ॥ ३ ॥

सायण-भाष्य

अनमीवास — हे मित्र अनमीवासो रोगवर्जिता इडया अन्नेन मदन्तो माद्यन्तः पृथिव्याः वरिमन् विस्तीर्णं प्रदेशे मितज्ञवो मितजानुकाः आ यथाकामं सर्वत्र गच्छन्त आदित्यस्य सम्बन्धि व्रतं कर्मोपक्षियन्तस्तस्य कर्मणः समीपे निवसन्तः । तदीयं कर्म कुर्वाण इत्यर्थः । तादृशं वयं मित्रस्यादित्यस्य सुमतौ शोभनाया— मनुग्रहबुद्ध्यां स्याम वर्तेमहि ।

शब्दार्थ — अनमीवासः = रोग रहित होते हुए । इळया = अन्न से, सुख से । मदन्तः = हर्षित होते हुये । मितज्ञवः = परिमित जानु वाले । वरिमन् = विस्तीर्ण प्रदेशों में । आ वयम् = यथेच्छ रूप से आते हुये हम । व्रतम् = नियम के । उपक्षियन्तः = समीप रहते हुये । सुमतौ = सुमति में ।

हिन्दी व्याख्या — हे सूर्य ! रोगरहित होते हुये, अन्न से या सुख से हर्षित होते हुये, पृथिवी के विस्तीर्ण प्रदेशों में परिमित जानु वाले अर्थात् परिमित गति वाले, यथेच्छ रूप से आते हुए हम सूर्य सम्बन्धी नियमों के समीप रहते हुये अर्थात् उनका पालन करते हुये मित्र देवता की सुमित में बने रहें अर्थात् उसकी कृपा के पात्र बने रहें ।



## मित्र-सूक्त ( मण्डल-३, सूक्त-५९ )

## व्याकरण —

मदन्तः — मदीं हर्षे + शतृ = मदत् । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन ।

मितज्ञवः — मिताः जानवः येषां ते । जानु के स्थान पर छान्दस सु आदेश ।

उपक्षियन्तः — उप+क्षि+शतृ = उपक्षियत् । प्रथमा का बहुवचन ।

वरिमन् — 'उरु' शब्द से 'इननिच्' प्रत्यय तथा उरु को 'वरः' आदेश ।

स्याम — अस् धातु, विधिलिङ्, उत्तम पुरुष, बहुवचन ।

विशेष — मैक्डानल ने 'मितज्ञवः' का अर्थ 'दृढ़' जानु वाले (firm-kneed) किया है ।

मण्डल ३

सूक्त ५६

मंत्र ४

## संहिता-पाठः

अयं मित्रो नमस्यः सुशेवो राजा सुक्षत्रो अजनिष्ट वेधाः ।

तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ।।

## पद-पाठः

अयम् । मित्रः । नमस्यः । सुशेवः । राजा । सुक्षत्रः । अजनिष्टः । वेधाः । तस्य ।  
वयम् । सुमतौ । यज्ञियस्य । अपि । भद्रे । सौमनसे । स्याम् ।।४।।

अन्वय — अयम् मित्रः नमस्यः सुशेवः राजा सुक्षत्रः वेधाः अजनिष्टः । यज्ञियस्य तस्य सुमतौ  
भद्रे सौमनसे अपि वयम् स्याम ।

## दयानन्द-भाष्य

(अयम्) परमात्माऽऽप्तो राजा वा (मित्रः) सखा (नमस्यः) परिचरितुं सत्कर्तुं योग्यः  
(सुशेवः) सुष्ठुसुखप्रदः (राजा) भूमिषः (सुक्षत्रः) सुष्ठुसुखि क्षत्रं राष्ट्रं यस्य सः (अजनिष्ट)  
जायते (वेधाः) मेधावी (तस्य) (वयम्) (सुमतौ) आज्ञायां प्रज्ञायां वा (यज्ञियस्य)  
न्यायव्यवहारसंपादकस्य (अपि) (भद्रे) कल्याणकरे (सौमनसे) सुमनसि भवे व्यवहारे  
(स्याम) ।।४।।

भावार्थ — यथेश्वर आप्ताश्च धर्मे वर्तमाना नमस्या भवन्ति तथैव न्यायविनयाभ्यां  
राष्ट्रपालका राजानः सत्कर्तव्याः स्युः । यथा शिष्टाः परमेश्वरस्याऽऽप्तानां च कर्मसु वर्तन्ते  
तथैवाऽऽस्माभिस्सदैव वर्तितव्यम् ।।४।।

हि०भावार्थ — जैसे ईश्वर और यथार्थवक्ता पुरुष धर्म में वर्तमान हुए नमस्कार  
करने के योग्य होते हैं वैसे ही न्याय और विनय से राज्य के पालनकर्ता राजा लोग  
सत्कार करने योग्य हों और सज्जन लोग परमेश्वर और यथार्थवक्ताओं के कर्मों में  
वर्तमान हैं वैसे ही हम लोगों को चाहिये कि वर्त्ताव करें ।।४।।

## सायण-भाष्य

अयं पूर्वमन्ते प्रतिपादितो मित्रः सूर्यो नमस्यः सर्वेर्नमस्करणीयः सुशेवः शोभनसुखः ।  
सुखेन सेव्य इत्यर्थः । राजा सर्वस्य जगतः प्रकाशदानेनैव स्वामी सुक्षत्रः शोभनबलोपेतो वेधाः



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

सर्वस्य जगतो विधाता। एवं गुणोपेतः सूर्योऽजनिष्ट। प्रादुरभूत्। तस्यैविविधगुणोपेतस्य यज्ञियस्य यज्ञार्हस्य सूर्यस्य सुमतौ शोभनायां बुद्ध्यां भद्रे कल्याणकारिणी सौमनसे सौमनस्येऽपि यजमाना वयं स्याम भवेम।

**शब्दार्थ** — नमस्य = नमस्कार करने योग्य। सुशेवः = अच्छी प्रकार से सेवन करने योग्य, अच्छा सुख देने वाला। राजा = प्रकाशक स्वामी। सुक्षत्रः = उत्तम बल से सम्पन्न। अजनिष्ट = उत्पन्न हुआ है। वेधाः = संसार की रचना करने वाला। यज्ञियस्य = यज्ञ के योग्य। भद्रे = कल्याण करने वाले। सौमनसे = प्रसन्न मन से।

**हिन्दी व्याख्या** — यह सूर्य नमस्कार करने योग्य, अच्छी प्रकार से सेवन करने योग्य अथवा सुख देने वाला है, सारे जगत का प्रकाशक या स्वामी है, उत्तम बल से सम्पन्न है और सारे संसार की रचना करने वाला है। ऐसा यह उत्पन्न हुआ है। यज्ञ के योग्य उस सूर्य की उत्तम बुद्धि में और कल्याण करने वाले प्रसन्न मन में भी हम यजमान बने रहें। सूर्य हमें सदा अपने ध्यान में रखे और हम पर कृपालु रहे।

**व्याकरण** —

नमस्यः — नमसि साधु अर्थ में "तत्र साधुः" से यत् प्रत्यय।

अजनिष्ट — जन् धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

यज्ञियस्य — यज्ञम् अर्हति। यज्ञ+घ(इय) = यज्ञिय। षष्ठी का एकवचन।

सौमनसे — सुमनसः भावः। सुमनस्+अण्=सौमनस। सप्तमी का एकवचन।

**विशेष** — मैक्डानल ने 'सौमनसे' का अर्थ 'उत्तम शान' (good graces) और 'सुशेवः' का अर्थ 'सबसे अधिक अनुकूल' (most propitious) किया है।

मण्डल ३

सूक्त ५९

मंत्र ५

संहिता-पाठः

म॒हाँ आ॒दि॒त्यो नम॑सो॒प॒स॒द्यो या॒त॒य॒ज्ज॑नो गृ॒ण॒ते सु॒शेवः॑ ।

तस्मा॑ ए॒तत्प॑न्य॒तमा॒य जु॒ष्टम॑ग्नौ मि॒त्राय॑ ह॒विरा जु॒होत॑ ॥

पद-पाठः

महान्। आ॒दि॒त्यः। नम॑सा। उ॒प॒स॒द्यः। या॒त॒य॒त्स॒ज्ज॑नः। गृ॒ण॒ते। सु॒शेवः॑। तस्मै॑। ए॒तत्। प॑न्य॒तमा॒य। जु॒ष्टम्। अ॒ग्नौ। मि॒त्राय॑। ह॒विः। आ॒। जु॒होत॑॥५॥

**अन्वय** — आदित्यः महान् नमसा उपसद्यः यातयज्जनः गृणते सुशेवः। पन्यतमाय तस्मै मित्राय जुष्टम् एतत् हविः अग्नौ आ जुहोत।

**दयानन्द-भाष्य**

(महान्) महागुणविशिष्टः (आदित्यः) सूर्यइव शुभगुणप्रकाशकः (नमसा) सत्कारेण (उपसद्यः) प्राप्तुं योग्यः (यातयज्जनः) प्रेरयन् (गृणते) स्तुवन्ति (सुशेवः) सुसुखः (तस्मै)



(एतत्) (पन्यतमाय) अतिशयेन प्रशंसिताय (जुष्टम्) प्रीतम् (अग्नौ) (मित्राय) प्राणवद्वर्तमानाय (हविः) होतव्यमत्तव्यम् (आ) (जुहोत) दद्युः ॥५॥

भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । त एव पूज्यारसूर्यवद्विद्या-धर्मप्रकाशका आप्ता विद्वांसो ये शुभगुणकर्मसु सर्वान्प्रेरयेयुर्यथत्विजोऽग्नौ सुसंस्कृतं हविर्हुत्वा जगत्प्रसादयन्ति तथैव शुभगुणयुक्तेषु विद्यार्थिषु विद्याधर्मो संस्थाप्य सर्वान्मनुष्यादीन्सुखिनः कुर्वन्ति ॥५॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । वे ही पूज्य सूर्य के सदृश विद्या और धर्म के प्रकाश करनेवाले यथार्थवक्ता विद्वान् लोग हैं कि जो उत्तम गुण और कर्मों में सब को प्रेरणा करें जैसे ऋत्विक् अर्थात् ऋतु ऋतु में हवन करनेवाले लोग अग्नि में अच्छे बनाए हुए हवि अर्थात् होम करने योग्य पदार्थ को होम के संसार को प्रसन्न करते हैं, वैसे ही उत्तम गुणों से युक्त विद्यार्थी जनों में विद्या और धर्म को अच्छे प्रकार स्थापन करके सब मनुष्य आदि प्राणियों को सुखी करते हैं ॥५॥

### सायण-भाष्य

योऽयमादित्यो महान् अत एव नमसा नमस्कारेणोपसद्यः सर्वैरूप सदनीयो यातयज्जनः । प्रातः स्वस्वकर्माणि प्रवर्तनीया जना येनेति स तथोक्तः गृणते स्तोत्रं कुर्वते जनाय सुशेवश्च भवति तस्मै पन्यतमाय स्तुत्यतमाय मित्रायादित्याय जुष्टं प्रीतिविषय मेतद्विरग्नावाजुहोत जुहुत ।

शब्दार्थ — उपसद्यः = समीप पहुँचने के योग्य । यातयत = कार्यो में प्रवृत्त करने वाला । गृणते = स्तुति करने वाले मनुष्य के लिये । सुशेवः = सरलता से पहुँचने के योग्य, सुख देने वाला । पन्यतमाय = सबसे अधिक स्तुति किये जाने के योग्य । जुष्टम् = आनन्ददायक ।

हिन्दी व्याख्या — यह आदित्य महान् है, इसलिये नमस्कार के द्वारा समीप पहुँचने के योग्य है । मनुष्यों को अपने-अपने कार्यो में प्रवृत्त करने वाला यह सूर्य स्तुति करने वाले मनुष्य के लिये सुख देने वाला अथवा सरलता से पहुँचने के योग्य है । सबसे अधिक स्तुति किये जाने के योग्य उस सूर्य के लिये आनन्ददायक इस हवि की अग्नि में आहुति दो ।

### व्याकरण —

उपसद्यः — उप+सद्+यत् = उपसद्य ।

यातयज्जनः — ण्यन्त यती प्रयत्ने धातु से शतृ = यातयत् । यातयान् जनान् यःसः ।

गृणते — गृ+श्ना+शतृ = गृणत् । चतुर्थी का एकवचन ।

पन्यतमाय — पन्+यत् = पन्य । पन्य+तमप् = पन्यतम ।

जुष्टम् — जुष् +क्त = जुष्ट ।

जुहोत — हु धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन । वैदिक रूप ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

विशेष — सायण ने जुष्टम' का अर्थ 'प्रीतिदायक' किया है, जबकि मैक्डानल के अनुसार इसका अर्थ स्वीकरणीय (acceptable) है।

मण्डल ३

सूक्त ५९

मंत्र ६

संहिता-पाठः

मित्रस्य चर्षणीधृतोऽवो देवस्य सानसि ।

द्युम्नं चित्रश्रवस्तमम् ।।

पद-पाठः

मित्रस्य । चर्षणीधृतः । अवः । देवस्य । सानसि । द्युम्नम् । चित्रश्रवः । स्तमम् ।।६।।

अन्वय — चर्षणीधृतः मित्रस्य देवस्य अवः सानसि । द्युम्नम् चित्रश्रवस्तमम् ।

दयानन्द-भाष्य

(मित्रस्य) सर्वस्य सुहृदः (चर्षणीधृतः) मनुष्याणां धर्तुः (अवः) रक्षणादिकम् (देवस्य) विदुषो राज्ञः (सानसि) पुरातनम् (द्युम्नम्) यशःकरं धनं विज्ञानं वा (चित्रश्रवस्तमम्) चित्राण्यद्भुतानि श्रवांसि श्रवणान्यन्नानि वा येन तदति- शयितम् ।।६।।

भावार्थ — ये सनातनं विद्याधनं गृहीत्वा सर्वाः प्रजा रक्षन्ति तेऽत्राऽमुत्र च सुखं लभन्ते ।।६।।

हि०भावार्थ — जो लोग अनादि काल से सिद्ध विद्याधन का ग्रहण करके सम्पूर्ण प्रजाओं की रक्षा करते हैं, वे इस लोक और परलोक में सुख को प्राप्त होते हैं ।।६।।

सायण-भाष्य

चर्षणीधृतो मनुष्याणां वृष्टिप्रदानेन धारकस्य मित्रस्य देवस्य सम्बन्ध्यवोऽन्नं सानसि सर्वैः सम्भजनीयं तस्य द्युम्नं तदीयं धनं च चित्रश्रवस्तमम् अतिशयेन चायनीयकीर्तियुक्तम् च वर्तते ।

शब्दार्थ — चर्षणीधृत = वृष्टि करके धारण करने वाले । अवः = अन्न । सानसि = समान रूप से उपभोग के योग्य है । द्युम्नम् = धन । चित्रश्रवस्तमम् = बहुत अधिक सुन्दर कीर्ति से युक्त ।

हिन्दी व्याख्या — अन्नों के उत्पादन के लिये वृष्टि करके मनुष्यों को धारण करने वाले सूर्य देवता का अन्न सब उपासकों द्वारा समान रूप से उपभोग करने के योग्य है । उसका धन बहुत अधिक कीर्ति से युक्त है ।

व्याकरण —

चर्षणीधृतः — चर्षणी + धृ + (टुक) + क्विप् = चर्षणीधृत् । छान्दस दीर्घ । षष्ठी का एकवचन ।

अवः — अक् + अमुन् = अवस् ।



## मित्र-सूक्त ( मण्डल-३, सूक्त-५९ )

सानसि — सन् + असिच् = सन्नसि । निपातनात् उपधा को दीर्घ ।

चित्रश्रवस्तमम् — चित्र श्रवः यस्य स चित्रश्रवाः । चित्रश्रवस् + तमप् = चित्रश्रवस्तमम् ।

विशेष — सायण ने 'सानसि' को सुबन्त माना है, परन्तु मैक्डानल इसे क्रिया पद मानकर इसका अर्थ करता है, लाभ को लाने वाला है । उसने 'अवः' का अर्थ 'अनुग्रह' किया है । इस प्रकार इसके अनुसार 'अवः सानसि' का अर्थ है, favour brings gain ।

मण्डल ३

सूक्त ५९

मंत्र ७

संहिता-पाठः

अभि यो महिना दिवं मित्रो बभूव सप्रथाः ।

अभि श्रवोभिः पृथिवीम् ॥

पद-पाठः

अभि । यः । महिना । दिवम् । मित्रः । बभूव । सप्रथाः । अभि । श्रवः । अभिः । पृथिवीम् ॥ ७ ॥

अन्वय — यः मित्रः महिना दिवम् अभिबभूव सप्रथाः श्रवोभिः पृथिवीम् अभि ।

दयानन्द-भाष्य

(अभि) आभिमुख्ये (यः) (महिना) महिम्ना (दिवम्) प्रकाशमयं सूर्यम् (मित्रः) सखेव वर्तमानः (बभूव) भवति (सप्रथाः) प्रथसा विस्तृतेन जगता सह वर्तमानः (अभि) (श्रवोभिः) अन्नादिभिस्सह (पृथिवीम्) भूमिम् ॥ ७ ॥

भावार्थ — हे मनुष्या यो महासामर्थ्येन सूर्यपृथिव्यादिकं सविस्तरं जगन्निर्मायान्तर्यामिरूपेण सर्वं विज्ञाय धृत्वा नियमयति स एवोपासितुं योग्यः ॥ ७ ॥

हि०भावार्थ — हे मनुष्यो ! जो बड़े सामर्थ्य से सूर्य और पृथिवी आदि विस्तार सहित संसार को रच और अन्तर्यामिरूप से सबको जान और धारण करके नियम में लाता है, वही उपासना करने के योग्य है ॥ ७ ॥

सायण-भाष्य

यो मित्रो महिना स्वकीयेन महिम्ना दिवमन्तरिक्षमभिबभूवाभिभवति स मित्रः सप्रथाः । प्रथः प्रसिद्धिः कीर्तिः तत्सहितः । श्रवोभिवृष्टिद्वारोत्पादितैरेनैः पृथिवीमभिर्भवति । वहन्नयुक्तां करोतीत्यर्थः ॥

शब्दार्थ — महिना = महिमा से । दिवम् = अन्तरिक्ष को । अभिवभूव = अधिकार में रखता है । सप्रथाः = कीर्तिशाली होता हुआ । श्रवोभिः = अन्नो से ।

हिन्दी व्याख्या — जो सूर्य अपनी महिमा से अन्तरिक्ष को अपने अधिकार में रखता है, वह प्रसिद्ध कीर्तिशाली होता हुआ सूर्य वृष्टि द्वारा उत्पादित अन्नो से पृथिवी को भी अपने अधिकार में रखता है । अर्थात् पृथिवी को प्रचुर अन्न से भर देता है ।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

### व्याकरण -

वभूव - वर्तमान के अर्थ में लट् लकार है।

सप्रथाः - प्रथ् प्रख्याने + असुन् (अस्) = प्रथाः। प्रथसा सह, 'सह' को 'स' आदेश होकर सप्रथाः।

श्रवोभिः - श्रूयते इति श्रु + अश्रुप् = श्रवस्। तृतीया का बहुवचन।

विशेष - मैक्डानल ने 'श्रवस्' का अर्थ कीर्ति किया है।

मण्डल ३

सूक्त ५९

मंत्र ८

संहिता-पाठः

मित्राय पञ्च येमिरे जना अभिष्टिशवसे।

स देवान्विश्वान्विभर्ति॥

पद-पाठः

मित्राय॑ पञ्च॑ । येमिरे॑ । जनाः॑ । अभिष्टि॑शवसे । सः॑ । देवान् । विश्वान् । विभर्ति॑ ॥८॥

अन्वय - पञ्च जनाः अभिष्टिशवसे मित्राय येमिरे । स विश्वान् देवान् विभर्ति ।

दयानन्द-भाष्य

(मित्राय) सखेव सर्वेषां सुखप्रदाय (पञ्च) प्राणादयः (येमिरे) यच्छन्ति (जनाः) विद्वांसः (अभिष्टिशवसे) अभीष्टबलाय (सः) (देवान्) सूर्यादीन् (विश्वान्) सर्वान् (विभर्ति) धरति पुष्पाति ॥८॥

भावार्थ - अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यथा निगृहीताः प्राणा इन्द्रियाणि निगृह्णन्ति तथैव योगिनो जना समाधिना परमात्मानं प्राप्नुवन्ति ॥८॥

हि०भावार्थ - इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जैसे रोके गये प्राण वायु इन्द्रियों को रोकते हैं, वैसे ही योगीजन समाधि से परमात्मा को प्राप्त होते हैं ॥८॥

सायण-भाष्य

पञ्चजनाः निषादपञ्चमाश्चत्वारो वर्णाः अभिष्टिशवसे शत्रूणां अभिगन्तृबल- युक्ताय मित्राय येमिरे । हवींष्युद्यच्छन्ति । स तादृशो मित्रो विश्वान् सर्वान् देवान् विभर्ति । स्वस्वरूपतया धारयति ।

शब्दार्थ - पञ्चजनाः = ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और निषाद ये पाञ्च प्रकार के मनुष्य । येमिरे = हवि प्रदान करते हैं । अभिष्टिशवसे = शत्रुओं का सामना करने वाले बल से सम्पन्न । विभर्ति = धारण करता है, पालन करता है ।

हिन्दी व्याख्या - पाँचों प्रकार के मनुष्य अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद शत्रुओं का सामना करने वाले बल से सम्पन्न सूर्य के लिये हवि प्रदान करते हैं । वह सूर्य सब देवताओं को धारण करता है या पालन करता है ।



## मित्र-सूक्त (मण्डल-३, सूक्त-५९)

व्याकरण —

अभिष्टिशवसे — इष् + क्तिन् = इष्टि । अभि + इष्टि = पररूप होकर अभिष्टि ।  
अभिष्टये शवः बलं यस्य तस्मै = अभिष्टिशवसे ।

येमिरे — यम् धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।

विभर्ति — भृ धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

विशेष — मैक्डानल ने 'अभिष्टिशवसे' का अर्थ किया है — सहायता करने के लिये दृढ (strong to help) ।

इस मन्त्र का अभिप्राय है कि सब मनुष्य और देवता सूर्य पर निर्भर हैं ।

मण्डल ३

सूक्त ५९

मंत्र ९

संहिता-पाठः

मित्रो देवेष्वायुषु जनाय वृक्तबर्हिषे ।

इष इष्टव्रता अकः ।।

पद-पाठः

मित्रः । देवेषु । आयुषु । जनाय । वृक्तबर्हिषे । इषः । इष्टव्रताः । अकरित्यकः ।।९।।

अन्वय — मित्रः देवेषु आयुषु वृक्तबर्हिषे जनाय इष्टव्रताः इषः अकः ।

दयानन्द-भाष्य

(मित्रः) सखा (देवेषु) दिव्येषु (आयुषु) जीवनेषु (जनाय) मनुष्याद्याय (वृक्तबर्हिषे) वृक्तं बर्हिरुदकं येन तस्मै (इषः) इच्छाः (इष्टव्रताः) इष्टकर्माणः (अकः) करोति ।।९।।

भावार्थ — यः परमात्माऽन्यायवर्जितान् भक्तान्मनुष्यान्तिसद्देच्छान् करोति स एव सर्वैर्ध्यातव्य इति ।।९।।

हि०भावार्थ — जो परमात्मा अन्याय से रहित भक्त मनुष्यों को सिद्ध इच्छावाले करता है, वही सब लोगों को ध्यान करने योग्य है ।।९।।

सायण-भाष्य

मित्रो-मित्रो भगवानादित्यो देवेषु द्योतमानादिगुणयुक्तेष्वायुषु मनुष्येषु मध्ये यो जनो वृक्तबर्हिः । वृक्तं लूनं बर्हिर्येन सः । बर्हिलर्वनासादनपूर्वं हविषो दाता ऋत्विगित्यर्थं तस्मै वृक्तबर्हिषे जनायेष्टव्रताः । इष्यावि कल्याणानि व्रतानि कर्माणि याभिः सिध्यन्ति ता इषस्तादृशान्यन्नान्यकः । करोति तस्मै ददातीत्यर्थः ।

शब्दार्थ — देवेषु = दीप्ति आदि गुणों से युक्त देवताओं में । आयुषु = आयु को धारण करने वाले मनुष्यों में । वृक्तबर्हिषे = कुश काटने आदि कर्मों के द्वारा हवि अर्पित करने वाले के लिये । इष्टव्रताः = कल्याणकारी यथेष्ट व्रतों को सिद्ध करने वाले के लिये । इषः = अन्नों को, यज्ञों को । अकः = सम्पादित करता है ।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

हिन्दी व्याख्या — भगवान् सूर्य दीप्ति आदि गुणों से युक्त देवताओं में और आयु को धारण करने वाले मनुष्यों व कुश काटने आदि कर्मों के द्वारा सूर्य के लिये हवि अर्पित करने वाले व्यक्ति के लिये कल्याणकारी यथेष्ट व्रतों को सिद्ध करने वाले अन्नों को या यज्ञों को सम्पादित करता है।

### व्याकरण —

वृक्तवर्हिषे — 'ओवृचश्छेदने' से वृच् + क्त = वृक्त। बर्हिः येन तस्मै।

अकः — 'कृ' धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

विशेष — मैक्डानल ने 'वृक्तवर्हिषे' का अर्थ किया है — जिसकी यज्ञीय कुशा, वेदी के ऊपर बिछी हुई है (Whose sacrificial grass is spread)।



## उषस्-सूक्त

ऋषि-विश्वामित्रः

देवता-उषस्

छन्द-त्रिष्टुप्

मण्डल ३

सूक्त ६१

मंत्र १

संहिता-पाठः

उषो वाजेन वाजिनि प्रचेताः स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि ।  
पुराणी देवी युवतिः पुरधिरनु चेरसि विश्ववारे ॥

पद-पाठः

उषः । वाजेन । वाजिनि । प्रचेताः । स्तोमम् । जुषस्व । गृणतः । मघोनि ।  
पुराणी । देवि । युवति । पुरन्धिः । अनु । व्रतम् । चरसि । विश्ववारे ॥१॥  
अन्वय — वाजेन वाजिनि मघोनि उषः । प्रचेताः गृणतः स्तोमम् जुषस्व । विश्ववारे देवि!  
पुराणी युवतिः पुरन्धिः व्रतम् अनुचरसि ।

दयानन्द-भाष्य

(उषः) उषर्वद्वर्त्तमाने (वाजेन) विज्ञानेन (वाजिनि) विज्ञानवती (प्रचेताः) प्रकृष्टतया  
सदर्थज्ञापिका (स्तोमम्) श्लाघाम् (जुषस्व) (गृणतः) स्तोतु (मघोनि) परमधनयुक्ते (पुराणी)  
पुरा नवीना (देवी) कमनीये (युवतिः) पूर्णचतुर्विंशतिवर्षा (पुरन्धिः) या बहू छुभगुणान्धरति  
(अनु) आनुकूल्ये (व्रतम्) कर्म (चरसि) (विश्ववारे) सर्वतो वरणीये ॥१॥

भावार्थ — हे स्त्रियों यथोषसः सर्वान् प्राणिनः प्रबोध्य कार्येषु प्रवर्त्तयन्ति तथैव  
पतिव्रता भूत्वा पतिभिस्सहाऽऽनुकूल्येन वर्त्तित्वा प्रशंसिता भवन्ति ॥१॥

हि०भावार्थ — हे स्त्रियों ! जैसे प्रातर्वेला सम्पूर्ण प्राणियों को जगाकर कार्य्यों में  
प्रवृत्त करती है वैसे ही पतिव्रता होकर पतियों के साथ अनुकूलता से प्रशंसित  
होओ ॥१॥

सायण-भाष्य

वाजेन वाजिनी अन्नेन अन्नवति । मघोनि? धनवति हे उषः! प्रचेताः प्रकृष्ट ज्ञानवती  
सती गृणतः तव स्तोत्रं कुर्वतः स्तोतुः स्तोम स्तोत्रं जुषस्व सेवस्व । यद्वा । वाजेन हविलक्षणेनान्नेन  
सह स्तोमं जुषस्वेति सम्बन्धः । विश्ववारे विश्वैः सर्वैर्वरणीये हे उषो देवि! पुराणी पुरातनी  
युवति तरुणीत्युपमा । तद्वच्छोभना । सुसंकाशा मातृमृष्टेव योषेतिवत् । (ऋग० १/१२३/२)  
पुरन्धिः पुरु बहु धी स्तोत्रलक्षणं कर्म यस्याः सा । बहुस्त्रोत्रवती पुरुधिर्बहुधीरिति यास्काः ।  
पुरन्धिः शोभमाना वा । एवंविधगुणोपेता त्वमनुव्रतं यज्ञकर्माभिलक्ष्य चरसि यष्टव्यतया वर्तते ।

शब्दार्थ — वाजेन = अन्न से । वाजिनि = अन्नवती । प्रचेताः = प्रकृष्टज्ञान  
वाली । स्तोमम् = स्तोत्र को । जुषस्व = ग्रहण करो । गृणतः = स्तुति करने वाले के ।  
मघोनि = धन से सम्पन्न । पुराणी = पुरातनी । पुरन्धिः = बहुत अधिक बुद्धिशालिनी ।  
अनुव्रतम् = व्रत आदि नियमों को लक्ष्य करके । चरसि = विचरण करती हो । विश्ववारे  
= विश्व के द्वारा वरणीय ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

**हिन्दी व्याख्या** — अन्न से अन्नवती हुई और धन से सम्पन्न हे उषा देवी! तुम प्रकृष्ट ज्ञान वाली होती हुई स्तुति करने वालेके स्तोत्र को ग्रहण करो। सम्पूर्ण विश्व के द्वारा वरणीय, दिव्य गुणों से सम्पन्न हे उषा देवी तुम पुरातनी युवती के समान हो अथवा सनातन काल से युवती ही बनी हुई हो, बहुत अधिक बुद्धिशालिनी हो और तुम हमारे यज्ञ आदि नियम व्रत को लक्ष्य करके विचरण करती हो अर्थात् उनका पालन करती हो।

**व्याकरण —**

**वाजिनि** — वाजः अस्य अस्ति अर्थ में वाज + इनि + डीप्। सम्बोधन का एकवचन।

**जुषस्व** — जुष् धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

**गृणतः** — गृ + श्ना + शतृ। षष्ठी विभक्ति का एकवचन।

**मघोनि** — 'मघ' शब्द से 'मतुप्' के अर्थ में वैदिक 'वनिन्' प्रत्यय। 'व्' को 'उ' सम्प्रसाउन और 'ऋग्नेभ्यो डीप्' से डीप् = मघोनी। सम्बोधन का एकवचन।

**युवतिः** — युवन् + ति = युवतिः। न् का लोप।

**पुरंधिः** — पुरम् धीः यस्याः अर्थ में 'कि' प्रत्यय। अथवा पुरु धीः यस्याः अर्थ में "पृषोदरादित्वात्" नियम से 'पुरु' को 'पुरम्' आदेश।

**विश्ववारे** — विश्व + वृ + ण (अ) + टाप्। सम्बोधन का एकवचन।

**विशेष** — मैक्समूलर ने 'वाजिनि' का अर्थ 'Wealthy by wealth or booty' किया है। वाज शब्द के अनेक अर्थ हैं — swiftness, race, prize of race, gain, treasure, food, oblation, strength, strife, contest, booty, उषा को 'पुराणी युवतिः' कहा गया है, क्योंकि यह सदा नवीन रहती है। 'पुरन्धिः' का अर्थ बहुतों को धारण करने वाली या पूर्व दिशा को धारण करने वाली भी हो सकता है। 'वार' का अर्थ 'वरणीय धन' भी है। अतः 'विश्ववारे' का अर्थ सब वरणीय धनों से सम्पन्न हो सकता है। अथवा 'वार' दिन को भी कहते हैं। इसलिये 'विश्ववारे' का अर्थ प्रतिदिन हो सकता है।

**मण्डल ३****सूक्त ६१****मंत्र २****संहिता-पाठः**

उषो देव्यमर्त्या वि भाहि चन्द्ररथा सुनृता ईरयन्ती।

आ त्वा वहन्तु सुयमांसो अश्वा हिरण्यवर्णा पृथुपाजंसो ये॥

**पद-पाठः**

उषः। देवि। अमर्त्या। वि। भाहि। चन्द्ररथा। सुनृताः। ईरयन्ती। आ। त्वा। वहन्तु। सुयमांसः। अश्वाः। हिरण्यवर्णा पृथुपाजंसः। य॥२॥

**अन्वय** — उषः देवि ! अमर्त्या चन्द्ररथा सनवृताः ईरयन्ती विभाहि। पृथुपाजसः सुयमांसः ये अश्वाः हिरण्यवर्णाम् त्वा आवहन्तु।



## दयानन्द-भाष्य

(उषः) उषर्वद्वर्त्तमाने (देवि) सुशोभिते (अमर्त्या) मरणधर्मरहिता (वि) (भाहि) (चन्द्ररथा) चन्द्र इव रथो यस्याः (सूनृताः) सुष्ठु सत्याः क्रियाः (ईरयन्ती) प्रेरयन्ती (आ) (त्वा) त्वाम् (बहन्तु) (सुयमासः) सुष्ठुनियामकाः (अश्वाः) व्याप्ताः किरणाः (हिरण्यवर्णाम्) तेजोमयीम् (पृथुपाजसः) बहुबलाः (ये) ॥२॥

भावार्थ — यथा चन्द्रयानोषास्तेजोमयी भूत्वा सर्वा जागरयति तथैवोत्तमा विदुष्यस्त्रियः स्वक्रीयं पतिं सेवाविनायाभ्यां सुशीलं सम्पादयन्ति ॥२॥

हि०भावार्थ — जैसे चन्द्रमारूप रथवाली प्रातःकाल की वेला तेजस्स्वरूप होकर सबको जगाती है वैसे ही उत्तम स्त्रियां अपने अपने पति को सेवा और विनय से सुशील करती हैं ॥२॥

## सायण-भाष्य

हे उषो देवि अमर्त्या मरणधर्मरहिता चन्द्ररथा सुवर्णमयरथोपेता सूनृताः प्रियसत्यरूपा वा च ईरयन्ती उच्चारयन्ती । तादृशी त्वं विभाहि सूर्यकिरणसम्बन्धा— द्विशेषेण दीप्यस्व । पृथुपाजसः प्रभूतबलयुक्ता अरुणवर्णा येऽश्वा विद्यन्ते सुयमासः सुष्ठु नियन्तुं शक्या रथे योजितास्तेऽश्वा हिरण्यवर्णा त्वा त्वामावहन्तु सुयमासः यमेरकृच्छार्थं खल ।

शब्दार्थ — देवि = दिव्य गुण वाली । अमर्त्या = मरण धर्म से रहित । विभाहि = विशेष रूप से शोभायमान बनो । चन्द्ररथा = सुवर्णमय रथ पर आरूढ । सूनृताः = प्रिय सत्य वाणी को । ईरयन्ती = उच्चारण करती हुई । सुयमासः = अच्छी प्रकार से नियन्त्रित । हिरण्यवर्णाम् = स्वर्ण के समान दीप्तिमान् । पृथुपाजसः = अत्यधिक बलशाली

हिन्दी व्याख्या — हे उषा देवी ! दिव्य गुणों वाली तुम मरण धर्म से रहित होती हुई, सुवर्णमय रथ पर आरूढ होती हुई, प्रिय और सत्य वाणियों का उच्चारण करती हुई, सूर्य-किरणों के सम्बन्ध से विशेष रूप से शोभायमान बनो । अत्यधिक बलशाली और अच्छी प्रकार से नियन्त्रित जो तुम्हारे अरुण वर्ण घोड़े हैं, वे स्वर्ण के समान दीप्तिमान तुमको हमारे सम्मुख लाये ।

## व्याकरण —

भाहि — भा धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

ईरयन्ती — ईर् + णिच् + शतृ + डीप् ।

सूनृता — सु + ऋत् + टाप् (नुट् का आगम और दीर्घ)

सुयमासः — सु + यम् + खल् = सुयम् । प्रथमा विभक्ति के बहुवचन का वैदिक रूप ।

विशेष — ऑफ़ेक्ट के अनुसार 'सूनृता' 'पद' सु + नृत् + आ से बना है तथा 'नृत् स्पन्दने' धातु से निष्पत्ति होने के कारण इस पद का अर्थ Movable, to be in motion, brisk या alert है । पीटर्सन ने 'पृथुपाजसः' का अर्थ अत्यधिक चमक वाले



किया है। 'सुयमासः' का अर्थ 'सुख पूर्वक रथ में जोते जा सकने वाले' भी हो सकता है। छन्द के अनुरोध से 'देव्यमर्त्या' का उच्चारण 'देवि अमर्तिआ' करना चाहिये।

मण्डल ३

सूक्त ६१

मंत्र ३

संहिता-पाठः

उषः प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः।

समानमर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व॥

पद-पाठः

उषः। प्रतीची। भुवनानि विश्वां। ऊर्ध्वा। तिष्ठसि। अमृतस्य। केतुः। समानम्। अर्थम्। चरणीयमाना। चक्रम्ऽइव। न्यसि। आ। ववृत्स्व॥३॥

अन्वय — उषः ! विश्वा भुवनानि प्रतीची अमृतस्य केतुः ऊर्ध्वा तिष्ठसि। नव्यसि! समानम् अर्थम् चरणीयमाना चक्रम् इव आवृत्स्व।

दयानन्द-भाष्य

(उषः) उषाः (प्रतीची) प्रत्यञ्चति प्राप्नोति सा (भुवनानि) लोकजातानि (विश्वा) सर्वाणि (ऊर्ध्वा) ऊर्ध्व स्थिता (तिष्ठसि) तिष्ठति। अत्र पुरुषव्यत्ययः (अमृतस्य) अमृतात्मकस्य रसस्य (केतुः) प्रज्ञापिका (समानम्) (अर्थम्) वस्तु (चरणीयमाना) प्राप्नुवती (चक्रमिव) यथा चक्रं गच्छति तथा (नव्यसि) अतिशयेन नवीना (आ) (ववृत्स्व) आवर्त्तस्व॥३॥

भावार्थ — हे सत्स्त्रियो यथोषसः सर्वाणि भुवनानि प्रकाशयन्ति तथैव सद्व्यवहारान् प्रकाशयत॥३॥

हि०भावार्थ — हे उत्तम स्त्रियों ! जैसे प्रातःकाल सम्पूर्ण भुवनो के खण्डो को प्रकाशित करते हैं वैसे ही उत्तम व्यवहारों को प्रकाशित करो॥३॥

सायण-भाष्य

हे उषो देवी ! विश्वा सर्वाणि भुवनानि प्रतीची। प्रति आभिमुख्येन अञ्चति प्राप्नोतीति प्रतीची। अमृतस्य मरणधर्मरहितस्य सूर्यस्य केतुः प्रज्ञापयित्रीति त्वमूर्ध्वा नभस्युन्नता तिष्ठसि। नव्यसि पुनः पुनर्जायमानतया नवतरे हे उषो देवी! अर्थम् अर्थते गम्यतेऽस्मिन्नित्यर्थो मार्गः समानमेकं। मार्गमुदयात्प्राचीनकाल- लक्षणं चरणीयमाना चरितुमिच्छन्ती, त्वसमाववृत्स्व पुनस्तस्मिन्मार्गम् आवृत्ता भव। तत्र दृष्टान्तः। चक्रमिव यथा नभसि चरितुः सूर्यस्य रथाङ्ग पुनः पुनरावर्तते तद्वत्।

शब्दार्थ — प्रतीची = सम्मुख जाती हुई। भुवनानि विश्वा = सम्पूर्ण लोकों के। ऊर्ध्वा = ऊपर आकाश में। तिष्ठसि = स्थित होती हो। अमृतस्य = मरण से रहित सूर्य को। केतुः = ध्वजा, बोधन कराने वाली। समानम् अर्थम् = एक ही मार्ग पर। चरणीयमाना = विचरण करती हुई। चक्रम् इव = चक्र के समान। नव्यसि = सदा नवीन रहने वाली। अववृत्स्व = पुनः पुनः घूमती रहो।



हिन्दी व्याख्या — हे उषा देवी ! तुम सम्पूर्ण लोकों के सम्मुख जाती हुई मरण-धर्म से रहित सूर्य की ध्वजा अर्थात् उसका बोधन कराने वाली ऊपर आकाश में स्थित होती हो। सदा नवीन रहने वाली हे उषा ! तुम एक ही मार्ग पर विचरण करती हुई सूर्य के पहिये के चक्र के समान पुनः पुनः घूमती रहो।

**व्याकरण —**

**प्रतीची** — प्रति + अञ्चु + क्विन् । "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" से डीप्। 'अञ्च' के 'अ' और 'ञ' का लोप तथा 'प्रति' के 'ई' को दीर्घ।

**चरणीयमाना** — 'चरणम् इच्छति' अर्थ में चरण + क्यच् + शानच् + टाप्।

**केतु** — 'चाय् पूजायाम्' धातु से चाय् + तुन्। 'चाय्' को 'की' आदेश और गुण।

**ववृत्स्व** — यङ् लुगन्त वृत् धातु, लोट लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

**नव्यसि** — नव + ईयसुन् + डीप्। 'नव' के 'अ' और प्रत्यय के 'ई' का वैदिक लोप = नव्यसी। सम्बोधन एकवचन।

**विशेष** — 'विश्वा भुवनानि प्रतीची' का अर्थ है = "In the face of all creatures" । 'समानमर्थ चरणीयमाना' का अर्थ है — "Pressing forward to the same mark" अर्थात् As in all former days । इस मन्त्र की तुलना ऋग्वेद के १/११३/३ से करनी चाहिये —

समानो अध्वा स्वप्नोरनन्तस्यमन्यान्या चरतोदेव शिष्टे।

न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरुपे॥

रात्रि और उषा दो बहने हैं जो एक ही मार्ग से चलती हैं। उस मार्ग का कभी किनारा नहीं मिलता। वे न कभी रुकती हैं और न ठहरती हैं। उनके विचार एक दूसरे के प्रति सहानुभूति से पूर्ण एक से हैं। परन्तु उनका रूप परस्पर भिन्न है।

छन्द के अनुरोध से 'विश्वोर्ध्वा' को 'विश्वा ऊर्ध्वा' 'तिष्ठस्यमृतस्य' को 'तिष्ठसि अमृतस्य' तथा 'नव्यस्या' को 'नव्यसि आ' पढ़वा चाहिये।

मण्डल ३

सूक्त ६१

मंत्र ४

संहिता-पाठः

अव॑ स्यूमेव चिन्व॑ती म॒घो॒न्युषा॑ याति॒ स्वस॑रस्य॒ पत्नी॑ ।

स्व॒र्जन॑न्ती सु॒भगा॑ सु॒दसा॑ आन्ता॒दि॒दवः॑ प॒प्रथ॑ आ॒पृथि॒व्याः॑ ॥

पद-पाठः

अव॑ । स्यूम॑ इव । चिन्व॑ती । म॒घो॒नी । उषाः । याति॑ । स्वस॑रस्य । पत्नी॑ । स्वः । जन॑न्ती । सु॒भगा॑ । सु॒दसाः । आः अन्ता॑त् दिवः । प॒प्रथे॑ । आ । पृथि॒व्याः ॥ ४ ॥

**अन्वय** — मघोनी स्वसरस्य पत्नी उषाः स्यूम इव उवचिन्वती याति । स्वः जनन्ती सुभगा सुदसाः दिवः आ अन्तात् पृथिव्याः आ पप्रथे ।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

### दयानन्द-भाष्य

(अव) (स्यूमेव) तन्तुवद्व्याप्ता (चिन्वती) चयनं कुर्वती (मघोनी) परमधनयुक्ता (उषाः) प्रभातवेला (याति) गच्छति (स्वसरस्य) दिनस्य (पत्नी) पत्नीवद्वर्त्तमाना (स्वः) सूर्य सुखं वा (जनन्ती) जनयन्ती (सुभगा) सौभाग्यकारिणी (सुदंसाः) शोभनानि दंसांसि यस्यां सा (आ) (अन्तात्) समीपात् (दिवः) प्रकाशमानात्सूर्यात् (पप्रथे) प्रथते (आ) (पृथिव्याः) ॥४॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कार। हे स्त्रियों यथा दिनस्य सम्बन्धिन्युषा अस्ति तथैव छायावत्स्वस्वपत्या सहाऽनुकूलाः सत्यो वर्तन्ताम्। यथायं प्रकाशः पृथिव्या योगेन जायते तथा पतिपत्निसम्बन्धादपत्यानि जायन्ते ॥४॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। हे स्त्रियों ! जैसे दिन का सम्बन्धि प्रातःकाल है वैसे ही छाया के सदृश अपने अपने पति के साथ अनुकूल होकर वर्त्ताव करो और जैसे यह प्रकाश पृथिवी के योग से होता है वैसे पति और पत्नी के सम्बन्ध से सन्तान होते हैं ॥४॥

### सायण-भाष्य

येयमुषाः स्यूमेव वस्त्रमिव विस्तृतं तमः अवचिन्वती अवचयमपक्षयं प्रापयन्ती मघोनी धनवती। स्वसरस्य सुष्ठु अस्यति क्षिपति तम इति स्वसरः सूर्यो वासरो वा तस्य। पत्नी सती याति गच्छति। स्वः स्वकीयं तेजः जनन्ती जनयन्ती सुभगा सुधना सौभाग्ययुक्ता वा सुदंसाः शोभनाग्निहोत्रकर्मा सेयमुषा दिवः द्युलोकस्य आ अन्तात् पृथिव्याश्च आ अन्तात् अवसानात्पप्रथे प्रकाशन इत्यर्थः।

शब्दार्थ — स्यूम् इव = वस्त्र के समान। अवचिन्वती = आच्छादित करने वाले अन्धकार का विनाश करती हुई। मघोनी = धन-सम्पत्ति-शालिनी। स्वसरस्य = सूर्य की, दिन की। स्व जनन्ती = तेज को उत्पन्न करती हुई, स्वर्ग को सजीव करती हुई। सुभगा = सुन्दर धनों वाली। सुदंसा = सुन्दर यज्ञ रूप कर्मों वाली। दिवः आ अन्तात् = द्युलोक के अन्तिम किनारे से। आ पृथिव्याः = पृथिवी के अन्तिम किनारे तक। आ पप्रथे = फैल जाती है।

हिन्दी व्याख्या — धनसम्पत्तिशालिनी सूर्य की या दिन की पत्नी होती हुई यह उषा देवी वस्त्र के समान आच्छादित करने वाले अन्धकार का विनाश करती हुई अथवा अपने वस्त्र से अन्धकार को फैंकती हुई चली जाती है। अपने तेज को उत्पन्न करती है अथवा स्वर्ग को सजीव करती हुई, सुन्दर यज्ञ रूप कर्म वाली यह उषा द्युलोक के अन्तिम किनारे से लेकर पृथिवी के अन्तिम किनारे तक फैल जाती है।

### व्याकरण —

स्यूम — 'षिवु तन्तुसन्ताने' धातु से मन् प्रत्यय। सिव् + म। सिव् के 'व्' को "च्छ्वोः शूडनुनासिके च" से ऊठ् और 'इ' को यणादेश। स्यूम। द्वितीया विभक्ति का



एकवचन वैदिक रूप ।

चिन्वती — चि + (श्नु) + शतृ + डीप् = चिन्वती ।

मघोनी — मघ + वनिन् + डीप् = मघोनी ।

स्वसरस्य — 'सुष्ठु अस्यति क्षिपति तमः' अर्थ में 'सु+अस्' से 'अरक्' प्रत्यय = स्वसर । षष्ठी विभक्ति का एकवचन ।

जनन्ती — णिजन्त 'जन्' धातु से शतृ । "छन्दस्युभयथा" से 'णिच्' का लोप ।

विशेष — पीटर्सन ने 'स्यूम' का अर्थ वस्त्र किया है और स्यूमेव चिन्वती का अर्थ है — Casting aside, as it were, her garment । रॉथ ने ऋग्वेद के १।११३/७वें मन्त्र में 'स्यूमन्' को Hymen नामक ग्रीक देवता के समानार्थक माना है । 'स्यूम' का अर्थ लगाम भी हो सकता है । रॉथ ने इस अंश का अर्थ किया है — The mistress of the house bestirs herself, drawing back the strap that closes the door । ग्रासमान के अनुसार अवस्यूमेव चिन्वती का अर्थ है — 'Unloosening her girdle । लुडविग ने इस अंश का अर्थ किया है — 'Shaking reins in order to urge on her horses, or throwing reins away altogether in order to alight.

पीटर्सन ने सायण के 'स्वरस्य पत्नी' के अर्थ को अशुद्ध बताया है और कहा है कि इसका अर्थ — Queen of all world । पीटर्सन के अनुसार 'स्वर्जनन्ती' का अर्थ 'Bringing heaven to life' होना चाहिये और 'सुदंसाः' का अर्थ 'Doing wonderful and glorious deed' होना चाहिये । इसका अर्थ सुन्दर रूप वाली भी हो सकता है ।

छन्द के अनुरोध से 'मघोन्युषा' को मघोनी उषा 'स्वसरस्य' को 'सुवसरस्य' और 'स्वर्' को 'सुचर्' पढ़ना चाहिये ।

मण्डल ३

सूक्त ६१

मंत्र ५

संहिता-पाठः

अच्छा वो देवीमुषसं विभातीं प्र वो भरध्वं नमसा सुवृक्तिम् ।

ऊर्ध्वं मधुधा दिवि पाजो अश्रेत् प्ररोचना रुरुचे रण्वसंदृक् ।

पद-पाठः

अच्छ । व । देवीम् । उषसम् । विभातीम् । प्र । वः । भरध्वम् । नमसा । सुवृक्तिम् ।  
ऊर्ध्वम् । मधुधा । दिवि । पाजः । अश्रेत् । प्र । रोचना । रुरुचे । रण्वसंदृक् । ॥५॥

अन्वय — वः अच्छ विभातीम् देवीम् उषसम् वः नमसा सुवृक्तिम् प्रभरध्वम् यधुधा दिवि ऊर्ध्वम् पाजः अश्रेत् रण्वसंदृक् रोचना प्ररुरुचे ।

दयानन्द-भाष्य

(अच्छ) । अत्र संहितायामिति दीर्घः । (वः) युष्मान् (देवीम्) देदीप्यमानाम् (उषसम्) प्रातर्वेलाम् (विभातीम्) विविधान् पदार्थान् प्रकाशयन्तीम् (प्र) (वः) युष्माकम् (भरध्वम्)



(नमसा) वज्रेण विद्युता सह (सुवृक्तिम्) सुष्ठु वर्तमानाम् (ऊर्ध्वम्) उत्कृष्टम् (मधुधा) या मधूनि दधाति (दिवि) प्रकाशे (पाजः) बलम् (अश्रेत्) श्रयति (प्र) (रोचना) रूचिकारी (रुरुचे) रोचते (रण्वसंदृक्) या रमणीयान्पदार्थान् सन्दर्शयति सा ॥५॥

**भावार्थ** — यथा प्रातर्वेलां सेवमाना जना उत्कृष्टं बलं प्राप्नुवन्ति तथैव हृद्यां पतिव्रतां भार्या प्राप्य पुरुषः शरीरात्मबलाऽऽरोग्यानि प्राप्नोति यतो द्वयोः सदृशयोः सत्योरु चिर्वर्धेत ॥५॥

**हि०भावार्थ** — जैसे प्रातःकाल को सेवन करते हुए लोग उत्तम बल को प्राप्त होते हैं वैसे ही स्नेहपात्र पतिव्रता स्त्री को प्राप्त होकर पुरुष शरीर, आत्मबल और आरोग्यपन, को प्राप्त होते हैं जिससे दोनों के सदृश होने पर प्रेम बढे ॥५॥

### सायण-भाष्य

हे स्तोतारो वः युष्मानश्च अभिलक्ष्य विभाती शोभमानामुषसं देवीं प्रति वो युष्माकं सम्बन्धना नमसा नमस्कारेण सह सुवृक्ति शोभनां स्तुति प्र भरध्वं यूयं कुरुत । मधुधा मधुराणि स्तुतिलक्षणानि वाक्यानि दधातीति मधु सोमः तं धारयतीति वार । यद्वा मधुधा आदित्यधात्री । यद्वा अवग्राहाभावादव्यत्पन्नावयवमखण्डमिदमुषो नाम । सेयमुषाः दिवि नभसि ऊर्ध्व ऊर्ध्वाभिमुख पाज तेजः अश्रेत् श्रयति । तथा रोचना रोचनशीला रण्वसंदृक् रमणीयदर्शना उषा प्र रुरुचे प्रकर्षेण दीप्यते । यद्वा रोचनालोकान्रुरुचे प्रकर्षेण स्वतेजसा दीप्यति ।

**शब्दार्थ** — अच्छ = स्वच्छ रूप से । विभातीम् = प्रकाशित होती हुई । प्रभरध्वम् = करो । नमसा = नमस्कार के द्वारा । सुवृक्तिम् = उत्तम स्तुति । ऊर्ध्वम् = ऊर्ध्वं अभिमुख होकर । मधुधा = स्तुति, सोम या आदित्य को धारण करने वाली । पाजः = तेज, बल । अश्रेत् = आश्रय लेती है । रण्वसंदृक् = दर्शन वाली । रोचना = प्रकाशित होने वाले लोकों को । प्ररुरुचे = अतिशय रूप प्रकाशित करती है ।

**हिन्दी व्याख्या** — हे स्तुति करने वालो ! अपने सामने स्वच्छ रूप से प्रकाशित होती हुई देवी उषा के प्रति तुम सब नमस्कार के साथ उत्तम सुन्दर स्तुति करो । मधु अर्थात् स्तुतियों को या सोम को अथवा आदित्य को धारण करने वाली यह उषा देवी द्युलोक में ऊर्ध्वभिमुख होकर तेज या बल का आश्रय लेती है और रमणीय दर्शन वाली होती हुई प्रकाशित होने वाले लोकों को अपने तेज से अतिशय रूप से प्रकाशित करती है ।

### व्याकरण —

**विभातीम्** — वि+भा+शतृ+डीप् । द्वितीया विभक्ति का एकवचन । यहाँ लोक में विभान्तीम् रूप भी बन सकता है ।

**भरध्वम्** — भृ धातु (आत्मनेपद) लोट् लकार, मध्यमपुरुष, एकवचन ।

**रोचना** — रुच्+पुन्(अन)+टाप् ।

**सुवृक्तिम्** — सु पूर्वक 'वृजी वर्जने' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय ।



## उषस्-सूक्त ( मण्डल-३, सूक्त-६१ )

अश्रेत् — 'श्रिञ्' धातु, वर्तमान के अर्थ में लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (वैदिक रूप) ।

रुरुचे — रुच् धातु (आत्मनेपद), लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन । लट् के अर्थ में लिट् ।

मधुधा — मधु दधाति अर्थ में मधु + धा + क्विप् ।

रण्वसंदृक् — रवि (रण्व) + अच् = रण्व । सम्+दृश्+क्विप् = संदृक् । रण्वं संदृक् यस्याः सा = रण्वसंदृक् ।

विशेष — मन्त्र में 'वः' पद का दो बार प्रयोग हुआ है । पहले 'वः' को द्वितीयान्त मानकर इसका सम्बन्ध 'देवी उषस्' के साथ जोड़ा गया है । द्वितीय 'वः' पद में षष्ठी विभक्ति मानकर इसका सम्बन्ध 'नमसा' के साथ जोड़ा गया है । परन्तु ग्रासमान, लुडविग और कोलब्रुक ने इसका सम्बन्ध 'सुवृक्तिम्' के साथ किया है । पीटर्सन के अनुसार 'सुवृक्तिम्' का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ साफ करना या काटना (Cleaning or trimming) है । तब इसका अर्थ होगा — cleaning and trimming of the grass on which, as on a small altar, the oblation is offered. पीटर्सन ने 'पाजः अश्रेत्' का अर्थ — प्रकाश में प्रवेश करती है (enters into light) किया है तथा राथ ने 'अपने प्रकाश को फैलाती है' (Spreads her light) किया है ।

मण्डल ३

सूक्त ६१

मंत्र ६

संहिता-पाठः

ऋतावरी दिवो अर्केरबोध्या रेवती रोदसी चित्रमस्थात् ।

आयतीमग्न उषसं विभाती वाममेषि द्रविणं भिक्षमाणः ।।

पद-पाठः

ऋग्ऽवरी । दिवः । अर्केः । अबोधि । आ । रेवती१ । रोदसी इति । चित्रम् । अस्थात् । आयतीम् । अग्ने । उषसम् । विभातीम् । वामम् एषि । द्रविणम् । भिक्षमाणः ।।६।।

अन्वय — ऋतावरी दिवः अर्के अबोधि, रेवती रोदसी चित्रम् आ अस्थात् । अग्ने! आयतीम् विभातीम् उषसम् भिक्षमाणः वामम् द्रविणम् एषि ।

दयानन्द-भाष्य

(ऋतावरी) ऋतं सत्यं विद्यते सा (दिवः) प्रकाशात् (अर्के) सूर्येः (अबोधि) बुध्यते (आ) (रेवती) प्रशस्तधनकारिणी (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (चित्रम्) अद्भुतम् (अस्थात्) तिष्ठति (आयतीम्) आगच्छन्तीम् (अग्ने) विद्वन् (उषसम्) (विभातीम्) प्रकाशयन्तीम् (वामम्) प्रशस्तम् (एषि) प्राप्नोति (द्रविणम्) धनम् (भिक्षमाणः) याचमानः ।।६।।

भावार्थ — ये जना रात्रेश्चतुर्थे यामे प्रबुध्येश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनाः कृत्वा शुभान्गुणानैश्वर्यं च याचन्ते ते पुरुषार्थेनाऽवश्यमेतत्प्राप्नुवन्ति ।।६।।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

हि०भावार्थ — जो लोग रात्रि के चौथे पहर में जाग के ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करके उत्तम गुणों और ऐश्वर्य को मांगते हैं वे पुरुषार्थ से अवश्य इसको प्राप्त होते हैं। ॥६॥

### सायण-भाष्य

ऋतावरी सत्यवती येयमुषाः दिवः द्युलोकादकैस्तेजोभिरबोधि सर्वैर्ज्ञायते। ततो रेवती धनवती सेयं रोदसी द्यावापृथिव्यौ चित्रं नानाविघ्नरूपयुक्तं यथा भवति तथा आ+अस्थात् सर्वतो व्याप्य तिष्ठति। हे अग्ने ! आयती त्वदभिमुखमागच्छन्ती विभाती भासमानामुषसमुषोदेवी भिक्षमाणो हवींषि याचमानस्त्वं वामं वननीयं द्रविणमग्निहोत्रादिलक्षणं धनमेषि प्राप्नोषि।

शब्दार्थ — ऋतावरी = सत्य से युक्त, सत्य नियमों का पालन करने वाली। अकैः = तेजः पुञ्ज से। अबोधि = जानी जाती है। रेवती = धन से युक्त। चित्रम् = नाना प्रकार से युक्त। आ अस्थात् = व्याप्त करके स्थित होती है। आयतीम् = अपनी ओर आती हुई। विभातीम् = प्रकाशमान। वामम् = अभीष्ट बाँटने योग्य। एषि = प्राप्त करते हो। द्रविणम् = धन, हवि। भिक्षमाणः = याचना करते हुये।

हिन्दी व्याख्या — सत्य से युक्त अथवा सत्य नियमों का पालन कराने वाली उषा देवी द्युलोक से आने वाले अपने तेजः पुञ्ज से जानी जाती है। धन से युक्त होती हुई यह उषा द्युलोक और पृथिवीलोक को नाना प्रकार के रूपों से युक्त होकर व्याप्त करके स्थित होती है। हे अग्नि देवता ! अपनी ओर आती हुई प्रकाशमान उषा देवी से हवि की याचना करते हुये तुम अभीष्ट या बाँटने के योग्य धन को प्राप्त करते हो।

### व्याकरण —

ऋतावरी — ऋत+वृ+ट(अ)+टाप्। 'त' के 'अ' को वैदिक दीर्घ। अथवा ऋत+वनिन्+डीप्। "वनो र च" से 'न्' को 'र' आदेश।

अबोधि, अस्थात् — बुध् और स्था धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

रेवती — रयि+मतुप्+डीप् "रयेर्मतौ छन्दसि" सूत्र से 'य्' को सम्प्रसारण, पूर्वरूप और गुण होते हैं। 'मतुप्' के 'म्' को 'व' आदेश "छन्दसीरः" (पा० ८/२/१५) से हुआ।

आयतीम् — आ+इण् गतौ+शतृ+डीप् 'इ' को 'य्' आदेश।

विभातीम् — वि+भा+शतृ+डीप् = विभाती। द्वितीया का एकवचन।

भिक्षमाणः — भिक्ष्+ (शप्)+ (मुक्)+ शानच्(आन) = भिक्षमाण।

विशेष — पीटर्सन ने इस मन्त्र का अर्थ कुछ दूसरे प्रकार से किया है — पवित्र उषा देवी आकाश से आने वाले गानों द्वारा जगाई गई है। उसकी महिमा आकाश और पृथिवी से ऊपर फैल रही है। हे अग्ने! चमकती हुई उषा आ रही है। तुम उसके पास जाओ और उससे वह धन मांगो, जो हमें अभीष्ट है।

छन्द के आग्रह से 'अबोध्या' की 'अबोधि आ' पढ़ना चाहिये।



मण्डल ३

सूक्त ६१

मंत्र ७

संहिता-पाठः

ऋतस्य बुध्न उषसामिष्यन्वृषो मही रोदसी आ विवेश।

मही मित्रस्य वरुणस्य माया चन्द्रेव भानुं वि दधे पुरुत्रा॥

पद-पाठः

ऋतस्य। बुध्ने। उषसाम्। इष्यन्। वृषा। मही इति। रोदसी इति। आ। विवेश।  
मही। मित्रस्य। वरुणस्य। माया। चन्द्रा इव। भानुम्। वि। दधे। पुरुत्रा॥७॥

अन्वय — वृषा ऋतस्य बुध्ने उषासाम् इष्यन् मही रोदसी आ विवेश। मित्रस्य वरुणस्य  
मही माया चन्द्रा इव भानुम् पुरुत्रा विदधे।

दयानन्द-भाष्य

(ऋतस्य) सत्यस्य (बुध्ने) अन्तरिक्षे (उषसाम्) प्रभातवेला नाम् (इष्यन्) आत्मन  
इषणं प्रेरणमिच्छन्निव (वृषा) वृष्टिहेतुः (मही) महत्यौ (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (आ) (विवेश)  
आविशति (मही) महती पूज्या (मित्रस्य) सुहृदः (वरुणस्य) श्रेष्ठस्य (माया) प्रज्ञा (चन्द्रेव)  
सुवर्णानीव। चन्द्रमिति हिरण्यना०॥ निघं० १।२॥ (भानुम्) सूर्यम् (विदधे) विदधाति  
(पुरुत्रा) पुरुरूपम्॥७॥

भावार्थ — यथा विदुषां वाणी प्रज्ञा चैश्वर्यप्रदा भूत्वा विद्यासु प्रविश्य सुखानि  
प्रयच्छति तथैव सर्वत्र प्रविष्टा विद्युद् विज्ञाता कार्येषु प्रयुक्ता सत्यैश्वर्य जनयतीति॥७॥

हि०भावार्थ — जैसे विद्वानों की वाणी और बुद्धि ऐश्वर्य को देने वाली हो और  
विद्याओं में प्रवेश करके सुखों को देती है वैसे ही सर्वत्र प्रविष्ट हुई बिजली जानी हुई कार्यों  
में प्रयुक्त होकर ऐश्वर्य को उत्पन्न करती है॥७॥

सायण-भाष्य

वृषा वृष्टिद्वारा प्रेरक आदित्यः ऋतस्य अग्निहोत्रादिकर्मकरणसत्यभूतस्य बुध्ने मूले  
उषसाभिष्यन् प्रेरणं कुर्वन् मही महत्यौ रोदसी द्यावापृथिव्यौ आ विवेश सर्वतः प्रविष्टवान्।  
यद्वा वृषा वर्षिता इष्यन् सर्वतो गच्छन्नुषसां सम्बन्धी रश्मिसमूहः रोदसी द्यावापृथिव्यौ  
विष्टवानिति योजनीयम्। ततः उषाः मही महती मित्रस्य वरुणस्य मित्रवरुणयोर्माया  
प्रभारूपा सती चन्द्रेव सुवर्णानीव भानुं स्वप्रभां पुरुत्रा बहुषु देशेषु विदधे विदधाति सर्वत्र  
प्रसारयति।

शब्दार्थ — ऋतस्य = प्राकृतिक नियमों का, अग्निहोत्र आदि नित्य नियमों का।  
बुध्ने = मूल में। इष्यन् = प्रेरित करता हुआ, चाहता हुआ। वृषा = वर्षा करने वाला  
सूर्य। मही = महान्। आविवेश = सब ओर से प्रविष्ट हो गया है। महीमाया = महती  
माया, विचित्र शक्ति रूपा देवी। चन्द्रा इव = सुनहरी कान्ति के समान। भानुम् = सूर्य  
को। विदधे = प्रसारित करती है। पुरुत्रा = बहुत से स्थानों में।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

हिन्दी व्याख्या — वर्षा करने वाले सूर्य प्राकृतिक नियमों के अथवा अग्निहोत्र आदि नित्य नियमों के ज्ञापक सत्यभूत दिन के मूल में उषा को प्रेरित करता हुआ या उसको चाहता हुआ महान् ध्रुलोक और पृथिवी लोक में सब ओर से प्रविष्ट हो गया अर्थात् व्याप्त हो गया। मित्र देवता और वरुण देवता की महती माया अर्थात् विचित्र शक्ति—रूपा उषा देवी सुनहली कान्ति के समान स्वर्णिम सूर्य को बहुत स्थानों में प्रसारित करती है।

व्याकरण —

ऋतस्य — ऋ+क्त = ऋत। षष्ठी का एकवचन।

बुध्ने — बुध् + नङ् = बुध्न। सप्तमी विभक्ति का एकवचन।

इषण्यन् — इच्छति इति इषत्। 'इषन्तमात्मानम् इच्छति' अर्थ में निष्पातित 'इषण्य' धातु से शतृ प्रत्यय।

वृषा — वृष् + कनिन् (अन्) = वृषन्।

विवेश — विश् धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

दधे — धा धातु (आत्मनेपद), लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

मही — महत् + डीप् ('अत' का वैदिक लोप)।

पुरुत्रा — 'पुरु' शब्द से 'देवमनुष्यपुरुष०' सूत्र से 'वा' प्रत्यय।

विशेष — 'ऋतस्य बुध्ने' की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। सायण ने इसका अर्थ किया है — अग्निहोत्र आदि कर्मों के करने में सत्यभूत दिन के मूल में। उसने "वृषा" का अर्थ वर्षा करने वाला सूर्य किया है। परन्तु ऋतस्य बुध्न उषसामिषण्यन् वृषा०" का मैक्समूलर ने अर्थ किया है — The hero in the depth of Heaven, yearning for the dawns, has entered the great sky and the earth ग्रासमान ने 'रोदसी' का अर्थ पवित्र भूमि (holy ground) और लुडविग ने यज्ञभूमि की पवित्र भूमि (the ground of the holy rite) किया है। रॉथ ने ऋग्वेद के १/१०/१११ मन्त्र में 'बुध्न' का अर्थ 'मध्य और अन्त' किया है।

लुडविग ने 'उषसाम्' को प्राचीन और अप्रयुक्त कहकर इसमें तृतीया विभक्ति मानी है, पिशेल ने इसे द्वितीयान्त माना है।

सायण के अनुसार 'महि मित्रस्य वरुणस्य माया' में उषा का वर्णन है, परन्तु ग्रासमान ने इसको सूर्य का विशेषण माना है और उसने 'चन्द्रेव' का अर्थ किया है — like the fair one। अर्थात् सूर्य एक सुन्दर स्त्री के समान दिखाई देता है। कोलब्रुक के अनुसार 'चन्द्रेव' वैदिक प्रयोग है और इसका अर्थ 'चन्द्रमिव' है।



## अग्नि सूक्त (मण्डल-४, सूक्त-२)

## अग्नि सूक्तम्

देवता-अग्निः

ऋषि-वामदेव

छन्द-त्रिष्टुप, ऽवराङ् वृहती एवं पङ्क्ति

मण्डल-४

सूक्त-२

मन्त्र-१

संहिता पाठ

यो मर्त्येष्वमृतं ऋतावा देवो देवेष्वरतिर्निधायि ।

होता यजिष्ठो महना शुच्यै हव्यैरग्निर्मनुष ईरय्यै ॥१॥

पदपाठ -

यः । मर्त्येषु । अमृतः । ऋतावा । देवः । देवेषु । अरतिः । निधायि । होता ।

यजिष्ठः । महना । शुच्यै । हव्यै । अग्निः । मनुषः । ईरय्यै ॥

अन्वय - यः मर्त्येषु अमृतः ऋतावा देवेषु अरतिः देवः निधायि, होता यजिष्ठः (सः) अग्निः महा शुच्यै हव्यै ईरय्यै (अस्ति) ।

दयानन्द भाष्य -

(यः) (मर्त्येषु) मरणधर्मरहितः (अमृतः) मृत्युधर्मरहितः (ऋतावा) सत्यस्वरूपः (देवः) दिव्यगुणकर्मस्वभावः कमनीयः (देवेषु) दिव्येषु पदार्थेषु विद्वत्सु वा (अरतिः) सर्वत्र प्राप्तः (निधायि) निधीयते (होता) दाता (यजिष्ठः) पूजितुमर्हः (महा) महत्वेन (शुच्यै) शोचितुं पवित्रीकर्तुम् (हव्यै) होतुं दातुमर्हः (अग्निः) पावक इव (मनुषः) मानवान् (ईरय्यै) प्रेरितुम् ॥

भावार्थ - हे मनुष्या यो जगदीश्वर उत्पत्तिनाशादिगुणरहितत्वेन दिव्य स्वरूपः शुद्धः पवित्रोऽस्ति तं प्रेरण पवित्रताभ्यां भजत ।

हि०भावार्थ - हे मनुष्यों! जो जगदीश्वर उत्पत्ति और नाश आदि गुणरहित होने से दिव्यस्वरूप शुद्ध और पवित्र है उसका प्रेरणा और पवित्रता से भजन करो ।

सायण भाष्य -

अमृतः मरणधर्मरहितः योऽग्निर्मर्त्येषु ऋतावा सत्यवान्निधायि- निहितः । देवो देवनशीलो योऽग्निरिन्द्रादिषु देवेष्वरतिरभिगन्ता शत्रूणाम् । यद्वा देवलोके गन्ता निधायि निहितः । स च होता देवानामाह्वाता यजिष्ठो यष्टृतमोऽग्निर्महा स्वकीयेन महता तेजसा शुच्यै दीपितुमुत्तरवेद्यां निहितः । किंच हव्यै हवनीयैराज्यपुरोडाशा- दिभिर्हविर्भिः हेतुभिर्मनुषो मनुष्यस्य यजमानस्येरय्यै स्वर्गं प्रति प्रेरणाय निहितः ।

शब्दा० - मर्त्येषु = मरणशील पदार्थों में, मनुष्यों में, अमृतः = मरण रहित, ऋतावा = सत्ययुक्त, नियति का पालन करने वाला, अरतिः = गमनशील, निधायि = स्थापित किया गया है, स्थित है, होता = (देवों का) आह्वान करने वाला, यजिष्ठः = यजन करने वालों में श्रेष्ठ, मह ना = महिमा से, सामर्थ्य से, शुच्यैः = प्रकाशित होने के लिए, हव्यैः = हवनीय पदार्थों के द्वारा, मनुषा = मनुष्यों को, ईरय्यै = (स्वर्ग के प्रति) प्रेरित या



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

प्रेषित करने के लिए ।।

हिन्दी व्याख्या — जो मरणशील पदार्थों या मनुष्यों में अमृत एवं सत्ययुक्त रूप में तथा देवों में गमनशील देव के रूप में स्थित है, देवों का आह्वान करने वाला एवं श्रेष्ठ यजनशील वह अग्नि अपनी सामर्थ्य से प्रकाशित या प्रज्वलित होने के लिए एवं हव्य पदार्थों के द्वारा मनुष्यों को (स्वर्ग के लिए) प्रेषित करने के लिए है।

व्याकरण —

ऋतावा = ऋत्+वन्, प्र०एक०, 'त' के 'अ' को संहिता पाठ के अनुरोध से दीर्घ।

अरतिः = ऋ+अति, 'ऋ' को 'अर्' गुण प्र०एक०।

निधाय = नि+धा, कर्मवाच्य, लुङ् प्र०पु०, एक०का वैदिक रूप।

होता = हु+तृच् (ब्र), 'उ' को 'ओ' गुण, अथवा — ह्वे+तृच् (तृ), 'व' को 'उ' सम्प्रसारण, 'ए' का पूर्वरूप, 'उ'को 'ओ'गुण, प्र०एक०।

यजिष्ठः = यष्ट (यज्+तृ)+इष्टन् (इष्ट), 'तृ' का लोप, एक०।

शुचध्यै = शुच्+अध्यै।

ईर्यध्यै = ईर् (ईर्य) + अध्यै।

मण्डल—४

सूक्त—२

मन्त्र—२

संहिता पाठ

इह त्वं सूनो सहसो नो अद्य जातो जाताँ उभयाँ अन्तरग्ने।

दूतः ईयसे युयुजान ऋष्व ऋजुमुष्कान् वृषणः शुक्राँश्च॥२॥

पदपाठ —

इह। त्वम्। सूनो। इति। सहसः। नः। अद्य। जातः। जातान्। उभयान्। अन्तः। अग्ने। दूतः। ईयसे। युयुजानः। ऋष्व। ऋजुमुष्कान्। वृषणः। शुक्रान्। च॥

अन्वय — सहसः सूनो, ऋष्व, अग्ने, अद्य इह नः जातः त्वम् उभयान् जातान् अन्तः ऋजुमुष्कान् शुक्रान् च वृषणः युयुजानः दूतः ईयसे।

दयानन्द भाष्य —

(इह) अस्मिन् संसारे (त्वम्) (सूनो) पवित्र पुत्र (सहसः) बलात् (नः) अस्माकम् (अद्य) (जातः) विद्याजन्मनि प्रादुर्भूतः (जातान्) विदुषः (उभयान्) अध्यापकान् अध्येतृश्च (अन्तः) मध्ये (अग्ने) अग्निरिव वर्तमान (दूतः) दुष्टानां परितापकः (ईयसे)प्राप्नोषि (युयुजानः)समादधन् (ऋष्व)प्राप्त विज्ञान (ऋजुमुष्कान्) य ऋजुना मुष्णन्ति तान् (वृषणः) बलिष्ठान् (शुक्रान्) शुद्धिकरान् (च)॥

भावार्थ — हे मनुष्या यथान्तरग्निः सर्वेषां पालको विनाशकश्चास्ति तथैवेह विद्वान् पुत्रः पालको मूर्खश्च विनाशको भवति तस्मादीर्घेण ब्रह्मचर्येण स्वसन्तानानुत्तमान् कृत्वा कृतकृत्यतां विजानीत॥



## अग्नि सूक्त ( मण्डल-४, सूक्त-२ )

**हि०भावार्थ** — हे मनुष्यों जैसे मध्य में अग्नि सब का पालन और नाश करने वाला है, वैसे ही इस संसार में विद्वान् पुत्र तो पालन करने वाला और मूर्ख विनाश करने वाला होता है। इसलिए दीर्घ ब्रह्मचर्य से अपने सन्तानों को उत्तम करके कृतकृत्यता अर्थात् जन्मसाफल्य जानो।

**सायण भाष्य** —

हे सहसः सूनो बलस्य पुत्राग्ने अद्यास्मिन् दिवसे नोऽस्मदीय इह कर्मणि जात आधानपवमानेष्टिभिः संस्कृतस्त्वं जातानुत्पन्नानुभयान् देवमनुष्यानन्त स्तेषामुभयेषां मध्ये दूतो हवींषि देवान् प्रापयितुमीयसे गच्छसि। किं कुर्वन्? हे ऋष्य दर्शनीयाग्ने ऋजुमुष्कान्। मुष्कशब्देन मांसलोऽभिधीयते। ऋजवः प्रसाधकाः। ऋजवश्च ते मुष्काश्चेति ऋजुमुष्काः। तान् वृषणः। रेतः सेचनसमर्थान् शुक्रान् दीप्यमानानश्वान्श्च युयुजानः स्वरथे योजयन्नीयसे।

**शब्दा०** — सहसः = बल के, सूनो = हे पुत्र, ऋष्य = हे दर्शनीय, इह = यहाँ (इस यज्ञादि कर्म में), नः = हमारे लिए, जातः = उत्पन्न हुए, उभयान् = दोनों, दोनों वर्गों के, जातान् = उत्पन्न हुआओं के, अन्तः = बीच में, ऋजुमुष्कान् = सीधे अण्डकोष वाले अर्थात् पुष्टों को, शुक्रान् = दीप्ति युक्तों को, वृषणः = शक्तिशाली (अश्वों) को, युयुजानः = जोतते हुए, ईयसे = विचरण करते हो।

**हिन्दी व्याख्या** — हे बल के पुत्र एवं दर्शनीय अग्ने, आज यहाँ (इस यज्ञादि कर्म में) उत्पन्न हुए तुम दोनों उत्पन्न हुआओं (मनुष्य और देवों) के बीच में सीधे अण्डकोष वाले अर्थात् पुष्ट एवं दीप्तियुक्त (चमकीले) शक्तिशाली अश्वों को (अपने रथ में जोतते हुए) दूत के रूप में विचरण करते हो।

**व्याकरण** —

जातः = जन्+क्त (त), 'न' को 'आ'।

युयुजानः = युज्+कानच्(आन), धातु को द्वित्व व अभ्यास कार्य से युयुज्।

ईयसे = ईङ् (ई), लट् म०पु०एक०।

मण्डल—४

सूक्त—२

मन्त्र—३

संहिता पाठ

अत्यां वृधस्नू रोहिता घृतस्नू ऋतस्य मन्ये मनसा जविष्ठा।

अन्तरीयसे अरुषा युजानो युष्माश्च देवान् विश आ च मर्तान्॥३॥

पदपाठ —

अत्यां। वृधस्नू। इति वृधस्नु। रोहिता। घृतस्नू। इति। घृतस्नू। ऋतस्य। मन्ये। मनसा। जविष्ठा। अन्तः। ईयसे। अरुषा। युजानः। युष्मान्। च। देवान्। विशः। आ। च। मर्तान्॥



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

अन्वय — ऋतस्य मनसा जविष्ठा वृधस्नू रोहिता अत्या मन्ये, अरुषा (तो) युजानः (त्वम्) युष्मान् देवान् च विशः मर्तान् च अन्तः आ ईयसे।

दयानन्द भाष्य —

(अत्या) यावततोऽध्वानं व्याप्नुतस्तौ (वृधस्नू) यौ वृधान् प्रस्रवतस्तौ (रोहिता) रोहितेन वह्निगुणेन सहितौ (घृतस्नू) यौ घृतमुदकं स्नुतः प्रस्रावय तस्तौ (ऋतस्य) जलस्य (मन्ये) (मनसा) (जविष्ठा) अतिशयेन वेगवन्तौ (अन्तः) मध्ये (ईयसे) गच्छसि (अरुषा) रक्तगुणविशिष्टौ (युजानः) (युष्मान्) (च) (देवान्) (विशः) प्रजाः (आ) (च) (मर्तान्) मनुष्यान्।

भावार्थ — यदि मनुष्या वाय्वग्नी अग्निः सह यानयन्त्रेषु संयोज्य चालयत स्तर्हि वेगप्रहरणाख्यौ जलवाष्पगुणौ मन इव यानादीनि चालयतः।

हि०भावार्थ — जो मनुष्य लोग वायु और अग्नि को जलों के साथ वाहन के यन्त्रों में संयुक्त करके चलाते हैं, तो वेग और प्रहरण नामक जल और भाफ के गुण, मन के सदृश वाहन आदिकों को चलाते हैं।।

सायण भाष्य —

हे अग्ने ऋतस्य सत्यभूतस्य तव सम्बन्धिनौ मनसा मनसोऽपि जविष्ठा वेगवत्तमौ वृधस्नू। वर्धयतीति वृधमन्नम्। तत्क्षरन्तौ। घृतस्नू। घृतमुदकम्। तत्स्रवन्तौ। रोहितवर्णावत्याश्वौ मन्ये स्तौमि। अरुषा रोचमानौ। तावश्वौ युजानो रथे युजानस्त्वं युष्मान् यष्टव्यान् देवान् विशः परिचारकान् मर्तान् मनुष्यानन्तः। षष्ठ्यर्थे द्वितीया। तेषां मध्ये आ समन्तादीयसे हविः स्वीकर्तुं यजमानान् गच्छसि।

शब्दा० — ऋतस्य = सत्यरूप के, नियमित रूप से कार्य करने वाले के। मनसा जविष्ठा = मन से अधिक वेग शाली, वृधस्नू = अन्न की वर्षा करने वाले, घृतस्नू = घृत (जल) की वर्षा करने वाले। रोहिता = लाल, अत्या = अश्वों को, मन्ये = मानता हूँ अर्थात् स्तुति करता हूँ, अरुषा = चमकीले, युजानः = जोतते हुए, युष्मान् देवान् = स्वयं अपने ही वर्ग के देवों के, विशः = प्रजाजन, मर्तान् = मनुष्यों के, अन्तः = बीच में, ईयसे = विचरण करते हो।

हिन्दी व्याख्या — सत्यरूप या नियमित रूप से कार्य करने वाले अग्नि के मन से भी अधिक वेगशाली, अन्न की वर्षा करने वाले एवं जल की वर्षा करने वाले लाल अश्वों की स्तुति करता हूँ, उन चमकीले अश्वों को अपने रथ में जोतते हुए तुम स्वयं अपने ही वर्ग के देवों के और प्रजाजन मनुष्यों के बीच में सब ओर विचरण करते हो।

व्याकरण — मनसा = पञ्चमी एक० का वैदिक रूप। जविष्ठा = जव+मतुप् (मत)+इष्ठन्(इष्ठ), 'मत' का लोप, द्वि०द्विव० का वैदिक रूप। वृधस्नू = वृध+स्नु+क्विप् (×), द्वि०वच०। घृतस्नू = घृत+स्नु+क्विप् (×), द्वि०द्विव०। रोहिता = रोहित, द्वि०द्विव० का वैदिक रूप। अत्या = अत्य, द्वि०द्विव० का वैदिक रूप। मन्ये = मन्, लट्,



उ०पु०एक०। अरुषा = अरुष, द्वि०द्विव० का वैदिक रूप। युजानः = युज्+शानच् (आन)। ईयसे = ई, लट्, म०पु०एक०।

मण्डल-४

सूक्त-२

मन्त्र-४

संहिता पाठ

अ॒र्यम॑णं वरु॑णं मि॒त्रमेषा॑मिन्द्रा॒विष्णू॑ मरु॒तों अ॒श्विनो॑त ।

स्व॒श्वो अ॒ग्ने सु॒रथः॑ सु॒राधा॑ एदु॒ वह सु॒हवि॑षे जना॒य ॥४॥

पदपाठ -

अ॒र्यम॑णम् । वरु॑णम् । मि॒त्रम् । एषाम् । इन्द्रा॒विष्णू॑ । इति॑ । मरु॒तः । अ॒श्विना॑ । उ॒त । सु॒ऽअश्वः॑ । अ॒ग्ने । सु॒ऽरथः॑ । सु॒ऽराधाः॑ । आ । इत् । ऊँ । इति॑ । व॒ह । सु॒ह॒वि॒षे । जना॒य ॥  
अन्वय - अग्ने, स्वश्वः, सुरथः, सुराधाः एषाम् सुहविषे जनाय अर्यमणम् वरुणम् मित्रम्, इन्द्रविष्णु, मरुतः उत अश्विना आवह इत् उ ।

दयानन्द भाष्य -

(अर्यमणम्) न्यायाधीशम् (वरुणम्) श्रेष्ठगुणम् (मित्रम्) सखायम् (एषाम्) (इन्द्राविष्णू) विद्युत्सूत्रात्मानौ (मरुतः) वायून् (अश्विना) सूर्याचन्द्रमसौ (उत) (स्वश्वः) सुष्ठु अश्वा यस्य सः (अग्ने) विद्वन् (सुरथः) प्रशस्त यानः (सुराधाः) शोभनं राधो धनं यस्य सः (आ) (इत्) (ऊँ) (वह) (सुहविषे) सुसामग्रीकाय (जनाय) मनुष्याय ॥

भावार्थ - हे विद्वन् भवानग्निजलादिपदार्थान् यथावद्विदित्वा कार्येषु सम्प्रयुज्य प्रत्यक्षीकृत्याऽन्यानुपदिश । येन सर्वे धनधान्यसुखयुक्ताः स्युः ॥

हि०भावार्थ - हे विद्वन्! आप अग्नि और जलादि पदार्थों को उत्तम प्रकार जान के और कार्य्यों में संयुक्त कर प्रत्यक्ष करके अन्य जनों के लिये उपदेश दीजिये । जिससे कि सब लोग धन, धान्य और सुखों से युक्त होवें ।

सायण भाष्य -

हे अग्ने स्वश्वः शोभनाश्वोपेतः सुरथः शोभनरथः सुराधाः शोभनधनो-  
पेतस्त्वमेषां मर्त्यानां मध्ये सुहविषे शोभनहविष्काय जनाय यजमानायार्यमादीनुतापि चाश्विनौ  
यष्टव्याम् देवानावदेहु आह्वयैव । उः पूरषः ।

शब्दा० - स्वश्वः = अच्छे अश्वों वाला, सुरथः = अच्छे रथ वाला, सुराधाः = अच्छे धन वाला, एषाम् = इन (मनुष्यों) के, सुहविषे जनाय = अच्छी हविष् वाले जन (व्यक्ति) के लिए, अर्यमणम् = 'अर्यमा' नामक देव को, इन्द्राविष्णू = इन्द्र और विष्णु को, उत = और, आ वह इत् = अवश्य ही लाओ, उ = पादपूरक अनर्थक निपात ।

हिन्दी व्याख्या - हे अग्ने, अच्छे अश्वों वाले, अच्छे रथ वाले, अच्छे धन वाले तुम इन मनुष्यों में से अच्छी हविष् वाले जन के लिए अर्यमा, वरुण, मित्र, इन्द्र, विष्णु, मरुत् और दोनों अश्विनीकुमारों को अवश्य ही लाओ ।



व्याकरण — अश्विना = अश्विन्, द्वि०द्विव० का वैदिक रूप। वह = वह, लोट्, म०पु०, एक०।

मण्डल—४

सूक्त—२

मन्त्र—५

संहिता पाठ

गोमाँ अग्नेऽविमाँ अश्वी यज्ञो नृवत्सखा सदमिदप्रमृष्यः।

इलावाँ एषो असुर प्रजावान् दीर्घो रयिः पृथुबुध्नः सभावान्॥५॥

पदपाठ —

गोऽमान्। अग्ने। अविऽमान्। अश्वी। यज्ञः। नृवत्सखा। सदम्। इत्। अप्रऽमृष्यः।  
इडाऽवान्। एषः। असुर। प्रजाऽवान्। दीर्घः। रयिः। पृथुऽबुध्नः। सभाऽवान्॥  
अन्वय — असुर, अग्ने, एषः, यज्ञः, गोमान्, अविमान्, अश्वी, नृवत्सखा, सदम् इत्  
अप्रमृष्यः, इडावान्, प्रजावान्, दीर्घः, रयिः, पृथुबुध्नः, सभावान् (अस्तु)॥

दयानन्द भाष्य —

(गोमान्) वह्नयो गावो विद्यन्ते यस्मिन् सः (अग्ने) विद्वन् (अविमान्) वह्नयोऽवयो  
विद्यन्ते यस्मिन् सः (अश्वी) वह्न्यश्वः (यज्ञः) सङ्गन्तव्यः (नृवत्सखा) नृवत्सु नायकयुक्तेषु  
सुहृत् (सदम्) स्थानम् (इत्) एव (अप्रमृष्यः) परैर्न प्रमर्षणीयः (इडावान्) वहन्नयुक्तः (एषः)  
(असुर) दुष्टानां प्रक्षेप्तः (प्रजावान्) बह्वयः प्रजा विद्यन्ते यस्मिन् (दीर्घः) विस्तीर्णः (रयिः)  
धनम् (पृथुबुध्नः) विस्तीर्ण प्रबन्धः (सभावान्) प्रशस्ता सभा विद्यते यस्य॥

भावार्थ — मनुष्यैस्स एव सभाध्यक्षः कर्तव्यो यो गोमानविमानश्ववान् प्रधर्षितुं योग्यो  
दुष्टानां दृढप्रबन्धः प्रजावान् भवेत्॥

हि०भावार्थ — मनुष्यों को वही सभाध्यक्ष करना चाहिये कि जो गौओं भेड़ों और घोड़ों का  
पालक और दूसरों से नहीं भय करने और दुष्ट जनों के दूर करने वाला, अच्छे प्रबन्ध से  
युक्त तथा प्रजावाला हो॥

सायण भाष्य —

हे असुर बलवन् हे अग्ने एष मदीयोऽयं यज्ञो गोमान् गोभिस्तद्वान् अविमान्  
अवयो मेषा अस्य सन्ति तद्वान्। अश्वी अश्वोपेतश्चास्तु। नृवत्सखा नरः कर्मणां  
नेतारोऽध्वर्यादयस्तद्वन्तः सखायोऽनुष्ठातारो यजमाना यस्य स तथोक्तः। सदमित्  
सदैवाप्रमृष्योऽप्रधृष्यश्चास्तु। तथेडावान्। इडा हविल्क्षणमन्नम्। तद्वान्। प्रजावान्  
पुत्रपौत्रादियुक्तश्चास्तु। दीर्घोऽविच्छिन्नानुष्ठानोपेतो रयिर्धनवान्। लुप्तमत्वर्थीयः पृथुबुध्नः।  
पृथुनि बहुलानि बुध्नानि धनादीनि कारणानि यस्य स तथोक्तः।  
सभावानुपदेष्टरूपसभायुक्तश्चास्तु।

शब्दा० — असुर = हे बलवान्, गोमान् = गाय का बैलों से युक्त, अविमान् = मेषों  
(मेढ़ों) से युक्त, अश्वी = अश्वों से युक्त, नृवत्सखा = ऋत्विजों से युक्त यजमानों वाला,



**अग्नि सूक्त (मण्डल-४, सूक्त-२)**

सदम् इत् = सदा ही, अप्रमृष्यः = अप्रधृष्यः, उपद्रव सहित इळावान् = अत्र से युक्त, प्रजावान् = सन्तान से युक्त, दीर्घः = दीर्घकाल तक चलने वाला, रयिः = धनयुक्त, पृथुबुध्नः = बहुत से साधनों से युक्त, सभावान् = उपदेशकों के समूह से युक्त ।।

हिन्दी व्याख्या — हे बलवान् अग्ने, हमारा यह यज्ञ गोयुक्त, मेषयुक्त, अश्वयुक्त, ऋत्विजों से युक्त यजमानों वाला, सदा ही अप्रधृष्य या उपद्रव रहित, अत्रयुक्त, सन्तानयुक्त, दीर्घकाल तक चलने वाला, धनयुक्त, विपुल साधनों से युक्त एवं सभा (उपदेशकों के समूह) से युक्त हो ।

व्याकरण —

गोमान् = गो+मतुप् ।

अविमान् = अवि+मतुप् ।

अश्वी = अश्व+इनि ।

नृवत्सखा = नृ+मतुप् (मत् = वत्); नृवन्तः सखायः यस्य सः ।

अप्रमृष्य = नञ् (अ)+प्र+मृष्+क्यप् (य) ।

इडावान् = इडा+मतुप् ।

प्रजावान् = प्रजा+मतुप् ।

सभावान् = सभा+मतुप् ।

मण्डल-४

सूक्त-२

मन्त्र-६

संहिता पाठ

यस्तं इध्मं जभरन्तिसिस्विदानो मूर्धानं वा ततपते त्वाया ।

भुवस्तस्य स्वतवाँः पायुरग्ने विश्वस्मात्सीमघायत उरुष्य ॥६॥

पदपाठ —

यः । ते । इध्मम् । जभरन्त । सिस्विदानः । मूर्धानम् । वा । ततपते । त्वाया । भुवः । तस्य । स्वतवान् । पायुः । अग्ने । विश्वस्मात् । सीम् । अघायतः । उरुष्य ॥

अन्वय — अग्ने, यः सिस्विदानः ते इध्मम् जभरन्त, त्वाया वा मूर्धानम् ततपते, तस्य स्वतवान् पायुः भुवः, विश्वस्मात् अघायतः उरुष्य सीम् ।

दयानन्द भाष्य —

(यः) (ते) तव (इध्मम्) प्रदीप्तम् (जभरन्त) विभर्ति (सिस्विदानः) स्नेहयुक्तः (मूर्धानम्) (वा) (ततपते) ततानां विस्तृतानां पालक (त्वाया) यस्त्वामयते (भुवः) पृथिव्याः (तस्य) (स्वतवान्) स्वेन प्रवृद्धः (पायुः) रक्षकः (अग्ने) पावक (विश्वस्मात्) सर्वस्मात् (सीम्) सर्वतः (अघायतः) आत्मनोऽघमिच्छतः (उरुष्य) रक्ष ॥

भावार्थ — हे मनुष्या ये युष्माकं प्रतापं शरीराणि राज्यं रक्षित्वा दुष्टान् सर्वतो घ्नन्ति तान् सततं रक्षत ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

**हि०भावार्थ** — हे मनुष्यों! जो लोग आप लोगों के प्रताप शरीर और राज्य की रक्षा करके दुष्टों का सब प्रकार नाश करते हैं, उनकी निरन्तर रक्षा करो।

**सायण भाष्य** —

हे अग्ने ते त्वदर्थं यः पुमान् सिष्विदानः सिवद्यद्गात्रः सन् इध्मं काष्ठभारं जभरत् आहरति। यो वा त्वाया त्वत्कामनया मूर्धानं स्वमस्तकं ततपते काष्ठभारेण तापयति तस्य तादृशस्य पुंसः स्वतवान्। धनवान् भुवः भवसि। पायुः पालयितासि। सीमेनं विश्वस्मादघायतोऽघं पापमिच्छतः पुरुषादुरुष्य रक्ष।

**शब्दा०** — सिष्विदानः = पसीना से युक्त, ते = तुम्हारे लिए, इध्मम् = ईधन को, जभरत् = लाता है, त्वाया = तुम्हारी कामना से, वा = अथवा, मूर्धानम् = मस्तक को, ततपते = तपाता है, कष्ट देता है, स्वतवान् = धनवान्, पायुः = रक्षक, भुवः = होवो, विश्वस्मात् = सब से, अघायतः = अनिष्ट करने की इच्छा वाले से, उरुष्य = रक्षा करो, सीम् = पूरक निपात।।

**हिन्दी व्याख्या** — हे अग्ने, जो पसीने से युक्त हो तुम्हारे लिए ईधन लाता है, अथवा तुम्हारी कामना (उद्देश्य) से अपने मस्तक को (काष्ठ भार) से तपाता या कष्ट देता है, उसके तुम धनवान् रक्षक होवो तथा उसका अनिष्ट करने की इच्छा रखने वाले सभी (व्यक्तियों) से उसकी रक्षा करो।

**व्याकरण** —

- सिष्विदान = सिव्+शानच् (आन), धातु को द्वित्व एवं अभ्यास कार्य से 'सिस्विद्' संहिता में दूसरे 'स्' को 'ष्'।
- जभरत् = ह, लुङ्, प्र०पु०, एक० का वैदिक रूप।
- त्वाया = युष्मत्+क्वच् (य); 'युष्म' को 'त्व' आदेश, 'द्' को वैदिक 'आ' आदेश = त्वाय+अ+टाप् (आ), तृ०एक० का वैदिक रूप।
- ततपते = तप् (अथवा षडन्त तप्) लट्, प्र०पु०, एक० का वैदिक रूप।
- स्तवान् = स्व+तवत् — 'स्वतवान्+पायु' में वैदिक सन्धि में 'स्वतवाँः पायुः'। भुवः = भू लेट्, म०पु०, एक०।
- अघायतः = अघ+क्यच् (य)+शतृ (अत्), 'घ' के 'अ' को वैदिक 'आ', पं० एक०।
- उरुष्य = कण्डवादि 'उरुष्' धातु, लोट्, म०पु०, एक०।

**मण्डल—४**

**सूक्त—२**

**मन्त्र—७**

**संहिता पाठ**

यस्ते भरादन्नियते चिदन्नं निशिषन्मन्द्रमतिथिमुदीरत्।  
आ देवयुरिन्धते दुरोणे तस्मिन्नरयिर्धुवो अस्तु दास्वान्॥७॥



पदपाठ —

यः। ते। भरात्। अन्नियते। चित्। अन्नम्। निऽशिषत्। मन्द्रम्। अतिथिम्।  
उत्ऽईरत्। आ। देवऽयुः। इनधते। दुरोणे। तस्मिन्। रयिः। ध्रुवः। अस्तु। दास्वान्॥

अन्वय — यः चित् अन्नियते ते अन्नम् भरात् मन्द्रम् निशिषत्, अतिथिम् उदीरत् आ देवयुः दुरोणे इनधते, तस्मिन् ध्रुवः दास्वान् रयिः अस्तु।

दयानन्द भाष्य —

(यः) (ते) तुभ्यम् (भरात्) धरेत् (अन्नियते) अदतां नियते निश्चिते समये (चित्) (अन्नम्) (निशिषत्) नितरां विशेषयन् (मन्द्रम्) आनन्दप्रदम् (अतिथिम्) सत्योपदेशकम् (उदीरत्) सन्नुदन् (आ) (देवयुः) देवान् कामयमानः (इनधते) इनमीश्वरं दधाति यस्मिंस्तस्मिन् (दुरोणे) गृहे (तस्मिन्) (रयिः) धनम् (ध्रुवः) निश्चलः (अस्तु) (दास्वान्) दाता॥

भावार्थः — ये मनुष्या येषां यादृशमुपकारं कुर्युस्तैस्तेषां तादृश उपकारः कर्तव्यः॥

हि०भावार्थ — जो मनुष्य जिन मनुष्यों का जैसा उपकार करें उन मनुष्यों को चाहिये कि उनका वैसा उपकार करें।

सायण भाष्य —

हे अग्ने यः पुमान् अन्नियतेऽन्नमिच्छते ते तुभ्यं हविर्लक्षणं पुरोडाशादिकमन्नं भरात् दातुं बिभृयात्। चिदितिचार्थे। यश्च मन्द्रं मदकरं सोमं निशिषत् नितरां प्रयच्छति। यश्चातिथिमतिथिवत्पूज्यं त्वामुदीरत् उत्तरवेद्यां प्रणयति। आ अपि च यश्च देवयुर्देवं त्वां कामयमानो दुरोणे स्वकीये गृहे इनधते त्वां समिद्धिः समिन्धते। तस्मिन्नेतस्मिन् पुरुषे रयिः पुत्रो ध्रुव आस्तिक्यबुद्ध्या वैदिकमार्गे निश्चलोऽस्तु। तथा दास्वानौदार्योपेतश्चास्तु।

शब्दा० — यः चित् = जो कोई, अन्नियते = अन्न के इच्छुक के लिए, ते = तुम्हारे लिए, भरात् = धारण करे, मन्द्रम् = मदकर सोम को, निशिषत् = खूब दे, अतिथिम् = अतिथि रूप को, उदीरत् = उत्तर को (उत्तर वेदी पर) ले जावे, आ = और, देवयुः = देव को आत्मीय बनाने का इच्छुक, दुरोणे = घर में, इनधते = प्रज्ज्वलित करता है, तस्मिन् = उसके यहाँ, ध्रुवः = स्थायी, दास्वान् = देने वाला अर्थात् निरन्तर बढ़ने वाला, रयिः = धन, अस्तु = होवे॥

हिन्दी व्याख्या — जो कोई (हविष् के रूप में) अन्न के इच्छुक तुम्हारे लिए अन्न धारण करे अर्थात् समर्पित करने को प्रस्तुत हो, तुम्हारे लिए मद देने वाले सोमरस को खूब दे, अतिथि रूप तुम्हें उत्तर को अर्थात् उत्तरवेदी पर स्थापित करे और जो तुम देव को अपना बनाने का इच्छुक अपने घर में तुम्हें प्रज्ज्वलित करे, उसके यहाँ स्थिर रहने वाला तथा देने वाला अर्थात् निरन्तर बढ़ने वाला या दान में काम आने वाला धन होवे।

व्याकरण —

अन्नियत = अन्त+क्यच् (य)+शतृ (अत), 'न' के 'अ' को 'ई' जिसे कि वैदिक ह्रस्व, च०एक०।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

भरात्	= भृ, लेट्, प्र०पु०, एक० ।
निशिषत्	= नि+शास्, लुङ्, प्र०पु०, एक०का वैदिक रूप ।
उदीरत्	= उत्+ईर्, लेट्, प्र०पु०, एक० ।
देवयुः	= देव+क्यच् (य)+उ ।
इनधते	= इन्ध्, लट्, प्र०पु०, एक० । का वैदिक रूप ।
दास्वान्	= दास्+क्विप् (×) — दास्+मतुप् (मत्=वत्), प्र०पु०, एक ।

मण्डल—४

सूक्त—२

मन्त्र—८

संहिता पाठ

यस्त्वां दोषा य उषसिं प्रशंसांत्प्रियं वा त्वा कृणवते हविष्मान्  
अश्वो न स्वे दमे आ हेम्यावान्तमंहसः पीपरो दाश्वांसम् ॥८॥

पदपाठ —

यः । त्वा । दोषा । यः । उषसिं । प्रशंसात् । प्रियम् । वा । त्वा । कृणवते । हविष्मान् ।  
अश्वः । न । स्वे । दमे । आ । हेम्यावान् । तम् । अंहसः । पीपरः । दाश्वांसम् ॥  
अन्वय — यः त्वा दोषा प्रशंसात्, यः उषसि, हविष्मान् त्वा प्रियम् कृणवते वा, तम्  
दाश्वासम् स्वे दमे हेम्यावान् अश्वः न अंहसः आ पीपरः ।

दयानन्द भाष्य —

(यः) (त्वा) त्वाम् (दोषा) रात्रौ (यः) (उषसि) दिने (प्रशंसात्) प्रशंसेत्  
(प्रियम्) (वा) (त्वा) त्वाम् (कृणवते) कुर्वते (हविष्मान्) प्रशस्तदानसामग्रीयुक्तः (अश्वः)  
तुरङ्गः (न) इव (स्वे) स्वकीये (दमे) गृहे (आ) (हेम्यावान्) हेम्युदके भवा रात्रिर्विद्यते  
यस्य । हेमेत्युदकनाम । निघं० १ । १२ । (तम्) (अंहसः) अपराधात् (पीपरः) पालय (दाश्वांसम्)  
दातारम् ।

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः । हे मनुष्या येऽहर्निशं युष्मांस्तूत्साहयेयुस्तान् यूयं  
घासादिनाऽश्वानिवाऽऽनन्दयत् ॥

श्ल०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमा अलङ्कार है । हे मनुष्यो! जों लोग दिन और रात्रि आप  
का उत्साह बढ़ावें उनको आप लोग घास आदि से घोड़ों को जैसे वैसे आनन्द देओ ।

सायण भाष्य —

हे अग्ने यः पुमान् दोषा दोषायां रात्रौ त्वां प्रशंसात् संस्तुयात् । यश्चोषसि  
प्रातः काले त्वां प्रशंसेत् । हविष्यमान् संभृतहविष्को यो वा यजमानस्त्वा त्वां प्रियं हविर्भिः  
प्रीतं कृणवते कुर्यात् । आ अथ दाश्वांसं हविर्दत्तवन्तं तं तादृशं यजमानं स्वे दमे स्वकीये  
गृहे हेम्यावान् सुवर्णनिर्मितकक्ष्यावान् अश्वो न अश्व इव संचरस्त्वमंहसः पापरूपादारिद्र्यात्  
पीपरः । पारं नय ।

शब्दा० — त्वा = तुमको, दोषा = रात्रि को, प्रशंसात् = स्तुति करे, उषसि =



**अग्नि सूक्त ( मण्डल-४, सूक्त-२ )**

उषःकाल में, हविष्मान् = समर्पणीय हविष् से युक्त, यजमान, प्रियम् = प्रसन्न, कृणवते = करे, दाश्वांसम् = दाता को, स्वे दमे = अपने घर में, हेम्यावान् = सुनहली सज्जा (काठी आदि) से युक्त, न = समान, अंहसः = पाप से, आ = पूर्णतः, बिल्कुल, पीपरः = पार करो।

**हिन्दी व्याख्या** — हे अग्ने, जो रात में तुम्हारी स्तुति करता है, जो उषःकाल में तुम्हारी स्तुति करता है, तुम्हारे लिए समर्पणीय हविष् से युक्त जो यजमान तुमको प्रसन्न करता है, उस दाता (हविष् देने वाला) को तुम अपने घर में (वेदी या काष्ठादि में) सुनहली सज्जा (काठी आदि) से युक्त अश्व के समान विचरण करते एक पाप या संकट से पूर्णतः (सब प्रकार से) पार करो।

**व्याकरण —**

प्रशंसात्	= प्र+शंस्+लेट्, प्र०पु०एक०।
हविष्मान्	= हविष्+मतुप्।
कृणवते	= कृवि (कृण्व), लेट्, प्र०पु०एक०।
दाश्वांसम्	= दाश्+क्वसु (वस्), द्वि०एक०।
हेम्यावान्	= हेम+य+टाप् (आ)+मतुप् (मत् = वत्)।
पीपरः	= ण्यन्त पृ०, लुङ्, म०पु०, एक०का वैदिक रूप।

**मण्डल—४**

**सूक्त—२**

**मन्त्र—९**

**संहिता पाठ**

यस्तुभ्यमग्ने अमृताय दाशद्वुवस्त्वे कृणवते यतस्रुक्।  
न स राया शशमानो वि योषनैनमंहः परि वरदघायोः॥९॥

**पदपाठ —**

यः। तुभ्यम्। अग्ने। अमृताय। दाशत्। दुवः। त्वे। इति। कृणवते। यतस्रुक्। न।  
सः। राया। शशमानः। वि। योषत्। न। एनम्। अंहः। परि। वरत्। अघायोः॥  
अन्वय — अग्ने, यः अमृताय तुभ्यम् दाशत्, यतस्रुक् (यः) त्वे दुवः कृणवते, शशमानः सः  
राया न वि योषत्, अघायोः अंहः एनम् न परिवरत्।

**दयानन्द भाष्य —**

(यः) (तुभ्यम्) (अग्ने) विद्वन् (अमृताय) मोक्षाय (दाशत्) दद्यात् (दुवः)  
परिचरणम् (त्वे) त्वयि (कृणवते) कुर्वते (यतस्रुक्) उद्यतक्रियासाधनः (न) (सः) (राया)  
धनेन (शशमानः) प्लवमानः (वि योषत्) वियुज्येत (न) (एनम्) (अंहः) (परि) (वरत्)  
वृणुयात् (अघायोः) पापिनः।

**भावार्थः** — हे मनुष्या युष्मासु ये यथा प्रीतिं कुर्वन्ति तथैव तेषु भवन्तः स्नेहं कुर्वन्तु।

**हि०भावार्थ** — हे मनुष्यो! आप लोगों में जैसे जो लोग प्रीति करते हैं, वैसे ही उनमें आप



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

लोग स्नेह करें।

**सायण भाष्य —**

हे अग्ने यो यजमानोऽमृताय मरणधर्मरहिताय तुभ्यं दाशत् हवांषि प्रयच्छेत्। यतस्तुक्यश्च यजमानस्त्वे त्वयि दुवः परिचर्या कृणवते करोति। शशमानः स्तोत्रं कुर्वाणः स यजमानो राया धनेन न वि योषत्। न पृथग् भवेत्। सदा धनयुक्तो भवेदित्यर्थः। अघायोः पापमिच्छतो हिंसकस्य सम्बन्धी अंह आहननं पापमेनं यजमानं न परिवरत्। न परिवृणुयात्। न स्पृशेदित्यर्थः।

**शब्दा० —** अमृताय = अविनाशी के लिए, दाशत् = देवे, यतस्तुक् = नियत रूप से सुवा (हवन में प्रयुक्त चमचा) का प्रयोग करने वाला, त्वे = तुम्हारे विषय में (तुम्हारी), दुवः = परिचर्या को कृणवते = करे, शशमानः = स्तुति करने वाला, राया = धन से, वियोषत् = नियुक्त न हो, अघायोः = पाप की इच्छा करने वाले का, अंहः = पाप, चोट, परिवरत् = घेरे, स्पर्श करे।

**हिन्दी व्याख्या —** हे अग्ने, जो तुम अविनाशी के लिए (हविष) देवे, नियत रूप से सुवा का प्रयोग करने वाला जो तुम्हारी परिचर्या करे, स्तुति करने वाला वह धन से वियुक्त न हो, पाप कर्म करने की इच्छा करने वाले का पाप या प्रहार उसको न घेरे अर्थात् स्पर्श न करे।

**व्याकरण —**

दाशत् = दाश्, लेट्, प्र०पु०, एक०।

कृणवते = कृवि (कृण्व) लेट्, प्र०पु०, एक०।

त्वे = युष्मन्, स०एक० का वैदिक रूप।

दुवः = दुवस्+क्विप्(×)

शशमानः = शम्+कानच् (आन्), धातु को द्वित्व एवं अभ्यास कार्य से 'शशम्'।

योषत् = यु, लेट्, प्र०पु०, एक०।

अघायोः = अघ+क्वयच् (य)+उ, 'घ' के 'अ' को दीर्घ, ष०एक०।

वरत् = वृ, लेट्, प्र०पु०एक०।

**मण्डल—४**

**सूक्त—२**

**मन्त्र—१०**

**संहिता पाठ**

यस्य त्वमग्ने अध्वरं जुजोषो देवो मर्तस्य सुधितं रराणः।

प्रीतेदंसद्धोत्रा सा यविष्ठासाम यस्य विधतो वृधासः॥१०॥

**पदपाठ —**

यस्य त्वम् अग्ने अध्वरम् जुजोषः देवःमर्तस्य सुधितम् रराणः। प्रीता। इत्।



## अग्नि सूक्त ( मण्डल-४, सूक्त-२ )

असत् । होत्रा । सा । यविष्ठ । असाम । यस्य । विधतः । वृधासः ।।

अन्वय — अग्ने, रराणः देवः त्वम् यस्य मर्तस्य सुधितम् अध्वरम् जुजोषः, सा होत्रा प्रीता इत् असत्, यविष्ठ, (तस्य) असाम, यस्य विधासः वृधासः (सन्ति)

दयानन्द भाष्य —

(यस्य) (त्वम्) (अग्ने) पावकवद्वर्त्तमान विद्वन् (अध्वरम्) अहिंसनीव्यवहारम् (जुजोषः) भृशं सेवसे (देवः) दिव्य सुखदाता (मर्तस्य) मनुष्यस्य (सुधितम्) सुहितम् । अत्र वर्णव्यत्ययेन हस्य धः (रराणः) भृशं दाता (प्रीता) प्रसन्ना (इत्) (असत्) भवेत् (होत्रा) ग्राह्या (सा) (यविष्ठ) अतिशयेन युवन् (असाम) भवेम (यस्य) (विधतः) विधानं कुर्वतः (वृधासः) वर्धकास्सन्तः ।।

भावार्थ — यो यस्य सुखं साध्नुयात्तेनापि स सुखेनाऽलङ्कृतव्यः ।।

हि०भावार्थ — जो जिस के सुख को साधै उस पुरुष को चाहिये कि उस उपकार करने वाले पुरुष को भी सुख देवै ।

सायण भाष्य —

हे अग्ने रराणो रममाणो देवो दीप्यमानस्त्वं यस्य मर्तस्य मनुष्यस्य सम्बन्धि सुधितं त्वदर्थं सुष्ठु निहितमध्वरमनुपहतं हविर्लक्षणमन्नं जुजोषः सेवेथाः । हे यविष्ठ युवतम् सा होत्रा स होता यजमानः प्रीतेदसत् । प्रीत एव भवेत् । असाम तस्य यजमानस्य सम्बन्धिनो भवेम । यस्य विधतोऽग्निपरिचर्यां कुर्वतो यजमानस्य होत्रादयो वृधासो यज्ञस्य वर्धयितारो भवन्ति ।

शब्दा० — रराणः = रमण या आनन्द करते हुए, मर्तस्य = मनुष्य के, सुधितम् = अच्छी तरह स्थापित, अध्वरम् = यज्ञ, उपद्रव रहित हविष्, जुजोषः = सेवन करते हो, सा होत्रा = वह होता, प्रीता = प्रसन्न, इत् = ही, असत् = होवे, यविष्ठ = युवतम्, युवकों में श्रेष्ठ, असाम = होवें, विधतः = यज्ञ-विधान करने वाले के, वृधासः = बढ़ाने वाले, सहयोग देने वाले ।

हिन्दी व्याख्या — हे अग्ने, रमण या आनन्द करने वाले देव तुम जिस मनुष्य का अच्छी प्रकार से स्थापित (किए गए) यज्ञ का सेवन करते हो अर्थात् उसे स्वीकार करते हो, वह होता प्रीत या प्रसन्न ही होता है । हे युवतम् (युवकों में श्रेष्ठ) हम उस व्यक्ति के होकर रहें, जिस यज्ञ करने वाले के बढ़ाने वाले अर्थात् यज्ञादि में सहयोग देने वाले ऋत्विज आदि हैं ।

व्याकरण —

सुधितम् = सु+धा+क्त (त), 'धा' को 'हि', जिसे कि वैदिक आदेश 'धि' ।

जुजोषः = जुषी (जुष्), लिट्, म०पु०, एक० का वैदिक रूप ।

होत्रा = हु+तृच् (तृ) + टाप् (आ) ।

प्रीतः = प्री + क्त (त)+ टाप् (आ) ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

- असत् = अस् लेट, प्र०पु०, एक० ।  
 यविष्ठ = युवन् + इष्ठन् (इष्ठ), 'युवन्' को 'यव्' आदेश ।  
 असाम = अस्, लोट्, उ०पु., बहु० ।  
 विधतः = विध् + शतृ (अत), ष०एक० ।  
 वृधासः = वृध् + क (अ), प्र०बहु० का वैदिक रूप ।

मण्डल-४

सूक्त-२

मन्त्र-११

संहिता पाठ

चित्तिमचि॒त्तिं चि॒नव॒द्विवि॒द्वान् पृ॒ष्ठेव॑ वी॒ता वृ॒जि॒ना च॒ मर्ता॑न् ।  
 रा॒ये च॑ नः स्व॒प॒त्याय॑ दे॒व दि॒तिं च॒ रा॒स्वादिति॑मु॒रुष्य॑ ॥११॥

पदपाठ -

चित्ति॑म् । अचि॒त्तिम् । चि॒नवत् । वि । वि॒द्वान् । पृ॒ष्ठाऽइ॒वं । वी॒ता । वृ॒जि॒ना । च॒ । मर्ता॑न् । रा॒ये ।  
 च॒ । नः । सु॒ऽअ॒प॒त्याय॑ । दे॒व । दि॒तिम् । च॒ । रा॒स्व । अ॒दि॒तिम् । उ॒रु॒ष्य ॥  
 अन्वय - वि॒क्षन् (अग्निः) चि॒त्तिम् अचि॒त्तिम् वि चि॒नवत्, वी॒ता वृ॒जि॒ना च पृ॒ष्ठा इ॒व  
 मर्ता॑न् (वि चि॒नवत्), दे॒व, स्व॒प॒त्याय॑ रा॒ये च दि॒तिम् रा॒स्व, अ॒दि॒तिम् च उ॒रु॒ष्य ।

दयानन्द भाष्य -

(चित्तिम्) कृतचयनां क्रियाम् (अचि॒त्तिम्) अकृतचयनाम् (चि॒नवत्) चिनुयात्  
 (धि) (वि॒द्वान्) (पृ॒ष्ठेव) पृष्ठानीव (वी॒ता) वीतानि प्राप्तानि (वृ॒जि॒ना) वृजिनानि बलानि  
 (च) (मर्ता॑न्) मनुष्यान् (रा॒ये) धनाय (च) (नः) अस्माकम् (स्व॒प॒त्याय॑) शोभनान्यपत्यानि  
 यस्मात्तस्मै (दे॒व) वि॒द्वन् (दि॒तिम्) खण्डितां क्रियाम् (च) (रा॒स्व) देहि (अ॒दि॒तिम्) नाशरहिताम्  
 (उ॒रु॒ष्य) सेवस्व ॥

भावार्थ - अत्रोपमालङ्कारः । यथोष्ट्रादयः पृष्ठैर्भारं वहन्ति तथैव बलिष्ठा जनाः सर्वं व्यवहारभारं  
 वहन्ति व्यवहारे यस्य खण्डनं यस्य च मण्डनं कर्तव्यं स्यात्तत्तस्य तथैव कार्य्यम् ॥

हि०भावार्थः - इस मन्त्र में उपमा अलङ्कार है । जैसे ऊँट आदि पीठों से भार को ले चलते  
 हैं, वैसे ही बलवान् पुरुष सब व्यवहार के भार को धारण करते हैं और व्यवहार में जिसका  
 खण्डन और जिसका मण्डन करने योग्य हों, वह उसका वैसा ही करना चाहिये ।

सायण भाष्य -

वि॒द्वान् प्रा॒णिनां पु॒ण्यपा॒परूपा॒णि कर्मा॑णि जानानः सोऽग्निश्चित्तिं ज्ञातव्यं  
 पु॒ण्यमचि॒त्तिमनु॒पादे॒यत्वेना॒चेतनी॑यं पापम् । यद्वा । चि॒त्तिं ज्ञानमचि॒त्तिमज्ञानं॑ विचि॒नवत् ।  
 विचि॒नोतु । पृथक् करोतु । तत्र दृष्टान्तः । पृ॒ष्ठेव । यथाश्वपालोऽश्वानां वी॒ता कान्ता॑नि  
 वृ॒जि॒ना दुर्वहा॑णि च पृ॒ष्ठा पृ॒ष्ठानि ज्ञेयोपादे॒यत्वेन॑ पृथक् करोति तदवत् । किं च मर्ता॑न्  
 पु॒ण्यकृतोऽपु॒ण्यकृतश्च॑ मनुष्यान् पृथक् करोतु । हे दे॒वाग्ने स्व॒प॒त्याय॑ शोभनपुत्रोपेताय रा॒ये  
 धना॑य नोऽस्मान् कुरु । दि॒तिं दा॒तारं च॑ रा॒स्व । दे॒हि । अ॒दि॒तिम् । पञ्चम्यर्थे द्वितीया ।



## अग्नि सूक्त ( मण्डल-४, सूक्त-२ )

अदातुः सकाशादुरुष्य रक्ष ।

शब्दा० — विद्वान् = जानकार, चित्तिम् = ज्ञान को, अचित्तिम् = अज्ञान को, विचिनवत् = परस्पर विविक्त (पृथक्) करे, वीता = सुन्दर (चढ़ने योग्य), वृजिना = दुर्वह (न चढ़ने योग्य), पृष्ठा = पीठों, मर्त्तान् = मनुष्यों को, स्वपत्याय = अच्छी सन्तान से युक्त, राये = धन या समृद्धि के लिए, दितिम् = दाता को, रास्व = दीजिए, अदितिम् = अदाता को, उरुष्य = दूर कीजिए अर्थात् उससे रक्षा कीजिए ।।

हिन्दी व्याख्या — विद्वान् अग्नि ज्ञान और अज्ञान को परस्पर विविक्त (पृथक्) करे अर्थात् ज्ञानयुक्त एवं अज्ञानयुक्त व्यक्तियों को पृथक्-पृथक् समझे, वह सुन्दर अर्थात् चढ़ने योग्य एवं दुर्वह अर्थात् न चढ़ने योग्य पीठों के समान मनुष्यों को परस्पर विविक्त करे अर्थात् जिस प्रकार अश्व-पास चढ़ने योग्य और न चढ़ने योग्य घोड़ों की पीठों को अलग अलग छाँट लेता है उसी प्रकार अग्नि उपयोगी एवं अनुपयोगी मनुष्यों को पृथक् पृथक् समझे । हे देव, अच्छी सन्तान से युक्त हमारी समृद्धि के लिए हमें दाता को दो और अदाता को दूर करो अर्थात् उससे हमारी रक्षा करो ।

व्याकरण —

चिनवत् = चि, लेट्, प्र०पु०, एक० ।

वीता = वीत, द्वि०बहु० का वैदिक रूप ।

वृजिना = वृजिन, द्वि०बहु० का वैदिक रूप ।

पृष्ठा = पृष्ठ, द्वि०बहु० का वैदिक रूप ।

रास्व = रा, लोट्, म०पु०, एक० ।

उरुष्य = उरुष्, लोट्, म०पु०, एक० ।

मण्डल-४

सूक्त-२

मन्त्र-१२

संहिता पाठ

कविं शशासुः कवयोऽदब्धा निधारयन्तो दुर्यास्वायोः ।

अतस्त्वं दृश्याँ अग्न एतान् षड्भिः पश्येरद्भुताँ अर्य एवैः ।।१२।।

पदपाठ —

कविम् । शशासुः । कवयः । अदब्धाः । निधारयन्तः । दुर्यासु । आयोः । अतः त्वम् दृश्यान् अग्ने । एतान् । षड्भिः । पश्येः । अद्भुतान् । अर्यः । एवैः ।।

अन्वय — अग्ने आयोः दुर्यासुः निधारयन्तः अदब्धाः कवयः कविम् शशासुः, अतः अर्यः त्वम् दृश्यान् अद्भुतान् एतान् एवैः षड्भिः पश्येः ।

दयानन्द भाष्य —

(कविम्) कान्तप्रज्ञं मेधाविनम् (शशासुः) शासति (कवयः) प्राज्ञा विपश्चितः (अदब्धाः) अहिंसनीयाः (निधारयन्तः) (दुर्यासु) गृहेषु (आयोः) जीवनस्य (अतः) (त्वम्)



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

(दृश्यान्) द्रष्टव्यान् (अग्ने) अग्निरिव प्रकाशमानविद्य (एतान्) प्रत्यक्षान् (षड्भिः) विज्ञानादिभिः (पश्येः) (अद्भुतान्) आश्चर्यगुणकर्म स्वभावान् (अर्यः) (एवैः) प्राप्तैः ।।

भावार्थ — अत्र वाचकलु० — हे राजन् येऽध्यापकोपदेशका बुद्धिमन्तोऽध्याप-  
यन्त्युपदिशन्ति तान्त्सदैव सत्कुरु यतो मनुष्या आश्चर्यगुणकर्मस्वभावाः स्युः ।

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलु० — हे मनुष्यो! जो अध्यापक और उपदेशक लोग बुद्धिमान् पुरुषों को पढ़ाते और उपदेश देते हैं, उनका सदा ही सत्कार करो, जिससे कि मनुष्य लोग आश्चर्ययुक्त गुण कर्म और स्वभाव वाले होंगे ।।

### सायण भाष्य —

हे अग्ने, आयोः मनुष्यस्य दुर्यासु गृहेष्वदब्धाः केनाप्यतिरस्कृता निधारयन्तः निवसन्तः कवयः क्रान्तदृशो देवाः कविं मेधाविनं त्वां शशासुः । होता भवेति शशंसुः । अतः कारणादर्यो यज्ञस्य स्वामी त्वं दृश्यान् दर्शनीयानद्भुतानाश्चर्यरूपोपेतान्द्रादीनेतान् देवानेवैर्गमनशीलैः षड्भिः पादैः स्वतेजोभिः पश्येः जानीयाः ।

शब्दा० — आयोः = मनुष्य के, दुर्यासु = घरों में, निऽधारयन्तः = निवास करने वाले, अदब्धाः = अतिरस्कृत, सम्मानित, कवयः = देव, ऋषि, कविम् = विद्वान् को, देव को, शशासुः = प्रशंसा करते हैं, अर्यः = श्रेष्ठ, दृश्यान् = दर्शनीयों को, अद्भुतान् = विलक्षणों को, एवैः = गमनशील, षड्भिः = पैरों से, किरणों से, पश्येः = देखिए, स्पर्श कीजिए ।।

हिन्दी व्याख्या — हे अग्ने, मनुष्य के घरों में निवास करने वाले अतिरस्कृत या सम्मानित देव (गृह देव) विद्वान् या देव की (तुम्हारी) प्रशंसा करते हैं, अतः श्रेष्ठ तुम दर्शनीय इन देवों को अपनी गमनशील किरणों से देखो या स्पर्श करो अर्थात् उनके उक्त भाव को देखते हुए उनके प्रति अपनी आत्मीयता प्रदर्शित करो ।

### व्याकरण —

दुर्यासु	= दुर्+या+क्विप् (×), स० बहु० ।
निधारयन्तः	= नि+ण्यन्त 'धृ' (धारय)+शतृ (अत्), प्र०बहु० ।
अदब्धा	= नञ् (अ)+दम्भ्+क्त(त) 'म्' का लोप, प्र०बहु० ।
शशासुः	= शास्, लिट्, प्र०पु०, बहु० ।
दृश्यान्	= दृश्+क्यप् (य), प्र०बहु० ।
एवैः	= इ+व, 'इ' को 'ए' गुण, तृ०बहु० ।
पश्येः	= दृश् (पश्य) वि, लिङ्, म०पु०, एक० ।

मण्डल—४

सूक्त—२

मन्त्र—१३

संहिता पाठ

त्वमग्ने वाघते सुप्रणीतिः सुतसोमाय विधत्ते यंविष्ट ।

रत्नं भर शशमानाय घृष्वे पृथुश्चन्द्रमवसे चर्षणिप्राः ।।१३।।



## अग्नि सूक्त ( मण्डल-४, सूक्त-२ )

पदपाठ —

त्वम् । अग्ने । वाघते । सुप्रणीतिः । सुतसोमाय । विधते । यंविष्ट । रत्नम् । भर । शशमानाय । घृष्वे । पृथुः । चन्द्रम् । अवसे । चर्षणिप्राः ।।

अन्वय — यविष्ट घृष्वे अग्ने, चर्षणिप्राः सुप्रणीतिः त्वम् सुतसोमाय विधते शशमानाय वाघते पृथु चन्द्रम् रत्नम् अवसे भर ।

दयानन्द भाष्य —

(त्वम्) (अग्ने) अग्निरिव पूर्णविद्यया प्रकाशमान (वाघते) मेधाविने (सुप्रणीतिः) सुष्ठु प्रगता नीतिर्येन सः (सुतसोमाय) सुतः सोम ऐश्वर्यमोषधिरसो वा येन तस्मै (विधते) विविधव्यवहारं यथावत्कुर्वते (यविष्ट) अतिशयेन युवन् (रत्नम्) रमणीयं धनम् (भर) धर (शशमानाय) सर्वेषां दुःखानामुल्लङ्घकाय (घृष्वे) पदार्थानां सङ्घर्षक (पृथु) विस्तीर्णपुरुषार्थः (चन्द्रम्) आह्लादकरं सुवर्णम् (अवसे) रक्षणाद्याय (चर्षणिप्राः) यश्चर्षणीन् मनुष्यान् प्राति व्याप्नोति सः ।।

भावार्थ — हे राजन् ये धार्मिकाः शूरा विद्वांसः शत्रुबलस्योल्लङ्घकाः परस्परं पदार्थघर्षणेन विद्युदादिविद्याप्रकाशका मनुष्यरक्षका अमात्यादयो भृत्याः स्युस्तदर्थमैश्वर्यं सततं धर ।

हि०भावार्थ — हे राजन् जो धार्मिक शूरवीर विद्वान् लोग शत्रु के बल के उल्लङ्घन करने परस्पर पदार्थों के घिसने से बिजुली आदि की विद्या के प्रकाश करने और मनुष्यों की रक्षा करने वाले मंत्री आदि नौकर हों उनके लिये ऐश्वर्य निरन्तर धारण करो ।

सायण भाष्य —

हे यविष्ट युक्तम घृष्वे दीप्तियुक्त । यद्वा परेषां घर्षणशील हे अग्ने चर्षणिप्राः अपेक्षितफलप्रदानेन मनुष्याणां कामपूरकः सुप्रणीतिः सष्टूत्तरवेद्यां प्रणनीयत्वं सुतसोमाय विधते तव परिचरणं कुर्वते शशमानाय त्वां स्तुवते बाघते यज्ञनिर्वाहकाय यजमानाय पृथु प्रभूतं चन्द्रमाह्लादकारि रत्नमुत्तमं धनमवसे रक्षणाय भर । आहर । प्रयच्छेत्यर्थः । सुप्रणीतिः । णीञ् प्रापणे । कर्मणि क्तिन् । तादौ च निति कृतीत्यनन्तरप्रशब्द स्योदात्तत्वम् । पृथुश्चन्द्रमत्यत्र संहितायां हस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे इति सूडागमः । श्चुत्वेन शकारः ।

शब्दा० — यविष्ट = अतिशयित युवा या युवकों में श्रेष्ठ, घृष्वे = घर्षणशील या घर्षण से उत्पन्न, चर्षणिप्राः = मनुष्यों का पालन करने वाला या मनुष्यों के मनोरथों की पूर्ति करने वाला, सुप्रणीतिः = अच्छी तरह वेदी पर प्रणीत स्थापित किया जाने वाला, सुतसोमाय = सोम का सवन (निचोड़ना) करने वाले के लिए, विधते = यज्ञ-विधान करने वाले के लिए, परिचर्या करने वाले के लिए, शशमानाय = स्तुति करने वाले के लिए, वाघते = यज्ञनिर्वाहक के लिए, पृथुः = विपुल, चन्द्रम् = आह्लादक, रत्नम् = उत्तम धन को, अवसे = रक्षा के लिए, भर = लाओ, दो ।

हिन्दी व्याख्या — हे अतिशयित रूप से युवा या युवकों में श्रेष्ठ एवं घर्षणशील या घर्षण से उत्पन्न अग्ने, मनुष्यों को पालन या उनके मनोरथों की पूर्ति करने वाले एवं अच्छी तरह



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

वेदी पर स्थापित किए जाने वाले तुम सोम का सवन (निचोड़ना) करने वाले एवं यज्ञ-निर्वाहक (यजमान्) के लिए विपुल एवं आह्लादक उत्तम धन उसके रक्षण के लिए लाओ अर्थात् दो।

व्याकरण —

यविष्ठ	= युवन्+इष्ठन् (इष्ठ), 'युवन्' को 'यव्' आदेश।
घृष्वे	= घृष्+क्वि (व), सं०प्र०एक०।
चर्षणिप्राः	= चर्षणि+पृ+आङ् (आ)।
सुप्रणीतिः	= यु+प्र+नी+क्तिन् (ति)।
सुत	= सु (सु)+क्त(त)।
विधते	= विध्+शतृ (अत्) च०एक०।
शशमानाय	= शम्+कानच् (आन), धातु को द्वित्व एवं अभ्यास कार्य से 'शशम्' च०एक०।
वाघते	= वाघ्+शतृ (अत्), च०एक०।
अवसे	= अव्+असुन् (अस), च०एक०।
भर	= भृ, लोट्, म०पु०, एक०।

मण्डल—४

सूक्त—२

मन्त्र—१४

संहिता पाठ

अधां ह यद्वयमग्ने त्वाया पङ्भिर्हस्तेभिश्चकृमा तनूभिः।

रथं न क्रन्तो अपसा भुरिजोऽऋतं येमुः सुध्यं आशुषाणाः॥१४॥

पदपाठ —

अधां ह। यत्। वयम्। अग्ने। त्वाऽया। पङ्भिः। हस्तेभिः। चकृम। तनूभिः। रथम्। न। क्रन्तः। अपसा। भुरिजोः। ऋतम्। येमुः। सुध्यः। आशुषाणाः॥

अन्वय — अध अग्ने वयम् त्वाया पङ्भिः हस्तेभिः तनूभिः त् ह चकृम, सुध्यः अशुषाणाः भुरिजोः अपसा क्रन्त रथम् न ऋतम् येमुः।

दयानन्द भाष्य —

(अध) अथ। अत्र निपातस्य चेति दीर्घः (ह) किल (यत्) यम् (वयम्) (अग्ने) पावकवद्वर्तमान राजन् (त्वाया) त्वां प्राप्ता। अत्र विभक्तेराकारादेशः (पङ्भिः) पादैः। अत्र वर्णव्यत्ययेन दस्य डः (हस्तेभिः) (चकृम) कुर्याम्। अत्र संहितायामिति दीर्घः (तनूभिः) शरीरैः (रथम्) विमानादियानम् (न) इव (क्रन्तः) क्रमकः (अपसा) कर्मणा (भुरिजोः) धारकपोषकयोः (ऋतम्) सत्यम् (येमुः) यच्छेयुः (सुध्यः) शोभना धीर्येषान्ते (आशुषाणाः) सद्यो विभाजकाः।



## अग्नि सूक्त ( मण्डल-४, सूक्त-२ )

**भावार्थ** — अत्रोपमालङ्कारः । मनुष्यैरालस्यं विहाय शरीरादिभिः पुरुषार्थं सदैवाऽनुष्ठाय प्रजाराज्ययोर्धर्म्येण नियमः कर्तव्यो येन सर्व आढ्याः स्युः ॥

**हि०भावार्थ** — इस मन्त्र में उपमा अलङ्कार है — मनुष्यों को चाहिये कि आलस्य त्याग के शरीरादिकों से पुरुषार्थ को सदा ही करके प्रजा और राज्य का धर्म से नियम करें, जिससे सब लोग धन युक्त हों।

**सायण भाष्य** —

हे अग्ने अधा ह अथ खलु वयं त्वाया त्वत्कामनया षड्भिः पादैः हस्तेभिर्हस्तैस्तनूभिरन्यैश्चावयवैश्चकृम यद् यस्मात्कारणात् कर्मसिद्ध्यर्थं त्वामुपपादयामस्त—स्मात्सुध्यः सुकर्माणः आशुषाणाः कर्माणि व्याप्नुवन्तस्तेऽङ्गिरस ऋतं सत्यभूतं त्वां भुरिजोः । बिभृतः कर्मकरणसामर्थ्यं पदार्थान् वेति भुरिजौ बाहू । तयोरपसा मन्थनाख्येन कर्मणा येमुः । उद्यच्छन्ति । तत्र दृष्टान्तः । रथं न । यथा क्रन्तः कारवः शिल्पिनः क्रामन्तोऽध्वगा वा हस्तयोर्यथा रथमुद्यच्छन्ति तद्वत् । यद्वा । भुरिजोः देवान्मनुष्यांश्च बिभृत इति भुरिजौ द्यावापृथिव्यौ । तयोर्मध्येऽपसा परिचरणकर्मणा सत्यभूतं तमग्निं येमुः । उद्यच्छन्ति ।

**शब्दा०** — अध = और, त्वाया = तुम्हारी कामना से, षड्भिः = पैरों से, हस्तेभिः = हाथों से, तनूभिः = अंगों से, यत् = जो, ह = सचमुच, चकृम = करते हैं, सुध्यः = अच्छी भावना वाले, आशुषाणाः = सिद्धि प्राप्त करने वाले (अंगिरा आदि), भुरिजोः = भुजाओं के, अपसा = कर्म, क्रन्तः = शिल्पी, न = समान, ऋतम् = सत्यभूत को, येमुः = उत्पन्न किया ।

**हिन्दी व्याख्या** — और हे अग्ने, हम तुम्हारी कामना से अर्थात् तुम्हें प्राप्त करने की इच्छा से अपने पैरों, हाथों एवं अन्य अंगों से सचमुच जो करते हैं, (वही करते हुए) अच्छी भावना वाले एवं सिद्धि प्राप्त करने वाले अंगिरा आदि ने अपनी भुजाओं के कर्म से सत्यभूत तुमको उसी प्रकार उत्पन्न किया जिस प्रकार शिल्पी रथ का उत्पादन या निर्माण करते हैं ।

**व्याकरण** —

त्वाया	= युष्मद्+क्यच् (य)+टाप्(आ), 'युष्म' को 'त्व' आदेश, 'द्' को 'आ', तृ०एक० क वैदिक रूप ।
हस्तेभिः	= हस्त, तृ०बहु०का वैदिक रूप ।
चकृम	= कृ, लिट्, उ०पु०, बहु० ।
सुध्यः	= सुधी, प्र०बहु० का वैदिक रूप ।
आशुषाणः	= आ+शुष्+शानच् (आन), प्र०बहु० ।
भुरिजोः	= ऋ+इजि (इज), 'ऋ' को रपर 'उ' (उर्), ष०द्वि० ।
क्रन्तः	= कृ+उ+शतृ (अत्, विकरण 'उ' का वैदिक लोप, प्र०बहु० ।
येमुः	= यम्, लिट्, प्र०पु०, बहु० ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

मण्डल-४

सूक्त-२

मन्त्र-१५

संहिता पाठ

अधा मातुरुषसः सप्त विप्रा जायेमहि प्रथमा वेधसो नृन् ।

दिवस्पुत्रा अङ्गिरसो भवेमाद्रिं रुजेम धनिनं शुचन्तः ॥१५॥

पदपाठ -

अधं । मातुः । उषसः । सप्त । विप्राः । जायेमहि । प्रथमाः । वेधसः । नृन् । दिवः । पुत्राः । अङ्गिरसः । भवेम । अद्रिम् । रुजेम । धनिनम् । शुचन्तः ॥

अन्वय - अध नृन् प्रथमा वेधसः (वयम्) सदा विप्राः मातुः उषसः जायेमहि, (वयम्) दिवस्पुत्राः अङ्गिरसः भवेम, शुचन्तः (वयम्) धनिनम् अद्रिम् रुजेम ।

दयानन्द भाष्य -

(अध) आनन्तर्ये (मातुः) मातृवद्वर्तमानाया विद्यायाः (उषसः) प्रभातवेलाया दिनमिव (सप्त) राजप्रधानाऽमात्यसेनाध्यक्षप्रजाचारा (विप्राः) धीमन्तः (जायेमहि) (प्रथमाः) प्रख्याता आदिमाः (वेधसः) प्राज्ञान् (नृन्) नायकान् (दिवः) प्रकाशस्य (पुत्राः) तनयाः (अङ्गिरसः) प्राणा इव (भवेम) (अद्रिम्) मेघमिव शत्रुम् (रुजेम) प्रभङ्गान् कुर्याम (धनिनम्) बहुधनवन्तं प्रजास्थम् (शुचन्तः) विद्याविनयाभ्यां पवित्राः ॥

भावार्थ - अत्र वाचकलु० - ये राजानो बुद्धिमतोऽमात्यान् सत्कृत्य रक्षन्ति ते सूर्य इव प्रकाशितकीर्तयो भवन्ति सर्वदैव व्यवसायिनो रक्षित्वा दुष्टान् सततं ताडयेयुर्येन सर्वे पवित्राचाराः स्युः ।

हि०भावार्थ - इस मन्त्र में वाचकलु०-जो राजा लोग बुद्धिमान् मन्त्रियों का सत्कार करके रक्षा करते हैं। वे सूर्य के सदृश प्रकाशित यश वाले होते हैं और सभी काल में उद्योगियों की रक्षा और दुष्टों का निरन्तर ताड़न करें ताकि सब शुद्ध आचरण वाले हों सायण भाष्य -

वामदेवोऽन्यैः षड्भिरङ्गिरोभिः सह ब्रूते । अधापि च मातुरुषसः सकाशात् सप्त सप्तसंख्याका विप्राः प्राज्ञा वयं स्मः । प्रथमाः श्रेष्ठा वयं वेधसोऽग्नेः परिचारकानृन् वेधसो विधातृन् रश्मीन् वा जायेमहि । वयं जनयामः । दिवः द्योतमानस्यादित्यस्य पुत्रा वयमङ्गिरसो भवेम भूतिमन्तः स्याम । शुचन्तो दीप्यमाना वयं धनिनमुदकवन्तमाद्रिं मेघं रुजेम वर्षार्थं भिन्द्याम । यद्वा धनिनंपणिनामका- सुरापहतगोधनयुक्तमाद्रिं पर्वतं रुजेम ।

शब्दा० - अध = और, नृन् = (अग्नि की) किरणों को, प्रथमाः = प्रथम, वेधसः = उत्पन्न करने वाले, विप्राः = मेधावी ऋषि, जायेमहि = उत्पन्न होते हैं, दिवस्पुत्राः = 'द्यौस' देव या द्युलोक के पुत्र, अङ्गिरसः = इस नाम वाले ऋषि, भवेम = होते हैं, शुचन्तः = अग्नि से दीप्यमान होते हुए, धनिनम् = धन से युक्त, अद्रिम् = पर्वत या राशि (ढेर) को, रुजेम = फोड़े ।



**अग्नि सूक्त (मण्डल-४, सूक्त-२)**

हिन्दी व्याख्या — और अग्नि की किरणों को सबसे पहले उत्पन्न करने वाले हम सात (वामदेव और छः अंगिरा) प्राज्ञ या मेधावी ऋषि माता उषस् से उत्पन्न हुए हैं, हम 'द्यौस' देव या द्युलोक के पुत्र अङ्गिरस अर्थात् अग्नि के उपासक होंगे। अग्नि से दीप्यमान् होते हुए हम धन से युक्त पर्वत अर्थात् राशि या ढेर को फोड़ें अर्थात् अग्नि की उपासना के द्वारा धनराशि प्राप्त करें।

व्याकरण —

वेधसः	=	वि+धा+असि=(अत्), 'विधा' को 'वेध' आदेश, प्र०बहु।
जायेमहि	=	जन्, वि०लिङ्, उ०पु०, बहु०।
दिवस्पुत्राः	=	दिवः पुत्राः अलुक् षष्ठी तत्पुरुष समास।
शुचन्तः	=	शुच्+शतृ (अत्) प्र०बहु०।
रुजेम	=	रुज्, वि०लिङ्, उ०पु०, बहु०।

मण्डल-४

सूक्त-२

मन्त्र-१६

संहिता पाठ

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः।

शुचीदयन्दीधितिमुक्थशासः क्षामाः भिन्दन्तो अरुणीरपं व्रन् ॥१६॥

पदपाठ —

अधं । यथा । नः । पितरः । परासः । प्रत्नासः । अग्ने । ऋतम् । आशुषाणाः । शुचिं । इत् । अयन् । दीधितिम् । उक्थशासः । क्षामं । भिन्दन्तः । अरुणीः । अपं । व्रन् ॥

अन्वय — अध, अग्ने, परासः प्रत्नासः नः पितरः ऋतम् यथा आशुषाणाः शुचि इत् दीधितिम् अयन्, उक्थपासः (ते) क्षाम भिन्दन्तः अरुणीः अपव्रन् ।

दयानन्द भाष्य —

(अध) आनन्तर्ये । अत्र निपातस्य चेति दीर्घः (यथा) येन प्रकारेण (नः) अस्माकम् (पितरः) जनकाः (परासः) भविष्यन्तः (प्रत्नासः) भूताः (अग्ने) पावकवद्वर्त्तमान राजन् (ऋतम्) सत्यं न्याय्यम् (आशुषाणाः) समन्ताद्विभजन्तः (शुचि) पवित्रं शुद्धिकरम् (इत्) एव (अयन्) प्राप्नुवन्ति (दीधितिम्) नीतिप्रकाशम् (उक्थशासः) प्रशंसितशासनाः (क्षाम) पृथिवीम् । क्षामेति पृथिवीनाम् । निघं० १।१ । अत्र संहितायामिति दीर्घः (भिन्दन्तः) विदृणन्तः (अरुणीः) प्राप्ताः प्रजाः (अप) (व्रन्) वृणुयुः ॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः — यो राजा राजपुरुषाश्च प्रजासु पितृवद्वर्त्तित्वा सत्यं न्यायं प्रकाश्याऽविद्यां निवार्य प्रजाः शिक्षन्ते ते पवित्रा गण्यन्ते ।

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है । जो राजा और राजपुरुष प्रजाओं में पिता के सदृश वर्त्ताव करके सत्यन्याय का प्रकाश कर और अविद्या को दूर करके प्रजाओं को शिक्षा देते हैं, वे पवित्र गिने जाते हैं ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****सायण भाष्य -**

हे अग्ने अधापिच परासः प्रत्नासः पुराणाऋतं सत्यभूतं यज्ञं यथा यथावदाशुषाणाः अशुवाना नोऽस्माकं पितरोऽङ्गिरसः शुचि दीप्तं स्थानमयन् । अगच्छन् । तथा दीधितिं तेजश्चागच्छन् । किञ्च उक्थशासः उक्थानां शस्त्राणां शंसितारः क्षाम क्षयकारणं तमः पापं वा भिन्दन्तो विनाशयन्तोऽङ्गिरसोऽरुणीररुण- वर्णाः पणिभिरपहता गा उषसो वा अप व्रन् । अपावृण्वन् प्रकाशितवन्त इत्यर्थः ।

**शब्दा० -** अध = और, परासः = श्रेष्ठ, प्रत्नासः = प्राचीन, पूर्ववर्ती, ऋतम् = सत्यभूत यज्ञ को, यथा = यथावत्, आशुषाणाः = प्राप्त करते हुए, शुचि = पवित्र या दीप्ति, इत् = ही, दीधितिम् = कान्ति या तेज को, अयन् = प्राप्त किया, उक्थशासः = स्तोत्रों का उच्चारण करने वाले, क्षाम = क्षय के कारण तम को, भिदन्तः = भेदते या नष्ट करते हुए, अरुणीः = अरुण वर्ण की किरणों को या ज्वालाओं को, अपव्रन् = उद्घाटित या प्रकाशित किया ।

**हिन्दी व्याख्या -** और, हे अग्ने, हमारे श्रेष्ठ और प्राचीन (बहुत पहले के) पितरों ने सत्यभूत यज्ञ को यथावत् प्राप्त करते हुए पवित्र या दीप्त ही कान्ति या तेज को प्राप्त किया; स्तोत्रों का उच्चारण करने वाले उन पितरों ने विनाशक तम को भेदते हुए लाल रंग की किरणों या ज्वालाओं को उद्घाटित या प्रकाशित किया ।

**व्याकरण -**

परासः	= पर, प्र०बहु० का वैदिक रूप ।
प्रत्नासः	= प्रत्न, प्र०बहु० का वैदिक रूप ।
आशुषाणाः	= आ+शुष्+शानच् (आन), प्र०बहु० ।
शुचि	= शुचि, द्वि०एक० का वैदिक रूप ।
अयत्	= इ, लङ्, प्र०पु०, बहु० ।
उक्थशासः	= उक्थ+शंस+ष्विन्(×), अनुनासिक का लोप, उपधा के 'अ' को 'आ' वृद्धि, प्र०बहु० ।
क्षाम	= क्षै (क्षा)+(त = म), द्वि०एक० का वैदिक रूप ।
भिन्दन्तः	= भिद्+शतृ (अत्), 'भि' और 'द' के बीच में श्नम् (न), 'न' के 'अ' का लोप, प्र०बहु० ।
वन्	= वृ, लुङ्, प्र०पु०, बहु० का वैदिक रूप ।

मण्डल-४

सूक्त-२

मन्त्र-१७

संहिता पाठ

सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तोऽयो न देवा जनिमा धमन्तः ।

शुचन्तो अग्निं ववृधन्त इन्द्रमूर्ध्वं गव्यं परिषदन्तो अगमन् ॥१७॥



पदपाठ —

सुऽकर्माणः । सुऽरुचः । देवयन्तः । अयः । न । देवाः । जनिम । धमन्तः । शुचन्तः । अग्निम् ।  
ववृधन्तः । इन्द्रम् । ऊर्वम् । गव्यम् । परिऽसदन्तः । अग्मन् ।।

अन्वय — सुकर्माणः सुरुचः देवयन्तः देवाः जनिमः अयः न धमन्तः, अग्निम् सुचन्तः  
इन्द्रम् ववृधन्तः परिषदन्तः ऊर्वम् गव्यम् अग्मन् ।

दयानन्द भाष्य —

(सुकर्माणः) शोभनानि कर्माणि येषान्ते (सुरुचः) सुष्ठ रुचः प्रीतयो येषान्ते  
(देवयन्तः) कामयमानाः (अयः) सुवर्णम् (न) इव (देवाः) विद्वांसः (जनिम) जन्म । अत्र  
संहितायामिति दीर्घः (धमन्तः) कम्पयन्तः (शुचन्तः) पवित्रा चरणं कुर्वन्तः कारयन्तः  
(अग्नि) प्रसिद्धपावकम् (ववृधन्त) वर्धयन्ति (इन्द्रम्) विद्युतम् (ऊर्वम्) हिंसकम् (गव्यम्)  
गोमयं वाङ्मयम् (परिषदन्तः) परिषदमाचरन्तः (अग्मन्) गच्छन्ति ।

भावार्थ — अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ । सर्वैर्मनुष्यैर्धर्म्याणि कर्माणि कृत्वा विद्यायां  
सभायां च रुचिं जनयित्वा पवित्रता कामयमाना विद्याजन्मना वर्धमाना विद्युदादिविद्या—  
मुनयन्तस्साम्राज्यं कृत्वानन्दः सततं भोक्तव्यः ।।

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार हैं । सब मनुष्यों को चाहिये  
कि धर्मयुक्त कर्मों को करके विद्या और सभा में प्रीति उत्पन्न करके पवित्रता की कामना  
करते हुए विद्या और जन्म से बढ़ने वाले बिजुली आदि की विद्या को बढ़ाते हुए चक्रवर्ती  
राज्य करके आनन्द का निरन्तर भोग करें ।

सायण भाष्य —

सुकर्माणः सुष्ठ्वनुष्ठितयागादिकर्माणः सुरुचः शोभनदीप्तयो देवयन्तो देवान्  
कामयमाना देवा देवनशीलाः स्तोतारो जनिम स्वकीयं मानुषं जन्म धमन्तो यागादिलक्षणेन  
कर्मणा निर्मलीकुर्वन्तः । तत्र दृष्टान्तः । अयो न । यथा कर्मारा अयो भस्त्रेण धमन्ति तद्वत् ।  
तादृशाः अग्निं शुचन्तो हविर्भिर्दीपयन्तः इन्द्रं ववृधन्तः सोमेन स्तुत्या वा वर्धयन्तोऽङ्गिरसः  
परिषदन्तः परितः सीदन्तः सन्तः ऊर्वं महान्तं गव्यं गोसंघमग्मन् प्राप्नुवन् ।

शब्दा० — सुकर्माणः = अच्छे कर्म करने वाले, सुरुचः = अच्छी कान्ति वाले, देवयन्तः  
= देवों को आतमीय (अपना) बनाने के इच्छुक, देवाः = विद्वान् स्तोताओं ने, जनिम =  
जन्म को, जीवन को, अयः = लोहा, न = समान, धमन्तः = धौंकते हुए, तपाकर निर्मल  
बनाते हुए, शुचन्तः = दीप्त करते हुए, ववृधन्तः = बढ़ाते हुए, परिषदन्तः = वेदी के चारों  
ओर बैठते हुए, ऊर्वम् = विशाल, गव्यम् = गो समूह को, अग्मन् = प्राप्त किया ।

हिन्दी व्याख्या — अच्छे कर्म करने वाले, अच्छी कान्ति वाले, देवों को आत्मीय बनाने के  
इच्छुक विद्वान् स्तोताओं (यजमानों) ने अपने जीवन को लोहे के समान तपाकर निर्मल  
बनाते हुए, अग्नि को दीप्त करते हुए, इन्द्र को बढ़ाते हुए एवं वेदी के चारों ओर बैठते  
हुए विशाल गो समूह को प्राप्त किया अर्थात् उक्त साधनों से विपुल समृद्धि प्राप्त की ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****व्याकरण —**

देवयन्तः	=	देव+क्यच् (य)+शतृ(अत्), 'देव' के अन्तिम 'अ' को 'ईत्व' का वैदिक अभाव, प्र०बहु० ।
जनिम	=	जन्+इमन्, नपुं, द्वि०एक०
धमन्तः	=	ध्मा(धम्) = शतृ (अत्), प्र०बहु० ।
शुचन्तः	=	शुच्+शतृ (अत्), प्र०बहु०
ववृधन्तः	=	वृध्+शतृ (अत्), धातु को वैदिक द्वित्व एवं अभ्यास कार्य से 'ववृध्', प्र०बहु०
परिषदन्तः	=	परि+सद्+शतृ (अत्), 'सद्' की 'सीद्' का न होना वैदिक, 'स' को 'ष्' प्र०बहु०
गव्यम्	=	गो+य, 'ओ' का 'अव्' ।
अगमन्	=	गम्, लुङ्, प्र बहु० का वैदिक रूप है ।

मण्डल—४

सूक्त—२

मन्त्र—१८

**संहिता पाठ**

आ यूथेव क्षुमति पश्वो अख्यद्देवानां यज्जनिमान्त्युग्रं ।

मर्तानां चिदुर्वशीरकृप्रन्वृधे चिदर्य उपरस्यायोः ॥१८॥

**पदपाठ —**

आ । यूथाऽइव । क्षुऽमति । पश्वः । अख्यत् । देवानाम् । यत् । जनिम । अन्ति । उग्र ।  
मर्तानाम् । चित् । उर्वशीः । अकृपन् । वृधे । चित् । अर्यः । उपरस्य । आयोः ॥

अन्वय — उग्र देवानाम् यत् जनिम क्षुमति पश्वः यूथो इव अन्ति आख्यत् मर्तानाम् चित्  
वृधे उर्वशीः अकृपन् अर्यः उपरस्य आयोः (वृधे) ।

**दयानन्द भाष्य —**

(आ) समन्तात् (यूथेव) सैन्यानीव (क्षुमति) बहु क्ष्वन्नं विद्यते यस्मिंस्तस्मिन्  
(पश्वः) पशोः (अख्यत्) प्रख्याति (देवानाम्) विदुषाम् (यत्) यानि (जनिम) जन्मानि  
(अन्ति) समीपे (उग्र) तेजस्विन् (मर्तानाम्) मनुष्याणाम् (चित्) अपि (उर्वशीः) बहुव्यापिकाः ।  
उर्वशीति पदना० । निघ० ४।२ । (अकृपन्) कल्पन्ते (वृधे) वर्द्धनाय (चित्) इव (अर्यः)  
स्वामी (उपरस्य) मेघस्य (आयोः) जीवनस्य प्रापकस्य ।

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः । यन्मनुष्याणां मध्ये राजजन्म तन्महापुण्यजमिति वेद्यम् ।  
यदि राजा न स्यात्तर्हि कोपि स्वास्थ्यं न प्राप्नुयाद्यथा मेघस्य सकाशात् सर्वेषां जीवनवर्धने  
भवतस्तथैव राज्ञः सर्वस्याः प्रजायाः वृद्धिजीवने भवतः ।

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमा अलङ्कार है । जो मनुष्यों के मध्य में राजा का जन्म वह  
बड़े पुण्य से उत्पन्न हुआ ऐसा जानना चाहिये । जो राजा विद्यमान न हो तो कोई भी



स्वस्थता को नहीं प्राप्त हो और जैसे मेघ के समीप से सब का जीवन और वृद्धि होती है, वैसे ही राजा के समीप से सब प्रजा की वृद्धि और जीवन होता है।

**सायण भाष्य —**

उग्र तेजस्विन् हे अग्ने देवानामङ्गिरसां सम्बन्धि यज्जनिम यं गोसंघमन्ति पर्वतस्य समीपम् आख्यत् । आ समन्तादिन्द्रोऽपश्यत् । तत्र दृष्टान्तः । यूथेव । यथा पशवः पशूनां गवां यूथानि क्षुमत्यन्नवत्याढ्यगृहे वर्तमानानि पश्यन्ति जनास्तद्वत् । मर्तानां चिन्मनुष्याणामुर्वशीरुरुभ्यामश्नुवानाः । ताभिरानीताभिर्गोभिः क्लृप्ताः समर्था अभवन् । चिदपि च अर्यः स्वामी लब्धगोधन उपरस्पोत्स्य निषिक्तस्यापत्यस्य वृधे वर्धनाय समर्थो भवति । तथायोर्मनुष्यस्य भृत्यादेश्च पोषणे समर्थो भवति ।

**शब्दा० —** उग्र = हे तेजस्विन् अग्ने, यत् = जिस, जनिम = समूह को, अन्ति = पास में ही, क्षुमति = अन्नयुक्त स्थान पर, पशवः = पशुओं के, यूथा = समूहों को, आख्यत् = प्रदर्शित किया, मर्तानाम् = मनुष्यों के, चित् = भी, या पादपूरक निपात, वृधे = वृद्धि के लिए, उर्वशीः = गायों को, अकृपन् = प्राप्त कराया, अर्यः = स्वामी ने, उपरस्य = परवर्ती, आयोः = सन्तान की ।

**हिन्दी व्याख्या —** हे तेजस्विन् अग्ने! देवों के जिस समूह को तुमने समीप में ही उसी प्रकार प्रदर्शित किया, जिस प्रकार कोई पशुओं के समूहों को अन्नपूर्ण स्थान में प्रदर्शित करता है। (उन देवों ने) मनुष्यों की वृद्धि या उन्नति के लिए उन्हें गायों को प्राप्त कराया अर्थात् गायों को प्राप्त करने में सहायता की और उन मनुष्यों में से प्रत्येक गृहस्वामी ने अपने परवर्ती मनुष्य अर्थात् सन्तान की वृद्धि के लिए उसे गायों को प्राप्त कराया।

**व्याकरण —**

जनिम्	=	जन्+इमन् ।
क्षुमति	=	क्षु+मतुप्, सं० एक० ।
पशवः	=	पशु, सं० एक० का वैदिक रूप ।
यूथा	=	यूथ, द्वि० बहु० का वैदिक रूप ।
आख्यत्	=	ख्या, लुङ्, प्र० पु०, एक० वैदिक व्यत्यय से म० पु० के स्थान पर प्र० पु० का प्रयोग ।
अकृपन्	=	कृप्, लङ्, प्र० पु०, बहु० का वैदिक रूप ।
वृधे	=	वृध, क्विप् (×), च० एक० ।

मण्डल-४

सूक्त-२

मन्त्र-१९

संहिता पाठ

अकर्म ते स्वर्पसो अभूम ऋतमवस्रन्नुषसो विभातीः ।

अनूनमग्निं पुरुधा सुश्चन्द्रं देवस्य मर्मजतश्चारु चक्षुः ॥१९॥



पदपाठ -

अकर्म । ते । सुऽअपंसः । अभूम । ऋतम् । अवस्रन् । उषसः । विभातीः । अनूनम् । अग्निम् । पुरुधा । सुऽचन्द्रम् । देवस्य । मर्मजतः । चारु । चक्षुः ॥

अन्वय - (अग्ने वयम्) ते अकर्म, स्वपसः अभूम, विभातीः उषसः ऋतम् अनूनम् सुचन्द्रम् अग्निम् पुरुधा अवस्रन् देवस्य चारु चक्षुः मर्मजतः (स्याम) ।

दयानन्द भाष्य -

(अकर्म) कुर्याम (ते) तव (स्वपसः) सुष्ट्वपो धर्म्य कर्म कुर्याणाः (अभूम) भवेम (ऋतम्) सत्यम् (अवस्रन्) वसन्ति (उषसः) प्रभातवेलाः (विभातीः) प्रकाशयन्त्यः (अनूनम्) पुष्कलम् (अग्निम्) (पुरुधा) बहुप्रकारैः (सुश्चन्द्रम्) शोभनं चन्द्रं हिरण्यं यस्मात्तम् (देवस्य) कामयमानस्य (मर्मजतः) भृशं शोधयतः (चारु) सुन्दरम् (चक्षुः) नेत्रम् ॥

भावार्थ - हे राजन् यथा सूर्यादुत्पन्नोषा सर्वान्सुशोभितान्करोति तथैव ब्रह्मचर्येण जाता विद्वांसो वयं तवाऽऽज्ञायां यथा वर्त्तमहि तथैव भवानस्माकं हितं सततं करोतु सर्वे वयं मिलित्वाऽन्यायं निवर्त्य धर्माणि कर्माणि प्रवर्त्तयेम ॥

हि०भावार्थ - हे राजन्! जैसे सूर्य से उत्पन्न प्रातःकाल सब को शोभित करता है, वैसे ही ब्रह्मचर्य से हुए विद्वान् हम लोग आप की आज्ञानुकूल जैसे वर्ते वैसे ही आप हम लोगों का हित निरन्तर करो और सब हम लोग परस्पर मेल करके और अन्याय दूर करके धर्म सम्बन्धी कर्मों को प्रवृत्त करें ।

सायण भाष्य -

हे अग्ने! ते तव परिचरणमकर्म । कर्म । तेन कर्मणा स्वपसः शोभनकर्माणोऽभूम । विभातीर्व्युच्छन्त्यः उषस ऋतं तेजोऽवस्रन् । आच्छादयन्ति । धारयन्तीत्यर्थः । तथा ता उषसोऽनूनं सम्पूर्णं पुरुधा बहुधा सुश्चन्द्रं सृष्ट्वाह्लाद- कारिणं यद्वा सुहिरण्यमग्निं धारयन्ति । किं च देवस्यद्योतमानस्य तव चारुमनोहरं चक्षुस्तेजो मर्मजतः परिचरन्तो वयं स्वपसोऽभूमेति पूर्वेणान्वयः ।

शब्दा० - ते = तुम्हारे लिए, अकर्म = करें, स्वपसः = अच्छे कर्म वाले, अभूम = होवें, विभातीः = प्रकाशमान, ऋतम् = सत्यभूत, अनूनम् = सम्पूर्ण, सुश्चन्द्रम् = परम आह्लादक, पुरुधा = बहुत रूपों में, अवस्रन् = उसारा या प्रकाशित किया, देवस्य = अग्नि के, चारु = सुन्दर चमकीले, चक्षुः = तेज को, मर्मजतः = परिचर्या करते हुए । हिन्दी व्याख्या - (हे अग्ने, हम) तुम्हारे लिए या तुम्हारा कार्य करें अर्थात् तुम्हारी परिचर्या करें और इस प्रकार हम अच्छे कर्म वाले होवें; यतः प्रकाशमान उषाओं ने सम्पूर्ण एवं परम आह्लादक अग्नि के रूप में ऋत (सत्यभूत) को विविध रूपों में उसारा या उद्घाटित किया अर्थात् प्रकाशित किया है अतः हम भी इस अग्नि देव के सुन्दर या चमकीले तेज परिचर्या करते हुए हों अर्थात् इसकी परिचर्या में प्रवृत्त हो जावें ।



## व्याकरण —

अकर्म	= कृ, लङ्, उ०पु०, बहु० का वैदिक रूप।
अभूम	= भू, लुङ्, उ०पु०, बहु०।
विभाती:	= वि+भा+शतृ(अत्)+ङीप्(ई), 'नुम्' का वैदिक अभाव, प्र०बहु० का वैदिक रूप।
अवस्रन्	= अव+सृ, लुङ्, प्र०पु०, बहु का वैदिक रूप।
मर्मजतः	= यङ्लुगन्त मृज् (मर्मज्)+शतृ (अत्), प्र०बहु।

मण्डल-४

सूक्त-२

मन्त्र-२०

## संहिता पाठ

ए॒ता ते॑ अ॒ग्ने उ॒च॒था॒नि वे॒धोऽवो॑चा॒म क॒वये॑ ता जु॒षस्व॑ ।  
उ॒च्छो॑चस्व कृ॒णु॒हि व॒स्य॑सो नो म॒हो रा॒यः पु॑रु॒वार॒ प्र य॑न्धि ॥२०॥

## पदपाठ —

ए॒ता । ते॑ । अ॒ग्ने । उ॒च॒था॒नि । वे॒धः । अ॒वो॑चा॒म । क॒वये॑ । ता । जु॒षस्व॑ । उ॒त् । शो॒च॒स्व ।  
कृ॒णु॒हि । व॒स्य॑सः । नः । म॒हः । रा॒यः । पु॒रु॒ऽवा॒र । प्र । य॑न्धि ॥

अन्वय — वेधः अग्ने, कवये ते एता उचथानि अवोचाम, ता जुषस्व, उच्छोचस्व, नः वस्यसः कृणुहि, पुरुवार, महः रायः प्र यन्धि ।

## दयानन्द भाष्य —

(एता) एतानि (ते) तुभ्यम् (अग्ने) विद्वन्धार्मिकराजन् (उचथानि) उचितानि वचनानि (वेधः) मेधाविन् (अवोचाम) वदेम (कवये) सर्वविद्यायुक्ताय (ता) तानि (जुषस्व) सेवस्व (उत्) (शोचस्व) विचारय (कृणुहि) अनुतिष्ठ (वस्यसः) वसीयतः (नः) अस्मभ्यम् (महः) महतः (रायः) धनानि (पुरुवार) यः पुरुन्वहूनाप्तान्वृणोति तत्सम्बुद्धौ (प्र) (यन्धि) प्रयच्छ ॥

भावार्थ — राजा आप्तानामेव वचांसि श्रुत्वा सुविचार्य सेवनीयानि तेभ्य आप्तेभ्यः प्रियाणि वस्तूनि दत्त्वैते सततं सन्तोषणीया एवं राजाप्तसभे मिलित्वा सर्वाणि कर्माणि समापयेतामिति ।

हि०भावार्थ — राजा को चाहिये कि यथार्थवक्ता ही पुरुषों के वचनों को सुन और उत्तम प्रकार विचार कर सेवन करें। उन यथार्थवक्ता पुरुषों के लिये प्रिय वस्तुओं को देकर वे निरन्तर सन्तुष्ट करने योग्य हैं, इस प्रकार राजा और यथार्थवक्ता पुरुषों की सभा सब मिलकर सब कर्मों को सिद्ध करें ॥

## सायण भाष्य —

वेधो विधात हे अग्ने कवये मेधाविने ते तुभ्यमेतान्युचथानि उचथानि शस्त्राण्यवोचाम् । त्वं ता तानि जुषस्व । सेवस्व । किं च त्वमुच्छोचस्व । उद्दीप्यस्व । नोऽस्मान्



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

शस्त्राण्यवोचाम् । त्वं ता तानि जुषस्व । सेवस्व । किं च त्वमुच्छोचस्व । उदीप्यस्व । नोऽस्मान् वस्यसोऽतिशयेन धनयुक्तान् कृणुहि कुरु । तदेवोच्यते । पुरुवार पुरुभि- बहुभिर्वरणीय महो रायो महद्वनं प्र यन्धि अस्मभ्यं प्रयच्छ ।

**शब्दा० -** वेधः = हे विधाता, कवये = विद्वान् के लिए, एता = इन, उचथानि = उक्थों (स्तोत्रों) को, अवोचाम् = कहते हैं, कह चुके हैं, ता = उनको, जुषस्व = स्वीकार करो, उच्छोचस्व = उदीप्त होवो, वस्यसः = अतिशयित रूप से धनवान्, कृणुहि = करो, बनाओ, पुरुवार = हे बहुतों के द्वारा वरणीय (स्वीकरणीय या अभिलषणीय), महः = विपुल, रायः = धन को, प्रयन्धि = दो ।

**हिन्दी व्याख्या -** हे विधाता अग्ने, हमने तुम विद्वान् के लिए इन उक्थों (स्तोत्रों) को कहा है, इनको स्वीकार करो, और उदीप्त होवो, हमको अतिशयित रूप से धनवान् बनाओ, हे बहुतों के द्वारा वरणीय, हमको विपुल धन को दो ।

**व्याकरण -**

- उचथानि = वच्+अथच् (अथ), 'व' को 'उ' सम्प्रसारण ।  
 अवोचाम् = ब्रू (वच्) या वच्, लुङ्, उ०प्र०बहु० ।  
 जुषस्व = जुष्, लोट्, म०पु०, एक० ।  
 शोचस्व = शुच्, लोट्, म०पु०, एक० ।  
 वस्यसः = वसु+मतुप्(मत)+ईयसुन्(ईयस्), 'मत' का लोप, शब्द की 'टि' 'उ' का लोप, प्रत्यय के 'ई' का वैदिक लोप द्वि०बहु० ।  
 कृणुहि = कृवि (कृण्व), लोट्, म०पु० एक० ।  
 यन्धि = यम्, लोट्, म०पु०, एक० का वैदिक रूप ।



## उषस् सूक्त

ऋषि—वामदेव

देवता—उषा

छन्द—त्रिष्टुप्

मण्डल ४

सूक्त ५१

मंत्र १

संहिता—पाठः

इहमु त्यत्पुरुतमं पुरस्तज्ज्योतिस्तमसो वयुनावदस्थात् ।

नूनं दिवाक दुहितरौ विभातीर्गातु कृणवन्नुषसो जनांस ।

पद—पाठः

इदम् । ऊँ इति । त्यत् । पुरुस्तमम् । पुरस्तात् । ज्योतिः । तमसः । वयुनंऽवत् ।  
अस्थात् । नूनम् । दिवः । दुहितरः । विभातीः । गातुम् । कृणवन् । उषसः । जनाय ॥१॥  
अन्वय — इदम् उ तत् पुरुतमम् वयुनावत् ज्योतिः पुरस्तात् तमसः अस्थात् । नूनम् विभातीः  
दिवः दुहितरः उषसः जनाय गातुम् कृणवन् ।

दयानन्द—भाष्य

पदार्थ — (इदम्) (उ) (त्यत्) तत् (पुरुतमम्) अतिशयेन बहुप्रकारम् (पुरस्तात्) पूर्वम्  
(ज्योतिः) तेजः (तमसः) रात्रेः (वयुनावत्) प्रज्ञानवत् (अस्थात्) वर्तते (नूनम्) (दिवः)  
प्रकाशस्य (दुहितरः) कन्या इव वर्तमानाः (विभातीः) प्रकाशयन्तः (गातुम्) पृथिवीम्  
(कृणवन्) कुर्वन्ति (उषसः) प्रभाताः (जनाय) मनुष्याद्याय ॥१॥

भावार्थ — हे मनुष्या भवन्तः पुरुषार्थेन सूर्यप्रकाशवद्विज्ञानं प्राप्त तमोनि वृत्तिवदविद्यां  
निवार्याऽऽनन्दिता भवन्तु ॥१॥

हि०भावार्थ — हे मनुष्यो ! आप लोग पुरुषार्थ से सूर्य के प्रकाश के सदृश विज्ञान  
को प्राप्त होकर अन्धकार की निवृत्ति के सदृश अविद्या का निवारण कर के आनन्दित  
होओ ॥१॥

सायण—भाष्य

इदमु पुरती दृश्यमानमिदं त्यत् तदस्माभिः स्तुत्यं सर्वप्रसिद्धं पुरुतमम् अत्यन्तप्रभूतं  
योतिः तेजः वयुनावत् ॥ वेतेः कान्तिकर्मण इदम् ॥ प्रकृष्टकान्तिमत् । अथवा वयुनमिति  
अज्ञानाम् । प्रज्ञोपेतम् । सर्वस्य प्रज्ञापकमित्यर्थः । कीदृक् तेजः । पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि  
तमसः अन्धकारात् अस्थात् उदतिष्ठत् । एवं सति नूनं सत्यं दिवः आदित्यस्य दुहितरः  
दुहितृस्थानीयाः विभातीः विभानं कुर्वतीः उषसो जनाय यजमानानां गातुं गमनं  
गमनादिव्यापारसामर्थ्यं कृणवन् अकुर्वन् ॥

शब्दार्थ — त्यत् = वह । पुरुतमम् = अत्यधिक प्रकाशमान । पुरस्तात् = पूर्व  
दिशा में । तमसः = अन्धकार में से । वयुनावत् = प्रकृष्ट कान्ति अथवा प्रज्ञा से युक्त ।  
अस्थात् = निकली है । विभातीः = प्रकाश करने वाली । दिवः = द्युलोक की । दुहितरः  
= पुत्रियां । गातुम् = गमन आदि क्रियाओं के सामर्थ्य को । ऋणवन् = उत्पन्न कर चुकी



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

हैं।

**हिन्दी व्याख्या** — यह सामने दिखाई देने वाली वह अत्यधिक प्रकाशमान् प्रकृष्ट कान्ति अथवा प्रज्ञा से युक्त ज्योति पूर्व दिशा में अन्धकार में से निकली है। निश्चय से प्रकाश करने वाली द्यु लोक की पुत्रियां उषायें स्तुति करने वाले यजमानों के लिये गमन आदि क्रियाओं के सामर्थ्य को उत्पन्न कर चुकी हैं।

**व्याकरण** —

**दुहितः** — दोग्धि पितरौ अर्थ में दुह+तृच् (इट् का आगम) = दुहितृ। अथवा दूरे हिता दुहिता।

**विशेष** — मैक्डानल के अनुसार 'वयुनावत्' का अर्थ है, स्पष्टता से युक्त (with clearness)। उसने 'पुरुतमम् और पुरस्तात्' का एक साथ अन्वय करके अर्थ किया है, पूर्व दिशा में बार-बार आने वाली उषा (most frequent light in the east)।

मण्डल ४

सूक्त ५१

मंत्र २

संहिता-पाठः

अस्थुरु चित्रा उषसः पुरस्तान्मिमा इव स्वरवेऽध्वरेषु।

व्यू व्रजस्य तमसो श्रवारोच्छन्तीरव्रच्छुव्रेयः पावकः।

पद-पाठः

अस्थुः। ऊँ रातें। चित्राः। उषसः। पुरस्तात्। मिताःऽइव। स्वरवः। अध्वरेषु।

वि। ऊँ इति। व्रजस्य। तमसः। द्वारा। उच्छन्तीः। अव्रजः। शुचयः। पावकाः॥२॥

**अन्वय** — चित्राः उषसः पुरस्तात् अस्थुः अध्वरेषु मिताः स्वरवः इव। व्रजस्य तमसः द्वारा उ वि उच्छन्तीः शुचयः पावकाः अव्रजः।

**दयानन्द-भाष्य**

**पदार्थ** — (अस्थुः) तिष्ठन्ति (उ) (चित्राः) विचित्रगुणकर्मस्वभावाः (उषसः) प्रभातवेला इव दुहितरः (पुरस्तात्) (मिताइव) विद्यया सकल पदार्थवेदित्र्य इव (स्वरवः) प्रतापयुक्ताः (अध्वरेषु) गृहाश्रमव्यवहाराऽनुष्ठानेषु (वि) (उ) (व्रजस्य) (तमसः) अन्धकारस्य (द्वारा) द्वारणि (उच्छन्तीः) विवासयन्त्यः (अव्रजः) वृणूयुः (शुचयः) पवित्राः (पावकाः) पवित्रकर्मकर्त्र्यः॥२॥

**भावार्थ** — अत्र वाचकलु० — हे ब्रह्मचारिणो या ब्रह्मचारिण्यो मेघस्वना मितभाषिण्यः पवित्रा विदुष्यः स्युस्ता एव पूर्वं सम्परीक्ष्य वोढव्याः॥२॥

**हि० भावार्थ** — इस मन्त्र में वाचकलु० — हे ब्रह्मचरी जनो। जो ब्रह्मचारिणी मेघ के सदृश गम्भीर शब्दयुक्त थोड़ा बोलने वाली पवित्र और विद्यायुक्त होवे वही प्रथम उत्तम प्रकार परीक्षा करके विवाहने योग्य है॥२॥



## उषस् सूक्त (मण्डल-४, सूक्त-५१)

## सायण—भाष्य

चित्राः चायनीयाः उषसः पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि अस्थुः तिष्ठन्ति । व्याप्ता इत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः । अध्वरेषु मिताः खाताः स्वरवः यूपः इव । ते यथा वेद्याः पुरतो भासन्ते तद्वत् । यद्यपि स्वरशब्दो यूपच्छेदपतितप्रथमशकलवाची यः प्रथमः परापतेत्स् स्वरुः कार्यः इत्युक्तत्वात् तथाप्यत्र मितशब्दश्रवणात् 'चपालवन्तः स्वरवः' (ऋ.सं. ३.८.१०) इत्यादौ तथा दर्शनात् यूपवचनः । ताः व्रजस्य वारकस्य तमसो द्वारा द्वाराणि वि उच्छन्तीः शुचयः दीक्षाः पावकाः शोधिकाः अवन् व्यावृण्वन् ।।

शब्दार्थ — अस्थुः = स्थित हैं । चित्राः = प्रशंसनीय, सुन्दर । मिताः = गाड़े गये । स्वरवः = यूप । अध्वरेषु = यज्ञों में । व्रजस्य = आवृत करने वाले । तमसः = अन्धकार के । द्वारा = द्वारों को । वि उच्छन्तीः = हटाती हुई । अवन् = मार्गों को खोल दिया है । शुचयः = दीप्तिमान् । पावकाः = पवित्र करने वाली ।

हिन्दी व्याख्या — प्रशंसनीय या सुन्दर उषायें उसी प्रकार से पूर्व दिशा में स्थित हैं, जिस प्रकार यज्ञों में गाड़े गये यूप प्रकाशित होते हैं । आवृत करने वाले अन्धकार के द्वारों को हटाती हुई दीप्तिमान् पवित्र करने वाली उन उषाओं ने मार्गों को खोल दिया है ।

## व्याकरण —

अवन् — 'वृ' धातु लङ्, लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन । वैदिक रूप ।

विशेष — मैक्डानल ने 'चित्राः' का अर्थ किया है — प्रतिभाशाली (brilliant) । उसके अनुसार 'व्रज' का अर्थ 'गोष्ठ' होकर इस प्रकार का भाव व्यक्त होता है — They have unclosed the two doors of the pen of darkness.

मण्डल ४

सूक्त ५१

मंत्र ३

## संहिता—पाठः

उच्छन्तीरद्य चितयन्त भोजान् राधोदेयाय उषसो मघोनीः ।

अचित्रे अन्तः पणयः ससन्त्वबुध्यमानास्तमसो विमध्ये ।।

## पद—पाठः

उच्छन्तीः । अद्य । चितयन्त । भोजान् । राधःऽदेयाय । उषसः । मघोनीः । अचित्रे । अन्तरिति । पणयः । ससन्तु । अबुध्यमानाः । तमसः । विमध्ये ।।३।।

अन्वय — अद्य उच्छन्तीः मघोनीः उषसः भोजान् राधोदेयाय चिन्तयन्त । अचित्रे तमसः विमध्ये अन्तः अबुध्यमानाः पणयः ससन्तु ।

## दयानन्द—भाष्य

पदार्थ — (उच्छन्तीः) सुवासयन्त्यः (अद्य) (चितयन्त) विज्ञापयन्ति (भोजान्) पालकान्पतीन् (राधोदयाय) धनं दातुं योग्याय व्यवहाराय (उषसः) प्रातर्वेला इस (मघोनीः) सत्कृतधनानां



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

स्त्रियः (अचित्रे) अनाश्चर्ये (अन्तः) मध्ये (पणयः) प्रशंसनीयाः (ससन्तु) शयीरन् (अबुध्यमानाः) बौधरहिताः (तमसः) रात्रेः (विमध्ये) विशेषान्धकारे ॥३॥

भावार्थ — अत्र वाचकलु० — हे पुरुषा याः कन्याः स्वसदृश्यो विदुष्यः शुभगुणकर्मस्वभावाः स्युस्ता एव भार्यत्वायाङ्गीकार्याः ॥३॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलु० — हे पुरुषों! जो कन्या अपने सदृश विदुषी और शुभगुण कर्म स्वभाव वाली होवें वे ही स्त्री होने के लिए स्वीकार करने योग्य हैं।

### सायण-भाष्य

अद्य अस्मिन् दिने उच्छन्तीः तमः विवासयन्त्यः मघोनीः धनवत्यः उषसः भोजान् भोजपितृन् यजमानान् तेषां राधोदेयाय सोमादिधनदानाय चितयन्त प्रज्ञापयन्ति । अचित्रे अचायनीये तमसो विमध्ये । अत्यन्तगाढान्धकारे इत्यर्थः । तत्र पणयः वणिज इवादातारः अबुध्यमानाः ससन्तु स्वपन्तु ॥

शब्दार्थ — उच्छन्तीः = हटा देने वाली । चितयन्त = विचार कर रही हैं, ज्ञान करा रही हैं । भोजान् = भोजन कराने वालों को । राधोदेयाय = धन देने के लिये । मघोनीः = धन सम्पन्न । अचित्रे = अपूजनीय, कुरूप । अबुध्यमानाः = अज्ञानी । पणयः = कञ्जूस पणि ।

हिन्दी व्याख्या — आज इस दिन अन्धकार को हटा देने वाली उषायें धन सम्पन्न कराने वाले या भोजन कराने वाले अपने उपासकों को सोम आदि धन देने के लिये विचार कर रही हैं या ज्ञान करा रही हैं । अपूजनीय या कुरूप प्रगाढ अन्धकार के अन्दर के अज्ञानी तथा दान न देने वाले कञ्जूस पणि सोते रहे ।

विशेष — मैकडानल ने 'भोजान्' का अर्थ 'उदार' (liberals), 'चितयन्त' का अर्थ 'प्रेरित करे' (stimulate) और 'पणयः' का अर्थ 'कञ्जूस मनुष्य' (niggards) किया है ।

मण्डल ४

सूक्त ५१

मंत्र ४

संहिता-पाठः

कुवित्स देवीं सनयो नवो वा यामो बभूयादुषसो वो अद्य ।

येना नवगवे अङ्गिरे दशगवे सप्तास्ये रेवती रेवदष ।

पद-पाठः

कुवित् । सः । देवीः । सनयः । नवः । वा । यामः । बभूयात् । उषसः । वः । अद्य । येन । नवङ्गवे । अङ्गिरे । दशङ्गवे । सप्तऽआस्ये । रेवतीः । रेवत् । ऊष ॥४॥

अन्वय — देवीः उषसः वः सनयः नवः वा यामः सः अद्य कुवित् बभूयात् । येन रेवतीः नवगवे दशगवे सप्तास्ये अङ्गिरे रेवत् ऊष ।

दयानन्द-भाष्य

पदार्थ — (कुवित्) महान् (सः) (देवीः) (सनयः) विभक्त्यः (नवः) नवीनाविद्यावयस्कः (वा)



## उषस् सूक्त ( मण्डल-४, सूक्त-५१ )

(यामः) यो याति सः (वभूयात्) भूशं भूयात् (उषसः) प्रभाताः (वः) युष्मान् (अद्य) (येना) अत्र संहितायामिति दीर्घः (नवग्वे) नव गावो विद्यन्ते यस्य तस्मै (अङ्गिरे) प्राणवत्प्रिये पत्यौ (दशग्वे) दश गावो यस्य तस्मै (सप्तास्ये) सप्त प्राणा आस्ये यस्य तस्मिन् (रेवतीः) बहुधनशोभायुक्ताः (रेवत्) बहुप्रशंसितधनवत् (ऊष) निवासयन्ति ॥४॥

**भावार्थ** — योऽधिकविद्याबलः समानरूपो नवयौवनः सुशीलो विद्वान् स्वसदृशी स्त्रियमुपयच्छेत्स सुखी भूयात् । या स्त्री पति कामयमाना धनविद्योन्नतिं कुर्यात्सा सर्वान्मनुष्यान् सुखयितुमर्हेत् ॥४॥

**हि०भावार्थ** — जो अधिक विद्या, बल, तुल्य, रूप, नवीन युवावस्थायुक्त और सुशील विद्वान् अपने सदृश स्त्री को स्वीकार करे वह सुखी होवै और जो स्त्री पति की कामना करती हुई धन और विद्या की उन्नति करे वह सब मनुष्यों को सुखी करने के योग्य होवै ॥४॥

**सायण-भाष्य**

हे देवीः द्योतमानाः उषसी वः युष्मान् सनयः पुराणः नवो वा यामः गमनसाधनः सः रथः अद्य अस्मिन् यागदिने कुवित् बहुवारं वभूयात् भवेत् गच्छेदित्यर्थः । येन रथेन हे रेवतीः धनवत्यो यूयं नवग्वे दशग्वे सप्तास्ये सप्तच्छन्दोयुक्तमुखे अङ्गिरे अङ्गिरोगणे । तौ द्वौ तत्र येऽप्यङ्गिरसः तेषां गणे । तथान्यत्र नवग्वो नु दशग्वो अङ्गिरस्तमः (ऋ. सं. १०.६२.६) इति । रेवत् धनवत् यथा भवति तथा ऊष विभातं कृतवत्यः ॥ वसेर्व्युच्छनकर्मणो लिप्मध्यमबहुवचनस्येदं रूपम् ॥

**शब्दार्थ** — कुवित् = बहुत बार । सनयः = पुराना । नवः = नया । यामः = जाने का साधनभूत रथ । अद्य = आज इस यज्ञ के दिन । नवग्वेः = नौ घोड़ों द्वारा जाने वाले । दशग्वे = दस घोड़ों द्वारा जाने वाले । अङ्गिर = अङ्गिराओं में । सप्तास्ये = सात छन्द रूप मुखों वाले । रेवती = धनसम्पन्न । रेवत् = जिस प्रकार धन प्राप्त हो । ऊष = चमको ।

**हिन्दी व्याख्या** — हे दीप्तिमती उषाओं ! तुम्हारा पुराना या नया जाने का साधन भूत वह रथ आज इस यज्ञ के दिन बहुत बार होवे अर्थात् उस रथ से तुम बहुत बार आओ । जिस रथ के द्वारा हे धन से सम्पन्न उषाओं ! तुम नौ घोड़ों द्वारा जाने वाले, दस घोड़ों द्वारा जाने वाले और सात छन्द रूप मुखों वाले अङ्गिराओं में जिस प्रकार धन की प्राप्ति हो, उस प्रकार से चमको अर्थात् अन्धकार को नष्ट करो ।

**विशेष** — मैकडानल द्वारा इस मन्त्र की व्याख्या कुछ भिन्न प्रकार से है । उसने इस मन्त्र का इस प्रकार अर्थ किया है —

Should this be an old course or a new for you today, O divine Dawns : (is it that) by which ye have shone wealth, ye wealthy ones, upon Navagva, Angira, and Dashagva the seven mouthed?



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

मण्डल ४

सूक्त ५१

मंत्र ५

संहिता-पाठः

यूयं हि देवी ऋतयुग्भिः अश्वैः परिप्रयाथ भुवनानि सद्यः ।

प्रबोधयन्तीरुषसः ससन्तं द्विपाच्चतुश्चरथाय जीवम् ।।

पद-पाठः

यूयम् । हे । देवी ऋतयुक् भिः । अश्वैः । परिप्रयाथ । भुवनानि । सद्यः । प्रबोधयन्तीः ।

उषसः । ससन्तम् । द्विपात् ! चतुष्पात् । चरथाय । जीवम् ।।५।।

अन्वय — देवीः उषसः ! यूयम् हि ऋतयुग्भिः अश्वैः ससन्तम् द्विपाच्चतुष्पात् जीवम् चरथाय प्रबोधयन्तीः सः भुवनानि परिप्रयाथ ।

दयानन्द-भाष्य

पदार्थ — (यूयम्) (हि) (देवीः) दिव्यगुणकर्मस्वभावाः (ऋतयुग्भिः) ऋतेन सत्येन युजते तैः (अश्वैः) महाबलिष्ठैः पुरुषार्थयुक्तैः (परिप्रयाथ) प्राप्नुयात् (भुवनानि) लोकलोकान्तराणि (सद्यः) शीघ्रम् (प्रबोधयन्तीः) जागरयन्त (उषसः) (ससन्तम्) शयानम् (द्विपात्) द्वौ पादौ यस्य स मनुष्यादिः (चतुष्पात्) चत्वारः पादा यस्य स गवादिः (चरथाय) (जीवम्) प्राणधारिणम् ।।५।।

भावार्थ — अत्र वाचकलु० — ये शुभगुणान्विता विदुषीर्हृद्याः स्वसदृशीर्भार्याः प्राप्नुवन्ति ते सदैवोषर्वत्प्रकाशमानाः सर्वेषां ज्ञापका भवन्ति ।।५।।

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलु० — जो जन उत्तम गुणों से युक्त विदुषी सुन्दर सदृश स्त्रियों को प्राप्त होते हैं, वे सदा ही प्रातःकाल के सदृश प्रकाशमान होते हैं ।।५।।

सायण-भाष्य

हे देवीः द्योतमानाः उषसः यूयं हि खलु ऋतयुग्भिः यज्ञगामिभिः अश्वैः भुवनानि सद्यः परिप्रयाथः परितः प्रकृष्टं गच्छथ । किं कुर्वत्यः । ससन्तं स्वपन्तं द्विचतुष्पात् मनुष्य गवादिल्लक्षणं जीवं चरथाय चरणाय गमनादिव्यवहाराय प्रबोधयन्तीः प्रबोधयन्त्यः सत्यः परिप्रयाथ ।।५।।

शब्दार्थ — देवीः = दीप्तिमती । ऋतयुग्भिः = यज्ञ की ओर जाने वाले । परिप्रयाथ = चारों ओर प्रकृष्ट रूप से जाती हो । सद्यः = अतिशीघ्र । प्रबोधयन्तीः = जगाती हुई । ससन्तम् = सोते हुये । द्विपात् = दोपायों को । चतुष्पात् = चौपायों को । चरथाय = गमन आदि व्यापार करने के लिये ।

हिन्दी व्याख्या — हे दीप्तिमती उषाओं ! तुम निश्चय ही यज्ञ की ओर जाने वाले घोड़ों से सोते हुये दोपायों मनुष्य आदि जीवों चौपायों गाय आदि जीवों के गमन आदि व्यापार करने के लिये जगाती हुई अतिशीघ्र भुवनों के चारों ओर प्रकृष्ट रूप से जाती हो ।



## उषस् सूक्त ( मण्डल-४, सूक्त-५१ )

व्याकरण —

चरथाय — चर् + अथच् (अथ) = चरथ। चतुर्थी का एकवचन।

विशेष — मैकडानल ने 'ऋतयुग्भिः अश्वैः, का अर्थ किया है — उचित समय में जोते गये घोड़ों से (with your steeds yoked in due time)।

मण्डल ४

सूक्त ५१

मंत्र ६

संहिता-पाठः

क्वं स्विदासां कतमर पुराणी यया विधानां विदधुभूणाम्।

शुभं यच्छुभ्रा उषसश्चरन्ति न वि ज्ञायन्ते सदृशीरजुर्याः।

पद-पाठः

क्वं। स्वित्। आसाम्। कतमा। पुराणी। यया। विऽधानां। विऽदधुः। ऋभूणाम्। शुभम्। यत्। शुभ्राः। उषसः। चरन्ति। न। वि। ज्ञायन्ते। सऽदृशीः। अजुर्याः।॥६॥

अन्वय — आसाम् कतमा क्वसित् पुराणी, यया ऋभूणाम् विधाना विदधुः। यत् शुभ्राः उषसः शुभम् चरन्ति सदृशीः अजुर्याः न विज्ञायन्ते।

दयानन्द-भाष्य

पदार्थ — (क) कस्मिन् (स्वित्) प्रश्ने (आसाम्) (कतमा) (पुराणी) पुरातनी (यया) (विधाना) (विदधुः) विदध्यासुः (ऋभूणाम्) धीमताम् (शुभम्) कल्याणम् (यत्) याः (शुभ्राः) भास्वराः (उषसः) प्रातर्वेलाः (चरन्ति) गच्छन्ति (न) निषेधे (वि) (ज्ञायन्ते) (सदृशीः) समानाः (अजुर्याः) अजीर्णाः॥६॥

भावार्थ — यथा सर्वाः प्रातर्वेलाः सदृश्यः सन्ति तथैव एतिभिः सदृशा भार्याः प्रशंसनीया भवन्ति ताः सदैव युवावस्थायां यूनः प्राप्यानन्दन्तु नैव विज्ञायते का नवीना का प्राचीनोषा वर्तते तद्वत्कृतब्रह्मचर्याः कन्या भवन्ति॥६॥

हि०भावार्थ — जैसे सम्पूर्ण प्रातर्वेला तुल्य होती है वैसे ही पतियों के साथ सदृश स्त्रियाँ प्रशंसा करने योग्य होती हैं वह सदा ही युवावस्था में युवा पुरुषों को प्राप्त होकर आनन्दित हों, नहीं जाना जाता है कि कौन नवीन प्राचीन प्रातर्वेला होती है, वैसे ब्रह्मचर्य्य से युक्त कन्या होती है॥६॥

सायण-भाष्य

आसाम् उषसां मध्ये क स्वित् कतमा पुराणी पुरातनी। यया ऋभूणां सबन्धीनि विधाना चमसादिनिर्माणानि विदधुः अकुर्वन् ऋभवः। यत् याश्च उषसः शुभ्राः दीप्ताः शुभं चरन्ति शोभां दीप्तिं कुर्वन्ति। ताः अजुर्याः अशीर्णा नित्यनूतनाः न वि ज्ञायन्ते। यतः सदृशी सदृश्य सर्वेष्वपि दिवसेष्वेकरूपा अतोऽद्यतन्य एता एताः पुराण्य इति न ज्ञायन्ते। उषासादृश्य सदृशीरिदु श्वः (ऋ० सं० १.१२३.८) इत्यत्र प्रतिपादितम्॥



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

शब्दार्थ — क्वसित् = कहाँ पर। आसाम् = इन उषाओं में। कतमा = कौन-सी। पुराणी = पुरानी। विधान = चमस आदि साध। विदधुः = बनाये गये। ऋभूणाम् = ऋभु नामक उपासकों के। शुभम् = शोभा को। शुभ्राः = चमकती हुई। चरन्ति = उत्पन्न करती है। विज्ञायन्ते = प्रतीत होती है। अजुर्याः = नवीन।

हिन्दी व्याख्या — इन उषाओं के मध्य कौन सी कहाँ पर ऐसी है, जो पुरानी हो तथा जिससे ऋभु नामक उषा के उपासकों के चमस आदि साधन स्वयं बनाये गये। जो उषायें चमकती हुई शोभा को उत्पन्न करती हैं, वे क्योंकि एक सी दिखाई पड़ती हैं, अतः वे नवीन नहीं प्रतीत होती हैं।

व्याकरण —

अजुर्याः — 'जृ' धातु + यत्, उत्त्व, रपरत्व, दीर्घ का अभाव = जुय्। न+जुय् = अजुर्य।

विशेष — मैक्डानल ने 'चरन्ति' का अर्थ 'चलती है' और 'शुभम्' का अर्थ 'चमकदार मार्ग' करके इस प्रकार भाव व्यक्त किया है — proceed on their shining course।

मण्डल ४

सूक्त ५१

मंत्र ७

संहिता-पाठः

ता घा ता भद्रा उषसः पुरासुरभिष्टिद्युम्ना ऋतजातसत्याः।

यास्वीजानः शशमान उक्थैः स्तुवञ्छंसन्द्रविणं सद्य आप॥

पद-पाठः

ताः। घ। ताः। भद्राः। उषसः। पुरा। आसुः। अभिष्टिद्युम्नाः। ऋतजातसत्याः। यासुं। ईजानः। शशमानः। उक्थैः। स्तुवन्। शंसन्। द्रविणम्। सद्यः। आप॥७॥

अन्वय — ताः घ ताः भद्राः उषसः पुरा आसुः। अभिष्टिद्युम्नाः ऋतजातसत्याः। यासु ईजानः उक्थैः शशमानः स्तुवन् शंसन् द्रविणम् सद्यः आप।

दयानन्द-भाष्य

पदार्थ — (ताः) (घा) एव। अत्र ऋचि तुनुधेति दीर्घः (ताः) (भद्राः) कल्याणकरीः (उषसः) प्रभातवेलाः (पुरा)। (आसुः) आसन् (अभिष्टिद्युम्नाः) प्रशंसितयशोधनाः (ऋतज्ञातसत्याः) ऋताज्जातेषु व्यवहारेषु सत्सु साध्वयः (यासु) (ईजानः) (शशमानः) प्राप्तप्रशंसः सन् (उक्थैः) वक्तुमर्हैर्वचनैः (स्तुवन्) (शंसन्) प्रशंसन् (द्रविणम्) धनं यशो वा (सद्यः) शीघ्रम् (आप) प्राप्नोति॥७॥

भावार्थ — अत्र वाचकलु० — यथा सूर्येण सहोषा सदा वर्तते। तथैव कृतस्वयंवरो स्त्रीपुरुषौ यशस्विनौ सत्याचरणौ भवेताम्॥७॥



हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलु० — जैसे सूर्य के साथ प्रातर्वेला सदा वर्तमान है, वैसे ही स्वयंवर जिन्होंने किया ऐसे स्त्री पुरुष यशस्वी और सत्य आचरण वाले होवें ॥७॥

### सायण—भाष्य

ता घ। घेति प्रसिद्धौ। ताः खलूपकारिण्यः ता भद्राः कल्याण्यः स्तुत्या वा उषसः पुरा पूर्वम् आसुः अभवन, अभिष्टिद्युन्नाः अभिगमनमात्रेण द्युन्नं धनं यासां ताः। ऋतजातसत्याः। ऋतार्थं यज्ञार्थं जाताश्च ताः सत्याः सत्यफलाश्च तादृश्यः। यासु उषःसु ईजानः यागं कुर्वाणः उक्थैः शस्त्रैः शशमानः शंसमानः स्तुवन् सामभिः स्तोत्रं निष्पादयन् शंसन् शस्त्राणि कुर्वन् द्रविणं धनं सद्यः आप प्राप्नोति। ता भद्रा इति संबन्धः॥

शब्दार्थ — घ = प्रसिद्ध। भद्राः = उपकार करने वाली। पुरा = पहले। आसुः = थी। अभिष्टिद्युन्नाः = पहुँचने मात्र से धनों को देने वाली। ऋतजातसत्याः = यज्ञ के लिये उत्पन्न हुई हैं और सत्य से फल को देने वाली हैं। ईजानः = यज्ञ करने वाला। शशमानः = प्रशंसा करने वाला। अक्थैः = स्तोत्रों से, ऋचाओं से। स्तुवन् = सामगान से स्तुति करने वाला। शंसन् = मन्त्रों का गान करने वाला। द्रविणम् = धन को। सद्यः = शीघ्र। आप = प्राप्त कर लेता है।

हिन्दी व्याख्या — वे प्रसिद्ध उषायें उपकार करने वाली हैं। वे कल्याणकारिणी उषायें पहले थी। वे अपने पहुँचने मात्र से धनों को देने वाली हैं, जिस यज्ञ के लिये उत्पन्न हुई हैं और सत्य रूप से फल देने वाली हैं। जिन उषाओं के प्रति यज्ञ करने वाला, स्तोत्र या ऋचाओं से प्रशंसा करने वाला, सामगान से स्तुति करने वाला और मन्त्रों का गान करने वाला यजमान धन को शीघ्र प्राप्त कर लेता है।

विशेष — मैकडानल ने कुछ शब्दों के अर्थ इस प्रकार किये हैं — अभिष्टिद्युन्नाः = सहायता करने में विख्यात (splendid in help), ऋतजातसत्याः = समय का सत्य ही पालन करने वाली (punctually true) और शशमानः = परिश्रम (strenuous)।

मण्डल ४

सूक्त ५१

मंत्र ८

संहिता—पाठः

ता आ चरन्ति समना पुरस्तात् समानतः समना पप्रथानाः  
ऋतस्य देवीः सदसो बुधाना गवां न सर्गा उषसो अरस्ते

पद—पाठः

ताः। आ। चरन्ति। समना। पुरस्तात्। समानतः। समना। पप्रथानाः। ऋतस्यं।  
देवीः। सदसः। बुधानाः। गवाम्। न। सर्गाः। उषसः। जरन्ते॥८॥

अन्वय — ताः उषसः आ समना चरन्ति पुरस्तात् समानतः समना पप्रथानाः ऋतस्य देवीः  
सदसः बुधाना देवीः जरन्ते गवाम् सर्गाः न।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****दयानन्द-भाष्य**

पदार्थ — (ताः) (आ) (चरन्ति) (समना) समानाः । अत्र सुपां सुलुगिति जसो लुक् (पुरस्तात्) (समानतः) सदृशेभ्यः पतिभ्यः (समना) समानुगुणकर्मस्वभावाः (पप्रथानाः) विस्तीर्णविद्यासौन्दर्यादिगुणाः (ऋतस्य) सत्यस्य (देवीः) विदुष्यः (सदसः) सभ्यान् (बुधानाः) प्रबोधयन्त्यः (गवाम्) (न) इव (सर्गाः) उत्पद्यमानाः (उषसः) प्रातर्वेलाः (जरन्ते) स्तुवन्ति ॥८॥

भावार्थ — हे मनुष्या गृहीतशिक्षा रूपलावणयादिशुभगुणाद्या विदुष्यो ब्रह्मचारिण्यः स्युस्ता एव यथायोग्यं विवहन्तु ॥८॥

हि०भावार्थ — हे मनुष्यो ! जो शिक्षा को ग्रहण किये हुए रूप और कान्ति आदि उत्तम गुणों से युक्त विदुषी ब्रह्मचारिणी कन्या होवे उन्हीं को यथायोग्य विवाहो ॥८॥

**सायण-भाष्य**

ताः उपसः आ सर्वतः चरन्ति । समना सर्वतः समानाः पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि समानतः समानाद्देशात् अन्तरिक्षात् समना सर्वतः पप्रथानाः प्रथमानाः ऋतस्य यज्ञस्य सदसः सदः । तत्रस्यम् ऋत्विग्धविरादिकम् इत्यर्थः । बुधानाः बोधयन्त्यः ॥ अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम् ॥ एवं महानुभावाः उषसो जरन्ते स्तूयन्ते । गवां सर्गाः न उदकानां सृष्टय इव । 'गवां सर्गा न रश्मयः' (ऋ.सं.४.५२.५) इति हि श्रुतम् । ता यथा सर्वत्र प्रसंगादुपकारस्वाच्चस्तूयन्ते तद्वत् ॥

शब्दार्थ — समना = सब ओर समान रूप से । समानतः = अन्तरिक्ष रूप स्थान से । पप्रथानाः = विस्तृत होती हुई । ऋतस्य = यज्ञ को । सदसः = वेदि में स्थापित यज्ञ आदि को । बुधानाः = जतलाती हुई । गवाम् = जलों की, किरणों की । न = समान । सर्गाः = सृष्टियों की । जरन्ते = स्तुति की जाती है ।

हिन्दी व्याख्या — वे उषायें सब ओर समान रूप से विचरण करती हैं । पूर्व दिशा में अन्तरिक्ष रूप स्थान से चारों ओर से विस्तृत होती हुई यज्ञ को और वेदि में स्थापित हवि आदि को जतलाती हुई ये दीप्तिमान् उषायें उसी प्रकार स्तुति की जाती हैं, जिस प्रकार जलों या किरणों की सृष्टियों की स्तुति की जाती है ।

विशेष — मैक्डानल ने कुछ शब्दों के अर्थ इस प्रकार से किये हैं — समना = एक रूप से (equally), बुधानाः = जागती हुई (waking), ऋत = नियम (seat of order), गवाम् = गौओं के झुण्ड (herds of kine) और जरन्ते = क्रियाशील हैं (are active) ।

मण्डल ४

सूक्त ५१

मंत्र ९

संहिता-पाठः

ता इन्नवोव समना समानीरमीतवर्णा उषसश्चरन्ति ।

गूहन्तीरभ्वमसितं रुशदिभः शुक्रास्तनूभिः शुचयो रुचानाः ॥

पद-पाठः

ताः । इत् । नु । एव । समना । समानीः । अमीतवर्णाः । उषसः । चरन्ति । गूहन्तीः ।



अभ्वम् । असितम् । रुशतऽभिः । शुक्राः । तनूभिः । शुचयः । रुचानाः ॥९॥

अन्वय — ताः एव इत् उषसः नु समना समानीः अमीवर्णाः अभ्वम् असितम् गूहन्तीः रुशद्भिः तनूभिः शुक्राः शुचयः रुचानाः चरन्ति ।

### दयानन्द-भाष्य

(ताः) (इत्) एव (नु) सद्यः (एव) (समना) समानाः (समानीः) (अमीतवर्णाः) अहिंसितवर्णाः (उषसः) प्रभातवेला इव (चरन्ति) (गूहन्तीः) संवृणवत्यः (अभ्वम्) महान्तम् (असितम्) निकृष्टवर्णन्तम् (रुशद्भिः) हिंसकैर्गुणैः (शुक्राः) प्रदीप्ताः (तनूभिः) विस्तृतशरीरैः (शुचयः) पवित्राः (रुचानाः) रुचिकर्यः ॥९॥

भावार्थ — याः स्त्रिय अपर्वद् दुःखध्वंसिकाः सुखजनित्र्यः स्युस्ता एवाऽऽह्लादिका भवेयुः ॥९॥

भावार्थ — जो स्त्रियाँ प्रातर्वेला के सदृश दुःख को नाश करने वाली और सुख को उत्पन्न करने वाली हो वे ही आनन्द देने वाली हों ॥९॥

### सायण-भाष्य

ताः उव उषसः । इदिति पूरणः । नु अद्य समना समानाः एकधेत्यर्थः । समानीः एकरूपाः । अमीतवर्णाः अहिंसितवर्णा वा उषसश्चरन्ति सर्वतः । किं कुर्वत्यः । अन्वग् । महन्नामैतत् । अतिमहत् असितं कृष्णं रूपं गूहन्तीः गोपयन्त्यः रुशद्भिः रोचमानैः तनूभिः स्वशरीरैः शुक्राः दीप्ताः शुचयः रुचानाः रोचमाना रोचयनयो वा ।

शब्दार्थ — समना = समान होती हुई । समानी = एक से रूप वाली । अमीतवर्णाः = जिनका रूप नष्ट नहीं हुआ ऐसी, अपरिमित रूपों वाली । गूहन्तीः = छिपाती हुई । अभ्वम् = महान् । असितम् = काले रूप को, अन्धकार को । रुशद्भिः = दीप्तिमान् । शुक्राः = चमकती हुई । तनूभिः = शरीरों से । शुचयः = पवित्र । रुचानाः = प्रकाशित होती हुई ।

हिन्दी व्याख्या — वे ही उषायें निश्चय से समान होती हुई, एक से रूप वाली, जिनका रूप नष्ट नहीं हुआ है ऐसी अथवा अपरिमित रूपों वाली, महान् काले रूप को अर्थात् रात्रि के अन्धकार को छिपाती हुई, दीप्तिमान् शरीर को चमकाती हुई, पवित्र और प्रकाशित होती हुई विचरण कर रही हैं ।

विशेष — मैक्डानल ने 'अभ्वम् असितम्' का अर्थ किया है — काला दैत्य (Black monster) ।

मण्डल ४

सूक्त ५१

मंत्र १०

संहिता-पाठः

रयिं दिवो दुहितरो विभातीः प्रजावन्तं यच्छतास्मासुं देवीः ।

स्योनादा वः प्रतिबुध्यमानाः सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥



## पद-पाठः

रयिम् । दिवः । दुहितरः । विभातीः । प्रजावन्तम् । यच्छत । अस्मासु । देवीः ।  
स्योनात् आ । वः । प्रतिबुध्यमानाः । सुवीर्यस्य । पतयः स्याम ॥१०॥

अन्वय — विभातीः दिवः दुहितरः अस्मासु प्रजावन्तम् रयिम् यच्छत । देवीः वः स्योनात् आ  
प्रतिबुध्यमानाः सुवीर्यस्य पतयः स्याम ।

## दयानन्द-भाष्य

पदार्थ — (रयिम्) धनम् (दिवः) सूर्यस्य (दुहितरः) कन्या इव किरणाः (विभातीः) प्रकाशयन्त्यः  
(प्रजावन्तम्) बह्वयः प्रजा विद्यन्ते यस्य तम् (यच्छत) गृहीत (अस्मासु) (देवीः) विदुष्यः  
(स्योनात्) सुखात् (आ) (वः) युष्मान् (प्रतिबुध्यमानाः) (सुवीर्यस्य) सुष्ठुपराक्रमयुक्तस्य  
सैन्यस्य (पतयः) (स्याम) ॥१०॥

भावार्थ — अत्र वाचकलु० — याः कन्याः प्रभातवेलावत्सुशोभिताः सुखं ज्ञानयन्ति  
ताभिः सह स्वयंवरेण विवाहेनैव मनुष्याः श्रीमन्तो जायन्ते ॥१०॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाकलु० — जो कन्या प्रभात देखा के सदृश उत्तम  
प्रकार शोभित सुख को उत्पन्न करती है उन के साथ स्वयंवर विवाह से ही मनुष्य श्रीमान्  
होते हैं ॥१०॥

## सायण-भाष्य

हे दिवो दुहितरः द्योतमानस्यादित्यस्य दुहितृस्थानीयाः विभातीः विभात्यो विशेषेण  
भानं कुर्वस्यः अस्मासु प्रजावन्तं रथिं पुत्राद्युपेतं धनं यच्छत दत्त । हे देवीः देव्यः स्योनात्  
सुखात् निमित्तभूतत्ति वः युष्मान् प्रतिबुध्यमानाः प्रतिबोधयन्तो वयं सुवीर्यस्य पतयः स्याम ।  
पुत्रादिसहितस्य धनस्य पालका भवेम ॥

शब्दार्थ — रयिम् = धन को । दिवः = प्रकाशमान सूर्य की । दुहितरः = पुत्रियां ।  
विभातीः = प्रकाशित होने वाली । प्रजावन्तम् = पुत्र आदि से युक्त । यच्छत = प्रदान  
करो । देवीः = दीप्तिशालिनी । स्योनात् = सुख से । प्रतिबुध्यमाना = प्रतिबोधित होते  
हुये । सुवीर्यस्य = पुत्र आदि रूप उत्तम धन के । पतयः = पालक, स्वामी ।

हिन्दी व्याख्या — प्रकाशित होने वाली प्रकाशमान सूर्य की पुत्रियो ! हे उदाओ  
! हमें पुत्र आदि से शुभ मन को प्रदान करो । हे दीप्तिशालिनी उषाओं आपके द्वारा सुख  
से प्रति भोक्त होते हुये हम पुत्र आदि रूप उत्तम धन के पालक या स्वामी होवें ।

विशेष — मैकडानल ने कुछ शब्दों के इस प्रकार अर्थ किये हैं — स्योनात्  
प्रतिबुध्यमानाः = कोमल शय्या से जागते हुये (awaking from our soft couch), पतयः  
= स्वामी (lords) और सुवीर्यस्य = शक्तिशाली पुत्रों का समूह (host of strong sons) ।



संहिता-पाठः

तद्वो दिवो दुहितरो विभातीरुपं ब्रुव उषसो यज्ञकेतुः ।

वयं स्याम यशसो जनेषु तददद्यौश्च धत्तां पृथिवी च देवी ॥११॥

पद-पाठः —

तत् । वः । दिवः । दुहितरः । विभातीः । उप । ब्रुवे । उषसो । यज्ञकेतुः । वयम् ।  
स्याम । यशसः । जनेषु । तत् । द्यौः । च । धत्ताम् । पृथिवी । च । देवी ॥

अन्वय — विभातीः दिवः दुहितरः उषसः । यज्ञकेतुः वः तत् उप ब्रुवे । जनेषु वयम् यशसः  
स्याम । तत् द्यौः च पृथिवी च देवी धत्ताम् ।

दयानन्द-भाष्य

पदार्थ — (तत्) (वः) युष्माकम् (दिवः) प्रकाशस्य (दुहितरः) कन्या इव वर्तमानाः  
(विभातीः) प्रकाशयन्त्यः (उप)(ब्रुवे) उपदिशामि (उषसः) प्रातर्बेलायाः (यज्ञकेतुः) यज्ञस्य  
प्रापकः (वयम्) (स्याम) (यशसः) यशस्विनः (जनेषु) विद्वत्सु (तत्) (द्यौः) विद्युत् (च)  
(धत्ताम्) (पृथिवी) (च) (देवी) देदीप्यमाना ॥११॥

भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तो० — ये परस्परानुपदिश्य सत्यं ग्राहयन्ति ते सूर्यवत्प्रकाशका  
भूमिवत्प्रजाधत्तारो भवन्तीति ॥१॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलु० — जो परस्पर जनों को उपदेश देकर सत्य  
का ग्रहण कराते हैं, वे सूर्य के सदृश प्रकाश करने और भूमि के सदृश प्रजा के धारण  
करने वाले होते हैं ॥११॥

सायण-भाष्य

हे दिवो दुहितरः हे उषसः विभातीः वः युष्मान् तत् उत्तरार्धप्रथमपादेन वक्ष्यमाणं  
फलं यज्ञकेतुः । यज्ञ एव केतुः प्रज्ञापको यस्य तादृशोऽहम् उप ब्रुवे उपेक्ष्य बवीमि । अथ  
बहुवदुच्यते । वयं स्तुवन्तः जनेषु अस्मत्समानेषु मध्ये यशसः कीर्तेः अत्रस्य वा स्वामिनः  
स्याम । तत् यशः द्यौः पृथिवी य देवी धत्तां धारयताम् ॥११॥

शब्दार्थ — विभातीः = विशेष प्रकार से प्रकाशमान होती हुई । उपब्रुवे = समीप  
आकर कहता हूँ । यज्ञकेतुः = यज्ञ के ज्ञान प्राप्त कराने वाला । यशसः = कीर्ति का अन्न  
के स्वामी । धत्ताम् = धारण करावें ।

हिन्दी व्याख्या — विशेष प्रकार से प्रकाशमान होती हुई हे सूर्य की पुत्री रूप  
उषाओं ! यज्ञ से ज्ञान प्राप्त करने वाला मैं तुम्हें उसको (इस मन्त्र से प्राप्त होने वाले फल  
हो) समीप आकर कहता हूँ । मनुष्यों में हम कीर्ति या अन्न को द्युलोक और पृथिवी देवी  
हमें धारण करावें ।

विशेष — मैक्डानल ने 'यज्ञकेतु' का अर्थ 'यज्ञ जिसका झंडा है' (whose  
banner is the sacrifice) और 'यशसः' का अर्थ 'यशस्वी' (famous) किया है ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****सविता-सूक्त****ऋषि-वामदेव****देवता-सविता****छन्द-जगती, अंतिम में त्रिष्टुप****मण्डल ४****सूक्त ५४****मंत्र १****संहिता-पाठः**

अभूददेवः सविता वन्द्यो नु न इदानीमहनं उपवाच्यो नृभिः ।

वि यो रत्ना भजति मानवेभ्यः श्रेष्ठं नो अत्र द्रविणं यथा दधत् ॥

**पद-पाठः**

अभूत् । देवः । सविता । वन्द्यः । नु । नः । इदानीम् । अहनः । उपवाच्यः । नृभिः । वि । यः । रत्ना । भजति । मानवेभ्यः । श्रेष्ठम् । नः । अत्र । द्रविणम् । यथा । दधत् ॥१॥

अन्वय — सविता देवः अभूत् । नु नः वन्द्यः । इदानीम् अहः नृभिः उपवाच्यः । यः मानवेभ्यः रत्ना विभजति । अत्र न श्रेष्ठम् द्रविणम् यथा दधत् ।

**दयानन्द-भाष्य**

(अभूत्) भवति (देवः) सर्वसुखप्रदाता (सविता) सवैश्वर्यप्रदः (वन्द्यः) प्रशंसनीयः (नृ) सद्यः (नः) अस्माकम् (इदानीम्) (अहः) दिनस्य मध्ये (उपवाच्यः) उपदेशनीयः (नृभिः) नायकैर्मनुष्यैः (वि-) (यः) (रत्ना) रमणीयानि धनानि (भजति) (मानवेभ्यः) मननशीलेभ्यः (श्रेष्ठम्) अत्युत्तमम् (नः) अस्मभ्यम् (अत्र) (द्रविणम्) धनं यशो वा (यथा) (दधत्) दध्यात् ॥१॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः— नष्टं तेषां भाग्यं ये सकलैश्वर्यकीर्त्तिप्रदातारं वन्दनीयं स्तोतुमुपासितुमुपदेष्टुमर्हं परमात्मानं विहायाऽन्यं भजन्ति ॥१॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालंकार है — नष्ट उन का भाग्य जो सम्पूर्ण ऐश्वर्य और यश के देने वाले वन्दना करने योग्य तथा स्तुति उपासना और उपदेश करने योग्य परमात्मा को छोड़ के अन्य की उपासना करते हैं ॥१॥

**सायण-भाष्य**

स सविता देवः अभूत् प्रादूरासीत् । असौ नु क्षिप्रमेव नोऽस्माकं वन्द्यः वन्दनीयो भवति । इदानीं यागकाले अहस्तृतीये सबने नृभिरस्मदीयैर्होतृभिः उपवाच्यः स्तुत्यो भवति । यः देवो मानवेभ्यः मनोरपत्येभ्यः यजमानेभ्यस्तेषामर्थाय रत्ना रमणीयानि धनानि विभजति । सः देवः श्रेष्ठ प्रशस्यं द्रविणं गवादिलक्षणं धनं नः अस्मभ्यम् अत्रास्मिन् कर्मणि यथादधत् दद्यादित्यर्थः तथा वन्द्य उपवाच्यश्चाभूदिति ।

शब्दार्थ — अभूत् = उत्पन्न हुये है । सविता = संसार को कर्मों में प्रेरित करने वाला सविता । वन्द्यः = वन्दनीय है । इदानीम् = अब, इस यज्ञ के समय में । अहः = दिन के (तृतीय सवन में) । उपवाच्यः = स्तुति किये जाते हैं । रत्ना = रत्नों को, रमणीय पदार्थों को । विभजति = वितरित करता है । द्रविणम् = धन को । आ दधत् = धारण



## सविता-सूक्त (मण्डल-४, सूक्त-५४)

कराये।

**हिन्दी व्याख्या** — संसार को कर्मों में प्रेरित करने वाले सविता देवता प्रादुर्भूत है। शीघ्र ही वे हमारे लिये वन्दनीय है। इस समय यज्ञ-काल में और दिन के तृतीय सवन में हमारे होताओं द्वारा वे स्तुति किये जाते हैं। जो सविता देवता मनुष्यों के लिये रत्नों को अर्थात् रमणीय पदार्थों को वितरित करते हैं, वे यहाँ यज्ञ के अवसर पर हमारे लिये श्रेष्ठ धन को धारण करावें।

**व्याकरण** —

सविता — षू (सू) + तृच् (इट् का आगम)।

उपवाच्यः — उप + ब्रू (वच् आदेश) + ण्यत्। “ऋहलोर्ण्यत्” सूत्र से उपधा वृद्धि।

वन्द्यः — वदि (वन्द) + यत् = वन्द्य।

उपवाच्यः — उप + वच् + ण्यत् (य) = उपवाच्य। धातु की उपधा की वृद्धि।

रत्ना — रत्नानि का वैदिक रूप।

मानवेभ्यः — मनोः अपत्यम्। मनु+अण् = मानव। चतुर्थी का एकवचन।

दधत् — ‘धा’ धातु लेट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

**विशेष** — ‘सविता’ शब्द की निष्पत्ति ‘षुज् अभिषवे’ अथवा षुङ् प्राणिगर्भविमोचने से होती है। इसके अनेक अभिप्राय हैं प्रकट होना, उत्पन्न होना, उत्पन्न करना, प्रेरित करना, आहुति देना, अधिकार सम्पन्न करना। ‘प्रसवितृ’ शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ में होता है। छन्द की पूर्ति के लिये ‘वन्द्यो’, ‘वाच्यो’ और ‘मानवेभ्यः’ को क्रमशः ‘वन्दियो’, ‘वाचियो’ और ‘मानवेभियः’ पड़ना चाहिये।

मण्डल ४

सूक्त ५४

मंत्र २

संहिता-पाठः

देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वं सुवसि भागमुत्तमम्।

आदिददामानं सवितव्युर्णुषेऽनूचीना जीविता मानुषेभ्यः॥

पद-पाठः

देवेभ्यः। हि। प्रथमम्। यज्ञियेभ्यः। अमृतत्वं। सुवसि। भागम्। उत्तमम्। आत्। इत्। दामानम्। सवितः। वि। ऊर्णुषे। अनूचीना। जीविता। मानुषेभ्यः॥२॥

अन्वय — हे सवितः! प्रथमम् यज्ञियेभ्यः देवेभ्यः अमृतत्वं उत्तमम् भागम् सुवसि। आत् इत् दामानम् व्यूर्णुषे मानुषेभ्यः अनूचीना जीविता।

दयानन्द-भाष्य

(देवेभ्यः) दिव्यगुणकर्मस्वभावेभ्यो अर्वेभ्यः (हि) यतः (प्रथमम्) आदौ (यज्ञियेभ्यः) सत्यभाषणादियज्ञानुष्ठातृभ्यः (अमृतत्वं) मोक्षसुखम् (सुवसि) प्रेयसि (भागम्) भजनीयम्



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

(उत्तमम्) (आत्) आनन्तर्यं (इत्) (दामानम्) दातारम् (सवितः) सकलजगदुत्पादक जगदीश्वर (वि) (ऊर्णुषे) स्वव्याप्त्याऽऽच्छादयसि (अनूचीना) यान्यनुचरन्ति तानि (जीवितानि) जीवितानि (मानुषेभ्यः) ॥२॥

भावार्थ — हे मनुष्या यः परमात्मा सत्याचारे प्रेरयति मुक्ति सुखं प्रदाय सर्वानानन्दयति तमेव सदोपाध्वम् ॥२॥

हि०भावार्थ — हे मनुष्यो ! जो परमात्मा सत्य आचरण में प्रेरणा करता और मुक्तिसुख को दे कर सब को आनन्दित करता है उसी की सदा उपासना करो ॥२॥

### सायण-भाष्य

प्रथमं देवेभ्यो हि । हि शब्दः प्रसिद्धौ । देवेभ्यः यज्ञियेभ्यः यज्ञार्हेभ्यः अमृतत्वं तत्साधनमुत्तममुत्कृष्टं भागं सोमादिलक्षणं सुवसि अनुजानासि । आदित् अनन्तरमेव दामानं हविषां दातारं हे सवितः वि ऊर्णुषे प्रकाशयति । मानुषेभ्यः यजमानेभ्यः जीविता जीवितानि अनूचीना अनुक्रमयुक्तानि । पितृपुत्रपौत्रा इत्यनुक्रमः । ईदृशानि । जीवितानि पश्चाद्व्यूर्णुषे प्रकाशयसि ।

शब्दार्थ — यज्ञियेभ्यः = यज्ञ के भाग को प्राप्त करने वाले । अमृतत्वम् = अमरता को प्राप्त करने वाले । उत्तमम् = सबसे उत्कृष्ट । भागम् = यज्ञ के भाग को । सुवसि = प्रदान करते हो । आत् इत् = इसके पश्चात् । दामानम् = हवि प्रदान करने वाले यजमान को । व्यूर्णुषे = प्रकाशित करते हो । अनूचीना = अनुक्रम युक्त । जीविता = जीवन ।

हिन्दी व्याख्या — यह प्रसिद्ध है कि हे सविता देवता ! तुम पहले तो यज्ञ के भाग को प्राप्त करने वाले देवताओं के लिये अमरता को प्राप्त करने वाले सबसे उत्कृष्ट यज्ञ भाग को प्रदान करते हो और उसके पश्चात् हवि प्रदान करने वाले यजमान को प्रकाशित करते हो तथा मनुष्यों के लिये अनुक्रम से युक्त अर्थात् पिता-पुत्र-पौत्र इस क्रम से जीवन को प्रकाशित करते हो अर्थात् जीवन प्रदान करते हो ।

### व्याकरण —

यज्ञियेभ्यः — 'यज्ञभागम् अर्हति' अर्थ में 'यज्ञ' शब्द से "यज्ञर्त्विभ्याम्" से घञ् प्रत्यय । 'घ' को इयादेश = यज्ञिय ।

अमृतत्वम् — मृ+क्त = मृत । न+मृत = अमृत । अमृतस्य भावः = अमृत + त्व = अमृतत्व ।

दामानम् — दा + मनिन् = दामन् । द्वितीया विभक्ति का एकवचन ।

अर्णुवे — अर्णु धातु, लट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

मानुषेभ्यः — मनु+षुक्(ष)+ अञ् = मानुष । चतुर्थी का एकवचन ।

अनूचीना — 'अन्वग् भवा' अर्थ में अनु+अञ्च् + ख(ईन) = अनूचीन द्वितीया विभक्ति का बहुवचन । लोक में 'अनूचीनानि' रूप होगा ।



विशेष — पीटर्सन ने 'दामानम्' को 'भागम्' का विशेषण माना है और इस शब्द को 'दो अवखण्डने' धातु से निष्पन्न कहा है।

छन्द के अनुरोध से 'यज्ञियेभ्यः', 'ऽमृतत्वम्', व्यूर्णुवे', 'ऽनूचीना' और 'मानुषेभ्यः' को क्रमशः 'यज्ञियेभ्यः', 'अमृतत्वम्', 'वि ऊणुषे', 'अनूचीना' और 'मानुषेभ्यः' पढ़ना चाहिए।

मण्डल ४

सूक्त ५४

मंत्र ३

संहिता-पाठः

अचि॒न्ती यच्च॑कृ॒मा दै॒व्ये जने॑ दी॒नैर्दक्षै॑ प्रभू॒ती पू॒रुष॑त्वता॒।

दे॒वेषु॑ च सवि॒त॒र्मानु॑षेषु च त्वं नो अत्र सुव॒ता॒दना॑गसः॥

पद-पाठः

अचि॒न्ती । यत् । च॒कृत॑ । दै॒व्ये जने॑ । दी॒नैः । दक्षैः । प्रभू॒ती । पू॒रुष॑त्वता॒ । दे॒वेषु॑ । च । सवि॒तः । मानु॑षेषु । च त्वम् । नः । अत्र॑ । सुव॒तात् । अना॑गसः॥३॥

अन्वय — सवितः । दैव्ये जने देवेषु च मानुषेषु च अचिन्ती दीनैः दक्षैः प्रभूती पुरुषत्वता यत चकृम, अत्र त्वम् नः अनागराः सुवतात् ।

दयानन्द-भाष्य

(अचिन्ती) अचित्त्या विद्यया (यत्) कर्म (चकृमा) कुर्याम । अत्र संहितायामिति दीर्घः (दैव्ये) देवेषु विद्वत्यु कुशले (जने) विदुषि (दीनैः) क्षीणैः (दक्षैः) चतुरैः (प्रभूती) बहुत्वेन (पुरुषत्वता) उत्तमाः पुरुषा विद्यन्तेऽस्मिन्तेन (देवेषु) विद्वत्सु (ख) (स्माधितः) सकलजगदुत्पादक (मानुषेषु) अविद्वत्सु (च) (त्वम्) (नः) अस्मान् (अत्र) अस्मिन् (सुत्रतात्) प्रेरय (अनागसः) अनपराधिनः॥३॥

भावार्थ — हे विद्वांसो यूयं यद् वयमविद्यया युष्माकमपराधं कुर्याम स क्षन्तव्योऽस्मानोपदेशाभ्यां निरपराधिनः कुरुत॥३॥

हि०भावार्थ — हे विद्वानो ! आप लोग जो हम लोग अविद्या से आप लोगों का अपराध करें वह क्षमा करने योग्य है और हम लोगों को अध्यापन और उपदेश से निरपराधी करो॥३॥

सायण-भाष्य

हे सवितः ! वयमचित्ती अप्रज्ञया दैव्ये जने त्वयि दीनैः दुर्बलैः पुत्रादिभिः ऋत्विग्भिर्वा तथा दक्षैः प्रवृद्धर्बालैः प्रभूती प्रभूत्या ऐश्वर्यमदेनेति यावत् । पुरुषत्वता पुरुषवर्त्तया च यदागश्चकृम । न केवलं त्वय्येव कृतमपि तु देवेष्वन्येषु मानुषेषु चाज्ञानादिभिर्न्यच्चकृम नः कृतवतोऽस्मान् त्वमत्र अस्मिन् कर्मणि अनागसः अपापान् सुवतात् अनु जानीहि ।

शब्दार्थ — अचित्ति = अज्ञान से । चकृम = किया है (अपराध) । दैव्ये = दिव्य गुणों से युक्त आपके प्रति । जने = जन्म धारण करने वाले आपके प्रति । दीनैः = दुर्बल ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

दक्षैः = चतुरता से युक्त। प्रभूति = ऐश्वर्य के मद से। पुरुषत्वता = पौरुष के मद से। देवेषु = देवताओं के प्रति। मानुषेषु = सांसारिक मनुष्यों के प्रति। सुवतात् = बना दीजिये। अनागसः = अपराध रहित।

**हिन्दी व्याख्या** — हे सविता देवता ! हमने दिव्य गुणों से युक्त जन्म धारण करने वाले आपके प्रति और अन्य देवताओं के प्रति एवं सांसारिक मनुष्यों के प्रति अज्ञान से या दुर्बल अथवा बलशाली ऋत्विजों का पुत्र आदियों के द्वारा अथवा ऐश्वर्य के मद से अथवा पौरुष के मद से जो कुछ भी अपराध किया है इस यज्ञ में आप हमें उन अपराधों से अपराध रहित बना दीजिये।

**व्याकरण —**

अचित्ती — नञ्+चित्+क्तिन्। तृतीया विभक्ति का एकवचन, वैदिक रूप।

चकृम — 'कृ' धातु, लिट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन।

दैव्ये — देव + यञ् = दैव्य। आदि स्वर को वृद्धि तथा अन्तिम स्वर का लोप।

प्रभूति — प्र+भू+क्तिन् = प्रभूति। तृतीया का एकवचन। वैदिक रूप।

अनागसः — न विद्यते आगः येषां ते। बहुव्रीहि समास। द्वितीया का एकवचन।

पुरुषत्वता — पुरुष + त्व + तल् + टाप्।

सुवतात् — 'षू (सू)' धातु, लोट् लकार मध्यम पुरुष, एकवचन।

**विशेष** — ह्विटनी के अनुसार 'दैव्ये जने' का अर्थ देवताओं का समूह (The folk of gods) है। पीटर्सन के अनुसार 'दीनैः' यह पद 'दक्षै' का विशेषण है और 'दक्ष' का अर्थ है — बुद्धि। इस प्रकार यहाँ 'अपनी दुर्बल बुद्धियों से' (With feeble wit) अर्थ होगा। उसके अनुसार यहाँ इस प्रकार अर्थ होगा — Whatever we have done against the folk of the gods, as weak ones of ignorance, or as strong ones out of insolence। 'पुरुषत्वता' पद का प्रयोग ऋग्वेद में एक ही अन्य मन्त्र ५/४८/५ में हुआ है।

छन्द के आग्रह से यहाँ 'दैव्ये', 'पुरुषत्वता' और 'त्वम्' को क्रमशः 'दैविये' 'पुरुषतुवता' और 'तुवम्' उच्चारण करना चाहिए।

मण्डल ४

सूक्त ५४

मंत्र ४

संहिता-पाठः

न प्रमिये सवितुर्दैव्यस्य तद्यथा विश्वं भुवनं धारयिष्यति।

यत्पृथिव्या वरिमन्ना स्वंङ्गुरिर्वर्षन्दिः सुवति सत्यमस्य तत्॥

पद-पाठः

न। प्रमिये। सवितुः। दैव्यस्य। तत्। यथा। विश्वम्। भुवनम्। धारयिष्यति। यत्। पृथिव्याः। वरिमन्। आ। सुअङ्गुरिः। वर्षन्। दिवः। सुवति। सत्यम्। अस्य। तत्॥४॥



अन्वय — सवितुः दैव्यस्य तत् न प्रमिये यथा विश्वम् भुवनम् धारयिष्यति । स्वङ्गुरिः पृथिव्याः वरिमन् यत् सुवति आ दिवः वर्ष्मन् अस्य तत् सत्यम् ।

**दयानन्द-भाष्य**

(न) निषेधे (प्रमिये) मरणं प्राप्नुयाम् (सवितुः) सकलजगदुत्पाकस्य (दैव्यस्य) दिव्येषु पदार्थेषु साक्षात्कृतस्य (तत्) (यथा) (विश्वम्) समग्रम् (भुवनम्) भवन्ति भूतानि यस्मिस्तत् (धारयिष्यति) (यत्) (पृथिव्याः) भूमेः (वरिमन्) बहुगुणयुक्त (आ) समन्तात् (स्वङ्गुरिः) शोभना अङ्गुलयो यस्य सः (वर्ष्मन्) यो वर्षति तत्सम्बुद्धौ (दिबः) कमनीयस्य (सुवति) (सत्यम्) (अस्य) (तत्) ॥४॥

भावार्थ — हे विद्वांसो यद्ब्रह्म एवं जगद्धरसि सूर्यवायुभ्यां धारयति च वेदद्वारा सर्वे सत्यं प्रकाशयति च तदेव वयमुपास्महे ॥४॥

हि०भावार्थ — हे विद्वानो ! जो ब्रह्म सब जगत् को धारण करता और सूर्य और वायु से धारण कराता है, वेद के द्वारा सब सत्य का प्रकाश कराता है, उसी की हम लोग उपासना करें ॥४॥

**सायण-भाष्य**

सवितुः दैव्यस्य तत्कर्म न प्रमिये प्रमीयेत प्रहिंस्येत हिंसार्हं न भवतीत्यर्थः । यद्वा दैव्यस्येति व्यधिकरणे षष्ठी । सा च कर्मार्था दैव्यं कर्मैत्यर्थः । कथमहिंस्यमित्यत आह । यथा विश्वं भुवनं धारयिष्यति धारयति । विश्वधारणारूपं यत्कर्मस्ति तन्न प्रमिये । तथा स्वङ्गुरिः शोभनाङ्गुल्युपलक्षितहस्तो यद् यः पृथिव्या वरिमन् । आ चार्थे । भूम्या उरुत्वे च सुवति प्रेरयति । तथा दिवः द्युलोकस्य वर्ष्मन् उरुत्वे च सुवति । अस्य दैव्यस्य तदुक्तं कर्म सत्यमबाध्यतिमि ।

शब्दार्थ — प्रमिये = नष्ट होता है । तत् = वह जगत्-धारण रूप कर्म दैव्यस्य = देवता का । यथा = जिन कर्मों द्वारा । धारयिष्यति = धारण करता है । वरिमन् = श्रेष्ठता, उन्नति । सुअङ्गुरिः = सुन्दर किरणों रूपी अङ्गुलियों वाला । वर्ष्मन् = शरीरधारी । सुवति = प्रेरणा देता है ।

हिन्दी व्याख्या — सबको उत्पन्न करने वाले या प्रेरणा देने वाले सविता देवता का वह जगत् धारण रूप कर्म कभी नष्ट नहीं होता, जिन कर्मों के द्वारा वह सम्पूर्ण जगत् को धारण करता है । शोभन किरणों रूपी अङ्गुलियों वाला वह सविता देवता श्रेष्ठता या उन्नति के लिये जो प्रेरणा देता है और उच्च लोको के निवासी शरीरधारियों के लिये प्रेरणा देता है, इसका वह कर्म वस्तुतः सत्य अर्थात् तीनों कालों में अबाध्य रूप से रहता है ।

**व्याकरण —**

प्रमिये — प्र । मीञ् हिंसायाम् से कृत्य प्रत्यय के अर्थ में 'केन्' प्रत्यय । 'इयङ्' आदेश होकर = प्रमिये ।

दैव्यस्य — देव+यञ् (स्वार्थ में) = दैव्य ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

धारयिष्यति — धृ (णिजन्त) धातु, लृट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

वरिमन् — उरु+इमनिच् । 'उरु' को 'वर्' आदेश = वरिमन् ।

स्वङ्गुरिः — शोभनाः अङ्गुरयो यस्य सः ।

वर्षन् — उरु+इमनिच् । 'उरु' को 'वर्ष' आदेश 'इमनिच्' के 'इ' को लोप ।

विशेष — 'वर्षन्' का अर्थ ऊँचाई या उच्चतम प्रदेश (height or highest place) भी होता है । ग्रासमान ने 'यथा' का अर्थ 'By which' किया है । सत्यमस्य तत् का अर्थ है — Surely that is his अथवा that work of his stands over.

छन्द के आग्रह से "दैव्यस्य" को "देवियस्य" और "स्वङ्गुरिः" को सुवङ्गुडि, पढ़ना चाहिए ।

मण्डल ४

सूक्त ५४

मंत्र ५

संहिता-पाठः

इन्द्रज्येष्ठान्बृहदभ्यः पर्वतेभ्यः क्षयाँ एभ्यः सुवसि पस्त्यावतः ।

यथायथा पतयन्तो वियेमिर एवैव तस्थुः सवितः सवायं ते ।।

पद-पाठः

इन्द्रज्येष्ठान् । बृहदभ्यः । पर्वतेभ्यः । क्षयान् । एभ्यः । सुवसि । पस्त्यावतः । यथायथा । पतयन्तः । वियेमिरे । एव । एव । तस्थुः । सवितरिति । सवायं । ते ।।५।।

अन्वय — सवितः ! इन्द्रज्येष्ठान् बृहदभ्यः पर्वतेभ्यः सुवसि एभ्यः पस्त्यावतः क्षयान् । यथा यथा पतयन्तः वियेमिरे एव एव ते सवाय तस्थुः ।

दयानन्द-भाष्य

इन्द्रज्येष्ठान् इन्द्रो विद्युत्सूर्यो वा ज्येष्ठो येषां तान् (बृहदभ्यः) महदभ्यः (पर्वतेभ्यः) मेधादिभ्यः (क्षयान्) निवासान् (एभ्यः) (सुवसि) (पस्त्यावतः) प्रशंसितानि नस्त्यानि विद्यन्ते येषु तान् (यथायथा) (पतयन्तः) परिचरन्तः (वियेमिरे) विशेषेण नियच्छन्ति (एव) निश्चये (एव) (तस्थुः) तिष्ठन्ति (सवितः) जगदीश्वर (सवाय) ऐश्वर्याय (ते) तव ।।५।।

भावार्थ — हे भगवान्! भवता सर्वेषां जीवानां निवासादिव्यवहाराय भूम्यादिलोका निर्मिता अत एव भवन्तं धन्यवादान् समर्प्य वयं तवैश्वर्ये निवसामः ।।५।।

हि०भावार्थ — हे भगवान् ! आपने सब जीवों के निवासादि व्यवहार के लिये भूमि आदि लोक रचे, इसी से आप के लिये धन्यवादों को समर्पण करके हम लोग आपके ऐश्वर्य में निवास करें ।।५।।

सायण-भाष्य

हे सवितः ! इन्द्रज्येष्ठान् इन्द्रः परमेश्वर्ययुक्तस्त्वमेव इन्द्रो वा ज्येष्ठः ज्येष्ठान् पूज्यो येषां ते तादृशाः । तानस्मान् बृहदभ्यः महदभ्यः पर्वतेभ्योऽप्याधिकान्सुवसि प्रेरयसि । किं च एभ्यः यजमानेभ्यः पस्त्यावतः गृहवतः क्षयान्निवासान् ग्रामनगरादीन् सुवसि प्रेरयसि । यथा



यथा पतयन्तः गच्छन्तः प्राणिनस्त्वया वियेमिरे विनियम्यन्ते त्वया ते तव सवाय अनुज्ञायै एवैव एवमेव नियमनमनतिक्रम्य तस्थुः तिष्ठन्ति ।

**शब्दार्थ** — इन्द्रज्येष्ठान् = परम ऐश्वर्य से युक्त तुम जिनके पूजनीय हो, इन्द्र जिनका पूजनीय है। सुवसि = प्रेरणा देते हो। क्षयान् = निवास स्थानों को। पस्त्यावतः = घरों से युक्त। यथा यथा = जैसे जैसे। पतयन्तः = जीवन यापन करने वाले प्राणी। वियेमिरे = नियमों में रहते हैं। एव एव = वैसे-वैसे ही। सवाय = नियमों का पालन करने के लिये। तस्थुः = अनुशासन में रहते हैं।

**हिन्दी व्याख्या** — हे सविता देवता ! परम ऐश्वर्य से युक्त तुम जिनके पूजनीय हो अथवा इन्द्र जिनका पूजनीय है ऐसे हमको तुम महान् पर्वतों से भी अधिक अर्थात् उनसे भी अधिक उन्नत रूप में प्रेरणा देते हो। इन यजमानों के लिये भवनों से युक्त अर्थात् विशाल निवास स्थानों को प्रेरित करते हो अर्थात् प्रदान करते हो। जैसे-जैसे जीवन यापन करने वाले प्राणी तुम्हारे लिये नियमों में रहते हैं, वैसे-वैसे ही वे तुम्हारे नियमों का पालन करने के लिये तुम्हारे अनुशासन में रहते हैं।

**व्याकरण** —

क्षयान् — 'क्षि निवासे' धातु से 'अच्' प्रत्यय = क्षय।

पस्त्यावतः — 'पस्त्यं गृहम् अस्य अस्ति' अर्थ में पस्त्य + मतुप्। द्वितीया विभक्ति का बहुवचन।

पतयन्तः — णिजन्त 'पत्' धातु से शतृ प्रत्यय। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन। लोक में पातयन्तः या पतन्तः बनेगा।

वियेमिरे — वि + यम् धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

तस्थुः — रथा धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

सवाय — सू (षू) + अप् = सब। गुण तथा अवादेश।

**विशेष** — सायण ने 'पर्वतेभ्यः' शब्द के अर्थ में 'अधिकान्' का अध्याहार करके अर्थ किया है — तुम हमें पर्वतों से अधिक उच्च प्रेरणा देते हो। परन्तु पीटर्सन ने सायण की इस व्याख्या को पटुतापूर्ण मानते हुये भी पूर्ण नहीं माना। उसने 'अधिकान्' को 'क्षयान्' का विशेषण मानकर अर्थ किया — पर्वतों से भी अधिक ऊँचे निवासों को। आर्य जाति का विश्वास रहा है कि देवगण पर्वतों पर निवास करते थे। उनके लिए 'गिरिष्ठाः', 'गिरिक्षिते' विशेषणों का प्रयोग किया जाता है। 'पतयन्तो वियेमिरे' का यह भी अर्थ किया गया है — गिरते हुए नियन्त्रण से बाहर होते हैं। पिशेल ने 'पतयन्तो वियेमिरे' का अर्थ किया है — They spread out their wings while they flew। पहाड़ों के पंख होने का उल्लेख प्राचीन साहित्य में मिलता है।

छन्द के अनुरोध से 'पर्वतेभ्यः' और 'पस्त्यावतः' को क्रमशः 'पर्वतेभ्यः' और 'पस्त्यावतः' पढ़ना चाहिये।



संहिता-पाठः

ये ते त्रिरहन्त्सवित सवासो दिवे दिवे सौभंगमासुवन्ति ।  
इन्द्रो द्यावा पृथिवी सिन्धुरदिभरादित्यै नो अदितिः शर्म यंसत् ॥

पद-पाठः

ये । ते । विः । अहन् । सवितरिति । सवासः । दिवेऽदिवे । द्यावापृथिवी इति । सिन्धुः ।  
अत्प्राभेः । आदित्यैः । नः । अदितिः । शर्म । यंसत् ॥६॥

अन्वय — सवितः ये ते सवासः अहन् त्रिः आसुवन्ति, दिवे दिवे सौभगम् । इन्द्रः द्यावापृथिवी  
अग्निः सिन्धुः आदित्यैः अदितिः नः शर्म यंसत् ।

दयानन्द-भाष्य

(ये) (ते) तय (त्रिः) (अहन्) (सवितः) परमेश्वर (सवासः) उत्पन्नाः पदार्थः  
(दिवेदिवे) प्रतिदिनम् (सौभगम्) सुभगस्य श्रेष्ठैश्वर्यस्य भावम् (आसुवन्ति) उत्पादयन्ति  
(इन्द्रः) सूर्यः (द्यावापृथिवी) प्रकाशभूमि (सिन्धुः) (अग्निः) जलैः (आदित्यैः) मासैः (नः)  
अस्मभ्यम् (अदितिः) अखण्डित परमात्मा (शर्म) सुखम् (यंसत्) प्रदद्यात् ॥६॥

भावार्थ — हे मनुष्य! यस्य जगदीश्वरस्य सृष्टौ वयमत्यन्तैश्वर्यवन्तो भवामोऽस्माकं  
रक्षकाः सर्वे पदार्थाः सन्ति त्वामे वयं सततं भजेमेति ॥६॥

हि०भावार्थ — हे मनुष्यो ! जिस जगदीश्वर की सृष्टि में हम लोग ऐश्वर्य वाले  
होते हैं और हम लोगो के रक्षा करने वाले सम्पूर्ण पदार्थ हैं उसी का हम लोग निरन्तर  
भजन करें ॥६॥

सायण-भाष्य

ये यजमानाः, हे सवितस्ते त्वदर्थं सवासः सवाः सोमाः । द्वितीयार्थं प्रथमा । सोमान् ।  
यद्वा सवासः सवनानि प्रातरादीनि प्रति त्रिरहन् अभिषुवन्ति । न केवलमेकस्मिन्नेवाहनि  
सवनत्रयेषु अपि तु दिवेदिवे प्रतिदिनं सौभगं सौभाग्यजनकमासुवन्ति अभिषुवन्ति । तेभ्यो  
नोऽस्मभ्यमिन्द्रः शर्म यंसत् यच्छतु । द्यावापृथिव्यौ च अद्विर्विशिष्टा सिन्धुः सिन्ध्वभिमानिदेवता  
आदित्यैः सहितादितिश्च शर्म यंसत् ।

शब्दार्थ — त्रिरहन् = दिन में तीन बार । सवासः = सवन करने वाले । दिवेदिवे  
= प्रतिदिन । सौभगम् = सौभाग्य को । आसुवन्ति = आदित्य गणों के साथ देवमाता ।  
अदिभः सिन्धुः = जलों से विशिष्ट सिन्धु । आदित्यैः अदितिः = आदित्य गणों के साथ  
देवमाता । शर्म = कल्याण । यंसत् = प्रदान करे ।

हिन्दी व्याख्या — सबको प्रेरणा देने वाले हे सविता देवता ! सेवन करने वाले जो  
यजमान तुम्हारे लिये दिन में तीन बार सोम का अभिषव करते हैं अर्थात् प्रातः सवन,  
माध्यन्दिन सवन और सायं सवन करते हैं और जो प्रतिदिन सौभाग्य को प्राप्त करने के  
लिये अभिषव करते हैं । इन्द्र, द्यावापृथिवी, जलों से विशिष्ट सिन्धु, आदित्य आदि गणों के



साथ देवमाता अदिति हमारे लिये कल्याण प्रदान करें।

**व्याकरण —**

त्रिः — त्रि + सुच् (त्रिः वारम् अर्थ में)

अहन् — यहाँ सप्तमी विभक्ति का बहुवचन है। यह विभक्ति का लोप छान्दस है।

अहन्त्सवितः — अहन्+सवितः। व्यञ्जन सन्धि से कारण मध्य में धुट् (ध् = त्)

का आगम।

शर्म — शृ + मनिन् = शर्मन्।

सवासः — प्रथमा का बहुवचन है। लोक में 'सवाः' रूप होगा।

सौभगम् — सु + भग + अण्। सुभगस्य भावः अर्थ है।

दिवेदिवे — 'प्रतिदिनम्' के अर्थ में निपातनात् वैदिक अव्यय।

अंसत् — 'यम्' धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

**विशेष** — पीटर्सन ने 'सवासः' में प्रथमा के अर्थ में द्वितीया मानकर इसको कर्म माना है उसने इसका अर्थ इस प्रकार किया है — जो तीन बार अभिषुत किये जाने वाले सोम का अभिषव करते हैं। 'यंसत्' में प्रत्येक कर्त्ता की अलग-अलग विवक्षा करके एकवचन का प्रयोग किया गया है।



## पर्जन्य-सूक्त

ऋषि-अत्रि

देवता-पर्जन्य

छन्द-त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप्

मण्डल ५

सूक्त ८३

मंत्र १

संहिता-पाठः

अच्छां वद तवसं गीर्भिराभिः स्तुहि पर्जन्यं नमसा विवास ।

कनिक्रददवृषभो जीरदानू रेता दधात्याषधीषु गर्भम् ।।

पद-पाठः

अच्छां । वद । तवसं । गीर्भिः । आभिः । स्तुहि । पर्जन्यम् । नमसा । आ । विवास ।  
कनिक्रदत् । वृषभः । जीरदानुः । रेतः । दधाति । ओषधीषु । गर्भम् ।।१।।अन्वय — तवसम् पर्जन्यम् अच्छा वद आभिः गीर्भिः स्तुहि नमसा आविवास । वृषभः  
जीरदानुः कनिक्रदत् ओषधीषु गर्भम् रेतः दधाति ।

दयानन्द-भाष्य

(अच्छा) अत्र संहितायामिति दीर्घः (वद) (तवसम्) बलम् (गीर्भिः) वाग्भिः (आभिः)  
वर्तमानाभिः (स्तुहि) प्रशंस (पर्जन्यम्) मेधम् (नमसा) अन्नाद्येन (आ) (विवास) विवसति  
(कनिक्रदत्) शब्दयन् (वृषभः) बलीवर्द इव (जीरदानुः) यो जीवयति (रेतः) उदकम् । रेत  
इत्युदकनाम । निघं० १।१२ (दधाति) (ओषधीषु) (गर्भम्) ।।१।।

भावार्थ — मनुष्यैर्विद्वद्भ्यो मेघविद्या यथावद्विज्ञातव्या ।।१।।

हि०भावार्थ — मनुष्यों को चाहिये कि विद्वानों से मेघविद्या का यथावत् विज्ञान  
करें ।।१।।

सायण-भाष्य

हे स्तोतस्तवस बलवन्तं पर्जन्यमच्छाभिप्राप्य वद प्रार्थय । पर्जन्य शब्दो यास्केन  
बहुधा निरुक्तः । पर्जन्य स्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता जन्यः परो जेता वा जनयिता वा  
प्रार्जयिता रसानामितिः (निरुक्त १०-१०) आभिः गीर्भिस्तुतिवाग्भिः स्तुहि नमसा अन्नेन  
हविर्भक्षणेन आविवास सर्वतः परिचरः । यः पर्जन्यः वृषभः अपां वर्षिता जीरदानुः क्षिप्रदानः  
कनिक्रदत् गर्जन-शब्दं कुर्वन्नोषधीषु गर्भस्थानीय रेतः उदक दधाति स्थापयति तम् स्तुहि ।शब्दार्थ — अच्छा = अभिमुख होकर । वद = स्तुति करो । तवसम् = बलवान् ।  
गीर्भिः = स्तुतियों की वाणियों से । आभिः = इन । नमसा = हवि रूप अन्न से, नमस्कार  
से । आविवास = सब प्रकार से सेवा करो । कनिक्रदत् = गर्जना करता हुआ । जीरदानुः  
= शीघ्र दान देने वाला । वृषभः = बरसाने वाला । रेतः = जल को । गर्भम् = गर्भ रूप ।हिन्दी व्याख्या — हे स्तुति करने वाले तुम बलवान् पर्जन्य की ओर अभिमुख  
होकर प्रार्थना करो । इन स्तुतियों की वाणियों से उसकी स्तुति करो । हवि रूपी अन्न से  
अथवा नमस्कार के साथ उसकी सब प्रकार से सेवा करो । जलों को बरसाने वाला, शीघ्र



## पर्जन्य-सूक्त ( मण्डल-५, सूक्त-८३ )

दान देने वाला और गरजता हुआ पर्जन्य औषधियों में गर्भ रूप जल को धारण कराता है।

**व्याकरण —**

**पर्जन्यः** — पृणन् जनयति अर्थ में पृ+जन्+यत् = पर्जन्य।

**आविवास** — आ+वि+वास् धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

**कनिक्रदत्** — अतिशयेन क्रन्दति अर्थ में छान्दस रूप निपातनात् बनता है। शतृ प्रत्यय।

**वृषभः** — वृष् + कभच् (औणादिक प्रत्यय)।

**जीरदानुः** — जरि+दा+नु = जीरदानु। अथवा 'जावु' धातु से रदानुक प्रत्यय।

**विशेष** — मैक्डानल से 'नमसा' का अर्थ नमस्कार, कनिक्रदत् वृषभः, डकराता हुआ सांड (bellowing bull), 'गर्भ' का अर्थ बीज (seed) और 'रेतः' का अर्थ कीटाणु (germs) किया है।

छन्द की पूर्ति के लिये 'दधात्वीषधीषु' को 'दधाति ओषधीषु' इस प्रकार पढ़ना चाहिये।

मण्डल ५

सूक्त ८३

मंत्र २

**संहिता-पाठः**

वि वृक्षान् हन्त्युत हन्ति रक्षसो विश्वं बिभायभुवनं महावधात्।

उतानागा ईषते वृष्ण्यावतो यत्पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः॥

**पद-पाठः**

वि। वृक्षान्। हन्ति। उत। हन्ति। रक्षसः। विश्वम्। बिभाय। भुवनम्। महावधात्।  
उत्। अनागाः। ईषते। वृष्ण्यावतः। यत्। पर्जन्यः। स्तनयन्। हन्ति। दुष्कृतं॥२॥

**अन्वय** — पर्जन्यः वृक्षान् विहन्ति उत रक्षसः हन्ति महावधात् विश्वम् भुवनम् बिभाय। यत् स्तनयन् दुष्कृतः हन्ति उत अनागाः वृष्ण्यावतः ईषते।

**दयानन्द-भाष्य**

(वि) (वृक्षान्) छेतुमहान् (हन्ति) (उत्त) अपि (हन्ति) (रक्षसः) दुष्टाचारान् (विश्वम्) (बिभाय) विभेति (भुवनम्) उदकम्। भुवनमित्युदकनाम। निघं० १।१२। (महावधात्) महतो हननात् (उत्त) (अनागाः) न विद्यत आगोऽपराधो यस्मिन् (ईषते) हिनस्ति (वृष्ण्यावतः) वृष्ण्यानि वर्षितु योग्यान्यभ्राणि विद्यन्ते येषु तान् (यत्) यः (पर्जन्यः) (स्तनयन्) शब्दयन् (हन्ति) (दुष्कृतः) दुष्टाचारान्॥२॥

**भावार्थ** — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः — ये मनुष्याः पालनीयान् पालयन्ति हन्तव्यान् ध्नन्ति ते राजसत्तावन्तो जायन्ते ॥२॥



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है — जो मनुष्य पालन करने योग्यों का पालन करते हैं और नाश करने योग्यों का नाश करते हैं वे राजसत्ता होते हैं ॥२॥

**सायण-भाष्य**

अयं मन्त्रो निरुक्ते व्याख्यातः । तदेवात्र लिख्यते । विहन्ति वृक्षान् विहन्ति च रक्षांसि सर्वाणि चास्माद् भूतानि बिभ्यति महावधात् महान् हास्य वधः । अप्यनपराधो भीतः पलायते वर्षकर्मवतो यत्पर्जन्यः स्तनयन्हन्ति दुष्कृतः पापकृत इति ।

शब्दार्थ — विहन्ति = नष्ट करता है । रक्षसः = रक्षसों को । विभाय = डरता है । अनागाः = निरपराध । ईषते = डर कर दूर भागता है । वृष्ण्यावतः = बलवान् या बरसते हुये पर्जन्य से । स्तनयन् = गरजता हुआ । दुष्कृतः = पापियों को ।

हिन्दी व्याख्या — पर्जन्य वृक्षों को नष्ट करता है और रक्षसों को मारता है । इसलिये इसके महान् वध से सारा संसार डरता है । क्योंकि पर्जन्य गरजता हुआ पापियों को मारता है, इसलिये निरपराध व्यक्ति भी इस बलवान् या बरसते हुये पर्जन्य से डरकर दूर भागते हैं ।

**व्याकरण —**

वृष्ण्यावतः — वृष्ण्य+मतुप्(वैदिक दीर्घत्व) । अथवा पापम् इच्छति इति ।

विभाय — भी धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

स्तनयन् — स्तनयु+शतृ ।

ईषते — ईष् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

अभागाः — न आगः यस्य स ।

हन्ति — हन् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष । एकवचन ।

रक्षसः — रक्षस्, द्वितीय विभक्ति, बहुवचन ।

विशेष — वज्र के द्वारा किया गया वध महावध कहलाता है । यहाँ सम्भवतः मेघ की विद्युत की ओर संकेत है, जो महान विनाश उत्पन्न करती है । 'वृष्ण्यावतः ईषते' का अर्थ 'वृषभों के समान पाप कर्म करने वालों पर शासन करता है' भी है । छन्द के अनुरोध से 'हन्त्युत' को 'हन्ति उत' और 'वृष्ण्यावत' को 'वृष्ण्यावतः' पढ़ना चाहिये ।

मण्डल ५

सूक्त ८३

मंत्र ३

संहिता-पाठः

रथीव कशयाश्वौ अभिक्षिपन्नाविदूतान्कृणुते वर्ष्या । अहं ।

दूरात्सिंहस्य रतनथा उदौरते यत्पर्जन्यः कृणुते वर्ष्य । नभः ॥

पद-पाठः

रथीऽहं । कशया । अश्वान् । अभिऽक्षिपन् । आविः । दूतान् । कृपृवे । वर्ष्यान् । अहं ।



दूरात् । सिंहस्य । रतनथाः । उत् । ईरते । यत् । पर्जन्यः । कृणुते । वर्षम् । नभरु ॥३॥  
 अन्वय — कशया अश्वान् अभिक्षिपन् रथी इव अह वर्ष्यान् दूतान् आधिः कृणुते । यत्  
 पर्जन्यः नभः वर्षम् कृणुते सिंहस्य स्तनथाः दूरात् उदीरते ।

### दयानन्द-भाष्य

(रथीव) बहवो रथा विद्यन्ते यस्य तद्वत् (कशया) ताडनार्थरज्वा (अश्वान्) तुरङ्गान्  
 (अभिक्षिपन्) आभिमुख्ये प्रेरयन् (आविः) प्राकटये (दूतान्) (कृणुते) करोति (वर्ष्यान्) वर्षासु  
 साधून् (अह) विनिग्रहे (दूरात्) (सिंहस्य) (स्तनथाः) शब्दयेः (उत्) (ईरते) कम्पयन्ति  
 गच्छन्ति वा (यत्) यः (पर्जन्यः) मेघः (कृणुते) वर्षासु भवम् (नभः) अन्तरिक्षम् ॥३॥

भावार्थ — अत्रोपमालङ्कारः — यथा सारथिरश्वान्यथेष्टं स्थान नेतु शक्तोति तथैव  
 मेघो घनानीतस्ततो नयति ॥३॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है — जैसे सारथी घोड़ो को यथेष्ट स्थान  
 में ले जाने को समर्थ होता है वैसे ही मेघ जलों को इधर उधर ले जाता है ॥३॥

### सायण-भाष्य

रथीव रथस्वामीव । स यथा कशया अश्वान् अभिक्षिपन् दूतान् पटानाविष्करोति  
 तद्वदसौ पर्जन्योऽपि कशयाश्वान् अभिक्षिपन् प्रेरयन् वर्ष्यान् कान् दूतान् दूतवद् वृष्टिप्रेरकान्  
 मेघान् मरुतो वा आविष्कृणुते प्रकटयति । अहेति पूर्ण । एवं सति सिंहस्य । सहतेहिंसतेर्वा  
 शब्दकर्मणः सिंहशब्दः । अवर्षणेनाभिभवितुः शब्दयितुर्वा मेघस्य स्तनथाः गर्जनं शब्दाः दूरात्  
 उत् ईरते उद्गच्छन्ति । कदा । यत् यदा पर्जन्यो नमोऽन्तरिक्षं वर्ष्य वर्षोपेतं करोति तदा ।

शब्दार्थ — कशया = चाबुक से । अभिक्षिपन् = भगाता हुआ । दूतान् = दूतों  
 जैसे मेघो को । वर्ष्यान् = वर्षा करने वाले । आविःकृणुते = प्रकट करता है । स्तनथाः  
 = गर्जनाये । उत् ईरते = उत्पन्न होती है, सुनाई देती है । वर्ष्यम् = वर्षा से युक्त ।

हिन्दी व्याख्या — चाबुक से घोड़ो को भगाते हुये रथी के समान अहो यह पर्जन्य  
 वर्षा करने वाले दूतों जैसे मेघो को प्रकट करता है । जब यह पर्जन्य अन्तरिक्ष को वर्षा  
 से युक्त करता है तो सिंह के समान गर्जना करने वाले या हिंसा करने वाले इस मेघ की  
 गर्जनायें दूर से सुनाई देती हैं ।

### व्याकरण —

अभिक्षिपन् — अभि + क्षिप् + शतृ ।

कृणुते — आत्मनेपदी 'कृ' धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन । छान्दस रूप  
 है । लोक में 'कुरुते' रूप बनता है ।

वर्ष्यम् — वर्षा + यत् = वर्ष्य । अथवा वृष् + ण्यत् = वर्ष्य ।

स्तनथाः — 'स्तन गर्जने' धातु से 'अथच्' प्रत्यय ।

उदीरते — उत् + ईर् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

विशेष — स्वतन्त्र स्वरित के बाद यदि तुरन्त ह्रस्व उदात्त हो तो 'श्' और यदि



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

दीर्घ उदात्त हो तो '३' बनाया जाता है, जैसा कि 'वर्ष्य १' और वर्ष्यो ३' में हुआ है। छन्द की पूर्ति के लिये 'कशयाश्वौ वर्ष्यो' और वर्ष्यम् को क्रमशः 'कशयाशुवा' 'वर्षिया' और 'वर्षियम्' पढ़ना चाहिये।

**मण्डल ५****सूक्त ८३****मंत्र ४****संहिता-पाठः**

प्र वा॒ता वा॒न्ति प॒तय॑न्ति वि॒द्युत॑ उदोष॑धीर्जिह॑ते पि॒न्वते॑ स्वः ।

इ॒रा वि॒श्वस्मै॑ भुव॑नाय जाय॑ते यत्प॒र्जन्यः॑ पृथि॒वीं रे॒तसा॑वन्ति ।।

**पद-पाठः**

प्र। वाताः। वान्ति। पतयन्ति। विद्युतः। उत्। ओषधीः। जिहते। पिन्वते। स्वोरिति स्वः। इरा। विश्वस्मै। भुवनाय। जायते। यत्। पर्जन्यः। पृथिवीम्। रेतसा। अवन्ति।।४।।

अन्वय — यत् पर्जन्यः पृथिवीम् रेतसा अवति वाताः प्रवान्ति, विद्युतः पतयन्ति, ओषधीः उत् जिहते, स्वः पिन्वते, इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते।

**दयानन्द-भाष्य**

(प्र) प्रकर्षेण (वाताः) वायवः (वान्ति) गच्छन्ति (पतयन्ति) (विद्युतः) (उत्) (ओषधीः) (जिहते) प्राप्नुवन्ति (पिन्वते) सेवन्ते (स्वः) अन्तरिक्षम् (इरा) अन्नादिकम्। इरेत्यन्ननाम। निघं० १।७। (विश्वस्मै) सर्वस्मै (भुवनाय) (जायते) (यत्) यः (पर्जन्यः) पालनजनकः (पृथिवीम्) (रेतसा) जलेन (अवति) रक्षति।।४।।

भावार्थ — मनुष्यैर्येन मेघेन सर्वस्य पालनं जायते तस्योन्नतिर्वृक्षप्रावापणेन वनरक्षणेन होमेन च संसाधनीया यतः सर्वस्य पालनं सुखेन जायेत ।।४।।

हि०भावार्थ — मनुष्य लोगो को चाहिये कि जिस मेघ से सबका पालन होता है उस की वृद्धि वृक्षो के लगाने, वनों की रक्षा करने और होम करने से सिद्ध करें जिससे सब का पालन सुख से होवो।।४।।

**सायण-भाष्य**

प्रवान्ति वाता वृष्ट्यर्थं पतयन्ति गच्छन्ति समन्तात् संचरन्ति विद्युतः। ओषधीः ओषधयः उत् जिहते उदगच्छन्ति प्रवर्धन्ते स्वरन्तरिक्षं पिन्वते क्षरति। इरा भूमिर्विश्वस्मै सर्वस्मै भुवनाय सर्वजगद्धिताय जायते समर्था भवति। कदैवमिति। यत् यदा पर्जन्योदेवः पृथिवी रेतसा उदकेन अवति रक्षति अभिगच्छति वा तदैव भवति।

शब्दार्थ — वाताः = हवायें। प्रवान्ति = चलती है। पतयन्ति = गिरती है। उत् जिहते = अडकुरित होती है, बढ़ती है। स्वः = अन्तरिक्ष। पिन्वते = टपकाता है। इरा = भूमि। भुवनाय = संसार के कल्याण के लिये। रेतसा = जल से। अवति = रक्षा करता है।



## पर्जन्य-सूक्त (मण्डल-५, सूक्त-८३)

हिन्दी व्याख्या — जब कि पर्जन्य पृथिवी की अपने जल से रक्षा करता है, अर्थात् इसको सींचता है, तब हवायें (वर्षा के लिये) चलती हैं, बिजलियाँ गिरती हैं, वनस्पतियाँ अंकुरित होती हैं या बढ़ती हैं, अन्तरिक्ष जल की बूँदों को टपकाता है और भूमि सम्पूर्ण संसार के हित के लिये समर्थ हो जाती है।

### व्याकरण —

अवति — अच् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

वान्ति — वा धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

पतयन्ति — णिजन्त 'पत्' धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

जिहते — 'ओहाङ्. गतौ' धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

ओषधीः — वैदिक रूप है। लोक में 'ओषधयः' रूप होगा।

पिन्वते — 'पिवि' धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

जायते — जन् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

विशेष — मैक्डानल के अनुसार 'पिन्वते' का अर्थ 'overflow' है और अवति का अर्थ 'उत्पत्ति के लिये प्रेरणा देना' है। 'इरा' शब्द का प्रयोग इसी मन्त्र में हुआ है। अन्यत्र 'इरावती' शब्द आया है जिसका अर्थ सायण ने 'अन्नवती धेनु' किया है।

छन्द के अनुरोध से 'स्वः' का उच्चारण 'सुव' करना चाहिये।

मण्डल ५

सूक्त ८३

मंत्र ५

### संहिता-पाठः

यस्य व्रते पृथिवी नन्नमीति यस्य व्रते शफवज्जर्भुरीति।

यस्य व्रते ओषधीर्विश्वरूपाः स नः पर्जन्य महि शर्म यच्छ॥

### पद-पाठः

यस्य। व्रते। पृथिवी। नन्नमीति। यस्य। व्रते। शफवत् जर्भुरीति। यस्य। व्रते। ओषधीः। विश्वरूपाः। सः। नः। पर्जन्य। महि। शर्म। यच्छ॥५॥

अन्वय — यस्य व्रते पृथिवी नन्नमीति, यस्य व्रते शफवत् जर्भुरीति, यस्य व्रते विश्वरूपाः ओषधीः, स पर्जन्य नः महि शर्म यच्छ।

### दयानन्द-भाष्य

(यस्य) (व्रते) कर्मणि (पृथिवी) (नन्नमीति) भृशं नमति (यस्य) (व्रते) (शफवत्) शफेन तुल्यम् (जर्भुरीति) भृशं धरति (यस्य) (व्रते) (ओषधीः) सोमाद्याः (विश्वरूपाः) (सः) (नः) अस्मभ्यम् (पर्जन्य) पर्जन्यवद्वर्त्तमान (महि) महत् (शर्म) गृहत् (यच्छ) ॥५॥

भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः — यदि वर्षा न भवेयुस्तर्हि कस्यापि जीवनं न भवेत् ॥५॥



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है — जो वृष्टियां न होवे तो किसी का भी जीवन न होवे ॥५॥

### सायण-भाष्य

यस्य पर्जन्यस्य व्रते कर्मणि नन्नमीति अत्यर्थं नमति सर्वेषामधो भवति । यस्य व्रते शफवत् पादोपेतं (शफवत् शफवत्या?) गवादिकं जर्भुरीति भ्रियते पूर्यते गच्छतीति वा यस्य व्रते कर्मणि ओषधीरोषध्यो विश्वरूपा नानारूपा भवन्ति हे पर्जन्य । सं महान्स्त्वं नोऽस्मभ्यं महि शर्म महत्सुखं यच्छ प्रयच्छ ।

शब्दार्थ — व्रते = कर्म में, अनुशासन में । नन्नमीति = अत्यधिक झुक जाती है । शफवत् = खुरों से युक्त गौ आदि पशु, खुर परिणाम से युक्त स्थान के समान । जर्भुरीति = पूर्ण होती है, जल में भर जाती है । विश्वरूपा = नाना प्रकार की । महि = महान् प्रयच्छ = प्रदान करो ।

हिन्दी व्याख्या — जिस पर्जन्य के कर्म में अथवा अनुशासन में रह कर पृथिवी अत्यधिक झुक जाती है, जिस पर्जन्य के कर्म से खुरों से युक्त गौ आदि पशु पूर्ण हो हैं अर्थात् पुष्ट होते हैं अथवा खुर के परिणाम से युक्त स्थान के समान यह सारी पृथिवी जल से भर जाती है और जिस पर्जन्य के कर्म से नाना प्रकार की वनस्पतियाँ अंकुरित होती है, ऐसे हे पर्जन्य तुम हमारे लिये महान् सुख को प्रदान करो ।

### व्याकरण —

नन्नमीति — यङ्. लुगन्त 'यम्' धातु लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

शफवत् — शफ+मतुप् = शफवत् ।

जुर्भुरीति — यङ्. लुगन्त, 'भृज् भरणे' धातु अथवा 'भुर' धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

ओषधीः — ओषधि, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन । वैदिक रूप । लोक में ओषधयः रूप होगा ।

यच्छ — दाण् (यच्छ) धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

विशेष — मैक्डनल के अनुसार 'व्रत' का अर्थ 'अधिनियम' (ordinance), शफवत् 'जर्भुरीति' का अर्थ 'खुर वाले प्राणी कूदने लगते हैं (hoofed animals leap about) और 'शर्म' का अर्थ 'आश्रय' है । सायण ने जर्भुरीति की निष्पत्ति 'भुर' धातु से मानी है ।

मण्डल ५

सूक्त ८३

मंत्र ६

संहिता-पाठः

दिवो नो वृष्टि मरुतो ररीध्वं प्र पिन्वत वृष्णो अश्वस्यधाराः  
अर्वाङ्तेन स्तनयित्नुनेहि अपो निषिञ्चन्सुरः पिता नः ॥



## पर्जन्य-सूक्त ( मण्डल-५, सूक्त-८३ )

### पद-पाठः

दिवः । नः । वृष्टिम् । मरुतः । ररीध्वम् । प्र । पिञ्चत । वृष्णाः । अश्वस्य । धाराः ।  
अवडिः । एतेन । स्तनयित्नुना । आ इहि । अपः । निषिञ्चन् । असुरः । पिता । नः । ॥६॥  
अन्वय — मरुतः ! दिवः नः वृष्टिम् ररीध्वम्, वृष्णाः अश्वस्य धाराः प्रपिञ्चत एतेन स्तनयित्नुना  
अर्वाङ् आ इहि, अपः निषिञ्चन् असुरः नः पिता ।

### दयानन्द-भाष्य

(दिवः) सूर्यात् (नः) अस्मभ्यम् (वृष्टिम्) (मरुतः) वायुवद्वर्त्तमाना मनुष्याः (ररीध्वम्)  
इत्त (प्र) (पिञ्चत) सिञ्चत (वृष्णा) वर्षकस्य (अश्वस्य) महतः । अश्व इति महन्नाम । निघं०  
३।३ । (धाराः) प्रवाहान् (अर्वाङ्) अधो वर्त्तमानः (एतेन) (स्तनयित्नुना) विद्युद्रूपेण (आ)  
(इहि) आगच्छति । अत्र व्यत्ययः (अपः) जलानि (निषिञ्चन्) नितरां सेचनं कुर्वन् (असुरः)  
मेघः । असुर इति मेघनाम निघं० १।१० । (पिता) जनक इव पालकः (नः) अस्माकम्  
॥१०॥

भावार्थ — हे विद्वांसो यैः कर्मभिर्वृष्टिरधिका भवेत्तानि कर्माणि सेवध्वम् ॥६॥

हि०भावार्थ — हे विद्वानो । जिन कर्मों से वृष्टि अधिक होवे उन कर्मों का सेवन  
कीजिये ॥६॥

### सायण-भाष्य

हे मरुतः । यूयं दिवोऽन्तरिक्षसकाशाद् नोऽस्मदर्थं वृष्टिं ररीध्वं दत्त । वृष्णाः वर्षकस्य  
अश्वस्य व्यापकस्य मेघस्य सम्बन्धिन्यो धाराः उदकधारा प्रपिञ्चत प्रक्षरत । हे पर्जन्य!  
त्वमेतेन स्तनयित्नुना गर्जता मेघेन सह अर्वाङ् । अस्मदभिमुखमा इहि आगच्छ । किं कुर्वन् ।  
अपः अम्भांसि निषिञ्चन् स देवः असुरः उदकानां निरसितापि सन् नोऽस्माकं पिता  
पालकश्च ।

शब्दार्थ — दिवः = अन्तरिक्ष से । वृष्टिम् = वर्षा को । ररीध्वम् = प्रदान करो ।  
प्रपिञ्चत = क्षरित करो । वृष्णाः = वर्षा करने वाले । अश्वस्य = व्यापक मेघ की । अर्वाङ् ।  
= सम्मुख । स्तनयित्नुना = गजरते हुये । निषिञ्चन् = सिञ्चन करते हुए । असुरः =  
जलों का देने वाला ।

हिन्दी व्याख्या — हे मरुतो! तुम अन्तरिक्ष से हमारे लिये वर्षा को प्रदान करो, वर्षा  
करने वाले व्यापक मेघ की धाराओं को क्षरित करो । हे पर्जन्य! तुम इस गरजते हुये मेघ  
के साथ हमारे सम्मुख आओ । जलों का सिञ्चन करते हुये तुम जलों को देने वाले और  
हमारा पालन करने वाले हो ।

### व्याकरण —

ररीध्वम् — यङ् लुगन्त 'रीङ् गतौ' धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन ।

पिञ्चत् — पिवि (पिन्च्) धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन ।

स्तनयित्नुना — णिजन्त 'स्तन्' धातु से 'इष्णुच्' प्रत्यय = स्तनयित्नु । तृतीया



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

विभक्ति का एकवचन।

असुर — असु+रा+क।

निषिञ्चन् — नि+सिञ्च्+शतृ।

एहि — आ+इ धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

विशेष — मैकडानल के अनुसार 'अश्व' का अर्थ 'घोडा' (Stallion) और 'अर्वाङ्' का अर्थ 'अधिक ऊँचा' (Higher) है। 'असुर' का अर्थ 'दिव्य' (Devine) किया गया है। छन्द के आग्रह से 'स्तनयित्नुनेक्तायो' को 'स्तनयित्नुनेहि अपो' पढ़ना चाहिये।

मण्डल ५

सूक्त ८३

मंत्र ७

संहिता-पाठः

अभि क्रन्द स्तनय गर्भमा धा उदन्वता परि दीया रथेन।

दृतिं सु कर्ष विषितं न्यञ्च समा भवन्तद्वतो निपादाः॥

पद-पाठः

अभि। क्रन्द। स्तनय। गर्भम्। आ। धाः। उदन्वता। परि। दीय। रथेन। दृतिम्। सु। कर्ष। विऽसितम् न्यञ्चम्। समाः। भवन्तु। उत्स्वतः। निऽपादाः॥७॥

अन्वय — अभिक्रन्द, स्तनय, गर्भम्, आधाः, उदन्वता रथेन परिदीय, दृतिम् विषितम् न्यञ्चम् सु कर्ष, उद्वतः निपादाः समाः भवन्तु।

दयानन्द-भाष्य

(अभि) आभिमुख्ये (क्रन्द) क्रन्दति। अत्र सर्वत्र व्यत्ययः। (स्तनय) गर्जति (गर्भम्) (आ) (धाः) समन्ताद्वाति (उदन्वता) बहूदकसहितेन (परि) सर्वतः (दीया) उपक्षयति। अत्र व्यत्ययेन परस्मैपदं, द्व्यचोऽस्तिङ इति दीर्घश्च। (रथेन) रमणीयेन स्वरूपेण (दृतिम्) यो दृणति तं दृतिरिव जलेन पूर्णम् (सु कर्ष) विलिखति (विषितम्) (न्यञ्चम्) यो निश्चितमश्चति तम् (समाः) वर्षाणि (भवन्तु) (उद्वतः) ऊर्ध्वदेशस्थाः (निपादाः) निश्चिता निम्ना वा पादा अंशा येषान्ते॥७॥

भावार्थ — यो हि जलेन विश्वं पुष्यति दुःखं नाशयति फलानि जनयति स मेघो विश्वम्भरोस्तीति वेद्यम्॥७॥

हि०भावार्थ — जो निश्चय जल से संसार को पुष्ट करता है और दुःख का नाश करता तथा फलों को उत्पन्न करता है वह मेघ विश्वभर है ऐसा जानना चाहिये॥७॥

सायण-भाष्य

अभि भूम्यभिमुखं क्रन्द शब्दय। तदेव पुनरुच्यते दाढर्याय। स्तनय गर्ज। गर्भ गर्भस्थानीयमुदकमोषधीषु आधाः आधेहि। तदर्थमुदन्वता उदकवता रथेन परिदीय परितो गच्छ। दृतिं दृतिवदुदकधारकं मेघं विषितं विशेषेण सितं बद्धं न्यञ्चं न्यक् अधोमुखं सु सुष्ठु



कर्ष आकर्षवृष्ट्यर्थम् । यद्वा विषितं विमुक्ताबन्धनमेव कर्ष । एवं कृते उद्वतः ऊर्ध्ववन्त उन्नतप्रदेशाः निपादाः न्यग्भूतपादाः निकृष्टपादाः वा निम्नोन्नतप्रदेशाः समाः एकस्था भवन्तु उदकपूर्णाः भवन्वित्यर्थः ।

शब्दार्थ — अभिक्रन्द = शब्द करो । स्तनय = गर्जना करो । आधाः = आधान करो । उदन्वता = जल से भरे हुये । परिदीय = सब ओर से भ्रमण करो । दृतिम् = मशक । सुकर्ष = अच्छी प्रकार खींचो । विषितम् = अच्छी प्रकार बंधा हुआ । न्यञ्चम् = नीचे की ओर । समाः = एक जैसे । उद्वतः = ऊँचे । निपादाः = निचले ।

हिन्दी व्याख्या — हे पर्जन्य ! पृथिवी के अभिमुख ही शब्द करो, गर्जना करो, औषधियों में गर्म स्थानीय जल का आधान करो, जल से भरे हुये रथ द्वारा अन्तरिक्ष में सब ओर परिभ्रमण करो, मशक के समान जल से भरे हुये मेघ को, जो अच्छी प्रकार से बन्धा हुआ है नीचे की ओर अच्छी प्रकार से खींचो अथवा नीचे की ओर अच्छी प्रकार से बन्धन से मुक्त करो । पानी के भर जाने से ऊँचे और निचले स्थान एक जैसे हो जावे ।

व्याकरण —

अभिक्रन्द — अभि + क्राट् (क्रन्द) धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

स्तनय — स्तनय् धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

आधा — आङ्+धा धातु, लुङ् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन । वैदिक रूप ।

उदन्वता — उदक + मतुप । 'उदक' को 'उद्वन्' आदेश ।

परिदीया — परि+दा लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन । वैदिक अनुरोध से दीर्घ ।

विषितम् — वि+षिञ् (सि) + क्त । निपादाः — नि+पद+अण् ।

विशेष — मैक्डानल से 'निपादा' का अर्थ घाटियाँ (valleys) किया है । छन्द के अनुरोध से यहाँ से 'न्यञ्चम्' को 'नियञ्चम्' और 'भवन्तूद्वतो' को 'भवन्तूदुवतो' पढ़ना चाहिये ।

मण्डल ५

सूक्त ८३

मंत्र ८

संहिता-पाठः

महान्तं कोशमुदचा नि षिञ्च स्यन्दन्तां कुल्या विषितलाः पुरस्तात् ।

घृतेन द्यावापृथिवी व्युन्धि सुप्रपाणं भवत्वध्याभ्यः ॥

पद-पाठः

महान्तम् । कोशम् । उत् । अच । नि । सिञ्च । स्यन्दन्ताम् । कुल्याः । विऽसिताः । पुरस्तात् । घृतेन । द्यावापृथिवी इति । वि । उन्धि । सुऽप्रपानम् । भवतु । अध्याभ्यः ॥ ८ ॥

अन्वय — महान्तम् कोशम् उदच निषिञ्च कुल्याः विषिताः पुरस्तात् स्यन्दन्ताम् द्यावापृथिवी घृतेन व्युन्धि । अध्याभ्यः सुप्रपाणम् भवतु ॥



## दयानन्द-भाष्य

(महान्तम्) महत्परिमाणम् (कोशम्) धनादीनां कोश इव जलेन पूर्ण मेघम्। कोश इति मेघनाम। निघं० १।१०। (उत्) (अचा) ऊर्ध्व गच्छति (नि) नितराम् (सिञ्च)। अत्र सर्वत्र व्यत्ययः। (स्यन्दन्ताम्) प्रस्रवन्तु (कुल्याः) निर्मिता जलगमनमार्गाः (विषिताः) व्याप्ताः (पुरस्तात्) (घृतेन) जलेन। घृतित्युदकनाम। निघं० १।१२। (द्यावापृथिवी) भूम्यन्तरिक्षे (वि) (उन्धि) विशेषेणोन्दयति क्लेदयति (सुप्रपाणम्) सुष्ठु प्रकर्षेण पिबन्ति यस्मिन् स जलाशयः (भवतु) (अध्याभ्यः) गोभ्यः॥८॥

भावार्थ — हे मनुष्या या विद्युत् सूर्यो वायुश्च मेघनिमित्तानि सन्ति तानि यथावत्प्रयोजयत यतो वर्षणेन गवादीनां यथावत् पालनं स्यात्॥८॥

हि०भावार्थ — हे मनुष्यो। जो बिजुली, सूर्य और वायु मेघ के कारण है उनको यथा योग्य प्रयुक्त कीजिये जिससे वृष्टि द्वारा गौर आदि पशुओं का यथावत् पालन होवे॥८॥

## सायण-भाष्य

हे पर्जन्य ! त्वं महान्तं प्रवृद्धं कोशं कोशस्थानीयं मेघमुदच। उदगच्छ उदगमय वा। तथा कृत्वा निषिञ्च नीचैः क्षारय। कुल्या। नद्यो विषिताः विष्पूताः सत्यः स्यन्दन्तां प्रवहन्तु पुरस्तात्पूर्वाभिमुखम्। प्रायेण नद्यः प्राच्यः स्यन्दन्ते। घृतेन उदकेन द्यावापृथिवी दिवं च पृथिवीं च वि उन्धि क्लेदयत्वधिकम्। अध्याभ्यः गोभ्यः सुप्रपाणं सुष्ठु प्रकर्षेण पातन्यमुदकं भवतु।

शब्दार्थ — कोशम् = जल रूप भण्डार को। उदच = ऊपर को उठाओ। निषिञ्च = नीचे की ओर बरसा दो। कुल्याः = नदियाँ। विषिताः जल से भरी हुई। पुरस्तात् = पूर्व की ओर। स्यन्दन्ताम् = बहें। घृतेन = जल से। वि उन्धि = अच्छी प्रकार भिगो दो। अध्याभ्यः = गौओं के लिये। सुप्रपाणम् = प्रचुर परिमाण में पीने का जल।

हिन्दी व्याख्या — हे पर्जन्य! तुम अपने महान् जल रूप भण्डार को आकाश में ऊपर को उठाओ और नीचे की ओर बरसा दो। नदियाँ अच्छी प्रकार से जल से भरी हुई पूर्व की ओर बहें। द्युलोक और पृथिवी लोक को तुम जल से अच्छी प्रकार से भिगो दो। गौओं के लिये प्रचुर परिमाण में पीने के लिये जल होवे।

## व्याकरण —

उदच — उत्+अञ्चु गतौ धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन। छान्दस दीर्घ। स्यन्दन्ताम् — स्यन्द धातु, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

उन्धि — 'उन्दी क्लेदने' धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

सुप्रपाणम् — सु+प्र+पा+युच् (अन)। 'ल' को 'ण'।

अध्याभ्यः — न+हन्++क्यप् = टाप्। 'हन्' के 'अ' का लोप और 'घ' आदेश।

विशेष — मैक्डानल ने 'कोश' का अर्थ डोल (bucket) किया है। हे पर्जन्य तुम



अपने डोल को उठाकर उडेल दो। घृतेन का अर्थ उसने 'घी' किया है। वर्षा होने से घी भी प्रभूत मात्रा में होता है। सायण ने 'पुरस्तात्' का अर्थ 'पूर्व की ओर' किया है, क्योंकि नदियाँ अधिकतर पूर्व की ओर बहती हैं। परन्तु मैक्डानल इससे सहमत नहीं। सभी नदियाँ पूर्वाभिमुख नहीं बहती। उन्होंने इस शब्द का अर्थ आगे की ओर (forward) किया है।

छन्द के अनुरोध से 'व्युन्धि' को 'वि उन्धि' तथा 'भवत्वध्याभ्यः' को 'भवत् अधिन्याभ्यः' पढ़ना चाहिये।

मण्डल ५

सूक्त ८३

मंत्र ९

संहिता-पाठः

यत्पर्जन्य कानिक्रदत् स्तनयन् हंसि दुष्कृतः।  
प्रतीदं विश्वं मोदते यत्किं च पृथिव्यामधि॥

पद-पाठः

यत्। पर्जन्य। कानिक्रदत्। स्तनयन्। हंसि। दुष्कृतः। प्रति। इदम्। विश्वम्।  
मोदते। यत्। किम्। च। पृथिव्याम्॥९॥

अन्वय — पर्जन्य! यत् कानिक्रदत् स्तनयन् दुष्कृतः हंसि, इदम्, विश्वम् यत् किम् च पृथिव्याम् अधि प्रतिमोदते।

दयानन्द-भाष्य

(यत्) यः (पर्जन्य) पर्जन्यो मेघः (कानिक्रदत्) भृशं शब्दयन् (स्तनयन्) गर्जनं कुर्वन् (हंसि) हन्ति। अत्र पुरुषव्यत्ययः। (दुष्कृतः) ये दुःखेन कुर्वन्ति तान् (प्रति) (इदम्) वर्तमानम् (विश्वम्) सर्वं जगत् (मोदते) (यत्) (किम्) (च) (पृथिव्याम्) (अधि) उपरि॥९॥

भावार्थ — मेघेनैव सर्वाणि भूतान्यानन्दन्ति तस्मादिदं मेघनिर्माणाख्यं कर्म परमेश्वरस्य धन्यवादाहमस्तीति सर्वे विजानन्तु॥९॥

हि० भावार्थ — मेघ से ही सम्पूर्ण प्राणी आनन्दित होते हैं इससे यह मेघ को बनाना रूप कर्म परमेश्वर का धन्यवाद के योग्य है यह सब लोग जानो॥९॥

सायण-भाष्य

हे पर्जन्य ! यत् यदा त्वं कानिक्रदत् अत्यर्थं शब्दयन् स्तनयन् दुष्कृत पापकृतो मेघान् हंसि विदारयसि तदानीमिदं विश्वं जगत् प्रतिमोदते विश्वं विशेष्यते। यत्किञ्च पृथिव्यामधि भूम्यामधि यच्चराचरं विश्वं मोदते। हृष्यति। वृष्टेः सर्वजगत् प्रीतिकारणत्वं प्रसिद्धम्।

शब्दार्थ — यत् = जब। कानिक्रदत् = शब्द करते हुये। स्तनयन् = गर्जना करते हुये। हंसि = मरते हो। दुष्कृतः = दुष्टो को। मोदते = प्रसन्न हो जाता है।



हिन्दी व्याख्या — हे पर्जन्य ! जब तुम अत्यधिक शब्द करते हुये और गरजते हुये दुष्टो को (वर्षा के बाधक दैत्यो को) मारते हो, यह सारा संसार और जो कुछ भी इस पृथिवी पर है, प्रसन्न हो जाता है।

व्याकरण —

कनिक्रदत् — क्रन्द+शतृ। अतिशयेन क्रदन्ति अर्थ में छान्दस रूप निपातनात्।

स्तनयन् — स्तनम् + शतृ।

हंसि — हन् धातु, लट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

दुष्कृतः — दुस+कृ+क्विप्। तुक का आगम। द्वितीया विभक्ति का बहुवचन।

विशेष — यहाँ 'यत्' का प्रयोग 'यदा' के अर्थ में हुआ है।

मण्डल ५

सूक्त ८३

मंत्र १०

संहिता—पाठः

अवर्षीवर्षमुदु षू गृभायाकधन्वान्यतयेतवा उं।

अजीजन ओषधीर्भोजनाय कम् उत प्रजाभ्योऽविदो मनीषाम्॥

पद—पाठः

अधर्षीः। वर्षम्। उत। उं इति। सु। गृभाय। अकं। धन्वनि। अतिऽएतवै। उं इति। अजीजन'। औषधीः। भोजनाय। कम्। उत। प्रजाभ्यः। अविद। मनीषाम्॥१०॥  
अन्वय — वर्षम् अवर्षीः, उत उषू गृभाय धन्वानि अकः अति एतवै उ। भोजनाय कम् ओषधीः अजीजनः, उत प्रजाभ्यः मनीषाम् अविदः।

दयानन्द—भाष्य

(अवर्षीः) वर्षयति (वर्षम्) (उत) (उ) (सु) शोभने (गृभाय) गृहाण (अकः) कुर्याः (धन्वानि) अविद्यमानोदकादिदेशान् (अत्येतवै) एतुं प्राप्तुम् (उ) (अजीजनः) जनय (ओषधीः) सोमाद्याः (भोजनाय) (कम्) (उत) (प्रजाभ्यः) (अविदः) वेत्सि (मनीषाम्) प्रज्ञाम्॥१०॥

भावार्थ — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः — यथा जगदीश्वरो वर्षाभ्यः प्रजाहितं जनयति तथैव धार्मिको राजा प्रजाभ्यः सुखमध्यापकश्च प्रज्ञां जनयेदिति॥१०॥

हि०भावार्थ — इस मंत्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है — जैसे जगदीश्वर वर्षाओ से प्रजा के हित को सिद्ध करता है वैसे ही धार्मिक राजा प्रजाओं के लिये सुख और अध्यापक बुद्धि को उत्पन्न करे॥१०॥

सायण—भाष्य

इयमति वृष्टि विमोचनी। हे पर्जन्य ! त्वमवर्षीः वृष्टवानसि। वर्षमुत् उ+पु+गृभाय उत्कृष्टं सु सुष्टु गृभाय गृहाण परिहरेत्यर्थः। धन्वानि धनुरुदकप्रदेशान् अकः जलवतः कृतवानसि। किमर्थम्। अत्येतवा उ अतिक्रम्य गन्तुम्। ओषधीरजीजनः उदपादयः। किमर्थम्? भोजनाय धनाय भोगाय वा कमित्ययं शिविरं जीवनाय कमिति वत् पादपूरणः नि० १.१०।



उत् अपि च प्रजाभ्यः सकाशाद मनीषां स्तुतिमविदः प्राप्तवानसि । इति ।

**शब्दार्थ** — अवर्षीः = बरसा चुके हो । वर्षम् = वर्षा को । सुगृभाय = अच्छी प्रकार रोकलो । अकः = कर दिया है । धन्वानि = जलहीन प्रदेशों को, मरुस्थलों को । अति एतवै = पार करने योग्य । अजीजनः = उत्पन्न किया है । भोजनाय = भोग करने के लिए । अविदः = प्राप्त कर चुके हो । मनीषाम् = स्तुति को ।

**हिन्दी व्याख्या** — हे पर्जन्य ! तुम वर्षा की बरसा चुके हो । अब इस वृष्टि को निश्चय से अच्छी प्रकार से रोक लो । तुमने जलहीन प्रदेशों को, मरुस्थलों को जल से युक्त बना दिया है और उनको पार करने योग्य कर दिया है । तुमने भोग करने के लिये वनस्पतियों को उत्पन्न किया है और तुम प्रजाओं से स्तुति को प्राप्त कर चुके हो ।

**व्याकरण** —

**अवर्षी** — 'वृष्' धातु, लङ् लकार, मध्यम पुरुष का एकवचन ।

**गृभाय** — 'ग्रह' धातु लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन । यह वैदिक रूप है । लोक में 'गृहाण' रूप होगा ।

**एतवै** — 'इण्' गतौ धातु से वैदिक तवै प्रत्यय, तुमुन् के अर्थ में ।

**अजीजनः** — ण्यन्त जन् धातु, लङ् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

**अविदः** — 'विद्' धातु लङ् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

**विशेष** — यहाँ 'मनीषाम्' शब्द का अर्थ सायण ने 'स्तुति' किया है । मैकडानल, विलसन और वुहलर ने इसी अर्थ को ठीक माना है । परन्तु पीटर्सन और म्योर के अनुसार वहाँ इसका अर्थ कामना है — and thou hast fulfilled the desires of living creatures.

इस मन्त्र के तृतीया पाद में 'कम्' पद पाद की पूर्ति मात्र के लिये है और यह निरर्थक है ।



## पूषा-सूक्त

ऋषि-भरद्वाज

देवता-(पूषा व पूषन्)

छन्द-गायत्री

मण्डल ६

सूक्त ५३

मंत्र १

संहिता-पाठः

वयम् त्वा पथस्पते रथं न वाजसातये । धिये पूषन्नयुज्महि ।।

पद-पाठः

वयम् । ऊँ इति । त्वा । पथः । पतं । स्थम् । न । वाजसातये । धिये । पूषन् । अयुज्महि ।

अन्वय - पथस्पते पूषन् ! वयम् उ वाजसातये धिये रथं न त्वा अयुज्महि ।

दयानन्द-भाष्य

(वयम्) (उ) (त्वा) त्वाम् (पथः) मार्गस्य (पते) स्वामिन् (रथम्) विमानादियानम् (न) इव (वाजसातये) सङ्ग्रामविभाजिकायै (धिये) प्रज्ञायै (पूषन्) पुष्टिकर्ताः (अयुज्महि) प्रयुज्महि ।।१।।

भावार्थ - अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ - ये मनुष्याः प्रज्ञाप्राप्तये विदुषः सेवन्ते ते वेगवता रथेन स्थानान्तरमिव विद्यान्तरं सद्यः प्राप्नुवन्ति ।।१।।

हि०भावार्थ - इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार है - जो मनुष्य उत्तम बुद्धि पाने के लिये विद्वानों की सेवा करते हैं वे वेगवान् रथ से एक स्थान से दूसरे स्थान के समान एक विद्या से दूसरी विद्या को शीघ्र प्राप्त होते हैं ।।१।।

सायण-भाष्य

हे पथस्पते मार्गस्य पालयितः पूषन् ! धिये कर्मार्थं वाजसातये अन्नस्य लाभाय च वयं रथं न युद्धे रथमिव त्वा त्वामयुज्महि युज्महि अस्मदभिमुखं कुर्मः । उ इति पूरकः ।

शब्दार्थ - पथस्पते = मार्गों के स्वामी । रथं न = रथ के समान । वाजसातये = अन्नो को प्राप्त करने के लिये । धिये = कर्मों के सम्पादन के लिये । अयुज्महि = प्रयुक्त करते हैं ।

हिन्दी व्याख्या - हे मार्गों के स्वामी पूषन् ! हम सब अन्नों की प्राप्ति के लिए और कर्मों के सम्पादन के लिये रथ के समान तुमको प्रयुक्त करते हैं । जिस प्रकार युद्धों के लिए रथ को जोता जाता है, उसी प्रकार अन्न प्राप्त करने के लिए हम तुम्हें जोतते हैं ।

व्याकरण -

पथस्पते - पथः मार्गस्य पते ।

सातये - षणु (सन) + क्ति = साति । चतुर्थी विभक्ति का एकवचन ।

अयुज्महि - "युजिर् योगे" धातु, लुङ् लकार, उत्तम पुरुष बहुवचन । लोक में 'अयुज्महि' रूप बनेगा ।



पूषन् - पुष्णाति स्वाश्रितान् अर्थ में पूष् + कनिन् (अन्) = पूषन्।

विशेष - 'पथस्पते' 'पूषन्' का विशेषण है।

मण्डल ६

सूक्त ५३

मंत्र २

संहिता-पाठः

अभि नो नर्यं वसुं वीरं प्रयतदक्षिणम्। वामं गृहपतिं नय॥

पद-पाठः

अभि। नः। नर्यम्। वसुं। वीरम्। प्रयतदक्षिणम्। वामम्। गृहपतिम्। नय॥२॥

अन्वय - नर्यम् वसुं अभि नः वीरम् प्रयतदक्षितम् वामं गृहपतिम् नय।

दयानन्द-भाष्य

(अभि) आभिमुख्ये (नः) अस्मान् (नर्यम्) नृपु साधु (वसु) धनम् (वीरन्) शुभलक्षणान्वितं पुरुषम् (प्रयतदक्षिणम्) प्रयताः प्रयत्नेन दत्ता दक्षिणा यस्मात्तत् (वामम्) प्रशस्तम् (गृहपतिम्) गृहस्वामिनम् (नय) प्रापय॥२॥

भावार्थ - हे विद्वान् विदुषी वा त्वामस्मदर्थमुत्तमं पतिमुत्तमां भार्या प्रशस्तं धनं प्रापय्य सुशिक्षया धर्माचारं प्रापय॥२॥

हि०भावार्थ - हे विद्वन् वा विदुषी ! आप हम लोगो के लिये उत्तम पति, उत्तम भार्या, प्रशंसित धन की प्राप्ति करा के उत्तम शिक्षा से धर्म आचरण की प्राप्ति कराइये॥२॥

सायण-भाष्य

हे पूषन् ! नर्यं नृभ्यो हितं वसुं धनमभि प्राप्तुं वीर दारिद्र्यस्य विशेषेण ईरयितारं गमयितारं प्रयतदक्षिणं पूर्वमन्येभ्योऽपि दत्तधनम्। यद्वा प्रयतं शुद्धं दक्षिणं धनं यस्य तादृशम्। वाम वननीयम्। एवंविधं गृहस्थं नोऽस्मान्नय प्रापय।

शब्दार्थ - अभि = प्राप्त करने के लिये। नर्यम् = मनुष्यों के लिए हितकारी। वसु = धन। वीरम् = दरिद्रता को भगा देने वाला। प्रयतदक्षिणम् = दक्षिणा देने वाला। वामम् = आश्रयणीय, स्पृहणीय। गृहपतिम् = गृहस्थ।

हिन्दी व्याख्या - हे पूषन् ! मनुष्यों के लिये हितकारी धन को प्राप्त करने के लिये हमको दारिद्र्य को भगा देने वाले दक्षिणा देने वाले या शुद्ध धन देने वाले, आश्रयणीय या स्पृहणीय गृहस्थ के पास पहुँचा दीजिये।

व्याकरण -

नर्यम् - नृभ्यः हितम् अर्थ में नृ + यत्।

वामम् - वन् धातु से मनिन् प्रत्यय। 'वन्' के 'न्' का लोप और 'अ' को दीर्घ।

प्रयत - प्र+यम्+क्त = प्रयत।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

विशेष — ग्रासमान ने 'नय' का सम्बन्ध 'वसु' के साथ माना है और 'bring us the wealth' अर्थ किया है।

छन्द की पूर्ति के लिये 'नर्यम्' को नरियम् पढ़ना चाहिए।

मण्डल ६

सूक्त ५३

मंत्र ३

संहिता-पाठः

अदि॑त्सन्तं चिदाघृ॒णे पू॒षन् दाना॑य चोदय । प॒णेशि॑च॒दिव॒ म्र॒दा मनः॑ ।

पद-पाठः

अदि॑त्सन्तम् । चि॒त् । आघृ॑णे । पू॒षन् । दाना॑य । चो॒दय॒ । प॒णे । चि॒त् । वि॒ । म्र॒द॒ । मनः॑ ॥३॥

अन्वय — आघृणे पूषन्! अदि॑त्सन्तम् चि॒त् दाना॑य चोदय । प॒णे: चि॒त् मनः॑ वि॒म्रद॒ ।

दयानन्द-भाष्य

(अदि॑त्सन्तम्) दातुमनिच्छन्तम् (चि॒त्) अपि (आघृ॑णे) समन्तात्प्रकाशात्मन् (पू॒षन्) पुष्टिकर विद्वन् (दाना॑य) (चो॒दय) प्रेरय (प॒णे:) द्यूतकर्तुः (चि॒त्) अपि (वि॒) विशेषेण (म्र॒दा) दण्डय । अत्र द्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घः । (मनः॑) अन्तःकरणम् ॥३॥

भावार्थ — हे अध्यापकोपदेशकौ राजन्वा विद्यादिशुभगुणस्य प्रवृत्तयेऽदातृनपि दानकरणाय प्रेरय द्यूतकर्तृश्च पाखण्डिनो हिन्धि ॥३॥

हि०भावार्थ — हे अध्यापक, उपदेशक वा राजन् । विद्यादि शुभगुणो की प्रवृत्ति के लिये न देनेवालों को भी दान करने के लिये प्रेरणा दो और जुआँ खेलने वाले पाखण्डियो की मारी अर्थात् ताड़ना देखो ॥३॥

सायण-भाष्य

हे आघृणे आगतदीप्ते पूषन् अदि॑त्सन्तं चि॒त् दातुमनिच्छन्तमपि पुरुषं दानाय अस्मद्दानार्थं चोदय प्रेरय । प॒णेशि॑त् वणिजोऽपि वार्धुषिकस्य लुब्धस्यापि मनः हृदयं विम्रदा दानार्थं मृदु कुरु ।

शब्दार्थ — अदि॑त्सन्तम् = दान देने की इच्छा करने वाला । आघृ॑णे = दीप्तिमान् । चो॒दय = प्रेरित करो । प॒णे: = सूदखोर का, कंजूस व्यापारी का । वि॒म्रद = कोमल बना दो ।

हिन्दी व्याख्या — हे दीप्तिमान् पूषन् ! दान देने की इच्छा न करने वाले व्यक्ति को भी दान देने के लिये प्रेरित करो । कंजूस व्यापारी या सूदखोर के मन को कोमल बना दो ।

व्याकरण —

अदि॑त्सन्तम् — नञ् + सन्तन्त दा धातु + शतृ । द्वितीया विभक्ति का एकवचन ।

चो॒दय — चुद् (णिजन्त), लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

वि॒म्रद — वि + म्रद, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।



**पूषा-सूक्त (मण्डल-६, सूक्त-५३)**

**विशेष** — 'आघृणे' का अर्थ 'दीप्तिमान्' है और इस विशेषण का प्रयोग सूर्य के लिए ही हुआ है।

मण्डल ६

सूक्त ५३

मंत्र ४

**संहिता-पाठः**

वि पथो वाजसातये चिनुहि वि मृधो जहि । साधन्तामुग्र ने धियः ॥

**पद-पाठः**

वि । पथः । वाजसातये । चिनुहि । वि । मृधः । जहि । साधन्ताम् । उग्र । नः । धियः ॥४॥

**अन्वय** — उग्र! वाजसातये नः पथः विचिनुहि मृधः विजहि । नः धियः साधन्ताम् ।

**दयानन्द-भाष्य**

(वि) (पथः) मार्गात् (वाजसातये) विज्ञानस्य धनस्य वा प्राप्तयेऽथवा सङ्ग्रामाय (चिनुहि) सञ्चयं कुरु (वि) विशेषेण (मृधः) सङ्ग्रामेषु प्रवृत्तान्दुष्टान् (जहि) (साधन्ताम्) साध्नुवन्तु (उग्र) तेजस्विन् (नः) अस्माकम् (धियः) प्रज्ञाः ॥४॥

**भावार्थ** — हे राजस्त्वमुत्तमान्निर्भयान् मार्गान् विधेहि तत्र परिपन्थिनो हिन्धि, येन सर्वेषां प्रज्ञा उत्तमकर्मोन्नतये प्रवर्त्तन् ॥४॥

**हि०भावार्थ** — हे राजन् ! आप उत्तम निर्भय मार्गों को बनाओ, उन में विपथगामियों को मारो जिससे सब की बुद्धियाँ उत्तम कर्मों की उन्नति करने के लिये प्रवृत्त हों ॥४॥

**सायण-भाष्य**

हे उग्र उद्गूर्णबल पूषन् ! पथः मार्गान् वाजसातये अन्नलाभाय वि चिनुहि शोधितान्कुरुः । यैः पथिभिर्गता धनं लभेमहि तादृशान्पथः पृथक्कुर्वित्यर्थः । मृधः बाधकांतस्करादीश्च वि जहि बाधस्व । तथा नोऽस्माकं धियः कर्माणि अन्नलाभार्थं क्रियमाणानि साधन्तां सिध्यन्तु सफलानि भवन्तु ।

**शब्दार्थ** — पथः = मार्ग का । वाजसातये = अन्न को प्राप्त करने के लिये । वि चिनुहि = विशेष रूप से चयन करो । मृधः = चोर आदि हिंसको को । विजहि = मार भगायो । धिय = बुद्धि, कर्म । साधन्ताम् = सफल होवें ।

**हिन्दी व्याख्या** — हे प्रचण्ड बलवात् पूषन् अन्न आदि को प्राप्त करने के लिए हमारे मार्गों का विशेष रूप से चयन कीजिये । उन मार्गों से चोर आदि हिंसकों को मार भगाइये । हमारी बुद्धियाँ या कर्म सफल हो ।

**व्याकरण —**

चिनुहि — 'चि' धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

मृधः — 'मृध् हिंसायाम्' से क्विप् प्रत्यय । द्वितीया विभक्ति का बहुवचन ।

जहि — हन् धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

साधन्ताम् — आत्मनेपदी 'साध्', लोट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।

विशेष — ऋग्वेद के १/९०/४ मन्त्र (वि नः पथः सुविताय चियन्तु) के सायण कृत अर्थ के साथ तुलना करते हुये रॉथ ने वि पथः चिनुहि वि मृधः जहि" का अर्थ किया है — Make the roads by putting aside every thing lying in our way.

मण्डल ६

सूक्त ५३

मंत्र ५

संहिता-पाठः

परिं तृन्धि पणीनामारया हृदया कवे । अर्थे मस्मभ्यं रन्धय ॥

पद-पाठः

परिं । तृन्धि । पणीनाम् । आरया । हृदया । कवे । अथ । ईम् । अस्मभ्यम् । रन्धय ॥ ५ ॥

अन्वय — कवे ! आरया पणीनाम् हृदया परितृन्धि । अथ ईम् अस्मभ्यम् रन्धय ।

दयानन्द-भाष्य

(परि) सर्वतः (तृन्धि) हिन्धि (पणीनाम्) दृतादिव्यवहारकर्तृणां (आरया) प्रतोदेन (हृदया) हृदयानि (कवे) विद्वन् राजन् (अथ) (ईम्) सर्वतः (अस्मभ्यम्) (रन्धय) ॥ ५ ॥

भावार्थ — हे राजन् ! त्वं येऽपूतशासनकर्तारः कितवाश्च स्वराज्ये स्युस्तान् सम्यग्दण्ड्य यतो न्यायमार्गे वर्तमाना वयं सुखिनः स्याम ॥ ५ ॥

हि०भावार्थ — जो अपवित्र शिक्षा देने वाले और छली पुरुष अपने राज्य में हों उनको अच्छे प्रकार दण्ड दो जिससे न्यायमार्ग के बीच हम लोग सुखी हों ॥ ५ ॥

सायण-भाष्य

हे कवे प्राज्ञ पूषन् ! पणीनां वणिजां लुब्धानां हृदया हृदयानि कठिनानि आरया सूक्ष्मलोहाग्रो दण्डः प्रतोद इत्यारेति चाख्यायते । तथा परितृन्धि परिविध्य हृदगतं काठिन्यमपनयेत्यर्थः । अथ अनन्तरं ईमेनान् पणीनस्मभ्यं रन्धय वशीकुरु ।

शब्दार्थ — परितृन्धि = बींध दो । पणीनाम् = लोभी व्यापारियों के । आरया = आरे से । कवे = बुद्धिमान । अथ ईम् = इसके बाद । रन्धय = वश में कर दो ।

हिन्दी व्याख्या — हे बुद्धिमान पूषन् । लोभी व्यापारियों के कठोर हृदयों को आरे या तेज नुकीले लोहदण्ड से बींध दो, अर्थात् उनके हृदयों की कठोरता को दूर कर दो । इसके बाद इनको हमारे वश में कर दो ।

व्याकरण —

तृन्धि — 'तृह' हिंसायाम् धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

रन्धय — रध् धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

हृदया — हृदयति का छान्दस रूप ।

आरया — ऋ गतौ + अण् + टाप् = आरा । तृतीया विभक्ति का एकवचन ।



**पूषा-सूक्त ( मण्डल-६, सूक्त-५३ )**

**विशेष** — कुछ विद्वानों के अनुसार इस मन्त्र में 'ईम्' का प्रयोग निरर्थक है और केवल पादपूर्ति के लिए है। छन्द के अनुरोध से 'तृन्धि' को 'तिरिन्धि' पढ़ना चाहिये।

मण्डल ६

सूक्त ५३

मंत्र ६

संहिता-पाठः

वि पूषन्नारया तुद पणेरिच्छ हृदि प्रियम् । अथैमस्मभ्यंरन्धय ।।

पद-पाठः

वि । पूषन् । आरया । तुद । पणः । इच्छ । हृदि । प्रियम् । अथ । ईम् । अस्मभ्यम् । रन्धय ।।६।।

अन्वय — पूषन् ! आरया पणेः वितुद, हृदि प्रियम् इच्छ । अथ ईम् अस्मभ्यम् रन्धय ।

दयानन्द-भाष्य

(पूषन्) पुष्टिकर्तः (आरया) (तुद) व्यथय (पणेः) प्रशंसितव्यवहारकर्तुः (इच्छ) (हृदि) हृदये (प्रियम्) (अथ) (ईम्) सर्वतः (अस्मभ्यम्) (रन्धय) ।।६।।

भावार्थ — हे राजस्त्वं दुष्टान्दण्डयित्वा श्रेष्ठान् सत्कृत्य सर्वान् सत्कर्मसु प्रेरय ।

हि०भावार्थ — हे राजन् ! आप दुष्टों को दण्ड देकर श्रेष्ठों का सत्कार कर सब को श्रेष्ठ कर्मों की प्रेरणा देओ ।।६।।

सायण-भाष्य

हे पूषन् ! आरया प्रतोदेन पणर्वणिजो हृदयं वितुद विविध्य । तस्य पणेहृदये प्रियमस्यभ्यमनुकूलं धनमिच्छ दातव्यमितीच्छां जनय । अनन्तरमस्मभ्य— मीमेनान् रन्धय वशीकुरु ।

शब्दार्थ — वितुद = बींध दो । इच्छ = इच्छा को प्रेरित करो ।

हिन्दी व्याख्या — हे पूषा देवता ! आरे से लोभी व्यापारी के हृदय को बींध दो और उसके हृदय में हमको प्रिय धन आदि को देने की इच्छा को प्रेरित करो । इसके बाद इनको हमारे वश में कर दो ।

व्याकरण —

तुद, इच्छ — 'तुद्' और 'इष्' धातु के लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

मण्डल ६

सूक्त ५३

मंत्र ७

संहिता-पाठः

आ रिख किकिरा कृणू पणीनां हृदया कवे । अथैमस्मभं रन्धय ।

पद-पाठः

आ । रिख । किकिरा । कृणु । पणीनाम् । हृदया । कवे । अथ । ईम् । अस्मभ्यम् ।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

रन्धय ॥७॥

अन्वय — कवे ! पणीनां हृदया आरिख किकिरा कृणु । अथ ईम् अस्मभ्यम् रन्धय ।

दयानन्द-भाष्य

(आ) समन्तात् (रिख) लिख (किकिरा) व्यवस्थापत्राणि (कृणु) (पणीनाम्) व्यवहर्तृणाम् (हृदया) हृदयानि (कवे) विद्वन् (अथ) (ईम्) सुखम् (अस्मभ्यम्) (रन्धय) ताडय ॥७॥

भावार्थ — राजा वादिप्रतिवादिनां लेखपुरस्सरं न्यायं कुर्यात् ॥७॥

हि०भावार्थ — राजा वादी और प्रतिवादी अर्थात् झगडालू प्रतिझगडालूओं का लिखा पढ़ी पूर्वक न्याय करें ॥७॥

सायण-भाष्य

हे कवे ! प्राज्ञ ! पूषन् पणीनां वणिजां हृदया हृदयानि आ रिख आलिख । आलिख्य च किकिरा कीर्णानि प्रशिथिलानि कृणु कुरु मृदूनि कुर्वित्यर्थः । अन्यद् गतम् ।

शब्दार्थ — आरिख = लिख दो, अनुकूल बना दो । किकिरा = शिथिल, कोमल ।

कृणु = कर दो ।

हिन्दी व्याख्या — हे बुद्धिमान पूषन् ! लोभी व्यापारियों के हृदय को लिख दो अर्थात् हमारे अनुकूल बना दो और इसके बाद उनको शिथिल अर्थात् कोमल कर दो । इसके बाद इनको हमारे वशीभूत कर दो ।

व्याकरण —

रिख — 'रिख् लेखने' धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

किकिरा — यङ् लुगन्त 'कृ विक्षेने' धातु से अच् प्रत्यय ।

कृणु — कृ धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन । वैदिक रूप ।

विशेष — रँथ के अनुसार 'किकिरा' पद ध्वनि का अनुकरण है । जब कोई वस्तु काटी जाती है तो किर-किर ध्वनि होती है ।

मण्डल ६

सूक्त ५३

मंत्र ८

संहिता-पाठः

यां पूषन्ब्रह्मचोदनीमारां बिभर्षाधृणे ।

तया समस्य हृदयमा रिख किकिरा कृणु ।

पद-पाठः

याम् । पूषन् । ब्रह्मचोदनीम् । आराम् । बिभर्षि । आधृणे । तया । समस्य । हृदयम् । आ । रिख । किकिरा । कृणु ॥८॥

अन्वय — आधृणे पूषन् । ब्रह्मचोदनीम् याम् आराम् बिभर्षि, तया समस्य हृदयम् आरिख किकिरा कृणु ।



## दयानन्द-भाष्य

(याम्) (पूषन्) पुष्टिकर्तः (ब्रह्मचोदनीम्) विद्याधनप्राप्तये प्रेरिकाम् (आराम्) काष्ठविभाजिकाम् (विभर्षि) (आघृणे) सर्वतो न्यायप्रकाशिन् (तथा) (समस्य) तुल्यस्य (हृदयम्) (आ) (लिख) लिख (किकिरा) विकीर्णानि (कृणु) ॥८॥

भावार्थ — हे राजस्त्वं विद्याधनप्राप्तिप्रेरणामिव राजनीति धर येन सर्वेषां न्यायव्यवस्था स्यात् ॥८॥

हि०भावार्थ — हे राजन् ! आप विद्या और धन की प्राप्ति की प्रेरणा के समान राजनीति को धारण करो जिससे सब की न्यायव्यवस्था हो ॥८॥

## सायण-भाष्य

हे आघृणे आगतदीप्ते पूषन् ब्रह्मचोदनी ब्रह्मचोदनी ब्रह्मणः अन्नस्य प्रेरयित्री यामारां विभर्षि हस्ते धारयसि तथा समस्य सर्वस्य लुब्धजनस्य हृदयमारिख आलिख किकिरा किकिराणि कीर्णानि प्रशिथिलानि च कृणु कुरु ।

शब्दार्थ — ब्रह्मचोदनीम् = अन्नों को प्रेरित करने वाली । आराम् = आरे की । विभर्षि = धारण करते हो । समस्य = सबके । हृदयम् = हृदय को ।

हिन्दी व्याख्या — हे दीप्तिशाली पूषन् ! तुम अन्नों को प्रेरित करने वाले, जिस आरे को धारण करते हो, उस आरे से सभी रोगियों के हृदय को लिख दो और उनको शिथिल बना दो अर्थात् कोमल कर दो ।

## व्याकरण —

ब्रह्मचोदनीम् — 'ब्रह्म अन्नं चोदयति प्रेरयति' अर्थ में ब्रह्म + चुद् + ल्युट् (अन) + डीप् = ब्रह्मचोदनी ।

विभर्षि — भृ धातु, लट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

विशेष — 'ब्रह्मचोदनी' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में अन्य स्थान पर नहीं है । यजुर्वेद में (४३३) यह पद है और इसका अर्थ महीधर ने 'ब्रह्म को प्रेरित करने वाली' किया है । पीटर्सन के अनुसार इस पद का अर्थ प्रार्थना की प्रेरिका है ।

छन्द के आग्रह से 'विभरुशृणु' को 'विभर्ति आघृणे' पढ़ना चाहिये ।

मण्डल ६

सूक्त ५३

मंत्र ९

## संहिता-पाठः

या ते अष्ट्रा । गोओपशाघृणे पशुसाधनी ।  
तस्यांस्ते सुम्नमीमहे ॥

## पद-पाठः

या । ते । अष्ट्रा । गोऽओपशा । आघृणे । पशुऽसायनी । तस्याः । ते ६ । सुम्नम् । ईमहे ॥९॥



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

अन्वय — आघृणे या ते अष्ट्रा गो ओपशा पशुसाधनी तस्याः ते सुम्नम् ईमहे।

**दयानन्द-भाष्य**

(या) (ते) तव (अष्ट्रा) व्यापिका (गो ओपशा) गाव आ उप शेरते यस्यां सा (आघृणे) समन्तात्पशुविद्याप्रकाशक (पशुसाधनी) पशून् साध्नुवन्ति यया सां (तस्याः) (ते) तव (सुम्नम्) सुखम् (ईमहे) याचामहे॥१॥

भावार्थ — हे मनुष्या यया क्रियया पशवो वर्धेरंस्तां वर्धयित्वा सुखं याचध्वम्॥१॥

हि०भावार्थ — हे मनुष्यो ! जिस क्रिया से पशु बढ़ें उस क्रिया को बढ़ाकर सुख को मांगो॥१॥

**सायण-भाष्य**

हे आघृणे आगतदीप्ते पूषन् ते त्वदीया या अष्ट्रा आरा गो ओपशा। उपशेरते इत्योपशाः। गाव ओपशा यस्यास्तादृशी। अतएव पशुसाधनी पशूनां साधयित्री भवति ते त्वदीयायाः तस्याः सम्बन्धि सुम्नं सुखमीमहे याचामहे।

शब्दार्थ — अष्ट्रा = लोहे का बना हुआ अष्ट्रा नाम का शस्त्र। गो ओपशा = गौओ को हम तक पहुँचाने वाला। आघृणे = दीप्ति शाली। पशुसाधनी = पशुओ का संचालन करने वाला। सुम्नम् = सुख की। ईमहे = याचना करते हैं।

हिन्दी व्याख्या — हे दीप्तिशाली पूषन् ! तुम्हारा जो अष्ट्रा नाम का शस्त्र गौओ को हम तक पहुँचाने वाला अर्थात् गो धन को बढ़ाने वाला, अतएव पशुओ का संचालन करने वाला है, तुम्हारे उस शस्त्र के द्वारा हम सुख की याचना करते हैं।

**व्याकरण —**

अष्ट्रा — 'अश् व्याप्ती' धातु से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय। स्त्रीलिंग में 'टाप्'।

गो ओपशा — आ + उप + शीङ् + ड + टाप् = ओपशा। गवाम् ओपशा = गो ओपशा।

पशुसाधनी — पशोः साधनी, षष्ठी तत्पुरुष। साध्यते अनया = साध् + ल्युट् (अन) + डीप् = साधनी।

सुम्नम् — सु + म्ना + क = सुम्न।

ईमहे — ईङ् (ई) धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन।

विशेष — 'गो ओपशा' पद का प्रयोग ऋग्वेद में केवल इसी मन्त्र में है, परन्तु 'ओपशा' शब्द अन्य चार स्थानों (१/१७३/६, ८/१४/५, ६/१७/१ और १०/८५/८) में आया है। इसका अर्थ भिन्न-भिन्न स्थानों में — सींग, अन्तरिक्ष और पृथिवी लोक, आत्मा में अवस्थित वीर्यविशेष और आकाश किया गया है। रॉथ ने 'ओपशा' का अर्थ सिर पर बाँधे जाने वाला आभूषण किया है और पश् धातु से इसकी सिद्धि की है। पीटर्सन के अनुसार सायण को इस शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं था। उसने इसका अर्थ किया है — गौ के चमड़े से बनी मूठ वाली तीक्ष्ण लोहे की डण्डी। मैक्समूलर ने भी यही अर्थ माना है।



म्योर ने अर्थ किया है — Furnished with leathern thongs ।

छन्द के आग्रह से 'गोओपशाघृणे' को 'गोओपशा आघृणे' पढ़ना चाहिए ।

मण्डल ६

सूक्त ५३

मंत्र १०

संहिता-पाठः

उत नो गोषणि धियमश्वसां वाजसामुत ।

नृवत्कृणुहि वीतये ।।

पद-पाठः

उत । नः । गोऽसनिम् । धियम् । अश्वऽसाम् । वाजऽसाम् । उत । नृवत् । कृणुहि । वीतये ।।१०।।

अन्वय — उत नः धियम् वीतये गोषणिम् अश्वसाम् वाजसाम् उत नृवत् कृणुहि ।

दयानन्द-भाष्य

(उत) अपि (नः) अस्मभ्यम् (गोषणिम्) गवां विभाजिकाम् (धियम्) प्रज्ञाम् (अश्वसाम्) अश्वानां संविभाजिकाम् (वाजसाम्) वाजस्याऽन्नादेर्विभाजिकाम् (उत) अपि (नृवत्) मनुष्यवत् (कृणुहि) (वीतये) प्राप्तये ।।१०।।

भावार्थ — मनुष्यैर्गवाश्च धनधान्यवृद्धये पुरुषार्थिवन्महान् पुरुषार्थः कर्तव्यः ।।१०।।

हि०भावार्थ — मनुष्यों को गौ अश्व और धन धान्य की वृद्धि के लिये पुरुषार्थी जनों के समान महान् पुरुषार्थ करना योग्य है ।।१०।।

सायण-भाष्य

उत अपि च हे पूषन् गोषणि गवां सनित्रीमश्वसामश्वानां सनित्री वाजसां वाजानामन्नानां सनित्रीमुत अपि च नृवत् नृवती यद्वा नृणां वनित्री दात्रीमेवं भूतां धियं वेद्धि कर्म वा नोऽस्माकं वीतये खादनायोपभोगार्थं कृणुहि कुरु ।

शब्दार्थ — गोषणिम् = गौओं को प्राप्त कराने वाली । धियम् = बुद्धि को, कर्म को । अश्वसाम् = घोड़ों को प्राप्त करने वाली । वाजसाम् = अन्नो को प्राप्त कराने वाली । नृवत् = मनुष्यों से युक्त । कृणुहि = बनाओ । वीतये = उपभोग कराने के लिये ।

हिन्दी व्याख्या — और हमारी बुद्धि को या कर्म को उपभोग करने के लिए गौओं को प्राप्त करने वाली, घोड़ों को प्राप्त करने वाली, अन्नो को प्राप्त कराने वाली और मनुष्यों से युक्त अर्थात् परिवार को बढ़ाने वाली बनाओ ।

व्याकरण —

गोषणिम् — गो+षणु+इ = गोषणि ।

अश्वसाम्, वाजसाम् — षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में वैदिक रूप है । लोक में अश्वानाम् और वाजानाम् रूप बनेंगे ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

नृवत् - नृ + मतुप् ।

वीतये - वी + क्तिन् = वीति । चतुर्थी विभक्ति का एकवचन ।

कृणुहि - वैदिक रूप है । लोक में 'कुरु' होता है ।

विशेष - म्योर और ग्रासमान ने 'नृवत्' को क्रिया-विशेषण मानकर अर्थ किया है - प्रभूत मात्रा में (richly abundantly) । पीटर्सन और लुड्विग ने इसका अर्थ किया है - मनुष्यों के अनुरूप (after the manner of man) ।



## पूषन् सूक्त

ऋषि—भरद्वाज

देवता—पूषा

छन्द—गायत्री

मण्डल—६

सूक्त—५४

मंत्र—१

संहिता पाठ

सं पूषन् विदुषां नय यो अञ्जसानुशासति ।

यं एवेदमिति ब्रवत् ॥१॥

पद पाठ

सम् । पूषन् । विदुषां । नय । यः अञ्जसा । अनुशासति ॥ यः । एव । इदम् । ब्रवत् ॥१॥

अन्वय—(हे) पूषन् (तेन) विदुषा संनय यः अञ्जसा अनुशासति, यः 'इदम् एव' इति ब्रवत् ।

दयानन्द भाष्य —

(सम्) (पूषन्) (विदुषा) (नय) (यः) (अञ्जसा) (अनुशासति) अनुशासनं करोति । अत्र बहुलं छन्दसीति शृपो लुङ् न । (यः) (एव) (इदम्) (इति) (ब्रवत्) उपदिशेत् ॥१॥

भावार्थ — हे विद्वन्! अस्मान्ये सत्यमुपदिशेयुस्तान् सत्कृत्य तेषां सङ्गेन वयं विद्वांसो भूत्वोपदेष्टारो भवेम ॥१॥

हि०भावार्थ — हे विद्वन्! हम लोगों को जो सत्यविद्या का उपदेश करें उनका सत्कार कर उनके सङ्ग से हम लोग विद्वान् होकर उपदेशकर्ता हों ॥१॥

सायणभाष्य —

हे पूषन् पोषक देव विदुषा जानता तेन जनेन संनय अस्मान् संगमय यः विद्वान् अञ्जसा ऋजुमार्गेण अनुशासति अनुशास्ति नष्टद्रव्यप्राप्त्युपा यमुपदिशति । यः च एव एवम् इदं नष्टं भवदीयं धनम् इति ब्रवत् ब्रवीति । नष्टं धनं दर्शयतीत्यर्थः । तेन विदुषोत्यन्वयः ॥

शब्दा० — पूषन् = हे पूषन्, विदुषा = जानकारी व्यक्ति से, संनय = संयुक्त करो, मिलाओ, यः = जो, अञ्जसा = सीधे, अनुशासति = बतावे, यः जो, एव = ही, इदम् = यह = इति = ऐसा, ब्रवत् = कहे ।

हि०अ०— हे पूषन्, (हमें उस) जानकार (व्यक्ति) के सम्पर्क में ले जावो जो सीधे मार्ग से (नष्ट द्रव्यों की प्राप्ति का उपाय) बतावे, तथा जो यह कहे कि 'यह यही है' ।

व्याकरण—

अनुशासति — अनु+शास् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन । वैदिक रूप ।

ब्रवत् — ब्रू धातु, लेट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

विशेष— मैक्डानल ने 'अञ्जसा' का अर्थ किया है—सीधे रास्ते से (Strait way) ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

मण्डल-६

सूक्त-५४

मंत्र-२

संहिता पाठ

समुं पूष्णा गमेमहि यो गृह्णो अभिशासति ।

इम एवेति च ब्रवत् ॥२॥

पद पाठ

सम् । ॐ इति । पूष्णा । गमेमहि । यः । गृहान् । अभिशासति ॥ इमे । एव । इति । च ब्रवत् ॥२॥

अन्वय — (वयं) पूषणा सं गमेमहि, यः गृहान् अभिशासति, 'इमे एव' इति च ब्रवत् ।

दयानन्द भाष्य —

(सम्) (उ) (पूष्णा) पुष्टिकर्त्रा वैद्येन सह (गमेमहि) गच्छेम (यः) (गृहान्) गृहस्थान् (अभिशासति) अभिमुख्ये शासनं करोति (इमे) (एव) (इति) (च) (ब्रवत्) ब्रूयात् ॥२॥

भावार्थ — यो विद्वान् निश्चयेन पृथिव्यादिविद्याऽध्यापनोपदेशाभ्यां हस्तक्रियया च साक्षात्कर्तुं शक्नुयाद्वाजनीत्यादिव्यवहाराननुशिष्यात्तस्यैव विदुषः सङ्गं वयं सदा कुर्याम ॥२॥

भावार्थ — जो विद्वान्जन निश्चय से पृथिव्यादि पदार्थों की विद्या को, अध्यापन और उपदेश से तथा हस्तक्रिया से साक्षात् कर सके तथा राजनीति आदि व्यवहारों की अनुकूलता से शिक्षा दे उसी विद्वान् का सङ्ग हम लोग सदा करें ॥२॥

सायण भाष्य —

पूषणा अनुगृहीता वयं सं गमेमहि तेन जनेन संगच्छेमहि यः जनः गृहान् येषु गृहेषु अस्मदीया नष्टाः पशवस्तिष्ठन्ति तान् गृहान् अभिशासति अभिशास्ति अभिमुख्येन बोधयति । यश्च इमे त्वदीया नष्टाः पशवः एव एवं तिष्ठन्ति इति च ब्रवत् ब्रूयात् ॥

शब्दा० — पूष्णा=पूषा के साथ, संगमेमहि=चलें, यः=जो, गृहान्=उन घरों को जहां पर चुराये गये पशु रखे गये हैं, अभिशासति=बतावे, इमे= ये, एव=यहीं, इति= ऐसा, ब्रवत्= कहे ।

हि०अ० — पूषा के साथ (हम लोग) चलें, जो (खोये पशुओं को रखने की गुप्त) जगह बतावे, तथा जो यह बतावे कि 'वे यहीं हैं' ।

मण्डल-६

सूक्त-५४

मंत्र-३

संहिता पाठ

पूष्णश्चक्रं न रिष्यति न कोशोऽव पद्यते ।

नो अस्य व्यथते पविः ॥३॥

पद पाठ

पूष्णः । चक्रम् । न । रिष्यति । न । कोशः । अव । पद्यते ॥ नो इति । अस्य । व्यथते । पविः ॥३॥



अन्वय—पूष्णः चक्रं न रिष्यति, न कोशः अव पद्यते; नो अस्य पविः व्यथते।

दयानन्द भाष्य—

(पूष्णः) पुष्टिकर्तुः शिल्पिनो विदुषः (चक्रम्) कलायन्त्रादिकम् (न) निषेधे (रिष्यति) हिनस्ति (न) (कोशः) धनसमुदायः (अव) विरोधे (पद्यते) प्राप्नोति (नो) निषेधे (अस्य) (व्यथते) (पविः) शस्त्राऽस्त्रविद्या ॥३॥

भावार्थ — यस्य विदुषाः पूर्णं बलमस्ति यस्यैकच्छत्रं राज्मस्ति यस्य कोशोऽभिपूर्यते शत्रुषु यस्य शस्त्रं च न विनश्यति तस्य राज्ये सर्वे निर्भया निवसन्तु ॥३॥

हि०भावार्थ — जिस विद्वान् का पूर्ण बल है, जिसका एक छत्र राज्य है, जिसका कोश सब ओर हर्षता और शत्रुओं में जिसका शस्त्र नहीं नष्ट होता है, उसके राज्य में सब जन निर्भय होकर बसे ॥३॥

सायणभाष्य —

पूष्णः पोषकस्य देवस्य चक्रम् आयुधं न रिष्यति न विनश्यति। अस्य चक्रस्य कोशः च न अवपद्यते न हीयते। अस्य पविः धारा च नो नैव व्यथते कुण्ठीभवति। तेन चक्रेण चोरान् हत्वा अस्मदीयं धनं प्रकाशयेति भावः।

शब्दा० — पूष्णः = पूषा का, चक्रम् = आयुध, न = नहीं, रिष्यति = नष्ट होता, न = नहीं, कोशः = तरकस, अव पद्यते = खाली होता है, नो = नहीं, अस्य = उसका, व्यथते = कुण्ठित होती है, पविः = धार।

हि०अ० — पूषा का आयुध कभी नष्ट नहीं होता; (उसका) तरकस कभी खाली नहीं होता, उसकी धार कभी कुण्ठित नहीं होती।

व्याकरण—

- |          |   |  |
|----------|---|--|
| पूष्णः   | — | पूषन् शब्द, षष्ठी विभक्ति, एकवचन।          |
| रिष्यति  | — | रिष् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।   |
| अवपद्यते | — | अव+पद् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। |
| व्यथते   | — | व्यथ् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।  |

मण्डल-६

सूक्त-५४

मंत्र-४

संहिता पाठ

यो अस्मै हविषाविधन्न तं पूषापि मृष्यते।

प्रथमो विन्दते वसु ॥४॥

पद पाठ

यः। अस्मै। हविषा। अविधत्। न। तम्। पूषा। अपि। मृष्यते॥ प्रथमः। विन्दते। वसु॥४॥

अन्वय — यः अस्मै (पूष्णे) हविः अविधत् तं पूषा अपि न मृष्यते। (सः) प्रथमः वसु



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

विन्दते।

**दयानन्द भाष्य—**

(यः) (अस्मै) (हविषा) दानेनादानेन वा (अविधत्) विदधाति (न) निषेधे (तम्) (पूषा) (अपि) (मृष्यते) सहते (प्रथमः) आदिमः शिल्पी (विन्दते) प्राप्नोति (वसु) बहुधनम्॥४॥

**भावार्थः—** हे मनुष्या यः प्रथमतः शिल्पविद्यां प्राप्य क्रियया पदार्थान् निर्मिमीते स पुष्कलां श्रियं प्राप्नोति तत्सदृशं पुष्टः कोऽपि न भवति॥४॥

**हि०भावार्थः—** हे मनुष्यो! जो पहिले से शिल्पविद्या को पाकर क्रिया से पदार्थों का निर्माण करता है, वह बहु धन को प्राप्त होता है, उसके सदृश पुष्ट कोई नहीं होता है॥४॥

**सायणभाष्य —**

यः यजमानः अस्मै पूष्णे हविषा चरुपुरोडाशादिना अविधत् परिचरति तं यजमानं पूषा न अपि मृष्यते। अपिशब्द ईषदर्थे। ईषदपि न हिनस्ति। स च प्रथमः मुख्यः सन् वसु धनं विन्दते लभते॥

**शब्दा० —** यः = जो, अस्मै = उसके लिये, हविषा = हवि से, अविधत् = पूजा करता है, न = नहीं, तम् = उसको, पूषा = पूषा देवता, अपि = जरा भी, मृष्यते = भूलता, प्रथमः = सर्वप्रथम, विन्दते = प्राप्त करता है, वसु = धन।

**हि०अ० —** जो इसके लिए हवि से पूजा करता है, उसको पूषा जरा भी नहीं भूलता; (वह) सर्वप्रथम धन प्राप्त करता है।

**व्याकरण —**

**पूषा** — पूषन् शब्द, प्रथमा का एकवचन।

**अविधत्** — विध् धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। लट् के अर्थ में लङ्।

**विन्दते** — विद् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

**विशेष —** मैकडोनल ने 'न मृष्यते' का अर्थ किया है— नहीं भूलता है।

**मण्डल—६**

**सूक्त—५४**

**मंत्र—५**

**संहिता पाठ**

पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः।

पूषा वाजं सनोतु नः॥५॥

**पद पाठ**

पूषा। गाः। अनु। एतु। नः। पूषा। रक्षतु। अर्वतः॥ पूषा। वाजम्। सनोतु नः॥५॥

**अन्वय —** पूषा नः गाः अनु एतु। पूषा अर्वतः रक्षतु। पूषा नः वाजं सनोतु।



**पूषन सूक्त ( मण्डल-६, सूक्त-५४ )**

**दयानन्द भाष्य—**

(पूषा) शिल्पिनां पुष्टिकर्ता (गाः) पृथिवीर्वाचो वा (अनु) (एतु) (नः) अस्मान् (पूषा) पोषकः (रक्षतु) (अर्वतः) अश्वानिवाङ्ग्यादीन् (पूषा) (वाजम्) धनम् (सनोतु) ददातु (नः) अस्मभ्यम् ॥५॥

**भावार्थ —** य आदावन्यानुपकरोति पदार्थान् संश्रिनोति स सर्वसहायेन भूमिराज्यादिकं प्राप्नोति ॥५॥

**हि०भावार्थ —** जो पहिले औरों का उपकार करता वा पदार्थों को इकट्ठा करता है, वह सब के सहाय से भूमि के राज्य आदि को प्राप्त होता है ॥५॥

**सायण भाष्य —**

पूषा पोषको देवः नः अस्मदीयाः गाः अन्वेतु रक्षणार्थमनु—गच्छतु । स च पूषा अर्वतः अश्वान् रक्षतु चौरेभ्यः । तथा वाजम् अन्नं च नः अस्मभ्यं पूषा सनोतु प्रयच्छतु ॥

**शब्दा० —** पूषा = पूषा देव, गाः = गायों के, अनु = पीछे, एतु = जावे, पूषा = पूषा देव, रक्षतु = रक्षा करे, अर्वतः = अश्वों को, पूषा = पूषा देव, वाजम् = धन, सनोतु = प्रदान करे, नः = हमारे लिये ।

**हि०अ० —** पूषा हमारी पशुओं (की रक्षा के लिये उन) के पीछे जावे; पूषा घोड़ों की (चोरों से) रक्षा करे; पूषा हमारे लिए धन प्रदान करे ।

**व्याकरण —**

अन्वेतु — अनु+इ धातु, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

अर्वतः — अर्वत् शब्द, द्वितीया का बहुवचन ।

सनोतु — षणु (सन्) धातु, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

**विशेष—**मैकडानल ने 'वाजम्' का अर्थ 'लूटा हुआ धन' (booty) किया है ।

मण्डल-६

सूक्त-५४

मंत्र-६

**संहिता पाठ**

पुषन्ननु प्र गा इहि यजमानस्य सुन्वतः ।

अस्माकं स्तुवतामुत ॥६॥

**पद पाठ**

पूषन् । अनु । प्र । गाः । इहि । यजमानस्य । सुन्वतः ॥ अस्माकम् । स्तुवताम् । उत ॥६॥

**अन्वय —** (हे) पूषन्, सुन्वतः यजमानस्य उत स्तुवताम् अस्माकं गाः अनु प्र इहि ।

**दयानन्द भाष्य —**

(पूषन्) (अनु) (प्र) प्रकर्षण (गाः) सुशिक्षिता वाचो भूमीर्वा (इहि) प्राप्नुहि (यजमानस्य) (सुन्वतः) यज्ञः सम्पादयतः (अस्माकम्) (स्तुवताम्) विद्या प्रशंसकानाम् (उत) (अपि) ॥६॥



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

भावार्थः — हे शिल्पिस्त्वं राजधनादिसहायेनाऽऽस्मच्छिक्षकेभ्यश्च विद्याः प्राप्य भूमिराज्यं प्राप्नुहि ।।६।।

हि०भावार्थः — हे शिल्पी विद्वज्जन! आप राजधानादि के सहाय से हम से वा शिक्षा देने वालों से विद्याओं को पाकर भूमिराज्य को प्राप्त होओ ।।६।।

सायणभाष्य —

हे पूषन् सुन्वतः सोमाभिषवं कुर्वतः यजमानस्य गाः पशून् अनु प्र इहि रक्षणार्थमनुगच्छ ।  
उत अपि च स्तुवतां त्वद्विषयं स्तोत्रं कुर्वताम् अस्माकं गाश्चानुगच्छ ।।

शब्दा० — पूषन् = हे पूषन्, अनु = पीछे, गाः = गायों के, इहि = जाओ, यजमानस्य = यजमान की, सुन्वतः = सोम पीसने वाले की, अस्माकम् = हमारी, स्तुवताम् = स्तुति करने वाले की, उत = और ।

हि०अ० — हे पूषन्, सोम पीसने वाले यजमान की गायों (की रक्षा के लिये) उनके पीछे जावो; और (तुम्हारी) स्तुति करने वाले हम लोगों की (गायों के भी पीछे जावो) ।

व्याकरण—

सुन्वतः — सु+(श्नु)+शतृ=सुन्वत् । षष्ठी का एकवचन ।

यजमानस्य — यज् + (शप्) + (मुक्) + शानच् = यजमान । षष्ठी का एकवचन ।

स्तुवताम् — स्तु + शतृ, उवङ् आदेश = स्तुवत् । षष्ठी का एकवचन ।

प्रेहि — प्र+इ धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

मण्डल—६

सूक्त—५४

मंत्र—७

संहिता पाठ

माकिर्नेशन्माकीं रिषन् माकीं सं शारि केवटे ।

अथारिष्टाभिरा गहि ।।७।।

पद पाठ

माकिः नेशत् । माकीम् । रिषत् । माकीम् । सम् । शारि । केवटे ।। अथ । अरिष्टाभिः ।  
आ । गहि ।।७।।

अन्वय—माकिः नेशत् माकीं रिषत् माकीं केवटे सं शारि । अथ (हे पूषन्) अरिष्टाभिः (गोभिः) आ गहि ।

दयानन्द भाष्य —

(माकिः) निषेधे (नेशत्) नश्येत् (माकीम्) (रिषत्) हिंस्यान् (माकीम्) (सम्) (शारि) हिंस्यात् (केवटे) कूपे । केवट इति कूपनाम् । निघं०३ ।३२ (अथ) (अरिष्टाभिः) अहिंसिताभिः क्रियाभिः (आ) (गहि) आगच्छ ।।

भावार्थ — हे मनुष्य यो नष्टं कर्म न करोति न कञ्चन हिनस्ति कूपोदकेनापि



## पूषन सूक्त (मण्डल-६, सूक्त-५४)

कञ्चिन्न पीडयति स एव सर्वान् सङ्गन्तुमर्होऽहिंस्रो जायते ॥७॥

हि०भावार्थ — हे मनुष्यो! जो नष्ट कर्म नहीं करता न किसी को नष्ट करता है तथा कुएं के जल से भी किसी को नहीं पीड़ा देता वही सब से सङ्ग करने योग्य और न हिंसा करने वाला होता है ॥७॥

सायणभाष्य —

हे पूषन् अस्मदीयं गोधनं मार्किर्नेशत् मा नश्यतु । माकिर्माकीम् इत्येतौ प्रतिषोधमात्रो वर्तेते । माकीं रिषत् । मा व्याघ्रादिभिर्हिंस्याताम् । माकीं मा च केवटे कूपे संशारि संशीर्णं भूत् । कूपपातेनापि हिंसितं मा भवतु । अथ एवं सति अरिष्ठाभिः अहिंसिताभिर्गोभिः सह आ गहि सायंकाले आगच्छ ॥

शब्दा०—माकिः = कोई नहीं, नेशत् = नष्ट हो, भूले, माकीम् = किसी को भी नहीं, रिषत् = चोट लगे, माकीम् = कोई भी नहीं, संशारि = गिरकर नष्ट हो, केवटे = कुएं में, अथ = अतः, अरिष्ठाभिः = बिना कष्ट पहुंचे गायों के साथ, आ गहि = आवो ।

हि०अ०—(गायों में से) कोई न भूले, किसी को चोट न लगे; कोई कुएं में (गिरकर) न मर जाय । अतः तुम बिना कष्ट पहुंचे (गायों) के साथ आवो ।

व्याकरण—

नेशत् — नश् धातु, लेट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

रिषत् — रिष् धातु, लेट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

शारि — शृ हिंसायाम् धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन । वैदिक रूप ।

अरिष्ठाभिः — रिष् + क्त + टाप् = रिष्ठा । न + रिष्ठा = अरिष्ठा । तृतीया का बहुवचन ।

विशेष—मैक्डानल ने 'अरिष्ठाभिः' का अर्थ 'क्षत रहित' (uninjured) किया है ।

मण्डल-६

सूक्त-५४

मंत्र-८

संहिता पाठ

शृण्वन्तं पूषणं वयमिर्यमनष्टवेदसम् ।

ईशानं राय ईमहे ॥८॥

पद पाठ

शृण्वन्तम् । पूषणम् । वयम् । इर्यम् । अनष्टवेदसम् ॥ ईशानम् । रायः । ईमहे ॥८॥

अन्वय — वयं शृण्वन्तम् इर्यम् अनष्टवेदसं रायः ईशानं पूषणम् ईमहे ।

दयानन्द भाष्य—

(शृण्वन्तम्) (पूषणम्) पुष्टिकर्तारम् (वधम्) (इर्यम्) प्रेरणीयम् (अनष्टवेदसम्) अनष्टविज्ञानधनम् (ईशानम्) ईशानशीलम् (रायः) (ईमहे) याचामहे ॥८॥



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

**भावार्थ** — यः सुपात्रकुपात्रयोर्विद्वदविदुषोर्धार्मिकाऽधार्मिकयोः परीक्षकः स्यात्तस्मादेव पुरुषार्थेन धनं प्राप्तव्यम् ॥८॥

**हि०भावार्थ** — जो सुपात्र और कुपात्र, विद्वान् और अविद्वान् तथा धार्मिक और अधार्मिक की परीक्षा करने वाला हो उसी के सकाश से पुरुषार्थ से धन पाना चाहिए ॥८॥

**सा०भा०—**

अस्मत्स्तोत्राणि शृण्वन्तम् इर्ये दारिद्र्यस्य प्रेरकम् अनष्टवेदसम् अविनष्टधनम् ईशान सर्वस्येश्वरमेवंविधं पूषणं देवं वयं रायः धनानि ईमहे याचामहे ॥

**शब्दा०** — शृण्वन्तम् = सुनने वाले, पूषणम् = पूषा को, वयम् = हम, इर्यम् = दरिद्रता को दूर करने वाले, अनष्टवेदसम् = कभी नष्ट न होने योग्य धन वाले, ईशानम् = मालिक, रायः = धन के, ईमहे = प्रार्थना करते हैं।

**हि०अ०** — (प्रार्थना) सुनने वाले, दरिद्रता को दूर करने वाले, कभी नष्ट न होने योग्य धनवाले, धन के मालिक पूषा की हम प्रार्थना करते हैं।

**व्याकरण** —

शृण्वन्तम् — श्रु+(श्ना)+शतृ=शृण्वत्। द्वितीया का एकवचन।

ईशानम् — ईश्+शानच्=ईशान।

रायः — रै शब्द, द्वितीया का बहुवचन।

ईमहे — ई धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन।

**विशेष** — मैक्डानल ने 'इर्यम्' का अर्थ 'सावधान' (watchful) किया है। उसके अनुरूप 'रायः ईशानम्' का अर्थ है—धनों का वितरण करने वाला (who disposes of riches)।

मण्डल—६

सूक्त—५४

मंत्र—९

संहिता पाठ

पूषन्तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन  
स्तोतारस्त इह स्मसि ॥९॥

पद पाठ

पूषन्। तव। व्रते। वयम्। न। रिष्येम। कदा। चन॥ स्तोतारः। ते। इह। स्मसि॥९॥  
अन्वय—(हे) पूषन्, तव व्रते वयं कदाचन न रिष्येम; (वयम्) इह ते स्तोतारः स्मसि।

**दयानन्द भाष्य** —

(पूषन्) पालक (तव) (व्रते) कर्मणि (वयम्) (न) (रिष्येम) हिंस्याम (कदा) (चन) अपि (स्तोतारः) विद्वास्तावकाः (ते) तव (इह) (स्मसि) ॥९॥

**भावार्थ** — ये सत्यविद्यानां प्रशंसका मनुष्याः स्युस्ते विद्वत्कर्मणि हिंसका न स्युः ॥९॥



हि०भावार्थ — जो सत्यविद्याओं की प्रशंसा करने वाले मनुष्य हों वे विद्वानों के काम में हिंसा करने वाले न हों ॥१॥

सायणभाष्य —

हे पूषन् पोषक तव त्वदीये व्रते कर्मणि वर्तमानाः वयं कदाचन कदाचिदपि न रिष्येम हिंसिता न भवेम। तादृशाश्च वयम् इह अस्मिन् कर्माणि ते तव स्तोतारः स्मसि स्मः भवामः ॥

शब्दा० — पूषन् = हे पूषन्, तव = तुम्हारे, व्रते = कार्य में लगे, वयम् = हम लोग, न = नहीं, रिष्येम = कष्ट पावें, कदाचन = कभी भी, स्तोतारः = स्तुति करने वाले; ते = तुम्हारे, इह = यहां, स्मसि = हैं।

हि०अ०— हे पूषन्, तुम्हारे कार्य में (लगे हम लोग) कभी भी कष्ट न पावें। यहां हम लोग तुम्हारे स्तुति गायक हैं।

व्याकरण—

रिष्येम — रिष् धातु (कर्मवाच्य), विधि लिङ्, उत्तम पुरुष, बहुवचन।

स्तोतारः— स्तु+तृच्=स्तोतृ। प्रथमा का बहुवचन।

स्मसि — 'अस्' धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन। वैदिक रूप है।  
लोक में 'स्मः' रूप बनता है।

विशेष—मैक्डानल ने 'व्रते' का अर्थ 'सेवा' (Service) किया है। तुम्हारी सेवा में रहते हुये।

मण्डल-६

सूक्त-५४

मंत्र-१०

संहिता पाठ

परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम्।

पुनर्नो नष्टमार्जतु ॥१०॥

पद पाठ

परि। पूषा। परस्तात्। हस्तम्। दधातु। दक्षिणम्॥ पुनः। नः। नष्टम्। आ। अजतु।

अन्वय — पूषा परस्तात् इक्षिणम् हस्तम् परिदधातु। नः नष्टम् पुनः आ अजतु॥

दयानन्द भाष्य—

(परि) सर्वतः (पूषा) पोषकः (परस्तात्) (हस्तम्) (दधातु) (दक्षिणम्) (पुनः) (नः) अस्मभ्यमस्मान् वा (नष्टम्) अदृष्टम् (आ, अजतु) समन्ताद्दधातु प्राप्नोतु वा।

भावार्थ — अस्मिँल्लोके यो दाता स एवोत्तमो यो ग्रहीता सोऽधमो यश्च चौर्येण प्रापकः स निकृष्टो वर्तत इति वेद्यम्।

हि०भावार्थ — इस लोक में जो देने वाला है, वही उत्तम है, जो लेने वाला है वह अधम है और जो चोरी से प्राप्त करने वाला है वह निकृष्ट है यह जानना चाहिए।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****सायणभाष्य —**

पूषा पोषको देवः परस्तात् परस्मिन् देशे सुसंचारादन्यस्मिन् चोरव्याघ्रादि— भिरुषिते देशे गच्छतो गोधनस्य निवारणाय स्वकीयं दक्षिणं हस्तं परिदधातु। परिधानं निवारकं करोतु। नः अस्मदीयं नष्टं च गोधनं पुनः आजतु आगच्छतु। आगमयतु।

शब्दा० — पूषा = पूषा, परस्तात् = दूर से, हस्तम् = हाथ, परिदधातु = चारों तरफ रखे, दक्षिणम् = दाहिना, पुनः = फिर, नः = हमारे पास, नष्टम् = चोरी गये पशु को, आ आजतु = भेजे।

हि०अ०— पोषण करने वाला सूर्य देवता चोर आदि से युक्त दूर देश में हमारे गो-धन की रक्षा करने के लिए अपने दाहिने हाथ को हमारे चारों ओर धारण करे। हमारा नष्ट हुआ गोरूप धन पुनः आ जावे।

**व्याकरण—**

दधातु — धा धातु, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

आजतु — आ अज् धातु, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

विशेष—मैक्डानल ने 'परस्तात्' का अर्थ 'दूर से' (from afar) किया है।



## आपः—सूक्त

ऋषि—वसिष्ठ

देवता—अपस्

छन्द—त्रिष्टुप्

मण्डल ७

सूक्त ४९

मंत्र १

संहिता—पाठः

समुद्रज्येष्ठाः सलिलस्य मध्यात्पुनाना यन्त्यनिविशमानाः ।

इन्द्रो या वज्री वृषभो रराद ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥

पद—पाठः

समुद्रज्येष्ठाः । सलिलस्य । मध्यात् । पुनानाः । यन्ति । अनिविशमानाः । इन्द्रः ।

याः । वज्री । वृषभः । रराद । ताः । आपः । देवीः । इह । माम् । अवन्तु ॥१॥

अन्वय — समुद्रज्येष्ठाः पुनानाः अनिविशमानाः सलिलस्य मध्यात् यन्ति । वज्री वृषभः इन्द्रः  
याः रराद ताः देवीः आप इह माम् अवन्तु ।

दयानन्द—भाष्य

(समुद्रज्येष्ठाः) समुद्रः ज्येष्ठो यासां ताः (सलिलस्य) अन्तरिक्षस्य (मध्यात्)  
(पुनानाः) पवित्रयन्त्यः (यन्ति) (अनिविशमानाः) याः कुत्रचिन्न निविशन्ते (इन्द्रः) सूर्यो  
विद्युद्वा (याः) (वज्री) वज्रतुल्यछेदकबहुकिरणयुक्तः (वृषभः) वर्षकः (रराद) विलिखति  
वर्षयति (ताः) (आपः) जलानि (देवीः) प्रमोदिकाः (इह) अस्मिन् संसारे (माम्) (अवन्तु)  
रक्षन्तु ॥१॥

भावार्थ — अत्र वाचकलु० — हे मनुष्याः ! या आप अन्तरिक्षाद्वर्षित्वा सर्वान्पालयन्ति  
ता यूयं पानादिकार्येषु संप्रयुङ्गध्वम् ॥१॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है — हे मनुष्यो ! जो जल  
अन्तरिक्ष से बरस के सब की पालना करते हैं, उन का तुम पान आदि कामों में अच्छे प्रकार  
योग करो ॥१॥

सायण—भाष्य

समुद्रज्येष्ठाः । समुद्रोऽर्णवो ज्येष्ठः प्रशस्यतमो यासामपां ताः । सलिलस्य ।  
अन्तरिक्षनामैतत् । अन्तरिक्षस्य मध्यात् माध्यमिकात् स्थानात् यन्ति गच्छन्ति । कीदृश्यः ।  
पुनानाः विश्वं शोधयन्त्यः अनिविशमानाः सर्वदा गच्छन्त्यः । वज्री वज्रभृत् वृषभः कामानां  
वर्षिता इन्द्रः याः निरुद्धा अपः रराद लिखति देवीः देव्यः ताः आपः इह अस्मिन् प्रदेशे स्थितं  
मामवन्तु रक्षन्तु अभिगच्छन्तु वा ॥

शब्दार्थ — समुद्रज्येष्ठाः = समुद्र जिनमें प्रशस्यतर है ऐसे । सलिलस्य =  
अन्तरिक्ष के । पुनानाः = विश्व को पवित्र करने वाले । अनिविशमानाः = सदा बहने वाली ।  
यन्ति = गमन करते हैं । वज्री = वज्र को धारण करने वाला । वृषभः = कामनाओं की  
वर्षा करने वाला । रराद = तोड़कर बहता है । देवीः = दिव्य गुणों से सम्पन्न । आपः



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

= जल। अवन्तु = रक्षा करें, प्राप्त होवें।

हिन्दी व्याख्या — समुद्र जिसमें प्रशस्यतर हैं ऐसे, विश्व को पवित्र करने वाले और सदा बहने वाले जल अन्तरिक्ष के मध्य में से गमन करते हैं। वज्र को धारण करने वाला और कामनाओं की वर्षा करने वाला इन्द्र जिन जलों को तोड़ कर बहाता है, वे दिव्य गुणों से सम्पन्न जल इस लोक में रहने वाले मेरी रक्षा करें या मुझको प्राप्त हो।

**व्याकरण —**

**विशेष —** मैकडानल ने कुछ शब्दों के अर्थ इस प्रकार किये हैं — समुद्र = महासागर (ocean), सलिल = सागर (sea), वृषभ = शक्तिशाली (mighty), रराद = मार्ग को खोल दिया (opened a path) और अवन्तु = सहायता करें (help)।

मण्डल ७

सूक्त ४९

मंत्र २

**संहिता-पाठः**

या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयञ्जाः।

समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु।।

**पद-पाठः**

याः। आपः। दिव्याः। उत। वा। स्रवन्ति। खनित्रिमाः। उत। वा। याः। स्वयम्ऽजाः।

समुद्रऽअर्थाः। याः। शुचयः। पावकाः। ताः। आपः। देवीः। इह। माम्। अवन्तु।।२।।

अन्वय — याः आपः दिव्याः उत वा स्रवन्ति, खनित्रिमाः, उत वा याः स्वयंजाः, समुद्रार्थाः याः शुचयः पावकाः ताः देवीः आपः इह माम् अवन्तु।

**दयानन्द-भाष्य**

(याः) (आपः) जलानि (दिव्याः) शुद्धाः (उत) अपि (वा) (स्रवन्ति) चलन्ति उत वा (खनित्रिमाः) याः खनित्रेण संजाताः (उत) (वा) (याः) (स्वयंजाः) स्वयंजाताः (समुद्रार्थाः) समुद्रायेमाः (याः) (शुचयः) पवित्राः (पावकाः) पवित्रकर्त्र्यः (ताः) (आपः) (देवीः) देदीप्यमानाः (इह) (माम्) अवन्तु।।२।।

**भावार्थ —** हे विद्वांसो यथा जलानि प्राणाश्चाऽस्मान् संरक्ष्यवर्धयेयुस्तथा यूयमस्मान् बोधयत।।२।।

**हि०भावार्थ —** हे विद्वानो ! जैसे जल और प्राण हमारी अच्छे प्रकार रक्षा कर बढ़ावें वैसे तुम लोग हम को बोध कराओ।।२।।

**सायण-भाष्य**

या आपो दिव्याः अन्तरिक्षभवाः सन्ति। उत वा अपि च याः आपः नद्यादिगताः सत्यः स्रवन्ति गच्छन्ति। याश्च खनित्रिमाः खननेन निर्वृत्ताः। उत वा अपि च याः स्वयंजाः स्वयमेव प्रादुर्भवन्त्यः समुद्रार्थाः। समुद्र एवार्थो गन्तव्यो यासां ताः समुद्रार्थाः। शुचयः



दीप्तियुक्ताः पावकाः शोधयित्र्यश्च भवन्ति । ता आपः मामवन्तु इति ॥

**शब्दार्थ** — दिव्याः = अन्तरिक्ष में उत्पन्न होते हैं। स्रवन्ति = नदी आदि के रूप में बहते हैं। खनित्रिमाः = नहर कुयें आदि रूप में खोदने से उत्पन्न होते हैं। स्वयंजाः = झरने आदि के रूप में स्वयं उत्पन्न होते हैं। समुद्रार्थाः = समुद्र में जाकर मिल जाने वाले हैं। शुचयः = दीप्तिमान्। पावकाः = पवित्र करने वाले।

**हिन्दी व्याख्या** — जो जल अन्तरिक्ष में उत्पन्न होते हैं, और जो जल नदी आदि के रूप में बहते हैं, जो जल नहर कुयें आदि रूप में खोदने से उत्पन्न होते हैं और जो जल झरने आदि के रूप में स्वयं उत्पन्न होते हैं, जो समुद्र में जाकर मिल जाने वाले हैं और जो दीप्तिमान् एवं पवित्र करने वाले हैं, वे दिव्य गुणों से सम्पन्न जल इस लोक में मेरी रक्षा करें या मुझको प्राप्त होवें।

**व्याकरण** —

**विशेष** — मैकडानल के अनुसार 'शुचयः' का अर्थ 'स्वच्छ' (clear) है।

मण्डल ७

सूक्त ४९

मंत्र ३

**संहिता-पाठः**

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम् ।

मधुश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥

**पद-पाठः**

यासाम् । राजा । वरुणः । याति । मध्ये । सत्यानृते इति । अवऽपश्यन् । जनानाम् । मधुश्चुतः । शुचयः । याः । पावकाः । ताः । आपः । देवीः । इह । माम् । अवन्तु ॥३॥

**अन्वय** — यासाम् राजा वरुणः जनानाम् सत्यानृते अवपश्यन् मध्ये याति, याः मधुश्चुतः शुचयः पावकाः ताः देवीः आपः इह माम् अवन्तु ।

**दयानन्द-भाष्य**

(यासाम्) अपाम् (राजा) प्रकाशमानः (वरुणः) सर्वोत्कृष्ट ईश्वरः (याति) प्राप्नोति (मध्ये) (सत्यानृते) सत्यं चानृतं च ते (अवपश्यन्) यथार्थं विजानन् (जनानाम्) जीवानाम् (मधुश्चुतः) मधुरादिगुणैर्निष्पन्नाः (शुचयः) पवित्राः (याः) (पावकाः) पवित्रकराः (ताः) (आपः) (देवीः) देदीप्यमानाः (इह) अस्मिन् संसारे (माम्) (अवन्तु) ॥३॥

**भावार्थ** — हे मनुष्याः! यो जगदीश्वरः प्राणादिष्वभिव्याप्तस्सर्वेषां जीवानां धर्माधर्मो पश्यन् फलेन योजयन् सर्वं रक्षति स एव सर्वैः सततं ध्येयोऽस्ति ॥३॥

**हि० भावार्थ** — हे मनुष्यों ! जो जगदीश्वर प्राणादिकों में अभिव्याप्त सब जीवों के धर्म अधर्म को देखता और फल से युक्त करता हुआ सब की रक्षा करता है वही सब को निरन्तर ध्यान करने योग्य है ॥३॥



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****सायण-भाष्य**

वरुणः यासाम् अपां राजा स्वामी मध्ये मध्यमलोके याति गच्छति। किं कुर्वन्। जनानां प्रजानां सत्यानृते सत्यं चानृतं च अवपश्यन्। जानन्नित्यर्थः। याः आपः मधुश्चुतः रसं क्षरन्त्यः शुचयः दीप्तियुक्ताः पावकाः शोधयित्र्यः। ता आपः देव्यः मां रक्षन्त्विति॥

**शब्दार्थ** – सत्यानृते = सत्य और असत्य को। अवपश्यन् = देखता हुआ। मधुश्चुतः = मधुर रस को टपकाने वाले। शुचयः = दीप्ति से युक्त। पावकाः = पवित्र करने वाले।

**हिन्दी व्याख्या** – जिन जलों को राजा वरुण मनुष्यों के सत्य और असत्य को देखता हुआ मध्य अन्तरिक्ष लोक में गमन करता है, जो जल मधुर रस को टपकाने वाले, दीप्ति से युक्त, और पवित्र करने वाले हैं, वे दिव्य गुणों से सम्पन्न जल इस पृथिवी पर मेरी रक्षा करें या मुझको प्राप्त होवें।

**व्याकरण –**

**विशेष** – सायण के अनुसार 'मधुश्चुतः' का अर्थ रस को टपकाने वाले (रसं क्षरन्त्यः) है, जबकि मैकडानल के अनुसार 'मधुश्चुतः' का अर्थ है – मिठास को टपकाते हैं (distil sweetness)। उनके अनुसार इन मन्त्रों में 'देवियाँ' (goddesses) हैं।

**मण्डल ७****सूक्त ४९ मंत्र ४****संहिता-पाठः**

यासु राजा वरुणो यासु सोमो विश्वे देवा यासूर्जं मदन्ति।

वैश्वानरो यास्वग्निः प्रविष्टस्ता आपो देवीरिह मामवन्तु॥

**पद-पाठः**

यासुं। राजां। वरुणः। यासुं। सोमः। विश्वे। देवाः। यासुं। ऊर्जम्। मदन्ति।  
वैश्वानरः। यासुं। अग्निः। प्रविष्टः। ताः। आपः। देवीः। इह। माम्। अवन्तु॥४॥

**अन्वय** – राजा वरुणः यासु, यासु सोमः, यासु विश्वे देवाः, ऊर्जम् मदन्ति, वैश्वानरः अग्निः यासु प्रविष्टः, ताः देवीः आपः इह माम् अवन्तु।

**दयानन्द-भाष्य**

(यासु) अन्तरिक्षे जलेषु प्राणेषु वा (राजा) न्यायविनयाभ्यां प्रकाशमानः (वरुणः) श्रेष्ठगुणकर्मस्वभावं (यासु) (सोमः) ओषधिगणः (विश्वे) सर्वे (देवाः) विद्वांसः पृथिव्यादयो वा (यासु) (ऊर्जम्) बलम् पराक्रमम् (मदन्ति) प्राप्नुवन्ति (वैश्वानरः) विश्वेषु नरेषु वा राजमानः परमात्मा (यासु) (अग्निः) विद्युत् (प्रविष्टः) (ताः) (आपः) (देवीः) कमनीयाः (इह) अस्मिन्संसारे (माम्) (अवन्तु)॥४॥

**भावार्थ** – हे मनुष्या यस्मिन्नाकाशे प्राणेषु जले वा सर्वे जगज्जीवति येषु प्राणेषु स्थितो योगी परमात्मानं लभते यत्र विद्युत्प्रविष्टोऽस्ति ता अपो यूयं विज्ञाय रक्षिता



भवतेति ।।४।।

**हि०भावार्थ** — हे मनुष्यो ! जिस आकाश में, प्राणों में व जल में, सब जगत् जीवन धारण करता है वा जिन प्राणों में स्थित योगी जन परमात्मा को प्राप्त होता है वा जहां बिजुली प्रविष्ट है, उन जलों को तुम जान कर रक्षा युक्त होओ ।।४।।

**सायण-भाष्य**

अपां राजा वरुणः यासु अप्सु वर्तते, सोमः यासु वर्तते, यासु स्थिताः विश्वे सर्वे देवाः, ऊर्जम् अन्नं मदन्ति, वैश्वानरः अग्नि यासु प्रविष्टः ताः देवीः आपः इह माम् अथन्तु ।।

**शब्दार्थ** — ऊर्जम् = अन्न को । मदन्ति = प्रसन्न होते हैं । वैश्वानरः = सबका नेता ।

**हिन्दी व्याख्या** — जलों का राजा वरुण जिन जलों में निवास करता है, जिन जलों में सोम निवास करता है, जिन जलों में रहते हुये सभी देवता अन्न को खाकर प्रसन्न होते हैं, सबका नेता अग्नि जिन जलों में प्रविष्ट है, वे दिव्य गुणों से सम्पन्न जल इस पृथिवी पर मेरी रक्षा करें ।

**व्याकरण —**

**विशेष** — 'विश्वेदेवा यासूर्जं मदन्ति' का मैक्डानल ने अर्थ किया है — सब देवता जिनमें प्रचुर शक्ति का पान करते हैं (in whom the all gods drink exhilarating strength) ।



**वास्तोष्पति सूक्त****ऋषि-वसिष्ठ****देवता-वास्तोष्पति****छन्द-त्रिष्टुप्****मण्डल-७****सूक्त-५४****मन्त्र-१****संहिता पाठ**

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भव नः ।

यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥१॥

**पदपाठ** — वास्तोः । पते । प्रति । जानीहि । अस्मान् । सुऽआवेशः । अनमीवः । भव । नः । यत् । त्वा । ईमहे । प्रति । तत् । नः । जुषस्व । शम् । नः । भव । द्विऽपदे । शम् । चतुऽपदे ॥

**अन्वय** — वातोष्पते! अस्मान् प्रतिजानीहि, नः सु आवेशः अनमीवः भव । वा यत् ईमहे तत् नः प्रतिजुषस्व । नः द्विपदे शम् भव चतुष्पदे शम् ।

**दयानन्द भाष्य —**

(वास्तोः) वासहेतोर्गृहस्य (पते) स्वामिन् (प्रति) (जानीहि) (अस्मान्) (स्वावेशः) स्वः आवेशो यस्य सः (अनमीवः) रोगरहितः (भव) अत्र द्व्यचो इति दीर्घः । (नः) अस्माकम् (यत्) यत्र (त्वा) त्वाम् (ईमहे) प्राप्नुयाम (प्रति) (तत्) सह (नः) अस्मान् (जुषस्व) सेवस्व (शम्) सुखकारी (नः) अस्माकम् (भव) (द्विपदे) मनुष्याद्याय (शम्) (चतुष्पदे) गवाद्याय ।

**भावार्थ** — ये मनुष्यास्सर्वतोद्वारं पुष्कलावकाशं गृहं निर्माय तत्र वसन्ति रोगरहिता भूत्वा स्वेभ्यश्चान्येभ्यश्च सुखं प्रयच्छन्ति ते सर्वेषां मङ्गलप्रदा भवन्ति ।

**हि०भावार्थ** — जो मनुष्य सब ओर द्वार और बहुत अवकाश वाले घर को बना कर उस में बसते और रोग रहित होकर अपने तथा ओरों के लिये सुख देते हैं, वे सबको मङ्गल देने वाले होते हैं ।

**सायण भाष्य —**

हे वास्तोष्पते गृहस्य पालयितर्देव त्वमस्मान् त्वदीयान् स्तोतृनिति प्रति जानीहि प्रबुध्यस्व । तदनन्तर नोऽस्माकं स्वावेशः शोभनः नैवेशः अनमीवः अरोगकृच्च भव । किं च वयं त्वा त्वां यद्धनमीमहे याचामहे तद्धनं नोऽस्मभ्यं प्रति जुषस्वं प्रयच्छ । अपि च नोऽस्माकं द्विपदे पुत्रपौत्रादिजनाय शं सुखकरो भव । चतुष्पदे गवाश्वादिपशवे च सुखकरो भव ।

**शब्दा०** — वास्तोष्पते = घर के रक्षक वास्तोष्पति देवता, अनुजानीहि = पहचान लो, स्वावेशः = उत्तम आवासों को देने वाला, अनमीवः = रोगों से दूर करने वाला, ईमहे = याचना करते हैं, जुषस्व = प्रदान करो, द्विपदे = दो पायों के लिये, चतुष्पदे = चौपायों के लिये ।



## वास्तोष्पति सूक्त (मण्डल-७, सूक्त-५४)

**हिन्दी व्याख्या** — हे घर के रक्षक वास्तोष्पते देवता! तुम हम भक्त को पहचान लो। हमारे लिये सुन्दर आवासों को देने वाले और रोगों से मुक्त करने वाले बनो। तुमसे जो कुछ हम याचना करते हैं उसको हमारे लिये प्रदान करो। सब प्रकार हमारे दोषा्यों अर्थात् पुत्र, पौत्र आदि के लिये और चौपायों पशुओं के लिए कल्याण करने वाले बनो।

**व्याकरण** —

**वास्तोष्पतेः**=वास्तोः गृहस्य पते स्वामिन्। षष्ठी तत्पुरुष। विभक्ति वैदिक अलुक्। वस्+तुण = वास्तु।

**स्वावेशः** = शोभनः आवेशः यस्मात्। सु+आवेश = स्वावेश।

**विशेष** — वास्तोष्पति देवता ऋग्वेद का साधारण श्रेणी का देवता है। इस देवता का वर्णन ऋग्वेद में केवल एक ही सूक्त में हुआ है। परन्तु इस शब्द का प्रयोग अन्य स्थानों पर सात बार हुआ है। गृह्य सूत्रों में गृह प्रवेश से पहले वास्तोष्पति देवता की स्तुति करने और उससे पापों की क्षमा मांगने का वर्णन आता है।

ग्रासमान ने 'स्वावेशः' का अर्थ 'हमें सुखकर प्रवेश दीजिये' (Give us good entrance) और राथ ने 'सरलता से प्रवेश्य' (Easy to access) अर्थ किया है।

मण्डल—७

सूक्त—५४

मन्त्र—२

**संहिता पाठ**

वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।

अजरांसस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान्प्रति नो जुषस्व॥२॥

**पदपाठ** — वास्तोः। पते। प्रतरणः। नः एधि। गयस्फानः। गोभिः। अश्वेभिः। इन्दो। इति। अजरांसः। ते। सख्ये। स्याम। पिताऽइव। पुत्रान्। प्रति। नः। जुषस्व।

**अन्वय** — वास्तोष्पते! नः प्रतरणः गयस्फानः एधि। इन्दो! ते सख्ये गोभिः अश्वेभिः अजरांसः स्याम। पिता पुत्रान् इव नः जुषस्व।

**दयानन्द भाष्य** —

(वास्तोः) गृहस्य (पते) पालक (प्रतरणः) प्रकर्षण दुःखात्तारकः (नः) अस्माकम् (एधि) भव (गयस्फानः) गृहस्य वर्धकः (गोभिः) गवादिभिः (अश्वेभिः) तुरङ्गादिभिः (इन्दो) आनन्दप्रद (अजरांसः) जरारोगरहिताः (ते) तव (सख्ये) मित्रत्वे (स्याम)(पितेव)(पुत्रान्)(प्रति)(नः) अस्मान् (जुषस्व)।

**भावार्थ** — अत्रोपमालङ्कारः — मनुष्या उत्तमं गृहं निर्माय गवादिभिः पशुभिरलंकृत्य शोधयित्वा प्रजाया वर्धका भूत्वाऽक्षयं मित्रत्वं सर्वेषु संभाव्य यथा पिता पुत्रान्नक्षति तथैव सर्वान् रक्षन्तु।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

**हि०भावार्थ** — इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। मनुष्य उत्तम घर बनाकर गो आदि पशुओं से सुशोभित कर प्रजा के बढ़ाने वाले होकर अक्षय मित्रपन सब में अच्छे प्रकार प्रसिद्ध कराये जैसे पिता पुत्रों की रक्षा करता है वैसे ही सब की रक्षा करें।

### सायण भाष्य —

हे वास्तोष्पते गृहस्य पालयितः देव त्वं नोऽस्माकं प्रतरणः प्रवर्धकः गयस्फानः अस्मदीयस्य धनस्य प्रवर्धकः एधि भव। हे इन्द्रो सोमवदाह्लादक? ते त्वया सह सख्ये सति वयं गोभिः पशुभिः अश्वेभिरश्वैश्च सहिता अजरासः जरारहिताः स्याम भवेम। पितेव पुत्रान् यथा पिया पुत्रान् रक्षकत्वेन सेवते तथा त्वमपि नोऽस्मान् प्रति जुषस्व सेवस्व।

**शब्दा०** — प्रतरणः = उन्नति करने वाले, एधि = बनो, गयस्फानः = धनों का बढ़ाने वाला, इन्द्रो = चन्द्रमा के समान आह्लादक, अजरासः = जरा रहित, प्रतिजुषस्व = पालन करो।

**हिन्दी व्याख्या** — हे घर के रक्षक वास्तोष्पति देवता! तुम हमारी उन्नति करने वाले और धनों के बढ़ाने वाले बनो। चन्द्रमा के समान आह्लादक हे घर के देवता! तुम्हारी मित्रता प्राप्त होने पर हम गोओं, घोड़ों आदि पशुओं सहित जरा से रहित होवें। जिस प्रकार पिता पुत्रों का पालन करता है, उसी प्रकार तुम हमारा पालन करो।

### व्याकरण —

प्रतरण = प्र+तृ+ल्युट् (अन)

गयस्फानः = गयस्य घनस्य स्फानः प्रवर्धकः। स्फायी (स्फाय्)+ ल्युट् (अन) छान्दस 'य' का लोप।

अजरासः = 'अजर' शब्द का प्रथमा विभक्ति का बहुवचन। वैदिक रूप है। लोक में 'अजराः' रूप होगा।

**विशेष** — निघण्टु में 'गय' शब्द का प्रयोग गृह, धन और अपत्य अर्थों में हुआ है। ग्रासमान ने 'गय' शब्द को 'गि' धातु से निष्पन्न माना है, जो आगे चलकर 'जि' बनी। 'इन्दु' शब्द की निष्पत्ति 'इदि' धातु से हुई है। 'इन्दु' को मकानों का और रात्रि का संरक्षक माना गया है। छन्द के आग्रह से 'सख्ये' को 'सखिये' और 'स्याम' को 'सियाम' पढ़ना चाहिये।

मण्डल—७

सूक्त—५४

मन्त्र—३

### संहिता पाठ

वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या।

पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥३॥



## वास्तोष्पति सूक्त (मण्डल-७, सूक्त-५४)

**पदपाठ** — वास्तोः। पते। शग्मया। संसदा। ते। सक्षीमहि। रण्वया। गातुमत्या। पाहि। क्षेमे। उत। योगे। वरम्। नः। यूयम्। पात। स्वस्तिभिः। सदा। नः।

**अन्वय** — वास्तोष्पते! शग्मया रण्वया गातुमत्या ते संसदा सक्षीमहि। क्षेमे उत योगे नः वरम् पाहि। यूयम् स्वस्तिभिः नः सदा पात।

**दयानन्द भाष्य** —

(वास्तोः) गृहस्य( पते) पालक (शग्मया) सुखरूपया (संसदा) सम्यक् सीदन्ति यस्यां तथा (ते) तव (सक्षीमहि) संवधनीयाम (रण्वया) रमणीयया (गातुमत्या) शस्तवाग्भूमियुक्तया (पाहि) (क्षेमे) रक्षणे (उत) (योगे) अनुपात्तस्योपात्तलक्षणे (वरम्)(नः) अस्मान् (यूयम्) (पात) (स्वस्तिभिः) सुखादिभिः (सदा) (नः)।।

**भावार्थ** — ये गृहस्थाः सज्जनान् सत्कृत्य रक्षन्ति ते तेषां योगक्षेमाबुनीय सततं तान् पालयन्तीति।

**हि० भावार्थ** — जो गृहस्थ सज्जनों का सत्कार कर उनकी रक्षा करते हैं, वे उनके योग क्षेम की उन्नति कर निरन्तर उनकी पालना करते हैं।

**सायण भाष्य** —

हे वास्तोष्पते देव! शग्मया सुखकर्त्या रण्वया रमणीयया गातुमत्या धनवत्या ते त्वया देयया संसदा स्थानेन सक्षीमहि वयं संगच्छेमहि। त्वमपि क्षेमे प्राप्तस्य रक्षणे उत अपि च योगे अप्राप्तस्य प्रापणे वरं वरणीयं नोऽस्मदीयं धनं पाहि रक्ष। हे वास्तोष्पते यूयं त्वं नोऽस्मान् सदा सर्वदास्वस्तिभिः कल्याणैः पात पाहि।

**शब्दार्थ** — शग्मया = सुख देने वाले, संसदा = घर रूपी स्थान से, सक्षीमहि = संयुक्त होवें, रण्वया = रमणीय, गातुमत्या = धन से सम्पन्न, पाहि = रक्षा करो, क्षेमे = प्राप्त वस्तुओं की रक्षा करने में, योगे = अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त कराने में, वरम् = अभीष्ट धन, पात = रक्षा करो, स्वस्तिभिः = कल्याणों के द्वारा।

**हिन्दी व्याख्या** — घर के रक्षक हे वास्तोष्पते देवता! सुख देने वाले, रमणीय और धन से सम्पन्न तुम्हारे प्रदेय घर रूपी स्थान से हम संयुक्त होवें। तुम भी प्राप्त वस्तुओं की रक्षा करने में और प्राप्त वस्तुओं को प्राप्त कराने में हमारे अभीष्ट धन की रक्षा करो। तुम कल्याणों के द्वारा हमारी सदा रक्षा करो।

**व्याकरण** —

शग्मया = 'शम्' धातु से 'क' प्रत्यय करके निपातनात् शग्म। स्त्रीलिङ्ग में शग्मा। तृतीया विभक्ति का एकवचन।

रण्वया = 'रम्' धातु से निपातनात् सिद्ध होता है।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

गातुमत्या = गातु+मतुप्+डीप् = गातुमती । तृतीया विभक्ति का एकवचन ।

संसदा = सम्+सद्+क्विप् ।

सक्षीमहि = 'सच्' धातु से विधिलिङ्ग, उत्तम पुरुष, बहुवचन में वैदिक रूप है ।

**विशेष** — शग्म पद का प्रयोग ऋग्वेद में दस स्थानों पर और हुआ है । ७/१७/६ मन्त्र में सायण ने 'शग्मासः' का अर्थ 'सुखकराः शक्ताः वा' किया है और 'शक्' धातु से भी इसकी निष्पत्ति मानी है । राथ ने 'शग्म' पद को 'शक्' धातु से निष्पन्न बताया है । 'गातुमत्या' पद का प्रयोग ऋग्वेद में अन्यत्र नहीं हुआ । राथ ने इसका अर्थ roomy, convenient एवं ग्रासमान ने having a good issue किया है । 'क्षेमे उत्तयोगो' का अर्थ अनेक प्रकार से किया गया है । लुडविग ने 'of at rest and at work, ग्रासमान ने 'in work and enjoyment' और राथ ने possession of a acquired property, preservation of one's means, wealth, safety, prosperity अर्थ किये हैं ।

छन्द के आग्रह से 'स्वस्तिभिः' को 'सुवस्तिभिः' पढ़ना चाहिये ।



## मित्रावरुण-सूक्त ( मण्डल-७, सूक्त-६१ )

## मित्रावरुण-सूक्त

ऋषि-वसिष्ठ

देवता-मित्रावरुण

छन्द-त्रिष्टुप्

मण्डल ७

सूक्त ६१

मंत्र १

संहिता-पाठः

उद्वां चक्षुर्वरुण सुप्रतीकं देवयोरेति सूर्यस्ततन्वान् ।  
अभि यो विश्वा भुवनानि चष्टे स मन्युं मर्त्येषा चिकेत ॥

पद-पाठः

उत् । वाम् । चक्षुः । वरुणा । सुप्रतीकम् । देवयोः । एति । सूर्यः । ततन्वान् । अभि ।  
यः । विश्वा । भुवनानि । चष्टे । सः । मन्युम् । मर्त्येषु । आ । चिकेत ॥१॥  
अन्वय - वरुण ! देवयोः वाम् चक्षुः सुप्रतीकम् सूर्यः ततन्वान् उत् एति । यः विश्वा भुवनानि  
अभि चष्टे । स मर्त्येषु मन्युम् आ चिकेत ।

दयानन्द-भाष्य

(उत्) (वाम्) युवयोः (चक्षुः) चष्टेऽनेन तत् (वरुण) (सुप्रतीकम्) सुष्ठु रूपादि  
प्रतीतिकरम् (देवयोः) विदुषोः (एति) (सूर्यः) सवितृमण्डलम् (ततन्वान्) विस्तीर्णः (अभि)  
(यः) (विश्वा) सर्वाणि (भुवनानि) (चष्टे) ज्ञानाति (सः) (मन्युम्) क्रोधम् (मर्त्येषु) मनुष्येषु  
(आ) समन्तात् (चिकेत) विजानीयात् ॥१॥

भावार्थ - अत्र वाचकलुं - हे मनुष्याः ! यथा सूर्यस्सर्वान् लोकान् प्रकाशयति  
तथाऽध्यापकोपदेशकौ सर्वेषामात्मनः प्रकाशयतः ॥१॥

हि०भावार्थ - इस मन्त्र में वाचकलुं - हे मनुष्यो ! जैसे सूर्य सम्पूर्ण लोकों को  
प्रकाशित करता है, वैसे अध्यापक और उपदेशक जन सब के आत्माओं को प्रकाशित करते  
हैं ॥१॥

सायण-भाष्य

हे वरुणा मित्रावरुणौ देवयोः द्योतमानयोः वां युवयोः चक्षुः प्रकाशकं तेजः सुप्रतीकं  
शोभनरूपम् एवरूपः सूर्यः ततन्वान् तेजो विस्तारयन् उत् एति उदगच्छति । अथोदितः यः  
देवः विश्वा सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि अभिचष्टे अभिपश्यति । सः देवः मर्त्येषु प्रवृत्तं मन्युं  
स्तोत्रं कर्म वा आ चिकेत आजानाति ।

शब्दार्थ - वाम् = तुम दोनों का । चक्षुः = चक्षुरूप, प्रकाशक । वरुणा = मित्र  
और वरुण । सुप्रतीकम् = सुन्दर स्वरूप वाला । ततन्वान् = तेज को विस्तृत करता हुआ ।  
उत् एति = उदय हो रहा है । विश्वा = सम्पूर्ण । भुवनानि = लोकों को । अभिचष्टे =  
देखता है । मन्युम् = स्तोत्र या कर्म को । मर्त्येषु = मनुष्यों में । आचिकेत = जानता है ।

हिन्दी व्याख्या - हे मित्र और वरुण देवताओं! दीप्तियुक्त तुम दोनों का चक्षु रूप  
अथवा प्रकाशक, सुन्दर स्वरूप वाला सूर्य अपने तेज को विस्तृत करता हुआ उदय हो रहा



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

है। जो सूर्य सम्पूर्ण लोकों को देखता है, वह मनुष्यों में विद्यमान स्तोत्र या कर्म को जानता है।

**व्याकरण —**

ततन्वान् — 'तनु विस्तारे' धातु से 'क्वसु' प्रत्यय।

वरुण — प्रथमा विभक्ति का द्विवचन 'औ' को 'आ' आदेश और उसको छान्दस ह्रस्व। मित्रश्च वरुणश्च वरुणा। एकशेष द्वन्द्व।

विशेष — मैकडोनल के अनुसार सुप्रतीकम् = सुन्दर (lovely) और मन्यु = इरादा (intention)।

मण्डल ७

सूक्त ६१

मंत्र २

**संहिता-पाठः**

प्र वां स मित्रावरुणावृतावा विप्रो मन्मानि दीर्घश्रुदियर्ति।

यस्य ब्रह्माणि सुक्रतू अवाथ आ यत्क्रत्वा न शरदः पूणैथे॥

**पद-पाठः**

प्र। वाम्। सः मित्रावरुणौ। ऋतऽवां। विप्रः। मन्मानि। दीर्घश्रुत्। इयर्ति। यस्य। ब्रह्माणि। सुक्रत। इति। सुऽक्रतू। अवाथः। आ। यत्। क्रत्वा। न। शरदः। पूणैथे इति॥२॥  
अन्वय — मित्रावरुणौ ! सः विप्रः ऋतावा दीर्घश्रुत् वाम् मन्मानि प्र इयर्ति। सुक्रतू ! यस्य ब्रह्माणि अवाथः। यत् क्रत्वा शरदः न आ पूणैथे।

**दयानन्द-भाष्य**

(प्र) (वाम्) युवाम् (सः) (मित्रावरुणौ) प्राणौदानाविवाध्यापकोप्रदेशकौ (ऋतावा) सत्यसेवी (विप्रः) मेधावी (मन्मानि) मन्तव्यानि विज्ञानानि (दीर्घश्रुत्) यो दीर्घ विस्तीर्णानि बहुकालं वा शास्त्राणि शृणोति (इयर्ति) प्राप्नोति (यस्य) (ब्रह्माणि) धनानि (सुक्रतू) शोभनप्रज्ञायुक्तौ (अवाथः) रक्षेताम् (आ) (यत्) (क्रत्वा) प्रज्ञया (न) इव (शरदः) शरदाद्यतून् (पूणैथे) पूरयतम्॥२॥

भावार्थ — हे विद्वांसः ! यो दीर्घकालं ब्रह्मचर्येण शास्त्राण्यधीते स एव मेधावी भूत्वा सर्वान्मनुष्यान् रक्षितुं शक्नोति॥२॥

हि०भावार्थ — हे विद्वानो ! जो बहुत काल पर्यन्त ब्रह्मचर्य से शास्त्रों को पढ़ता है, वही बुद्धिमान् होकर सब मनुष्यों की रक्षा करने को समर्थ होता है॥२॥

**सायण-भाष्य**

हे मित्रावरुणौ ! वां युवयोः मन्मानि मननीयानि स्तोत्राणि स प्रसिद्ध विप्रः मेधावी ऋतावा यज्ञवान् दीर्घश्रुत् चिरकालश्रोता एवमुक्तलक्षणो वसिष्ठः इयर्ति प्रेरयति। यस्य ऋषेः ब्रह्माणि परिवृढानि स्तोत्राणि हे सुक्रतू शोभनकर्माणौ अवाथः रक्षथः। यत् क्रत्वा कर्म शरदः बहून् संवत्सरान् आ पूणैथे आपूरयेथे स उदियर्ति।



## मित्रावरुण-सूक्त (मण्डल-७, सूक्त-६१)

शब्दार्थ — वाम् = तुम दोनों की। ऋतावा = यज्ञशील। विप्रः = मेधावी। मन्मानि = स्तुतियों को। दीर्घश्रुत् = बहुत विद्वान्। प्र इयर्ति = प्रेरित करता है। ब्रह्माणि = उत्तम स्तोत्रों की। सुक्रतू = हे शोभन कर्मों वाले देवताओं। अवाथः = रक्षा करते हो। क्रत्वा = कर्म को। शरदः = शरद् ऋतुओं तक। पृणैथे = पूरा करते हो।

हिन्दी व्याख्या — हे मित्र और वरुण देवताओं ! वह प्रसिद्ध मेधावी, यज्ञशील और बहुत विद्वान् वसिष्ठ ऋषि तुम दोनों की स्तुतियों को प्रेरित करता है अर्थात् गान करता है। हे शोभन कर्मों वाले देवताओं ! जिस ऋषि के किये गये उत्तम स्तोत्रों की तुम रक्षा करते हो और जिसके कर्म को तुम मानों अपने शरद् ऋतुओं (वर्षों) तक पूरा करते हो।

व्याकरण —

ऋतावा — ऋत+वनिप्। “अन्येभ्योऽपि डाप् दृश्यते” से दीर्घऋतावन्। प्रथमा विभक्ति का एकवचन।

मण्डल ७

सूक्त ६१

मंत्र ३

संहिता-पाठः

प्रोरोर्मित्रावरुणा पृथिव्याः प्र दिव ऋष्याद् बृहतः सुदानू।

स्पर्शो दधाथे ओषधीषु विक्ष्वर्धग्यतो अ निमिषं रक्षमाणा॥

पद-पाठः

प्र। उरोः। मित्रावरुणा। पृथिव्याः। प्र। दिवः। ऋष्यात्। बृहतः। सुदानू इति सुदानू। स्पर्शः। दधाथे इति। ओषधीषु। विक्षु। ऋधक्। यतः। अनिऽमिषम्। रक्षमाणा॥३॥

अन्वय — मित्रावरुणा ! उरोः पृथिव्याः प्र। सुदानू। ऋष्यात् बृहतः दिवः प्र। ऋधग्यतः अनिमिषं रक्षमाणा ओषधीषु विक्षु स्पर्शः दधाते।

दयानन्द-भाष्य

(प्र) (वाम्) युवाम् (सः) (मित्रावरुणौ) प्राणेदानाविवाध्यापकोपदेशकौ (ऋतावा) सत्यसेवी (विप्रः) मेधावी (मन्मानि) मन्तव्यानि विज्ञानानि (दीर्घश्रुत्) यो दीर्घ विस्तीर्णानि बहुकालं वा शास्त्राणि शृणोति (इयर्ति) प्राप्नोति (यस्य) (ब्रह्माणि) धनानि (सुक्रतू) शोभनप्रज्ञायुक्तौ (अवाथः) रक्षेताम् (आ) (यत्) (क्रत्वा) प्रज्ञया (न) इव (शरदः) शरदादृतून् (पृणैथे) पूरयतम्॥३॥

भावार्थ — हे विद्वांसः ! यो दीर्घकालं ब्रह्मचर्येण शास्त्राण्यधीते स एव मेधावी भूत्वा सर्वान्मनुष्यान् रक्षितुं शक्नोति॥३॥

हि०भावार्थ — हे विद्वानों ! जो बहुत काल पर्यन्त ब्रह्मचर्य्य से शास्त्रों को पढ़ता है, वही बुद्धिमान् होकर सब मनुष्यों की रक्षा करने को समर्थ होता है॥३॥

सायण-भाष्य

हे मित्रावरुणा मित्रावरुणौ युवाम् उरोः विस्तीर्णायाः पृथिव्याः अपि प्ररिचिथे।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

अस्येदेव प्ररिरिचे (ऋ० स० १.६१.९) इत्यादिषु प्र शब्दस्य रिरिच इत्यनेन सह सम्बन्धदर्शनादत्राप्युचितक्रियाध्याहारेण रिरिच इति योज्यम्। तथा ऋष्यात् गुणैर्महतः बृहतः स्वरूपतोऽतिमहतः दिवः द्युलोकादपि प्ररिरिचाथे हे सुदानू शोभनदानौ। किञ्च ओषधीषु विक्षु प्रजासु निमित्तभूतासु प्रजासु चेति वा स्पशः रूपं दधाथे धारयेथे। किं कुर्वन्तौ। ऋधग्यतः ऋधक् सत्येन यतः विवेकात् सत्येन गच्छतो जनान् अनिमिषं अव्यवधानेन सर्वदा रक्षामाण पालयन्तौ।

**शब्दार्थ** — उरोः = विस्तृत। प्र = बढ़ कर हो। दिवः = अन्तरिक्ष लोक से। ऋष्यात् = गुणों से महान्। बृहत = स्वरूप से महान्। सुदानू = उत्तम दान देने वाले। स्पशः = रूप को। दधाथे = धारण कराते हो। विक्षु = प्रजाओं में। ऋधग्यतः = सत्य एवं विवेक द्वारा आचरण करने वाले मनुष्य की। अनिमिषम् = निरन्तर।

**हिन्दी व्याख्या** — हे मित्र और वरुण देवताओं ! तुम दोनों विस्तृत पृथिवी से भी बढ़कर हो। उत्तम दान देने वाले हे देवताओं ! तुम दोनों गुणों से महान् और स्वरूप से महान् अन्तरिक्ष लोक से भी अधिक बढ़ कर हो। सत्य के एवं विवेक के द्वारा आचरण करने वाले मनुष्यों की निरन्तर रक्षा करते हुये तुम दोनों औषधियों में और प्रजाओं में रूप को धारण कराते हो।

**व्याकरण** —

ऋष्यात् — 'ऋषि गतौ' धातु से 'व' प्रत्यय। ऋष्+व = ऋष्य।

दधाथे — 'धा' धातु, लिट् लकार, मध्यम पुरुष, द्विवचन।

**विशेष** — मैकडानल ने 'स्पशः' का अर्थ 'गुप्तचर' (spies) और 'अनिमिषम्' का अर्थ 'पलक न झपकने वाली आँखें' (unwinking eyes) किया है।

मण्डल ७

सूक्त ६१

मंत्र ४

संहिता-पाठः

शंसां मित्रस्य वरुणस्य धाम शुष्मो रोदसी बद्बधे महित्वा।

अयन्मासा अयज्वनामवीराः प्र यज्ञमन्मा वृजनं तिराते॥

पद-पाठः

शंसं। मित्रस्यं। वरुणस्य। धामं। शुष्मः। रोदसी इति। बद्बधे। महित्वा। अयन् मासाः। अयज्वनाम्। अवीराः। प्र यज्ञमन्मा। वृजनम्। तिराते॥४॥

**अन्वय** — मित्रस्य वरुणस्य धाम शंस, शुष्मः महित्वा रोदसी बद्बधे। अयज्वनाम् मासाः अवीराः अयन्। यज्ञमन्मा वृजनम् प्रतिराते।

**दयानन्द भाष्य** —

**पदार्थः** — हे मनुष्याः! भवन्तः (मित्रस्य) अध्यापकस्य (वरुणस्य) उपदेशकस्य च (धाम) पदम् (शंस) प्रशंसन्तु तयोरध्यापकोपदेशकयोः (शुष्मः) बलं (रोदसी) द्यावापृथिव्योर्मध्ये



**मित्रावरुण-सूक्त ( मण्डल-७, सूक्त-६१ )**

(महित्वा) महत्वाय (बद्धधे) संसार मर्यादां बध्नातु (अयज्वनाम्) अयज्ञानाम् अकर्मणाम् संतानाः (अवीराः) वीरत्वधर्मरहिताः भवेयुः, अन्यच्च तेषाम् (मासाः) समयाः (अयन्) वीरसन्तानरहिता भवेयुः (प्र यज्ञमन्मा) यज्वानः (वृजनं) बलं (तिराते) वर्द्धयन्तु।

**भावार्थ** — परमात्मोपदिशति भो जनाः। अस्मिन् जगति अध्यापका— नामुपदेशकानाञ्च सर्वोपरि पदं वर्तते, अतो भवद्भिः तत्पदस्य सर्वथैव रक्षणं कार्यं, अन्यच्च अयज्ञानामकर्मणां निष्फलं एव सन्तनो याति, यतश्च ईश्वरानानुयायिनः ईश्वर नियमं पालयन्ति, अतएव ते सुखिनः, ये ईश्वरीयनियमान् न पालयन्ति तेषां मासा अवीरा एव अयन् अगच्छन्नित्यर्थः।

**हि० भावार्थ** — परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यों! संसार में सबसे उच्च पद अध्यापक तथा उपदेशकों का है। तुम लोग इनके पद की रक्षा के लिए यत्नवान् होओ, ताकि इनका बल बढ़कर संसार के सब अज्ञानादि पापों का नाशक हो, और संसार मर्यादा में स्थिर रहे।

**सायण-भाष्य**

हे ऋषे मित्रस्य वरुणस्य च धाम तेजः स्थान शंस स्तुहि। ययोर्देवयोः शुष्मः बल रोदसी द्यावापृथिव्यौ सह वर्तमाने स्वमहत्वेन बद्धधे बध्नाति पृथक् स्थापयति इयं पृथिवीयं द्यौरिति पृथक्करोति। 'द्यावापृथिवी सहास्ताम्' (तै० ब्रा० १.१.३.२) इति श्रुतेः। अयज्वनाम् अननुष्ठातृणां मासाः कालावयवाः अवीरा अपुत्रा एवं आयन यन्तु गच्छन्तु। तद्विपरीतः यज्ञमन्मा यज्ञार्थमतिमान् यज्वा वृजनं बलं प्रतिराते प्रपूर्वस्तिरतिवर्धनार्थम्।

**शब्दार्थ** — शंस = स्तुति करो। धाम = तेज, स्थान। शुष्मः = बल। रोदसी = द्यावा और पृथिवी। बद्धधे = पृथक् पृथक् स्थापित करता है। महित्वा = महिमा से। अयन् = व्यतीत हो जावें। अयज्वनाम् = यज्ञ न करने वालों के। अवीराः = पुत्रों के बिना। यज्ञमन्मा = यज्ञ के लिये बुद्धि रखने वाला। वृजनम् = बल को। तिराते = बढ़ावे।

**हिन्दी व्याख्या** — हे ऋषि ! तुम मित्र और वरुण के तेज या स्थान की स्तुति करो। जिन मित्र और वरुण का बल अपनी महिमा से द्युलोक और पृथिवी लोक को पृथक् पृथक् स्थापित करता है। यज्ञ न करने वाले व्यक्तियों के महीने अर्थात् समय पुत्रों के बिना ही व्यतीत हो जावें। यज्ञ के लिये बुद्धि रखने वाला व्यक्ति बल को बढ़ावे।

**व्याकरण —**

**बद्धधे** — 'वध्' धातु, लेट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

**अयन्** — 'इण् गतौ' लोट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन। वैदिक रूप है। आ+यन्तु लोक में बनता है। 'आ' को ह्रस्व होकर और 'तु' का लोप होकर = अयन्।

**यज्ञमन्मा** — यज्ञ+मन्+मनिन्।

**विशेष** — मैक्डानल के अनुसार धाम = शासन (ordinance) और प्रतिराते = क्षेत्र को बढ़ाते हैं (extend his circle)।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

मण्डल ७

सूक्त ६१

मंत्र ५

संहिता-पाठः

अमूरा विश्वा वृषणाविमा वां न यासु चित्रं ददृशे न यक्षम् ।

द्रुहः सचन्ते अनृता जनानां न वां निष्यान्यचिते अभूवन् ।।

पद-पाठः

अमूरा । विश्वा । वृषणौ । इमाः । वाम् । न । यासु । चित्रम् । ददृशे । न । यक्षम् ।  
द्रुहः । सचन्ते । अनृता । जनानाम् । न । वाम् । निष्यानि । अचिते । अभूवन् ।।५।।अन्वय — अमूरा विश्वा वृषणौ वाम् इमा, य सु न चित्रम् न यक्षम् ददृशे । जनानाम् अनृता  
द्रुहः सचन्ते वाम् । निष्यानि अचिते न अभूवन् ।

दयानन्द भाष्य —

पदार्थः — अध्यापकोपदेशकयोः (यासु) क्रियासु (चित्रं) वैचित्र्यं शक्तेर्वैलक्षण्यमित्यर्थ (न ददृशे) न दृष्टिगतं भवति (न यक्षं) यासु न पूजायोग्यः कश्चिद्भावः (इमाः विश्वा) तौ अध्यापकोपदेशकौ (वां) युवां प्रति (वृषणौ) सदुपदेशस्य वृष्टि कर्तारौ (न) न भवतः, अन्यच्च (वां) युवा प्रति (ते) एवं विधा अध्यापकोपदेशकाः ये (द्रुहः सचन्ते) द्विषन्ति तेषां (अनृता) अन्ततानि (निष्यानि) वचांसि (जनानां) (अचिते) अज्ञानाय (अभूवन्) भवन्ति अतएव (अमूरा) अज्ञानरहिताः भवन्तः सर्वे सदुपदेशकान् स्वीकुर्युः ।

भावार्थ — परमात्मोपदिशति, हे जनाः! भवन्तः सर्वे अध्यापकोपदेशकयोर्विषये सर्वदैव अज्ञानरहिताः भवेयुः, यतस्ते सर्वे उपदेशका अध्यापकाश्च वाग्मिनः सत्यवादिनश्च भवेयुः अन्यच्च ते स्तुतिनिन्दाकर्तारोऽपि न स्युः अर्थात्सर्वदैव सरलप्रकृतयः सत्यवादिनो वेदाध्ययनप्रियाश्च अध्यापकस्य उपदेशकस्य च पदे भवद्भिः स्थापनीयाः ।

हि०भावार्थ — जिन अध्यापकों वा उपदेशकों में वाणी की विचित्रता नहीं पाई जाती और जिनकी वेदादि सच्चाइयों में श्रद्धा नहीं है उनके अज्ञान निवृत्तिविषयक भाव संसार में कभी नहीं फैल सकते और न उनकी वाणी वृष्टि के समान सदगुणरूप अंकुर उत्पन्न कर सकती है । इसी प्रकार जो अध्यापक व उपदेशक रात्रि दिन निन्दा स्तुति में तत्पर रहते हैं, वह भी दूसरों की अज्ञान ग्रन्थियों का छेदन नहीं कर सकते, इसलिए उचित है कि उपदेष्टा लोगों को निन्दा स्तुति के भावों से सर्वथा वर्जित रहकर अपने हृदय में श्रद्धा के अंकुर दृढ़तापूर्वक जमाने चाहिये, ताकि सारा संसार आस्तिक भावों से विभूषित हो ।

सायण-भाष्य

हे अमूरा अमूढौ हे विश्वव्याप्तौ हे वृषणौ वर्षितारौ वां युवाभ्याम् इमाः इमानि स्तुतिवचांसि क्रियन्ते । यासु स्तुतिषु चित्रम् आश्चर्यं न ददृशे दृश्यते न यक्षं न पूजा दृश्यते । युवाभ्यां महिम्नोऽपि महत्वात् प्रयत्नेन क्रियमाणमपि स्तोत्रं न चमत्करोतीत्यर्थः । जनानाम् अनृता अस्तुत्यविषयाणि स्तोत्राणि द्रुहः द्रोघधारः सचन्ते सेवन्ते । न महान्तः । वां युवाभ्यां क्रियमाणानि निष्यन्नानि अन्तर्हितानि रहस्यान्यपि स्तोत्राणि अचिते अज्ञानाय न



## मित्रावरुण-सूक्त (मण्डल-७, सूक्त-६१)

अभूवन् भवन्ति ।

**शब्दार्थ** — अमूरा = बुद्धिमान् । विश्वा = विश्व में व्याप्त । वृषणौ = कामदेवताओं की वर्षा करने वाले । वाम् = तुम्हारे लिये । चित्रम् = आश्चर्य । यक्षम् = पूजा । ददृशे = दिखाई देती है । द्रुहः = द्रोही व्यक्ति । अनृताः = असत्य, अस्तुति विषयक स्तोत्रों का । सचन्ते = सेवन करते हैं । निण्यानि = किये जाते वो रहस्यमय स्तोत्र । अचिते = अज्ञान के लिये ।

**हिन्दी व्याख्या** — हे बुद्धिमान्, विश्व में व्याप्त और कामनाओं की वर्षा करने वाले मित्र और वरुण देवताओं! तुम्हारे लिये ये स्तुतिवचन गाये जाते हैं । इन स्तुतियों में न तो कोई आश्चर्य दिखाई देता है और न पूजा । मनुष्यों के असत्य अर्थात् अस्तुति विषयक स्तोत्रों का द्रोही व्यक्ति सेवन करते हैं । आप दोनों द्वारा किये जाने वो रहस्यमय स्तोत्र अज्ञान के लिये नहीं होते ।

**व्याकरण** —

**विशेष** — मैक्डानल के अनुसार कुछ शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं — चित्रम् = चमत्कार (marval), यक्ष = रहस्य (udyrtu), द्रुहः = प्रतिशोधी (avengers) और निण्यानि = रहस्य (secrets) ।

मण्डल ७

सूक्त ६१

मंत्र ६

संहिता-पाठः

समुं वां यज्ञं महयं नमोभिर्हुवे वां मित्रावरुणा सबाधः ।  
प्र वां मन्मान्युचसे नवानि कृतानि ब्रह्म जुजुषन्निमानि ।।

पद-पाठः

सम् । ऊँ इति । वाम् । यज्ञम् । महयम् । नमःऽमिः । हुवे । वाम् । मित्रावरुणा । सऽबाधः । प्र । वाम् । मन्मानि । ऋचसे । नवानि । कृतानि । ब्रह्म । जुजुषन् । इमानि ।। ६ ।।  
**अन्वय** — मित्रावरुणा वाम् यज्ञम् नमोभिः समुमह्वयम् । सबाधः वाम् हुवे । वाम् ऋचसे नवानि मन्मानि प्र । कृतानि इमानि ब्रह्म जुजुषन् ।

**दयानन्द भाष्य** —

**पदार्थ** — (मित्रावरुणा) हे अध्यापकोपदेशकौ! (वां) युवयोः (मह्यं) सत्कारहं यज्ञं (सबाधः) जिज्ञासुरहं (नमोभिः) सत्कारैः (समु) सम्यक्तया (हुवे) स्वीकुर्याम् अन्यच्च (वां) युवयोः करुणया (नवानि, मन्मानि) नूतनव्याख्यानानि (प्र ऋचसे) पदार्थज्ञान विवृद्धये (कृतानि) दत्तानि, अन्यच्च (वां) युवयोः इमानि व्याख्यानानि (ब्रह्म, जुजुषन्) ब्रह्मसंबन्धीनि ।

**भावार्थ** — हे अध्यापकोपदेशकौ! भवतोः प्रवचनरूपः = अध्यापनरूपः उपदेशरूपश्च यज्ञः मयाऽऽद्रियते, अन्यच्च वेदार्थबोधकानि यानि यानि नूतनानि व्याख्यानानि तानि तानि भवद्भिः सर्वदैव दातव्यानि, यैर्वेदस्य ख्यातिवर्द्धेत, तद्द्वारा स्वजीवनमपि सफलां कुरुतां



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

भवन्तौ, अस्मिन् मन्त्रे यत्कृतानि इति पदं तत्र मनुष्यस्य कृतिं बोधयति, अपि तु ईश्वरस्यैव कृतिं बोधयति, कुतः वेदानामीश्वरज्ञानत्वात् नित्यत्वाच्च, प्रतिपादितं—चैतत्—अस्य वा महतो भूतस्य निःश्वसितं यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद अथर्वाङ्गिरसः इत्यत्रेति ।।

**हि० भावार्थ** — हे अध्यापक तथा उपदेशकों! मैं जिज्ञासु तुम्हारे यज्ञों को सत्कार पूर्वक स्वीकार करता हुआ प्रार्थना करता हूँ कि आपके उपदेश मुझे ब्रह्म की प्राप्ति करावें।

**सायण-भाष्य**

हे मित्रावरुणौ वां युवयोः यज्ञं नमोभिः नमस्कारैः स्तुतिभिः समुमहयं संपूजायाम्यहम्। तदर्थं हे मित्रावरुणौ वां सबाधः बाधायुक्तोऽहं हुवे आह्वयामि बाधापरिहाराय। वां युवां ऋचसे सेवितं नवानि नूतनानि स्तुत्यानि वा, मन्मानि स्तोत्राणि प्र भवन्त्वित्यध्याहारः। कृतानि मया समूहीकृतानि इमानि इदानीं क्रियमाणानि ब्रह्म स्तोत्राणि युवां जुजुषन् प्रीणयन्तु।

**शब्दार्थ** — सम् उ महयम् = पूजा करता हूँ। हुवे = आह्वान करता हूँ। सबाधः = बाधा युक्त होने पर। मन्मानि = स्तोत्र। ऋचसे = स्तुति करने के लिये। नवानि = नये। कृतानि = मेरे द्वारा एकत्रित किये गये। ब्रह्म = उत्तम स्तोत्र। जुजुषन् = प्रसन्न करें।

**हिन्दी व्याख्या** — हे मित्र और वरुण देवताओं! मैं आपके निमित्त किये गये यज्ञ की नमस्कारों द्वारा पूजा करता हूँ उस आपके यज्ञ को पूरा करने के लिये बाधा युक्त होने पर हे मित्र और वरुण ! मैं आप दोनों का आह्वान करता हूँ। तुम दोनों की स्तुति करने के लिये नये स्तोत्र रचे जावें। मेरे द्वारा एकत्रित किये गये ये उत्तम स्तोत्र तुमको प्रसन्न करें।

**व्याकरण —**

**सबाधः** — बाधेन सह।

**जुजुषन्** — यङन्त जुष् धातु, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

**विशेष** — मैक्डानल के अनुसार सबाधः = उत्साह के साथ (with zeal), और कृतानि = प्रस्तुत किये गये (offered)।

**मण्डल ७**

**सूक्त ६१**

**मंत्र ७**

**संहिता-पाठः**

इयं देव पुरोहितिर्युवभ्यां यज्ञेषु मित्रावरुणावकारि।

विश्वानि दुर्गा पिपृतं तिरो नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

**पद-पाठः**

इयम्। देवा। पुरोहितिः। युवभ्याम्। यज्ञेषु। मित्रावरुणौ। अकारि। विश्वानि। दुर्गा। पिपृतम्। तिरः। नः। यूयम्। पात। स्वस्तिभिः। सदा। नः॥७॥



## मित्रावरुण-सूक्त ( मण्डल-७, सूक्त-६१ )

अन्वय — देवा मित्रावरुणौ युवभ्याम् यज्ञेषु इयम् पुरोहितिः अकारि । विश्वानि दुर्गा पिपृतम् । नः तिरः । यूयम् नः सदा स्वस्तिभिः पात ।

**दयानन्द भाष्य —**

**पदार्थ —** (मित्रावरुणौ) हे अध्यापकोपदेशकौ (युवभ्यां) भवद्भ्यां (यज्ञेषु) यज्ञादिषु (इयं, देव, पुरोहितिः) देवानां हितकारिणीयं वाक् (अकारि) कृता, अन्यच्च, (नः) अस्माकं (विश्वानि) सम्पूर्णानि (दुर्गा) विषमाणि विघ्नानीत्यर्थः (तिरः) तिरस्कृत्य (पिपृत) नाशयतम्, यूयं (स्वस्तिभिः) कल्याणकारिणीभिर्वाणीभिः (सदा) सर्वदा (नः) अस्मान् (पात) रक्षत ।।

**भावार्थ —** परमात्मोपदिशति, कर्मोपासनाज्ञानात्मकेषु यज्ञेषु अध्यापकोपदेशकाभ्यामेव पुरोहितस्य कर्म कारयितव्यम्, नान्येभ्यः, यत एवं विधा विद्वांसः याज्ञिका भवन्ति अत एभ्य एव स्वस्तिवाचनस्य प्रार्थना करणीया नान्येभ्य इति ।

**हि० भावार्थ —** परमात्मा उपदेश करते हैं कि कर्म, उपासना तथा ज्ञान इन तीनों प्रकार के यज्ञों में अध्यापक तथा उपदेशक ही पुरोहित का कार्य करते हैं और यही जनता-जनसमूह को सब विघ्नों से बचाकर उसकी रक्षा करते हैं। इसलिए जनता को समष्टिरूप से इनसे स्वस्ति की प्रार्थना करनी चाहिये ।

**सायण-भाष्य**

देवाः हे देवगणाः मित्रावरुणौ तन्नामकदेवा प्रति इयमेषा पुरोहितिः पुरोधास्त्वम् अकारि विहितम् । एषा पुरोहितिः युवभ्यां मित्रावरुणाभ्यां कृते यज्ञेषु कर्मविशेषेषु अकारि । युवां विश्वानि सर्वाणि दुर्गा दुर्गमनानि दुःसाध्यानि कर्माणि पिपृतं पुरयतम् । नः अस्माकं बाधाः तिरः दूरे कुरुतं तथा यूयं स्वस्तिभिः कल्याणबुद्धिभिः वचनैश्च नः अस्मान् सदा पात रक्षत ।

**शब्दार्थ —** देवाः = हे देवताओं । पुरोहितिः = पुरोहित का कार्य । युवभ्याम् = तुम दोनों के लिये । अकारि = किया गया है । विश्वानि = सभी । दुर्गा = दुर्गम अर्थात् दुःख से प्राप्त होने वाले पदार्थों को । पिपृतम् = पूरा करो । तिरः = बाधाओं को तिरोहित करो । पात = रक्षा करो । स्वस्तिभिः = कल्याण के द्वारा ।

**हिन्दी व्याख्या —** हे देवताओं मित्र और वरुण ! तुम दोनों के लिये यज्ञों में यह पुरोहित का कार्य किया गया है । तुम दोनों हमारे सभी दुर्गम अर्थात् दुःख से प्राप्त होने वाले पदार्थों को पूरा करो और हमारी बाधाओं को तिरोहित करो । तुम सब हमारी सदा कल्याणों के द्वारा रक्षा करो ।

**व्याकरण —**

पुरोहितिः — पुरस् + धा + क्तिन् । 'धा' को 'हि' आदेश ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****अश्विनौ सूक्त****ऋषि—वसिष्ठः****देवता—युगल अश्विनी****छन्द—त्रिष्टुप****मण्डल ७****सूक्त ७१****मंत्र १****संहिता—पाठः**

अप स्वसुरुषसो नग्जिहीते रिणक्ति कृष्णीररुषाय पन्थाम् ।

अश्वामघा गोमघा वा बुबम् दिवा नक्त शरुमस्मद्युयातम् ।।

**पद—पाठः**

अप । स्वसुः । उषसः । नक् । जिहीते । रिणक्ति । कृष्णीः । अरुषाय । पन्थाम् ।

अश्वमघा । गोमघा । वाम् । हुवेम् । दिवा । नक्तम् । शरुम् । अस्मत् । युयोतम् ।।१।।

अन्वय — स्वसुः उषसः नक् अपजिहीते । कृष्णीः अरुषाय पन्थाम् रिणक्ति । अश्वमघा गोमघा वाम् हुवेम् । दिवानक्तम् अस्मत् शरुम् युयोतम् ।

**दयानन्द—भाष्य —**

**पदार्थ —** (अश्वामघा, गोमघा) हे अश्वगोरूपधनसम्पन्नो (वा) अध्यापकोपदेशकौ, वयं युवां (हुवेम्) प्रार्थयामहे यद्युवां (दिवा, नक्तं) अहर्मिशम् (शरुं) हिंसारूपं पापं (अस्मत्) अस्मत्तः (युयोतं) दूरीकुरुतम्, अन्यच्च यदा (कृष्णीः) रात्रिः (स्वसुः, उषसः) आत्मनः उषोरुपायाः पुत्र्याः (अप, जिहीते) त्यागं कृत्वा (अरुषाय) सूर्याय (पन्थां) मार्गं (रिणक्ति) ददाति, तदैवोपदेशं कुरुतमित्यर्थः ।।१।।

**भावार्थ —** इस मन्त्र में परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे प्रजाजनो! तुम उन ऐश्वर्य सम्पन्न अध्यापक तथा उपदेशकों से यह प्रार्थना करो कि आप अपने सदुपदेशों द्वारा हमको पवित्र करते हुए हिंसारूप पापपङ्क को हमसे सदैव के लिए छुड़ाकर शुद्ध करें, और हे विद्वानो! आप हम लोगों को ऊषाकाल=ब्रह्ममुहूर्त में उपदेश करें जिस समय प्रकृति का सम्पूर्ण सौन्दर्य अपनी नूतन अवस्था को धारण करता और जिस समय पक्षीगण मधुर स्वर से अपने-अपने भावों द्वारा जगन्नियन्ता जगदीश के भावों को प्रकाशित करते हैं।

तात्पर्य यह है कि उत्तमशिक्षा ग्रहण करने के लिए ब्रह्ममुहूर्त ही अत्युत्तम काल है, क्योंकि रात्रि के विश्राम के अनन्तर उस समय बुद्धि निर्मल होने के कारण सूक्ष्म विषय को भी ग्रहण करने में समर्थ होती है, इसीलिए वेद भगवान् ने आज्ञा दी है कि तुम ब्रह्ममुहूर्त में उपदेश श्रवण करो ।।१।।

**सायण—भाष्य**

स्वसुः स्वसृस्थानीयायाः उषसः सकाशात् नक् नक्तं रात्रिरपि जिहीते अपगच्छति तस्याः अवकाशं दत्वा स्वयमपगताइत्यर्थः । स्वसा स्वस्रे ज्यायस्यै योनिमारैगित्युक्तम् । कृष्णीः कृष्णवर्णा रात्रिररुषाय आरोचमानायाहे सूर्याय वा पन्थां पन्थानं मार्गं रिणक्ति रेचयति यस्मादेवं तस्माद्युवयोरागमनसमयत्वात् हे अश्वामघा अश्वधनौ हे गोमघा गोधनौ



उश्रयोः प्रदातारावित्यर्थः ईदृशौ वां युवां हुवेम स्तुमः आह्वयामः दिवानक्तं सर्वदा शरुं हिंसकमस्पदस्मत्तोयुयोतं पृथक्कुरुतम् ॥१॥

शब्दार्थ — स्वसुः = बहन। उषस = उषा से। नक् = रात्रि। अपजिहीते = दूर हो जाती है। रिणक्ति = खाली कर देती है। कृष्णीः = काली रात। अरुषाय = चमकते हुये सूर्य या दिन के लिये। पन्थाम् = मार्ग को। अश्वमघा = अश्वधन वाले। गोमघा = गौधन वाले। हुवेम = स्तुति करते हैं। दिवानक्तम् = दिन रात। शरुम् = हिंसा को। युयोतम् = दूर करो।

हिन्दी व्याख्या — बहिन उषा से रात्रि दूर हो जाती है। अर्थात् उषा के उदय होने के बाद रात्रि स्वयं हट जाती है। काले वर्ण की रात्रि चमके हुये सूर्य या दिन के लिये मार्ग को खाली कर देती है। इसलिये हे अश्व धन वाले और गो धान वाले अश्विनी कुमारो ! तुम दोनों की हम स्तुति करते हैं। तुम दोनों दिन रात हमसे हिंसा को दूर करो।

व्याकरण —

शरुम् — 'शृ हिंसायाम्' धातु से 'उ' प्रत्यय। शृ+उ = शरु।

विशेषज्ञ — मैक्डानल ने 'शरु' का अर्थ बाण (arrow) किया है।

मण्डल ७

सूक्त ७१

मंत्र २

संहिता-पाठः

उपा यातं दाशुषे मर्त्याय रथेन वाममश्विना वहन्ता।

युयुतमस्मदनिराममीवां दिवा नक्तं माध्वी त्रासीथां नः॥

पद-पाठः

उपायातम्। दाशुषे। मर्त्याय। रथेन। वामम्। अश्विना। वहन्ता। युयुतम्। अस्मत्। अनिराम्। अमीवम्। दिवा। नक्तम्। माध्वी इति। त्रासीथाम्। नः॥२॥  
अन्वय — अश्विना दाशुषे मर्त्याय वामम् वहन्ता रथेन उपायातम्। अस्मत् अनिराम् अमीवाम युयुतम्। माध्वी नः दिवानक्तम् त्रासीथाम्।

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (अश्विना) हे विद्वज्जनाः! यूयं (रथेन, वामं) स्वकीयेनाभायुक्तेन रथेन, अस्मान् (उपायातं) प्राप्नुत अन्यच्च (मर्त्याय, दाशुषे) अस्माकं मनोरथान् (वहन्ता) पूरयन्तः (अनिरां) दरिद्रतां (अमीवां) रोगान् (अस्मत्) अस्मत्तः (युयुतं) दूरीकुरुत, तथा च (माध्वी) हे मधुरवाचिनो विद्वांसः (नक्तं, दिवा) रात्रिन्दिवं (नः) अस्मान् (त्रासीथां) रक्षत ॥२॥

भावार्थ — हे प्रजाजनो! तुम उन विद्वानों से यह प्रार्थना करो कि हे भगवन्, आप हमें प्राप्त होकर हमको वह उपाय बतलावें, जिससे हमारी दरिद्रता दूर हो, हमारा शरीर नीरोग रहे, हम मधुरभाषी हों और ईर्ष्या द्वेष से सर्वथा पृथक् रहें अर्थात् अपनी चिकित्सारूप विद्या द्वारा हमको नीरोग करके ऐसे साधन बतलावें जिससे हम रोगी कभी



न हों और पदार्थविद्या के उपदेश द्वारा हमें कला कौशलरूप ज्ञान का उपदेश करें जिससे हमारी दरिद्रता दर हो, हम ऐश्वर्यशाली हों और साथ ही हमें आत्मज्ञान का भी उपदेश करें, जिससे हमारा आत्मा पवित्रभावों में परिणत होकर आपकी आज्ञा का सदैव पालन करने वाला हो॥२॥

### सायण-भाष्य

हे अश्विना अश्विनौ युवां उपायातमुपागच्छतमस्मदाह्वानं प्रति। किमर्थं दाशुषे हविषां दात्रे मर्त्याय यजमानाय तदर्धं रथेन वामं वननीयं धनं वहन्ता वहन्तौ अस्मदस्मत्तो युयुतं पृथक्कुरुतं। किं अनिरां इरान्नं तद्रहितं दारिन्ध्यमित्यर्थः अमीवां रोगञ्च हे माध्वी मधुमन्तौ युवां नोस्मान् दिवानक्तं सर्वदा त्रासीथां रक्षतम्॥२॥

शब्दार्थ — उपायातम् = आओ। दाशुषे = हवि प्रदान करने वाले। वामम् = सेवन के योग्य धन को। वहन्ता = वहन करते हुये। युयुतम् = पृथक् कर दो। अस्मत् = हमसे। अनिराम् = दरिद्रता को। अमीवाम् = रोग को। माध्वी = मधु से भरे हुये। त्रासीथाम् = रक्षा करो।

हिन्दी व्याख्या — हे अश्विनी देवताओं ! हवि प्रदान करने वाले यजमान मनुष्य के लिये सेवन के योग्य धन को वहन करते हुए रथ के द्वारा आओ। हमसे दरिद्रता और रोग को पृथक् करो। हे मधु से भरे हुये अश्विनी देवो हमारी दिन-रात रक्षा करो।

### व्याकरण —

अनिराम् — न+इरा = अनिरा। इरा = अन्न।

विशेष — मैक्डानल के अनुसार अनिरा = आलस्य (languor) और माध्वी = मधु प्रेम (lovers of honey)।

मण्डल ७

सूक्त ७१

मंत्र ३

संहिता-पाठः

आ वां रथमवमस्यां व्युष्टौ सुम्नायवो वृषणो वर्तयन्तु।

स्यूमगभस्तिमृतयुग्भिरश्वैराश्विना वसुमन्तं वहेथाम्॥

पद-पाठः

आ। वाम्। रथम्। अवमस्याम्। विऽउंष्टौ। सुम्नऽयवः। वृषणः। वर्तयन्तु। स्यूमऽगभस्तिम्। ऋतयुक्ऽभिः। अश्वैः। आ। अश्विना। वसुमन्तम्। वहेथाम्॥३॥

अन्वय — अवमस्याम् व्युष्टौ सुम्नायवः वृषणः वाम् रथम् आवर्तयन्तु। अश्विनी। स्यूमगभस्तिम् वसुमन्तम् ऋतयुग्भिः अश्वैः आवहेथाम्।

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (अश्विना) हे विद्वांसः! भवन्तः (ऋतयुग्भिः, अश्वैः) द्विविधैर्ज्ञानैः अस्मात् (आ)



## मित्रावरुण-सूक्त ( मण्डल-७, सूक्त-६१ )

सम्यक्तया (वसुमन्तं) ऐश्वर्य्ययुक्तान् (वहेथां) कुर्वन्तु, यतो वयं (सुम्नायवः) सुखयुक्ताः सन्तः (वृषणः, वर्तयन्तु) आनन्दमनुभवाम (वां) यूयं (रथं) स्वकीयं यानं (अवमस्यां, व्युष्टौ) निर्विघ्ने मार्गे सञ्चारयत, तथा च तानि यानानि (स्यूमगभस्तिं) रश्मियुक्तानि बभूवुः ॥३॥

**भावार्थ** — इस मन्त्र में यह प्रार्थना की गई है कि हे परमात्मा! आप हमारे उपदेशकों को ऐश्वर्य्य की रासों वाले रथ प्रदान करें अर्थात् वह सब प्रकार से सम्पत्ति सम्पन्न हों, दरिद्र न हों, ताकि वह हमको ऐहलौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार के सुख का उपदेश करें अर्थात् हम उनसे अभ्युदय तथा निःश्रेयस दोनों प्रकार के ज्ञान प्राप्त करके आनन्द अनुभव कर सकें ॥३॥

### सायण-भाष्य

अवमस्यां आसत्रायां व्युष्टौ व्युच्छने उषसि वां युवयोः रथं सुम्नायवः सुखेन योजयन्तोश्वाः वृषणोवर्षका युवां आवर्तयन्तु स्यूमगभस्तिं सुखरश्मिं स्यूतरश्मिं वसुमन्तं पदेयधनयुक्तं रथं हे अश्विनाश्विनौ ऋतयुग्भिः उदकयुक्तैरश्वैः उदकप्रदैरश्वैः आवहेथाम् ॥३॥

**शब्दार्थ** — वाम् = तुम दोनों के। अवमस्याम् = आगामी या निकटवर्ती। व्युष्टौ = प्रातःकाल में। सुम्नायवः = सुख से जोते जाने वाले, सुख देने वाले। वृषणः = कामनाओं की वर्षा करने वाले घोड़े। आवर्तयन्तु = चलावें। स्यूमगभस्तिम् = सुखकारी लगामों वाले। ऋतयुग्भिः = जल से युक्त। वसुमन्तम् = दान देने योग्य धन से युक्त। आवहेथाम् = चलाओ।

**हिन्दी व्याख्या** — आगामी या निकटवर्ती प्रातःकाल में सुख से जोते जाने वाले या सुख देने वाले और कामनाओं की वर्षा करने वाले घोड़े तुम्हारे रथ को चलाये। हे अश्विनी देवताओं! सुखकारी लगामों वाले और दान के योग्य धनों से युक्त रथ को जल से युक्त घोड़ों से चलाओ।

### व्याकरण —

**स्यूमगभस्तिम्** — स्यूमाः सुखकराः गभस्तयः रश्मयः यस्य तम्। 'स्वि तन्तुसन्ताने' धातु से 'मन्' प्रत्यय। स्वि+मम्(अ) = स्यूम।

**विशेष** — मैकडानल के अनुसार सुम्नायव वृषणः = दयालु सांड घोड़े (kindly stallions), स्यूमगभस्तिम् = चमड़े के पट्टों से खींचा जाता हुआ (drawn with thongs) और ऋतयुग्भिः = ठीक समय पर जोते गये (yoked in due time)।

मण्डल ७

सूक्त ७१

मंत्र ४

### संहिता-पाठः

यो वां रथो नृपती अस्ति वोळ्हा त्रिवन्धुरो वसुमाँ उन्नयांमा ।  
आ न एना नासत्योप यातमभि यद्वां विश्वप्स्यो जिगाति ।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

### पद-पाठः

यः। वाम्। रथः। नृपती इति नृपती। अस्ति। वोळ्हा। त्रिवन्धुरः। वसुमान्।  
उसऽवाम्। आ। नः। एना। नासत्या। उपं। यातम्। अभि। यत्। वाम्। विश्वप्स्यः।  
जिगाति॥४॥

अन्वय — नृपतीः यः वाम रथः वोळ्हा त्रिवन्धुरः वसुमान् उस्रयामा अस्ति, नासत्या एना नः  
उप आ यातम्। यत् वाम् विश्वप्स्यः अभि जिगाति।

### दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (नासत्या) हे सत्यवादिनो विद्वांसः! (वां) यूयं (नः) अस्मान् (एना) एतेन मार्गेण  
(उपयातं) प्राप्नुत, (यः) यो मार्गः (विश्वप्स्यः) परमात्मना (जिगाति) उपगीतोऽस्ति।  
(नृपति) हे मनुष्याणां पतयो विद्वज्जनाः, (वां) युष्माकं (यत्, रथः) यो रथः युष्माकं (आ)  
सम्यक् (वोळ्हा) वाहकोऽस्ति, सः (त्रिवन्धुरः) बन्धनत्रययुक्तः (वसुमान्) ऐश्वर्यवान्  
(उस्रयामा) नभोगमनशीलश्च (अस्तु) भूयात्॥४॥

भावार्थ — इस मन्त्र में यह प्रार्थना की गई है कि हे विद्वज्जनो! आप परमात्मा के  
कथन किये हुए मार्ग द्वारा हमें प्राप्त हों अर्थात् परमात्मा ने उपदेशकों के लिये कर्तव्य  
कथन किया है, जिसका आप पालन करें, या यों कहो कि आप हमें परमात्मपरायण करके  
हमारे जीवन को उच्च बनावें और हमें वेदों का उपदेश सुनावें जो परमात्मा ने हमारे लिये  
प्रदान किया है॥४॥

### सायण-भाष्य

हे नृपती नृणां यजमानानां पालकौ अश्विनौ वां युवयोर्योरथः बोद्धा युवयोर्वाहकोस्ति  
सर्वदा सन्निहितोवर्तते कीदृशोसौ त्रिवन्धुरः सारथ्यधिष्ठान-स्थानत्रयोपेतः वसुमान् धनवान्  
उस्रयामा उस्रं दिवसं प्रतिगन्ता एना एनेन रथेन हे नासत्या अश्विनौ नोस्मानुपायातम्  
यद्रथोयश्चरथोवां विश्वप्स्योव्याप्तरूपोऽभिजिगति अभिगच्छति अथवा यद्यस्माद्विश्वप्स्योवतिष्ठोवां  
जिगाति स्तौति अतउपायातम्॥४॥

शब्दार्थ — नृपती = मनुष्यों का पालन करने वाला। वोळ्हा = वाहक। त्रिवन्धुरः  
= सारथि सहित तीन व्यक्तियों के बैठने के स्थान से युक्त। वसुमान् = धन से सम्पन्न।  
उस्रयामा = दिन के प्रति जाने वाला। एना = इस रथ से। नासत्या = हे अश्विनी  
कुमारो। उपयातम् = पास आओ। विश्वप्स्यः = व्याप्त होने वाला, वसिष्ठ = ऋषि।  
अभिजिगाति = स्तुति करता है।

हिन्दी व्याख्या — मनुष्यों का पालन करने वाले हे अश्विनी देवताओं ! जो तुम्हारा  
रथ तुम दानों का वाहक है, सारथि सहित तीन व्यक्तियों के बैठने के स्थान से युक्त है,  
धन से सम्पन्न है और दिन के प्रति जाने वाला है अर्थात् दिन भर चलता है, हे अश्विनी  
कुमारो ! इस रथ से तुम हमारे पास आओ। जो रथ संसार में व्याप्त होता हुआ अभिगमन  
करता है। अथवा जिस रथ की विश्वप्स्य, व्याप्त होने वाला अर्थात् वसिष्ठ ऋषि स्तुति



करता है।

विशेष — मैकडानल के अनुसार उस्त्रयामा = प्रातःकाल के समय यात्रा करने वाला (faring at daybreak) और विश्वप्स्यः = भोजनों से भरा हुआ (laden with all foods)।

मण्डल ७

सूक्त ७१

मंत्र ५

संहिता-पाठः

युवं च्यवानं जरसोऽमुमुक्तं नि पेदवे ऊहथुरा शुमश्वम्।  
निरंहसस्तमसः स्पर्तमत्रिं नि जाहुषं शिथिरे धातमन्तः॥

पद-पाठः

युवम्। च्यवानम्। जरसः। अभुमुक्तम्। नि। पेदवे। ऊहथुः। आशुम्। अश्वम्। नि।  
अंहसे। तमम्। स्पर्तम्। अत्रिम्। नि। जाहुषम्। शिथिरे। धातुम्। अन्तरिति॥५॥  
अन्वय — युवम् च्यवानम् जरसः अमुमुक्तम्, पेदवे आशुम् अश्वम् निः ऊहथुः, अत्रिम् अंहसः  
तमसः निःस्पर्तम्, जाहुषम्, शिथिरे अन्तः निधातम्।

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — हे विद्वांसः (युवं) युष्माकं (जरसः) जीर्णतया (अमुमुक्तं) रहितं (च्यवानं) ज्ञानं  
(नि) निरन्तरं (पेदवे) अस्मान् रक्षितुं भवतु अन्यच्च (निः) निःसंशयं (अश्वं) राष्ट्रं (आशुं)  
शीघ्र (ऊहथुः) प्रापयतु (अन्धसः, तमसः) अज्ञानरूपादन्धकारात् (अत्रिं) अरक्षितं राष्ट्रं  
(जाहुषं) निर्वर्तयतु तथा च (शिथिरे) राष्ट्रे शिथिले सति (अन्तः धातं) आत्मरूपं सत्  
धरयतु॥५॥

भावार्थ — हे विद्वानो! आपका जीर्णता से रहित नित-नूतन ज्ञान हमारी सब ओर से  
रक्षा करे और वह पवित्र ज्ञान हमें राष्ट्र=ऐश्वर्य्य प्राप्त कराये, और आपके ज्ञान द्वारा हम  
अपने गिरे हुए राष्ट्र को भी पुनर्जीवित करें॥

तात्पर्य्य यह है कि विद्वानों के उपदेशों से ज्ञान को प्राप्त हुए प्रजाजन अपने  
ऐश्वर्य्य को बढ़ाते और गिरे हुए राष्ट्र को भी फिर उठाते हैं अर्थात् जिस प्रकार इस  
अस्थिमय चर्मावगुण्ठित शरीर को केवल अपनी सत्ता से जीवात्मा ही उठाता है इस प्रकार  
राष्ट्ररूप कलेवर को उठाने वाला एकमात्र ज्ञान ही है, इसलिये इस मन्त्र में विद्वानों से  
प्रार्थना है आप ऐसी कृपा करें कि हम लोग ज्ञानी तथा विज्ञानी बनकर राष्ट्र को शरीरवत्  
धारण करते हुए सुखपूर्वक रहें॥५॥

सायण-भाष्य

हे अश्विनौ युवं युवां च्यवानं जरसोजीर्णाद्रूपात् अमुमुक्तम् अमुञ्चतम्  
युवंच्यवानमश्विनाजरन्तपुनर्सुथानमि। तथा पेदवे एतन्नामकाय राज्ञे आशुं शीघ्रगामिनमश्वं



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

निरुहथुः न्यवहतं युद्धे । युषंश्वेतंपेदवेइतिनिगमः । तथा अत्रिं महर्षिं अंहसः ऋषीसादग्नेः सकाशात्तमसश्च गुहान्तस्थिताच्च सकाशात्त्रिषर्तं न्यपारयतम् । युवमृषीसमुततप्तमत्रयओमन्वन्तं चक्रथुरितिनिगमः । तथा जाहुषं शिथिरे शिथिले भ्रष्टे स्वराष्ट्रेन्तर्मध्ये पुनर्निधातं न्यधातम् परिविष्टं जाहुषंविश्वतः— सीमितित्युक्तम् । ॥५॥

**शब्दार्थ** — युवम् = तुम दोनों ने । च्यवानम् = च्यवन ऋषि को । जरसः = वृद्धावस्था से । अमुमुक्तम् = मुक्त किया था । पेदवे = पेदु नामक राजा के लिये । निःऊहथुः = पहुँचाया था । आशुम् = तेज चलने वाले । अंहसः = पाप से । तमसः = अन्धकार से । निःस्पर्तम् = पार कराया था । अत्रिम् = अत्रि नामक ऋषि को । जाहुषम् = जाहुष नामक राजा को । शिथिरे = राज्य के भ्रष्ट होने पर । निधातम् = बिठला दिया था । अन्तः = राज्य के अन्दर ।

**हिन्दी व्याख्या** — हे अश्विनी देवताओं ! तुम दोनो ने च्यवन ऋषि को वृद्धावस्था से मुक्त किया था, पेदु नामक राजा के लिये तेज चलने वाले घोड़े को युद्ध में पहुँचाया था, अत्रि नामक ऋषि को पाप से और गुफा के अन्धकार से पार कराया था और जाहुष नाम के राजा को उसे राज्य के भ्रष्ट हो जाने पर पुनः उस राज्य के अन्दर बिठला दिया था ।

**मण्डल ७****सूक्त ७१****मंत्र ६****संहिता-पाठः**

इयं मनीषा इयमश्विना गीरिमां सुवृक्तिं वृषणा जुषेथाम् ।

इमा ब्रह्माणि युवयून्यग्मन् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।।

**पद-पाठः**

इयम् । मनीषा । इयम् । अश्विना । गीः । इमाम् । सुवृक्तिम् । वृषणा । जुषेथाम् । इमा । ब्रह्माणि । युवयूनि । अग्मन् । यूयम् । पात । स्वस्तिभिः । सदा । नः ।।६॥

**अन्वय** — अश्विना इयम् मनीषा गीः वृषणा इमाम् सुवृक्तिम् जुषेथाः । इमा ब्रह्माणि युवयूनि अग्मन् स्वस्तिभिः नः सदा पात ।

**दयानन्द भाष्य —**

**पदार्थ** — (वृषणा) हे विद्यादिसत्कामनापूरयितारः (अश्विनाः) अध्यापकोपदेशकाः! (यूयं) इयं, मनीषा (इयं, मनीषा) इमां बुद्धिं (इयं, गौ) इमां, सुवृक्तिं एताः परमात्मस्तुतीः (जुषेथां) सेवयत या एताः (युवयूनि) भवत्संबन्धिन्यः सन्ति, अन्यच्च (इमा) इमानि (ब्रह्माणि) ब्रह्मप्रतिपादकानि स्तात्राणि (अग्मन्) भवतः प्राप्नुवन्तु, अन्यच्च भवन्तः प्रार्थयन्ताम् यत् (नः) अस्मान् (यूयं) भवन्तः (सदा) सर्वकाले (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचनादिभिः (पात) पवित्रान् कुरुत इत्यर्थः ।।६॥

**भावार्थ** — हे श्रोताजन तथा उपदेशकों! तुम मिलकर वैदिक स्तोत्रों से परमात्मा की



स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना करते हुए यह वर मांगो कि हे जगदीश्वर! हम वेदों के अनुसार अपना आचरण बनावें जिससे हमारा जीवन पवित्र हो॥६॥

### सायण-भाष्य

हे अश्विना अश्विनौ इयम् मनीषा मे इयम् कामना अस्ति इयं गीः मे इयं स्तुतिरस्ति यत् वृषणा कामानां वर्षितारौ युवाम् इमां सुवृक्तिं स्तुतिं जुषेथां स्वीकुरुतम्। इमा इमानि ब्रह्माणि व्यापकस्तुतिवाक्यानि युवयूनि नित्ययुवकाभ्यां युवाभ्यां अगमन् प्राप्ताः भवेयुः। यूयं स्वस्तिभिः आशीर्वादः कल्याणैः वा नः अस्मान् सदा पात् रक्षतम्।

**शब्दार्थ** — मनीषा = कामना। गीः = स्तुति। सुवृक्तिम् = स्तुति को। वृषणा = कामनाओं की वर्षा करने वाले। जुषेथाम् = स्वीकार करो। ब्रह्माणि = व्यापक स्तुति वाक्य। युवयूनि = सदा युवा रहने वाले तुम दोनों को। अगमन् = प्राप्त हों। पात = रक्षा करो। स्वस्तिभिः = कल्याणों के द्वारा।

**हिन्दी व्याख्या** — हे अश्विनी देवताओं ! यह मेरी कामना है तथा यह मेरी स्तुति है कि कामनाओं की वर्षा करने वाले तुम मेरी इस स्तुति को स्वीकार करो। ये व्यापक स्तुति वाक्य सदा युवा रहने वाले तुम दोनों को प्राप्त हों। तुम कल्याणों द्वारा सदा हमारी रक्षा करो।

### व्याकरण —

सुवृक्तिम् — सु + वृज् + क्तिन्।



## इन्द्रावरुण सूक्त

ऋषिः — वसिष्ठ

देवता— इन्द्रावरुणौ

छन्द— जगती

मण्डल ७

सूक्त ८३

मंत्र १

संहिता—पाठः

युवां नरा पश्यमानास आप्यं प्राचा गव्यन्तः पृथुपर्शवो ययुः ।

दासा च वृत्रा हतमार्याणि च सुदासमिन्द्रावरुणावसावतम् ॥

पद—पाठः

युवाम् । नरा । पश्यमानासः । आप्यम् । प्राचा । गव्यन्तः । पृथुऽपर्शवः । ययुः । दासाः ।  
 च । वृत्रा । हतम् । आर्याणि । च । सुऽदासम् । इन्द्रावरुणा । अवसा । अवतम् ॥१॥  
 अन्वय — नराः ! युवाम् आप्यम् पश्यमानासः गव्यन्तः पृथुपर्शवः प्राचा ययुः । इन्द्रावरुणा  
 दासा च वृत्रा आर्याणि च हतम् । सुदासम् अवसा अवतम् ।

दयानन्द—भाष्य —

पदार्थ — इन्द्रावरुणा) भो शूरा योद्धारः! (युवाम्) यूयम् (आप्यम्) सर्वेषां सुलभा अर्थात्  
 रक्षका भवत (पश्यमानासः) युष्मद्वीरतां प्रेक्षमाणाः (पृथुपर्शवः) सर्वतः पुष्टशरीराः (नरा)  
 जनाः (गव्यन्तः) स्व स्वमात्मानं समर्पयन्तः (ययुः) युष्मान् प्राप्नुवन्ति (च) तथा च (प्राचा,  
 दासा) प्राचीन सेवकाः (च) तथा (आर्याणि) आर्यजनाश्च युष्मान् शरणमन्विच्छन्ति (वृत्रा,  
 हतम्) यूयं शत्रूनपनीयः (अवसा) रक्षन्तः (अवतं, सुदासम्) दयालुं नृपं प्राप्नुत ॥१॥

भावार्थ — परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे शूरवीर विद्वानो! तुम दास = शूद्र और  
 आर्य्य = कर्मानुष्ठानपरायण पुरुषों की रक्षा करो, तुम इनके शत्रुओं का हनन करके इन्हें  
 अभयदान दो, क्योंकि इनके होने से प्रजाजन वैदिक मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते,  
 सब अपनी मर्यादा में रह कर धर्म का पालन करते हैं और हृष्ट—पुष्ट शूरवीर तुम्हें प्राप्त  
 होकर युद्ध द्वारा आत्मसमर्पण करते हुए तुम्हारे उत्साह को बढ़ाते हैं, इसलिए इन्हें भी  
 सुरक्षित रखो, क्योंकि शूरवीरों के अभाव से भी प्रजा में अनेक प्रकार के अनर्थ फैल जाते  
 हैं जिससे मनुष्यों के जीवन में पवित्रता नहीं रहती ॥१॥

सायण—भाष्य

हे नरा नेताराविन्द्रावरुणौ युवाम् । षष्ठ्यर्थे द्वितीया । युवयोः आप्यं बन्धुभावं  
 पश्यमानासः पश्यन्तः युष्मद्वान्धवलाभार्थिनः गव्यन्तः गा आत्मन इच्छन्तः यजमानाः पृथुर्विस्तरणः  
 पर्शुः पार्श्वस्थि येषां ते तथोक्ताः । विस्तीर्णाश्वपार्श्वपर्शुहस्ताः सन्तः प्राचा प्राचीनं ययुः  
 बहिराहरणार्थं गच्छन्ति । पर्श्वदिना बहिराच्छिद्यते । तथा च तैत्तिरीयकम् । अश्वपार्श्व  
 बहिरच्छतीति । हे इन्द्रावरुणौ युवादासा दासानि उपक्षयि (तृ) णि च वृत्रा वृत्राणि  
 आवरकाणि शत्रुजातानि आर्याणि च कर्मानुष्ठानपराणि च शत्रुजातानि हतं हिंस्तम् । अपि  
 च सुदासम् अस्मद्याज्यमेतत्सज्ञ राजानमवसा रक्षणेन सार्द्धमवतमागच्छतम् ।



## इन्द्रावरुण सूक्त ( मण्डल-७, सूक्त-८३ )

शब्दार्थ — नरा = नेताओ। युवाम् = तुम दोनों के। पश्यमानासः = देखते हुये। आप्यम् = बन्धुत्व को। प्राचा = पूर्व दिशा की ओर। गव्यन्तः = गौओं को प्राप्त करने को इच्छा वाले। पृथुपर्शवः = बड़े-बड़े परशुओं को लिये हुये। दासा = दासों को। वृत्रा = वृत्रों को। आर्याणि = आर्यों को। सुदासम् = सुदास नामक यजमान राजा को। अवसा = रक्षण की शक्ति से। अवतम् = रक्षा करो।

हिन्दी व्याख्या — हे नेताओं इन्द्र और वरुण ! तुम दोनों के बन्धुत्व को देखते हुये गौओं को प्राप्त करने की इच्छा वाले व्यक्ति बड़े-बड़े पशुओं को लिये हुये पूर्व दिशा की ओर गये हैं। हे इन्द्र और वरुण ! तुम दोनों दासों, वृत्रों और हमारे आर्य शत्रुओं का वध करो। इस सुदास नामक मेरे यमजान राजा की अपनी रक्षण की शक्ति से रक्षा करो।

व्याकरण —

नरा — नर शब्द द्वितीया का द्विवचन। नरौ का छान्दस रूप।

पश्यमानासः — दृश् (पश्य) + शानच् 'शप्' और 'मृक्' का आगम। वैदिक रूप है। लोक में 'शतृ' प्रत्यय और 'पश्यन्तः' रूप होगा।

आप्यम् — अप्+ण्यत्।

हतम् — 'हन्' धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, द्विवचन।

गव्यन्तः — गाः आत्मनः इच्छन्ति अर्थ में गो+क्यप्+शतृ। प्रथमा विभक्ति, बहुवचन।

दासा, वृत्रा — द्वितीया का बहुवचन। दासानि, वृत्राणि।

अवतम् — 'अव्' धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, द्विवचन।

विशेष — लुङविग ने 'युवाम्' में षष्ठी का अर्थ नहीं माना। उसके अनुसार यह 'पश्यन्तः' का कर्म है। अर्थ होगा — तुम दोनों को देखते हुये। पीटर्सन ने प्राचा में तृतीय विभक्ति मान कर इसका अर्थ किया है — प्राचीन सरल मार्ग से। 'पृथुपर्शवः' का अर्थ सायण ने 'विस्तीर्ण अश्वपर्शु' किया है, जिनसे कुशायेँ काटी जाती थी। परन्तु लुङविग ने सायण के इस अर्थ को गलत बताया है। वह कहता है 'ऋग्वेद' के युग में 'अश्वपर्शु' नामक शस्त्र प्रचलित नहीं था। इसका प्रचलन महाभारत के समय में हुआ था। यहाँ 'पृथुपर्शवः' संज्ञावाचक शब्द हैं और ये दो जातियों पृथुओं और पर्शुओं को बताता है। यहाँ द्वन्द्व समास है — पृथवश्च पर्शवश्च = पृथुपर्शवः। छन्द के अनुरोध से 'आप्यम्' को 'आपियम्' और 'आर्याणि' को 'आरियाणि' पढ़ना चाहिये।

सायण के अनुसार तथा अनेक पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार इस सूक्त में ऐतिहासिक घटनाओं का संकेत है। सुदास तृत्सुओं का राजा था। उसके सामन्तों ने विद्रोह कर दिया था, जिसमें आर्य और आर्यतर दोनों सम्मिलित थे। सुदास के पुरोहित वसिष्ठ थे। उन्होंने अपने यमजान की सहायता के लिये इन्द्र और वरुण का आह्वान किया। देवताओं की सहायता से सुदास ने विजय प्राप्त की।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

भारतीय परम्पराओं के अनुसार वेदों में इतिहास को और भौतिक घटनाओं के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाता। इस मात्र का आध्यात्मिक अर्थ लिया गया है।

**मण्डल ७****सूक्त ८३****मंत्र २****संहिता-पाठः**

यत्रा नरः समयन्ते कृतध्वजो यस्मिन्नाजा भवति किं चन प्रियम्।

यत्रा भयन्ते भुवना स्वर्दृशस्तत्रा न इन्द्रावरुणाधि वोचतम्॥

**पद-पाठः**

यत्र। नरः। सम्अयन्ते। कृतध्वजः। यस्मिन्। आज्ञा। भवति। किम्। चन। प्रियम्। यत्र। भयन्ते। भुवना। स्वःदृशः। तत्र। नः। इन्द्रावरुणा। अधि। वोचतम्॥२॥  
अन्वय — यत्र नरः कृतध्वजः समयन्ते, यस्मिन् आज्ञा किम् च प्रियम् न भवति, यत्र भुवना स्वर्दृशः भयन्ते इन्द्रावरुणा ! तत्र नः अधिवोचतम्।

**दयानन्द-भाष्य —**

पदार्थ — (यत्र) यस्मिन्संग्रामे (नरः) मनुष्याः (कृतध्वजः) उच्छ्रायितध्वजाः (समयन्ते) सुष्ठु आयान्ति (यस्मिन्, आज्ञा) यत्र संग्रामे (किंचन, प्रियं, भवति) किञ्चित् सुखं स्यात् (यत्र) यस्मिन्संग्रामे प्रबला योद्धारः (भयन्ते) विभ्यति तथा च (स्वर्दृशः, भुवना) यत्र देवाः स्वर्गप्राप्तिं न बहु मन्यन्ते (इन्द्रावरुणा) भो युद्धकुशला विद्वांसः! (तत्र) तस्मिन्संग्रामे (नः) अस्मान् (अधिवोचतम्) सविस्तरमुपदिशत॥२॥

भावार्थ — जिस संग्राम में शत्रु लोग ध्वजा उठाये हुए हम पर आक्रमण करते हों अथवा जिस संग्राम में हमारा कुछ प्रिय हो, या यों कहो कि जब शत्रु हम पर चढ़ाई करें वा हम दुष्टों के दमन अथवा प्रजा का प्रिय करने के लिए शत्रु पर चढ़ाई करें, हे अस्त्रशस्त्रवेत्ता विद्वानों! उक्त दोनों अवस्थाओं में आप हमारी शत्रु से रक्षा करें।

तात्पर्य यह है कि राजपुरुषों की सहायता के बिना प्रजा में कदापि सुख उत्पन्न नहीं हो सकता, इसीलिए मन्त्र में राजपुरुषों की सहायता वर्णन की गई है कि वह राजपुरुष आपत्तिकाल में उपदेशों तथा शस्त्रों द्वारा हमारी रक्षा करें॥२॥

**सायण-भाष्य**

यत्र यस्मिन् संग्रामे नरः मनुष्याः कृतध्वजः उच्छ्रितध्वजाः समयन्ते युद्धार्थं संगच्छन्ते यस्मिश्चाज्ञा आजौ युद्धे चनेति। निपातद्वयसमुदायी विभज्य योजनीयः। किं च किमपि प्रियमनुकूल न भवति। अपि सर्वं दुष्कर भवति। यत्र च युद्धे भुवनानि भूतजातानि स्वर्दृशः शरीरपातादूर्ध्वम् स्वर्गस्य द्रष्टारो वीराश्च भयन्ते विभ्यति। तत्र तादृशे संग्रामे हे इन्द्रावरुणौ नोऽस्मानधि वोचतम् अस्मत्पक्ष- पातवचनो भवतम्।

शब्दार्थ — कृतध्वजः = ध्वजाओं को उठाये हुये। समयन्ते = लड़ाई में भिड़ जाते हैं। आज्ञा = युद्ध में। भुवना = संसार के सभी व्यक्ति। स्वर्दृशः = स्वर्ग को देखते



**इन्द्रावरुण सूक्त (मण्डल-७, सूक्त-८३)**

हुये। अधिवोचतम् = पक्ष में बोलो।

हिन्दी व्याख्या — जिस संग्राम में मनुष्य ध्वजाओं को उठाये हुये लड़ाई में भिड़ जाते हैं, जिस युद्ध में कुछ भी प्रिय नहीं होता, जिस संसार के सभी व्यक्ति स्वर्ग को देखते हुये भयभीत होते हैं, हे इन्द्र और वरुण! उस युद्ध में तुम दोनों हमारे पक्ष में बोलो।

**व्याकरण —**

नरः — 'नृ' शब्द प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

समयन्ते — सम्+अय् गतौ। लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

आजा — सप्तमी का एकवचन। लोक में 'आजौ' रूप होगा।

स्वर्दृशः — स्वः+दृश्+क्विप्। प्रथमा का बहुवचन।

वोचतम् — 'वच्' धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, द्विवचन।

विशेष — 'यास्मिन्नाजा भवति किञ्चन प्रियम्' में 'चन' में दो पद 'च' और 'न' मानकर सायण ने अर्थ किया है — जिस युद्ध में कुछ भी प्रिय नहीं होता। लुडविग ने भी इसी प्रकार से अर्थ किया है — Is the fight where nothing is pleasant, ग्रासमान ने किया है — where all i.e. dear is at state. मैक्समूलर ने भी सायण के अर्थ को स्वीकार किया है। 'स्वः' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है — क्रान्ति (brightness), अग्नि का प्रकाश (the light of fire), सूर्य (sun), आकाश (sky) आदि।

छन्द के आग्रह से 'स्वर्दृशः' पढ़ना चाहिये।

मण्डल ७

सूक्त ८३

मंत्र ३

**संहिता-पाठः**

सं भूम्या अन्ता ध्वसिरा अदृक्षतेन्द्रावरुणा दिवि घोष आरुहत्।  
अस्थुर्जनानामुप मामरातयोऽर्वागवसा हवनश्रुता गतम्॥

**पद-पाठः**

सम्। भूम्याः। अन्ताः। ध्वसिराः। अदृक्षत। इन्द्रावरुणा। दिवि। घोषः। आ।  
अरुहत्। अस्थुः। जनानाम्। उप। माम्। अरातयः। अर्वाक्। अवसा। हवन श्रुता। आ।  
गतम्॥३॥

अन्वय — इन्द्रावरुणा ! भूम्याः अन्ताः ध्वसिराः समदृक्षत। दिवि घोषः आरुहत्। जनानाम्  
अरातयः माम् उपास्थुः। हवनश्रुता अवसा अर्वाक् आगतम्।

**दयानन्द-भाष्य —**

पदार्थ — (इन्द्रावरुणा) भो युद्धपण्डिता राजपुरुषाः! (घोषः, दिवि, आरुहत्) युष्मच्छस्त्रशब्दः  
आकाशे प्रसारतु (सं, भूम्याः, अन्ताः) अखिलभूमेरन्तः (ध्वसिराः) योद्धृभिर्विनाशितारिः  
(अदृक्षत) दृश्येत (अरातयः) शत्रवश्च (माम्) माम् (जनानाम्) सर्वेषां जनानां समक्षम् (उप,  
अस्थुः) प्राप्नुयुः, तथा (अवसा) आत्मानं रिरक्षयिषवः (हवनश्रुता) अस्मद्यज्ञगिरं श्रुत्वा



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

(अर्वाक्, आगतम्) अस्मद्भिमुखमागच्छन्तु ।।३।।

**भावार्थ** — परामत्मा उपदेश करते हैं कि हे राजधर्म का पालन करने वाले विद्वानों! तुम शत्रुसेना पर ऐसा घोर आक्रमण करो कि तुम्हारे अस्त्रों-शस्त्रों का शब्द आकाश में गूँज उठे, जिससे तुम्हारे शत्रु वेदवाणी का आश्रयण करते हुए तुम्हारी शरण को प्राप्त हों अर्थात् अपने दुष्टभावों का त्याग करते हुए सब प्रजाजनों के समक्ष वेद की शरण में आवें और तुम्हारे योद्धा लोग सीमान्तों में विजय प्राप्त करते हुए शत्रुओं के दुर्गों को छिन्न-भिन्न करके सर्वत्र अपना अधिकार स्थापन करें, जिससे प्रजा वैदिक धर्म का भले प्रकार पालन कर सके ।।३।।

### सायण-भाष्य

हे इन्द्रवरुणौ भूम्याः अन्ताः पर्यन्ताः ध्वसिराः सैनिकैर्ध्वस्ताः समदृक्षत संदृश्यन्ते । तथा दिवि द्युलोके घोषः सैनिकानां शब्दश्चारुहत् आरुढोऽभूत् । जनानामस्मदीयानां भटानाम् अरातयः शत्रवः मामुपास्थुः उपस्थिताः । एवं प्रवर्तमानेऽस्मिन् युद्धे हे हवनश्रुता! आह्वानशीलाविन्द्रावरुणौ अर्वागस्मदभिमुखम् अवसा रक्षणेन सह आ गतमागच्छतम् ।

**शब्दार्थ** — भूम्याः = पृथिवी के । अन्ताः = छोर । ध्वसिराः = ध्वस्त । अदृक्षत = दिखाई दे रहे हैं । दिवि = द्युलोक में । घोषः = कोलाहल । आ अरुहत् = चढ़ गया है । उप अस्थः = पास आ गये हैं । जनानाम् = हमारे योद्धाओं के । अरातयः = शत्रु । अर्वाक् = हमारे सामने । अवसा = रक्षण की शक्ति से । हवनश्रुता = आह्वान को सुनने वाले । आगतम् = आओ ।

**हिन्दी व्याख्या** — हे इन्द्र और वरुण देवताओं ! पृथिवी के छोर सैनिकों द्वारा ध्वस्त दिखाई दे रहे हैं । द्युलोक में सैनिकों का कोलाहल चढ़ गया है । हमारे योद्धाओं के शत्रु मेरे पास आ गये हैं । हमारे आह्वान को सुनने वाले तुम दोनों । रक्षण करने की शक्ति के साथ हमारे पास आओ ।

### व्याकरण —

अदृक्षत — 'दृश्' धातु, भाव-कर्म में, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।

ध्वसिराः — ध्वंस् + किरच् ।

अस्थुः — स्था धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।

अवसा — अक् + असुन् (अस्) = अवस् । तृतीया का एकवचन ।

हवनश्रुता — हवन+श्रु+क्विप् = हवनश्रुत् । द्विवचन में 'आ' हुआ है ।

आगतम् — आ+गम् धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, द्विवचन ।

**विशेष** — सायण ने 'जनानाम्' का अर्थ 'हमारे योद्धा' किया है । किन्तु पीटर्सन इसे ठीक नहीं मानता । उसने इसका अर्थ सुदास के शत्रु अथवा जनता में मेरे शत्रु — my enemies among the people किया है ।

छन्द के आग्रह से 'भूम्या' को 'भूमिया' और 'अर्वाक्' को 'अरवाक्' पढ़ना चाहिये ।



## इन्द्रावरुण सूक्त (मण्डल-७, सूक्त-८३)

मण्डल ७

सूक्त ८३

मंत्र ४

संहिता-पाठः

इन्द्रावरुणा वधनाभिरप्रति, भेदं वन्वन्ता प्र सुदासमावतम्।

ब्रह्माण्येषां शृणुतं हवीमनि सत्या तृत्सूनामभवत्पुरोहितिः॥

पद-पाठः

इन्द्रावरुणा । वधनाभिः । अप्रति । भेदम् । वन्वन्ता । सुदासम् । आवतम् । ब्रह्माण ।  
 एषाम् । शृणुतम् । हवीमनि । सत्या । तृत्सूनाम् । अभवत् । पुरोहितिः ॥४॥

अन्वय — इन्द्रावरुणा वधनाभिः अप्रति भेदम् वन्वन्ता सुदासम् प्र आवतम् । हवीमनि एषां  
 शृणुतम् । तृत्सूनाम् पुरोहितिः सत्या अभवत् ।

दयानन्द-भाष्य —

पदार्थ — (इन्द्रावरुणा) भो राजधर्मपालका विद्वांसः! यूयम् (वधनाभिः) अनेकविधैः शस्त्रैः  
 (अप्रतिभेदम्) दुर्वार्यशत्रून् (वन्वन्ता) हिंसन्तः (सुदास) अतिशयेन नभ्रीभूतराजानम् (आवतम्)  
 प्राप्नुत (एषां, तृत्सूनाम्) एषां विदुषाम् (ब्रह्माणि) वेदपाठान् (शृणुतम्) आकर्णयन्तः  
 (पुरोहितिः) हितकारिणो भवत, येन (हवीमनि) यज्ञे (सत्या, अभवत्) सत्यस्वरूपं  
 फलमुत्पद्यताम् ॥४॥

भावार्थ — परमात्मा आज्ञा देते हैं कि हे राजपुरुषो! तुम वेद से बहिर्मुख शत्रुओं का हनन  
 करके वेदवेत्ता विद्वानों का सत्कार करो और उनका निरन्तर हित करते हुए उनके सत्संग  
 से अपने जीवन को उच्च बनाओ, उनके यज्ञों की रक्षा करो, जिससे उनका सत्यरूप फल  
 प्रजा के लिए शुभ हो ॥४॥

सायण-भाष्य

हे इन्द्रावरुणा इन्द्रावरुणौ वधनाभिर्वधनकरैरायुधैः [अप्रति] अप्रतिगतम् अप्राप्तं  
 भेदम् एतत्संज्ञं सुदासः शत्रुं वन्वन्ता हिंसन्तौ युवां सुदासम् । शुभानि ददातीति सुदाः ।  
 एतत्संज्ञं मम याज्यं राजानं प्रावतं प्रर्षेणारातम् । एषां तृत्सूनां मम याज्यानां ब्रह्माणि  
 स्तोत्राणि शृणुतम् शृणुतम् । कदा? हवीमनि । आहूयन्तेऽस्मिन्युद्धार्थं परस्परमिति हवीमा  
 संग्रामः तस्मिन् । यस्मादेवं तस्मात् तृत्सूनामेतत्संज्ञानां मम याज्यानां पुरोहितिः मम पुरोधानं  
 सत्या सफलमभवत् । तेषु यन्मम पौरोहित्यं तत्सफलं जातमित्यर्थः ।

शब्दार्थ — वधनाभिः = वध करने वाले शस्त्रों से । अप्रति = मुकाबला न करने  
 वाले । भेदम् = भेद नाम के सुदास के शत्रु को । वन्वन्ता = मारते हुये । आवतम् = रक्षा  
 करो । ब्रह्माणि = स्तोत्रों को । हवीमनि = युद्ध में । सत्या = सफल । तृत्सूनाम् =  
 तृत्सुओं का । पुरोहितः = पुरोहित होना ।

हिन्दी व्याख्या — हे इन्द्र और वरुण देवताओं ! वध करने वाले शस्त्रों से  
 मुकाबला न करने वाले भेद नामक सुदास के शत्रु को मारते हुये तुम दोनों सुदास नाम  
 वाले इस मेरे यजमान की रक्षा करो । युद्ध में इनके स्तोत्रों को सुनो । इन तृत्सुओं का



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

पुरोहित होना सफल हो गया है।

**व्याकरण —**

**वधनाभिः** — वध् + युच् (अन) + टाप् = वधना। तृतीया का बहुवचन।

**वन्वता** — वन् + उ + शतृ (अत्)। प्रथमा का द्विवचन वैदिक रूप।

**हवीमनि** — आहूयन्ते अस्मिन् अर्थ में ह्वेज् + इमनिच्। वैदिक निपातन से हवीमन्। सप्तमी विभक्ति का एकवचन।

**पुरोहितः** — पुरस् + धा + क्तिन् । 'धा' को 'हि' आदेश।

**विशेष** — सायण ने 'अप्रति' को 'भेदम्' का विशेषण 'अप्रतिगतम्' अर्थ किया है, परन्तु पीटर्सन के अनुसार यह क्रिया विशेषण है और इसका अर्थ है — बेरोकटोक (Irresistible)। 'ऋग्वेद' के वर्णनों के अनुसार तृत्सु सफेद पोशाक पहनते थे और उनके बाल फीते से बंधे होते थे। वसिष्ठों के समान उनके श्वेत वस्त्र होते थे और दाईं ओर शिखा में गाँठ होती थी। ७/३३/६ मन्त्र के अनुसार भरत उनकी प्रजा थे। ७/१८/१३ के अनुसार इन्द्र के शत्रुओं के धनों के तृत्सुओं को दिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकरण में एकवचनान्त तृत्सु को राजा सुदास का वाचक तथा बहुवचनान्त तृत्सु को वंश या गोत्र का वाचक समझना चाहिये। तृत्सुओं के पुरोहित वसिष्ठ थे।

छन्द के अनुरोध से 'ब्रह्माण्येषाम्' को 'ब्रह्माणि एषाम्' पढ़ना चाहिये।

मण्डल ७

सूक्त ८३

मंत्र ५

संहिता-पाठः

इन्द्रावरुणावभ्या तपन्ति माघान्यर्यो वनुषामरातयः।

युवं हि वस्वं उभयस्य राजथोऽध स्मा नोऽवतं पार्ये दिवि॥

पद-पाठः

इन्द्रावरुणौ। अभिः। आ। तपन्ति। मा। अघानिं। अर्यः। वनुषाम्। अरातयः। युवम्। हि। वस्वं। उभयस्य। राजथः। अधं। स्म। नः। अवतम्। पार्ये। दिवि॥५॥

**अन्वय** — इन्द्रावरुणो ! अर्यः अघानि मा अभिआतपन्ति। वनुषाम् अरातयः। युवम् हि उभयस्य वस्वः राजथः। अध स्म पार्ये दिवि नः अवतम्।

**दयानन्द-भाष्य —**

**पदार्थ** — (इन्द्रावरुणौ) भो विद्यावन्तो राजपुरुषाः! (मा) माम् (अर्यः) शत्रूणाम् (अरातयः, वनुषाम्) हिंसकानां मध्ये येऽरातयस्तेषां च (अघानि) अहन्तृणि आयुधानि (अभि, आतपन्ति) सर्वतः क्लिश्नन्ति (हि) निश्चयेन (युवम्) यूयम् (वस्वः) तेषां सर्वस्वमपहृत्य (उभयस्य, राजथः) द्विविधानपि बलवन्तः शत्रून् (अध) अधः पातयत, तथा च (नः स्म, अवतम्) असमान् तेभ्यो रक्षन्तः (पार्ये, दिवि) विजयस्वरूपं पारं गमयत्॥५॥



## इन्द्रावरुण सूक्त (मण्डल-७, सूक्त-८३)

**भावार्थ** — परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे इन्द्र तथा वरुण समान युद्ध-विशारद विद्वानो! तुम हिंसक तथा अन्य शत्रुओं का सर्वस्व हरण करके उनका नाश करो जो वेदविहितमर्यादा पर चलने वाले विद्वानों को तपाते = दुःख देते हैं। हे भगवन्! आप ऐसी कृपा करें कि उन शत्रुओं का युद्ध में अधः पतन हो और विजय रूप पार को प्राप्त हों ॥५॥

### सायण-भाष्य

हे इन्द्रवरुणौ अर्यः अरेः शत्रोः सम्बन्धीनि अधानि आहन्तृण्यायुधानि मा मामभ्यातपन्ति अभितो बाधन्ते। अपि च वनुषां हिंसकानां मध्ये अरातयः अभिगमनशीलाः शत्रवश्च मामभितपन्ति। युवं हि युवां खलु उभयस्य पार्थिवस्य दिव्यस्य वस्वः वसुनो धनस्य राजथः ईषाथे। राजतिरैश्वर्यकर्मा। अध स्म अतः कारणात् पार्ये तरणीये दिवि दिवसे युद्धदिने नोऽस्मानवतं रक्षतम्।

**शब्दार्थ** — अभि आ तपन्ति = चारों ओर से मार रहे हैं। अधानि = प्रहार करने के हथियार। अर्यः = शत्रु के। वनुषाम् = हिंसकों के मध्य में। अरातयः = शत्रु। उभयस्य = दोनों पक्षों के। वस्वः = सम्पत्ति के। राजथः = स्वामी हो। अधस्म = इस कारण से। पार्ये = पार करने योग्य। दिवि = दिन में।

**हिन्दी व्याख्या** — हे इन्द्र और वरुण देवता शत्रु के प्रहार करने के हथियार मुझको चारों ओर से मार रहे हैं। हिंसकों के मध्य में विद्यमान शत्रु भी मुझको मार रहे हैं। तुम दोनों निश्चय से दोनों प्रकार की (दिव्य और पार्थिव) अथवा दोनों पक्षों की सम्पत्तियों के स्वामी हो। इस कारण से पार करने के अर्थात् विजय करने के योग्य इस दिन में हमारी रक्षा करो।

### व्याकरण —

**अघानि** — आ समन्तात् धनन्ति इति आघनि आहन्तृणि आयुधानि, अर्थ में 'आङ्' पूर्वक 'हन्' धातु से निपातनात् निष्पन्न = अघ। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

**अर्यः** — 'अरि' शब्द षष्ठी विभक्ति का एकवचन। वैदिक रूप। लोक में 'अरेः'।

**युवम्** — 'युवाम्' के स्थान पर वैदिक रूप।

**वस्वः** — 'वसुनः' के स्थान पर वैदिक रूप।

**वनुषाम्** — वनति हिनस्ति अर्थ में 'वन् हिंसायाम्' से वन्+उषस् = वनुष।

**राजथः** — राज् धातु, लट् लकार, मध्यम पुरुष, द्विवचन।

**विशेष** — सायण ने 'उभयस्य' का अर्थ 'पार्थिव और दिव्य धन' किया है, परन्तु पीटर्सन के अनुसार इसका अर्थ स्वपक्ष तथा परपक्ष की सम्पत्ति (the wealth of both sides) है।

छन्द के अनुरोध से 'वरुणाभ्या', 'माघान्यर्यो', 'राजथोध', और 'नोऽवतम्' को क्रमशः 'वरुणावभि आ', 'मा अघानि अर्यो', 'राजथो अध' और 'नो अवतम्' पढ़ना चाहिये।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

मण्डल ७

सूक्त ८३

मंत्र ६

संहिता-पाठः

युवां हवन्ते उभयांस आजिष्विन्द्रं च वस्वो वरुणं च सातये ।

यत्र राजभिर्दशभिर्निबाधितं प्र सुदासमावतं तृत्सुभिः सह ॥

पद-पाठः

युवाम् । हवन्ते । उभयांसः । आजिषु । इन्द्रम् । च । वस्वः । वरुणम् । च । सातये ।  
 यत्र । राजभिः । दशभिः । निबाधितम् । प्र । सुदासम् । आवतम् । तृत्सुभिः । सह ॥ ६ ॥  
 अन्वय — उभयांसः आजिषु इन्द्रम् च वरुणम् च युवाम् वस्वः सातये हवन्ते । यत्र दशभिः  
 राजभिः निबाधितम् सुदासम् तृत्सुभिः सह प्र आवतम् ।

दयानन्द-भाष्य —

पदार्थ — भो इन्द्रावरुणस्वरूपा योद्धारः! (युवाम्) युष्मान् वयम् (उभयांसः, आजिषु)  
 उभयविधेषु युद्धेषु (हवन्ते) आह्वयामः (इन्द्रं, च वस्वः) इन्द्रं धनाय (च) तथा (वरुणं,  
 सातये) वरुणं च विजयप्राप्त्यै (यत्र) यस्मिन्युद्धे (दशभिः, राजभिः) दशसंख्याकैराजभिः  
 (निबाधितम्) आक्रान्तम् (तृत्सुभिः, सह) त्रिविधैर्ज्ञानिभिः सह (सुदासं) सुनृपम् (आवतम्)  
 प्राप्नुत — रक्षत ॥ ६ ॥

भावार्थ — परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे इन्द्र तथा वरुणरूप विद्वानो! तुम युद्धों में  
 विजय प्राप्त करते हुए कर्मानुष्ठानी तथा वेदविद्याप्रकाशक विद्वानों की रक्षा करो अर्थात्  
 कर्म, उपासना तथा ज्ञान द्वारा भक्तिभाव को प्राप्त पुरुषों की सेवा में सदा तत्पन रहो,  
 जिससे उन्हें कोई कष्ट प्राप्त न हों ॥ ६ ॥

सायण-भाष्य

उभयांसः उभयविधाः सुदाः संज्ञो राजा तत्सहायभूतास्तृत्सवश्च एवं द्वि प्रकारा  
 जना आजिषु संग्रामेषु युवाम् इन्द्रं च वरुणं च हवन्ते आह्वयन्ते । किमर्थम् । वस्वः धनस्य  
 सातये संभजनार्थम् । यत्र येष्वजिषु दशभिर्दशसंख्याकैः राजभिः शत्रुभूतैः नृपैः निबाधितं  
 नितरां हिंसितं सुदासंतृत्सुभिः सह वर्तमानं आवतं युवां प्रकर्षेणारक्षतम् तेष्वजिष्वित्यन्वयः ।

शब्दार्थ — हवन्ते = पुकार रहे हैं । उभयांसः = राजा और प्रजा दोनों प्रकार  
 के व्यक्ति । आजिषु = युद्धों में । वस्वः = धन के । सातये = प्राप्त करने के लिये ।  
 दशभिः राजभिः = दस राजाओं द्वारा । निबाधिम् = पीड़ित किया जाता हुआ ।

हिन्दी व्याख्या — राजा और प्रजा दोनों प्रकार के व्यक्ति (सुदास नामक राजा  
 और उसके तृत्सु नामक वंशज) । युद्धों में हे इन्द्र ! और वरुण ! तुम दोनों को धन प्राप्त  
 करने के लिये पुकार रहे हैं । इन युद्धों में दस शत्रु राजाओं द्वारा पीड़ित किये जाते हुये  
 इस सुदास की, तृत्सुओं के साथ रक्षा करो ।



**इन्द्रावरुण सूक्त ( मण्डल-७, सूक्त-८३ )****व्याकरण —**

उभयासः — वैदिक रूप। लोक में उभये या उभयाः होगा।

वस्वः — वसु शब्द, षष्ठी का एकवचन। वैदिक रूप। लोक में वसुनः होगा।

निबाधितम् — नि+बाध्+(इट्)+क्त = निबाधित।

आवतम् — आ + अच् धातु, लङ् लकार मध्यम पुरुष, द्विवचन।

सुदासम् — सुष्ठु ददाति अर्थ में सु+दा+असुन् = सुदास्। द्वितीया विभक्ति का एकवचन।

तृत्सु — त्रिषु लोकेषु स्तौति अर्थ में अथवा त्रिभिः वाङ्मनःकर्मभिः सुविति स्तुति करोति अर्थ में त्रि+स्तु+विच् या त्रि+सु+विच्।

विशेष — सायण ने यहाँ 'उभयासः' से सुदास और उसके वंशजों का ग्रहण किया है। इसका अर्थ दोनों पक्षों के व्यक्ति भी हो सकता है।

छन्द की पूर्ति के लिये 'आजिष्विन्द्रम्' को 'आजिषु इन्द्रम्' पढ़ना चाहिये तथा 'आजिषु' को प्रथम पाद पढ़ना चाहिये।

मण्डल ७

सूक्त ८३

मंत्र ७

**संहिता-पाठः**

दश राजानः समिता अयज्यवः सुदासमिन्द्रावरुणा न युयुधुः।

सत्या नृणामदमसदामुपस्तुतिर्देवा एषामभवन्देवहूतिषु।

**पद-पाठः**

दश। राजानः। समऽइताः। अयज्यवः। सुऽदासम्। इन्द्रावरुणा। न। युयुधुः। सत्या। नृणाम्। अदमऽसवांम्। उपऽस्तुतिः। देवाः। एषाम्। अभवन्। देवऽहूतिषु। ॥७॥

अन्वय — इन्द्रावरुणा! अयज्यवः समिताः दश राजानः सुदासम् न युयुधुः। अदमसदाम् नृणाम् उपस्तुतिः सत्या। एषाम् देवहूतिषु देवाः अभवन्।

**दयानन्द-भाष्य —**

पदार्थ — (अयज्यव) अवैदिकाः (दक्ष, राजानः) दशसंयाका राजानः (समिता) सम्मिलिताः सन्तः (सुदासम्) वेदानुयायिनैकेन राज्ञा (न, युयुधुः) युद्धं न कर्तुं शक्नुवन्ति (देवहूतिषु) युद्धेषु (अदमसदां, देवाः) याजका विद्वांसः (एषाम्) एषां वेदानुयायिनाम् (नृणाम्) मनुष्याणाम् (सत्या) सत्यतया (उपस्तुतिः) उपस्तुतिम् (अभवन्) कुर्वन्ति (इन्द्रावरुणा) भो विद्याभिरलङ्कृता राजपुरुषाः! यूयमीदृक् साधनसम्पन्नपुरुषाणां सहाया भवत। ॥७॥

भावार्थ — इस मन्त्र में यह उपदेश किया है कि राजा तथा राजकीय पुरुषों को सदा वैदिक धर्म का अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि व्रत, तप तथा अनुष्ठानशील राजा को दश राजा भी मिलकर युद्ध में पराजय नहीं कर सकते, दृढ़व्रती, कर्मकाण्डी तथा धीर-वीर राजा की सब विद्वान् प्रशंसा करते हैं और वही अपने सब कार्यों को विधिवत् करता हुआ



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

संसार में कृतकार्य होता है, ऐसे धर्मज्ञ राजा की सब विद्वानों को सहायता करनी चाहिए । ॥७॥

**सायण-भाष्य**

हे इन्द्रावरुणौ ! दश दशसंख्याकाः राजानः सुदासः शत्रेवः समिताः परस्परं समवेताः अयज्यवः अयजमाना एवंभूतास्ते सुदासम् एतत्संज्ञकमेकमपि राजानं न युयुधुः न संप्रजहुः । युवाभ्यानुगृहीतं तं प्रहर्तुं न शेकुः । तदानीमदमसदाम् । अदमनि अन्नं हवीषि सीदन्तीत्यदमसद ऋत्विजः । हविभिर्युक्तानां नृणां यज्ञस्य नेतृणामृत्विजामुपस्तुतिः स्तोत्रं सत्या सफलाभूत् । अपि च एषां देवहूतिषु । देवा हूयन्ते एष्विति देवहूतयो यज्ञाः । तेषु सर्वे च देवाः । अभवन् । युष्मदनुग्रहात्प्रादुर्भवन्ति ।

शब्दार्थ — समिताः = युद्ध में परस्पर सम्मिलित हुये । अयज्यवः = यज्ञ न करने वाले । युयुधुः = प्रहार करने में समर्थ न हुये । सत्या = सफल । नृणाम् = यज्ञों के नेता ऋत्विजों की । अदमसदाम् = हवियुक्त यज्ञों में उपस्थित होने वाले । देवहूतिषु = यज्ञों में ।

हिन्दी व्याख्या — हे इन्द्र और वरुण देवताओं ! यज्ञ न करने वाले, युद्ध में परस्पर सम्मिलित हुये ये दस राजा सुदास नाम के मेरे इस यजमान राजा पर युद्ध में प्रहार करने में समर्थ नहीं हुये । हवि से युक्त यज्ञों में उपस्थित होने वाले यज्ञों के नेता ऋत्विजों का स्तुति करना सफल हो गया है । इनके यज्ञों में सभी देवता उपस्थित हुये हैं ।

**व्याकरण —**

समिताः — सम् + इ + क्त = समित । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन ।

अयज्यवः — न यजति अर्थ में जञ्+यज्+यु = अयज्यु । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन ।

युयुधुः — 'युध्' धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।

अदमसदाम् — 'अदमनि अन्ने हविषि सीदन्ति तिष्ठन्ति प्राणाः येषाम्' अर्थ में अद्य+सद्+क्विप् = अदमसद् । षष्ठी विभक्ति का बहुवचन ।

देवहूतिषुः — देवाः हूयन्ते येषु अर्थ में देव+हे+क्तिन् = देवहूति ।

विशेष — 'नृ' शब्द मनुष्य का पर्यायवाची है परन्तु धातु के अर्थ को लेकर यहाँ इसका अर्थ 'नेता' किया गया है ।

मण्डल ७

सूक्त ८३

मंत्र ८

**संहिता-पाठः**

दाशराज्ञे परियन्ताय विश्वतः सुदास इन्द्रावरुणावशिक्षतम् ।

शिवत्यञ्चो यत्र नमसा कपर्दिनो धिया धीवन्तो असंपन्त तृत्सवः ।।



## इन्द्रावरुण सूक्त ( मण्डल-७, सूक्त-८३ )

पद-पाठः

दाशराज्ञे । परिऽयत्ताय । विश्वतः । सुऽदासे । इन्द्रावरुणौ । अशिक्षतम् । शिवत्यज्यः ।  
यत्र । नमसा । कपर्दिनः । धिया । धीऽवन्तः । असपन्त । तृत्सवः ॥८॥

अन्वय — इन्द्रावरुणौ दाशराज्ञे विश्वतः परियत्ताय सुदासे अशिक्षतम् । यत्र शिवत्यज्यः  
कपर्दिनः धीवन्तः तृत्सवः नमसा धिया असपन्त ।

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (यत्र) सस्मिन्युद्धे (नमसा) प्रभुत्वेन (कपर्दिनः) स्वलङ्कृताः (धीवन्तः)  
बुद्धिमन्तः (तृत्सवः) कर्मकाण्डिनः (शिवत्यज्यः) सदाचारिणः (असपन्तधिया) युद्धकर्मसु  
बुद्ध्या प्रवर्तन्ते, तत्र युद्धे (विश्वतः) सर्वतः दाशराज्ञे (परियत्ताय) दशभिर्नृपैराक्रान्तान्  
(सुदासे) वेदानुयायिनो नृपस्य (इन्द्रावरुणौ) हे शस्त्रास्त्रविद्यावेत्तारो विद्वांसः (अशिक्षतम्)  
पर्याप्तबलान् कुरुत ॥८॥

भावार्थ — परमात्मा उपदेश करते हैं कि राजा लोगो! तुम कर्मकाण्ड युक्त तथा  
सदाचार सम्पन्न होकर अपने कार्यों को विधिवत् करो और युद्धरूप कर्म में बुद्धिपूर्वक  
प्रवृत्त होगो, जो सदाचार सम्पन्न राजा बुद्धिपूर्वक युद्ध करता है उसको अनेक राजा सब  
ओर से आक्रमण करने पर भी विजय नहीं कर सकते। परमात्मा आज्ञा देते हैं कि हे  
धनुर्विद्यासम्पन्न अध्यापक तथा उपदेशको! तुम ऐसे धर्मपरायण राजा की सदा सहायता  
करो, जिससे वह शीघ्र कृतकार्य हो ॥८॥

सायण-भाष्य

हे इन्द्रावरुणौ ! दाशराज्ञे । दश शब्दस्य छान्दसो दीर्घः । विभक्तिव्यत्ययः । दशभी  
राजभिः शत्रुभूतैः विश्वतः सर्वतः परियत्ताय परिवेष्टिताय सुदासे राज्ञे अशिक्षितं बलं  
प्रायच्छतम् । यत्र यस्मिन्देशे शिवत्यज्यः शिवतिं श्वैत्यं नैर्मल्यमज्यन्तो गच्छन्तः कपर्दिनः  
जटिला धीवन्तः कर्मभिर्युक्तास्तृत्सवः वसिष्ठशिष्याः एतत्संज्ञाऋत्विजः नमसा हविर्लक्षणेनात्रेन  
धिया स्तुत्या च असपन्त पर्यचरन् । तस्मिन्देशे युवां तस्मै राज्ञे बलं प्रायच्छतमित्यर्थः ।

शब्दार्थ — दाशराज्ञे = दस शत्रु राजाओं द्वारा । परियत्ताय = घिरे हुये ।  
विश्वतः = चारों ओर से । अशिक्षतम् = बल प्रदान किया है । शिवत्यज्यः = श्वेत (निर्मल)  
कार्यों को करने वाले, श्वेत वस्त्रों को धारण करने वाले । नमसा = हविरूप अन्न के द्वारा ।  
कपर्दिनः = जटाधारी । धिया = स्तुतियों द्वारा । धीवन्तः = कर्मशील । असपन्त = स्तुति  
की है ।

हिन्दी व्याख्या — हे इन्द्र और वरुण देवताओं ! दस शत्रुओं के द्वारा चारों ओर  
से घिरे हुये सुदास के लिये तुमने बल प्रदान किया है । जिस स्थान पर श्वेत अर्थात् निर्मल  
कर्मों को करने वाले या श्वेत वस्त्रों को धारण करने वाले, जटाधारी और कर्मशील मुझ  
वसिष्ठ के शिष्य तृत्सुओं ने हवि रूप अन्न के द्वारा तथा स्तुतियों द्वारा तुम्हारी स्तुति की  
है ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****व्याकरण -**

दाशराज्ञे - दश राज्ञां समाहारः। तृतीया के अर्थ में सप्तमी। अथवा-दशभिः राजभिः सह प्रवृत्तं युद्धम् तस्मिन्।

परियत्ताय- परि+यत्+क्त = परियत्त। चतुर्थी विभक्ति का एकवचन।

अशिक्षितम् - 'शिक्ष' धातु, लङ् लकार, मध्यम पुरुष, द्विवचन। अथवा दानार्थक 'शक्' या 'शक्लृ शक्तौ' धातु से स्वार्थ में 'सन्' प्रत्यय करके यह रूप निष्पन्न होता है।

कपर्दिनः - कपर्द+इति = कपर्दिन्। प्रथमा का बहुवचन।

धीवन्तः - धी+मतुप् = धीवत्। प्रथमा का बहुवचन।

असपन्त - 'षप् (सप्) समवाये' धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

शिवत्यञ्चः - शिवति+अञ्च+क्विप्। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

विशेष - अनेक विद्वानों ने 'दासराज्ञ' को दस इन्द्रियों तथा 'सुदास्' को आत्मा का वाचक माना है। दसों इन्द्रियाँ आत्मा को सांसारिक विषय भोगों की ओर घेरती हैं। आत्मा प्रभु की उपासना से उन पर विजय प्राप्त करता है।

मण्डल ७

सूक्त ८३

मंत्र ९

संहिता-पाठः

वृत्राण्यन्यः समिथेषु जिघ्नन्ते व्रतान्यन्यो अभि रक्षते सदा।

हवामहे वां वृषणा सुवृक्तिभिरस्मे इन्द्रावरुणा शर्म यच्छतम्॥

पद-पाठः

वृत्राणि। अन्यः। सम्ऽइथेषु। जिघ्नन्ते। व्रतानि। अन्यः। अभि। रक्षते। सदा। हवामहे। वाम्। वृषणा। सुवृक्तिभिः। अस्मे। इति। इन्द्रावरुणा। शर्म। यच्छतम्॥१॥  
अन्वय - इन्द्रावरुणा ! अन्यः वृत्राणि समिथेषु जिघ्नन्ते अन्यः सदा व्रतानि अभि रक्षते। वृषणा ! वाम् सृवृक्तिभिः हवामहे। अस्मे शर्म यच्छतम्।

दयानन्द भाष्य -

पदार्थ - (अन्यः, समिथेषु) एको योद्धा युद्धक्षेत्रे (वृत्राणि, जिघ्नन्ते) शत्रूञ्जयति (अन्यः) एकः (सदा) सततम् (अभि) सर्वथा (व्रतानि) नियमान् (रक्षते) संसेवरु रक्षति (इन्द्रावरुणा) भो इन्द्रवरुणस्वरूपा योद्धारः! (माम्) यूयम् (अस्मे) अस्मभ्यम् (शर्म, यच्छतम्) सुखं प्रयच्छत यतो यूयम् (वृषणा) योद्धुरभिलाषप्रदातारः (सुवृक्तिभिः) शुभमार्गप्रवर्तकाश्च स्थः अतः (हवामहे) वयं युष्मानाह्वयामः॥६॥

भावार्थ - जो राजा लोग व्रतों की रक्षा करते और दुष्ट शत्रुओं का दमन करते हैं, हे अस्त्रशस्त्रविद्यावेत्ता विद्वानों! तुम उनकी सहायता करो, क्योंकि व्रत पालन तथा दुष्टदमन किये बिना प्रजा में सुख का संचार कदापि नहीं हो सकता, इसी अभिप्राय से वेद में अन्य उपदेश किया है कि -॥६॥



## सायण-भाष्य

हे इन्द्रावरुणौ युवायोरन्यः एकः इन्द्रः वृत्राणि शत्रून् समिथेषु संग्रामेषु जिघ्नते। अन्य एको वरुणः सदा सर्वदा व्रतानि कर्माणि अभिरक्षते अभितः सर्वतो रक्षति। हे वृषणा कामानां वर्षिताराविन्द्रावरुणौ तथाविधौ वां युवां सुवृक्तिभिः सुप्रवृत्ताभिः स्तुतिभिः हवामहे आह्वयामहे। आहूतौ च युवामस्मे सस्मभ्यं शर्म सुखं यच्छतं दत्तम्।

शब्दार्थ — अन्यः = तुममें से कोई एक। समिथेषु = युद्धों में। जिघ्नते = वध करता है। व्रतानि = व्रतों को, शुभ कर्मों को। अभिरक्षते = रक्षा करता है। हवामहे = आह्वान करते हैं। वाम = तुम दोनों को। वृषणा = कामनाओं को पूरा करने वाले। सुवृक्तिभिः = उत्तम स्तुतियों द्वारा। शर्म = सुख। यच्छतम् = प्रदान करो।

हिन्दी व्याख्या — हे इन्द्र और वरुण देवताओं ! तुम दोनों में से एक अर्थात् इन्द्र वृत्रों का युद्धों में वध करता है और दूसरा एक अर्थात् वरुण सदा व्रतों की शुभ कर्मों की रक्षा करता है। कामनाओं की पूर्ति करने वाले हे इन्द्र और वरुण तुम दोनों का हम उत्तम स्तुतियों द्वारा आह्वान करते हैं। तुम हमारे लिये सुख प्रदान करो।

## व्याकरण —

समिथेषु — संगता मेथन्ते प्रहरन्ते यत्र स समिथः संग्रामः अर्थ में सम्+मिथ्+अप्। अथवा सम्+इ+थक् = समिथ।

जिघ्नते— हन् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। वैदिक आत्मने पद एवं द्वित्व।

अस्मे — वैदिक रूप है। लोक में अस्मभ्यम् होगा।

रक्षते — रक्ष् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। छान्दस आत्मनेपद।

हवामहे — ह्वेन् धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन। वैदिक रूप।

अस्मे — अस्मभ्यम् का वैदिक रूप।

यच्छतम् — दाण् (यच्छ) धातु, लट् लकार, मध्यम पुरुष, द्विवचन।

सुवृक्तिभिः — सु+वृज्+क्तिन्। तृतीया का बहुवचन। पीटर्सन ने इस प्रकार व्युत्पत्ति की है — ऋच् स्तुतौ से 'क्तिन्' प्रत्यय = ऋक्ति। सु+ऋक्ति, 'सु' के 'उ' को 'उवङ्' आदेश = सुवृक्ति।

विशेष — छन्द के अनुरोध से 'वृत्राण्यन्यः' को 'वृणाणि अन्यः' तथा 'व्रतान्यन्यः' को 'व्रतानि अन्यः' पढ़ना चाहिये।

मण्डल ७

सूक्त ८३

मंत्र १०

संहिता-पाठः

अस्मे इन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा द्युम्नं यच्छन्तु महि शर्म सप्रथः।

अवधं ज्यातिरदितेऋतावृधो देवस्य श्लोकं सवितुर्मनामहे॥



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

### पद-पाठः

अस्मे । इति । इन्द्रः । वरुणः । मित्रः । अर्यमा । द्युम्नम् । यच्छन्तु । महि । शर्म । सप्रथः । अवधम् । ज्योतिः । अदितेः । ऋतवृधः । देवस्य । श्लोकम् । सवितुः । मनामहे ॥१०॥  
अन्वय — इन्द्रः वरुणः मित्रः अर्यमा अस्मे द्युम्नम् यच्छन्तु, महि सप्रथः शर्म ऋतावृधः अदितेः ज्योतिः अवधम् । देवस्य सवितुः श्लोकम् मनामहे ।

### दयानन्द-भाष्य —

पदार्थ — (इन्द्रः) वैद्युतविद्याभिज्ञः (वरुणः) जलीयविद्यावेत्ता (मित्रः) राजमन्त्री (अर्यमा) न्यायाधीशः (अस्मे) अस्मभ्यम् (द्युम्नम्) दीप्तिमत् (महि) महत् (सप्रथः) सुप्रख्यातं (शर्म) सुखम् (यच्छन्तु) ददतु (ज्योतिः) ज्योतिः स्वरूपः (अवधम्) नित्यः (अदितेः) अखण्डनीयो विभुः (ऋतावृधः) सत्यस्वरूपः (देवस्य) दिव्यात्मा (सवितुः) विश्वजनको यो भगवान् तस्य (श्लोकम्) स्तुतिम् (मनामहे) कुर्महे ॥१०॥

भावार्थ — हे न्यायाधीश परमात्मन्! आप इन्द्रादि विद्वानों द्वारा हमको नित्य सुख की प्राप्ति कराये, और ऐसी कृपा करें कि हम आपके सत्यादि गुणों का गान करते हुए सदैव आपकी स्तुति में तत्पर रहें ॥१०॥

### सायण-भाष्य

अस्मे अस्मभ्यम् इन्द्रादयः द्युम्नं द्योतमानं धनं यच्छन्तु । तथा महि महत् सप्रथः सर्वतः पृथु विस्तीर्णं शर्म गृहं च प्रयच्छतु । अपि च ऋतावृधः ऋतस्य यज्ञस्य वर्धयित्र्याः अदितेरदीनायाः देवमातुः ज्योतिस्तेजश्च नोऽस्माकम् अवधम् अहिंसकमस्तु । वयं च देवस्य ज्ञानादिगुणयुक्तस्य सवितुः सर्वस्य प्रेरकस्य श्लोकं स्तोत्रं मनामहे जानीमः कुर्म इत्यर्थः । यद्वा देवेन सवित्रा अस्मभ्यं देयं श्लोकं यशः मनामहे याचामहे ।

शब्दार्थ — द्युम्नम् = प्रकाशमय धन को । महि = महान् । शर्म = घर को । सप्रथः = सब प्रकार से विस्तृत । अवधम् = अहिंसक बना रहे । ऋतावृधः = यज्ञ को बढ़ाने वाला । श्लोकम् = स्तुति, कीर्ति । मनामहे = करते हैं, याचना करते हैं ।

हिन्दी व्याख्या — इन्द्र, वरुण, मित्र (सूर्य) और अर्यमा (यम का प्रेरक आदित्य) ये सभी देवता हमारे लिये प्रकाशमय धन को प्रदान करें और महान् तथा सब प्रकार से विस्तृत घर को दें । यज्ञ को बढ़ाने वाली देव-माता का तेज हमारे लिये अहिंसक बना रहे । दिव्य गुणों से युक्त सबके प्रेरक सविता देवता की हम स्तुति करते हैं अथवा उससे कीर्ति की याचना करते हैं ।

### व्याकरण —

सप्रथः — 'प्रथ विस्तारे' धातु से अच् प्रत्यय = प्रथ । प्रथेन सहितं सप्रथ ।

अवधम् — वधं राति अर्थ में वध् + रा + अच् = वध । न + वध् + अवधम् ।

ऋतावृधः—ऋत + वृध् + क्विप् = ऋतावृध् । षष्ठी विभक्ति का एकवचन ।

मनामहे — मन् धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन ।



## वरुण सूक्तम्

देवता : वरुण

ऋषि- देवता

छन्द-त्रिष्टुप

मण्डल-७

सूक्त-८६

मन्त्र-१

संहिता पाठ

धीरा त्वंस्य महिना जनुंषि वि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी ।  
प्र नाकमृष्वं नुनुदे बृहन्तं द्विता नक्षत्रं पप्रथच्च भूम ॥१॥

पदपाठ -

धीरां । तु । अस्य । महिना । जनुंषि । वि । यः । तस्तम्भं । रोदसी इति । चित् उर्वी इति ॥  
प्र । नाकं । ऋष्वं । नुनुदे । बृहन्तम् । द्विता । नक्षत्रम् । पप्रथत् । च । भूमं ॥

अन्वय - अस्य (वरुणस्य) जनुंषि महिना तु धीरा, यः उर्वी रोदसी चित् वि तस्तम्भ,  
(यः) ऋष्वं बृहन्तं नाकं नक्षत्रं (च) द्विता प्र नुनुदे, (यः) भूम च पप्रथत् ।

दयानन्द भाष्य -

(यः) य ईश्वरः (वि) सम्यक् (उर्वी) विस्तीर्णे (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (चित्) निश्चयम् (तस्तम्भ) स्तब्धे अकरोत्, तथा यः (बृहन्तम्) महान्ति (नक्षत्रम्) नक्षत्राणि (च) पुनः (भूम) भूमिम् (पप्रथत्) अररचत् तथा (नाकम्) स्वर्गम् (ऋष्वम्) नरकं च (द्विता) द्विधा (नुनुदे) व्यररचत् (तु) निश्चयेन (अस्य) इमं वरुणस्वरूपं परमात्मानम् (धीरा) धैर्यवन्तो जनाः (महिना) महत्त्वेन (जनुंषि) तज्जन्मना सह बुध्यन्ते ॥१॥

हि०भावार्थ - जो परमात्मा इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का रचयिता है और जिसने कर्मानुसार स्वर्ग=सुख और नरक=दुःख को रचा है उसके महत्त्व को धीर पुरुष ही विज्ञान द्वारा अनुभव करते हैं, जैसा कि अन्यत्र भी वर्णन किया गया है ॥१॥

सायण भाष्य -

अस्य वरुणस्य जनुंषि जन्मानि महिना महिम्ना तु क्षिप्रं धीरा धीराणि धैर्यवन्ति भवन्ति । यः वरुणः उर्वी विस्तीर्णे रोदसी चित् द्यावापृथिव्यावपि वि तस्तम्भ विविधं स्तब्धे स्वकीये स्थाने स्थिते अकरोत् । यश्च बृहन्तं महान्तं नाकम् आदित्यं नक्षत्रं च ऋष्वं दर्शनीयं द्विता द्वैधं प्र नुनुदे प्रेरयति स्म । अहनि सूर्य दर्शनीयं प्रेरयति रात्रौ नक्षत्रं तथेति द्विणस्प्रकारः । भूम भूमिं च यः पप्रथत् अप्रथयत् विस्तारितवान् । तस्यास्य वरुणस्येत्यन्वयः ॥

शब्दा० - धीरा = स्थिर, तु = शीघ्र, वास्तव में, अस्य = इस (वरुण)के, महिना = महानता के कारण, जनुंषि = जन्म, यः = जिसने, वि तस्तम्भ = धारण किया है, रोदसी = आकाश तथा पृथिवी को, चित् = भी, उर्वी = विस्तृत, नाकम् = सूर्य को, ऋष्वम् = ऊँचे, प्र नुनुदे = प्रेरित किया है, बृहन्तम् = महान्, द्विता = दो प्रकार से, नक्षत्रम् = नक्षत्रों को, प प्रथत् = विस्तृत किया है, च = और, भूम = पृथिवी को ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

हिन्दी व्याख्या — इस (वरुण) के जन्म (इसकी) महानता के कारण वास्तव में स्थिर हैं, जिसने विस्तृत आकाश तथा पृथिवी को भी धारण किया है, (जिसने) ऊँचे एवं महान् सूर्य और नक्षत्रों को दो प्रकार से प्रेरित किया है तथा पृथिवी को विस्तारित किया है।

**व्याकरण —**

तस्तम्भ = स्तम्भ धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन

ऋष्वम् = 'ऋषि गतौ' से व प्रत्यय। ऋष्+व= ऋष्व। दृष्टिगोचर हुई वस्तु ऋष्व कहलाती है।

नुनुदे = नुद् धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन

प प्रथत् = प्रथ् धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। वैदिक रूप।

विशेष = मैकडॉनल के अनुसार धीरा = बुद्धिमान् (intelligent), महिमा = शक्ति से (by the might), ऋष्व = ऊँचा (high) और बृहन्तम् = विस्तृत (lofty)।

मण्डल—७

सूक्त—८६

मन्त्र—२

संहिता पाठ

उत स्वयां तन्वा३ सं वदे तत्कदा न्व१न्तर्वरुणे भुवानि ।  
किं मे हव्यमह्णानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभि ख्यम् ।।२।।

**पदपाठ —**

उत । स्वयां । तन्वां । सम् । वदे । तत् । कदा । नु । अन्तः । वरुणे । भुवानि ।। किम् । मे ।  
हव्यम् । अह्णानः । जुषेत । कदा । मृळीकम् । सुमनाः । अभि । ख्यम् ।।

अन्वय — उत स्वया तन्वा तत् संवदे; कदा नु वरुणे अन्तः भुवानि । अह्णानः किं मे हव्यं जुषेत? सुमनाः (अहं) मृळीकं (वरुणं) कदा अभिख्यम्?

**दयानन्द भाष्य —**

(उत) किम् (स्वया, तन्वा) स्वशरीरेण (सं) सम्यक् (तत्) तेनोपास्येन सह (वेदे) आलापं करवाणि (कदा) कस्मिन्काले (नु) निश्चयम् (वरुणे, अन्तः) तस्य भजनीयस्य स्वरूपे (भुवानि) प्रविशानि (किं) किमीश्वरः (मे) मम (हव्यम्) उपासनारूपमुपहारम् (अह्णानः) अक्रुध्यन् (जुषेत) स्वीकुर्यात् (कदा) क्वकाले (मृळीकम्) तं सर्वसुखप्रदातारम् (सुमनाः) शोभनमनस्कः (अभि, ख्यम्) अभितः पश्येयम् ।।२।।

हि०भावार्थ — उपासक पुरुष उपासना काल में उस दिव्यज्योति परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे भगवन्! आप मुझे ऐसी शक्ति प्रदान करें कि मैं आपके समीप होकर आपसे आलाप करूँ, हे सर्वनियन्ता भगवन्! आप मेरी उपासना रूप भेंट को स्वीकार करके ऐसी कृपा करें कि मैं सर्वसुखदाता आपको अपने पवित्र मन द्वारा ज्ञानगोचर करूँ, आप ही की उपासना में निरन्तर रत रहूँ और एकमात्र आप ही मेरे सम्मुख लक्ष्य हों



अर्थात् उपासक पुरुष नानाप्रकार की तर्क-वितर्कों से यह निश्चय करता है कि मैं ऐसे साधन सम्पादन करूँ जिनसे उस आनन्द स्वरूप में निमग्न होकर आनन्द का अनुभव करूँ ॥२॥

सायण भाष्य -

वरुणं शीघ्रं दिदृक्षमाण ऋषिरनया वितर्कयति । उतेति विचिकित्सायाम् । उत किं स्वया तन्वा स्वीयेनात्मीयेन शरीरेण सं वदे सहवदनं करोमि । आहो स्वित् तत् तेन वरुणेन सह संवदे । कदा नु कदा खलु वरुणे देवे अन्तः भुवानि अन्तर्भूतो भवानि । वरुणस्य चित्ते संलग्नो भवानीत्यर्थः । अपि च मे मदीयं हव्यं स्तोत्रं हविर्वा अह्णानः अक्रुध्यन् वरुणः किं केन हेतुना जुषेत सेवेत । सुमनाः शोभनमनस्कः सन्नहं कदा कस्मिन् काले मृळीकं सुखयितारं वरुणम् अभि ख्यम् अभि पश्येयम् ।

शब्दा० - उत = और, स्वया = अपने, तन्वा = शरीर से, संवदे = वार्तालाप करूँगा, तत् = उस देव के साथ, कदा = कब, नु = निश्चित रूप से, अन्तः = हृदय में, वरुणे = वरुण के, भुवानि = होऊँगा, किम् = क्या, मे = मेरी, हव्यम् = प्रार्थना, अह्णानः = क्रोध रहित होकर, जुषेत = स्वीकार करेगा, कदा = कब, मृळीकम् = दयालु (वरुण) को, सुमनाः = सुन्दर मनवाला होकर, अभिख्यम् = देखूँगा ।

हिन्दी व्याख्या - क्या मैं अपने शरीर से उस (वरुण देवता) के साथ वार्तालाप करूँगा? वरुण के हृदय में मैं कब होऊँगा? क्या मेरी प्रार्थना को क्रोधरहित (होकर वह) स्वीकार करेगा? सुन्दर मनवाला (होकर) मैं दयालु (वरुण) को कब देखूँगा?

व्याकरण -

वदे = वद् धातु, लट् लकार, उ०पुरुष, एक० । वैदिक रूप ।

भुवानि = भू धातु, लोट् लकार, उ०पुरुष, एक० । वैदिक रूप ।

अह्णानः = हणीङ्+शानच् । 'ई' का लोप = हणान । न+हणान= अह्णान ।

जुषेत = जुष् धातु विधिलिङ्, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

अभिख्यम् = अभि+चक्षिङ् (ख्या) लुङ् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन ।

विशेष = मैक्डानल ने 'मृळीकम् अभिख्यम्' का अर्थ किया है- दया को प्राप्त करूँगा । (perceive his mercy)

मण्डल-७

सूक्त-८६

मन्त्र-३

संहिता पाठ

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षूषो एमि चिकितुषो विपृच्छम् ।

समानमिन्मे कवर्यश्चिदाहुरयं ह तुभ्य वरुणो हणीते ॥३॥

पदपाठ -

पृच्छे । तत् । एनः । वरुण । दिदृक्षु । उपो इति । एमि । चिकितुषः । विपृच्छम् । समानम् ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

इत्। मे। कवयः। चित्। आहुः। अयम्। ह। तुभ्यम्। वरुणः। हृणीते॥

अन्वय — (हे वरुण) दिदृक्षु (अहं) तद् एनः पृच्छे। (अहं) विपृच्छं चिकितुषः उपो एमि।  
कवयः चित् ये समानम् इत् आहुः 'अयं ह वरुणः तुभ्यं हृणीते'।

**दयानन्द भाष्य —**

(वरुणः) भोः सर्वभजनीय परमात्मन्! (तत्) तत् (एनः) पापम् (पृच्छे) भवन्तं पृच्छामि (उपो, दिदृक्षु) भवन्तं दिदृक्षुरहम् (चिकितुषः) सर्वथा निर्बन्धनः (एमि) भवन्तं प्राप्नुयाम् (कवयः) विद्वांसः (विपृच्छम्) साधपृष्टाः (समानम्) भवद्विषये (मे) माम् (चित्) निश्चयम् (आहुः) ब्रुवन्ति वक्ष्यमाणम् (ह) प्रसिद्धमिदं यत् (अयम्) अयम् (वरुणः) समर्थ ईश्वरः (तुभ्यम्) त्वामुपासकम् (इत्) निश्चयेन (हृणीते) पापेभ्य उद्धृत्य सुखं प्रति नयति॥३॥

**हि०भावार्थ —** हे सर्वव्यापक! मैं उन पापों को कैसे जानूँ जिनके कारण आपके दर्शन से वञ्चित हूँ, हे सर्वपालक! ऐसी कृपा कर कि मैं उन पापों से छूटकर आपको प्राप्त होऊँ। यह प्रसिद्ध है कि वेदों के ज्ञाता विद्वान् पुरुष पूछने पर निश्चयपूर्वक यह कहते हैं कि परमात्मा सबका मङ्गल, कल्याण चाहते हैं, यदि उपासक अंशमात्र भी उनकी ओर झुके तो वह दयालु भगवान् स्वयं उसका उद्धार करते हैं, इसलिए पुरुष को चाहिए कि वह साधन सम्पन्न होकर परमात्मा की उपासना में प्रवृत्त हो तभी उसका उद्धार हो सकता है, अन्यथा नहीं॥३॥

**सायण भाष्य —**

हे वरुण तदेनः पापं पृच्छे त्वां पृच्छामि। दिदृक्षु। छान्दसः सुलोपः। द्रष्टुमिच्छन्नहम्। येन पापेन हेतुना त्वदीयैः पाशैर्बद्धोऽस्मि पृष्टः संस्तत् पापं कथय। अहं विपृच्छं विविधं प्रष्टुं चिकितुषः विदुषो जनान् उपो एमि उपागाम्। ते कवयश्चित् क्रान्तदर्शिनो जनाश्च मे मह्यं समानमित् समानमेवैकरूपमेव आहुः अकथयन्। यदाहुस्तदाह। हे स्तोतः तुभ्यम् अयं ह अयमेव वरुणः हृणीते क्रुध्यतीति। अतः क्रोधं परित्यज्यास्मान् पाशेभ्यो मोचय॥

**शब्दा० —** पृच्छे = पूछता हूँ, तत् = उस, एनः = पाप को, वरुण = हे वरुण, दिदृक्षु = देखने की इच्छा से, उपो = पास, एमि = जाता हूँ, चिकितुषः = विद्वानों के, विपृच्छम् = विविधरूप से पूछने के लिए, समानम् = एक जैसा, इत् = ही, मे = मुझको, कवयः = बुद्धिमानों ने, चित् = भी, आहुः = कहा, अयम् = यह, ह = निश्चित अर्थ का वाचक एक निपात, तुभ्यम् = तुम पर, वरुणः = वरुण देवता, हृणीते = क्रोध करता है।

**हिन्दी व्याख्या —** हे वरुण देखने की इच्छा से उस पाप को (मैं तुमसे) पूछता हूँ; विविध रूप से पूछने के लिये (मैं) विद्वानों के पास जाता हूँ। बुद्धिमानों ने एक ही (उत्तर) कहा — 'यह वरुण ही तुम पर क्रोध करता है'।



## वरुण सूक्त (मण्डल-७, सूक्त-८६)

व्याकरण —

दिदृक्षुः = दृश्+सन्+उ= दिदृक्षु।

पृच्छे = प्रच्छ् धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन। वैदिक रूप।

विपृच्छम् = वि+प्रच्छ्+अम् = विपृच्छम्।

चिकितुषः = कित्+क्वसु= चिकिन्वम्। द्वितीया विभक्ति, बहुवचन।

विशेष = मैक्डानल ने 'कवय' का अर्थ 'ऋषि' (Sages) किया है।

मण्डल-७

सूक्त-८६

मन्त्र-४

संहिता पाठ

किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत्स्तोतारं जिघांससि सखायम्।  
प्र तन्मे वोचो दूळभ स्वधावोऽव त्वानेना नमसा तुर इयाम्॥४॥

पदपाठ —

किम्। आगः। आस। वरुण। ज्येष्ठम्। यत्। स्तोतारम्। जिघांससि। सखायम्॥ प्र।  
तत्। मे। वोचः। दुःऽदळभ। स्वधाऽवः। अव। त्वा। अनेनाः। नमसा। तुरः। इयाम्॥  
अन्वय — (हे) वरुण किम् ज्येष्ठम् आगः आस यत् सखायं स्तोतारं जिघांससि। (हे)  
दूळभ स्वधावः (वरुण) तत् मे प्र वोचः। अनेनाः तुरः नमसा त्वा अव इयाम्।

दयानन्द भाष्य —

(वरुण) हे मङ्गलस्वरूप परमात्मन्! तत् (किम्) किम् (ज्येष्ठम्) महत्  
(आगः) पापम् = अपराधः (आस) बभूव मया (यत्) येन हेतुना (सखायम्) मित्रभूतम्  
(स्तोतारम्) स्वोपासकम् (जिघांससि) हन्तुमिच्छसि (तत्) तत्पापम् (प्र) विशेषेण (मे) मां  
प्रति (वोचः) ब्रूयाः (दूळभ) हे जेतुमशक्य! (त्वा) त्वम् (स्वधावः) सुतेजोमयोऽसि, अतः  
(अनेनाः) मां निष्पापं विधाय (अव) रक्ष, यतोऽहम् (नमसा) नम्रतया (तुरः) सत्वरम् (इयाम्)  
त्वां प्राप्नुयाम्॥४॥

हि० भावार्थ — इस मन्त्र में उपासक अपने पापों के मार्जन निमित्त परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे महाराज! वह मैंने कौन बड़े पाप किये हैं जिनके कारण मैं आपको प्राप्त नहीं हो सकता अथवा आपकी प्राप्ति में विघ्नकारी हैं। हे मित्ररूप परमेश्वर! आप मेरा हनन न करते हुए अपनी कृपा द्वारा उन पापों से मुझे निर्मुक्त करें ताकि मैं शीघ्र ही आपको प्राप्त होऊँ।

तात्पर्य यह है कि पुरुष जब तक अपने दुर्गुणों को आप अनुभव नहीं करता तब तक वह अपना सुधार नहीं कर सकता मनुष्य का सुधार तभी होता है जब वह अपने आपको आत्मिक उन्नति में निर्बल पाता है, परमात्मा आज्ञा देते हैं कि जिज्ञासु जनो! तुम अघमर्षणादि मन्त्रों के पाठ द्वारा अपने आपको पवित्र बनाकर मेरे समीप आओ, तुम्हें आनन्द प्राप्त होगा॥४॥



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****सायण भाष्य -**

हे वरुण ज्येष्ठम् अधिकं किमाग आस कोऽपराधो मया कृतो बभूव । यत् येन आगसा सखायं मित्रभूतं सन्तं स्तोतारं जिघांससि हन्तुमिच्छसि । हे दूळभ दुर्दभान्यैर्वाधितुमशक्य स्वधावः तेजस्विन् हे वरुण तत् आगः मे मह्यं प्र वोचः प्रब्रूहि । एवं सति तस्य प्रायश्चित्तं कृत्वा अनेनाः अपापः सन्नहं तुरः त्वरमाणः शीघ्रः नमसा नमस्कारेण हविषा वा त्वाम् अव इयाम् उपगच्छेयम् ।

शब्दा० - किम् = क्या, कौन, आगः = पाप, आस = था, वरुण = हे वरुण, ज्येष्ठम् = बड़ा, यत् = जिसके कारण, स्तोतारम् = स्तुति करने वाले को, जिघांससि = मारना चाहते हो, सखायम् = मित्र को, तत् = उसको, मे = मुझसे, प्र वोचः = कहो, दूळभ = हे कभी न सताये जाने वाले, स्वधावः = हे शक्तिशाली, त्वा = तुम्हारे पास, अनेनाः = पापरहित होकर, नमसा = प्रार्थना द्वारा, तुरः = शीघ्र, इयाम् = पहुँचूं।

हिन्दी व्याख्या - हे वरुण, कौन वह महान् पाप था, जिससे कि तुम (अपनी स्तुति करने वाले मित्र को मारना चाहते हो; हे कभी न सताये जाने वाले, शक्तिशाली (वरुण); उसको मुझसे कहो (जिससे मैं) पापरहित (होकर) शीघ्र ही प्रार्थना द्वारा तुम्हारे पास पहुँचूं।

**व्याकरण -**

आस = अस् धातु, लिट् लकार, प्र०पु०, एक० । वैदिक रूप ।

जिघांसति = हन् + सन् = जिघास् । लट् लकार, प्र०पु०, एकवचन ।

दूळभ = दुर् + दम्भ + खल् = दूळभ । वैदिक रूप ।

इयाम् = इ धातु, विधिलिङ् प्र०पु०, एक० ।

विशेष = मैक्डानल के अनुसार अधिक = प्रमुख (chief), दूळभ = जिसे ठगा न जा सके । (hard to deceive) स्वधावः = आत्मनिर्भर (self dependent) और नमसा = पूजा करके (with adoration) ।

**मण्डल-७****सूक्त-८६****मन्त्र-५****संहिता पाठ**

अवं द्रुग्धानि पित्र्यां सृजा नोऽव या वयं चकृमा तनूभिः ।

अवं राजन्पशुतृपं न तायुं सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम् ॥५॥

**पदपाठ -**

अवं । द्रुग्धानिं । पित्र्यां । सृज । नः । अवं । या । वयम् । चकृम । तनूभिः । अवं । राजन् । पशुऽतृपम् । न । तायुम् । सृज । वत्सम् । न । दाम्नः । वसिष्ठम् ॥

अन्वय - पित्र्या (प्राप्तानि) नः द्रुग्धानि अव सृजः, या (द्रुग्धानि) वयं तनूभिः चकृम् अव (सृज) । (हे) राजन्, पशुतृपं तायुं न, दाम्नः वत्सं न वसिष्ठम् अव सृज ।



दयानन्द भाष्य -

(राजन्) भो विराजमान भगवन्! भवान् (द्रुग्धानि, पित्र्या) मातापित्रोः प्रकृतेः (नः) आगता अस्माकं दोषाः, तथा (या) यानि (वयम्) वयम् (तनूभिः) शरीरेण (चकृम) अकार्ष (अव) तानि मुञ्चतु (पशुतृपम्) पशूनामिवास्माकं विषयवासनाः तथा (वायुं, न) तत्स्कराणामिव मद्भावाः सन्ति तान् (सृज) अपनयतु (दाम्नः) रज्जुना बद्धेन (वत्सम्) वत्सेन सदृशम् (वसिष्ठम्) विषयानुविद्धं माम् (अवसृज) मुञ्चतु ॥५॥

हि०भावार्थ - इस मन्त्र में विषयवासना में लिप्त जीवन की ओर से यह प्रार्थना की गई है कि हे जगदीश्वर! जो स्वभाव मेरे माता-पिता की ओर से मुझ में आया है अथवा मैंने अपने दुष्कर्मों से जो प्रकृति बना ली है उसको आप अपनी कृपा से दूर करके मुझको अपना समीपी बनावें, जिस प्रकार रज्जु से बंधा हुआ वत्स अपनी माता का दूध नहीं पी सकता, इसी प्रकार विषयवासनारूप रज्जु में बँधा हुआ मैं आपके स्वरूपरूपी कामधेनु का दुग्धपान नहीं कर सकता। हे प्रभो! आपसे विमुख करने वाले विषयवासनारूप बन्धनों से मुक्त करके मुझको आनन्द का भोक्ता बनायें, यह मेरी आपसे प्रार्थना है ॥५॥

सायण भाष्य -

हे वरुण पित्र्या पितृतः प्राप्तानि नः अस्मदीयानि द्रुग्धानि द्रोहान् बन्धनहेतुभूतान् अव सृज विमुञ्च। अस्मत्तो विश्लेषय। वयं च या यानि द्रोहजातानि तनूभिः शरीरैः चक्रम कृतवन्तः स्म तानि च अव सृज। हे राजन् राजमान वरुण पशुतृपं न तायु स्तैन्यप्रायश्चित्तं कृत्वावसाने घासादिभिः पशूनां तर्पयितारं स्तेनमिव दाम्नः रज्जोः वत्सं न वत्समिव च वसिष्ठं मा बंधकात् पापात् अव सृज विमुञ्च।

शब्दा० - द्रुग्धानि = पापों से, पित्र्या = पिता से प्राप्त, अवसृज = मुक्त करो, नः = हमको, अव(अव सृज) = मुक्त करो, या = जो, वयम् = हमने, चकृम = किया है, तनूभिः = शरीर से, राजन् = हे राजन्, पशुतृपम् = पशु को घसादि से तृप्त करने वाले, न = जिस तरह, तायुम् = चोर को, अव सृज = मुक्त करो, वत्सम् = बछड़े को, न = जिस तरह, दाम्नः = रस्सी से, वसिष्ठम् = वसिष्ठ को ॥

हिन्दी व्याख्या - पिता द्वारा (प्राप्त) पापों से मुक्त करो, उन (पापों) से जिनको हमने स्वयं अपने शरीर से किया है, मुक्त करो। हे राजन्, जिस प्रकार पशु को (प्रायश्चित्त के बाद घासादि से) तृप्त करने वाले चोर को तथा बछड़े को रस्सी से (मुक्त किया जाता है उसी प्रकार) वसिष्ठ को (पापों से) मुक्त करो।

व्याकरण -

पित्र्या = पितृ+यत्=पित्र्य। द्वितीया का बहुवचन। वैदिक रूप।

द्रुग्धानि = द्रुह+क्त=द्रुग्ध। द्वितीया का बहुवचन। नपुंसक लिङ्ग।

चकृम = कृ धातु, लृट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन।

वसिष्ठम् = 'अतिशयेन वशी' अर्थ में वाशन् = इष्टन्।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

विशेष = मैक्डानल ने 'पशुतृपम्' का अर्थ 'पशुओं को चुराने वाला चोर' (cattle stealing thief) किया है।

मण्डल—७

सूक्त—८६

मन्त्र—६

संहिता पाठ

न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचिन्तिः ।  
अस्ति ज्यायान्कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता ॥६॥

पदपाठ —

न । सः । स्वः । दक्षः । वरुण । ध्रुतिः । सा । सुरा । मन्युः । विभीदकः । अचिन्तिः ॥ अस्ति ।  
ज्यायान् । कनीयसः । उपऽअरे । स्वप्नः । चन । इत् । अनृतस्य । प्रऽयोता ॥

अन्वय — (हे) वरुण, सः स्वः दक्षः न (किन्तु) सा ध्रुतिः सुरा मन्युः विभीदकः अचिन्तिः ।  
कनीयसः उपारे ज्यायान् अस्ति । स्वप्नः चन इत् अनृतस्य प्रयोता ।

दयानन्द भाष्य —

(वरुण) भोः स्वशक्त्या विश्वस्य वेष्टयितः भगवन्! (स्वः) स्वप्रकृत्या (दक्षः) यत्किञ्चित्कर्म क्रियते (सः) तदेव पापप्रवृत्त्याम् कारणं (न) न भवति, किम्पुनस्तदुच्यते (ध्रुतिः) मन्दकर्मसु या दृढा प्रवृत्तिः (सा) सैव (सुरा) सुरावत्त्वाद्धेतोः (मन्युः) क्रोध एव तत्प्रवृत्तौ कारणम् (विभीदकः) अन्यदपि यत् द्यूतादिव्यसनं, तथा (अचिन्तिः) अज्ञानं च (अस्ति) विद्यते (ज्यायान्, कनीयसः, उपारे) अस्य तुच्छ जीवस्य हृदि सर्वज्ञः पुरुषोऽप्यस्ति यः सुकर्मविधान् सुकर्म कारयितुं प्रोत्साहयति दुष्कर्मविधातृन् दुष्कर्म कारयितुं च, (स्वप्नः, चन, इत्) स्वप्नावस्थायां कृतमपि कर्म (अनृतस्य, प्रयोता) अनृतस्य प्रयोजकं भवति ॥६॥

हि०भावार्थ — अपने स्वभाव द्वारा किया हुआ कर्म ही पाप की ओर नहीं ले जाता किन्तु (१) जीव की प्रकृति = स्वभाव (२) मन्दकर्म, (३) अज्ञान, (४) क्रोध (५) ईश्वर का नियमन, यह पांच जीव की सद्गति वा दुर्गति में कारण होते हैं, जैसा कि कौषीतकी उप० में वर्णन किया है कि "एष एव साधुकर्म कारयति, तं यमधो निनीयते" ॥कौ० ३।३।८॥ = जिसको वह देव अधोगति को प्राप्त करना चाहता है उसको नीचे की ओर ले जाता और जिसको उच्च बनाना चाहता है उसको उन्नति के पथ पर चलाता है, यहाँ पर यह शङ्का होती है कि ऐसा करने से ईश्वर में वैषम्य तथा नैर्घृण्यरूप दोष आते हैं अर्थात् ईश्वर ही अपनी इच्छा से किसी को नीचा और किसी को ऊँचा बनाता है? इसका उत्तर यह है कि ईश्वर पूर्वकृत कर्मों द्वारा फलप्रदाता है और उस फल से स्वयं सिद्ध ऊँच नीचपन आ जाता है, जैसे किसी पुरुष को यहाँ नीचकर्म करने का दण्ड मिला, उतने काल जो वह स्वकर्म करने से वञ्चित रहा, इससे वह दूसरों से पीछे रह गया, इस भाव से ईश्वर जीव की उन्नति तथा अवनति में कारण होते हैं, इसी भाव से जीव को कर्म करने में स्वतन्त्र



और भोगने में परतन्त्र माना है, कर्मानुसार फल देने से ईश्वर में कोई दोष नहीं आता ॥६॥

**सायण भाष्य —**

हे वरुण सः स्वो दक्षः पुरुषस्य स्वभूतं तद्वलं पापप्रवृत्तौ कारणं न भवति । किं तर्हि धृतिः स्थिरा उत्पत्ति समय एव निर्मिता दैवगतिः कारणम् । 'धु गतिस्थैर्ययोः' इति धातुः सा च धृतिर्वक्ष्यमाणरूपा । सुरा प्रमादकारिणी मन्युः क्रोधश्च गुर्वादिविषयः सन्ननर्थहेतुः । विभीदकः द्युतसाधनोऽक्षः । स च द्यूतेषु पुरुषं प्रेरयन्ननर्थहेतुर्भवति । अचित्तिः अज्ञानमविवेककारणम् । अत ईदृशी दैवकृप्तिरेव पुरुषस्य पापप्रवृत्तौ कारणम् । अपि च कनीयसः अल्पस्य हीनस्य पुरुषस्य पापप्रवृत्तौ उपारे उपागते समीपे नियन्तृत्वेन स्थितः ज्यायान् अधिक ईश्वरः अस्ति । स एव तं पापे प्रवर्तयति । तथा चाम्नातम् — 'एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (कौ० उ ३.८) इति । एवं च सति स्वप्नश्चन स्वप्नोऽपि अनृतस्य पापस्य प्रयोता प्रकर्षण मिश्रयिता भवति । इत् इति पूरकः । स्वप्ने कृतैरपि कर्मभिर्बहूनि पापानि जायन्ते किमु वक्तव्यं जाग्रति कृतैः कर्मभिः पापान्युत्पद्यन्त इति । अतो ममापराधो दैवागत इति हे वरुण त्वया क्षन्तव्य इति भावः ।

**शब्दा० —** न = नहीं, सः = वह, स्वः = अपनी, दक्षः = शक्ति, वरुण = हे वरुण, धृतिः = दैव, सा = वह, सुरा = शराब, मन्युः = क्रोध, विभीदकः = जुआ के पाशे, अचित्तिः = अज्ञान, अस्ति = है, ज्यायान् = बड़े, कनीयसः = छोटे के, उपारे = पाप कार्य में ले जाने के लिए, स्वप्नः = स्वप्न, चन = भी, इत् = पादपूरण के लिये एक निपात, अनृतस्य = बुराइयों का, प्रयोता = प्रवृत्त करने वाला, संयुक्त करने वाला ।  
**हिन्दी व्याख्या —** हे वरुण, वह अपनी शक्ति नहीं (बल्कि) दैव, शराब, क्रोध, जुआ, तथा अज्ञान है (जिससे मनुष्य पाप करता है); छोटे के पाप कार्य में बड़े (भी कारण) होते हैं; स्वप्न भी बुराइयों से संयुक्त करने वाला है ।

**व्याकरण —**

**धृतिः** = धृ + क्तिन् ।

**अचित्तिः** = चित् + क्तिन् = चित्ति । न + चित्ति = अचित्ति

**कनीयसः** = अल्प + ईयसुन् । अल्प को कन् आदेश = कनीयस् । षष्ठी का एकवचन ।

**ज्यायान्** = अयमनयोः अतिशयेन प्रशस्यः अर्थ में प्रशस्य + ईयसुन् । प्रशस्य शब्द को ज्य तथा ईयसुन् के ई को आस आदेश = ज्यायस् । प्रथमा का एकवचन ।

**प्रयोता** = प्र + यु + तृच् = प्रयोतृ । प्रथमा का एकवचन ।

**विशेष —** मैक्डानल के अनुसार दक्षः = चरित्रदोष (seduction) । इस मन्त्र के अन्तिम दो पदों का मैक्डोनल के अनुसार अर्थ इस प्रकार है — छोटे के किये गये पाप का जिम्मेदार बड़ा है । नींद भी पाप से रक्षा नहीं करती (the elder is in the offence of the younger; not even sleep is the warder of wrong) ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

मण्डल-७

सूक्त-८६

मन्त्र-७

संहिता पाठ

अरं दासो न मीळहुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः  
अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति ॥७॥

पदपाठ -

अरम् । दासः । न । मीळहुषे । कराणि । अहम् । देवाय । भूर्णये । अनागाः । । अचेतयत् ।  
अचितः । देवः । अर्यः । गृत्सम् । राये । कविऽतरः । जुनाति । ।

अन्वय - मीळहुषे भूर्णये देवाय अनागाः अहं दासः न अरं कराणि । अर्यः देवः अचितः  
अचेतयत्; कवितरः गृत्सं राये जुनाति ।

दयानन्द भाष्य -

(अहम्) तवोपासकोऽहम् (अनागाः) निरपराधः सन् (देवाय) परमात्मानम् (दासः,  
न) सेवक इव (अरं, करवाणि) स्वकामनायै प्रार्थये (मीळहुषे) स कर्मफलदाता (अचितः,  
अचेतयत्) अजानतश्चेतयतु (अर्यः) विश्वेशः (देवः) दिव्यगुणसम्पन्नः (कवितरः) महाविचक्षणः  
(गृत्सम्) स्वोपासकं (राये, जुनाति) सर्वविधधनाप्तये प्रेरयतु ॥७॥

हि० भावार्थ - परमात्मा के अज्ञानियों का पथ प्रदर्शक होने से जीव अपने कल्याण की  
प्रार्थना करता हुआ यह कथन करता है कि हे परमात्मदेव! मैं आपके निमित्त यजन करता  
हुआ प्रार्थी हूँ कि कृपा करके आप मेरे कल्याणार्थ मुझे ऐश्वर्य सम्पन्न करें ॥७॥

सायण भाष्य -

मीळहुषे सेवत्रे कामानां वर्षित्रे भूर्णये जगतो भर्त्रे देवाय दानादि गुणयुक्ताय  
वरुणाय अनागाः तत्प्रसादादपापः सन् अहम् अरम् अलं पर्याप्तं कराणि परिचरणं करवाणि ।  
दासो न यथा भृत्यः स्वामिने सम्यक् परिचरति तद्वत् । अर्यः स्वामी स च देवः अचितः  
अजानतोऽस्मान् अचेतयत् चेतयतु प्रज्ञापयतु । गृत्सं स्तोतारं च कवितरः प्राज्ञतरो देवः राये  
धनाय धनप्राप्त्यर्थं जुनाति, जुनातु प्रेरयतु । एकादशिने वारुणे पशौ 'अयम्' इति  
पुरोडाशस्यानुवाक्या । सूत्रितं च - 'अयं सु तुभ्यं वरुण स्वधाव एवा वन्दस्व वरुणं बृहन्तम्'  
(आश्व० श्रौ० ३.७) इति ॥

शब्दा० - अरम् = पर्याप्त रूप में, दासः = नौकर, न = तरह, मीळहुषे = कामनाओं  
को पूर्ण करने वाले, कराणि = करूँ, अहम् = मैं, देवाय = देव की, भूर्णये = जगत् का  
भरण-पोषण करने वाले, अनागाः = पापरहित होकर, अचेतयत् = प्रबुद्ध करे, अचितः  
= अज्ञान से, देवः = देव, अर्यः = सबका स्वामी, गृत्सम् = स्तुति गायक को, राये =  
धन के लिये, कवितरः = बुद्धिमान्, जुनाति = प्रेरित करे ।

हिन्दी व्याख्या - कामनाओं को पूर्ण करने वाले तथा जगत् का भरण पोषण करने वाले  
देव की मैं पापरहित (होकर) पर्याप्त मात्रा में नौकर की तरह सेवा करूँ । (सबका)



संरक्षक देव अज्ञान से प्रबुद्ध करे; स्तुति गायक को वह बुद्धिमान् धन के लिये प्रेरित करे।  
व्याकरण —

- भूर्णये = भृ+क्तिन् । 'ऋ' को छान्दस 'उर्' आदेश, दीर्घ, 'रदाभ्यां' विष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' से णत्व = भूर्णि। चतुर्थी विभक्ति का एकवचन।  
कराणि = कृ धातु, लोट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन। वैदिक रूप।  
अचेतयम् = णिजन्त चित् धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।  
जुनाति = जु धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।  
विशेष = मैकडानल के अनुसार भूर्णि = क्रुद्ध (angry), गृत्सम = अनुभवी व्यक्ति (experienced man) और जुनाति = शीघ्रता करता है (speeds)

मण्डल-७

सूक्त-८६

मन्त्र-८

संहिता पाठ

अयं सु तुभ्यं वरुण स्वधावो हृदि स्तोम उपश्रितश्चिदस्तु।  
शं नः क्षेमे शम् युगे नो अस्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥८॥

पदपाठ —

अयंम्। सु। तुभ्यंम्। वरुण। स्वधावः। हृदि। स्तोमः। उपश्रितः। चित्। अस्तु। नः।  
क्षेमे। शम्। ॐ इति। युगे। नः। यूयम्। पात। स्वस्तिभिः। सदा। नः।  
अन्वय — (हे) स्वधावः वरुण! तुभ्यं (क्रियमाणः) अयं स्तोमः हृदि उपश्रितः चिद अस्तु।  
नः क्षेमे शम् उ, नः युगे (च शम्) अस्तु। (हे देवाः) यूयं स्वस्तिभिः नः सदा पातः।

दयानन्द भाष्य —

(वरुण) हे विश्वभजनीय परमात्मन्! (तुभ्यम्) त्वाम् (अयम्) अयम् (सु, स्तोमः) सुयज्ञः (उपश्रितः, अस्तु) प्रापयतु (स्वधावः) भो अन्नादिप्रदातः! (चित्) चेतनरूप! (हृदि) इयं मम हृदा प्रार्थनाऽस्तिः तद्रक्षा च क्रियताम्, येन (नः) मह्यम् (शं) सुखम् (अस्तु) उत्पद्यताम्, तथा (यूयम्) भवान् (स्वस्तिभिः) मङ्गलकरीभिर्वाग्भिः (नः) अस्मान् (सदा) शश्वत् (पात) रक्षतु॥८॥

हि०भावार्थ — इस मन्त्र में यह प्रार्थना की गई है कि हे परमात्मन्! यह हमारा किया हुआ यज्ञ आपको प्राप्त हो, आप कृपा करके हमारे योग क्षेम की रक्षा करते हुए हमारे भावों को पवित्र करें, अधिक क्या, जो परमात्मा में सदैव रत रहते हैं उनके योगक्षेम निर्वाह के लिए परमात्मा स्वयं उद्यत होते हैं॥८॥

सायण भाष्य —

हे स्वधावः अन्नवन् वरुण तुभ्यं त्वदर्थं क्रियमाणः अयम् एतत्सूक्तात्मकं स्तोमः स्तोत्रं हृदि त्वदीये हृदये सु सुष्ठु उपाश्रितः उपगतः समवेतः अस्तु। चित् इति पूरकः। अप्राप्तस्य प्रापणं योगः प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमः। नः अस्मदीये क्षेमे रक्षणे शम्



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

उपद्रवाणां शमनम् अस्तु। योगे च नः अस्मदीये प्रापणे शमु शममेवास्तूपद्रवाणाम्। हे वरुणादयो देवाः नः अस्मान् सर्वदा स्वस्तिभिः अभिनाशैः पात रक्षत।।

शब्दा० — अयम् = यह, सु = सुन्दर, तुभ्यम् = तुम्हारे लिए, वरुण = हे वरुण, स्वधावः = हे शक्तिशाली, हृदि = हृदय में, स्तोमः = स्तोत्र, उपश्रितः = स्थित, चित् = पदपूरण के लिए प्रयुक्त निपात, अस्तु = हो, शम् = याण, नः = हमारा, क्षेमे = रक्षा में, शम् = कल्याण, उ = निश्चित अर्थ का वाचक एक निपात, योगे = प्राप्ति में, नः = हमारा, अस्तु = हो, यूयम् = तुम लोग, पात = रक्षा करो, स्वस्तिभिः = आशीर्वाद से, सदा = सर्वदा, नः = हमारी।

हिन्दी व्याख्या — हे शक्तिशाली वरुण, तुम्हारे लिए (निर्मित) यह स्तोत्र तुम्हारे हृदय तक अच्छी प्रकार से पहुँचे। रक्षा में हमारा कल्याण हो, प्राप्ति में हमारा कल्याण हो। हे देवो, तुम लोग अपने आशीर्वाद से हमारी सर्वदा रक्षा करो।

व्याकरण —

उपश्रितः = उप+श्रि+क्त = उपश्रित।

पात = पा धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन।

विशेष = मैक्डानल के अनुसार स्वधावः = आत्म निर्भर (self dependent)। क्षेमे शम् = प्राप्त की रक्षा (prosperity in possession) और योगे शम् = अप्राप्त (prosperity in aquisition)।



## मण्डूक सूक्त

ऋषि-वसिष्ठ

देवता-मण्डूकाः

छन्द-अनुष्टुप / त्रिष्टुप

मण्डल-७

सूक्त-१०३

मन्त्र-१

संहिता पाठ

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।

वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूकां अवादिषुः ॥१॥

पदपाठ -

संवत्सरम् । शशयानाः । ब्राह्मणाः । व्रतचारिणः । वाचम् । पर्जन्यजिन्विताम् । प्र । मण्डूकाः । अवादिषुः ॥

अन्वय - व्रतचारिणः ब्राह्मणाः संवत्सरम् शशमानाः मण्डूकाः पर्जन्यजिन्विताम् वाचम् प्र-अवादिषुः ॥

दयानन्द भाष्य -

पदार्थ - (ब्राह्मणः) ब्रह्म वेदस्तत्सम्बन्धिनः (व्रतचारिणः) व्रतशीलाः (संवत्सरं शशयानाः) संवत्सरं यावत् सुस्थिता भवन्तः (पर्जन्यजिन्विताम्) तर्पकेण परमात्मना संबद्धां (वाचम्) वाणी (प्रावादिषुः) वदितुं प्राक्रमिषत (मण्डूकाः) कथंभूतास्ते मण्डयन्तीति मण्डूका वेदानां मण्डयितारः ।

भावार्थ - वृष्टिकाल में वेदपाठ का व्रत करने वाले ब्राह्मण वेदपाठ का व्रत करते हैं और उस समय में प्रायः उन सूक्तों को पढ़ते हैं जो तृप्तिजनक हैं, दूसरे पक्ष में इस मन्त्र का यह भी अर्थ है कि वर्षा ऋतु में मण्डन करने वाले जीव वर्षा ऋतु में ऐसी ध्वनि करते हैं मानों एक वर्ष के अनन्तर उन्होंने अपने मौनव्रत को उपार्जन करके इसी ऋतु में बोलना प्रारम्भ किया है। तात्पर्य यह है कि इस मन्त्र में परमात्मा ने यह उपदेश किया है कि जिस प्रकार क्षूद्र जन्तु भी वर्षा काल में आह्लादजनक ध्वनि करते हैं अथवा यों कहो कि परमात्मा के यश को गायन करते हैं एवं हे वेदज्ञ लोगों! तुम भी वेद का गायन करो मालूम होता है कि श्रावणी का उत्सव जो भारतवर्ष में प्रायः वैदिक सर्वत्र मनाते हैं यह वेदपाठ से ईश्वर के महत्त्व गायन का उत्सव था ॥१॥

सायण भाष्य -

अत्र निरुक्तं - 'वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव तं मण्डूका । अन्वमोदन्त स मण्डूकाननुमोदमानान् दृष्ट्वा तुष्टाव' (निरु० १.६) इति । 'मण्डूका मज्जूका मज्जनान्मदतेर्वा मोदतिकर्मणो मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मणो मण्डयतेरिति वैयाकरणा मण्ड एषामोक इति वा मृण्डो मदेर्वा मुदेर्वा तेषामेषा भवति' (नि० १.५) इति । व्रतचारिणः व्रतं संवत्सर सत्रात्मकं



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

कर्माचरन्तः ब्राह्मणाः । लुप्तोपममेतत् । एवंभूता ब्राह्मणा इव संवत्सरं शरत्प्रभृति आ वर्षर्तोरकं संवत्सरं शशयानाः । शिश्याना वर्षणार्थं तपश्चरन्त इव बिल एव सन्त एते मण्डूकाः पर्जन्यजिन्वितां पर्जन्येन प्रीतां यथा वाचा पर्जन्यः प्रीतो भवति तादृशीं वाचं प्र अवादिषुः प्रवदन्ति ।

शब्दार्थ — संवत्सरम् = वर्ष भर, शशयानाः = तपस्या करते हुए, ब्राह्मणाः = ब्राह्मणों (की तरह), व्रतचारिणः = व्रत का आचरण करने वाले, वाचम् = शब्द, पर्जन्यजिन्विताम् = पर्जन्य को प्रिय लगने वाला, मण्डूकाः = मेढ़क, प्र अवादिषुः = बोल रहे हैं ।

हिन्दी व्याख्या — व्रत का आचरण करने वाले ब्राह्मणों की तरह वर्ष भर (वर्षा के लिये) तपस्या करते हुये की तरह (बिल में) पड़े हुए मेढ़क पर्जन्य को प्रिय लगने वाला वचन बोल रहे हैं ।

व्याकरण —

व्रतचारिणः = व्रतं चरन्ति इति ते । व्रत+चर्+णिनि ३ व्रतचारिन् । प्रथमा का बहुवचन ।  
 शशयानाः = शी+कानच् = शशयान वैदिक रूप ।  
 अवादिषु = वद् धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।  
 जिन्विताम् = जिन्वि स्तुतौ+क्त+टाप् = जिन्विता ।

विशेष = मैकडानल के अनुसार पर्जन्यजिन्विताम् = मेघों से उद्बोधित होने वाली (roused by parjanya) । इस सूक्त का पाठ अकाल के समय वर्षा की प्रार्थना करने के निमित्त किया जाता है । वसिष्ठ ऋषि वर्षा के लिये मेघों की स्तुति करते हैं तथा उस स्तुति का मण्डूक अनुमोदन करते हैं ।

मण्डल—७

सूक्त—१०३

मन्त्र—२

संहिता पाठ

दिव्या आपो अभि यदेनमायन्दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम् ।

गवामह न मायुर्वत्सिनीनां मण्डूकानां वग्नुरत्रा समेति ॥२॥

पदपाठ —

दिव्याः । आपः । अभि । यत् । एनम् । आयन् । दृतिम् । न । शुष्कम् । सरसी इति । शयानम् ॥  
 गवाम् । अहं । न । मायुः । वत्सिनीनाम् । मण्डूकानाम् । वग्नुरः । अत्र । सम् । एति ॥२॥

अन्वय — दिव्याः, आपः अभि यत् एनम् आयन् दृतिम् न शुष्कम् सरसी शयानम् गवाम् अह नः मायुः वित्सिनीनाम् मण्डूकानाम् वग्नुरः अत्र समेति ।

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (अत्र) आस्मिन् वर्षाकाले (मण्डूकानाम्) तस्य मण्डनकर्तृणां जन्तूनाम् (वग्नुरः)



## मण्डूक सूक्त ( मण्डल-७, सूक्त-१०३ )

शब्दः (समेति) सम्यक् संचित्य प्रकाशते (न) यथा (वत्सिनीनाम्) प्रमारूपवृत्तिभिः सह वर्तमानानां (गवाम्) इन्द्रियाणाम् (मायुः) ज्ञानं यथार्थं भवति (न) यथा च (दृतिं, शुष्कम्) शुष्कं जलपात्रं जलं प्राप्य पुनरपि आर्द्रं भवति तथैव (दिव्याः आपः यत्, एनम्) द्युलोकजा आपो यदा (अभि) सर्वतो मण्डूकगणं (सरसी, शयानम्) शुष्कसरसि स्वपन्तम् (आयन्) प्राप्नुवन्ति तदा सोऽपि पात्रवत् आर्द्रतां यादि ॥२॥

**भावार्थ —** इस मन्त्र में यह बोधन किया है कि वर्षाकाल के साथ मेंढकादि जीवों का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है जैसा इन्द्रियों का इन्द्रियों की वृत्तियों के साथ। जैसे इन्द्रियों की यथार्थ ज्ञानरूप प्रभाआदि वृत्तियों इन्द्रियों को मण्डन करती हैं इसीप्रकार ये वर्षाऋतु को मण्डन करते हैं।

दूसरी बात इस मन्त्र से यह स्पष्ट होती है कि मण्डूकादियों का जन्म मैथुनी सृष्टि के समान मैथुन से नहीं होता, किन्तु प्रकृतिरूप बीज से ही वे फिर उत्पन्न हो जाते हैं, इससे अमैथुनी सृष्टि होने का नियम भी परमात्मा ने इस मन्त्र में दर्शा दिया। जो लोग यह कहा करते हैं कि वेदों में कोई अपूर्वता नहीं उसमें तो मेंढक और मत्स्यों का बोलना आदिक भी लिखा है, उनको ऐसे सूक्त ध्यानपूर्वक पढ़ने चाहिये। इन वर्षाऋतु के सूक्तों ने इस बात को स्पष्ट कर दिया कि जिस उत्तमता के साथ वर्षाऋतु का वर्णन वेद में है वैसा आज तक किसी कवि ने नहीं किया, अर्थात् जो प्राकृत नियमों की अपूर्वता, ईश्वरीय ज्ञान वेद कर सकता है उसको जीव का तुच्छ ज्ञान कैसे कर सकता है, जीव का ज्ञान तो केवल वेदों से एक जल के बिन्दु के समान एक अंश को लेकर वर्णन करता है।

जो लोग यह कहा करते हैं कि ऋग्वेद सिन्धु नदी अर्थात् अटक के आस पास बना, उनको इस सूक्त से यह शिक्षा लेनी चाहिये कि इसमें तो उन देशों का वर्णन पाया जाता है, जिनमें घोर वृष्टि होती है और सिन्धुनदी के तट पर तो वर्षाऋतु ही नहीं होती। कभी-कभी आगन्तुक वृष्टि होती है। परन्तु ऐसे निर्मूल आक्षेपों की वेदों में क्या कथा? इनमें तो लोक लोकान्तरों के सब पदार्थों का वर्णन पाया जाता है फिर एकदेशी होने का आक्षेप निर्मल नहीं तो क्या?

**सायण भाष्य —**

दिव्याः दिवि भवाः आपः दृतिं न दृतिमिव शुष्कं नीरसं सरसी। महत्सरः सरसी। गौरादिलक्षणो ङीष्। सरस्याम्। 'सुपां सुलुक्०' इति सप्तम्या लुक्। 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' इति प्रगृह्यसंज्ञा। महति सरसि निर्जले धर्मकाले शयानं निवसन्तम् एनं मण्डूकगणं यत् यदा आयन् अभिगच्छन्ति तदा अत्र अस्मिन् वर्षणे पर्जन्ये वा सति वत्सिनीनां वत्सयुक्तानां गवां न मायुः गवां शब्द इव मण्डूकानां वग्नुः शब्दः समेति संगच्छते। यथा वत्सैः संगतासु गोषु महान् घोषो जायते तद्वद्वृष्टे पर्जन्ये महान्



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

कलकल-शब्दो जायत इत्यर्थः । अह इति पूरकः ।।

शब्दा० — दिव्याः = आकाश का, आपः = पानी, अभि = ओर, यत् = जब, एनम् = इनके झुण्ड पर, आयन् = आता है, दृतिम् = मसक, न = तरह, शुष्कम् = सूखे, सरसी = सरोवर में, शयानम् = पड़े हुए, गवाम् = गायों की, अह = पादपूरण के लिये प्रयुक्त एक निपात, नः = तरह, मायुः = शब्द, वत्सिनीनाम् = बछड़ों वाली, मण्डूकानाम् = मण्डूकों की, वग्नः = टर्-टर् की आवाज, अत्र = यहाँ, समेति = एक साथ उठती है ।।  
हिन्दी व्याख्या — सूखे मसक की तरह बिना पानी के, सरोवर में पड़े हुये मेढकों के समूह पर जब वर्षा का पानी आता है, उस समय, मेढकों की टर्-टर् की आवाज, बछड़े के साथ गायों की आवाज की तरह एक साथ उठती है ।

व्याकरण —

शयानम्	= शी+शानच् = शयान ।
आयन्	= इ धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।
वत्सिनीनाम्	= वत्स+इनि+ङीप् = वत्सिनी । षष्ठी का बहुवचन ।
समेति	= सम्+इ धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एक वचन ।
वग्नः	= 'वच परिभाषणे' से औणादिक नु प्रत्यय ।

मण्डल—७

सूक्त—१०३

मन्त्र—३

संहिता पाठ

यदीमेनाँ उशतो अभ्यवर्षीत् तृष्यावतः प्रावृष्यागतायाम् ।  
अख्खलीकृत्यां पितरं न पुत्रो अन्यो अन्यमुप वदन्तमेति ।।३।।

पदपाठ —

यत् । ईम् । एनान् । उशतः । अभि । अवर्षीत् । तृष्यावतः । प्रावृषि । आगतायाम् । अख्खलीकृत्यं । पितरम् । न । पुत्रः । अन्यः । अन्यम् । उप । वदन्तम् । एति ।  
अन्वय — यत् ईम् एनान् उशतः अभि अवर्षीत् तृष्यावतः प्रावृषि आगतायाम् अख्खलीकृत्य पितरम् नः पुत्रः अन्यः अन्यम् वदन्तम् उप एति ।

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (यत्, ईम्) यदा हि (प्रावृषि, आगतायाम्) वर्षाकाल आगते सति (तृष्यावतः, उशतः, एनान्) तृषया जलमिच्छन्-जलजन्तून् (अभि, अवर्षीत्) मेघो वर्षति सिञ्चति, तदा (अख्खलीकृत्य) मनोहरशब्दं कृत्वा (पितरम्, न पुत्रः) पुत्रः पित्रान्तिकमिव (अन्यः, अन्यम्, उपवदन्तम्, एति) एको द्वितीयान्तिकं शब्दायमानं गच्छति ।

भावार्थ — वर्षाऋतु में जीव ऐसे आनन्द से विचरते हैं और अपने भावों को अपनी चेष्टा



## मण्डूक सूक्त ( मण्डल-७, सूक्त-१०३ )

तथा वाणियों से बोधन करते हुये पुत्रों के समान अपने वृद्ध पितरों के पास जाते हैं। इस मन्त्र में स्वभावोक्ति अलंकार से वर्षा के जीवों की चेष्टा का वर्णन किया है और इसमें यह भी शिक्षा दी है कि जैसे क्षुद्र जन्तु भी अपने वृद्धों के पास जाकर अपने भाव को प्रकट करते हैं इस प्रकार तुम भी अपने वृद्धों के पास जाकर अपने भावों को प्रकट करो॥

**सायण भाष्य -**

उशतः कामयमानान् तृष्यावतः तृष्णावतः एनान् मण्डूकान् प्रावृषि वर्षर्तौ आगतायाम् आगते सति यत् यदा अभ्यवर्षीत् पर्जन्यो जलैरभिषिञ्चति। ईम् इति पूरणः। तदानीम् अख्खलीकृत्य। अख्खल इति शब्दानुकरणम्। अख्खल- शब्दं कृत्वा पुत्रः पितरं न पितरमिव अन्यः मण्डूकः वदन्तं शब्दयन्तम् अन्यं मण्डूकम् उप एति प्राप्नोति।

**शब्दा० -** यत् = जब, ईम् = पूर्ववर्ती शब्द पर जोर देनेवाला एक निपात,, एनान् = इनके, उशतः = इच्छा करने वाले, अभि अवर्षीत् = ऊपर वर्षा किया, तृष्यावतः = प्यासे, प्रावृषि आगतायाम् = वर्षा ऋतु के आगमन पर, अख्खलीकृत्य = अनुकरणात्मक अस्पष्ट शब्द करके, पितरम् = पिता के पास, न = तरह, पुत्रः = पुत्र, अन्यः = एक, अन्यम् = दूसरे के, वदन्तम् = बोलता हुआ, उप एति = समीप जाता है।

**हिन्दी व्याख्या -** वर्षा ऋतु के आगमन पर जब (पर्जन्य ने जल की) इच्छा करने वाले (तथा) प्यासे इनके ऊपर वर्षा की, (तब) एक (मेढक) बोलते हुए दूसरे के पास जाता है, जैसे अस्पष्ट अनुकरणात्मक शब्द करके पुत्र पिता के पास (जाता है)।

**व्याकरण -**

उशतः = वश्+शतृ। सम्प्रसारण होकर = उशत्। द्वितीया का बहुवचन।

तृष्यावतः = तृष्+क्यप् = टाप् = तृष्या। तृष्या अस्य अस्ति=  
तृष्या+मतुप् = तृष्यावत्।

अख्खलीकृत्य = अख्खल+च्वि + कृ+क्त्वा।

अभ्यवर्षीत् = अभि+वृष, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष एकवचन।

**विशेष =** मैक्डानल के अनुसार 'उशतः' का अर्थ 'उत्सुक' (eager)।

मण्डल-७

सूक्त-१०३

मन्त्र-४

संहिता पाठ

अन्यो अन्यमनु गृभ्णात्येनोरपां प्रसर्गे यदमन्दिषाताम्।

मण्डूको यद्विवृष्टः कनिष्कनृशिनः संपुङ्क्ते हरितेन वाचम्॥४॥

पदपाठ -

अन्यः। अन्यम्। अनु। गृभ्णाति। एनोः। अपाम्। प्रसर्गे। यत्। अमन्दिषाताम्। मण्डूकः।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

यत् । अभिवृष्टः । कनिष्कन् । पृश्निः । सम्पृङ्क्ते । हरितेन । वाचम् ।

अन्वय — अन्यः अन्यम् अनुगृह्णाति अपां प्रसर्गे यत् अमन्दिषाताम् मण्डूकः यत् अभिवृष्टः कनिष्कन् पृश्निः सम्पृङ्क्ते हरितेन वाचम् ।।

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (यत्) यदा (अपाम्, प्रसर्गे) वृष्टिर्भवति तदा (एनोः) अनयोर्मध्यात् (अन्यः मण्डूकः) एको जलजन्तुः (अन्यम्, अनुगृह्णाति) द्वितीयमुपेत्योपविशति, तथा (अमन्दिषाताम्) उभावपि सज्जातहषौ भवतः (यत्) यदा च (अभिवृष्टः) अभिसिक्तो भवति तदा (पृश्निः कनिष्कन्) कश्चत्पृश्निवर्ण उत्प्लवमानः (हरितेन, वाचं, सम्पृङ्क्ते) केनचिद्धरितवर्णेन स्वं वाचं संयोजयति ।

भावार्थ — परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे जीवों! तुम प्रकृति सिद्ध वर्षा आदि ऋतुओं में नूतन नूतन भावों को ग्रहण करने वाले जल-जन्तुओं से शिक्षा लाभ करो कि वे जिस प्रकार हर्षित होकर उद्योगी बनते हैं इसी प्रकार तुम भी उद्योगी बनो ।

सायण भाष्य —

एनोः एनयोर्द्वयोर्मण्डूकयोः अन्यः मण्डूकः अन्यं मण्डूकमनुगम्य गृह्णाति गृह्णाति । अपाम् उदकानां प्रसर्गे प्रसर्जने वर्षणे सति यत् यदा अमन्दिषातां हृष्टावभूताम् । यत् यदा च अभिवृष्टः पर्जन्येनाभिषिक्तः कनिष्कन् । स्कन्दतेर्यङ्लुगन्तस्य रूपम् । भृशं स्कन्दन्नुत्प्लवं कुर्वन् पृश्निः पृश्निवर्णः मण्डूकः हरितेन हरितवर्णेनान्येन मण्डूकेन वाचं संपृङ्क्ते संयोजयति । उभावप्येकविधं शब्दं कुर्वते । तदानीमन्योऽन्यमनु गृह्णातीत्यन्वयः ।।

शब्दा० — अन्यः = एक, अन्यम् = दूसरे को, अनुगृह्णाति = स्वागत करता है, अपां प्रसर्गे = वर्षा के होने पर, यत् = जब, अमन्दिषाताम् = प्रसन्न रहते हैं, मण्डूकः = मेंढक, यत् = जब, अभिवृष्टः = वर्षा से भीगा हुआ, कनिष्कन् = बार-बार उछलता हुआ, पृश्निः = चितकबरा, सम्पृङ्क्ते = संयुक्त करता है, हरितेन = हरे वर्ण के मेंढक के साथ, वाचम् = शब्द को ।

हिन्दी व्याख्या — दोनों में से प्रत्येक एक दूसरे का स्वागत करता है, वर्षा होने पर जब दोनों प्रसन्न रहते हैं, जब वर्षा से भीगा हुआ चितकबरा मेंढक बार-बार उछलता हुआ हरे वर्ण वाले मेंढक के साथ अपने शब्द को मिलाता है ।

व्याकरण —

अमन्दिषाताम् = मदी (मद) धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, द्विवचन । वैदिक रूप ।

अभिवृष्टः = अभि+वृष् क्त ।

कनिष्कन् = स्कन्द+शतृ = कनिष्कन् । वैदिक रूप ।

संपृङ्क्ते = सम्+पृच् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।



## मण्डूक सूक्त ( मण्डल-७, सूक्त-१०३ )

विशेष = मैक्डानल के अनुसार 'अनुगृह्णाति' का अर्थ है — हर्षध्वनि करते हुये स्वागत करना (greet)।

मण्डल-७

सूक्त-१०३

मन्त्र-५

संहिता पाठ

यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्यैव वदति शिक्षमाणः।

सर्वं तदेषां समृधेव पर्वं यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सु॥५॥

पदपाठ —

यत्। एषाम्। अन्यः। अन्यस्य। वाचम्। शाक्तस्यैव। वदति। शिक्षमाणः। सर्वम्। तत्।  
एषाम्। समृधाऽइव। पर्वं। यत्। सुवाचः। वदथन। अधि। अप्सु॥

अन्वय — यत् एषाम् अन्यः अन्यस्य वाचम् शाक्तस्यैव वदति शिक्षमाणः सर्वम् तत् एषाम्  
समृधेव पर्वं यत् सुवाचः वदथन अधि अप्सु।

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (यत्) यस्मात् (अन्यः, शिक्षमाणः) इतरो लभ्यमानशिक्षः (शाक्तस्य, इव)  
शक्तिमतः शिक्षितस्योवान्यस्य जलजन्तोर्वचः संगृह्य ब्रवीति तथा (तत्, एषाम्)  
तदैतेषामेतद्ध्वनीन् (सर्वं, समृधा, इव, पर्वं) जफुल्लिता विकलाङ्गा भवन्तः (अधिः अप्सु)  
जल मध्ये (यत्, सुवाचः) यानि सुन्दरवचांसि तानि (वदथन) वदत॥५॥

भावार्थ — परमात्मा उपदेश करते हैं कि जिस प्रकार जलजन्तु भी एक दूसरे की चेष्टा  
से शिक्षालाभ करते हैं और एक ही प्रकार की भाषा सीखते हैं इस प्रकार तुम भी परस्पर  
शिक्षालाभ करते हुए एक प्रकार की भाषा से भाषण करो॥५॥

सायण भाष्य —

हे मण्डूकाः यत् यदा एषां युष्माकं मध्ये अन्यः मण्डूकः अन्यस्य मण्डूकस्य  
वाचं वदति अनुवदति अनुकरोति शिक्षमाणः शिक्ष्यमाणः शिष्यः शाक्तस्यैव शक्तिमतः  
शिक्षकस्य वाचं यथानुवदति तद्वत्। यत् यदा च सुवाचः शोभनवाचो यूयं सर्वे अप्सु  
वृष्टेषूदकेषु अधि उपरि प्लवन्तः, वदथन वदत शब्दं कुरुत। तत् तदा एषां युष्माकं सर्वं पर्वं  
परुष्मच्छरीरं समृधेव समृद्धमेवाविकला- वयवमेव भवति। इवशब्दोऽवधारणे। धर्मकाले  
मृद्वावमापन्ना मण्डूकाः पुनर्वर्षणे सत्यविकलाङ्गाः प्रादुर्भवन्तीत्यर्थः॥

शब्दा० — यत् = जब, एषाम् = इनमें से, अन्यः = एक, अन्यस्य = दूसरे के, वाचम्  
= शब्द का, शाक्तस्यैव = शिक्षक के शब्द की तरह, वदति = अनुकरण करता है,  
शिक्षमाणः = सीखने वाला, सर्वम् = सम्पूर्ण, तत् = उस समय, एषाम् = उन तुम लोगों  
का, समृधेव = बढ़े हुए की तरह, पर्व = शरीर, यत् = जब, सुवाचः = सुन्दर वाणी वाले



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

(तुम लोग), वदथन = बोलते हो, अधि अप्सु = जलों के ऊपर।

हिन्दी व्याख्या – जब उन तुममें से एक दूसरे के शब्द का अनुकरण करता है, जैसे शिष्य शिक्षक (के शब्द) का, तुम लोगों का सम्पूर्ण शरीर बढ़े हुये की तरह हो जाता है, जब सुन्दर वाणी वाले तुम लोग जलों में एक साथ बोलते हो।

व्याकरण –

शिक्षमाण = शिक्ष्+(शप्)+(मुक्)+शानच् = शिक्षमाण

शाक्तस्य = शक्+क्त अण् = शाक्त।

वदथन = वद् धातु, लोट लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन

समृधा = सम्+ऋध्+अ+टाप्।

विशेष = मैक्डानल के अनुसार समृधा इव = पाठ के समान (like a lesson) और सुबाचः = आरोह अवरोध ध्वनियों में एकस्वनता रखने वाले (that in unison)।

मण्डल-७

सूक्त-१०३

मन्त्र-६

संहिता पाठ

गोमायुरेको अजमायुरेकः पृश्निरेको हरित् एकं एषाम्।

समानं नाम बिभ्रतो विरूपाः पुरुत्रा वाचं पिपिशुर्वदन्तः॥६॥

पदपाठ –

गोऽमायुः। एकः। अजऽमायुः। एकः। पृश्निः। एकः। हरितः। एकः। एषाम्। समानम्। नामं। बिभ्रतः। विऽरूपाः। पुरुऽत्रा। वाचम्। पिपिशुः। वदन्तः।

अन्वय – गोमायुः एकः अजमायुः एकः पृश्निः एकः हरितः एकः एषाम् समानम् नाम बिभ्रतः विरूपाः पुरुत्रा वाचम् पिपिशुः वदन्तः॥

दयानन्द भाष्य –

पदार्थ – (एषाम्) एषां जलजन्तूनां मध्ये (एकः, गोमायुः) कश्चित् गौरिव शब्दं करोति तथा (एकः, अजमायुः) कश्चिदजन्नदति (पृश्निः, एकः) कश्चित्तेषु पृश्निवर्णः (एकः, हरितः) कश्चिद्धरितवर्णः तथा (पुरुत्रा, विरूपाः) विविधवर्णा विविधाकृतय एते (समानं, नाम, बिभ्रतः) एकमेव नाम धारयन्तः (वाचं, वदन्तः) समानामेव वाचं ब्रुवन्तः (पिपिशुः) आविर्भवन्ति॥६॥

भावार्थ – परमात्मा उपदेश करते हैं कि जिस प्रकार जन्तु भी स्वर भेद, आकार भेद और वर्णभेद रखते हुए जातिभेद और वाणिभेद नहीं रखते इस प्रकार हे मनुष्यो! तुमको प्राकृत जन्तुओं से शिक्षा लेकर भी वाणी का एकत्व और जाति का एकत्व दृढ़ करना चाहिये जो पुरुष वाणी के एकत्व को और जाति के एकत्व को दृढ़ नहीं रख सकता वह



अपने मनुष्यत्व को भी नहीं रख सकता ।।

सायण भाष्य —

एषां मण्डूकानां मध्ये एकः मण्डूकः गोमायुः गोर्मायुरिव मायुः शब्दो यस्य तादृशो भवति । एकः अन्यो मण्डूकः अजमायुः अजस्य मायुरिव मायुर्यस्य तादृशो भवति । एकः पृश्निः पृश्निवर्णः । एकः अपरः हरितः हरितवर्णः । एवं विरूपाः नानारूपा अपि समानम् एकं मण्डूका इति नाम बिभ्रतः धारयन्तः पुरुत्रा बहुषु देशेषु वाचं वदन्तः शब्दं कुर्वन्तः पिपिशुः अवयवीभवन्ति प्रादुर्भवन्ति । 'पिश अवयवे' । पुरुशब्दात् 'देवमनुष्य०' इत्यादिना त्राप्रत्ययः ।।

शब्दा० — गोमायुः = गाय की तरह शब्द करने वाला, एकः = एक, अजमायुः = बकरे की तरह शब्द करने वाला, एकः = एक, पृश्निः = चितकबरा, एकः = एक, हरितः = हरा रंग का, एकः = एक, एषाम् = इनमें, समानम् = समान, नाम = नाम, बिभ्रतः = धारण करते हुए, विरूपाः = विभिन्न रूपवाले, पुरुत्रा = कई स्थानों पर, वाचम् = शब्द को, पिपिशुः = सजाते हैं, वदन्तः = बोलते हुए ।

हिन्दी व्याख्या — एक गाय की तरह शब्द करने वाला है; एक बकरे की तरह शब्द करने वाला है; इनमें एक चितकबरा है; एक हरा है; समान नाम धारण करते हुये (भी) विभिन्न रूपवाले हैं; कई स्थानों पर बोलते हुए, (अपने) शब्द को कई ढंग से सजाते हैं ।

व्याकरण —

बिभ्रतः = भृ+शतृ = बिभ्रत । प्रथमा का बहुवचन ।

वदन्तः = वद्+शतृ = वदत् । प्रथमा का बहुवचन ।

पुरुत्रा = 'पुरु' शब्द से 'देव मनुष्य०' सूत्र से 'त्रा' प्रत्यय ।

पिपिशुः = 'पिश् अवयवे' धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।

विशेष = मैक्डानल के अनुसार हरित = पीला (yellow) और पिपिशुः = अलंकृत करते हैं (adorn) ।

मण्डल—७

सूक्त—१०३

मन्त्र—७

संहिता पाठ

ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वदन्तः ।

संवत्सरस्य तदहः परिं ष्ठ यन्मण्डूकाः प्रावृषीणं बभूव ।।७।।

पदपाठ —

ब्राह्मणासः । अतिरात्रे । न । सोमे । सरः । न । पूर्णम् । अभितः । वदन्तः । संवत्सरस्य । तत् । अहरिति । परिं । स्थ । यत् । मण्डूकाः । प्रावृषीणम् । बभूव ।।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

अन्वय — ब्राह्मणासः अतिरात्रे न सोमे सरः पूर्णम् अभितः वदन्तः संवत्सरस्य तत् अहः परिस्थ यत् मण्डूकाः प्रावृषीणाम् बभूव ।।

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (यत्, मण्डूकाः) यस्मान्मण्डूका अपि संवत्सरस्य, तदहः संवत्सरोपरान्ते आगच्छति दिने (प्रावृषीणम्, बभूव) यत्र दिने हि प्रथमवृष्टिर्भवति तत्र (पूर्णम्, सरः, न, अभितः वदन्तः) सरः पूर्णत्वकामा अभितो वदन्तः (परि, स्थ) इतस्तत उपविशन्ति अत एव (ब्राह्मणासः) भो ब्रह्मणाः! यूयमपि (अतिरात्रे) ब्राह्ममुहूर्ते (सोमे, न) सौम्यबुद्धिकारककाले वेदध्वनिना परमात्मानं स्तुवन् वृष्टिमहोत्सवं विधत् ।।

भावार्थ — उक्त मन्त्र में परमात्मा ने वर्षाकाल में वैदिकोत्सव के मनाने का उपदेश किया है कि मनुष्यो! तुम वर्षाकाल में प्रकृति के विभिन्न दृश्य को देख कर वैदिक सूक्तों से उपासना करो और सोमादि यज्ञों द्वारा ब्रह्मोत्सवों को मनाओ। विचित्र बात है कि जिस जाति के धर्मपुस्तक में यह उपदेश था उस जाति में इस भाव को छोड़कर अन्य सब प्रकार के उत्सव वर्षाऋतु में मनाये जाते हैं किन्तु वैदिकोत्सव कोई नहीं मनाया जाता, इससे हानिप्रद बात और क्या हो सकती है? ।।७।।

सायण भाष्य —

रात्रिमतीत्य वर्तत् इत्यतिरात्रः । अतिरात्रे न सोमे । यथातिरात्राख्ये सोमयागे ब्राह्मणासः ब्राह्मणा रात्रौ स्तुतशस्त्राणि पर्यायेण शंसन्ति हे मण्डूकाः । द्वितीयो नशब्दः संप्रत्यर्थे । न संप्रति पूर्ण सर अभितः सर्वतः वदन्तः रात्रौ शब्दं कुर्वाणा यूयं तदहः तद्दिनं परिष्ठ परितः सर्वतो भवथ । यत् अहः प्रावृषीणं प्रावृषेष्णं प्रावृषि भवं बभूवः तस्मिन्नहनि सर्वतो वर्तमाना भवथेत्यर्थः ।

शब्दा० — ब्राह्मणासः = ब्राह्मणों (की तरह), अतिरात्रे = अतिरात्र नामक सोमयाग में, न = तरह, सोमे = सोमयाग में, सरः = सरोवर के, पूर्णम् = भरे हुये, अभितः = चारों तरफ, वदन्तः = बोलते हुये, संवत्सरस्य = वर्ष के, तत् = उस, अहः = दिन, परिस्थ = चारों तरफ थे, यत् = जब, मण्डूकाः = हे मेढको, प्रावृषीणाम् = वर्षा का, बभूव = था ।

हिन्दी व्याख्या — अतिरात्र नामक सोमयाग में ब्राह्मणों की तरह (जल से) भरे हुये सरोवर के चारों तरफ बोलते हुये वर्ष के उस दिन, हे मेढको, तुम लोग चारों तरफ सर्वत्र वर्तमान थे, जिस दिन वर्षा हुई थी ।

व्याकरण —

ब्राह्मणासः = ब्राह्मण शब्द, प्रथमा का बहुवचन । वैदिक रूप । लोक में ब्राह्मणाः होगा ।



प्रवृषीणम् = प्रावृषि भवम्। प्रावृष+ ख (ईव)।

विशेष = मैकडानल ने 'परिष्ठ' का अर्थ 'खुशी मनाते हो' (celebrate) किया है।

मण्डल-७

सूक्त-१०३

मन्त्र-८

संहिता पाठ

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्।

अध्वर्यवो धर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न के चित् ॥८॥

पदपाठ -

ब्राह्मणासः। सोमिनः। वाचम्। अक्रत्। ब्रह्म। कृण्वन्तः। परिवत्सरीणम्॥ अध्वर्यवः। धर्मिणः। सिष्विदानाः। आविः। भवन्ति। गुह्याः। न। के। चित्॥

अन्वय - ब्राह्मणासः सोमिनः वाचम् अक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् अध्वर्यवः धर्मिणः सिष्विदानाः आविर्भवन्ति गुह्याः न केचित्॥

दयानन्द भाष्य -

पदार्थ - (सोमिनः, ब्राह्मणासः) सोम्यचित्ता ब्राह्मणाः (परिवत्सरीणम्) संवत्सरान्ते (ब्रह्म, कृण्वन्तः) ब्रह्मयशः प्रकाशयन्तः (वाचम्, अक्रत) वेदमुच्चारयेयुः (केचित्, गुह्या, अध्वर्यवः) केचिदेकाकिनो व्रतं धारयन्तः (धर्मिणः, सिष्विदानाः) धर्मेण स्वन्नशरीरा अपि (न, आविर्भवन्ति) बहिर्भूताः पराङ्मुखा न भवन्ति।

भावार्थ - वेदव्रती ब्राह्मण ब्रह्म के यश को गायन करने के लिये एकान्त स्थान में बैठें और वे शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहते हुए हुये तितिक्षु और तपस्वी बन कर अपने व्रत को पूरण करें॥

सायण भाष्य -

सोमिनः सोमयुक्ताः परिवत्सरीणं सांवत्सरिकं गवामयनिकं ब्रह्म स्तुतशस्त्रात्मकं कृण्वन्तः कुर्वन्तः ब्राह्मणासः। लुप्तोपममेतत्। ब्राह्मणा इव वाचं शब्दम् अक्रत अकृषतेमे मण्डूकाः। अपि च धर्मिणः धर्मेण प्रवर्ग्येण चरन्तः अध्वर्यवः अध्वरस्य नेतार ऋत्विज इव सिष्विदानाः सिष्वदगात्राः गुह्याः धर्मकाले बिलेऽभिगूढाः के चित् केचन् मण्डूकाः न संप्रति वृष्टौ सत्याम् आविर्भवन्ति जायन्ते।

शब्दा० - ब्राह्मणासः = ब्राह्मणों की तरह, सोमिनः = सोम धारण करने वाले, वाचम् = शब्द, अक्रत् = करते हैं, ब्रह्म = प्रार्थना, कृण्वन्तः = करते हुये, परिवत्सरीणम् = वर्ष भर, अध्वर्यवः = अध्वर्यु की तरह, धर्मिणः = प्रवर्ग्य याग में लगे, सिष्विदानाः = पसीना चूते हुये, आविर्भवन्ति = प्रकट हो जाते हैं, गुह्याः = छिपे हुये, न = नहीं, केचित् = कोई भी।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

**हिन्दी व्याख्या** — (गवाभयन में) वर्ष भर प्रार्थना करते हुये, सोम धारण करने वाले ब्राह्मणों की तरह मण्डूक शब्द करते हैं। प्रवर्ग्य याग में लगे हुये पसीना चूते हुये अध्वर्यु की तरह वे सभी प्रकट हो जाते हैं, कोई भी छिपा नहीं रहता।

**व्याकरण** —

परीवत्सरीणम् = परिवत्सरे भवम्। परिवत्सर+ख (ईन)

कृण्वन्तः = ऋषि+शतृ = कृण्वत।

सिष्विदानाः = सिव्द+कानच् = सिष्विदान।

**विशेष** = मैक्डानल के अनुसार परिवत्सरीणं ब्रह्म कृण्वन्तः = वार्षिक उपासना करते हुये (offering their yearly prayer)। सिष्विदानाः = गर्मी पाने वाले (heated)। न केचित् गुह्याः = उनमें कोई छिपा नहीं रहता (none of them are hidden)।

**मण्डल—७**

**सूक्त—१०३**

**मन्त्र—९**

**संहिता पाठ**

देवहितं जुगुपुर्द्वादशस्य ऋतुं नरो न प्रमिनन्त्येते।

संवत्सरे प्रावृष्यागतायां तप्ता धर्मा अश्नुवते विसर्गम्॥९॥

**पदपाठ** —

देवऽहितम्। जुगुपुः। द्वादशस्य। ऋतुम्। नरः। न। प्र। मिनन्ति। एते॥ संवत्सरे। प्रावृषि। आऽगतायाम्। तप्ताः। धर्माः। अश्नुवते। विऽसर्गम्।

**अन्वय** — देवहितम् जुगुपुः द्वादशस्य ऋतुम् नरः न प्रमिनन्ति एते संवत्सरे प्रावृषि आगतायाम् तप्ताः धर्माः अश्नुवते विसर्गम्॥

**दयानन्द भाष्य** —

**पदार्थ** — (एते, नरः) इमे पूर्वोक्त ब्राह्मणाः (देवहितम्, द्वादशस्य, ऋतुम्) ईश्वरविहितवर्षोपरान्तभाविनीं प्रावृषम् (जुगुपुः) रक्षन्तु (न, प्रमिनन्ति) तां विफलत्वं माऽजीगमन् (संवत्सरे) वर्षान्ते (प्रावृषि, आगतायाम्) वर्षाकाल आगते (तप्ताः, धर्माः) तपस्विनः तितिक्षवश्च ब्राह्मणाः (विसर्गम्, अश्नुवते) व्रतं धारयन्ति॥६॥

**भावार्थ** — वर्षाकाल में ब्राह्मण लोग तप करें अर्थात् संयमी बनकर वेदपाठ करें। यहाँ व्रत से उसी व्रत का विधान है जिसका “अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि” ॥यजु. १।५॥ इत्यादि मन्त्रों से वर्णन किया गया है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि वैदिक समय में ईश्वरार्चन केवल वैदिक सूक्तों के द्वारा ही किया जाता था अर्थात् जो सूक्त ईश्वर के यश को वर्णन करते हैं उनके पढ़ने का नाम ही उस समय ईश्वरार्चन था। जो ईश्वर के प्रतिनिधि बनाकर इस समय में मृण्मय देव पूजे जाते हैं मालूम होता है उस समय



भारतवर्ष में यह प्रथा न थी, हाँ इतना अवश्य हुआ कि जिन-जिन ऋतुओं में वैदिक यज्ञ होते थे वा प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर वर्षादि ऋतुओं में वैदिक उत्सव किये जाते थे उनके स्थान में अब अन्य प्रकार के उत्सव और पूजन होने लग पड़े, इस बात का प्रमाण निम्नलिखित मन्त्र में दिया जाता है ॥६॥

सायण भाष्य —

नरः नेतारः ते मण्डूकाः देवहितं देवैः कृतं विधानम् अस्यर्तोरयं धर्म इत्येवंरूपं जुगुपः गोपायन्ति । काले काले रक्षन्ति । अत एव द्वादशस्य द्वादशमासात्मकस्य संवत्सरस्य ऋतुं तं तं वसन्तादिकं न प्रमिनन्ति न हिंसन्ति । पर्जन्यस्तुतेरनुमोदनेन तत्तत्काले वृष्टिहेतवो भवन्तीत्यर्थः । संवत्सरे संपूर्णे प्रावृषि वर्षर्तो आगतायाम् आगते सति घर्माः पूर्वधर्मकाले वर्तमानाः तप्ताः त्रापेन पीडिताः संप्रति विसर्ग विसर्जनं विलान्मोचनम् अश्नुवते प्राप्नुवन्ति । शब्दा० — देवहितम् = देवनिर्मित विधान का, जुगुपुः = पालन करते हैं, द्वादशस्य = बारह महीनेवाले, ऋतुम् = ऋतु का, नरः = नेता, न = नहीं, प्रमिनन्ति = उल्लंघन करते हैं, एते = ये, संवत्सरे = वर्ष में, प्रावृषि आगतायाम् = वर्षा ऋतु के आगमन पर, तप्ताः = तपे हुये, घर्माः = घाम से पीड़ित, अश्नुवते = प्राप्त करते हैं, विसर्गम् = मुक्ति । हिन्दी व्याख्या — ये नेता देवनिर्मित विधानों का पालन करते हैं; बारह महीने वाले (संवत्सर की) ऋतु का उल्लंघन नहीं करते । वर्ष में वर्षा ऋतु के आगमन पर तपे हुये तथा गरमी से पीड़ित (ये मेढक) मुक्ति पाते हैं ।

विशेष = मैक्डानल के अनुसार परिवत्सरीणं ब्रह्म कृण्वन्तः वार्षिक उपासना करते हुए (offering their yearly prayer) । सिस्विदानाः = गर्मी पाने वाले (heated) । न केचित् गुह्याः = उनमें कोई छिपा नहीं रहता (none of them are hidden) ।

मण्डल-७

सूक्त-१०३

मन्त्र-१०

संहिता पाठ

गोमायुरदाद् जमायुरदात्पृश्निरंदाद्धरितो नो वसूनि ।

गवां मण्डूका ददंतः शतानि सहस्रसावे प्र तिरन्ते आयुः ॥१०॥

पदपाठ —

गोऽमायुः । अदात् । अजऽमायुः । अदात् । पृश्निः । अदात् । हरितः । नः । वसूनि । गवाम् । मण्डूकाः । ददंतः । शतानि । सहस्रऽसावे । प्र । तिरन्ते । आयुः ॥

अन्वय — गोमायुः अदात् अजमायुः अदात् पृश्निः अदात् हरितः नः वसूनि गवाम् मण्डूकाः ददंतः शतानि सहस्रसावे प्र तिरन्ते आयुः ॥



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (गोमायुः) गम्भीरशब्दाः प्रावृषेण्या (अजमायुः) प्राकृतशब्दवन्तश्च (पृश्निः) अनेकरूपाः (हरितः) हरितवर्णाश्च ऐते स्वरचनया (नः) अस्मभ्यं (अदात्) शिक्षा ददतु (गवां, मण्डूकाः) स्वशिक्षया विद्याविषयकचमत्कृतिं वर्धयन्तो जीवाः (शतानि, ददतः) अनेकविधाः शिक्षाः ददतु तथा चेश्वरः (वसूनि) ऐश्वर्यम् (आयुः) जीवनकालं (प्र, तिरन्ते) वितरतु तथा (सहस्रसावे) सहस्रविधौषधोत्पादके वर्षाकाले परमात्मा तत्तज्जीवसकाशात् तां तां शिक्षां ददतु ॥१०॥

भावार्थ — परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे जीवो! तुम वर्षाकाल से अनन्त प्रकार की शिक्षा का लाभ करो और अपने ऐश्वर्य और आयु की वृद्धि की प्रार्थना करो, यद्यपि केवल प्रार्थना से ऐश्वर्य और आयु की वृद्धि नहीं होती तथापि जिसके हृदय में आयुर्वृद्धि और ऐश्वर्यवृद्धि का भाव उत्पन्न होता है वह उसकी प्राप्ति के लिए यज्ञ अवश्य करता है इस नियम के अनुसार परमात्मा ने जीवों को प्रार्थना का उपदेश प्रधानरूप से दिया है, अस्तु।

मुख्य प्रसङ्ग यह है कि वर्षाऋतु का वर्णन इस सूक्त से भलीभाँति किया गया है और वर्षाऋतु का मण्डन करने वाले मण्डूकादि जीवों की रचना से शिक्षालाभ का उपदेश इस सूक्त का तात्पर्य है।

जो लोग यह कहा करते हैं कि वेद में ऐसे भी सूक्त हैं, जिनके मण्डूक देवता हैं उनको यह समझ लेना चाहिये कि मण्डूक देवता होना कोई निन्दा की बात नहीं, वेदों के महत्त्व की बात है, क्योंकि जब देवता शब्द के अर्थ यह हैं कि दीव्यतीति देवः जो प्रकाश करें तो क्या मण्डूक किसी विद्या का प्रकाश नहीं करते, यदि न करते तो बाईआलोजी विद्या में मण्डूकादि जन्तुओं की आवश्यकता क्यों पड़ती? इससे स्पष्ट सिद्ध है कि परमात्मा ने सब विद्याओं का मूलभूत बीज वेद में पहले से ही रख दिया है।

दूसरी बात यह है कि यदि वेद में वर्षाऋतु का वर्णन न होता तो कवि लोग कहाँ से इसका वर्णन करते, सच तो यह है कि जिस सौन्दर्य के साथ इस सूक्त में वर्षाऋतु का वर्णन किया है उस सौन्दर्य के साथ आदिकवि वाल्मीकि भी वर्षाऋतु का वर्णन नहीं कर सके, इससे वेदों का महत्त्व और क्या हो सकता है कि सबसे उत्तम साहित्य और सर्वोपरि पदार्थविद्या का वर्णन वेद के अनेक सूक्तों में पाया जाता है ॥१०॥

सायण भाष्य —

गोमायुः गोरिव मायुःशब्दो यस्य तादृशो मण्डूकः वसूनि धनानि नः अस्मभ्यम् अदात् ददातु। अजमायुः च अदात् ददातु। हरितःहरितवर्णश्च अदात् ददातु। पृश्निः पृश्निवर्णश्च अदात्ददातु। तथा सहस्रसावे सहस्रसंख्याका ओषधयः सूयन्त उत्पद्यन्त इति वर्षर्तुः सहस्रसावः। तस्मिन् सति सर्वे मण्डूकाः गवां शतानि अपरिमिता गाः ददतः अस्मभ्यं प्रयच्छन्तः आयुः जीवनं प्र तिरन्ते प्रवर्धयन्तु।



शब्दा० — गोमायुः = गाय की तरह शब्द करने वाला, अदात् = देवे, अजमायुः = बकरे की तरह ध्वनि करने वाला, अदात् = देवे, पृश्निः = चितकबरा, अदात् = देवे, हरितः = हरा वर्णवाला, नः = हमको, वसूनि = धन, गवाम् = गायें, मण्डूकाः = मेंढक, ददतः = प्रदान करते हुए, शतानि = सौ, सहस्रसावे = हजारों प्रकार की औषधियों को उत्पन्न करने वाली वर्षा ऋतु में, प्र तिरन्ते = बढ़ावें, आयुः = उम्र।

हिन्दी व्याख्या — गाय की ध्वनिवाला देवे; बकरे की ध्वनिवाला देवे; चितकबरा रंगवाला देवे; हरा रंगवाला हमें धन (देवे)। हजारों प्रकार की औषधियों को उत्पन्न करनेवाली (वर्षा ऋतु) में सैंकड़ों गाय प्रदान करते हुये मण्डूक हमारी आयु को बढ़ावे।

व्याकरण —

अदात् = दा धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सहस्रसावे = सहस्रं सुनोति इति तस्मिन्। सहस्र+सू+धञ् = सहस्रसाव।  
सप्तमी का एकवचन।

तिरन्ते = तृ धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

विशेष = मैक्डानल ने 'सहस्रसावे' का अर्थ किया है — हजारों बार निचोड़े जाने वाले सोमरस के समय में (in thousand fold soma pressing)।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****विश्वेदेवाः सूक्त****ऋषि—** वैवस्वत मनु**देवता—** विश्वेदेवा**छन्द—** पहले मंत्र में गायत्री, दूसरे में उष्णिक, तीसरे में बृहती एवं चौथे में अनुष्टुप्**मण्डल ८****सूक्त ३०****मंत्र १****संहिता—पाठः**नहि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः । विश्वे सतोमहान्त इत् ।।**पद—पाठः**नहि । वः । अस्ति । अर्भकः । देवासः । न । कुमारकः । विश्वे । सतः । सतोमहान्तः ।  
इत् ।। १ ।।**अन्वय —** देवासः ! वः अर्भकः नहि अस्ति, नः कुमारकः । विश्वे सतोमहान्तः इत् ।**सायण—भाष्य**

हे देवासः देवाः वः युष्माकं मध्ये अर्भकः न ह्यस्ति शिशुर्नास्ति तथा न कुमारकः युष्माकं मध्ये कुमारोऽपि नास्ति किं तु सर्वे यूयं सवयसो नित्यतरुणा भवथ । एतदेव प्रतिपादयति । विश्वे सर्वे देवा यूयं सतो महान्त इत् ! । सर्वस्माद्विद्यमानात्पृथिव्यामपि ये महान्तस्ते सतो महान्त इत्युच्यन्ते तस्माद्युष्माकमर्भकोऽपि कुमारोऽपि नास्तीत्यर्थः ।

**शब्दार्थ —** वः = तुममें से कोई । अर्भकः = शिशु । देवासः = देवताओं ।  
**कुमारकः** = किशोर । **महान्तः इत्** = निश्चय ही महान् हो ।**हिन्दी व्याख्या —** हे देवताओं ! तुम सब में कोई भी शिशु नहीं है और न कोई कुमार (किशोर) अवस्था का है एक समान आयु वाले तरुण होते हुये तुम सब देवता निश्चय ही महान् हो ।**व्याकरण —****सतोमहान्तः —** अस्+शतृ = सत् । सतः महान्तः = सतोमहान्तः कर्मधारय तत्पुरुष समास, विभक्ति का अलुक् ।**विशेष —** सायण ने 'सतोमहान्तः' का अर्थ किया है — 'पृथिवी पर विद्यमान सभी पदार्थों से महान् । रॉथ ने इसका अर्थ 'समान रूप से महान्' (equally great) किया है ।

छन्द के आग्रह से 'अस्त्यर्भकः' को 'अस्ति अर्भकः' पढ़ना चाहिये ।

**मण्डल ८****सूक्त ३०****मंत्र २****संहिता—पाठः**इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयंश्च त्रिंशच्च ।

मनोर्देवा यज्ञियासः ।।



## विश्वेदेवाः सूक्त (मण्डल-८, सूक्त-३०)

पद—पाठः

इति। स्तुतासः। असथ। रिशादसः। ये। रथ। त्रयः। च। त्रिंशत्। च। मनोः।  
देवाः। यज्ञियासः॥२॥

अन्वय — रिशादसः मनोः यज्ञियासः देवाः ये त्रयः च त्रिंशत् च स्थ इति। स्तुतासः असथ।

सायण—भाष्य

हे रिशादसः रिशतां हिंसतामशितारः हे मनोयज्ञियासः मनुनामकस्य मम यज्ञार्हाः, हे देवाः ये यूयं त्रयश्च त्रि संख्याकास्त्रिंशच्च त्रिशत्संख्याकास्त्रयस्त्रिंशद्देवताः स्थ भवथ अभूत। ये यूययिति इत्थमनेन प्रकारेण स्तुतासः असथ मया मनुना स्तुता भवथ। अस्तेर्लेटि छान्दसो लुगभावः। यद्वा असथेति कान्त्यर्थः। इत्थं स्तुता यूयं हवीषिं कामयध्वम्।

शब्दार्थ — स्तुतासः = स्तुति किये जाते हुये। असथ = रहे हो, कामना करते हो। रिशादसः = हिंसक शत्रुओं को खा जाने वाले। मनोः = मनु के। यज्ञियासः = यज्ञ के योग्य, पूजनीय।

हिन्दी व्याख्या — हिंसक शत्रुओं को खा जाने (नष्ट करने) वाले और मनु के यज्ञ के योग्य अर्थात् पूजनीय हे विश्वेदेवो ! जो तुम तीन और तीस अर्थात् तैंतीस हो वे तुम स्तुति किये जाते रहते हो। अथवा स्तुति किये जाते हुये हवियों की कामना करते हो।

व्याकरण —

स्तुतासः — ष्टुञ् (स्तु)+क्त=स्तुत। प्रथमा का बहुवचन। वैदिक रूप।

रिशादसः — इस शब्द की व्याख्या (१/१९/५) मन्त्र में की जा चुकी है।

असथ — अस् धातु लेट लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन। 'अस्' के 'अ' के लोप का छान्दस अभाव।

यज्ञियासः — यज्ञम् अर्हति अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय। यज्ञ+घ (इय) = यज्ञिय। प्रथमा का बहुवचन।

विशेष — देवों की संख्या ३३ मानी गई है। ये तीन वर्गों में विभक्त हैं — पृथिवी स्थानीय, द्यु स्थानीय और अन्तरिक्ष स्थानीय। मनु को मानवों का पूर्वज माना जाता है। यह बात अगले मन्त्र में भी कही गई है।

मण्डल ८

सूक्त ३०

मंत्र ३

संहिता—पाठः

ते नस्त्राध्वं तैऽवत त उ नो अधि वोचत।

मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः॥

पद—पाठः

ते। नः। त्राध्वम्। ते। अवत। ते। ऊँ इति। नः। अधि। वोचत। मा। नः। पथः।  
पित्र्यात्। मानवात्। अधि। दूरम्। नैष्ट। परावतः॥३॥



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

अन्वय — ते न त्राध्वम्, ते अवत, ते उ नः अधिवोचत । मानवात् पित्र्यात् परावतः पथः नः दूरम् मा अधिनैष्ट ।

### सायण-भाष्य

हे देवाः ते यूयं नोऽस्मान् त्राध्वं बाधकेभ्यः रक्षोभ्यः त्रायध्व ये यूयमवत धनादिप्रदानैरस्मान् रक्षत त एव देवा नोऽस्मानधिवोचत अधिकं भवन्तः कर्मकारिणो धनादिमन्तश्च भवन्त्विति यूयं ब्रूत । किं च हे देवाः मानवात् पित्र्यात् । सर्वेषां मनुः पिता । तत आगतात् परावतः दुरात् पथः मार्गात् नोऽस्मान् मा नैष्ट मा नयत । किं तु दूरम् अधि एतद् व्यतिरिक्तः विप्रकृष्टः मार्गोऽस्ति तस्मादधिकमित्यर्थः । तस्मान्मार्गात् अपनयत ।।

शब्दार्थ — त्राध्वम् = रक्षा करो । अवत = बचाओ । अधिवोचत = हमारे समर्थन में बोलो । पथः = मार्ग से । पित्र्यात् = पितरों के । मानवात् = मनु द्वारा प्रदर्शित । मा अधिनैष्ट = मत ले जाना । परावतः = सुदूर स्थित ।

हिन्दी व्याख्या — हे विश्वेदेवो ! वे तुम सब पीड़ा पहुँचाने वाले राक्षसों से हमारी रक्षा करो । वे तुम सब धन आदि प्रदान करके हमें बचाओ । वे तुम सब हमारे समर्थन में बोलो या आशीर्वाद प्रदान करो । मनु द्वारा प्रदर्शित पितरों के सुदूर स्थित मार्ग से हमको दूर मत ले जाना ।

### व्याकरण —

त्राध्वत् — 'त्रैङ्' धातु लोट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन । वैदिक रूप है । लोक में 'त्रायध्वम्' रूप होगा ।

पित्र्यात् — 'पितुः आगतम्' अर्थ में पितृ+यत् = पित्र्य ।

मानवात् — मनु+अण् = मानव ।

नैष्ट — नी धातु, लुङ् लकार, मध्यम पुरुष का बहुवचन । वैदिक रूप है ।

परावतः — परा+मतुप् = परावत् । पञ्चमी विभक्ति का एकवचन ।

विशेष — अधि पूर्वक 'वच्' धातु का अर्थ सिफारिश करना (To speak for) और सहायता के लिये आना (To come to the help) है ।

मण्डल ८

सूक्त ३०

मंत्र ४

### संहिता-पाठः

ये देवास इह स्थन् विश्वे वैश्वानरा उत ।

अस्मभ्यं शर्म सप्रथो गवेऽश्वाय यच्छत ।।

### पद-पाठः

ये । देवासः । इह । स्थनं । विश्वे । वैश्वानराः । उत । अस्मभ्यम् । शर्म । सप्रथः । गवे । अश्वाय । यच्छत ।।४।।



अन्वय — ये विश्वे देवासः इह स्थन उत वैश्वानरा', अस्मभ्यम् गवे अश्वाय सप्रथः शर्म यच्छत ।

### सायण-भाष्य

हे देवासः देवा उत अपि च वैश्वानराः । विश्वे सर्वे नरः कर्मनेतारोऽध्वर्यादयो यस्य स विश्वानरो यज्ञ तस्मिन् सोमादिहवींषि स्वीकर्तुं भवाः प्रादुर्भूताः । भवार्थेऽण् प्रत्ययः । यद्वा विश्वानरोऽग्निः । देवानां तन्मुखत्वात्तस्य सबन्धिनो सर्वे ये देवा यूयम् । इह अस्मिन्स्मदीये यज्ञे स्थन हवींष्यादातुं भवथ । ततः सप्रथः । 'प्रथ प्रख्याने' सर्वतः प्रसिद्ध सर्वत्र पृथुतमं वा शर्म । शर्म शृणाति हिनस्ति दुःखमिति शर्म सुखम् । तदस्मभ्यं प्रयच्छत । तथा गवेऽस्मदीयेभ्यो यज्ञसाधनभूतेभ्यः गोभ्यः अश्वाय शर्म सुखम् प्रदत्त ।

शब्दार्थ — इह स्थन = यहाँ हो । वैश्वानराः = सर्वजनकल्याणकारी यज्ञ की अग्नियाँ । शर्म = सुख । सप्रथः = सर्वत्र प्रसिद्ध, विशाल ।

हिन्दी व्याख्या — जो तुम सब विश्वेदेव यहाँ हो अर्थात् इस यज्ञ में उपस्थित हो और सब सर्वजनकल्याणकारी यज्ञ की अग्नियाँ यहाँ उपस्थित हैं, वे तुम सब हमारे लिये, हमारी गौओं के लिये और हमारे घोड़ों के लिये सर्वत्र प्रसिद्ध या विशाल सुख प्रदान करो ।

### व्याकरण —

देवासः — देवाः का छान्दस रूप ।

यच्छत — दाण् (यच्छ) धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन ।

स्थन — 'अस्' धातु, लट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन । यहाँ 'थ' को 'थन' वैदिक निपातनात् हुआ है ।

वैश्वानराः — विश्वे नरः यस्मिन् अयं विश्वानरः यज्ञः । विश्वानरे उपस्थितः अर्थ में विश्वानर + अण् = वैश्वानर ।

शर्म — शृणाति हिनस्ति दुःखम् अर्थ में शृ + मनिन् (मन्) = शर्म ।

विशेष — राम ने 'इह' का अर्थ At our sacrifice और 'स्थन' का अर्थ Assembled here किया है । छन्द के आग्रह से 'गवेऽश्वाय' को 'गवे अश्वाय' पढ़ना चाहिये ।



**सोम सूक्त**

ऋषि—कण्वपुत्र प्रगाथ      देवता—सोम      छन्द—५वें में जगती शेष में त्रिष्टुप  
मण्डल—८      सूक्त—४८      मन्त्र—१

संहिता पाठ

स्वादोरभक्षि वयंसः सुमेधाः स्वाध्यो वरिवोवित्तरस्य ।

विश्वे यं देवा उत मर्त्यासो मधु ब्रुवन्तो अभि संचरन्ति ॥१॥

पदपाठ — स्वादोः । अभक्षि । वयंसः । सुमेधाः । सुऽआध्यः । वरिवोवित्तरस्य । विश्वे । यम् । देवाः । उत । मर्त्यासः । मधु । ब्रुवन्तः । अभि । सम्संचरन्ति ।

अन्वय — सुमेधाः स्वाध्यः वरिवोवित्तरस्य स्वादोः वयंसः अभक्षि यम् विश्वे देवाः उत मर्त्यासः मधु ब्रुवन्तः अभिसंचरन्ति ॥

सायण भाष्य —

अहं प्रगाथः सुमेधाः शोभनप्रज्ञः स्वाध्यः स्वाध्ययनः सुकर्मा वरिवोवित्तरस्य अतिशयेन पूजां लभमानस्य स्वादोः सुष्ट्वदनीयस्य स्वादुभूतस्य वयंसः अन्नस्य । एताः कर्मणि षष्ठ्यः । उक्तलक्षणं वयोऽन्नं सोमाख्यम् अभक्षि भक्षयेयः । यं यदन्नं विश्वे देवाः सर्वेऽपीन्द्रादयः उत अपि च मर्त्या मनुष्याः मधु ब्रुवन्तः मनोहरमेतदिति शब्दायन्तः अभिसंचरन्ति अभिसंगच्छन्ते प्राप्नुवन्ति तदन्नमभक्षीति ।

शब्दा० — स्वादोः = स्वादिष्ट सोम का, अभक्षि = भक्षण किया है, वयंसः = अन्न का, सुमेधाः = सुन्दर मेधा वाला, सुवाध्यः = सुन्दर चिन्तन वाला, या सुन्दर कर्म वाला, वरिवोवित्तरस्य = अतिशय रूप से पूजनीय, विश्वे = सभी, यम् = जिसको, देवाः = देवता, उत = और, मर्त्यासः = प्राणी, मधु = मधु, ब्रुवन्तः = कहते हुये, अभि = और, संचरन्ति = एक साथ बढ़ते हैं ।

हिन्दी व्याख्या — सुन्दर मेधा वाला तथा सुन्दर चिन्तन वाला मैंने अतिशय रूप से पूजनीय स्वादिष्ट अन्न (सोमरस) को ग्रहण किया है, जिसको सभी देवता और मनुष्य मधु कहते हुये उसकी ओर एक साथ बढ़ते हैं ।

व्याकरण —

वरिवोवित्तरस्य = वरिवस्+विद्लृ+क्विप्+तरप् = वरिवोवित्तर । षष्ठी का एकवचन ।

अभक्षि = भक्ष् धातु, लुङ् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन ।

ब्रुवन्तः = ब्रू+शतृ । उवङ् आदेश = जुषत् । प्रथमा का बहुवचन ।

विशेष — मैक्डानल ने 'वरिवोवित्तरस्य' का अर्थ किया है — उत्तम विचारों का प्रेरित करने वाला (that stirs good thoughts)



संहिता पाठ

अन्तश्च प्रागा अदितिर्भवास्यवयाता हरंसो दैव्यस्य ।

इन्द्रविन्द्रस्य सख्यं जुषाणः श्रौष्टीं धुरमनु राये ऋध्याः ॥२॥

पदपाठ — अन्तरिति । च । अगाः । अदितिः । भवासि । अवयाता । हरंसः ॥ दैव्यस्य ।

इन्द्रो इति । इन्द्रस्य । सख्यम् । जुषाणः । श्रौष्टीं इव । धुरम् । अनु । राये । ऋध्याः ।

अन्वय — अन्तः च प्र अगाः । अदितिः दैव्यस्य हरसः अवयाता भवासि । इन्द्रो! इन्द्रस्य सख्यम् जुषाणः श्रौष्टी धुरम् इव राये अनुऋध्याः ॥

सायण भाष्य —

अग्निसोमप्रणयने अन्तश्च इत्येषा । तथा च सूत्रितम् — श्रुन्तश्च प्रजां अदितिर्भवति श्येनो न योनिं सदनं धिया कृतम् (आश्व०श्रौ० ४.१०) इति । हे सोमस्यम् प्रायाः । हृदयस्य हरयः क्रोधस्य अवयाता पूर्वङ्कर्ता स्वासि भवासि । ह इति क्रोधनात् । हे इन्द्र सोम त्वम् इन्द्रस्य सख्यं जुषाणः सेवमानः श्रौष्टी । श्रुष्टीति क्षिप्रनाम । तत्सम्बन्धी श्रौष्टी । क्षिप्रगाम्यश्चः धुरम् इव राये अस्माकं धनलाभाय अनु ऋध्याः अनुगच्छसि । अथवाश्वो यथा धुरं वृत्त्वाभिमतदेशं प्रापयति तद्वदस्मान् प्रापय । अनुपूर्व ऋधिर्गत्यर्थः ॥

शब्दा० — अन्तः = अन्दर, च = यदि, प्र अगाः = प्रकृष्ट रूप से प्रविष्ट हुये हो, अदितिः = अदिति, भवासि = होवोगे, अवयाता = दूर करने वाला, हरसः = क्रोध को, दैव्यस्य = देवसम्बन्धी, इन्द्रो = हे सोम, इन्द्रस्य = इन्द्र सम्बन्धी, सख्यम् = मित्रता को, जुषाणः = प्राप्त करते हुए, श्रौष्टीव = आज्ञाकारी अश्व की तरह, धुरम् = रथ की युवा को, राये = धन के लिये, अनु ऋध्याः = आगे बढ़ावो ।

हिन्दी व्याख्या — यदि अन्दर पहुँच चुके हो तो (तुम) देवसम्बन्धी क्रोध को दूर करने वाले अदिति होवोगे । हे सोमरस, इन्द्र की मित्रता को प्राप्त करते हुये (रथ की) युवा की ओर बढ़ने वाले एक आज्ञाकारी अश्व की तरह (हमें) धन के लिये आगे बढ़ाओ ।

व्याकरण —

प्रागाः = प्र+इ(गा) धातु, लुङ् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

भवासि = भू धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन । वैदिक रूप ।

जुषाणः = जुष्+शानच् = जुषाण ।

श्रौष्टी = श्रुष्टि+अण्+डीप्

ऋध्याः = ऋध् धातु, विधिलिङ्, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

अनुऋध्याः = अनु+ऋध् धातु गत्यर्थक होती है ।

विशेष — मैक्डानल के अनुसार श्रौष्टी = आज्ञाकारिणी घोड़ी (obedient mare)

अनुऋध्याः = आगे बढ़ते हो (advance) ।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

मण्डल-८

सूक्त-४८

मन्त्र-३

संहिता पाठ

अपां॑ सोमं॑मृता॑ अभूमा॑गन्म॑ ज्योति॑रवि॑दाम॑ दे॒वान् ।

किं नू॒नम॑स्मा॒न्कृ॑णव॒दरा॑तिः॒ किमु॑ धूर्ति॑रमृ॒त मर्त्य॑स्य ॥३॥

पदपाठ - अपां॑ । सोमं॑ । अ॒मृताः॑ । अ॒भूम॑ । अ॒गन्म॑ । ज्योतिः॑ । अ॒वि॒दाम॑ । दे॒वान् । किम् ।

नू॒नम् । अ॒स्मान् । कृ॒णव॑त् । अ॒रा॒तिः । किम् । ॐ इति॑ । धूर्तिः॑ । अ॒मृत॑ । मर्त्य॑स्य ॥

अन्वय - अमृत॑! सोमम् अपाम अमृताः स्याम, ज्योतिः अगन्म, देवान् अविदाम । अस्मान्

अरातिः नूनम् किम् कृणवत् । मर्त्यस्य धूर्तिः किम् ॥

सायण भाष्य -

हे अमृत अमरण सोम त्वाम् अपाम पानं करवाम । कुर्मः । ततः अमृताः अभूम भवेम । यस्मात्त्वमृतः अतस्तव पानाद्वयमप्यमृता स्याम । पश्चात् ज्योतिः द्योतमानं स्वर्गम् अगन्म । अविदास ज्ञातवन्तः देवान् । तथाभूतान् नूनम् इदानीम् असतिः शत्रुः किं कृणवत् कुर्यात् । किमु किं वा मर्त्यस्य इदानीं मनुष्यभूतस्य मम धूर्तिः हिंसकः किं कृणवत् कुर्यात् ।

शब्दा० - अपाम = पान किया है, सोमम् = सोम का, अमृताः = अमर, अभूम = हुए हैं, अगन्म = पहुँचे हैं, अविदाम = प्राप्त कर चुके हैं, देवान् = देवताओं को, किम् = क्या, नूनम् = अब, अस्मान् = हमारा, कृणवत् = करेंगे, अरातिः = शत्रु, किम् = क्या, उ = अथवा, धूर्तिः = हिंसक, अमृत = हे अमर, मर्त्यस्य = मनुष्य ।

हिन्दी व्याख्या - (हमने) सोम का पान कर लिया है; (अब हम) अमर हो गये हैं; प्रकाश तक पहुँच चुके हैं; (हमने) देवताओं को प्राप्त कर लिया है । अब शत्रु हमारा क्या करेंगे? हे अमर (सोमरस), मनुष्य का हिंसक भी (हमारा) क्या करेगा?

व्याकरण -

अपाम, अभूम, अगन्म = पा, भू और गम् धातु, लुङ् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन ।

अविदाम = 'विद् ज्ञाने' या 'विद्लृ लाभे' धातु, लुङ् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन ।

कृणवत् = कृवि (कृण्व्) धातु, लेट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

मण्डल-८

सूक्त-४८

मन्त्र-४

संहिता पाठ

शं नो॑ भव॒ हृद॒ आ पी॒त इ॒न्द्रो पि॒तेव॑ सोम॒ सु॒नवे॑ सु॒शेवः॑ ।

सखे॑व सख्य॒ उरु॑शंस॒ धीर॒ प्र ण॒ आ॒युर्जी॒वसे॑ सोम॒ तारीः॑ ॥४॥

पदपाठ - शम् । नः । भव । हृदे । आ । पीतः । इन्द्रो इति॑ । पिताऽइव॑ । सोम । सुनवे॑ ।



## सोम सूक्त ( मण्डल-८, सूक्त-४८ )

सुशेवः । सखाऽइव । सख्ये । उरुशंस । धीरः । प्र । नः । आयुः । जीवसे । सोम । तारीः ।  
अन्वय — इन्द्रो! आपीतः नः हृदे शम् भव । सोम! पिता सूनवे इव सखा सख्ये इव सुशेवः ।  
उरुशंस सोम । धीर नः जीवसे आयुः प्रतारीः ।

## सायण भाष्य —

हे इन्द्र सोम अस्माभिः पीतः त्वं नः अस्माकं हृदे हृदयाय शं सुखम् आ भव ।  
सुखभवने दृष्टान्तद्वयम् । पिता सूनवे स्वात्मजाय यथा भवति यथा वा सखा आहितान्निवर्त्य  
हिते स्थापयिता सखा स स्वसख्ये यथा सुशेवः सुसुखो भवति । शेवमिति सुखनाम् ।  
तद्वत्त्वमपि भव । किंच हे उरुशंस बहुभिर्बहुधा वा शंसनीय बहुकीर्ते सोम धीरः धीमांस्त्वं नः  
अस्माकं जीवसे जीवनाय आयुः आयुष्यं प्र तारीः प्रवर्धय ॥

शब्दा० — शम् = सुखकारी, नः = हमारे, भव = होवो, हृदे = हृदय के लिये, आ  
= चारों तरफ से, पीतः = पान किया जाकर, इन्द्रो = हे सोमरस, पितेव = पिता की  
तरह, सोम = हे सोम, सूनवे = पुत्र के लिये, सुशेवः = सुन्दर सुख वाला, सखेव =  
मित्र की तरह, सख्ये = मित्र के लिए, उरुशंस = हे बहुतों के द्वारा प्रशंसनीय, धीरः  
= बुद्धिमान्, नः = हमारी, आयुः = उम्र, जीवसे = जीने के लिए, सोम = हे सोम,  
प्रतारीः = बढ़ाओ ।

हिन्दी व्याख्या — हे सोमरस, पान किया जाकर (तुम) हमारे हृदय के लिये सुखकर  
होवो; हे सोम, जिस प्रकार (एक) पिता अपने पुत्र के लिये तथा (एक) मित्र अपने मित्र  
के लिये सुखकर (होता है) । हे बहुतों के द्वारा प्रशंसनीय सोम, बुद्धिमान् (तुम) हमारी  
आयु को जीने के लिये बढ़ाओ ।

## व्याकरण —

आपीतः = आ+पा+क्त । पा के आ को ई आदेश ।  
जीवसे = 'जीव धातु' से 'तुमुन्' के अर्थ में 'असेन्' प्रत्यय ।  
तारीः = तृ धातु, लुङ् लकार, मध्यम पुरुष का एकवचन ।

मण्डल—८

सूक्त—४८

मन्त्र—५

## संहिता पाठ

इमे मां पीता यशसं उरुष्यवो रथं न गावः समनाह पर्वसु ।

ते मां रक्षन्तु विस्त्रसश्चरित्रादुत मां सामाद्यवयन्त्विन्दवः ॥५॥

पदपाठ — इमे । मा । पीताः । यशसः । उरुष्यवः । रथम् । न । गावः । सम् । अनाह ।

पर्वसु । ते । मा । रक्षन्तु । विस्त्रसः । चरित्रात् । उत । मा । सामात् । यवयन्तु । इन्दवः ।

अन्वय — इमे पीताः मा यशसः उरुष्यवः गावः रथम् न पर्वसु समनाह ते मा विस्त्रसः  
चरित्रात् रक्षन्तु उत इन्दवः मा सामात् यवयन्तु ॥



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****सायण भाष्य -**

इमे पीताः यशसः यशस्कराः उरुष्यवः अस्माकं रक्षाकामाः सोमाः गावः गोविकारभूता बध्यः रथं न रथमिव ता यथा रथं विस्त्रस्तं पर्वसु समनाह संदधते तद्वत् मां पीताः सोमाः पर्वसु संनहन्तु। किञ्च ते सोमाः मा मां विस्त्रस्तः विस्त्रस्तात् चरित्रात् चरणादनुष्ठानात्। रक्षन्तु। सोमः परतश्चेत् कर्म ह्यविस्त्रस्तं भवति। उत अपि च मा मां स्नामात् व्याधेः सकाशात् इन्द्रवः पीताः यवयन्तु पृथक्कुर्वन्तु।

**शब्दा० -** इमे = ये, मा = मुझको, पीताः = पान किये जाकर, यशसः = यश की कामना करने वाले, उरुष्यवः = रक्षा की कामना करने वाले, न = तरह, गावः = गाय के चमड़े की रस्सियाँ, सम् अनाह = अच्छी प्रकार से बाँधते हैं, पर्वसु = संधियों में, ते = वे, मा = मुझको, रक्षन्तु = रक्षा करें, विस्त्रस्तः = सरकने से, चरित्रात् = चरण से, उत = और, मा = मुझको, स्नामात् = रोग से, यवयन्तु = दूर करें, इन्द्रवः = सोमरस।  
**हिन्दी व्याख्या -** ये यशस्वी तथा (हमारी) रक्षा की कामना करने वाले (सोमरस) पान किये जाकर मुझे प्रत्येक संधियों में अच्छी प्रकार से बाँधते हैं, जिस प्रकार चमड़े की रस्सियाँ रथ को (बाँधती हैं)। वे सोमरस मुझे पैर की फिसलन से बचावें और मुझे रोग से अलग करें।

**व्याकरण -**

**यशसः** = यशः कुर्वन्ति = यशस्+मतुप । मतुप का छान्दस लोप = यशस्। प्रथमा का बहुवचन।

**उरुष्यवः** = उरुष्य+उ। प्रथमा का बहुवचन।

**समनाह** = गिजन्त 'णह्' धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष का एकवचन = अनाह। सम्+अनाह = समनाह।

**विस्त्रस्तः** = वि+स्त्रस्+क्विप् = विस्त्रस्। प्रथमा का बहुवचन।

**चरित्रात्** = चर्+इत्र = चरित्र। पञ्चमी का एकवचन।

**यवयन्तु** = यु धातु, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन। वैदिक रूप।

**विशेष -** मैकडानल के अनुसार गावः = लगाम (straps) पर्व = सन्धि विस्त्रस्तः चरित्रात् = एक टाँग के टूटने से (from breaking a leg)।

**मण्डल-८****सूक्त-४८****मन्त्र-६****संहिता पाठ**

अग्निं न मां मथितं सं दिदीपः प्र चक्षय कृणुहि वस्यंसो नः।

अथा हि ते मद आ सोम मन्ये रेवाँ इव प्रचरा पुष्टिमच्छ॥६॥

**पदपाठ -** अग्निम्। न। मा। मथितम्। सम्। दिदीपः। प्र। चक्षय। कृणुहि। वस्यंसः।



## सोम सूक्त ( मण्डल-८, सूक्त-४८ )

नः॥ अथ॥ हि॥ ते॥ मदे॥ आ॥ सोम॥ मन्ये॥ रेवान् इव॥ प्र॥ चर॥ पुष्टिम्॥ अच्छ॥  
अन्वय — मा मथितम् अग्निम् न सम् दिदीपः प्रचक्षय, नः वस्यसः कृणुहि॥ सोम॥ अथ हि  
ते मदे आ मन्ये रेवान् इव पुष्टिम् अच्छ प्रचर॥

सायण भाष्य —

हे सोम पीतस्त्वं मथितम् अग्निं न अग्निमिव सं दिदीपः संदीपय॥ प्र चक्षय  
च चक्षुषः संधुक्षणेन॥ नः अस्मान् वस्यसः अतिशयेन वसुमतः कृणुहि कुरु॥ अथ अधुना हि  
खलु ते त्वां हे सोम मदे मदाय मन्ये स्तौमि॥ तथा सति रेवानिव धनवानिह॥ इवेति  
संप्रत्यर्थ॥ पुष्टिम् अस्मत्पोषम् अच्छ प्र चर अभिगच्छ॥

शब्दा० — अग्निम् = अग्नि, न = तरह, मा = मुझको, मथितम् = मथकर उत्पन्न  
किये गये, सं दिदीपः = अच्छी प्रकार से प्रज्ज्वलित करो, प्र चक्षय = प्रकृष्ट रूप से  
दृष्टियुक्त करो, कृणुहि = करो, वस्यसः = अधिक धनवाला, नः = हमें, अथ = इस  
समय, हि = क्योंकि, ते = तुम्हारे, मदे = आनन्द में, सोम = हे सोम, आ मन्ये = स्तुति  
करता हूँ, रेवानिव = धनवान् की तरह, प्र चर = प्रवृत्त करो, अच्छ = और, पुष्टिम् =  
समृद्धि॥

हिन्दी व्याख्या — (हे सोम) मथ कर उत्पन्न किये गये अग्नि की तरह मुझे प्रज्ज्वलित  
करो; प्रकृष्ट रूप से दृष्टियुक्त करो तथा हमें अपेक्षाकृत अधिक धनवाला बनावो॥ हे सोम,  
(इस समय) चूँकि तुम्हारे आनन्द में (तुम्हारी) स्तुति करता हूँ, इसलिये (एक) धनवान् की  
तरह हमारी समृद्धि के लिये प्रवृत्त होवो॥

व्याकरण —

मथितम् = मथ्+(इट्)+क्त = मथित॥

दिदीपः = दीप् धातु, लिट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन॥

वस्यसः = वसु+मतुप्+ईयसुन् = वस्यस्॥ द्वितीया का बहुवचन॥

कृणुहि = कृ धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन॥ वैदिक रूप॥

रेवान् = रे+मतुप् = रेवत्॥ प्रथमा का एकवचन॥

विशेष — मैक्डानल के अनुसार मथितम् = रगड़ने से उत्पन्न (kindled by friction)  
प्रचक्षय = प्रकाशित करो (illumine), मदे = नशे में (in intoxication),  
रेवानिव मन्ये = मैं अपने को धनवान् की तरह समझता हूँ (I regard  
myself as rich)॥

मण्डल—८

सूक्त—४८

मन्त्र—७

संहिता पाठ

इषिरेण ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव रायः॥



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

सोमं राजन् प्र ण आयूंषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि ।।७।।

पदपाठ — इषिरेण। ते। मनसा। सुतस्य। भक्षीमहि। पितृस्य इव। रायः। सोमं। राजन्। प्र। नः। आयूंषि। तारीः। अहानि इव। सूर्यः। वासराणि।

अन्वय — इषिरेण मनसा सुतस्य ते भक्षिमहि पितृस्य रायः इव। सोम। राजन्। नः आयूंषि प्रतारीः सूर्यः वासराणि अहानि इव।।

सायण भाष्य —

इषिरेण इच्छावता मनसा सुतस्य ते सुतमभिषुतं त्वां भक्षीमहि। पितृस्य पितृसंबन्धिनो धनस्येव धनमिव। पितृस्य धनं यथैषणेन मनसोपभुञ्जते तद्वत्। भक्षित हे सोम राजन् स्वामिन् नः अस्माकम् आयूंषि प्र तारीः प्रवर्धय। वासराणि जगद्वासकानि अहानि सूर्यः इव। अत्र 'ईषणेन वार्षणेन वा' (निरु० ४.७) इत्यादि निरुक्तं ज्ञातव्यम्।

शब्दा० — इषिरेण = इच्छायुक्त, ते = तुमको, मनसा = मन से, सुतस्य = पीसे हुये को, भक्षीमहि = भोग करें, पितृस्येव = पिता के धन की तरह, रायः = धन का, सोम = हे सोम, राजन् = हे राजन्, नः = हमारी, आयूंषि = आयु को, प्र तारीः = बढ़ाओ, अहानीव = दिनों की तरह, सूर्यः = सूर्य, वासराणि = प्रकाशित करने वाले।

हिन्दी व्याख्या — (हे सोम) इच्छायुक्त मन से पीसे हुए तुम्हारा हम पिता के धन की तरह भोग करें। हे राजन् सोम, हमारी आयु को बढ़ाओ, जिस प्रकार सूर्य (ग्रीष्मकालीन) प्रकाशमान दिनों को बढ़ाता है।

व्याकरण —

इषिरेण = इष्+इरय् = इषिर। तृतीया का एकवचन।

सुतस्य = सु+क्त=सुत। षष्ठी का एकवचन।

पितृस्य = पितृ+यत् = पितृ। षष्ठी का एकवचन।

भक्षीमहि = भक्ष् धातु, विधिलिङ्, उत्तम पुरुष, बहुवचन।

तारीः = तृ धातु, लुङ् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन। वैदिक रूप।

विशेष — मैक्डानल के अनुसार 'वासराणि' का अर्थ 'वसन्त ऋतु सम्बन्धी' (of spring)।

मण्डल—८

सूक्त—४८

मन्त्र—८

संहिता पाठ

सोमं राजन् मृळ्यां नः स्वस्ति तवं स्मसि ब्रत्यांस्तस्य विद्धि।

अलर्ति दक्षं उत मन्युरिन्द्रो मा नो अर्यो अनुकामं परां दाः।।८।।

पदपाठ — सोमं। राजन्। मृळ्यां। नः। स्वस्ति। तवं। स्मसि। ब्रत्यां। तस्यं। विद्धि। अलर्ति। दक्षः। उत। मन्युः। इन्द्रो इति। मा। नः। अर्यः। अनुकामम्। परां। दाः।



## सोम सूक्त (मण्डल-८, सूक्त-४८)

अन्वय — सोम! राजन्! नः स्वस्ति मृडय। व्रत्याः तव स्मसि। तस्य विद्धि। इन्द्रो। दक्षः अलर्ति उत मन्युः। अर्यः अनुकामम् नः मा परा दाः।।

सायण भाष्य —

हे सोम राजन् नः अस्मान् स्वस्ति अविनाशाय मृळय सुखय च। व्रत्याः व्रतिनो वयं तव स्मसि स्वभूताः स्मः। तस्य तं स्वकीयं तव विद्धि जानीहि। अथवा तव त्वमित्यर्थः। त्वं जानीहि। किञ्च हे इन्द्रो दक्षः प्रवृद्धोऽस्मच्छत्रुः अलर्ति गच्छति। उत अपि च मन्युः क्रोधः क्रुद्धो वा अलर्ति। तादृशस्योभयविधस्य अर्यः अरेः अनुकामं यथाकामं नः अस्मान् मा परा दाः परादेहि।।

शब्दा० — सोम राजन् = हे राजन् सोम, मृळय = कृपा करो, नः = हमारे ऊपर, स्वस्ति = कल्याण, तव = तुम्हारे, स्मसि = होते हैं, व्रत्याः = व्रत करने वाले, तस्य = उसको, विद्धि = जानो, अलर्ति = जाता है, दक्षः = बल, उत = और, मन्युः = क्रोध, इन्द्रो = हे सोमरस, मा = मत, नः = हमें, अर्यः = शत्रु, अनुकामम् = इच्छा के अनुसार, परा दाः = छोड़ो।

हिन्दी व्याख्या — हे सोम राजन्, हमारे कल्याण के लिये कृपा करो; व्रत का आचरण करने वाले (हम लोग) तुम्हारे हैं, इसको जानो। हे सोमरस, बलवान (शत्रु) और उसका क्रोध उठ रहा है; शत्रु की इच्छा के अनुसार हमें मत छोड़ो।

व्याकरण —

व्रत्याः = व्रत+यत् = व्रत्य।

अलर्ति = ऋ गतौ धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। वैदिक रूप।

अर्यः = अरि शब्द, षष्ठी विभक्ति, एकवचन। वैदिक रूप।

परा दाः = परा पूर्वक 'दा' धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

विशेष — मैक्डानल के अनुसार 'व्रत्या' = उपासक (devotees)। दक्षः उत मन्युः अलर्ति = शक्ति और क्रोध उठता है (There arise might and wrath)।

मण्डल-८

सूक्त-४८

मन्त्र-९

संहिता पाठ

त्वं हि नस्तन्वः सोम गोपा गात्रेगात्रे निषसत्था नृचक्षाः।

यत्ते वयं प्रमिनाम व्रतानि स नो मृळ सुषखा देव वस्यः॥९॥

पदपाठ — त्वम्। हि। नः। तन्वः। सोम। गोपाः। गात्रेगात्रे। निऽससत्थं। नृऽचक्षाः।

यत्। ते। वयम्। प्रऽमिनामं। व्रतानिं। सः। नः। मृळ। सुऽसखा। देव। वस्यः।

अन्वय — सोम! त्वं हि नः तन्वः गोपाः गात्रे गात्रे नृचक्षाः निषसत्थ। यत् ते व्रतानि वयम् प्रमिनाम, देव। स वस्यः नः सुसखा मृड॥



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****सायण भाष्य —**

हे सोम देव त्वं नः अस्माकं तन्वः तनोरङ्गस्य गोपाः हि रक्षिता खलु । अतः गात्रेगात्रे सर्वेष्वङ्गेषु नृ चक्षाः नृणां कर्मनेतृणां द्रष्टा त्वं निषसत्थ निषीदसि । यत् यद्यपि ते तव व्रतानि कर्माणि वयं प्रमिनाम हिंस्मः तथापि हे देव सः त्वं वस्यः श्रेष्ठान् नः अस्मान् सुषखा शोभनसखा सन् मृळ सुखय ॥

**शब्दा० —** त्वम् = तुम, हि = क्योंकि, नः = हमारे, तन्वः = शरीर के, सोम = हे सोमरस, गोपाः = रक्षक, गात्रेगात्रे = प्रत्येक अंग में, निषसत्थ = बैठे हो, नृचक्षाः = मनुष्यों के कर्मों को देखने वाले, यत् = यद्यपि, ते = तुम्हारे, वयम् = हम लोग, प्रमिनाम = उल्लंघन करते हैं, व्रतानि = नियमों अथवा कर्मों का, सः = वह तुम, नः = हमारे ऊपर, मृळ = कृपा करो, सुसखा = सुन्दर मित्र, देव = हे देव, वस्यः = श्रेष्ठ ।  
**हिन्दी व्याख्या —** हे सोमरस, हमारे अंग के रक्षक तथा मनुष्यों के कर्मों को देखने वाले तुम, चूँकि प्रत्येक अंग में निवास करते हो, (इसलिये), यद्यपि हम तुम्हारे नियमों का उल्लंघन करते हैं, (फिर भी) हे देव, सुन्दर मित्र वह तुम श्रेष्ठ कल्याण के लिये हमारे ऊपर कृपा करो ।

**व्याकरण —**

तन्वः = तनु शब्द, षष्ठी का एकवचन ।

गोपा = णिजन्त गुप्+क्विप् ।

निषसत्थ = नि+सद्, लिट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

नृचक्षाः = नृ+चक्ष्+असुन् = नृचक्षस् । प्रथमा का एकवचन ।

प्रमिनाम = प्र+मि धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन ।

**विशेष —** मैकडानल ने 'वस्यः' का अर्थ 'अधिक कल्याण के लिए' (for higher welfare) किया है ।

**मण्डल—८****सूक्त—४८****मन्त्र—१०****संहिता पाठ**

ऋदूदरेण सख्या सचेय यो मा न रिष्येद्वर्यश्व पीतः ।

अयं यः सोमो न्यधाप्यस्मे तस्मा इन्द्रं प्रतिरमैम्यायुः ॥१०॥

**पदपाठ —** ऋदूदरेण । सख्या । सचेय । यः । मा । न । रिष्येत् । हरिऽअश्व । पीतः । अयम् । यः । सोमः । नि । अधायि । अस्मे इति । तस्मै । इन्द्रम् । प्रऽतिरम् । एमि । आयुः ।

**अन्वय —** ऋदूदरेण सख्या सचेय, हर्यश्व । यः पीतः मा न रिष्येत् । यः अयम् सोमः अस्मे न्यधायि तस्मै प्रतिरम् आयुः इन्द्रम् एमि ॥



## सोम सूक्त (मण्डल-८, सूक्त-४८)

## सायण भाष्य —

अहं प्रगाथ ऋदूदरेण उदराबाधकेन सोमेन सख्या सचेय संगच्छेय । सङ्गतो भवामि । 'ऋदूदरः सोमो मृदूदरः' (निरु० ६.४) इति यास्कः । यः सोमः पीतः सन् मा मां न रिष्येत् न हिंस्येत् हे हर्यश्व इन्द्र । सोम्ये सूक्त इन्द्रस्य कीर्तनं सोमस्येन्द्रस्वामिकत्वान्न विरुद्धम् । यः अयं सोमः अस्मे अस्मासु न्यधायि निहितोऽभूत् तस्मै सोमाय प्रतिरम् आयुः जठरे चिरकालावस्थानम् इन्द्रम् एमि याचे ।

शब्दा० — ऋदूदरेण = उदार हृदय वाले, सख्या = मित्रता से, सचेय = युक्त होऊँ, यः = जो, मा = मुझे, न = नहीं, रिष्येत् = हिंसित करें, हरिअश्व = हे हरित वर्ण के अश्व वाले, पीतः = पान किया जाकर, अयम् = यह, यः = जो, सोमः = सोम, नि अधायि = रखा गया है, अस्मे = हममें, तस्मै = उसके लिए, इन्द्रम् = इन्द्र को, प्रतिरम् = लम्बी, एमि = याचना करता हूँ, आयुः = उम्र ।

हिन्दी व्याख्या — हे हरित वर्ण के अश्व वाले (इन्द्र), उदार हृदय वाले मित्र (सोम) के साथ संयुक्त होऊँ, जो पान किया जाकर मुझे हिंसित न करे । यह सोम जो हमारे अन्दर रखा गया है, उसके लिये लम्बी आयु के लिए इन्द्र से याचना करता हूँ ।

## व्याकरण —

ऋदूदरेण = ऋदु उदरं यस्य तेन ।

संचेय = सच् धातु, विधिलिङ्, उत्तम पुरुष, एकवचन ।

रिष्येत् = रिष् धातु, विधिलिङ्, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

हर्यश्व = हरय अश्वाः यस्य सः बहुव्रीहि समास ।

अस्मे = सप्तमी के अर्थ में 'शे' आदेश हुआ है ।

न्यधायि = नि+धा धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

विशेष — मैक्डानल ने 'हर्यश्व' का अर्थ 'घोड़ों का स्वामी' किया है । उसके अनुसार अन्तिम दो पादों का अर्थ इस प्रकार है — For (for the enjoyment of) that soma which has been deposited in us. I approach Indra to prolong our years.

मण्डल-८

सूक्त-४८

मन्त्र-११

## संहिता पाठ

अप त्या अस्थुरनिरा अमीवा निरत्रसन्तमिषीचीरभैषु ।

आ सोमो अस्माँ अरुहद्विहाया अगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ॥११॥

पदपाठ — अप । त्याः । अस्थुः । अनिराः । अमीवाः । निः । अत्रसन् । तमीषीचीः । अभैषुः । आ । सोमः । अस्मान् । अरुहत् । विहायाः । अगन्म । यत्र । प्रतिरन्ते । आयुः ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

अन्वय — त्याः अनिराः अमीवा अप अस्थुः तमिषीचीः निः अत्रसन् अभैषुः, विहायाः सोमः अस्मान् आ अरुहत् । यत्र आयुः प्रतिरन्ते अगन्म ।।

**सायण भाष्य —**

त्याः ताः अनिराः प्रेरयितुमशक्याः अमीवाः बलवत्यः पीडा अप अस्युः अपगच्छन्तु । याः तमिषीचीः बलवत्योऽस्मान् निः नितराम् अत्रसन् प्राप्नुवन् कम्पयन्ति तथा अभैषुः । अपगमे कारणमाह । यस्मात् सोमः विहायाः महान् सन् अस्मान् आ अरुहत् आगतम् प्राप्तवान् अतोऽवास्थुरिति भावः । यत्र यस्मिन् सोमे पीते आयुः आयुष्यं प्रतिरन्ते वर्धयन्ति मनुष्यास्तं सोमम् अगन्म इति ।

शब्दा० — त्याः = वे, अप अस्थुः = दूर हो गये हैं, अनिराः = असाध्य, कमी दूर न होने वाले, अमीवाः = रोग, निः = अत्यन्त रूप से, अत्रसन् = डर गये हैं, तमिषीचीः = पीड़ित करने वाले, अभैषुः = भयभीत हो गये हैं, सोमः = सोम, अस्मान् = हमें, आ अरुहत् = प्राप्त कर लिया है, विहायाः = महान्, अगन्म = पहुँचे हैं, यत्र = जहाँ, प्रतिरन्ते = बढ़ाते हैं, आयुः = उम्र ।

हिन्दी व्याख्या — कभी दूर न होने वाले तथा पीड़ित करने वाले रोग दूर हो गये हैं; वे अत्यन्त डर गये हैं तथा भयभीत हो गये हैं । शक्तिशाली सोम हमारे ऊपर आरुढ़ हो चुका है और हम (वहाँ) पहुँच चुके हैं जहाँ (मनुष्य अपनी) आयु बढ़ाते हैं ।

**व्याकरण —**

तमिषीचीः = तमिषीम् अञ्चति अर्थ में तमिषि+अञ्च्+क्विप्= तमिष्यन् ।  
प्रथमा विभक्ति का बहुवचन ।

विशेष — मैक्डानल के अनुसार 'तमिषीचीः' = अन्धकार की शक्तियाँ (powers of darkness), विहायाः = शक्ति से (with might) ।

मण्डल—८

सूक्त—४८

मन्त्र—१२

**संहिता पाठ**

यो न इन्दुः पितरो ह्रत्सु पीतोऽमर्त्यो मर्त्यौ आविवेश ।

तस्मै सोमाय हविषा विधेम मृलीक अस्य सुमतौ स्याम ॥१२॥

पदपाठ — यः । नः । इन्दुः । पितरः । ह्रत्सु । पीतः । अमर्त्यः । मर्त्यान् । आऽविवेश । तस्मै । सोमाय । हविषा । विधेम । मृलीके । अस्य । सुमतौ । स्याम ।

अन्वय — पितरः यः इन्दुः ह्रत्सु पीतः अमर्त्यः नः मर्त्यान् आविवेश तस्मै सोमाय विधेम अस्य मृलीके सुमतौ स्याम ॥

**सायण भाष्य —**

हे पितरः यः इन्दुः ह्रत्सु पीतः सन् अमर्त्यः मृतिरहितः सन् आविवेश मर्त्यान्



## सोम सूक्त ( मण्डल-८, सूक्त-४८ )

नः अस्मान् तस्मै सोमाय हविषा विधेम परिचरेम । अस्ये सोमस्य मृळीके सुखे सुमतौ चानुग्रहबुद्धौ च स्या भवेम ।

शब्दा० — यः = जो, नः = हमें, इन्द्रुः = सोमरस, पितरः = हे पितर, हृत्सु = हृदयों में, पीतः = पान किया जाकर, अमर्त्यः = अमर, मर्त्यान् = मनुष्यों में, आविवेश = प्रविष्ट हुआ है, तस्मै = उस, सोमाय = सोम के लिये, हविषा = हवि से, विधेम = पूजन करें, मृळीके = सुख में, अस्य = उसकी, सुमतौ = सुन्दर बुद्धि में अर्थात् अनुग्रह में, स्याम = होवें ।

हिन्दी व्याख्या — हे पितर, जो अमर सोमरस हृदय में पान किया जाकर हम मर्त्यों के अन्दर प्रविष्ट हुआ है, उस सोमरस के लिए हम हवि से पूजन करें तथा उसकी कृपा और सुन्दर मति में होवें ।

व्याकरण —

आविवेश = आ+विश्, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

विधेम, स्याम = विध, अस् धातु, विधिलिङ्, उत्तम पुरुष, बहुवचन ।

विशेष — मैकडानल के अनुसार 'मृळीक' का अर्थ है = कृपा (mercy) ।

मण्डल-८

सूक्त-४८

मन्त्र-१३

संहिता पाठ

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ ।

तस्मै त इन्द्रो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ।।१३।।

पदपाठ — त्वम् । सोम । पितृभिः । सम्सविदानः । अनु । द्यावापृथिवी इति । आ । ततन्थ ।

तस्मै । ते । इन्द्रो इति । हविषा । विधेम । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ।।

अन्वय — सोम त्वम् पितृभिः संविदानः द्यावापृथिवी अनु आ ततन्थ । इन्द्रो । तस्मै ते हविषा विधेम । वयम् रयीणाम् पतयः स्याम ।।

सायण भाष्य —

हे सोम त्वं पितृभिः सह संविदानः संगच्छमानः द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ अनु आ ततन्थ क्रमेण विस्तारयसि । तस्मै सोमाय हविषा विधेम परिचरेम । वयं रयीणां धनानां पतयः स्याम भवेम ।

शब्दा० — त्वम् = तुम, सोम = हे सोम, पितृभिः = पितरों के साथ, संविदानः = एक मन होते हुये, द्यावापृथिवी = आकाश और पृथिवी को, अनु आ ततन्थ = विस्तारित किया है, तस्मै = उस, ते = तुम्हारे लिये, इन्द्रो = हे सोमरस, हविषा = हवि से, विधेम = पूजन करें, वयम् = हम लोग, स्याम = होवें, पतयः = स्वामी, रयीणाम् = धन के ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

हिन्दी व्याख्या — हे सोमरस, पितरों के साथ एक मन होते हुए तुमने आकाश और पृथिवी को विस्तारित किया है। हे सोमरस, उस तुम्हारे लिये (हम) हवि से पूजन करें तथा हम धनों के स्वामी बनें।

व्याकरण —

संविदानः = सम्+विद्+शानच् = संविदान।

द्यावापृथिवी=द्यौश्च पृथिवी च। वैदिक रूप।

आततन्थ = आ+तन् धातु, लिट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

रयीणाम् = रयि शब्द, षष्ठी का बहुवचन।

विशेष — मैक्डानल के अनुसार 'द्यावा पृथिवी अनु आ' का अर्थ है = अन्तरिक्ष और पृथिवी के ऊपर फैले हुए हो (hast extended over Heaven and earth)।

मण्डल—८

सूक्त—४८

मन्त्र—१४

संहिता पाठ

त्रातारो देवा अधि वोचता नो मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः।

वयं सोमस्य विश्वहं प्रियासः सुवीरा सो विदथमा वदेम्॥१४॥

पदपाठ — त्रातारः। देवाः। अधि। वोचत। नः। मा। नः। निद्राः। ईशत। मा। उत। जल्पिः। वयम्। सोमस्य। विश्वहं। प्रियासः। सुवीरांसः। विदथम्। आ। वदेम्।

अन्वय — त्रातारः देवाः। नः अधिवोचत। नः निद्रा मा ईशत उत जल्पिः मा। वयम् विश्वह सोमस्य प्रियासः सुवीरासः विदथम् आ वदेम्॥

सायण भाष्य —

हे त्रातारः रक्षितारो हे देवाः नः अस्मान् अधि वोचत अधिवचनं कुरुत। किंच नः अस्मान् निद्राः स्वप्नाः मा ईशत ईश्वरा मा भूवन् बाधितुम्। उत अपि च जल्पिः निन्दकः अस्मान् मा निन्दतु। वयं सोमस्य प्रियासः प्रिया स्याम विश्वह सर्वेष्वप्यहःसु। सर्वदेत्यर्थः। सुवीरासः शोभनपुत्राः सन्तः विदर्थ स्तोत्रम् आ वदेम आभिमुख्येन वदेम। अथवा सुपुत्रा विदर्थ गृहमा वदेम। आवदनं पुत्रपौत्राणां धनेनोपच्छन्दनम्॥

शब्दा० — त्रातारः = हे रक्षा करने वाले, देवाः = देवो, अधिवोचत = वचन दो, नः = हमारे लिये, मा = मत, नः = हमारे ऊपर, निद्राः = नींद, ईशत = शासन करे, मा = मत, उत = और, जल्पिः = गल्पें, वयम् = हम लोग, सोमस्य = सोम का, विश्वहः = हमेशा, प्रियासः = प्रिय, सुवीरासः = सुन्दर वीर पुत्रों वाले, विदथम् = स्तोत्र, आ वदेम् = बोलें।

हिन्दी व्याख्या — हे रक्षा करने वाले देवों, हमें वचन दो। नींद हमारे ऊपर शासन न करें और न गप्पें हो (हमारे ऊपर शासन करें) सोम के सदा प्रिय तथा सुन्दर वीर पुत्रों



वाले हम लोग (तुम्हारा) स्तोत्र बोलें।

विशेष — मैक्डानल ने 'जल्पिः' का अर्थ 'व्यर्थ की बातें' (Idle talk) किया है।

मण्डल-८

सूक्त-४८

मन्त्र-१५

संहिता पाठ

त्वं नः सोम विश्वतो वयोधास्त्वं स्वर्विदा विशा नृचक्षाः।

त्वं न इन्द्र ऊतिभिः सजोषाः पाहि पश्चातादुत वा पुरस्तात्॥१५॥

पदपाठ — त्वम्। नः। सोम। विश्वतः। वयःधाः। त्वम्। स्वःऽवित्। आ। विश। नृऽचक्षाः। त्वम्। नः। इन्द्रो इति)। ऊतिभिः। सजोषाः। पाहि। पश्चातात्। उत। वा। पुरस्तात्।  
अन्वय — सोम! त्वम् नः विश्वत वयोधाः स्वर्वित् नृचक्षाः त्वम् आ विश। इन्द्रो! ऊतिभिः सजोषाः त्वम् नः पश्चातात् उत वा पुरस्तात् पाहि॥

सायण भाष्य —

हे सोम त्वं नः अस्माकं विश्वतः सर्वाभ्यो दिग्भ्यः वयोधाः अन्नदाता। तथा त्वं स्वर्वित् स्वर्गलम्भकः नृचक्षाः सर्वमनुष्यद्रष्टा त्वम् आ विश। हे इन्द्रो त्वं सजोषाः सह प्रीयमाणः सन् ऊतिभिः सह। अथवोतयो गन्तारो मरुतः। तैः सहितः सन् पश्चातात् पश्चात् उत वा पुरस्तात् च पाहि।

शब्दा० — त्वम् = तुम, नः = हमारे लिये, सोम = हे सोम, विश्वतः = चारों तरफ से, वयोधाः = शक्ति प्रदान करने वाले, त्वम् = तुम, स्वर्वित् = प्रकाश को प्राप्त करने वाले, आ विश = चारों तरफ से प्रविष्ट होवो, नृचक्षाः = मनुष्यों को देखने वाले, त्वम् = तुम, नः = हमें, इन्द्रो = हे सोमरस, ऊतिभिः = रक्षाओं से, सजोषाः = प्रसन्न होकर, पाहि = रक्षा करो, पश्चातात् = पीछे से, उत = और, वा = अथवा, पुरस्तात् = सामने से।

हिन्दी व्याख्या — हे सोम, चारों तरफ से शक्ति प्रदान करने वाले तुम, प्रकाश को प्राप्त करने वाले तथा मनुष्यों को देखने वाले तुम हमारे अन्दर प्रविष्ट होवो। हे सोमरस, प्रसन्न होकर अपने संरक्षणों से हमारी पीछे से तथा सामने से रक्षा करो।

विशेष — मैक्डानल के अनुसार 'वयोधाः' का अर्थ है = शक्ति को देने वाला (giver of strength), स्वर्वित् = प्रकाश को पाने वाला (finder of light), प्रीयमाणः = अनुकूल (accordant)।



## यम सूक्त (मृत्यु-सूक्त)

ऋषि- शङ्ख

देवता-पितर

छन्द-११ में जगती शेष में त्रिष्टुप्

मण्डल १०

सूक्त १४

मंत्र १

संहिता-पाठः

परेयिवांसं प्रवतों महीरनु बहुभ्यः पन्थानमनुपस्पशानम् ।

वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य ।

पद-पाठः

परेयिवांसम् । प्रवतः । महीः । अनु । बहुभ्यः । पन्थाम् । अनुपस्पशानम् । वैवस्वतम् ।  
सङ्गमनम् । जनानाम् । यमम् । राजानाम् । हविषा । दुवस्य ॥१॥

अन्वय - प्रवतः महीः अनुपरेयिवांसम्, बहुभ्यः पन्थाम् अनुपस्पशानम्, वैवस्वतम्, जनानाम्  
सङ्गमनम् राजानम् यमम् हविषा दुवस्य ।

दयानन्द-भाष्य -

पदार्थ - (महीः-अनु-प्रवतः परेयिवांसम्) महीरनु पृथिवीलोकाननु "महीति पृथिवीनाम्" [निघ०  
१।१ प्रवतः प्रगतान् पुराणानुद्वत उदगतानुन्नतान् निवतो निगतानल्पसमयकान् पदार्थान्  
पश्यागतवन्तं परिक्रम्य सर्वतोऽधिकृत्य प्राप्तवन्तम् "महीरनु प्रवत उद्वतो निवतः पर्यागतवन्तम्"  
[निरु० १०।२० (बहुभ्यः पन्थाम्-अनुपस्पशानम्) बहुभ्यः प्रकारेभ्यः हेतौ पञ्चमी विशेषेण  
पाशयमानं पाशमिव विस्तारयन्तम् "बहुभ्यः पन्थामनुपस्याशयमानम्" [निरु० १०।२० (जनानां  
सङ्गमनं वैवस्वतं यमं राजानं हविषा दुवस्य) जनानां जायमानानामुत्पद्यमानानां पदार्थानाम्  
"जायते इति जनः" सङ्गमनमन्ते प्राप्तिस्थानं वैवस्वतं विवस्वतः सूर्यस्य पुत्रं यमं यन्तारं  
कालं समयं प्रातः सायन्दर्शपौर्णमासर्तुसंवत्सरविभागात्मकं राजानं राजानमिव वर्तमानं  
हविषा हविर्दानेन दुवस्य राध्नुहि संसाधय स्वानुकूलं कुरु दीर्घायुष्यलाभायेति यावत् ॥१॥  
भावार्थ - विश्वकाल संसार के सब पदार्थों को व्याप्त और प्राप्त है। वही सबकी  
उत्पत्ति, स्थिति और नाश का निमित्त है। उस सूर्यपुत्र को आयुवर्धक पदार्थों के होम द्वारा  
स्वानुकूल बनाना चाहिए ॥१॥

सायण-भाष्य

हे मदीयान्तरात्मन् यजमान वा त्वं राजानं पितृणां स्वामिनं यमं हविषा पुरोडाशादिना  
दुवस्य परिचर । कीदृशम् । प्रवतः प्रकृष्टकर्मवतो भूलोकवर्तिभोगसाधनं पुण्यमनुष्ठितवतः  
पुरुषान्महीः तत्तद्भोगोचितभूप्रदेशाननुपरेयिवांसं क्रमेण मरणादूर्ध्वं प्रापितवन्तम् तथा बहुभ्यः  
स्वर्गार्थेपुण्यकृद्भयः पुण्यकृतार्थे पन्थां स्वर्गस्योचित मार्गमनुपस्पशानमबाधमानम् । पापिन एव  
पुरुषान् स्वर्गमार्गबाधनेन नरकं प्रापयति नतु पुण्यकृत इत्यर्थः । वैवस्वत विवस्वतः सूर्यस्य  
पुत्रं जनानां पापिनां संगमनं गन्तव्यस्थानरूपम् ।

शब्दार्थ - अनुपरेयिवांसम् = ले जाने वाले । प्रवतः = उत्कृष्ट कर्म करने वाले



## यम सूक्त “मृत्यु-सूक्त” (मण्डल-१०, सूक्त-१४)

मनुष्यों को। महीः = उनके भोगों के योग्य प्रदेशों में। अनुपस्पशानम् = बाधा न डालने वाले। वैवस्वतम् = विवस्वान् का पुत्र। संगमनम् = गन्तव्य, ले जाने वाला। हविषा = हवि से। दुवस्य = पूजा करो।

हिन्दी व्याख्या — हे यजमान ! अथवा हे अन्तरात्मा ! तुम उत्कृष्ट कर्म करने वाले मनुष्यों को उनके कर्मों के भोगों के योग्य प्रदेशों की ओर ले जाने वाले (मृत्यु के बाद) बहुत से स्वर्ग के चाहने वाले पुण्यशीलो के लिये स्वर्ग के मार्ग में बाधा डालने वाले, विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र रूप में प्रसिद्ध पापी मनुष्यों के गन्तव्य अर्थात् पापियों को अपने लोक में ले जाने वाले पितरों के राजा यम का हवि आदि सामग्रियों से पूजन करो।

### व्याकरण —

परेयिवांसम् — परा+इण् गतौ + क्वसु (वस्) = परेयिवस्। द्वितीया विभक्ति का एकवचन।

पन्थाम् — पथिन्, द्वितीया विभक्ति, एकवचन।

प्रवतः — प्र + मतुत् = प्रवत्। द्वितीया विभक्ति का बहुवचन।

महीः — ‘मह’ धातु से या ‘महत्’ शब्द से निपातनात् सिद्ध होता है।

वैवस्वतम् — विवस्वत् + अण् = वैवस्वत।

अनुपस्पशानम् — अनु + स्पश् + कानच् = अनुपस्पशान।

दुवस्य — वैदिक ‘दुवस्’ धातु, मध्यम पुरुष एकवचन।

विशेष — सायण ने ‘प्रवतः’ को प्रकृष्ट कर्मा मनुष्य वाची माना है। परन्तु पीटर्सन के अनुसार यह पद ‘महीः’ का विशेषण है तथा इसका अर्थ है — Along the great heights.

मण्डल १०

सूक्त १४

मंत्र २

संहिता-पाठः

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ।

यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः।

पद-पाठः

यमः। नः। गातुम्। प्रथमः। विवेद। न। एषा। गव्यूतिः। अपभर्तवै। ऊँ इति। यत्र। नः। पूर्वे। पितरं। पराऽईयु। एन। जज्ञानाः। पथ्याः। अनु। स्वाः॥२॥

अन्वय — प्रथमः यम नः गातुम् विवेद। एषा गव्यूति अपभर्तवै उ न। यत्र नः पूर्वे पितरः परेयुः एना जज्ञानाः स्वाः पथ्याः अनु।

दयानन्द-भाष्य —

पदार्थ — (यमः-नः-गातुं प्रथमः-विवेद) यमः-कालो नः-अस्माकं गातुम्-गमनम्-गतिम् “गातुं गमनम्” [निरु० ४।२१ प्रथमः सन् विवेद-लब्धवान्, ‘विदूल् लाभार्थोऽत्र’ असमाकं



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

जीवनगतिं प्रारम्भिकः समयः प्राप्तवानित्यर्थः (एषा गव्यूतिः—न—अपभर्तवा उ) एषा गव्यूतिरेष मार्गो नैवापहर्तव्यस्त्यक्तुं शक्यः "कृत्यार्थे तवैकेन्केन्वत्वनः" [अष्टा० ३।४।१४ (यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः) यस्मिन् मार्गेऽस्माकं पूर्वे पितरोऽस्मदपेक्षया पूर्वे जनकादयः पालयितृजनाः परेयुः—परागच्छन्ति कुलपरम्परया यात्रां कुर्वन्ति 'परेयुरिति सामान्ये काले लिट्' (एना जज्ञानाः स्वाः पथ्या—अनु) अनेनैव मार्गेण जाता उत्पन्नाः सर्वेऽपि पदार्थाः स्वाः—निजान् मार्गे भवान् धर्मान् "भवे छन्दसि" [अष्टा० ४।४।११० अनुगच्छन्ति।।२।।

**भावार्थ** — प्रत्येक प्राणी के गर्भकाल में ही जीवन की गति को आरम्भ कर दिया है। यावत् शरीरपात हो यह जीवनगति चलती रहती है। उस काल के अधीन होकर जनक आदि भी यात्रा करते हैं अपितु संसार के सभी जड़ चेतन वदार्थ अपनी—अपनी प्रकृति, योनि किंवा कर्मानुसार परिणाम और पुष्पफलादि को प्राप्त करते हैं। इसप्रकार यह यात्रा सबके लिए अवश्यम्भावी है।।२।।

### सायण—भाष्य

प्रथमः सर्वेषां मुख्यः यमः नोऽस्माकं प्रजानां गातुं शुभाशुभनिमित्तं विवेद जानाति। एषा गव्यूतिर्नापभर्तवा उ। अतिशयज्ञानयोगाद् यमस्य न केनचिद— पहर्तुमपनेतुं शक्यत इत्यर्थः। यत्र यस्मिन्मार्गे नोऽस्माकं पूर्वे पितरः परेयुः एता अनेन मार्गेण गच्छन्तो जज्ञाना जाता सर्वे स्वाः स्वभूताः पथ्याः स्वकर्ममार्गप्रत्यागता अनुगच्छन्ति।

**शब्दार्थ** — गातुम् = कर्म को, मार्ग को। प्रथमः = सबसे प्रमुख। विवेद = जानता है। गव्यूतिः = मार्ग, पद्धति। अपभर्तवै न = अपहरण नहीं हो सकता। परेयुः = गये हैं। एना = इसी मार्ग से। जज्ञानाः = उत्पन्न होने वाले। स्वा = अपने कर्मों के अनुसार। पथ्याः अनु = पथिक होकर जायेंगे।

**हिन्दी व्याख्या** — सबसे प्रमुख यम हमारे शुभ अशुभ कर्मों को या मार्ग को जानता है। यम के इस मार्ग का या पद्धति का कोई निश्चय ही अपहरण नहीं कर सकता। जिस मार्ग पर हमारे पूर्वज, पितृगण गये हैं, इसी मार्ग से उत्पन्न होने वाले हम प्राणी अपने—अपने कर्मों के अनुसार पथिक हो जावेंगे।

### व्याकरण —

**गातुम्** — 'गाङ् गतौ' से तुमुन् प्रत्यय। अथवा 'इङ् गतौ' धातु से तुमुन् प्रत्यय और 'इ' को 'गा' आदेश। एति येन सा गातु = मार्ग। अथवा गा +तु = गातु।

**विवेद** — विद् धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

**गव्यूति** — १/२५/१६ में इसकी व्याख्या दी जा चुकी है।

**अपभर्तवै** — अप+भृ+तवै (तुमुन् के अर्थ में वैदिक 'तवै' प्रत्यय) अथवा अप+हृ+तवै। 'ह' को 'भ' आदेश।

**परेयुः** — वास+इ धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

**एना** — 'एनेन' का वैदिक रूप।



## यम सूक्त “मृत्यु-सूक्त” (मण्डल-१०, सूक्त-१४)

जज्ञानाः — ‘जनी प्रादुर्भावे’ धातु से ‘कानच्’ प्रत्यय।

पथ्याः — पथि साधु। पथित्+यत् = पथ्य।

विशेष — सायण ने ‘प्रथमः’ का अर्थ ‘प्रमुख’ किया है, परन्तु मैक्डानल के अनुसार इसका अर्थ ‘सबसे पहला’ (First) है ‘गातु’ का अर्थ ‘मार्ग’ और ‘स्वाः’ का अर्थ ‘अनेक’ किया गया है।

छन्द के अनुरोध से ‘पथ्याः’ को ‘पथियाः’ पढ़ना चाहिये।

मण्डल १०

सूक्त १४

मंत्र ३

संहिता-पाठः

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः।

याँश्च देवा वावृधुयं च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति।

पद-पाठः

मातली। कव्यैः। यमः। अङ्गिर ऽभिः। बृहस्पतिः। ऋक्वभिः। ववृधानः। यान्।  
च। देवाः। ववृधुः। ये। च। देवान्। स्वाहा। अन्ये। स्वधया। अन्ये। मदन्ति॥३॥

अन्वय — मातली कव्यैः वावृधानः, यमः अङ्गिरोभिः, बृहस्पतिः, ऋक्वभिः। देवाः च यान् ववृधुः  
ये च देवान्, अन्ये स्वाहा मदन्ति अन्ये स्वधया।

दयानन्द-भाष्य —

पदार्थ — (मातली कव्यै-यमः-अङ्गिरोभिः-बृहस्पतिः-ऋक्वभिः- ववृधानः) मातली  
कव्यैर्वृधानो यमोऽङ्गिरोभिर्वृधानो बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वृधानो भवति। मातली-भूतली-पृथिवीतली  
पृथिवीस्थानी पृथिवीस्थानोऽग्निर्देवः, “मा-पृथिवी” “अयं वै पृथिवीलोको माऽयं हि लोको  
मित इव” [श० ८।३।१५ तस्यास्तल- मस्यास्तीति मत्वर्थे इनौ मातली पृथिवीस्थानोऽग्निः,  
स च द्विविधः प्राण्यन्तर्वर्ती जीवनाग्निरपरो भौतिकाग्निः, अस्ति चात्र मन्त्रे श्लेषालङ्कारः।  
तत्र प्राण्यन्तर्वर्ती जीवनाग्निः कव्यैरन्नादिभोजनैर्भीतिकश्चाग्निः कुः पृथिवी तत्र भवैः कव्यैः  
पार्थिवैर्धृततैलान्नकाष्ठादीन्धनद्रव्यैर्वर्धमानो भवति-वर्धत इति सिद्धान्तः। कुः पृथिवीत्यत्र  
प्रमाणम् “रविवर्षाद्ध देवाः पश्यन्त्युदितं रविं तथा प्रेताः। शशिमासाद्ध पितरः शशिगाः  
कुदिनाद्धमिह मनुजाः” [आर्यभट्टीय ज्यौतिषम् गीतिका १७ “जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्”  
[कठो० १।१।२८ “दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम्। तद्धव्यकव्यानां प्रदानेः सोऽतिथिः  
स्मृतः॥” [मनु० ३।१३० इत्यत्र कव्येनान्नादिभोजनं गृह्यते। यमो मध्यस्थानो देवः प्राण्यन्तर्वर्ती  
जीवनकालोऽपरश्च भौतिको लोकानामन्तकृद् विश्वकालोऽङ्गिरोभिः-अङ्गानां रसैः प्राणैः  
प्राणसञ्चरणैस्तुल्यकालावयवैः सूर्यरश्मिभिस्तन्निकालगतिभिर्वा वर्धते, “अङ्गित्ररसोऽङ्गानां  
हि रसः प्राणो वाऽङ्गानां रसः” [बृहदारण्य० १।३।६।३ “प्राणो वाऽङ्गिराः” [श० ६।१।२।२८  
प्राणः कालावयवः “प्राणादिः कथितो मर्तः (कलनात्मकः कालः)” [सूर्य सिद्धान्ते १।११  
बृहस्पतिरुर्ध्वस्थानः प्राण्यन्तर्वर्ती जीवनप्राणः, न तु श्वासप्रश्वासात्मकः, अपि तु जीवयति



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

यः प्राणिनं स जीवनशक्तिरूपः प्राणः जीवनप्राणः, यथा बृहदारण्यके "एष उ एव प्राणो बृहस्पतिर्वाग् वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः" [१।२।२० द्वितीयश्च भौतिको वर्षाधिपतिर्देवः, यथा निरुक्ते— "बृहस्पतिर्बृहतः पाता वा पालयिता वा" [निरु० १०।१२ "द्यौवे बृहत्" [शु० ६।१।२।३७ "असौ द्युलोको बृहत्" [ऐत० ८।२ द्यौश्च मेघमण्डलम् "असौ वै द्युलोकः समुद्रो नभस्वान्" [शु० ६।४।२।५ "द्यौर्वाऽपां सदनं दिवि हयापः सन्नाः" [शु० ७।५।२।५६ एवं मत्वा यास्केनर्गुदाहता—तस्यैषा भवति— अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्। निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य" [ऋ० १०।६८।८ व्यापनवता मेघेन जलमपिनद्धमासीत्तद् विशेषशब्देन बृहस्पतिर्निहृतवान् पृथिव्यामिति निरुक्तार्थः। स एवं द्विविधः शरीरभुवन भेदाभ्यं जीवनः प्राणो वर्षाधिपतिश्च बृहस्पतिर्देव द्वक्वभिर्विविधगुणवतीभिः कृत्रिमस्वाभाविकवाग्भिः विरवैः स्तनयित्नुभिर्गर्जनशब्दैर्वर्धते वृद्धिं महत्त्वमाप्नोति। वाग्पिरवयोः सम्बन्धश्च बृहस्पतिना सह समीपं दर्शित इव। ऋक्वभिरित्यत्र शब्दश्च सामान्यो धत्वर्थः, यथा निरुक्ते — "मित्रो जनान्यातयति प्रब्रुवाणः शब्दं कुर्वन्" [निरु० १०।२२ एवं सति (देवाः यान् च ववृधुः) पूर्वोक्ता मातल्यादिनामभिर्व्यवहृता अग्न्यादयो देवा वर्धमानाः सन्तो यांश्च जनान् ववृधुर्वधितवन्तस्तथा (ये च देवान्) ये जनाश्च देवान् पूर्वोक्ताग्न्यादीन् ववृधुर्वधितवन्तस्ते जनाः (अन्ये स्वधया—अन्ये स्वाहा मदन्ति) अन्ये केचित् स्वधयाऽन्नादिभोजनैर्मदन्ति तानग्न्यादीन् शरीरदेवान् तर्पयन्ति। 'अत्र मदेस्तृप्त्यर्थः' केचित् स्वाहाहुतिप्रदानेन मदन्ति तानग्न्यादीन् भौतिकदेवान् युञ्जतेऽनुतिष्ठन्ति, 'मद पृप्तियोगे' तृप्तिश्च योगश्च, "सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद् भवति" [महाभाष्य १।२।६ ३।१३।।

**भावार्थ** — मनुष्यों को चाहिए कि अपने व्यक्तिगत जीवन की उन्नति के लिए निज जीवनाग्नि, जीवनकाल और जीवन प्राण को उत्तमोत्तम भोजनों के सेवन से उपयुक्त बनावें तथा समाज वा सर्वप्राणियों के हितार्थ अग्निहोत्र से भौतिक अग्नि, सामष्टिक काल और मेघमण्डल को उपयुक्त करते रहें।॥३॥

## सायण-भाष्य

मातली। मातलिरिन्द्रस्य सारथिः तद्वानिन्द्रो मातली। स कव्यैः कव्यभाग्भिः पितृभिः सह ववृधानो वर्धमानो भवति। यमश्चाङ्गिरोभिः पितृविशेषैः सह वर्धमानो भवति। बृहस्पति तत्संज्ञकः, ऋक्वभिः स्तुतिपरैः वाक्यैर्ववृधानो भवति। यत्र देवा इन्द्रादयो यांश्च कव्यभागान्पितृन्ववृधुर्वर्धयन्ति ये च कव्यभागादयः पितरो देवानिन्द्रादीन्वर्धयन्ति तेषां मध्ये अन्ये इन्द्रादयः स्वाहा मदन्ति स्वाहाकारेण हृष्यन्ति अन्ये पितरः स्वधया स्वधाकारेण हृष्यन्ति।

**शब्दार्थ** — मातली = मातलि नामक सारथि वाले इन्द्र देवता। कव्यैः = कव्य नामक पितरों से। ववृधानः = वृद्धि को प्राप्त होते हैं। ववृधुः = बढ़ाते हैं। स्वाहा = स्वाहा के द्वारा। स्वधया = स्वधा के द्वारा। मदन्ति = प्रसन्न होते हैं।

**हिन्दी व्याख्या** — मातलि नामक सारथि वाले इन्द्र देवता कव्य नाम पितरों से



## यम सूक्त “मृत्यु-सूक्त” (मण्डल-१०, सूक्त-१४)

वृद्धि को प्राप्त होते हैं, यम अङ्गिरा नामक पितरों से वृद्धि को प्राप्त होते हैं, बृहस्पति ऋक्व नामक स्तुति करने वाले पितरों से वृद्धि को प्राप्त होते हैं। वहाँ इन्द्र आदि देवता जिन पितरों को बढ़ाते हैं और जो पितर इन्द्र आदि देवताओं को बढ़ाते हैं उनमें से दूसरे अर्थात् इन्द्र आदि देवता स्वाहा के द्वारा अर्थात् यज्ञों में स्वाहा ध्वनि के साथ अर्पित की गई हवि आदि के द्वारा और दूसरे अर्थात् पितर स्वधा के द्वारा प्रसन्न होते हैं।

**व्याकरण —**

**मातली** — मातलिः सारथिः यस्य स। मातलि + इनि = मातलिन्।

**वावृधानः** — वृध् + कानच्।

**स्वाहा** — स्वाहा, तृतीया का एकवचन। वैदिक रूप।

**स्वधया** — स्वधा, तृतीया का एकवचन।

**मदन्ति** — मद् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

**विशेष** — कव्य, अङ्गिरस् और ऋक्व पितरों के भेद हैं। इनमें कव्य का सम्बन्ध इन्द्र के साथ, अङ्गिरस् का सम्बन्ध यम के साथ और ऋक्व का सम्बन्ध बृहस्पति के साथ समझा जाता है। ऋक्व पुरोहितों का एक वर्ग भी कहलाता है। ऋक् + वन् = ऋक्वन्। वैदिक कर्मकाण्डों के अनुसार देवताओं को हवि स्वाहा के द्वारा दी जाती है (स्वाहाकारेण वषट्कारेण वा देवेभ्योन्नं प्रदीयते), और पितरों के लिये स्वधा के द्वारा दिया जाता है (स्वधा = पितरों का पिण्डदान)। मैक्डोनाल्ड ने ‘वावृधानः’ का अर्थ having grown strong किया है।

छन्द के आग्रह से ‘स्वाहान्ये’ को स्वाहाअन्ये’ के रूप में पढ़ना चाहिये।

मण्डल १०

सूक्त १४

मंत्र ४

संहिता-पाठः

इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः।

आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषा मादयस्व॥

पद-पाठः

इमम्। यम। प्रस्तरम्। आ। हि। सीद। अङ्गिरःभिः। पितृभिः। समस्विदानः।  
आ। त्वा। मन्त्राः। कविशस्ता। वहन्तु। एना। राजन्। हविषा। मादयस्व॥४॥

**अन्वय** — यम ! अङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः इमम् प्रस्तरम् आसीद। हि कविशस्ताः मन्त्राः त्वा आवहन्तु। राजन्! एना हविषा मादयस्व।

**दयानन्द-भाष्य** —

**पदार्थ** — (यम-अङ्गिरोभि-पितृभिः-संविदानः-इमं प्रस्तरं हि आसीद) यम-हे जीवनकाल! अङ्गानां रसैः प्राणैः सहानुकूलः संस्त्वमिमं प्रस्तरम्-शरीर रूपं यज्ञं जीवन वृद्धिहेतोरवश्यमासीद-समन्तात्प्राप्तो भव “यज्ञो वै प्रस्तरः” [शं० १।३।४।१० ‘पुरुषो वाव



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

यज्ञः' [छान्दो० ३।६।१ "पुरुषो वै यज्ञस्तस्य शिर एव हविर्धानं मुखमाहवनीयः" [गो० ५।४ (कविशस्ताः मन्त्राः त्वा आवहन्तु) विद्वत्प्रोक्तानि शरीरविद्यावित्प्रोक्तानि मन्तव्यानि त्वामावहन्तु—अत्र शरीरे समन्तात् प्रापयन्तु चिरं रक्षन्त्वित्यर्थः, अत एव (राजन्—एना हविषा मादयस्व) राजन्—हे राजमान देव! अनेन हविर्दानेनादानयोग्येन वस्तुना वा मां मादयस्व—युद्धस्व—संतोषय सजीवनं कुर्वित्यर्थः।।४।।

भावार्थ — प्राणशक्ति के अभ्यास और वैद्यक सिद्धान्तों के अनुसार खानपान हवनादि क्रियाओं से मनुष्य दीर्घजीवी और सुखी हो सकता है।।४।।

### सायण—भाष्य

हे यम! अङ्गिरोभिः एतन्नामकैः पितृभिः संविदानः ऐकमत्यं गतस्त्वम् इमम् प्रस्तरं विस्तीर्णं यज्ञविशेषम् आसीद आगत्योपविश। हि यस्मात् कविशस्ताः विद्वद्भिः ऋत्विग्भिः प्रयुक्ताः मन्त्रास्त्वा त्वाम् आ वहन्तु। हे राजन्! एना एतेन हविषा तुष्टो मादयस्व यजमानं हर्षय।।

शब्दार्थ — प्रस्तरम् = यज्ञ में बिछे हुए आसन पर। आसीद = आकर बैठों। अङ्गिरोभिः पितृभिः = अङ्गिरा नाम के पितरों के साथ। संविदानः = एक मत होता हुआ, मिलकर। कविशस्ताः = कवियों द्वारा गाये गये। आवहन्तु = आवाहन करें। एना = इसलिए। मादयस्व = हर्षित करो।

हिन्दी व्याख्या — हे यम ! अङ्गिरा नाम के इन पितरों के साथ एकमत होता हुआ या मिलकर इस विस्तृत यज्ञ विशेष में बिछे हुये आसन पर आकर बैठो। क्योंकि कवियों अर्थात् ऋषियों द्वारा प्रयुक्त किये गये या गाये गये मन्त्र तुम्हारा आवाहन करे, इसलिये हे राजन् यम इस हवि के द्वारा सन्तुष्ट होकर तुम यजमानों को हर्षित करो।

### व्याकरण —

प्रस्तरम् — प्र+स्तृ+अच् = प्रस्तर।

आसीद —आ षद् (सद्=सीद्) धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

संविदानः — सम् + विद् + शानच् — संविदान।

कविशस्ताः —कविभिः शंसिताः। कवि+शस्=क्त। अनुस्वार का लोप।

मन्त्राः — मन् + ष्टृन् — मन्त्र।

एना — इदम् या एतद्, तृतीया विभक्ति, एकवचन वैदिक रूप।

मादयस्व — णिजन्त 'मद्' धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

विशेष — मैक्डानल ने 'प्रस्तर' का अर्थ छितराई हुई घास (Strewn grass) और 'मादयस्व' का अर्थ आनन्दित हों (rejoice) किया है।

छन्द के आग्रह से 'सीदाङ्गिरोभिः' को 'सीद अङ्गिरोभिः' तथा 'वहन्त्वेना' को 'वहन्तु एना' पढ़ना चाहिये।



## यम सूक्त “मृत्यु-सूक्त” (मण्डल-१०, सूक्त-१४)

मण्डल १०

सूक्त १४

मंत्र ५

संहिता-पाठः

आङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभि यम वैरुपैरिह मादयस्व ।  
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्य ॥

पद-पाठः

आङ्गिरः ऽभिः । आ । गहि । यज्ञियेभिः । यम । वैरुपैः । इह । मादयस्व । विवस्वन्तम् ।  
हुवे । यः । पिता । ते । अस्मिन् । यज्ञे । बर्हिषि । आ । निऽसद्य ॥ ५ ॥

अन्वय — यमः वैरुपैः यज्ञियेभिः अङ्गिरोभिः आगहि, इह मादयस्व । यः ते पिता अस्मिन् यज्ञे  
विवस्वन्तम् हुवे बर्हिषि आ निषद्य ।

दयानन्द-भाष्य —

पदार्थ — (यज्ञियेभिः—वैरुपैः—अङ्गिरोभिः—यम—आ गहि इह मादयस्व)  
यज्ञार्हैर्यज्ञयोग्यैर्विभिन्नरूपैरङ्गिरोभिः—सायम्प्रातरमावस्यापौर्णमास्यादि—सन्धि— समप्राणैः  
कालावयवै सह हे समय! स्वमागह्यागच्छ तथाऽऽगत्येहास्मिन् यज्ञेऽस्मान्मादयस्व तर्पय  
(यः—ते पिता तं विवस्वन्तं बर्हिष्या निषद्य—अस्मिन् यज्ञे हुवे) यच्च ते पिता विवस्वान्  
सूर्योऽस्ति तमहमानसनमुपविश्योपविष्टः सन्नस्मिन् क्रियमाणे यज्ञे हुवे—आहुतिप्रदानेनाददे  
युनज्मि । ‘अत्र हु धातुरादानार्थः’ “हु दानादनयोरादाने च” [जुहोत्यादिः ॥ ५ ॥

भावार्थ — भिन्न—भिन्न पर्व दिवसों में जबकि सूर्यरश्मियां भी यज्ञ में संयुक्त हों ऐसे  
स्थान पर पार्वण यज्ञ समय को अनुकूल बनाने के लिए करने चाहियें ॥ ५ ॥

सायण-भाष्य

हे यम वैरुपैः विविधरूपयुक्तैः वैरुपसामप्रियैर्वा यज्ञियेभिः यज्ञयोग्यैः अङ्गिरोभिः सह  
आगहि आगच्छ । आगत्य च इह अस्मिन्यज्ञे मादयस्व यजमानं हर्षय । यो विवस्वान् ते तव  
पितास्ति अस्मिन् यज्ञे तं विवस्वन्तं हुवे आह्वयामि । स चास्तीर्णे बर्हिषि आ निषद्योपविश्य  
यजमानं हर्षयतु ।

शब्दार्थ — आगहि = आओ । यज्ञियेभिः = यज्ञ के योग्य । वैरुपैः = विविध रूपों  
को धारण करने वाले । मादयस्व = प्रसन्न करो । हुवे = आह्वान करता हूँ । बर्हिषि =  
कुशासन पर । आ निषद्य = बैठकर ।

हिन्दी व्याख्या — हे यम ! विविध रूपों को धारण करने वाले यज्ञ के योग्य  
अङ्गिरा नामक पितरों के साथ इस यज्ञ में आओ और आकर यजमानों को प्रसन्न करो ।  
जो विवस्वान् (सूर्य नामक तुम्हारे पिता हैं, इस यज्ञ में उन विवस्वान् का मैं आवाहन करता  
हूँ । वे बिछे हुये कुशासन पर बैठकर यजमानों को आनन्दित करें ।

व्याकरण —

गहि — ‘गम्’ धातु के लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन का वैदिक रूप ।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

यज्ञियेभिः — 'यज्ञम्' अर्हति' अर्थ में यज्ञ+घ (इय) —यज्ञिय । तृतीया के बहुवचन में वैदिक रूप । लोक में 'यज्ञियैः' रूप होगा ।

वैरूपैः — विरूपस्य भावः अर्थ में विरूप + अण = वैरूप ।

विवस्वन्तम् — वि+वस्+विच्+मतुप् ।

हुवे — ह्वे धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन, वैदिक रूप ।

निषद्य — नि+सद्+क्तवा (ल्यप्) ।

विशेष — मैकडानल ने यज्ञियेभिः' का अर्थ आराधनीय (adorable) किया है ।

छन्द के आग्रह से 'विवस्वन्तम्', 'ऽस्मिन्' और 'बहिष्या' को क्रमशः, विवस्वन्तम्', अस्मिन्' और 'बहिषि आ' के रूप में उच्चारण करना चाहिये ।

मण्डल १०

सूक्त १४

मंत्र ६

संहिता-पाठः

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।

तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥

पद-पाठः

अङ्गिरसः । नः । पितरः । नवग्वाः । अथर्वणिः । भृगवः । सोम्यासः । तेषाम् । वयम् । सुमतौ । यज्ञियानाम् । अपि । भद्रे । सौमनसे । स्याम ॥६॥

अन्वय — अङ्गिरसः, अथर्वाणः, भृगवः न पितरः, नवग्वाः सोम्यासः । वयम् तेषाम् यज्ञियानाम् सुमतौ स्याम अपि सौमनसे भद्रे ।

दयानन्द-भाष्य —

पदार्थ — (अङ्गिरसः पितरः नवग्वाः—अथर्वाणः भृगवः सोम्यासः नः) अङ्गिरसः— ग्रीष्मर्तुसम्बन्धिसूर्यरश्मयः, पितरः वर्षर्तुसम्बन्धिरविकरणाः, नवग्वः शरदृतुसम्बन्धिभानुरश्मयः, अथर्वाणः हेमन्तर्तुसम्बन्धिरवि—किरणाः, भृगवः— शिशिरर्तुसम्बन्धिसूर्यरश्मयः, सोम्यासः—वसन्तर्तुसम्बन्धिसूर्यकिरणाः, नः—अस्मभ्यं जीवनाय सन्ति । पूर्वस्मिन्मन्त्रे 'विवस्वन्तं हुवे' इति वचनात् तेन विवस्वता साकमृतवस्तत्सहिताः सूर्यरश्मयश्चापि युञ्जन्त इति दर्शयितुमङ्गिरःप्रभृतीनां वचनम् । अन्यत्रापि "आयातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवीमुस्त्रियाभिः" अथ० ३।८।१ सूर्यः, ऋतुभिरुस्त्रियाभिश्च सह आयातीति सिद्धान्तः । अत्र तु ते रश्मयः ऋतुसहचरिता वर्णिताः सन्ति । एवंत्रच्च विज्ञानम् । "बीलु चिद् दृढा पितरो न उक्थैरद्रि रुजन्नङ्गिरसो रवेण । चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वर्विविदुः केतुमस्राः" [ऋ० १।१।२ अत्रापि दर्शितं यदङ्गिरसो ग्रीष्मर्तुसम्बन्धिनः सूर्यरश्मयोऽद्रिं मेघं चक्रुः कृतवन्तस्तमेवाद्रिं मेघं पितरो वर्षर्तुसम्बन्धिरविकरणा रुजन् भङ्गयन्ति नीचैर्निपातयन्ति पुनश्चोस्रा विविधगुणवासयितारः शारदाः सूर्यकिरणा आदित्यं दिनं पृथिवीं प्राप्नुवन्ति,



## यम सूक्त “मृत्यु-सूक्त” (मण्डल-१०, सूक्त-१४)

एवमृत्युसाम्यं दर्शितम् । ऋतुत्रयत्वमपि भवति यथा चरके — “विकृतास्त्वेनं महता विपर्ययेणोपपादयन्ति, ऋतवस्त्रय इव” [चरके १२।१३ तथा कृत्वैवात्र पितर इति शब्दो न विशेषणरूपेणापित्वङ्गिर— आदिवदेवतारूपेण स्वतन्त्र एव । सायणेन ‘पितरो नवग्वाः सोम्यासः’ त्रयोऽप्यङ्गिरादीनां विशेषणवाचकाः सन्तीति व्याख्यातं परन्तु सूक्तभाष्यावतरणे “अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा इति षष्ठ्या अङ्गिरः पितृथर्वभृगुलक्षणा लिङ्गोक्ता देवताः” एवमत्र तु सायणेन ‘पितरः’ इति शब्दस्य देवतात्वं प्रतिपादितम् । अस्तु, निरुक्तेऽप्यस्मद्वत् पितर इत्यस्य स्वतन्त्रं देवतात्वमेव प्रतिपादितमङ्गिरादीना— मर्थाश्च यथा— “पिता पाता वा पालयित्वा वा ..... पिता दुहितुर्गर्भः दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः” [निरु० ४।२१ इति लक्ष्यरकृत्योक्तमत्र “पितरो व्याख्याताः । अङ्गारेष्वङ्गिराः अर्चिषि भृगुः संबभूव” इति कृत्वैवोक्तं यास्केन । “अङ्गिरसो व्याख्याता, भृगवो व्याख्याताः, अथर्वाणोऽथनवन्तः, थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः । तेषामेषा साधारणा भवति— ‘अङ्गिरसो नः पितरो ..... ।’ अङ्गिरसो नः पितरो नवगतयो नवनीतगतयो वाथर्वाणो भृगवः सोम्याः सोमसम्पादिनः” [निरु० ११।१६ “रसः सोमः” [श०७।३।१३ सोम्यासः सोमसम्पादिनो रससम्पादिनो वसन्तर्तुसम्बन्धिसूर्यरश्मयः इत्यर्थः । एवं नात्राङ्गिरादयो मृतपितरोऽपि तु सन्ति देवा ऋतुयुक्तसूर्यरश्मयः । उक्तं च निरुक्ते ‘पितर’ इत्याख्यानम् । “माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः” [निरु० ११।६६ रश्मयो देवाः — “उदिता देवाः सूर्यस्य” (तेषां यज्ञियानां सुमतौ भद्रे—अपि सौमनसे वयं स्याम) “तेषां यज्ञियानां सुमतौ कल्याण्यां मतौ भद्रे भन्दनीये भाजनवति वा कल्याणे मनसि स्याम” [निरु० ११।१६ तेषां पूर्वोक्तानां यज्ञार्हाणां सुमन्तव्ये व्यवहारे भाजनवति कल्याणे मनसि सुखयुक्ते प्रसन्नभावे वर्तेमहि ।।६।।

**भावार्थ** — प्रत्येक ऋतु को स्वानुकूल और सुखमय बनाने के लिए पुष्कल ऋतुयाग करने चाहिये ।।६।।

### सायण—भाष्य

अङ्गिरसः अङ्गिरोनामकाः अथर्वाणः अथर्वनामकाः भृगवाः भृगुनामकाश्च नोऽस्माकं पितरः नवग्वा अभिनवगमनयुक्ताः । सदा नूतनवत्प्रीतिजनका इत्यर्थः । ते च सोम्यासः । सोममर्हन्तीति सोम्याः । यज्ञियानां यज्ञार्हाणां तेषां सुमतौ अनुग्रह— युक्तायां बुद्धौ वयं स्याम सर्वदा तिष्ठेम । अपि च सौमनसे कारणे कल्याणे फले सम सर्वदा तिष्ठेम ।

**शब्दार्थ** — अङ्गिरसः = अङ्गिरा नाम के । नवग्वाः = नवीन गमन वाले । अथर्वाणः = अथर्वा नाम के । भृगवः = भृगु नाम के । सोम्यासः = सोमपान के अधिकारी, चन्द्रमा के समान आह्लादक । सुमतौ = पूर्ण बुद्धि में । यज्ञियानाम् = यज्ञ के योग्य । भद्रे = कल्याण के । सौमनसे = प्रसन्नता को उत्पन्न करने वाले ।

**हिन्दी व्याख्या** — अङ्गिरा नाम के, अथर्वा नाम के और भृगु नाम के हमारे पितर नवीन गमन वाले अर्थात् नई वस्तु के समान तथा प्रसन्नता देने वाले और सोम—पान के अधिकारी अथवा चन्द्रमा के समान आह्लादक हैं । हम सब उन यज्ञ के योग्य पितरों की



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

कृपा से पूर्ण बुद्धि में सदा रहें और प्रसन्नता को उत्पन्न करने वाले कल्याण के भागी बनें।  
व्याकरण —

**नवग्वाः** — नव+गम्+औणादिक ड्वन (व) प्रत्यय 'टि' का, 'गम्' के 'अम्' का लोप लोप होने पर = नवग्व।

**सोम्यासः** — सोमम् अर्हति अर्थ में सोम + यत् = सोम्य। प्रथमा के बहुवचन में वैदिक रूप। लोक में 'सोम्याः' रूप होगा।

**सौमनसे** — 'शोभनं' मनः = सुमनस्। सुमनसः भावः अर्थ में सुमनस्+अण्।

**विशेष** — नवग्व शब्द के तीन अर्थ मिलते हैं — (१) नव पूर्वज पुरोहितों का वर्ग (२) नई गौओं को जीतने वाले पुरोहित और (३) नये स्थानों पर जाने वाले पुरोहित। सायण ने 'नवग्वाः' पद को विशेषण के रूप में लिया है, परन्तु पीटर्सन ने इसको संज्ञा बताया है। रॉथ के अनुसार नवग्व और अथर्वन् ये दोनों प्राचीन काल की धार्मिक जातियाँ थीं। उसने 'सोम्यासः' का अर्थ 'सोमरस का प्रदान करने वाले' (Offerers of soma) किया है।

छन्द के अनुरोध से 'सोम्यासः' को सोमियासः और 'स्याम' को सियाम पढ़ना चाहिये।

मण्डल १०

सूक्त १४

मंत्र ७

संहिता-पाठः

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।

उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्॥

पद-पाठः

प्र। इहि। प्र। इहि। पथिभिः। पूर्व्येभिः। यत्र। नः। पूर्वे। पितरः। पराऽईयुः। उभा। राजाना। स्वधया। मदन्ता। यमम्। पश्यासि। वरुणम्। च। देवम्॥७॥

**अन्वय** — यत्र नः पूर्वे परेयुः, पूर्व्येभिः प्रेहि प्रेहि। स्वधया मदन्ता राजानाः यमम् वरुणम् च उभा देवम् पश्यासि।

**दयानन्द-भाष्य** —

**पदार्थ** — (पूर्व्येभिः पथिभिः प्रेहि-प्रेहि) पूर्वोत्पन्नवृहज्जनैः कृतैर्मर्यादितैर्जीवनमार्गेरिष्टा-पूर्त्तादिभिराचरणैर्हे जीव! त्वं प्रेहि प्रेहि, जीवनान्तं गच्छ गच्छ पुनः पुनर्गच्छ नित्यं गच्छेत्यर्थः "नित्यवीप्सयोः" [अष्टा० ८।१।४ (यत्र न पूर्वे पितरः परेयुः) येषु वर्तमाना अस्माकं पूर्वे पितरः-पालकजनाः परागता जीवनान्तं प्राप्ताः सन्ति (स्वधया-मद-ता-उभा राजाना यमं वरुणं च देवं पश्यासि) उदकेन त्वां मादयन्तौ तर्पयन्तौ "हर वैवस्यतोदकम्" [कठो० १।७ इति चोक्तम्। 'मदन्ता-इत्यत्रान्तर्गतो णिजर्थः' "स्वधा-उदकनाम" [निघ० १।१२ उभा राजानोभौ राजमानौ महत्सत्ताकौ सर्वत्र व्याप्तौ, यमम्-यमनशीलं सर्वान्



## यम सूक्त “मृत्यु-सूक्त” (मण्डल-१०, सूक्त-१४)

पदार्थान् स्वायत्तीकर्तारमन्तकालं तथा वरुणं जन्मनोऽधिष्ठातृदेवं नूतनोत्पादनाय सर्वपदार्थ-  
वरणशीलमाकाशे वर्तमानं मेघस्यं सूक्ष्मजलं देवं पश्यसिपश्ये: “लिङ्गं लेट्” {अष्टा०  
३।४।७ “आपो यच्च वृत्वाऽतिष्ठस्तद्वरणोऽभवत्तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते  
परोक्षेण” {गोपथ १।७।७।।

**भावार्थ** — जीव का आयु को पूर्ण करके मृत्युरूप अन्तकाल और फिर पुनर्जन्म के लिये  
मेघ के सूक्ष्म जल रूप वरुण का प्राप्त करना अनिवार्य है। अतः जीवन की अस्थिरता  
को ध्यान में रखते हुए उत्तम कर्ममार्गों पर चलना चाहिये। ॥७॥

### सायण-भाष्य

यत्र यस्मिन् स्थाने नोऽस्माकं पूर्वं पुरातनाः पितरः पिता पिता महादयः परेयुः  
पूर्व्येभिः पूर्वस्मिनकाले भवेः। अनादिकालप्रवृत्तैरित्यर्थः। पथिभिर्मार्गैः। हे मत्पितस्तत्स्थानं  
प्रेहि प्रगच्छ शीघ्रं गच्छ। तत्र गत्वा च स्वधया अमृतान्नेन मदन्त। तृप्यन्तौ राजानौ उभा  
उभौ यमं देवं द्योतमानं वरुणं च पश्यासि पश्य।।

**शब्दार्थ** — प्रेहि = शीघ्र जाओ। **पूर्व्येभिः** = प्राचीन पितामह आदि के। **पूर्व**  
**पितरः** = प्राचीन पितामह आदि। **परेयुः** = गये हैं। **राजाना** = दीप्तिमान् होते हुये।  
**स्वधया** = भोग्य पदार्थों से। **मदन्ता** = तृप्त होते हुये।

**हिन्दी व्याख्या** — जिस स्थान पर हमारे प्राचीन पितामह आदि गये हैं, पूर्वकाल  
में बने हुये अर्थात् सनातन काल से चले आने वाले उन मार्गों से, हे मेरे पिता तुम शीघ्र  
जाओ, शीघ्र जाओ। वहाँ जाकर तुम पितरों के योग्य भोज्य पदार्थों से तृप्त होते हुये और  
दीप्तिमान् होते हुये वरुण और यम इन दोनों देवों को देखो।

### व्याकरण —

**पूर्व्येभिः** — पूर्व भवैः अर्थ में ‘यत्’ प्रत्यय। पूर्व+य = पूर्व्य। तृतीया का बहुवचन  
वैदिक रूप।

**प्रेहि** — प्र+इ, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

**परेयुः** — परा+इण गतौ धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

**उभा, राजानाः** — प्रथमा विभक्ति, द्विवचन। वैदिक रूप। लोक में — उभौ,  
राजानौ।

**मदन्ता** — ‘मदि, हर्षे’ धातु, ‘शतृ’ प्रत्यय। प्रथमा विभक्ति, द्विवचन। वैदिक रूप।

**पश्यासि** — दृश् (पश्य) धातु, लेट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

**विशेष** — यम और वरुण को राजा कहा गया है। अवेस्ता में भी इनको राजा  
कहा गया है। पौराणिक साहित्य में यम को राजा के रूप में (यमराज) से स्मरण किया  
जाता है। छन्द.के आग्रह से ‘पूर्व्येभिः’ पढ़ना चाहिये।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

मण्डल १०

सूक्त १४

मंत्र ८

संहिता-पाठः

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ।  
 हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥

पद-पाठः

सम् । गच्छस्व । पितृभिः । सम् । यमेन । इष्टापूर्तेन । परमे । विऽओमन् । हित्वायं ।  
 अवद्यम् । पुनः । अस्तम् । आ । इहि । सम् । गच्छस्व । तन्वा । सुवर्चाः ॥ ८ ॥  
 अन्वय — परमे व्योमन् पितृभिः संगच्छस्व, सम् यमेन, इष्टापूर्तेन । अवद्यम् हित्वाय पुनः  
 अस्तम् आ इहि । सुवर्चा तन्वा संगच्छस्व ।

दयानन्द-भाष्य —

पदार्थ — (परमे व्योमन् पितृभिः सङ्गच्छस्व यमेन-इष्टापूर्तेन सम्) हृदयाकाशे वर्तमानस्त्वं  
 हे जीव! प्राणैः सह सङ्गतो भव पुनर्जन्मप्राप्तय इत्यर्थः "यो वेद निहितं गुह्यायां परमे  
 व्योमन्" तैत्ति०उप० २।१।१ "व्योमन्यात्मा प्रतिष्ठितः" [मुण्डको० २।२।७ तत्रैव च यमेन  
 जीवनकालेन सह सङ्गतो भव । इष्टापूर्तेनानुष्ठितेन यज्ञादिशुभकर्मरूपेण धर्मेण सह  
 सङ्गतो भव "एक एव सुहृद्वर्मा निधनेऽप्यनुयाति यः" [मनु० ८।१७ इति चोक्तम् (अवद्यं  
 हित्वाय पुनः अस्तम् एहि सुवर्चाः तन्वा सङ्गच्छस्व) गर्ह्यमिदं शरीरं त्यक्त्वा पुनरस्तम्-पुनर्गृहं  
 पुनर्योनि पुनर्जन्मेत्यर्थः, "अस्त गृहनाम" [नि०३।४ एहि प्राप्नुहि । तत्र च पुनर्जन्मनि  
 सुन्दरेण शरीरेण सह सङ्गतो भव । 'सुवर्चाः' इत्यत्र "सुपां सु..." [अष्टा ७।१।३६ इति  
 तृतीया स्थाने सुप्रत्ययः ॥ ८ ॥

भावार्थ — प्रत्येक जीव वर्तमान देहपात के अनन्तर पुनः प्राणों और जीवनकाल से सङ्गत  
 होता है और कर्मों के अनुसार पुनः नूतन नाड़ी आदि से युक्त शरीर को धारण करता  
 है ॥ ८ ॥

सायण-भाष्य

हे मदीयः पितः ततस्त्वं परमे उत्कृष्टे व्योमन् व्योमनि स्वर्गाख्ये स्वभूतैः पितृभिः सह  
 संगच्छस्व । इष्टापूर्तेन श्रौतस्मार्तदान फलेन संगच्छस्व । तत इष्टापूर्तेन सहागम्य अवद्यं  
 पापं हित्वाय परित्यज्य अस्तं त्रियमाणाख्यं गृहमेहि आगच्छ । ततः सुवर्चाः । तृतीयार्थे  
 प्रथमा । सुवर्चसा शोभनदीप्तियुक्तेन तन्वा स्वशरीरेण संगच्छस्व ।

शब्दार्थ — संगच्छस्व = मिलो । इष्टापूर्तेन = श्रुति-स्मृति विहित दान आदि  
 धर्म के अनुष्ठानभूत फलों से । परमे व्योमन् = उत्कृष्ट पितृलोक में । हित्वाय = छोड़  
 कर । अवद्यम् = पाप को । अस्तम् = घर । तन्वा = शरीर से । सुवर्चाः = दीप्ति युक्त ।

हिन्दी व्याख्या — हे मेरे पिता ! उस उत्कृष्ट पितृ लोक में तुम अपने पूर्वजों से  
 मिलो, यम देवता से मिलो और श्रुति-स्मृति विहित दान आदि धर्म के अनुष्ठानभूत फलों  
 से मिलो । पाप को छोड़ कर पुनः इस क्रियमाण घर में आओ और यहाँ सुन्दर दीप्ति से



## यम सूक्त “मृत्यु-सूक्त” (मण्डल-१०, सूक्त-१४)

युक्त शरीर से संयुक्त होओ अर्थात् सुन्दर शरीर प्राप्त करो।

**व्याकरण —**

**इष्टापूर्तेन** — इष्टं च पूर्तं च तयोः समाहारः। द्वन्द्व समास। इष्ट के ‘अ’ को दीर्घ।

**संगच्छस्व** — सम्+गम्, मध्यम पुरुष, एकवचन, सम् के योग में गम् धातु में आत्मनेपद।

**व्योमन्** — सप्तमी विभक्ति का एकवचन। वैदिक विभक्ति का लोप।

**हित्वाय** — हा+क्त्वा = हित्वा का वैदिक रूप। ऋग्वेद में हित्वा, हित्वी, हित्वाय के तीन रूप मिलते हैं। हित्वाय में “वत्वो यक्” सूत्र से यक् प्रत्यय जोड़ा गया है।

**सुवर्चाः** — शोभनं वर्चः यस्य तत्। तृतीया का एकवचन। वैदिक विभक्ति का लोप।

**अस्तम्** — अस्यते क्षिप्यते सर्वं वस्तु जातमस्मिन् अर्थ में अस्+त = अस्त। घर।

**विशेष** — रॉथ ने ‘इष्टापूर्त’ का अर्थ ‘इच्छाओं की पूर्ति करना’ किया है। परन्तु उनका यह अर्थ ठीक नहीं है। ‘इष्ट’ का अर्थ ‘अज्ञ’ है और ‘दान’ आदि शुभ कर्मों को पूर्त कहा जाता है। रॉथ ने स्वयं ‘चन्द्रकोश’ में से ‘पूर्त’ का अभिप्राय उद्धृत किया है —

वापी कूपतडागादि देवतायतनानि च।

अन्नप्रदानमारामाः पूर्तभर्ध्या प्रचक्षते।।

एकाग्निकर्म हवनं त्रेतायां यच्च हूयते।

अन्तर्वेद्यां च यददानमिष्टं तदभिधीयते।।

छन्द के आग्रह से ‘यमेनेष्टापूर्तेन’, ‘व्योमन्’ ‘गच्छस्व’ और ‘तन्वा’ को क्रमशः ‘यमेन इष्टापूर्तेन’, वि ओमन्’, ‘गच्छसुव’ और ‘तनुवा’ पढ़ना चाहिये।

मण्डल १०

सूक्त १४

मंत्र ९

**संहिता-पाठः**

अपेत॑ वीत॑ वि च॑ सर्पतातोऽस्मा एतं॑ पितरों॑ लोकमक्रन्।

अहो॑भिरदिभर॑क्तुभिर्व्यक्तं॑ यमो ददात्यवसानं॑ अस्मै।

**पद-पाठः**

अपं। इत। वि। इत। वि च। सर्पत। अतः। अस्मै। एतम्। पितरः। लोकम्। अक्रन्। अहःऽभिः। अतऽभिः। अक्तुऽभिः। विऽअक्तम्। यमः। ददाति। अवऽसानम्। अस्मै।।१।।  
**अन्वय** — अतः अपेत, वीत, विसर्पत च। अस्मै पितरः एतम् लोकम् अक्रन्। यमः अस्मैः अहोभिः अद्भिः अक्तुभिः व्यक्तम् अवसानम् ददाति।

**दयानन्द-भाष्य —**

**पदार्थ** — (पितरः अस्मै एतं लोकम्-अक्रम) ये पितरः सूर्यरश्मयोऽस्माच्छरी- राज्जीवं नीत्वास्मा एतं लोकमिमं पृथिवीलोकं पुनर्जन्माथ कुर्वन्ति “छन्दसि लुङ्लङ्लिटः”



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

{अष्टा० ३।४।६ सामान्यकाले लुङ्। "सविता ते शरीरेभ्यः पृथिव्यां लोकमिच्छतु। तस्मै युज्यन्तामस्त्रियाः" {यजु० ३५।२ (अतः—अपेत वीत विसर्पत च) अस्मात् स्थानात्तेऽपगच्छन्तु वियन्तु विसर्पन्तु, 'अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः'। अस्माच्छरीराज्जीवमादाय सूर्यरश्मयः क्रमेण पृथिव्यामपगच्छन्ति प्रसरन्ति अन्तरिक्षे वियन्ति विस्तरेण गच्छन्ति, दिवि विसर्पन्ति सौक्ष्म्येन सर्पन्तीति सिद्धान्तितम्। यतो हि सूर्यस्त्रिधा स्वरश्मीन् प्रेरयति। उक्तं च वेदे — "इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्" {ऋ० १।२२।१७ तथा च निरुक्तमत्र "यदिदं किञ्चितद्विक्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदं त्रेधा भावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति" {निरु० १२।१६ (यमः—अस्मै—अहोभिः—अद्भिः— अक्तुभिः—व्यक्तम्—अवसानं ददाति) यमो विश्वकालोऽस्मै जीवायाहर्गणेन, उषोगणेन, रात्रिगणेनार्थात्कतिययौहरुषोरात्रिभिः प्रकटीकृतं विरामं ददाति पृथिव्यन्तरिक्षद्युस्थानगमनक्रमैः पुनर्जन्मप्राप्तये स्थिरीकरोतीत्यर्थः "तिस्रो रात्रीर्यदवात्सी—गृहे मे" {कठो० इति चोक्तम्। ॥६॥

**भावार्थ** — शरीरपात हो जाने के पश्चात् जीव सूर्य की पृथिवी सम्बन्धी रश्मियों को प्राप्त होता है पुनः अन्तरिक्ष सम्बन्धी किरणों को और पश्चात् द्युस्थान सम्बन्धी रश्मियों तक पहुँचता है एवं स्थूल शरीर के बिना ही कुछ दिन, उषा और रात्रियों तक विराम में रहकर पुनर्जन्म में आता है। ॥६॥

### सायण—भाष्य

श्मशाने पूर्वस्थिताः हे पिशाचादयः अतः अतःअस्मान्मृतयजमानदहनस्था— नादपेत अपगच्छत। वीत विशेषेण गच्छत। विसर्पत च इदं स्थानं परित्यज्य नानाभावेन दूरतरं देशं गच्छतेत्यर्थः। पितरः अस्मै मृतयजमानस्यार्थाय एतं लोकमिदं दहनस्थानम् अक्रन् यमस्याज्ञया अकुर्वन्। यमोऽप्यहोभिर्दिवसैः अद्भिः अभ्युक्षणोदकैः अक्तुभिः रात्रिभिर्व्यक्तं संगतम्। शुद्धिनिमित्तैः कालोदकादिभिः शोधितमित्यर्थः। अवसानम् दहनस्थानम् अस्मै मृतयजमानस्यार्थाय ददाति दत्तवान्।

**शब्दार्थ** — अपेत = हट जाओ। वीत = विशेष रूप से चले जाओ। विसर्पत = सरक जाओ। अस्मै = इस मृत यजमान के लिये। अक्रन् = बनाया है। अद्भिः = जलों के द्वारा। अक्तुभिः = रात्रियों द्वारा। व्यक्तम् = पवित्र किये गये। अवसानम् = स्थान को।

**हिन्दी व्याख्या** — हे श्मशान में रहने वाले पिशाचदिको ! इस स्थान से हट जाओ, विशेष रूप से चले जाओ और इस स्थान को छोड़कर सरक जाओ। पितरों ने इस मृत यजमान के लिये इस लोक को अर्थात् दहन—स्थान को बनाया है। यम ने इस मृत यजमान के लिये अनेक दिवसों से, जलों के द्वारा और रात्रियों के द्वारा पवित्र किये गये स्थान को दिया है।

### व्याकरण —

अक्रन् — 'कृ धातु' लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन। वैदिक रूप।



## यम सूक्त “मृत्यु-सूक्त” (मण्डल-१०, सूक्त-१४)

व्यक्तम् — विं + अञ्ज् + क्त ।

अक्तुभिः — अनक्ति सिञ्चति अवश्यायेन पृथिवीम् इस अर्थ में अञ्ज्+क्तु ।

अवसानम् — अव+षो अन्तकर्मणि + ल्युट् (अन) ।

विशेष — यहाँ यह सम्बोधन यम के अनुचरों के प्रति भी हो सकता है ।

छन्द की पूर्ति के लिये ‘ऽस्मा’, ‘व्यक्तम्’ और ‘ददात्यवसानम्’ को क्रमशः ‘अस्मा’, वियक्तम् और ‘ददाति अवसानम्’ पढ़ना चाहिये ।

मण्डल १०

सूक्त १४

मंत्र १०

संहिता-पाठः

अतिं द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा ।

अथा पितृन्सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥

पद-पाठः

अतिं । द्रव । सारमेयो । श्वानौ । चतुःऽअक्षौ । शबलौ । साधुना । पथा । अथ । पितृन् । सुऽविदत्रान् । उपं । इहि । यमेन । ये । सधऽमादंम् । मदन्ति ॥ १० ॥

अन्वय — साधुना पथा चतुरक्षौ श्वानौ सारमेयौ शबलौ अति द्रव । अव सुविदत्रान् पितृन् उपेहि ये यमेन सधमादं मदन्ति ।

दयानन्द-भाष्य —

पदार्थ — (साधुना पथा चतुरक्षौ शबलौ सारमेयौ श्वानौ अतिद्रव) हे जीव! त्वं धर्म्येण मार्गेण चतुष्प्रहरकौ चित्रवर्णौ सारमेयौ—सरमाया उषायाः पुत्रावहोरात्रौ, ‘सरमेति’ शब्दो मध्यस्थानदेवताप्रकरणे पदनामसु निघण्टौ पठितत्वान्निरुक्ते च सरमा सरणादिति व्याख्यातत्वात्तददितिशब्देन साकं वर्णनाच्च सरमा शब्दस्यार्थ उपाऽत्र गृह्यते । सूर्यचन्द्रप्रकाशाभ्यां चित्रवर्णावहोरात्रौ शबलावत्रोच्येते । शबलावहोरात्रावित्यत्र प्रमाणम् — “श्मामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानो । अर्वाडेहि मा विदीष्यो मात्र तिष्ठः पराङ् मनाः” [अथ० ८।१।६ प्रकृते दशमन्त्रे ‘श्वानौ’ एकादशे च ‘पथिरक्षी’ एवं द्वावपि शब्दौ पथिरक्षी श्वानौ, अथर्ववेदस्यैकस्मिन्नेव मन्त्रे पठितौ स्तः । तन्मन्त्रे च यत् कौषीतकिब्राह्मणवचनं तदत्र प्रमाणमुद्दिश्यते “अहवै शबलो रात्रिः श्यामः” [को० २।६ इति प्रामाण्याद्दृष्टमन्त्रोक्तशबलौ पथिरक्षी श्वानावहोरात्राविति सिद्धम् । तावहोरात्रौ हे जीव! त्वमतिद्रव सम्यक् प्राप्तो भव (अथ सुविदत्रान् पितृन्—उपेहि ये यमेन साधमादं मदन्ति) अथान्तर हे जीव! सुशोभनाम् कल्याणसम्पादकान् पालकान्—ऋतुसहचरितान् सूर्याश्मीनुपेह्युपागच्छ, ये पितरो रश्मयो यमेन—कालेन सहयोगं भजन्ते ॥ १० ॥

भावार्थ — देहान्त के पश्चात् जीव शीघ्र—शीघ्र दिन रातों को सूर्य रश्मियों द्वारा पुनर्जन्मार्थ प्राप्त होता है ॥ १० ॥



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****सायण-भाष्य**

हे अग्ने साधुना पथा समीचीनेन मार्गेण श्वानावुभौ अतिद्रव अतिक्रम्य गच्छ । यमसम्बन्धिनौ यौ श्वानौ प्रेतस्य बाधकौ तौ परित्यज्य समीचीनेन मार्गेण प्रेतं नयेत्यर्थः । कीदृशौ श्वानौ । सारमेयौ । सरमा ना काचित् प्रसिद्ध देवशुनी । तस्याः पुत्रौ चतुरक्षौ उपरिभागे पुनरप्यक्षि ययोस्तादृशौ । अथ शोभनमार्गेण गमनानन्तरं ये पितरो यमेन सधमादं सह मदन्ति प्राप्नुवन्ति तान्सुविदत्रान् सुष्ट्वभिन्पितृन् उपेहि उपगच्छ ।

**शब्दार्थ** — सारमेयौ = सरमा के पुत्र । अतिद्रव = पार करा दो । चतुरक्षौ = चार आँखों वाले । शबलौ = चितकबरे । सुविदत्राम् = अच्छे ज्ञान वाले । उपेहि = प्राप्त करो । सधमादम् = सहर्ष । मदन्ति = आनन्द को प्राप्त करते हैं ।

**हिन्दी व्याख्या** — हे अग्ने ! तुम उत्तम मार्ग से चार आँखों वाले, चितकबरे, सरमा (देवताओं की कुतियाँ) के पुत्र दोनों कुत्तों को बचा कर इस पिता को पार करा दो । हे पिता ! इस सुन्दर मार्ग से जाने के बाद तुम अच्छे ज्ञान वाले पितरों को प्राप्त करो, जो यम के साथ सहर्ष आनन्द को प्राप्त करते हैं ।

**व्याकरण —**

चतुरक्षौ — चत्वारि अक्षीणि पयोस्तौ । चतुर्+अक्षि+अच् = चतुरक्ष ।

सारमेयौ — सरमायाः अपत्यम् अर्थ में सरमा+ठक् (एय) = सारमेय ।

द्रव — 'द्रु' धातु, लोट लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

सुविदत्रान् — विद्+अत्रच् = विदत्र । शोभनं विदत्रं यस्व सं सुविदत्रः ।

सधमादम् — मदी हर्षे+घञ् = माद । मादेन सह = सधमादम् 'ह' को 'ध' आदेश ।

**विशेष** — अवेस्ता में भी चार आँखों वाले एक कुत्ते का वर्णन आता है, जो इस पुल पर से देखता है, जहाँ से मृत आत्मायें स्वर्ग को जाती हैं और भूत पिशाच पुण्यात्माओं के पास से चले जाते हैं । मैक्डानल ने 'सुविदत्रान्' का अर्थ 'उदार' (bountiful) और 'साधमादम्' का अर्थ 'वही उत्तम भोजन' (The same Feast) किया है ।

छन्द के अनुरोध से 'श्वानौ' को 'शुवानौ' पढ़ना चाहिये ।

**मण्डल १०****सूक्त १४****मंत्र ११****संहिता-पाठः**

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ ।

ताभ्यामेनं परि देहि राजन्त्स्वस्ति चास्मा अनमीव च धेहि ।।

**पद-पाठः**

यौ । ते । श्वनौ । यम । रक्षितारौ । चतुःअक्षौ । पृथिरक्षी इति पथिरक्षी । नृचक्षसौ । ताभ्याम् । एनम् । परि । देहि । राजन् । स्वस्ति । च । अस्मै । अनमीवम् । च । धेहि ।।११।।



## यम सूक्त “मृत्यु-सूक्त” (मण्डल-१०, सूक्त-१४)

अन्वय — यम ! यौ ते चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ रक्षितारौ श्वानौ, राजन्! ताभ्याम् एनम्, परिदेहि अस्मै स्वस्ति च अनमीवम् च धेहि।

**दयानन्द-भाष्य —**

पदार्थ — (यम ते यौ रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ श्वानौ) हे यम! तव यौ रक्षकौ चतुष्प्रहरकौ पथिरक्षी-मार्गपालौ, नृचक्षसौ-नृणां मनुष्याणां द्रष्टारौ, श्वानौ-श्वानाविव पृष्ठगामिनावहोरात्रौ स्तः (ताभ्याम्-एनं परिदेहि) ताभ्यामहोरात्राभ्यामेनमेतं जीवं परिदेहि पुनर्जन्मार्थं समर्पय (राजन्-अस्मै स्वस्ति च-अनमीवं च धेहि) हे राजन्! अस्मै जीवाय स्वस्ति च नैरोग्यं च धेहि-सम्पादय ॥११॥

भावार्थ — जीव का जीवन समय समाप्त हो जाने पर फिर से नया जीवन मिलता है जो कि शुद्ध और स्वस्थ होकर दिन-रात के साथ पुनर्वहर करता है ॥११॥

**सायण-भाष्य**

हे राजन् ! हे यम ! ते त्वदीयौ 'यौ श्वानौ विद्येते ताभ्यां श्वभ्यां हे राजन् यम ! एनं प्रेतं परिदेहि रक्षणार्थं प्रयच्छ। कीदृशौ श्वानौ रक्षितारौ यम गृहस्य रक्षकौ अक्षिचतुष्टययुक्तौ पथिरक्षी मार्गस्य रक्षकौ नृचक्षसौ मनुष्यैः ख्याप्यमानौ। श्रुतिस्मृतिपुराणाभिज्ञाः पुरुषौ तौ प्रख्यापयन्ति। ताभ्यां श्वभ्यां दत्त्वा अस्मै प्रेताय स्वस्ति च क्षममपि अनमीवं च रोगाभावमपि धेहि सम्पादय।

**शब्दार्थ —** रक्षितारौ = यम के घर की रक्षा करने वाले। पथिरक्षी = मार्ग की रक्षा करने वाले। नृचक्षसौ = मनुष्यों से बताये जाने वाले। परि देहि = रक्षा करो। अनमीवम् = नीरोगता।

**हिन्दी व्याख्या —** हे यम! जो तुम्हारे चार आँखों वाले, मार्ग की रक्षा करने वाले, श्रुति स्मृति पुराणों द्वारा मनुष्यों से बताये जाने वाले, यम के घर की रक्षा करने वाले दो कुत्ते हैं, हे राजन् यम उन कुत्तों से इस प्रेत मनुष्य की रक्षा करो और प्रेत को कल्याण एवं नीरोगता प्रदान करो।

**व्याकरण —**

पथिरक्षी — पथिन् + रक्ष् + इनि = पथिरक्षिन्। द्वितीया का द्विवचन।

नृचक्षसौः — नरः मनुष्याः चक्षते यौ तौ। नृ+चक्ष्+असुन् = नृचक्षस्।

अनमीवम् — अमीवायाः अभावः।

**विशेष —** मैक्डानल ने 'नृचक्षसौ' का अर्थ 'मनुष्यों को देखने वाले' (Observers of men) किया।

छन्द के अनुरोध से 'श्वानौ' को 'शुवानौ' और 'ताभ्याम्' को 'ताभियाम्' के रूप में पढ़ना चाहिये।



संहिता-पाठः

उरुणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु।  
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम्।

पद-पाठः

उरुणसौ। असुतृपाँ। उदुम्बलौ। यमस्य। दूतौ। चरतः। जनान्। अनु। तौ।  
अस्मभ्यम्। दृशये। सूर्याय। पुनः। दाताम्। असुम्। अद्य। इह। भद्रम्॥१२॥

अन्वय - उरुणसौ असुतृपाँ उदुम्बलौ यमस्य दूतौ जनान् अनुचरतः। तौ सूर्याय दृशये  
अद्य इह अस्मभ्यम् पुनः भद्रम् असुम् दाताम्।

दयानन्द-भाष्य -

पदार्थ - (यमस्य दूतौ वरुणसौ-असुतृपाँ-उदुम्बलौ जनान्-अनु चरतः) यमस्य दूतौ  
महाकुटिलौ {णस् कौटिल्ये भ्वादि० ततोऽच्, असुतृपाँ-प्राणैस्तृप्यन्तौ, इत्यालङ्कारित्वम्,  
उरुबलौ महाबलौ जनान्- जायमानानुत्पद्यमानाननु चरतो गति कुरुतः (तौ सूर्याय  
दृशये-अद्य-इह- अस्मभ्यं भद्रम्-असुं पुनः-दाताम्) तावहोरात्रौ सूर्याय दृशसे पुनः  
पुनः सूर्य दर्शयितुमद्येहास्मिन् लोकेऽस्मभ्यं सुखकरं प्राणं परजन्म धारयितुं पुनर्दत्तः॥१२॥

भावार्थ - दिन और रात आयुरूप जीवनकाल के दूत बनकर बारम्बार सूर्यदर्शन कराते  
हुए जीव को अन्तिम काल तक ले जाते हैं एवं पुनर्जन्म भी धारण कराते हैं॥१२॥

सायण-भाष्य

यमस्य सम्बन्धिनौ दूतौ श्वानौ जनान् अनु प्राणिनौ लक्ष्यीकृत्य सर्वत्र चरतः।  
कीदृशौ। उरुणसौ दीर्घनासिकायुक्तौ असुतृपाँ परकीयान्प्राणान् स्वीकृत्य तैस्तृप्यन्तौ उदुम्बलौ  
उरुबलौ विस्तीर्णबलौ। तावुभौ दूतौ सूर्याय दृशये सूर्यस्य दर्शनार्थम् अद्य दिने इह कर्मणि  
भद्रमसुं समीचीनप्राणं पुनरस्मभ्यं दातामदत्ताम्।

शब्दार्थ - उरुणसौ = बड़ी नासिका वाले। असुतृपाँ = प्राणों से तृप्त होने  
वाले। उदुम्बलौ = महान् बलशाली। दृशये = देखने के लिये। दाताम् = प्रदान करो।

हिन्दी व्याख्या - बड़ी नासिका वाले प्राणों से तृप्त होने वाले, महान् बलशाली  
यम के दूत रूप वे दोनों कुत्ते मनुष्यों के पीछे पीछे सब जगह घूमते हैं। वे दोनों सूर्य को  
देखने के लिये अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त करने के लिये आज के दिन इस कर्म में हमारे  
लिये पुनः कल्याणकारी प्राणों को प्रदान करें।

व्याकरण -

उरुणसौ - उरु प्रबले नासिके ययोः तौ। 'नासिका' को 'नस' आदेश।

असुतृपाँ - असुभिः तृप्यन्तौ। असु+तृप्+क्विप्। प्रथमा का द्विवचन।

उदुम्बलौ - उरु बलं ययोः तौ। 'र्' को 'द्' आदेश और 'मुम्' का आगम

छान्दस।



## यम सूक्त “मृत्यु-सूक्त” (मण्डल-१०, सूक्त-१४)

दृशये — दृश् + कि = दृशि। चतुर्थी विभक्ति का एकवचन।

दाताम् — ‘दा’ धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, द्विवचन। वैदिक रूप है। लोक में ‘दत्ताम्’ बनता है।

विशेष — मैक्डानल ने ‘जनान् अनु’ का अर्थ ‘मनुष्यों के बीच में’ (among men) और ‘भद्र असुम् का अर्थ ‘श्रेष्ठ जीवन’ (auspicious) किया है। पीटर्सन ने ‘उदुम्बलौ’ का अर्थ ‘काले रंग के’ किया है। इस मन्त्र में पुर्नजन्म की ओर संकेत किया गया है।

छन्द के आग्रह से ‘सूर्याय’ को ‘सूरियाय’ पढ़ना चाहिये।

मण्डल १०

सूक्त १४

मंत्र १३

संहिता-पाठः

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः।

यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अङ्कृतः।

पद-पाठः

यमायं। सोमं। सुनुत। यमायं। जुहुत। हविः। यमम्। ह। यज्ञः। गच्छति।  
अग्निदूतः। अरंङ्कृतः॥१३॥

अन्वय — यमाय सोमम् सुनुत, यमाय हविः जुहुत। अग्निदूतः अरंङ्कृतः यज्ञः यमम् ह गच्छति।

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (यमाय सोमं सुनुत) आयुरुपाय जीवनकालाय विश्वकालाय च तत्सौष्ठ्यसम्पादनायेत्यर्थः, सोममोषधिरसं निःसारयत (यमाय हविः-जुहुत) यमाय पूर्वोक्ताय हविः-होत्रं कुरुत (अग्निदूतः-अरंङ्कृतः-यज्ञ-यमं ह गच्छति) अग्निदूतो यस्य स एवमलङ्कृतःसम्यक्कृतो यज्ञः कालं गच्छति॥१३॥

भावार्थ — आयुर्वेदिक ढंग से औषधिरस का होम जीवन को चिरकालीन बनाने का हेतु है॥१३॥

सायण-भाष्य

हे ऋत्विजः ! यमाय यमदेवतार्थं सोमं सुनुत। सोमलतात्मकं सोममभिषुणुत। तथा यमार्थं हविर्जुहुत। अग्निदूतो यस्मिन्यज्ञे सोऽयम् अग्निदूतः। अग्नेर्दूतत्वमन्यत्राम्नातम्। अग्निर्देवानां दूत आसीदिति। अरंङ्कृतः बहुभिर्द्रव्यैरलंकाररूपैर्युक्तः तादृशे यज्ञो यमं ह यममेव गच्छति।

शब्दार्थ — सुनुत = अभिषव करो। जुहुत = हवन करो। अग्निदूतः = अग्नि रूप दूत वाला। अरंङ्कृत = नाना प्रकार के द्रव्यों से अलंकृत।

हिन्दी व्याख्या — हे ऋत्विजो ! यम देवता के लिये सोमरस का अभिषव करो अर्थात् सोमलता को कूट कर उसका रस निकालो तथा बम के लिये हवि से हवन करो



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

अर्थात् आहुतियों को हवन में डालो। अग्नि रूप दूत वाला और नाना प्रकार के द्रव्यों से अलंकृत यज्ञ यम को ही निश्चय से प्राप्त होता है।

**व्याकरण —**

**सुनुत** — 'षुञ् अभिषवे' धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन।

**अरंकृतः** — अरम् + कृ + क्त। यह वैदिक रूप है, जिसका रूपान्तर संस्कृत में 'अलंकृतः' है।

**विशेष** — मैक्डानल ने 'अरंकृतः' का अर्थ 'अच्छी प्रकार किया गया' (well prepared) किया है। छन्द के अनुरोध से 'गच्छत्यग्निदूतः' को 'गच्छति अग्निदूतः' पढ़ना चाहिये।

**मण्डल १०**

**सूक्त १४**

**मंत्र १४**

**संहिता-पाठः**

यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत।

स नो देवेष्वा यमद् दीर्घमायुः प्र जीवसे॥

**पद-पाठः**

यमाय। घृतवत्। हविः। जुहोत। प्र। च। तिष्ठत। सः। न। देवेषु। आ। यमत्। दीर्घम्। आयुः। प्र। जीवसे॥१४॥

**अन्वय** — यमाय घृतवत् हविः जुहोत प्रतिष्ठत च। देवेषु स प्रजीवसे नः दीर्घम् आयुः आ यमत्।

**दयानन्द-भाष्य —**

**पदार्थ** — (यमाय घृतवत्-हविः-जुहोत प्रतिष्ठत च) यमाय पूर्वोक्ताय जीवनकालाय विश्वकालाय वा तत्सौष्ठ्यसम्पादनायेत्यर्थः। घृतयुक्तं हवनं जुहोत कुरुत प्रतिष्ठत च तत्र प्रकृष्टतां च प्राप्नुत (सः-नः-जीवसे देवेषु दीर्घम् आयुः प्रायमत) सोऽस्माकं जीवनाय देवेष्विन्द्रियेषु दीर्घस्थायित्वं विस्तारयति॥१४॥

**भावार्थ** — हव्य वस्तुओं में घृत मिलाकर या घृत के साथ हवन करने से इन्द्रिय-शक्तियां चिरस्थायी रहती हैं॥१४॥

**सायण-भाष्य**

हे ऋत्विजो यूयं यमाय घृतवदाज्येन संयुक्तं हविः पुरोडाशादिकं जुहोत जुहुत। प्र च तिष्ठत यमं यूयमुपतिष्ठध्वं च। देवेषु मध्ये स यमो देवः प्र जीवसे प्रकृष्टजीवनार्थं नोऽस्माकं दीर्घमायुः आ यमत् प्रयच्छतु।

**शब्दार्थ** — घृतवत् = घी से युक्त। जुहोत = हवन करो। प्रतिष्ठत = दीर्घ जीवन के लिये।

**हिन्दी व्याख्या** — हे ऋत्विजों ! तुम यम देवता के लिये घी से युक्त हवि से हवन



## यम सूक्त “मृत्यु-सूक्त” (मण्डल-१०, सूक्त-१४)

करो और उस यम की उपासना करो। देवताओं के मध्य में वह यम दीर्घ जीवन के लिये हमें दीर्घ आयु को प्रदान करें।

**व्याकरण —**

प्रतिष्ठत — प्र + स्था, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन।

यमत् — ‘यम’ धातु, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

प्रजीवसे — प्र+जीव्+असे। ‘तुमुन्’ के अर्थ में ‘असे’ प्रत्यय हुआ है।

विशेष — पीटर्सन ने ‘प्रतिष्ठत’ का अर्थ समीप पहुँचना (draw near) किया है। मैकडानल ने ‘घृतवत्’ का अर्थ ‘अधिक घी वाला’ (abounding in ghee) किया है।

छन्द के आग्रह से ‘देवेष्वा’ को ‘देवेषु आ’ पढ़ना चाहिये।

मण्डल १०

सूक्त १४

मंत्र १५

**संहिता-पाठः**

यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन।

इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वभ्यः पथिकृद्भ्यः॥

**पद-पाठः**

यमायं। मधुमत्तमम्। राज्ञे। हव्यम्। जुहोतन्। इदम्। नमः। ऋषिभ्यः। पूर्वजेभ्यः। पूर्वभ्यः। पथिकृद्भ्यः॥१५॥

अन्वय — राज्ञे यमाय मधु मत्तमम् हव्यम् जुहोतन्। पूर्वजेभ्यः पूर्वभ्यः पथिकृद्भ्यः ऋषिभ्यः इदम् नमः।

**दयानन्द-भाष्य —**

पदार्थ — (यमाय राज्ञे मधुमत्तमं हव्यं जुहोतन) पूर्वोक्ताय सर्वत्र राजमानाय कालाय मधुमत्तमं मधुररसयुक्तं होतव्यं वस्तु जुहुत (पथिकृद्भ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वभ्यः—ऋषिभ्यः—इदं नमः) धर्ममार्गसम्पादकेभ्यः पूर्वजपेक्षया पूर्वभ्यः प्राक्तनेभ्य ऋषिभ्य इदं मन्त्रत्रयोक्तं सोमघृतमधुमिश्रं हविष्प्रदानं नम्रत्वं शिष्टाचारोऽस्तु, अस्तीत्यर्थः आम्राश्च सिक्ताः पितारश्च प्रीणिताः इतिवत्॥१५॥

भावार्थ — समय को उपयोगी बनाने के लिये मधु या मिष्ट वस्तु से युक्त हवि का होम करना चाहिये। इस प्रकार सोमादि औषधि का रस घृत और मधु से मिश्रित हवियों का हवन करना आदि उत्तम कर्म पुराने ऋषियों के लिये शिष्टाचार का अनुष्ठान भी समझना चाहिये ॥१५॥

**सायण-भाष्य**

हे ऋत्विजो यमाय राज्ञे मधुमत्तम अतिशयेन मधुरं हव्यं पुराडोशादिकं हविर्जुहोतन जुहुत। पूर्वजेभ्यः सृष्ट्यादावुत्पन्नेभ्यः अत एव पूर्वभ्यः अस्मत्तः पूर्वभाविभ्यः पथिकृद्भ्यः शोभनमार्गकारिभ्यः ऋषिभ्यः इदं प्रत्यक्षं यथा भवति तथा नमोऽस्तु।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

शब्दार्थ — मधुमत्तमम्=अतिशय मधुर। पूर्वजेभ्यः=सृष्टि के आदि में उत्पन्न होने वाले। पूर्वभ्यः=हमसे पहले होने वाले। पथिकृद्भ्यः=शोभनमार्ग का दर्शन कराने वाला।

हिन्दी व्याख्या — हे ऋत्विजों ! राजा यम के लिये अतिशय मधुर हवि का हवन करो। सृष्टि के आदि में उत्पन्न होने वाले और हमसे पहले होने वाले शोभन मार्ग का दर्शन कराने वाले ऋषियों के लिये यह नमस्कार है।

**व्याकरण —**

मधुमत्तमम् — मधु + मतुप् = मधुमत्। अतिशयेन मधुमत = मधुमत + तमप्।

हव्यम् — ह + यत् = हव्य।

जुहोतन — 'हु' धातु लोट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन। वैदिक रूप।

पथिकृद्भ्यः — पथिन् + कृ + क्विप् = पथिकृप्।

विशेष — 'पथिकृद्भ्यः' का अर्थ जिन्होंने मार्ग को बनाया है (who made for us this path) भी किया गया है। 'नमस्' का अर्थ अन्न भी होता है।

इस मन्त्र में बृहती छन्द है। छन्द के अनुरोध से ऋषिभ्यः को 'ऋषिभ्यः' और पूर्वजेभ्यः को 'पूर्वजेभ्यः' पढ़ना चाहिये।

मण्डल १०

सूक्त १४

मंत्र १६

संहिता-पाठः

त्रिकद्रुकेभिः पतति षडुर्वीरेकमिद् बृहत्।

त्रिष्टुप्पायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिता॥

पद-पाठः

त्रिऽकद्रुकेभिः। पतति। षट्। उर्वीः। एकम्। इत्। बृहत्। त्रिऽस्तुप्। गायत्री। छन्दांसि। सर्वा। ता। यमे। आहिता॥१६॥

अन्वय — त्रिकद्रुकेभिः पतति। षट् उर्वीः एकम् इत् बृहत्। त्रिष्टुप्, गायत्री छन्दांसि ता सर्वा यमे आहिता।

**दयानन्द भाष्य —**

पदार्थ — (एकम्-इत्-बृहत् त्रिकद्रुकेभिः-षट्उर्वीः पतति) एक एव स्वाभाविकः स्वातन्त्र्येण विराजमानः कालः त्रिकद्रुकेभिः भूतवर्तमानभविष्यत्रामकैस्त्रिचक्रैः षडुर्वीः भूमिरूपानृतून् प्राप्नोति उर्वी पृथिवीनाम् (निरु० १/१) कद्रु कं चक्रम् 'कद्वैकल्ये' एतस्मादौणादिको रूः प्रत्ययस्ततश्च कः (त्रिष्टुप्) द्युलोकः 'त्रिष्टुवसौ द्यौ' (श० १/७/२/१५) (गायत्री) पृथिवीलोकः। या वै सा गायत्र्या सीदियं वै सा पृथिवी (श० १/४/१/३४) (ता सर्वा छन्दांसि) ता सर्वा दिशोऽन्तरिक्षलोक इत्यर्थः, 'छन्दांसि वै दिशः' (श० ८/३/१/१२) (यमे) काले विश्वकाले (आहिता) वर्तन्ते॥

भावार्थ — काल 'भूत वर्तमान भविष्यत्' रूप तीन चक्रों द्वारा छः ऋतुओं में विभक्त हो



## यम सूक्त “मृत्यु-सूक्त” (मण्डल-१०, सूक्त-१४)

जाता है। न केवल प्राणियों के लिए ही यह काल यमन करने वाला है अपितु पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ एवं तीनों लोकों अर्थात् सम्पूर्ण भुवन समय के नियन्त्रण में रहता है। अतएव समय का परिज्ञान और उससे उचित लाभ उठाना चाहिये।।

### सायण-भाष्य

त्रिकद्रुकेभिः। द्वितीयार्थे तृतीयैषा। त्रिकद्रुकान्। ज्योतिगौरायुरिति त्रयोयाग-विशेषास्त्रिकद्रुका उच्यन्ते। तान्प्रत्यङ्गभावाय संरक्षणार्थं च पतति। यमः तान् प्राप्नोति। षट्संख्यका ऊर्वीः भूमिः कृताकृतप्रत्यवेक्षणाय प्रत्यवेक्षणाय प्राप्नोति। ततश्चोर्व्यः शाखान्तरमन्त्रे समाम्नाताः — षण्मोर्वीरंहसस्पान्तु द्यौश्च पृथिवी चापश्चौषधयश्चोर्व्यं सूनृता चेति। एकमित् एकमेव बृहत् महत् यमश्च प्रतिपालनीयः प्राप्नोति। किं च यानि त्रिष्टुभायत्यादीनि छन्दांसि सन्ति सर्वाणि तानि छन्दांसि यमे आहिता आहितानि ऋत्विग्भिः स्तुतित्वेनावस्थितानि।

शब्दार्थ — त्रिकद्रुकेभिः = तीन कद्रुकों, ज्योति, आयु और गौ नामक तीन यज्ञ विशेषों को। पतति = प्राप्त करता है। षडूर्वीः = छः भूमियों — द्यौः, पृथिवी, आपः ओषधयः ऋक् और सूनृता को। बृहत् = विराट्। आहिता = निहित है।

हिन्दी व्याख्या — यह यमराज तीन कद्रुकों अर्थात् ज्योति, आयु और गौ नामक तीन यज्ञ विशेषों को प्राप्त करता है अथवा रक्षा करता है। वह यम छः भूमियों — द्यौः, पृथिवी, आपः, ओषधयः, ऋक् और सूनृता तथा एक मात्र इस विराट् संसार की भी रक्षा करता है। त्रिष्टुप्, गायत्री आदि सभी छन्द उस यम में निहित हैं, अर्थात् यजमान और ऋत्विक् इन छन्दों में यम की स्तुति करते हैं।

### व्याकरण —

त्रिकद्रुकेभिः — त्रि+क+द्रु+कन् (क) = त्रिकद्रुक। तृतीया के बहुवचन वैदिक रूप। यहाँ द्वितीया के अर्थ में वैदिक व्यत्यय से तृतीया का प्रयोग हुआ है।

आहिता — आ+धा+क्त = आहिता। सर्वा, ता, आहिता में नपुंसकलिंग में उपमा का बहुवचन है और ये वैदिक रूप हैं। लोक में सर्वाणि, तानि और आहितानि बनेगे।

विशेष — ‘त्रिकद्रुक’ शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में ६ बार हुआ है और इस मन्त्र को छोड़ कर यह सप्तमी विभक्ति में आया है। त्रिकद्रुक शब्द का सम्बन्ध सोम के साथ जोड़ा गया है। यह सोम नामक उत्सव से, जिसको ग्रिफिथ के अनुसार अभिप्लव कहा गया था, सम्बन्धित है। यह उत्सव छः दिन का होता था और इसके अन्तिम तीन दिनों को ‘त्रिकद्रुक’ कहते थे। मैकडालन का कहना है —

The term त्रिकद्रुकेभिः in the ritual of the Brahmanas is the name of three days in a Soma Ceremony. The metaphor flying is applied the flowing Soma compared with the bird.

इस मन्त्र में ‘त्रिकद्रुकेभिः’ से अभिप्राय यह भी निकाला गया है कि यम रस से भरे हुए तीन पात्रों के समीप उनको पान करने के लिये शीघ्रता से है।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****पितृ सूक्त****ऋषि—शंखो यामायनः****देवता—पितरः****छन्द—त्रिष्टुप्****मण्डल—१०****सूक्त—१५****मन्त्र—१****संहिता पाठ****उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।****असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥१॥****पदपाठ —**

उत् । ईरताम् । अवरे । उत् । परासः । उत् । मध्यमाः । पितरः । सोम्यासः । असुम् । ये ईयुः ।  
 अवृकाः । ऋतज्ञाः । ते । नः । अवन्तु । पितरः । हवेषु ।

अन्वय — उत् ईरताम् अवरे उत् परासः उत् मध्यमाः पितरः सोम्यासः असुम् ये ईयुः  
 अवृकाः ऋतज्ञाः ते नः अवन्तु पितरः हवेषु ॥

**दयानन्द भाष्य —**

पदार्थ — (उदीरताम्—अवरे—उत्—परासः—उत् मध्यमाः पितरः सोम्यासः) “उदीरतामवर  
 उदीरतां पर उदीरतां मध्यमाः पितरः सोम्याः सोमसम्पादिनस्ते” {निरुक्त ११/१८३ अवरे  
 प्रातःसवनीयाः सोमसम्पादिन उत्पद्यमानेषु रससम्पादिनः सूर्यरश्मयो रसयुक्तान्  
 पदार्थानुदीरतामुन्नयन्तु मध्यमा माध्यन्दिनसवनीयाः पूर्ववद्रससम्पादिनो रविहरिणा  
 उदीरताम्—उन्नयन्तु तानेव पदार्थान् । परे वर्तमानास्तृतीयस्रवनिकाः सर्वे हि सूर्यरश्मय  
 उन्नयन्तु (असुं ये—ईयुः—अवृकाः—ऋतज्ञाः—ते नः—पितरः—हवेषु—अवन्तु) “असुं ये  
 प्राणमन्चीयुरवृका अनमित्राः सत्यज्ञा वा यज्ञज्ञा वा ते न आगच्छन्तु पितरो हवेषु” {निरु०  
 ११/१८३ ये पितरः सूर्यरश्मयोऽसुं प्राणं प्राणवन्तं जीवमात्रमीयुः प्राप्ताः सन्ति तेऽवृका  
 अनमित्रा अस्माभिः सह संश्लिष्टा द्धतज्ञा यज्ञज्ञा वा यज्ञस्य ज्ञानसाधकाः । ‘कृतो  
 बहुलमित्यपि करणे कः अस्माकं ह्यानेषु विचारस्पद्धासूत्रतुमागच्छन्तु— आगच्छन्ति ॥१॥

भावार्थ — यज्ञ के योग से सूर्य की रश्मियाँ जड़ चेतन प्राणीमात्र के जीवनरस को  
 उन्नत करने वाली बनती हैं । अत एव यज्ञ के उपयोग—ज्ञान से उन रश्मियों को अपने  
 जीवन के लिये उन्नायक बनावें ॥१॥

**सायण भाष्य —**

त्रिविधाः पितर उत्तमा मध्यमा अधमाश्चेति । यथाविधं श्रौतं कर्मानुष्ठाय पितृत्वं  
 प्राप्ता उत्तमाः । स्मार्तकर्ममात्रपरा मध्यमाः । अत्रापि केश्वित्संस्कारैर्विकला अधमाः । एतदेवाभिप्रेत्य  
 ‘ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धाः’ इत्यादिमन्त्रः समाम्नातः । तेषु अवरे निकृष्टाः उदीरताम्  
 उत्तमं हविः प्राप्नुवन्तु । परासः उत्तमाः पितरः उत् ईरताम् । मध्यमाः पितरश्च उत् ईरताम् ।  
 ते सर्वेऽप्यस्मद्विषये सोम्यासः सोम्या अनुग्रहपराः सन्तु । ये पितरः अवृकाः वृकवदरण्यश्व—



## पितृ सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१५)

वदस्मासु हिंसामकुर्वन्तः ऋतज्ञाः अस्मदनुष्ठितं यज्ञं जानन्तः असुम् अस्मत्प्राणम् ईयुः रक्षितुं प्राप्ताः ते पितरः हवेषु अस्मदीयेष्वाह्वानेषु नः अस्मान् अवन्तु रक्षन्तु।

शब्दार्थ — उत् ईरताम् = ऊपर उठें, अवरे = नीचे के, उत् = ऊपर उठें, परासः = ऊपर के, उत् = ऊपर हो, मध्यमाः = मध्य स्थान के, पितरः = पितर, सोम्यासः = सोम से प्रेम करने वाले, असुम् = प्राण, ये = जो, ईयुः = गये हैं, अवृकाः = हिंसा न करने वाले, ऋतज्ञाः = ऋत को जानने वाले, ते = वे, नः = हमारी, अवन्तु = रक्षा करें, पितरः = पितर, हवेषु = पुकारने पर।

हिन्दी व्याख्या — सोम से प्रेम करने वाले नीचे के, ऊपर के तथा मध्य के पितर ऊपर उठें। हिंसा न करने वाले तथा ऋत को जानने वाले पितर, जो (सूक्ष्म) प्राण रूप को पहुँच चुके हैं, वे पुकारने पर हमारी रक्षा करें।

व्याकरण —

ऋतज्ञा = ऋतं जानन्ति अर्थ में ऋत+ज्ञा+क=ऋतज्ञ।

ईयुः = 'इण् गतौ' प्रथम पुरुष का बहुवचन।

विशेष = मैक्डानल के अनुसार सोम्यासः = सोम को चाहने वाले (soma loving) अवृकाः = मित्रता को प्राप्त हुये (friendly), ऋतज्ञाः = सत्य को जानने वाले (knowing right), असुम् ईयुः = अमर जीवन को प्राप्त हुये हैं (have gone to life eternal)।

मण्डल-१०

सूक्त-१५

मन्त्र-२

संहिता पाठ

इदं पितृभ्यो नमो अस्तु अद्य ये पूर्वसो य उपरास ईयुः।

ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षुः॥२॥

पदपाठ —

इदम्। पितृभ्यः। नमः। अस्तु। अद्य। ये। पूर्वसः। ये। उपरासः। ईयुः। ये। पार्थिवे। रजसि। निऽसत्ताः। ये। वा। नूनम्। सुवृजनासु। विक्षुः॥

अन्वय — इदम् पितृभ्यः नमः अस्तु अद्य ये पूर्वसः ये उपरासः ईयुः ये पार्थिवे रजसि आ निषत्ताः ये वा नूनम् सुवृजनासुः विक्षुः॥

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (पितृभ्यः—इदं नमः—अस्तु) सूर्यरश्मिभ्य इदं नमोऽयं यज्ञोऽस्तु। “यज्ञो वै नमः” [श० २/४/२/२४२ कतमेभ्यः?] (अद्य ये पूर्वसः—ये—उपरासः— ईयुः—ये—पार्थिवे रजसि आ निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षुः) अद्यास्मिन्दिनेऽद्यतने ये पूर्वदिशासम्बन्धिनः



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

सूर्यरश्मय ईयुः प्राप्ताः सन्ति ये—उपरासः—पश्चिमदिशामीयुः प्रतिगताः सूर्यरश्मयो ये पार्थिवे रजसि—पृथिवीलोके पृथिवीतले वा सम्प्रविष्टा रश्मयः । “लोका रजास्युच्यन्ते” [ये वा सुवृजनासु सुस्पष्टं निर्मलं वृजनमन्तरिक्षमाकाशं यासां तासु—अन्तरिक्षवासिनीषु विक्षु प्रजासु समन्तात्प्रविष्टाः सन्ति तेभ्यः सूर्यरश्मिभ्यः पूर्वोक्तो यज्ञोऽस्तु “वृजनमन्तरिक्षम्” {उणादि० दयानन्दः२॥२॥

**भावार्थ** — सूर्य के पूर्व पश्चिम रूप उदयास्त मार्ग से प्राप्त किरणों तथा पृथिवी के अन्दर वस्तुओं और आकाशस्थ पदार्थों को प्राप्त रश्मियों को यज्ञक्रिया से उपयोगी बनाना चाहिये ॥२॥

**सायण भाष्य** —

पूर्वासः यजमानोत्पत्तेः पूर्वमुत्पन्ना ज्येष्ठभ्रातृपितामहादयः ये ईयुः पितृलोकं प्राप्ताः । ये चान्ये उपरासः यजमानजन्मन उपरि उत्पन्नाः कनिष्ठभ्रातृस्वपुत्रादय ईयुः पितृलोकं प्राप्ताः । ये अप्यन्ये पार्थिवे पृथिवीसंबन्धिनि रजसि रजोगुणकार्येऽस्मिन् कर्मणि आ निषत्ताः हविः स्वीकर्तुमागत्योपविष्टाः ये वा केचिदन्ये बन्धुवर्गरूपाः पितरः विक्षु बन्धुरूपासु प्रजासु आ निषत्ताः श्राद्धादिस्वीकारायागत्योपविष्टाः । कीदृशीषु विक्षु । सुवृजनासु । वृज्यते परित्यज्यते दारिद्र्यमनेनेति वृजनं धनम् । शोभनं वृजनं यासां ताः सुवृजनाः । तादृशीषु । धनसमृद्ध्याश्राद्धादिकर्मपरास्वित्यर्थः । सर्वेभ्यः उक्तेभ्यः पितृभ्यः अद्य अस्मिन् कर्मणि इदं नमः अस्तु । अयमाहुतिप्रदानपूर्वको नमस्कारो भवतु ।

**शब्दार्थ** — इदम् = यह, पितृभ्यः = पितरों के लिये, नमः = नमस्कार, अस्तु = होवे, अद्य = आज, ये = जो, पूर्वासः = पूर्व के, ये = जो, उपरासः = बाद के, ईयुः = गये हैं, ये = जो, पार्थिवे = पृथिवी सम्बन्धी, रजसि = लोक में, आ निषत्ताः = बैठे हैं, ये = जो, वा = अथवा, नूनम् = इस समय, सुवृजनासु = सुन्दर निवास वाली, विक्षु = वस्तियों में ।

**हिन्दी व्याख्या** — आज यह नमस्कार (उन) पितरों के लिये होवे, जो पहले या बाद में (मरकर पितृलोक में) चले गये हैं और जो (पुनः जन्म लेकर) पृथिवी सम्बन्धी लोक में स्थित हैं तथा जो इस समय सुन्दर निवास वाली वस्तियों (देवलोकों) में हैं ।

**व्याकरण** —

उपरासः = उपरि+अस्+अण् = उपरास ।

आनिषत्ताः = ‘आनिषण्णाः’ के अर्थ में यह वैदिक प्रयोग है ।

सुवृजनासु = ‘वृज्यते’ परित्यज्यते दारिद्र्यम् अनेन अर्थ में वृत्+ल्युट् (अन)=वृजन । .

...शोभनं वृजनं यासां तासु सुवृजनासु ।

**विशेष** = मैकडानल के अनुसार पार्थिवे रजसि=पृथिवी के वायुमण्डल में (terrestrialair) ।



मण्डल-१०

सूक्त-१५

मन्त्र-३

संहिता पाठ

आहं पितृन्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः ।

बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥३॥

पदपाठ -

आ । अहम् । पितृन् । सुविदत्रान् । अवित्सि । नपातम् । चविक्रमणम् । च । विष्णोः ।

बर्हिषदः । ये । स्वधया । सुतस्य । भजन्त । पित्वः । ते । इह । आगमिष्ठाः ।

अन्वय - आ अहम् पितृन् सुविदत्रान् अवित्सि विष्णोः नपातम् विक्रमणम् च बर्हिषदः ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वः ते इह आगमिष्ठाः ॥

दयानन्द भाष्य -

पदार्थ - (अहं सुविदत्रान् पितृन्-आ-अवित्सिविष्णोः-नपातं विक्रमणं च) अहं कल्याणविद्यान् पालकजनान् तथा विष्णोर्यज्ञस्य स्थिरत्वं व्याप्तित्वं विक्रमणं चान्तरिक्षे सञ्चारविशेषं चावित्सि-आस्मरामि मनसि धारयामि "यज्ञो वै विष्णुः" [श० १३।१।८।८२ अवित्सि 'विद् विचारणो' लुङि रूपम् । (ये बर्हिषदः सुतस्य पित्वः स्वधया भजन्त ते-इह-आगमिष्ठाः) ये बर्हिषदो यज्ञासने सीदन्ति ते सुतस्य सम्पादितस्य पक्वस्य पित्वोऽन्नस्य "पितुरन्ननाम" [नि०२/७२ स्वधया स्वधारणया स्वेच्छया भजन्त भजत सेवेध्वम्, 'अत्र नकारोपजनश्छान्दसः' । अत एव यूयमत्रागमिष्ठाः-आगच्छत । स्वधा-स्वधारणास्वं दधातिस्वधा "आतोऽनुपसर्गे कः । [अष्टा० ३।२।३२ स्त्रियां स्वधा ॥३॥

भावार्थ - यज्ञक्रिया का फल बहुत दूर तक व्यापता है और उस यज्ञ का अनुष्ठान परिचित शुभविद्यासम्पन्न विद्वानों के द्वारा करना चाहिये । पुनः उन विद्वानों को उनकी इच्छानुसार भोजन खिलाना चाहिये ॥३॥

सायण भाष्य -

अहं यजमानः सुविदत्रान् मदीयां भक्तिं सुष्ठु जानतः पितृन् अवित्सि आभिमुख्येन लब्धवानस्मि । विष्णोः व्यापिनो यज्ञस्य नपातं च विनाशाभावं च विक्रमणं च विशेषेण प्रवृत्तिं च लब्धवानस्मि । ये पितरः बर्हिषदः बर्हिषि सीदन्ति ते इह अस्मिन् कर्मणि आगमिष्ठाः अतिशयेनागताः । आदरपूर्वं समागत्य स्वधया पुरोडाशाद्यन्नेन सह सुतस्य अभिषुतस्य सोमलक्षणस्य पित्वः पितोरन्नस्य भागं भजन्त सेवन्ते उपयुज्यते ॥

शब्दार्थ - आ = चारों तरफ से, अहम् = मैंने, पितृन् = पितरों को, सुविदत्रान् = सुन्दर दानवाले, अवित्सि = प्राप्त कर लिया है, या जान लिया है, विष्णोः नपातम् = विष्णु के पौत्र अर्थात् यम् को, विक्रमणम् = संक्रमण को, च = और, बर्हिषदः = बर्हियों पर बैठने वाले देवता, ये = जो, स्वधया = स्वधा के साथ, सुतस्य = पीसे गये, भजन्त = प्राप्त



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

करेंगे, पित्वः = अन्न, ते = वे, इह = यहाँ, आगमिष्ठाः = अतिशय रूप से आये हुये।  
हिन्दी व्याख्या — सुन्दर दान देने वाले पितरों को, विष्णु के पुत्र (यम) को तथा (विष्णु के) संक्रमण को मैंने अच्छी तरह से जान लिया है। बर्हियों के ऊपर बैठने वाले (पितर) जो स्वधा के साथ, पीसे हुये सोमरस को प्राप्त करेंगे, वे यहाँ अतिशय रूप से आने वाले होंगे।

व्याकरण —

सुविदत्रान् = सु+विद्+त्रल् = सुविदत्र।

विशेष = मैकडानल के अनुसार सुविदत्र = उदार हृदय (bountiful), अविस्ति = जीत लिया है (have won), नपातम् = पौत्र (grandson) पित्वः = मृतक के लिए प्रदत्त द्रव्य (offering to lead)।

मण्डल—१०

सूक्त—१५

मन्त्र—४

संहिता पाठ

बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वाग्निमा वो हव्या चकृम जुषध्वम्।

त आ गतावसा शन्तमेनाथा नः शं योररपो दधात्॥४॥

पदपाठ —

बर्हिषदः। पितरः। ऊती। अर्वाक्। इमा। वः। हव्या। चकृम। जुषध्वम्। ते। आ। गत।  
अवसा। शम्स्तमेन। अथं। नः। शम्। योः। अरपः। दधात्।

अन्वय — बर्हिषदः पितरः अर्वाक् इमा वः हव्या चकृम जुषध्वम् ते आ गत अवसा शन्तमेन  
अथ नः शम् यो अरपः दधात्॥

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (बर्हिषदः पितरः ऊती—अर्वाक्—वः—इमा हव्या—चकृम जुषध्वम्) यज्ञासन उपविष्टा ऊती—ऊत्यै—अस्मद्रक्षायै "सुपां सुपो भवन्ति" [अष्टा० ७।१।३६ वार्तिकम् विभक्तिव्यत्ययः। अत्र यज्ञे युष्मभ्यमिमानि हव्यानि कुर्मः सम्पादयामः सज्जीकुर्मो यूयं जुषध्वमग्नौ प्रक्षेपार्थं प्रयुङ्ध्वम् (ते शन्तमेन—अवसा—आगत नः—अरपः शंयो— दधात्) ते यूयं विद्वांसः सुखमयेन रक्षणेन सदैव प्रप्नुत, अस्मभ्यं पापरहितं भावं रोगाणां शमनं यावनं च भयानां धारयत, तथा च निरुक्तम् [४।११२ ॥४॥

भावार्थ — यज्ञ में विद्वानों को निमन्त्रित करके उनसे अपनी रोगनिवृत्ति और आपत्तियों से बचने के लिये कुछ न कुछ ज्ञान प्राप्त करना चाहिये॥४॥

सायण भाष्य —

हे बर्हिषदः। यज्ञे सीदन्तीति बर्हिषदः। अत्रापि 'ये वै यज्वानस्ते पितरो बर्हिषदः' (तै०ब्रा० १.६.९) इत्यत्र श्रुतत्वाद्यागं कृत्वा प्रेत्य पितृलोकं प्राप्ता बर्हिषदः। तादृशा



हे पितरः अर्वाक् अर्वाचीनानामस्माकम् ऊती रक्षा भवद्भिः कर्तव्येति शेषः । वः युष्मदर्थम् इमा हव्या एतानि हवींषि चकृम अतस्तानि जुषध्वम् । ते हविर्जुष्टवन्तो यूयं शन्तमेन सुखतमेन अवसा रक्षणेन निमित्तभूतेन आ गत आभिमुख्येनास्मान् प्राप्नुत । अथ अनन्तरं नः अस्मभ्यं शं सुखं योः दुःखवियोगम् अरपः पापरहितं च दधात दत्त ।।

**शब्दार्थ** — बर्हिषदः = बर्हि पर बैठने वाले, पितरः = हे पितरो, ऊती = सहायता के साथ, अर्वाक् = हमारी ओर, इमा = ये, वः = तुम लोगों के लिये, हव्या = हवि, चकृम = तैयार किया है, जुषध्वम् = स्वीकार करो, ते = वे तुम लोग, आ गत = आवो, अवसा = अपनी रक्षा के साथ, शन्तमेन = कल्याणकारी, अथ = तदनन्तर, नः = हमें, शम् = सुख, योः = आरोग्य, अरपः = पाप-राहित्य, दधातु = प्रदान करो ।

**हिन्दी व्याख्या** — हे बर्हि पर बैठने वाले पितरो अपनी रक्षा के साथ हमारी ओर आवो; इन आहुतियों को (हमने) तुम्हारे लिये तैयार किया है; (इन्हें) स्वीकार करो । वे तुम लोग अपनी अत्यन्त कल्याणकारी सहायता के साथ आवो, और हमें सुख आरोग्य तथा पाप-राहित्य प्रदान करो ।

**व्याकरण** —

शन्तमेन = शम्+तमप् = शन्तम् ।

शंयोः = शं च युः च = शंयुः । षष्ठी विभक्ति का एकवचन = शंयोः ।

**विशेष** = मैक्डानल के अनुसार शम् = स्वास्थ्य (health), योः = आशीर्वाद (blessing) और अरपः = क्षत का ना होना (free from hurt) ।

मण्डल-१०

सूक्त-१५

मन्त्र-५

संहिता पाठ

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।

त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तैऽवन्त्वस्मान् ॥५॥

**पदपाठ** —

उपहूताः । पितरः । सोम्यासः । बर्हिष्येषु । निधिषु । प्रियेषु । ते । आ । गमन्तु । ते । इह । श्रुवन्तु । अधि । ब्रुवन्तु । ते । अवन्तु । अस्मान् ।

**अन्वय** — उपहूताः पितरः सोम्यासः बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ते आ गमन्तु इह श्रुवन्तु अधिब्रुवन्तु मे अवन्तु अस्मान् ॥

**दयानन्द भाष्य** —

**पदार्थ** — (बर्हिष्येषु प्रियेषु निधिषु-उपहूताः सोम्यासः पितरः) यज्ञसम्बन्धिषु स्वानुकूलेषु दक्षिणारूपगवादिधनेषु निमन्त्रिताः योमसम्पादिनः सामवन्तः सोमौषधिरससम्पादनादि-क्रिया



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

कुशलाः ज्ञानिजनाः सन्ति "तद्ये सोमेनेजानास्ते पिरः सोमवन्तः" [शं० २।६।११७२ (ते-आगमन्तु ते-इह श्रुवन्तु ते-अधि ब्रुवन्तु ते-अस्मान् अवन्तु) पूर्वोक्तास्ते विद्वांस इहात्रागच्छन्तु श्रुवन्त्वस्मत्प्रश्नान् शृण्वन्त्वधि ब्रुवन्तु पश्चादुपदिशन्त्वित्थं श्रवणोपदेशाभ्यामस्मान् रक्षन्तु।।५।।  
 भावार्थ — यज्ञ में क्रियाकुशल विद्वानों को निमन्त्रित करना तथा उनसे अपने विविध प्रश्नों का समाधान और उपदेश सुनना चाहिये और सत्कारार्थ इच्छानुकूल गौ आदि पदार्थ दक्षिणा में देने चाहियें।।५।।

**सायण भाष्य —**

सोम्यासः सोम्या अस्मदनुग्रहपराः सोमसंपादिनो वा पितरः बर्हिष्येषु यागार्हेषु प्रियेषु तृप्तिकरेषु निधिषु निधिसदृशेषु हविषु निमित्तभूतेषु सत्सु उपहृताः अस्माभिराहूताः ते पितरः आ गमन्तु आगच्छन्तु। आगत्य च इह अस्मिन् कर्मणि अस्माभिः प्रयुक्ताः स्तुतीः श्रुवन्तु शृण्वन्तु। श्रुत्वा च अधि ब्रुवन्तु। साधुरयं यजमान इत्यादरेण कथयन्तु। ते तादृशाः पितरः अस्मान् अवन्तु रक्षन्तु।।

शब्दार्थ — उपहृताः = बुलाये गये, पितरः = पितर, सोम्यासः = सोम से प्रेम करने वाले, बर्हिष्येषु = बर्हियों पर रखे गये, निधिषु = हविर्द्रव्यों पर, प्रियेषु = प्रिय, ते = वे, आ गमन्तु = आवें, ते = वे, इह = यहाँ, श्रुवन्तु = सुने, अधिब्रुवन्तु = हमारे लिये बोलें, ते = वे, अवन्तु = रक्षा करें, अस्मान् = हमारी।

हिन्दी व्याख्या — सोम से प्रेम करने वाले पितर (हमारे द्वारा) बर्हियों पर रखी गई प्रिय हवि के लिये बुलाये गये हैं; वे आवें; वे यहाँ सुनें हमारे लिये बोलें और वे हमारी रक्षा करें।

**व्याकरण —**

निधिषु = नि+धा+कि (इ) = निधि

विशेष = मैक्डानल के अनुसार सोम्यासः = सोम को चाहने वाले (soma loving), प्रियेषु निधिषु बर्हिष्येषु = कुशाओं पर रखी गई प्रिय निधियों पर (to the dear diposits placed on the strew), अवन्तु = सहायता करें (let them aid)।

मण्डल-१०

सूक्त-१५

मन्त्र-६

**संहिता पाठ**

आच्या जानुं दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत् विश्वे।

मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता करांम।।६।।

**पदपाठ —**

आ॒च्यां । जानुं॑ । द॒क्षि॒ण॒तः । नि॒ऽस॒द्यं॑ । इ॒मम् । य॒ज्ञम् । अ॒भि । गृ॒णी॒त् । वि॒श्वे॑ । मा । हिं॒सि॒ष्टः । पि॒तरः॑ । के॒न । चि॒त् । नः॑ । यत् । वः॑ । आ॒गः । पु॒रु॒ष॒तां । करां॑म ।



## पितृ सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१५)

अन्वय — आच्या जानु दक्षिणतः निषद्य इमम् यज्ञम् अभि गृणीत विश्वे मा हिंसिष्ट पितरः केनचित् नः यत् वः आगः पुरुषता कराम ॥

**दयानन्द भाष्य —**

**पदार्थ —** (पितरः—जानु—आच्य विश्वे दक्षिणतः निषद्य—इमं यज्ञम्—अभिगृणीत) हे पितरो विद्वांस उभे जानुनी प्रसायेत्यर्थः । जानु "सुपां सुलूक्पूर्वसवर्णो" [अष्टा० ७।१।३६२ अनेन द्विवचनप्रत्ययस्य लुक् । यूयं सर्वे दक्षिणायां दिशि दक्षिणपार्श्वे वा निषद्य स्थित्वेमं यज्ञं स्वीकुरुत 'विदुषां वामपार्श्वे स्थेयमिति शिष्टाचारः । ब्रह्मासनं च दक्षिणायां कल्प्यते' । (यद् वः—आगःपुरुषताकराम केनचित्—नः—मा हिंसिष्ट) यद्वो युष्माकमपराधं सत्कारे दक्षिणायां वा पुरुषतया कराम कुर्मः । अत्र सामान्ये काले लोट् शप् च विकरणव्यत्ययेन । केनचिदप्यपराधेनास्मान् मा हिंस्थेति वयं जानीमः ॥६॥

**भावार्थ —** विद्व करानों को दक्षिणभाग में आसन पर बिठलाकर यज्ञ का आरम्भ करना चाहिये । अपनी भूल के सम्भव होने से उनसे नम्रता पूर्वक गलती को स्वीकार करना चाहिये ॥६॥

**सायण भाष्य —**

पितृणामयं स्वाभाविको धर्मः 'अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्य' (श०ब्रा० २.४.२.२) ति वचनात् । हे पितरः विश्वे सर्वे यूयं जानु आच्य भूमौ निपात्य दक्षिणतः दक्षिणपार्श्वे निषद्य उपविश्य इमम् अस्मदीयं यज्ञमभि गृणीत अभिष्टुत । विशिष्टतृप्तियोगात् परया प्रीत्या सगुणोऽयं यज्ञ इति प्रशंसतेत्यर्थः । अपि च वः युष्माकं यत् किञ्चित् कर्मवैगुण्यजनितम् आगः अपराधं पुरुषता मनुष्यत्वेन हेतुना कराम वयं कृतवन्तः । हे पितरः तेन केन चित् अप्यपराधेन नः अस्मान् मा हिंसिष्ट ॥

**शब्दार्थ —** आच्य = झुकाकर, जानु = घुटने को, दक्षिणतः = दक्षिण की ओर, निषद्य = बैठकर, इमम् = इस, यज्ञम् = यज्ञ को, अभि गृणीत = स्वीकार करो, विश्वे = सभी, मा = मत, हिंसिष्ट = मारो, पितरः = हे पितरो, केनचित् = किसी से भी, नः = हमें, यत् = जो, वः = तुम्हारे लिये, आगः = पाप, पुरुषता = मनुष्य होने के कारण, कराम = करें ।

**हिन्दी व्याख्या —** (हे पितरो) घुटने को मोड़कर दक्षिण की ओर बैठकर इस यज्ञ को तुम सब लोग स्वीकार करो । हे पितरो मनुष्य होने के कारण जो कुछ अपराध हम तुम्हारे प्रति करें (उनमें से) किसी भी (अपराध) से हमें मत मारो ।

**व्याकरण —**

निषद्य = नि+षदलृ+क्त्वा (ल्यप्) = निषद्य



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****मण्डल-१०****सूक्त-१५****मन्त्र-७****संहिता पाठ**

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय ।

पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत् त इहोर्जं दधात् ॥७॥

**पदपाठ -**

आसीनासः । अरुणीनाम् । उपस्थे । रयिम् । धत्त । दाशुषे । मर्त्याय । पुत्रेभ्यः । पितरः । तस्य । वस्वः । प्र । यच्छत् । ते । इह । ऊर्जम् । दधात् ॥

अन्वय - आसीनासः अरुणीनाम् उपस्थे रयिम् धत्त दाशुषे मर्त्याय पुत्रेभ्यः पितरः तस्य वस्वः प्रयच्छत् ते इह ऊर्जम् दधात् ॥

**दयानन्द भाष्य -**

पदार्थ - (अरुणीनाम्-उपस्थे-आसीनासः पितरः दाशुषे मर्त्याय रयिं धत्त तस्य पुत्रेभ्यः वस्वः प्रयच्छत् ते इह ऊर्जम् दधात्) "अरुण्यो गाव उषसाम्" [निघं० २।२८३ इति प्रामाण्यात् । अरुणीनामुषोऽन्तर्गतप्रकाशधाराणामुपस्थ उपस्थाने उपरिभागे संलग्नाः संस्थिताः सूर्यरश्मयो यजमानाय मनुष्याय रयिम्-वीर्यं बलमित्यर्थः "वीर्यं वै रयिः" [शं० १३.४।२।१३३ धत्त धरयन्तु । पुरुषव्यत्ययः । तस्य सन्तानेभ्यः प्राणान् प्रयच्छत्-प्रयच्छन्तु ददतु । "प्राणा वाव वसवः" [छान्दो० ३।१६।१३ पूर्वोक्तास्त उषःकालसम्बद्धाः सूर्यरश्मय इहोभयत्रा यजमाने तत्पुत्रेषु चोर्जं रसं दधात् धारयन्तु "ऊर्ग्रसः" [निरु० ६/४३३ "ऊर्ग्वै रसः" [शं० ५।१।२।८३ अन्यत्रापि वेदेऽरुणी शब्दस्योषःशब्देन सह सम्बन्धस्तथा पितरः सूर्यरश्मयः इति विज्ञानं प्रतीयते "आवहन्त्यरुणी ज्योतिषागान्मही चित्रा रश्मिभिश्चेकिताना । प्रबोधयन्ती सुविताय देव्युषा ईयते सुयुजा रथेन" [ऋ० ४।१४।३३ "अधा यथा नः पितरः परासोऽग्न ऋतमासुषाणाः । शुचीदयन्दीधितिमुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरपव्रन्" [ऋ० ४।२।१६३॥७॥

भावार्थ - यज्ञ सेवन करने वाले मनुष्य तथा उनकी सन्तति में जीवनरस बल और प्राण शक्तियों का सूर्य की रश्मियाँ वास कराती हैं ॥७॥

**सायण भाष्य -**

अरुणीनाम् आरोचमानानां ज्वालानां वा देवतानां वा उपस्थे समीप स्थाने वेद्याख्ये आसीनासः उपविष्टाः पितरो यूयं दाशुषे हविर्दत्तवते मर्त्याय मनुष्याय यजमानाय रयिं धनं धत्त दत्त । हे पितरः यूयं तस्य यजमानस्य पुत्रेभ्यः वस्वः वसु धनं प्र यच्छत् । ते तादृशा यूयम् इह अस्मिन् अस्मदीये कर्मणि ऊर्जं धनं दधात् निधत्त ॥

शब्दार्थ - आसीनासः = बैठे हुये, अरुणीनाम् = रक्त वर्ण की उषाओं की, उपस्थे = गोद में, रयिम् = धन, धत्त = प्रदान करो, दाशुषे = कव्य प्रदान करने वाले, मर्त्याय =



मनुष्य के लिये, पुत्रेभ्यः = पुत्रों के लिये, पितरः = हे पितरो, तस्य = उसके, वस्वः = धन, प्रयच्छत = प्रदान करो, ते = वे तुम लोग, इह = यहाँ, ऊर्जम् = बल, दधात = धारण कराओ।

हिन्दी व्याख्या — (हे पितरों) रक्त वर्ण की उषाओं की गोद में बैठे हुये (तुम लोग) कव्य प्रदान करने वाले मनुष्य के लिये धन प्रदान करो। हे पितरो, (अपने) पुत्रों के लिये उस धन का हिस्सा प्रदान करो (और) वे तुम लोग यहाँ बल धारण कराओ।

विशेष = मैक्डानल के अनुसार 'दधात्' का अर्थ 'प्रदान करते हो' (bestow) किया है।

मण्डल-१०

सूक्त-१५

मन्त्र-८

संहिता पाठ

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनुहिरे सोमपीथं वसिष्ठा।

तेभिर्यमः संरराणो हवीष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु।॥८॥

पदपाठ —

ये। नः। पूर्वे। पितरः। सोम्यासः। अनुऽऊहिरे। सोमऽपीथम्। वसिष्ठाः। तेभिः। यमः।  
सम्ऽरराणः। हवीषिं। उशन्। उशत्ऽभिः। प्रतिऽकामम्। अत्तु।

अन्वय — ये नः पूर्वे सोम्यासः अनूहिरे सोमपीथम् वसिष्ठाः तेभिः यमः संरराणः हवीषि उशन् उशद्भिः प्रतिकामम् अत्तु॥

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (ये पूर्वे सोम्यासः पितरः सोमपीथं वसिष्ठाः नः अनूहिरे) ये पूर्व प्रातस्तनाः सूर्योदयकालप्रमाणाः सोमसम्पादिनो रससम्पादिनः—वसन्तर्तुवत् सूर्यरश्मयः सोमस्य पीथं रसस्य पातारं सूर्य वसिष्ठाः—वस्तृतमाः—अस्माननूहन्ते ऽनुवितर्कयन्ति कार्येषु प्रेरयन्ति "यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठोऽथो यद्वस्तृतमो वसति ते नो एव वसिष्ठाः" [श० ८।१।१६३ (तेभिः उपद्भिः संरराणः यमः उशन् हवीषि प्रतिकामम्—अत्तु) तैर्दीप्यमानै रश्मिभिः संरममाणो यमः — सूर्य "यमो रश्मिभिरादित्यः" [निरु० १२।२६३ दीप्यमानो हवीष्यग्नौ प्रक्षिप्तानि हव्यानि वस्तूनि—अस्मत्कामनानुसारमत्तु गृह्णातु गृह्णाति॥८॥

भावार्थ — प्रातःकाल की सूर्यरश्मियाँ यज्ञ में उपयुक्त हुई—हुई हमारे अन्दर कार्य—कुशलता की प्रेरणा करती हैं और उदयकाल का सूर्य भी हमारी मानस प्रसन्नता और शारीरिक सुखजीवनी का हेतु बनता है॥८॥

सायण भाष्य —

सोम्यासः सोमसंपादिनः वसिष्ठाः। वस्तृतमाः कृताच्छादना धनवत्तमा वा नः अस्माकं ये पूर्वे पितरः सोमपीथं सोमपानम् अनूहिरे आनुपूर्व्येण देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च प्राप्नुवन्तः।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

दत्तवन्त इत्यर्थः । उशन् पितृभिः सह संभोगं कामयमानः यमः पितृपतिः उशद्भिः यमेन सह संभोगं कामयमानैः तेभिः तैरस्मदीयैः पितृभिः सह रराणः रममाणः हवींषि अस्माभिर्दत्तानि प्रतिकामं कामकामं प्रति अत्तु । यानि यानि हवींषि कामयते तानि तानि भक्षयत्वित्यर्थः ।  
**शब्दार्थ** — ये = जो, नः = हमारे, पूर्वे = पूर्व के, सोम्यासः = सोम से प्रेम करने वाले, अनूहिरे = प्राप्त हुये हैं, सोमपीथम् = सोमपान को, वसिष्ठाः = श्रेष्ठ, तेभिः = उनके साथ, यमः = यम, संरराणः = आनन्दित होता हुआ, हवींषि = हविर्द्रव्यों को, उशन् = कामना करता हुआ, उशद्भिः = कामना करने वालों के साथ, प्रतिकामम् = इच्छा के अनुसार, अत्तु = खावे ।

**हिन्दी व्याख्या** — जो हमारे प्राचीन, सोम से प्रेम करने वाले तथा श्रेष्ठ पितर यहाँ सोमपान के लिये पधारे हैं, कामना करने वाले उन (पितरों) के साथ आनन्दित होता हुआ हविर्द्रव्यों की कामना करता हुआ यम अपनी इच्छा के अनुसार खावे ।

**व्याकरण** —

अनूहिरे = अनु+ऊह् धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।

**मण्डल—१०**

**सूक्त—१५**

**मन्त्र—९**

**संहिता पाठ**

ये तातृषुर्देवत्रा जेहमानाः होत्राविदः स्तोमंतष्टासो अर्कैः ।

आग्ने याहि सुविदत्रेभिर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिर्धर्मसद्भिः ॥९॥

**पदपाठ** —

ये । तातृषुः । देवत्रा । जेहमानाः । होत्राविदः । स्तोमंतष्टासः । अर्कैः ॥ आ । आग्ने । याहि । सुविदत्रेभिः । अर्वाङ् । सत्यैः । कव्यैः । पितृभिः । धर्मसत्भिः ॥

**अन्वय** — ये तातृषु देवत्रा जेहमानाः होत्राविदः स्तोम तष्टासः अर्कैः अग्ने आ याहि सुविदत्रेभिः अर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिः धर्मसद्भिः ॥

**दयानन्द भाष्य** —

**पदार्थ** — (ये देवत्रा जेहमानाः होत्राविदः स्तोमतष्टासः अर्कैः तातृषुः) यू सूर्यरश्मयो देवान् गच्छन्तो देवत्वं द्युस्थानत्वं प्राप्नुवन्तः, “देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा” [निरु० ७।१५२ होत्राविदः अङ्गचेतकाः “होत्रा अङ्गानि” {गोपथ ३।६।६२ स्तोमतष्टासः स्तोमा प्राणास्तष्टाः शोधिता यैस्ते “प्राणा वै स्तोमाः” {शं० ८।४।१।४२ अद्भिस्तुष्यन्ति जलमाकर्षितुं पृथिवीं पतन्ति “आपो वा अर्कः” {शं० १०।४।१।२३२ हेतौ तृतीया (सुविदत्रेभिः-सत्यैः-कव्यैः-धर्मसद्भिः-पितृभिः-अग्ने-अर्वाङ्-आयाहि) कल्याणि विद्या येषां तैः सत्यैः सत्सु विद्यमानेषु बवैर्व्याप्तैः कव्यैः-सूर्यान्तभवैः “असौ वा आदित्यः



पितृ सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१५)

कविः" [श०६ ॥७ ॥२ ॥४] धर्मसद्भिः-अहःसद्भिर्मध्यमदिनं प्राप्नुवद्भिः "तप्त इव वै धर्मः" [श० १४ ॥३ ॥१ ॥३] किरणैः सहाग्ने-आयाह्यत्र यज्ञे वृष्टिनिमित्तमायाहि प्राप्नुहि ॥६॥

भावार्थ — मध्याह्नकाल में सूर्य की किरणें प्राणियों के अङ्ग-अङ्ग में घुस जाती हैं और प्राणों का शोधन करती हैं। इनका विज्ञान के द्वारा उपयोग होना चाहिये ॥६॥

सायण भाष्य —

देवत्रा देवान् जेहमानाः क्रमेण गच्छन्तः। क्रमेण देवत्वं प्राप्ता इत्यर्थः। होत्राविदः यज्ञान् सम्यक् कर्तुं वेदितारः अर्कैः अर्चनीयैः स्तोत्रैः स्तोमतष्टासः स्तोमानां च सम्यक्कर्तारः ये पितरः तातृषुः तृष्यन्ति। हे अग्ने त्वं तैः पितृभिः अर्वाङ् अस्मदभिमुखः आ याहि आगच्छ। कीदृशैः। सुविदत्रेभिः सुविदत्रैः सत्यैः अविस्वादिभिः कव्यैः। कव्यं नाम पितृदेवत्यं हविः। तत्संबन्धिभिः। यद्वा कव्यैः कविभिर्मधाविभिः। स्वार्थिको यत्। धर्मसद्भिः यज्ञसादिभिः॥

शब्दार्थ — ये = जो, तातृषुः = प्यासे हैं, देवत्रा = देवताओं में, जेहमानाः = जाते हुए, होत्राविदः = होत्र कर्म को जानने वाले, स्तोमतष्टासः = अपने लिए निर्मित स्तोत्र वाले, अर्कैः = स्तुतियों से, अग्ने = हे अग्नि, आ याहि = आवो, सुविदत्रेभिः = सुन्दर दान देने वालों के साथ, अर्वाङ् = हमारी ओर, सत्यैः = सत्य रूप, कव्यैः = बुद्धिमान्, पितृभिः = पितरों के साथ, धर्मसद्भिः = यज्ञीय गर्म पात्र के पास बैठने वाले।

हिन्दी व्याख्या — हे अग्नि! सुन्दर दान देने वाले, सत्यरूप, बुद्धिमान् तथा यज्ञीय गर्मपात्र के पास बैठने वाले पितरों के साथ हमारी ओर आवो; जो (पितर) होत्र कर्म को जानने वाले तथा स्तुतियों से निर्मित स्तोत्र वाले हमारी ओर आते हुये देवताओं में प्यासे हैं।

व्याकरण —

जेहमानाः = 'जेह' धातु से 'शानच्' प्रत्यय।

विशेष = मैक्डानल के अनुसार देवान् तातृषुः = देवताओं के बीच में प्यासे हैं (having thirsted among the gods), सुविदत्रेभिः=उदार (bonntiful), धर्मसद्भिः = गरम पात्र पर बैठे हुये (that sit at the heating vessel)।

मण्डल-१०

सूक्त-१५

मन्त्र-१०

संहिता पाठ

ये सत्यासौ हविरदौ हविष्वा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः।

अग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्धर्मसद्भिः॥१०॥

पदपाठ —

ये। सत्यासः। हविःऽदः। हविःऽपाः। इन्द्रेण। देवैः। सरथम्। दधानाः। अग्ने। याहि। सहस्रम्। देववन्दैः। परैः। पूर्वैः। पितृभिः। धर्मसद्भिः।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

अन्वय — ये सत्यासः हविरदः हविष्याः इन्द्रेण देवैः सरथम् दधानाः अग्नेः आ याहि सहस्रम् देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिः धर्मसद्भिः ।।

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (ये सत्यासः हविरद् हविष्याः इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः) ये स्थिराः सर्वत्र व्याप्ता अभिक्षास्तथोदकपाः सूर्येण देवैः विद्युद्भिश्च सह समानरमणस्थानं धारयन्तः (देववन्दैः पूर्वैः परैः धर्मसद्भिः पितृभिः अग्ने सहस्रं आ याहि) देवानां वन्दनसाधनैः पूर्वैः प्रथमैः प्रातःकालिकैः परैः धर्मसद्भिः अहःसद्भिः सूर्यरश्मिभिरग्ने सहस्रं बहुवारं मुहुर्मुहुर्वा याहि प्राप्तो भव ।।१० ।।

भावार्थ — जो सूर्य की किरणों जल का भक्षण या शोषण करती हुई हों उनके प्रकाश से किन्हीं दिव्य बातों का परिचय लेना चाहिये ।

सायण भाष्य —

सत्यासः सत्याः ये पितरः हविरदः भक्षणयोग्यस्य हविषोऽत्तारो भक्षयितारः हविष्याः पानयोग्यस्य हविषः पातारः इन्द्रेण देवैः सरथं समानमेकं तुल्यं वा रथं दधानाः । लङर्थे शानच् । गमनाय सदा धारयन्ति हे अग्ने तैः पितृभिः सह आ याहि आगच्छ । कीदृशः । सहस्रम् । तृतीयार्थे प्रथमा । सहस्रेण । बहुभिरित्यर्थः । देववन्दैः देवसंबन्धिभिः स्तोत्रैर्युक्तः परैः परकालीनैः पूर्वैः पूर्वकालीनैः धर्मसद्भिर्यज्ञसादिभिर्महावीरसादिभिरादित्यसादिभिर्वा ।।

शब्दार्थ — ये = जो, सत्यासः = सत्य रूप, हविरदः = हवि खाने वाले, हविष्याः = तरल हवि पदार्थ का पान करने वाले, इन्द्रेण = इन्द्र के साथ, देवैः = देवताओं के साथ, सरथम् = समान रथ को, दधानाः = धारण करते हुये, अग्ने = हे अग्नि, आ याहि = आवो, सहस्रम् = हजारों, देववन्दैः = देवताओं की स्तुति करने वाले, परैः = दूर, पूर्वैः = प्राचीन, पितृभिः = पितरों के साथ, धर्मसद्भिः = गर्म पात्र के पास बैठने वाले ।

हिन्दी व्याख्या — हे अग्नि! हजारों, देवताओं की स्तुति करने वाले, दूर के, प्राचीन तथा गर्म पात्रों के पास बैठने वाले पितरों के साथ आवो; जो (पितर) सत्यरूप, हवि को खाने वाले, तरल हवि का पान करने वाले तथा इन्द्र एवं देवताओं के साथ समान रथ धारण करने वाले हैं ।

व्याकरण —

हविष्या = हविः पाति रक्षति अर्थ में — हविस् + पा + क = हविष्य ।  
प्रथमा विभक्ति का बहुवचन ।

विशेष = मैकडानल के अनुसार 'हविष्याः' = हवि का पान करने वाले (drinking the dilation) ।



## पितृ सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१५)

मण्डल-१०

सूक्त-१५

मन्त्र-११

संहिता पाठ

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः ।

अत्ता हवींषि प्रयंतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन् ॥११॥

पदपाठ -

अग्निष्वात्ताः । पितरः । आ । इह गच्छत । सदःऽसदः । सदत । सुऽप्रणीतयः ॥ प्रणतियः ।

अत्त । हवींषि । प्रयंतानि । बर्हिषि । अथ । रयिम् । सर्वऽवीरम् । दधातन् ॥

अन्वय - अग्निष्वात्ताः पितरः इह आगच्छत् सदः सदः सदत सुप्रणीतयः ॥ अत्त हवींषि प्रयतानि बर्हिषि अथ रयिम् सर्ववीरम् दधातन् ॥

दयानन्द भाष्य -

पदार्थ - (अग्निष्वात्ताः पितरः इह आगच्छत सुप्रणीतयः सदःसदः सदत) अग्निर्यज्ञः स्वात्तः सभ्यगृहीतो यैस्ते पितरः सूर्यरश्मयः "अग्निष्वात्ता ऋतुभिः संविदानाः" (तै० २ । ६ । १६ । २३ "आयातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवीमुस्त्रियाभिः" [अथर्व० ३ । ८ । १३ इहास्मद् गृहे समन्तात्प्राप्ता भवन्तु, 'पुरुषव्यत्ययः' तथा सुप्रणीतयः सु सम्यक् प्रणीतिः प्रणयनं घृतादिसम्पर्कः सञ्चारो येषां ते सदःसदः प्रतिसदं-प्रतिगृहं सदत गच्छन्तु (बर्हिषि प्रवतानि हवींषि-आ+अत्त-अध रयिं सर्ववीरं दधातन्) यज्ञे प्रदत्तानि हव्यानि वस्तूनि गृह्णन्तु, अध-अनन्तरं सर्ववीरम्-सर्वे वीरा यस्मात्तत्सर्ववीरं वीर्यं बलमस्मासु धारयन्तु । १११ ॥

भावार्थ - सूर्य की रश्मियां यज्ञ के सम्पर्क से सुगन्ध गुण युक्त होकर यज्ञमण्डल के घर-घर में प्रवेश करती हैं और लाभप्रद होती हैं ॥११॥

सायण भाष्य -

अग्निष्वात्ताः अग्निना स्वादिता एतन्नामकाः पितरः यूयम् इह अस्मिन् पितृकर्मणि आगच्छत । आगत्य च हे सुप्रणीतयः अभिपूजितप्रणयनाः यूयं सदःसदः तत्तत्स्थानं सदत सीदत । तत्र तत्र स्थाने यथेष्टमुपविशतेत्यर्थः । उपविश्य च बर्हिषि आसादितानि प्रयतानि शुचीनि हवींषि अत्त भक्षयत । अथ अनन्तरं सर्ववीरं सर्ववीरैः पुत्रपौत्ररूपेण रयिं धनं दधातन् अस्मभ्यं दत्त ॥

शब्दार्थ - अग्निष्वात्ताः = हे अग्नि के द्वारा जलाये गये, पितरः = हे पितर, इह = यहाँ, आगच्छत = आवो, सदःसदः = अपने-अपने स्थान पर, सदत = बैठो, सुप्रणीतयः = हे सुन्दर नेतृत्व वाले, अत्त = खावो, हवींषि = हविर्द्रव्यों को, प्रयतानि = दिये गये, बर्हिषि = कुशाओं पर, अथ = तदनन्तर, रयिम् = धन, सर्ववीरम् = सभी पुत्रपौत्रों से युक्त, दधातन् = प्रदान करो ।

हिन्दी व्याख्या - हे अग्नि! के द्वारा जलाये गये पितरों, यहाँ आवो; हे सुन्दर नेतृत्व वाले,



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

अपने-अपने स्थान पर बैठो; कुशाओं के ऊपर दी गई हवि को खावो; तदनन्तर सभी बीर पुत्रपौत्रों से युक्त धन प्रदान करो।

व्याकरण —

सदः सदः = सदसि सीदन्ति अर्थ में सदस्+सद्+क्विप्। अथवा सदः सदः प्रतिसदम्। प्रत्येक स्थान में।

विशेष = मैक्डानल के अनुसार 'सुप्रणीतयः' = जिनको उत्तम मार्ग निर्देश मिला है (that have good guidance)।

मण्डल—१०

सूक्त—१५

मन्त्र—१२

संहिता पाठ

त्वमग्ने इळितो जातवेदोऽवाङ्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी।

प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥१२॥

पदपाठ —

त्वम्। अग्ने। इळितः। जातवेदः। अवाट्। हव्यानि। सुरभीणि। कृत्वी। प्र। अदाः। पितृभ्यः। स्वधया। ते। अक्षन्। अद्धि। त्वम्। देव। प्रयता। हवींषि।

अन्वय — त्वम् अग्ने इळितः जातवेदः अवाट् हव्यानि सुरभीणि कृत्वी प्र अदाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन् अद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (जातवेदः—अग्ने त्वम्—ईडितः—हव्यानि सुरभीणि कृत्वीअवाट्) हे जातेषु विष्मानानाग्ने! त्वं यज्ञे—अध्येषितः प्रेरितः सन् हव्यानि वस्तूनि सुगन्धीनि कृत्वी—कृत्वाऽवाङ्—ऊढवान् (देव प्रयता हवींषि त्वम्—अद्धि पितृभ्यः प्रादाः स्वधया ते अक्षन्) हे अग्निदेव! दत्तानि हव्यानि वस्तूनि त्वमद्धि—भक्षय सूक्ष्मीकुरु, सूर्यरश्मिभ्यः प्रादाः देहि ते च रश्मयः स्वधया स्वधारणशक्त्याऽक्षन् भक्षयन्तु सूक्ष्मीकृत्य प्रसारयन्त्विति यावत्॥१२॥

भावार्थ — अग्नि में हव्य वस्तु अति सुगन्ध को प्राप्त होती है और पुनः अग्नि में सूक्ष्म होकर किरणों के आधार पर और भी सूक्ष्म बन कर फैल जाती है॥१२॥

सायण भाष्य —

हे जातवेदः! जातं सर्वं जगद्वेत्तीति जातवेदाः। तथाविध हे अग्ने ईळितः अस्माभिः स्तुतः त्वं हव्यानि अस्मदीयानि हवींषि सुरभीणि सुगन्धीनि कृत्वी कृत्वा अवाट् वहनं कृतवानसि। कृत्वा च पितृभ्यः प्रादाः। ते च पितरः स्वधया स्वधाकारेण दत्तं हविः अक्षन् अदन्तु। हे देव त्वम् अपि प्रयता प्रयत्नसंपादितानि हवींषि अद्धि भक्षय॥



## पितृ सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१५)

शब्दार्थ — त्वम् = तुम, अग्ने = हे अग्नि, इळितः = स्तुति किये गये हो, जातवेदः = हे जातवेदस्, अवाट् = ढोया है, हव्यानि = हविर्द्रव्यों को, सुरभीणि = सुगन्धित, कृत्वी = करके, प्र अदाः = प्रदान किया है, पितृभ्यः = पितरों के लिए, स्वधया = स्वधा शब्द के साथ, ते = वे, अक्षन् = खाया है, अद्धि = खावो, त्वम् = तुम, देव = हे देव, प्रयता = दी गई, हवींषि = हवि को।

हिन्दी व्याख्या — हे सबको जानने वाले अग्नि (हमारे द्वारा) वन्दित होकर तुम हविर्द्रव्यों को सुगन्धित करके ले गये हो। तुमने (उसे) पितरों को दिया है। उन्होंने स्वधा शब्द के साथ दी गई हवि को खा लिया है; (अब) दी गई हवि को तुम खाओ।

व्याकरण —

अवाट् = 'वह' धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

अक्षन् = 'धस्' धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

मण्डल-१०

सूक्त-१५

मन्त्र-१३

संहिता पाठ

ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विदम याँ उ च न प्रविदम।

त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व॥१३॥

पदपाठ —

ये। च। इह। पितरः। ये। च। न। इह यान्। च। विदम। यान्। ॐ इति। च। न। प्रविदम। त्वम्। वेत्थ। यति। ते। जातवेदः। स्वधाभिः। यज्ञम्। सुकृतम्। जुषस्व।

अन्वय — ये च इह पितरः ये च न इह यान् च विदम उ च न प्रविदम त्वम् वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिः यज्ञम् सुकृतम् जुषस्व।

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (ये च पितरः इह ये च न इह यान् च विदम यान् उ च न प्रविदम) ये च पितरः सूर्यरश्मय इहात्राऽऽस्मद्गृहे ये च नेह नात्र याँश्च सूर्यरश्मीन् विदम वयं जानीमो यान् उ यानपि न प्रविदम न जानीमः (जातवेदः यति त्वं वेत्थ स्वधाभिः सुकृतं यज्ञं जुषस्व) हे जातेषु विद्यमानाग्ने! यति यावतस्त्वं वेत्थ लब्धवान् तान् सर्वानपि रश्मीन् स्वधाभिः स्वधारणशक्तिभिरिमं सुकृतं सुसम्पादितं यज्ञं प्रापय॥१३॥

भावार्थ — यग्नि में किया हुआ यज्ञ अपने घर, दूसरे के घर तथा वर्तमान समय और दूसरे समय एवं विज्ञात और अविज्ञात सूर्य की किरणों को प्राप्त होता है॥१३॥

सायण भाष्य —

ये च पितरः इह अस्मत्समीपे वर्तन्ते ये च इह न सन्ति। याँश्च पितृन्



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

विदमसंनिकृष्टत्वाज्जानीमः याँ उ च न अपि च न प्रविदम विप्रकृष्टत्वाद्यं न विजानीमः ।  
 यति ते यावन्तस्ते भवन्ति तान् सर्वान् यथोक्तान् हे जातवेदः उत्पन्नसर्ववस्तुविषयज्ञानाग्ने  
 त्वं वेत्थ जानासि । स्वधाभिः हविलक्षणेनैः सुकृतं साधु कृतं यज्ञं जुषस्व प्रीत्या गृहाण ॥  
**शब्दार्थ** — ये = जो, च = और, इह = यहाँ, पितरः = पितर, ये = जो, च = और,  
 न = नहीं, इह = यहाँ, यान् = जिनको, च = और, विदम = हम जानते हैं, उ = एक  
 निपात, च = और, न = नहीं, प्रविदम = प्रकृष्ट रूप से जानते हैं, त्वम् = तुम, वेत्थ  
 = जानते हो, यति = जितना, ते = तुम्हारा, जातवेदः = हे सबको जानने वाले अग्नि,  
 स्वधाभिः = स्वधा के साथ, यज्ञम् = यज्ञ को, सुकृतम् = अच्छी प्रकार से तैयार किये  
 गये, जुषस्व = स्वीकार करो ।

**हिन्दी व्याख्या** — जो पितर यहाँ हैं और जो यहाँ नहीं हैं, जिनको (हम) जानते हैं और  
 जिनको (हम) अच्छी तरह से नहीं जानते हैं; हे सबको जानने वाले अग्नि, वे जितने हैं,  
 तुम सबको जानते हो । स्वधा के साथ अच्छी प्रकार से तैयार किये गये इस यज्ञ को  
 प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करो ।

**व्याकरण** —

**स्वराट्** = स्व = राज्+क्विप् ।

**विशेष** = मैक्डानल के अनुसार स्वराट् = प्रभुतासम्पन्न शासक (Sovereign ruler),  
 यथावशम् = अपनी शक्ति के अनुसार (according to thy power), असुनीतिम् =  
 आत्मा का मार्ग निर्देश करने के लिए (for spirit guidance) ।

**मण्डल—१०**

**सूक्त—१५**

**मन्त्र—१४**

**संहिता पाठ**

ये अग्निदग्धाः ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।

तेभिः स्वराळसुनीतिमेतां यथावशं तन्व कल्पयस्व ॥१४॥

**पदपाठ** —

ये । अग्निदग्धाः । ये । अनग्निदग्धा । मध्ये । दिवः । स्वधया । मादयन्ते । तेभिः । स्वराट् ।  
 असुनीतिम् । एताम् । यथावशम् । तन्वम् । कल्पयस्व ॥

**अन्वय** — ये अग्निदग्धाः ये अग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते तेभिः स्वराट् असुनीतम्  
 एताम् यथावशम् तन्वम् कल्पयस्व ॥

**दयानन्द भाष्य** —

**पदार्थ** — (ये अग्निदग्धाः ये अनग्निदग्धाः दिवः मध्ये स्वधया मादयन्ते) ये—अग्निदग्धाः  
 अग्निदग्धो दीपितो यैस्ते ग्रैष्मा उत्तरायणान्ते भवाः सूर्यरश्मयः, "जातिकालसुखादिभ्यो—



## पितृ सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१५)

ऽनाच्छादनात् क्तोऽकृतमितप्रतिपन्नाः" [अष्टा० ६।२।१७०३ इति सूत्रेण बहुव्रीहावन्तोदात्तः, दह धातुर्दीप्तौ "दहिक् दीप्तौ" [कविकल्पद्रुमः३ येऽनग्निदग्धास्तद्विपरीता हैमन्तिका दक्षिणायनान्ते भवाः सूर्यरश्मयस्ते सर्वे दिवोऽन्तरिक्षस्य मध्ये स्वधयोदकेनोदकवृष्ट्या मादयन्ते प्राणिनो जीवयन्ति (स्वराट् तेभिः एताम् असुनीति तन्वं यथावशं कल्पयस्व) स्वराट्— हे प्रकाशमानाग्ने! तेभिः सूर्यरश्मिभिरेतां तन्वमेतं जीवशरीरमसुनीतिं प्राणसञ्चारस्थानं यथावश्यकं यथायोग्यं समर्थयस्व।।१४।।

**भावार्थ** — उत्तरायण और दक्षिणायन के अन्त में होने वाली वर्षा की कारणभूत सूर्यकिरणों को आकाश से सुवृष्टि के लिये यज्ञाग्नि प्रेरित करती है। जिससे जीव शरीर यथायोग्य प्राणशक्ति को धारण कर सकता है।।१४।।

**सायण भाष्य** —

ये पितरः अग्निदग्धाः अग्निना भस्मीकृता। श्मशानं प्राप्ता इत्यर्थः। ये च पितरः अनग्निदग्धाः श्मशानकर्म न प्राप्ताः मध्ये दिवः द्युलोकस्य मध्ये स्वधया हविर्लक्षणेनान्तेन मादयन्ते तृप्तयन्ति हे अग्ने स्वराट् स्वकर्मोपभोगेन दीप्यमानः तेभिः तैः पितृभिः सहितः सन् असुनीतिं प्राणानां विषयेषु नेतारमस्मत्पित्रन्तरात्मानम् एतां तन्वम् एतद्देवता शरीरं यथावशं यथाकामं कल्पयस्व समर्थयस्व। ग्रासयेत्यर्थः।

**शब्दार्थ** — ये = जिनका, अग्निदग्धाः = अग्निदाह हुआ है, ये = जिनका, अनग्निदग्धा = अग्निदाह नहीं हुआ है, मध्ये = बीच में, दिवः = द्युलोक के, स्वधया = स्वधा के साथ, मादयन्ते = आनन्दित किये जाते हैं, तेभिः = उनके साथ, स्वराट् = स्वयं दीप्तिवान्, असुनीतिम् = प्राण को ले जाने वाले, एताम् = उस, यथावशम् = अपनी इच्छा के अनुसार, तन्वम् = शरीर को कल्पयस्व = ग्रहण करावो।

**हिन्दी व्याख्या** — जिनका अग्नि में दाह हुआ है और जिनका अग्नि में दाह नहीं हुआ है, (वे जो) द्युलोक के मध्य में आनन्दित होते हैं, (हे अग्नि) स्वयं प्रकाशमान (तुम) उनके साथ प्राण को धारण करने के लिए अपनी इच्छा के अनुसार उनके शरीर को ग्रहण करावो।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****अक्ष सूक्त****ऋषि—कवष ऐलूष (अक्षो वा मौजवान्)****देवता—अक्ष कृषि प्रशंसा****छन्द—त्रिष्टुप्/जगती (सातवे मन्त्र में)****मण्डल—१०****सूक्त—३४****मन्त्र—१****संहिता पाठ****प्रावेपा मां बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः ।****सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान् ॥१॥****पदपाठ —**

प्रावेपाः । मा । बृहतः । मादयन्ति । प्रवातेजाः । इरिणे । वर्वृतानाः । सोमस्येव । मौजवतस्य ।  
 भक्षः । विभीदकः । जागृविः । मह्यम् । अच्छान् ।

अन्वय — प्रावेपाः मा बृहतः मादयन्ति प्रवातेजाः इरिणे वर्वृतानाः सोमस्येव भक्षः मौजवतस्य  
 विभीदकः जागृविः मह्यम् अच्छान् ॥

**दयानन्द भाष्य —**

पदार्थ — (बृहतः प्रावेपाः) महतो विभीतकस्य फलानि—अक्षाः प्रवेपिणः प्रकम्पनशीलाः  
 “प्रवेपिणो महती विभीदकस्य फलानि” {निरु० ६।६३ (प्रवातेजाः) निम्नस्थाने पर्वतस्योपत्यके  
 जाताः “प्रवातेजाः प्रवणे जाः” {निरु० ६।६३ (इरिणे वर्वृतानाः) निर्जले निरोषधिके प्रदेशे  
 जङ्गले वर्तमानाः {निरु० ६।६३ (मा मादयन्ति) मां हर्षयन्ति (मौजवतस्य सोमस्य—इव  
 भक्षः) मूजवति मुञ्जवति पर्वते जातस्य “मूजवान् पर्वतो मुञ्जवान्” {निरु० ६।६३  
 सोमस्यौषधिविशेषस्य भक्षो भक्षणं यथा तथा विभीदकस्तत्फलभक्षो भक्षणं स्वादु देवने  
 द्यूतक्रीडने भवति (मह्यं जागृविः अच्छान्) मह्यं जागृतिप्रदः सन् मामचच्छदत् ॥१॥

भावार्थ — अक्ष जुआ खेलने के पाशे जुआरी को जुआ खेलने में सोमपान जैसा हर्ष अनुभव  
 कराते हैं और जागृति देते हैं, ऐसा वह समझा करता है ॥१॥

**सायण भाष्य —**

बृहतः महतो विभीतकस्य फलत्वेन संबन्धिनः प्रवातेजाः प्रवणे देशे जाताः  
 इरिणे आस्फारे वर्वृतानाः प्रवर्तमानाः प्रावेपाः प्रवेपिणः कम्पनशीला अक्षाः मा मां मादयन्ति  
 हर्षयन्ति । किंच जागृविः जयपराजययोर्हर्षशोकाभ्यां कितवानां जागरणस्य कर्ता विभीदकः  
 विभीतकविकारोऽक्षो मह्यं माम् अच्छान् अचच्छदत् अत्यर्थं मादयति । तत्र दृष्टान्तः ।  
 सोमस्येव यथा सोमस्य मौजवतस्य । मुजवति पर्वते जातो मौजवतः । तस्य । तत्र ह्युत्तमः  
 सोमो जायते । भक्षः पानं यजमानान् देवांश्च मादयति तद्वदित्यर्थः । तथा च यास्कः —  
 ‘प्रवेपिणो मा महतो विभीतकस्य फलानि मादयन्ति । प्रवातेजाः प्रवणेजा इरिणे वर्तमाना



इरिणं निऋणमृणातेरपार्णं भवत्यपरता अस्मादोषधय इति वा । सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो मौजवती मुजवति जातो मुजवान् पर्वतो मुञ्जवान् पर्वतो मुञ्जवान् मुञ्जो विमुच्यत इषीकयेषीकेशतेर्गतिकर्मण इयमपीतरेषीकैतस्मादेव विभीतको विभेदनाज्जागृवि-  
जागरणान्मह्यमचच्छदत् ।' (निरु० ९.८) इति ।।

शब्दा० — प्रावेपाः = कम्पनशील, मा = मुझको, बृहतः = बड़े विभीदक वृक्ष से, मादयन्ति = आनन्दित करते हैं, प्रवातेजाः = वायुवाले स्थान में उत्पन्न, इरिणे = पार्श्व पर, वर्वृतानाः = बार-बार नाचते हुये, सोमस्येव = सोम की तरह, भक्षः = खाना, यहाँ पीने से मतलब है, मौजवतस्य = मूजवत् से उत्पन्न का, विभीदकः = अक्ष, गोटियां, जागृविः = जागृत करने वाला, मह्यम् = मुझको, अच्छान् = अत्यन्त आनन्दित करता है ।

हिन्दी व्याख्या — कम्पनशील वायु वाले स्थान में बड़े (विभीदक वृक्ष) से उत्पन्न अक्ष पार्श्व पर बार-बार नाचते हुये मुझको आनन्दित करते हैं । मूजवत् से उत्पन्न सोम के पान की तरह जागृत करने वाला अक्ष मुझको आनन्दित करता है ।

व्याकरण —

प्रावेपाः = प्र+आ+वेप्+अच् = प्रावेप ।

मादयन्ति = णिजन्त मद् धातु, लट् लकार, प्रथमपुरुष, बहुवचन ।

प्रवातेजाः = प्रवाते जायन्ते+प्रवाते+जन्+ङ= प्रवातेज

जागृविः = जागृ+विन् (वि)

अच्छान् = अच्छ+अन् प्रणने लङ् का रूप है ।

मौजवतस्य = मूजवति जायते । मूजवत+अण् = मौजवत ।

वर्वृतानाः = वृत्+कानच् = वर्वृतनि ।

विशेष = मैकडानल के अनुसार जागृविः =स्फूर्ति देने वाला (Enlivering) अच्छान् = प्रसन्न किया है (has pleased) ।

मण्डल-१०

सूक्त-३४

मन्त्र-२

संहिता पाठ

न मा मिमैथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत् ।

अक्षस्याहमैकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम् ॥२॥

पदपाठ —

न । मा । मिमेथ । न जिहीळे । एषा । शिवा । सखिभ्यः । उत । मह्यम् । आसीत् । अक्षस्य ।  
अहम् । एकपरस्य । हेतोः । अनुव्रताम् । अप । जायाम् । अरोधम् ॥

अन्वय — न मा मिमेथ न जिहीळे एषा शिवा सखिभ्यः उत मह्यम् आसीत् अक्षस्य  
एकपरस्य हेतोः अनुव्रताम् जायाम् अप अरोधम् ॥



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****दयानन्द भाष्य —**

पदार्थ — (एषा) इयं मे पत्नी (मा) माम् (न मिमेथ) न हिनस्ति—पीडयति (न जिहीळे) न ह्यनाद्रियते "हेडू अनादरे" [भ्वादि०श् (सखिभ्यः उत मह्यम्) सहयोगिभ्योऽपि च मह्यम् (शिवा आसीत्) कल्याणकरी खल्वस्ति (अक्षस्य एकपरस्य हेतोः) द्यूतस्यैकमात्रदोषप्रधानस्य हेतोरेव (अहम् अनुव्रतां जायाम् अप अरोधम्) अहमनुकूलमाचरन्तीं पत्नीं नारक्षम् ।।२।।

भावार्थ — द्यूतदोष के कारण मनुष्य सुख देने वाली आदर करने वाली अनुकूल पत्नी को भी अपने से अलग कर बैठता है ।।२।।

**सायण भाष्य —**

एषा अस्मदीया जाया मा मां कितवं न मिमेथ न च चुक्रोध न जिहीळे न च लज्जितवती । सखिभ्यः अस्मदीयेभ्यः कितवेभ्यः शिवा सुखकरी, आसीत् अभूत् । उत अपि च मह्यं शिवासीत् । इत्थम् अनुव्रताम् अनुकूलां जायाम् एकपरस्य एकः परः प्रधानं यस्य तस्य अक्षस्य हेतोः कारणात् अहम् अप अरोधं परित्यक्तवानस्मीत्यर्थः ।

शब्दा० — न = नहीं, मा = मुझसे, मिमेथ = झगड़ा किया, न = नहीं, जिहीळे = क्रोध किया, एषा = उसने, शिवा = कल्याणकारी, सखिभ्यः = मित्रों के लिये, उत = और, मह्यम् = मेरे लिए, आसीत् = थी, अक्षस्य = अक्ष का, एकपरस्य = एकमात्र प्रेमी होने के, हेतोः = कारण से, अनुव्रताम् = पतिव्रता, जायाम् = पत्नी की, अप अरोधम् = परित्याग दिया है ।

हिन्दी व्याख्या — उसने मुझसे झगड़ा नहीं किया, कभी क्रोध नहीं किया, (बल्कि) मित्रों के लिये तथा मेरे लिये कल्याणकारी थी; अक्ष का एक मात्र प्रेमी होने के कारण ही (मैंने अपनी) पतिव्रता स्त्री का परित्याग किया है ।

**व्याकरण —**

मिमेथ, जिहीळे = मिथ् और हीळ् धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

अरोधम् = रुध् धातु, लुङ् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन ।

विशेष = मैक्डानल के अनुसार मिमेथ = झिड़कना (scold) जिहीळे = क्रोधित होना (be angry) ।

**मण्डल—१०****सूक्त—३४****मन्त्र—३****संहिता पाठ**

द्वेष्टिं श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्दितारम् ।

अश्वंस्येव जरतो वस्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम् ।।३।।



पदपाठ -

द्वेष्टि। श्वश्रूः। अप। जाया। रुणद्धि। न। नाथितः। विन्दते। मर्डितारम्। अश्वस्येव। जरतः। वस्यस्य। न। अहम्। विन्दामि। कितवस्य। भोगम्।

अन्वय - द्वेष्टि श्वश्रूः जाया अप रुणद्धि न नाथितः विन्दन्ते मर्डितारम् अश्वस्येव जरतः वस्यस्य अहम् विन्दामि कितवस्य भोगम्।

दयानन्द भाष्य -

पदार्थ - (श्वश्रूः द्वेष्टि) कितवस्य श्वश्रूस्तं द्वेष्टि नाद्रियते (जाया अपरुणद्धि) जाया तं कितवं न वाञ्छति ततोऽपगता भवति (नाथितः मर्डितारं न विन्दते) तद्वेषेण पीडितः सन् सुखयितारं न प्राप्नोति न लभते न कश्चित् साहाय्यं ददाति (वरुण्यस्य अश्वस्य जरतः इव) मूल्याहस्य बहुमूल्यस्य जरागतस्याश्वस्येव स्थितोऽहं यथा जरागतो बहुमूल्यवान् भोगपदार्थमुचितं न लभते तद्वत् स्थितोऽहं कुतश्चिदपि (भोगं न विन्दामि) भोगं न लभे यतः (कितवस्य) कः कितवस्य भोगं दद्यात्॥३॥

भावार्थ - जुआ खेलने वाले के प्रति उसकी सास घृणा करती है। पत्नी उसे नहीं चाहती है। कोई सुख देने वाला उसे नहीं मिलता। उचित भोगों से वञ्चित रहता है॥३॥

सायण भाष्य -

श्वश्रूः जायाया माता गृहगतं कितवं द्वेष्टि निन्दतीत्यर्थः। किञ्च जाया भार्या अप रुणद्धि निरुणद्धि। अपि च नाथितः याचमानः कितवो धनं मर्डितारं धनदानं सुखयितारं न विन्दते न लभते। इत्थं बुद्ध्या विमृशन् अहं जरतः वृद्धस्य वस्यस्य। वस्नं मूल्सम्। तदर्हस्य अश्वस्येव कितवस्य भोगं न विन्दामि न लभे।

शब्दा० - द्वेष्टि = द्वेष करती है, श्वश्रूः = सासु (पत्नी की माता), जाया = पत्नी, अपरुणद्धि = रोकती है, न = नहीं, नाथितः = सहायता करता हुआ, विन्दते = पाता है, मर्डितारम् = दया करने वाले को, अश्वस्येव = घोड़े की तरह, जरतः = वृद्ध हुये, वस्यस्य = कीमती, न = नहीं, अहम् = मैं, विन्दामि = पाता हूँ, कितवस्य = जुआड़ी का, भोगम् = लाभ, उपयोगिता।

हिन्दी व्याख्या - सासु द्वेष करती है; पत्नी घर आने से रोकती है, सहायता चाहता हुआ किसी भी दया करने वाले को नहीं पाता। वृद्ध हो गये कीमती अश्व की तरह जुआड़ी का कोई लाभ नहीं पाता हूँ।

व्याकरण -

द्वेष्टि, रुणद्धि, विन्दते = द्विष्, रूध् और विद् (विन्द) धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।



नाथितः = नाथ्+(इट्)+क्त ।

मर्दितारम् = मृड्+(इट्)+तृच् = मर्दितृ । द्वितीया का एकवचन ।

जरतः = जृ+शतृ = जरत् । षष्ठी का एकवचन ।

वस्यस्य = वस्न+यत् = वस्य । षष्ठी का एकवचन ।

विशेष = मैक्डानल के अनुसार अपरुणद्धि = भगा देती है (drives away) वस्यस्य = बेचने के लिए ले जाये गये (that is for sale) ।

मण्डल-१०

सूक्त-३४

मन्त्र-४

संहिता पाठ

अन्ये जायां परिमृशन्त्यस्य यस्यागृध्वदेदने वाज्यक्षः ।

पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम् ।।४।।

पदपाठ -

अन्ये । जायाम् । परि । मृशन्ति । अस्य । यस्य । अगृधत् । वेदने । वाजी । अक्षः । पिता । माता । भ्रातरः । एनम् । आहुः । न । जानीमः । नयत । बद्धम् । एतम् ।

अन्वय - अन्ये जायाम् परिमृशन्ति अस्य यस्य अगृधत् वेदने वाजी अक्षः पिता माता भ्रातरः एनम् आहुः न जानीमः नयत बद्धम् एनम् ।

दयानन्द भाष्य -

पदार्थ - (यस्य वाजी अक्षः वेदने अगृधत्) यस्य कितवस्य बलवान् द्यूतपाशः द्यूतधननिमित्तमभिकांक्षति यद् धनमागच्छेत् कुतश्चिदपि चौर्यकर्मणापि वा (अस्य जायाम् अन्ये परिमृशन्ति) अस्य तादृशस्य कितवस्य द्यूतव्यसनिनः पत्नीमन्ये जनाः कितवाः परितः स्पृशन्ति वस्त्राभूषणादिग्रहणाय दूषयन्ति (पिता माता भ्रातरः न जानीमः एनम् आहुः) पित्र्यादय पारिवारिकजना एनं न जानीमहे-इति ते कथयन्ति (एतं बद्धं नयत) हे कितवा राज्यकर्मचारिणो वा, एतं बद्धं कृत्वा नयत ।।४।।

भावार्थ - जुए का व्यसन जब किसी को लग जाता है तो वह कहीं से भी धन मिले चाहे चोरी से मिले उसे जुए पर लगा देता है । धन खोकर अपनी पत्नी की दुर्दशा कराता है । माता-पिता, भाई उसका साथ नहीं देते । इस प्रकार दुःखी होकर अपने जीवन को समाप्त कर देता है ।।४।।

सायण भाष्य -

यस्य कितवस्य वेदने धने वाजी बलवान् अक्षः देवः अगृधत् अभिकाङ्क्षां करोति तस्य अस्य कितवस्य जायां भार्याम् अन्ये प्रतिकितवाः परि मृशन्ति वस्त्रकेशाद्याकर्षणेन संस्पृशन्ति । किञ्च पिता जननी च भ्रातरः सहोदराश्च एनं कितवम् आहुः वदन्ति । न



## अक्ष सूक्त ( मण्डल-१०, सूक्त-३४ )

वयमस्मदीयमेनं जानीमः । रज्ज्वाबद्धमेतं कितवं हे कितवाः यूयं नयत यथेष्टदेशं प्रापयतेति ॥

शब्दा० — अन्ये = दूसरे, जायाम् = पत्नी को, परिमृशन्ति = आलिंगन करते हैं, अस्य = उसकी, यस्य = जिसके, अगृधत् = लालच किया है, वेदने = धन के लिये, वाजी = शक्तिशाली, अक्षः = अक्ष, पिता = पिता, माता = माता, भ्रातरः = भाई, एनम् = इसको, आहुः = कहते हैं, न = नहीं, जानीमः = जानते हैं, नयत = ले जावो, बद्धम् = बाँध कर, एनम् = इसको ।

हिन्दी व्याख्या — दूसरे उसकी स्त्री का आलिंगन करते हैं, जिसके धन के लिये शक्तिशाली अक्ष (देवता) ने लालच किया है । पिता, माता तथा भाई सभी उसके विषय में कहते हैं, 'हम इसको नहीं जानते; बांधकर इसे ले जावो' ।

व्याकरण —

परिमृशन्ति = परि + मृश् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।

अगृधत् = गृध धातु, लङ्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

विशेष = मैक्डानल के अनुसार वाजी = विजयशील (victorious) परिमृशन्ति = आलिङ्गन करते हैं (embrace) ।

मण्डल-१०

सूक्त-३४

मन्त्र-५

संहिता पाठ

यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायदभयोऽव हीये सखिभ्यः ।

न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतं एमादेषां निष्कृतं जारिणीव ॥५॥

पदपाठ —

यत् । आदीध्ये । न । दविषाणि । एभिः । परायत्भ्यः । अव । हीये । सखिभ्यः । निऽउप्ताः । च । बभ्रवः । वाचम् । अक्रत । एमि । इत् । एषाम् । निऽकृतम् । जारिणीऽइव ।

अन्वय — यत् आदीध्ये न दविषाणि एभिः परायद्भ्यः अवहीये सखिभ्यः न्युप्ताः च बभ्रवः वाचम् अक्रत एमि इत् एषाम् निष्कृतम् जारिणीव ।

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (यत् आदीध्ये एभिः न दविषाणि) यदा संकल्पयामि एभिरक्षैर्न क्रीडिष्यामि (परायद्भ्यः सखिभ्यः अवहीये) परागच्छद्भ्यः स्वयं बलादागच्छद्भ्यः कितवेभ्योऽवस्थितो भवामि स्तब्धो भवामि (बभ्रवः न्युप्ताः च वाचम् अक्रत) बभ्रुवर्णा अक्षाः क्षिप्ताश्च शब्दं कुर्वन्ति तदा (एषां निष्कृतं जारिणी इव एमि) एषामक्षाणां सम्पादितं स्थानं व्यभिचारिणीव गच्छामि ॥५॥

भावार्थ — जुए का व्यसन जब किसी को पड़ जाता है उससे बचना कठिन हो जाता



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

है। बचने की भावना या सङ्कल्प होते हुए भी पुराने साथियों को और जुए के स्थान को देखकर जुए की ओर फिर चल पड़ता है। यह व्यसन बहुत बुरा है और इससे बचना चाहिये ॥५॥

### सायण भाष्य -

यत् यदा अहम् आदीध्ये ध्यायामि तदानीम् एभिः अक्षैः न दविषाणि न दूषये न परितपामि। यद्वा। न दविषाणि न देविष्यामीत्यर्थः। परायदभ्यः स्वयमेव परागच्छद्भ्यः सखिभ्यः सखिभूतेभ्यः कितवेभ्यः अव हीये अवहितो भवामि। नाहं प्रथममक्षान् विसृजामीति। किंच बभ्रवः बभ्रुवर्णा अक्षाः। न्युप्ताः कितवैरवक्षिप्ताः सन्तः वाचमक्रत शब्दं कुर्वन्ति। तदा संकल्पं परित्यज्य अक्षव्यसनेनाभिभूयमानोऽहम् एषाम् अक्षाणां निष्कृतं स्थानं जारिणीव यथा कामव्यसनेनाभिभूयमाना स्वैरिणी संकेतस्थानं याति तद्वत् एमीत् गच्छाम्येव ॥

शब्दा० - यत् = जब, आदीध्ये = सोचता हूँ, न = नहीं, दविषाणि = जलाऊँगा, एभिः = इनके द्वारा, परायद्भ्यः = खेलने के लिए जाते हुए, अवहीये = छोड़ दिया जाता हूँ, सखिभ्यः = मित्रों के सामने, न्युप्ताः = फेंके जाते हैं, च = और, बभ्रवः = भूरे वर्ण के, वाचम् = शब्द, अक्रत = करते हैं, एभिः = जाता हूँ, इत् = पूर्व वर्ती शब्द पर जोर देने वाला निपात, एषाम् = इनके, निष्कृतम् = निश्चित स्थान पर, जारिणीव = स्वैरिणी स्त्री की तरह।

हिन्दी व्याख्या - जब यह सोचता हूँ कि 'इन अक्षों से (अपने को) नहीं जलाऊँगा', (खेलने के लिये) जाते हुए मित्रों के द्वारा छोड़ दिया जाता हूँ; (जब) भूरे वर्ण के अक्ष पाशे पर फेंके जाते हुये शब्द करते हैं, (मैं) तुरन्त उस स्थान पर पहुँच जाता हूँ, जैसे स्वैरिणी स्त्री (अभिसार-स्थान पर पहुँच जाती है।)

### व्याकरण -

आदीध्ये = आ+दीधी धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन।

दविषाणि = दिव् धातु, लेट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन।

परायद्भ्यः = परा+इ+शतृ = परायत। पञ्चमी का बहुवचन।

न्युप्ता = वि+वप्+क्त = न्युप्त। वृत् का सम्प्रसारण।

अक्रत = कृ धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन। वैदिक रूप।

विशेष = मैक्डानल ने इत् का अर्थ सीधे (Straight) किया है।

मण्डल-१०

सूक्त-३४

मन्त्र-६

संहिता पाठ

स॒भामे॑ति॒ कित॒व पृ॒च्छमा॑नो जे॒ष्यामी॑ति॒ त॒न्वाऽशू॑शु॒जानः॑ ।

अ॒क्षासो॑ अ॒स्य वि॒तिर॑न्ति॒ कामं॑ प्र॒तिदी॒न्ने दध॑त॒ आ कृ॑तानि॒ ॥६॥



पदपाठ —

सभाम् । एति । कितवः । पृच्छमानः । जेष्यामि । इति । तन्वा । शूशुजानः । अक्षासः । अस्य । वि । तिरन्ति । कामम् । प्रतिदीप्ते । दधतः । आ कृतानि ।

अन्वय — सभाम् एति कितवः पृच्छमानः जेष्यामि इति तन्वा शूशुजानः अक्षासः अस्य वितिरन्ति कामम् प्रतिदीप्ते आदधतः कृतानि ।

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (कितवः तन्वा शूशुजानः पृच्छमानः सभाम् एति) द्यूतक्रीडीजनः शरीरेण दीप्यमानः कितवकर्मणि प्रसिद्धः पृच्छमानः प्रष्टुं यतमानः कितवः सभां गच्छति (जेष्यामि) अहं जयं करिष्यामि (प्रतिदीप्ते अक्षासः अस्य कृतानि आ दधतः काम वितरन्ति) द्यूते प्रतिपक्षिणे प्रतिपक्षिणं लक्षयित्वा अक्षाः अस्य कितवस्य द्यूतकर्माणि समन्ताद् धारयतः कितवस्य कामं जयं प्रयच्छन्ति ॥६॥

भावार्थ — जुआरी शरीर में आवेश खाया हुआ बोलता हुआ जुआरियों की मण्डली में जय की इच्छा से जाता है, प्रतिपक्षी को लक्ष्य करके कि ये पाशे मुझे जय दिलायेंगे, ऐसी उसकी भावना है ॥६॥

सायण भाष्य —

तन्वा शरीरेण शूशुजानः शोशुचानो दीप्यमानः कितवः कोऽत्रास्ति धनिकस्तं जेष्यामीति पृच्छमानः पृच्छन् सभां कितवसंबन्धिनीम् एति गच्छति । तत्र प्रतिदीप्ते प्रतिदेवित्रे कितवाय कृतानि देवनोपयुक्तानि कर्माणि आ दधतः जयार्थमाभिमुख्येन मर्यादया आ दधतः अस्य कितवस्य कामम् इच्छाम् अक्षासः अक्षाः वि तिरन्ति वर्धयन्ति ॥

शब्दा० — सभाम् = जुआ-स्थान पर, एति = पहुँचता है, कितवः = जुआड़ी, पृच्छमानः = पूछता हुआ, जेष्यामि = जीतूंगा, इति = ऐसा, तन्वा = शरीर से, शूशुजानः = जलते हुए, अक्षासः = अक्ष, अस्य = उसकी, वि तिरन्ति = विशेष रूप से बढ़ाते हैं, कामम् = इच्छा को, प्रतिदीप्ते = प्रतिपक्षी, आदधतः = रखते हुए, कृतानि = भाग्यशाली अक्षों को ।

हिन्दी व्याख्या — 'जीतूंगा' ऐसा पूछता हुआ जुआड़ी जलते शरीर से जुआ स्थान पर पहुँचता है । अक्ष भाग्यशाली अक्षों को प्रतिपक्षी की ओर करते हुए उसकी इच्छा को और बढ़ाते हैं ।

व्याकरण —

शूशुजानः = शुज्+कानच् = शूशुजान ।

पृच्छमानः = (मुक्)+शानच् = पृच्छमान ।

दधतः = धा+शतृ = दधत् ।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

विशेष = मैकडानल के अनुसार शूशुजानः = काँपता हुआ (trembling) अक्षासः अस्य कामं वितरन्ति = पासे इसकी इच्छा अनुसार पड़ते हैं (the dice run counter to his desire) कृतानि = जिताने वाले दाँव (the lucky throws)

मण्डल-१०

सूक्त-३४

मन्त्र-७

संहिता पाठ

अक्षास इदङ्कुशिनो नितोदिनो निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णवः ।  
कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो मध्वा संपृक्ताः कितवस्य बर्हणा ॥७॥

पदपाठ -

अक्षासः । इत् । अङ्कुशिनः । नितोदिनः । निकृत्वानः । तपनाः । तापयिष्णवः ॥  
कुमारदेष्णाः । जयतः । पुनःऽहनं । मध्वा । सम्पृक्ताः । कितवस्य । बर्हणा ।  
अन्वय - अक्षासः इत् अङ्कुशिनः नितोदिनः निकृत्वानः तपनाः तापयिष्णवः । कुमारदेष्णाः पुनर्हणः मध्वा सम्पृक्ताः कितवस्य बर्हणा ।

दयानन्द भाष्य -

पदार्थ - (अक्षासः इत्) अक्षा खलु हि (अङ्कुशिनः नितोदिनः) अङ्कुशवन्तः अङ्कुशधारिण इव नितोदकाः व्यथाकारिणः (निकृत्वानः) वंशच्छेदकाः (तपना तापयिष्णवः) सन्तापकास्तापशीलाः (कुमारदेष्णाः) कुत्सितमृत्युदेयं येषां तथाभूता अतिकष्टमृत्युहेतुकाः "देष्णां दातुं योग्यम्" [ऋ० २।६।४ दयानन्दः] (जयतः कितवस्य पुनर्हणः) जयं कुर्वतः कितवस्य पुनर्घातकाः (मध्वा बर्हणा सम्पृक्ताः) परिवृद्धेन मधुना संयुक्ता विषवत् सन्ति ॥७॥  
भावार्थ - जुए के पाशे जीतते हुए के लिये भी पीड़ा देने वाले, बुरी तरह मृत्यु कराने वाले मिठाई से लिप्त विषान्न के समान हैं, इनसे सदा बचना ही चाहिए ॥७॥

सायण भाष्य -

अक्षास इत् अक्षा एव अङ्कुशिनः अङ्कुशवन्तः नितोदिनः नितोदितवन्तश्च निकृत्वानः पराजये निकर्तनशीलाश्छेत्तारो वा तपनाः पराजये कितवस्य संतापकाः तापयिष्णवः सर्वस्वहारकत्वेन कुटुम्बस्य संतापनशीलाश्च भवन्ति । किञ्च जयतः कितवस्य कुमारदेष्णाः धनदानेन धान्यतां लम्भयन्तः कुमारानां दातारो भवन्ति । अपि च मध्वा मधुना संपृक्ताः प्रतिकितवेन बर्हणा परिवृद्धेन सर्वस्व हरणेन कितवस्य पुनर्हणः पुनर्हन्तारो भवन्ति ।  
शब्दा० - अक्षासः = ये अक्ष, इत् = पूर्ववर्ती शब्द पर जोर देने वाला निपात, अङ्कुशिनः = अङ्कुश वाले, नितोदिनः = काटने वाले, निकृत्वानः = धोखा देने वाले, तपनाः = तपाने वाले, तापयिष्णवः = संताप देने वाले, कुमारदेष्णाः = बच्चों की तरह देने वाले तथा फिर वापस लेने वाले, जयतः = जीतने वाले, पुनर्हणः = पुनः हत्या करने



## अक्ष सूक्त ( मण्डल-१०, सूक्त-३४ )

वाले, मध्वा = मधु से , सम्पृक्ताः = सनी हुई बोली से , कितवस्य = जुआड़ी की, बर्हणा = बड़ी हुई ।

हिन्दी व्याख्या — निश्चित रूप से ये पाशे अङ्कुशवाले, काटने वाले, धोखा देने वाले, तराने वाले तथा (जुआड़ी के द्वारा धन हारने पर परिवार के लोगों को) संताप देने वाले हैं। बच्चों की तरह धन देकर, बड़ी हुई मधु युक्त (वाणी) से (ये अक्ष) जीतने वाले जुआड़ी की हत्या करने वाले होते हैं।

व्याकरण —

अङ्कुशिनः	=	अङ्कुश+इनि = अङ्कुशिन् ।
नितोदिनः	=	नि+तुद्+णिनि = नितोदिन ।
निकृत्वानः	=	नि+कृत्+क्वनिप् = निकृत्वन् ।
तपनाः	=	तप्+ल्युट् (अन) = तपन
तापयिष्णवः	=	णिजन्त तप्+(इट्) + इष्णुच् = तापायष्णु ।
कुमार देष्णाः	=	कुमार+दा+ष्ण = कुमारदेष्ण ।
पुनर्हणः	=	पुनः हन्ति । पुनर्+हन्+क्विप् = पुनर्हन् ।
वर्हणा	=	वृह्+युच् (अन) = बर्हण ।
सम्पृक्ताः	=	सम्+पृच्+क्त = सम्पृक्त ।

विशेष = मैक्डानल के अनुसार अङ्कुशिनः = हुक से युक्त (hooked), निकृत्वानः = ठगने वाले (deceitful), बर्हणा = जादू की शक्ति से (by magic power) ।

मण्डल-१०

सूक्त-३४

मन्त्र-८

संहिता पाठ

त्रिपञ्चाशः क्रीळति व्रात एषां देवइव सविता सत्यधर्मा ।  
उग्रस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते राजां चिदेभ्यो नम इत्कृणोति ॥८॥

पदपाठ —

त्रिपञ्चाशः । क्रीळति । व्रातः । एषाम् । देवः इव । सविता । सत्यधर्मा । उग्रस्य ।  
चित् । मन्यवे । न । नमन्ते । राजां । चित् । एभ्यः । नमः । इत् । कृणोति ॥  
अन्वय — त्रिपञ्चाशः क्रीळति व्रातः देवइवः सविता सत्यधर्मा उग्रस्य चित् मन्यवे न नमन्ते  
राजा चित् एभ्यः नमः इत् कृणोति ॥

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (एषां व्रात) एतेषामक्षाणां समूहः (सत्यधर्मा सविता देवः इव) स्थिरनियमवान्  
सूर्यो देव इव प्रभावकारी (त्रिपञ्चाशः क्रीडति) त्रयश्च पञ्च च त्रिपञ्च अष्टसंख्याकदिशस्तासु



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

दीर्घश्छन्दसि "अन्येषामपि दृश्यते" {अष्टा० ६।३।१२५२ विहरति, (उग्रस्य मन्यवे चित् न नमन्ते) एतेऽक्षाः क्रूरस्य क्रोधाय तत्क्रोधाग्रे न नम्रीभवन्ति (राजा चित् एभ्यः नमः इत् कृणोति) राजाऽपि खल्वेभ्योऽक्षेभ्यो नमस्कारं करोति—एषां वशीभवति तथाभूता दुष्प्रभावकारिण एते, न तैः यह क्रीडनीयं कदाचित् ॥८॥

**भावार्थ** — इन पाशों का समूह सूर्य देव के समान प्रभावकारी है तथा आठों दिशाओं में खेलता है। ये ऐसे दुष्प्रभावी हैं कि राजा भी इसके वश में हो जाता है, अतः इनसे नहीं खेलना चाहिए ॥८॥

### सायण भाष्य —

एषाम् अक्षाणां त्रिपञ्चाश' त्र्यधिकपञ्चाशत्संख्याकः व्रातः संधः क्रीळति आस्फारे विहरति। अक्षिकाः प्रायेण तावद्भिरक्षैर्दीव्यन्ति हि। तत्र दृष्टान्तः। सत्यधर्मा सविता सर्वस्य जगतः प्रेरकः सूर्यो देव इव। यथा सविता देवो जगति विहरति तद्वदक्षाणां संध आस्फारे विहरतीत्यर्थः। किंच उग्रस्य चित् क्रूरस्यापि मन्यवे क्रोधाय एते अक्षाः न नमन्ते न प्रह्वीभवन्ति। न वशे वर्तन्ते। तं नमयन्तीत्यर्थः। राजा चित् जगत् ईश्वरोऽपि एभ्यः नम इत् नमस्कारमेव देवनवेलायां कृणोति। नावज्ञां करोतीत्यर्थः ॥

**शब्दा०** — त्रिपञ्चाशः = तिरपन संख्यावाला, क्रीळति = खेलता है, व्रातः = समूह, देवइव = देवता की तरह, सविता = सवितृ, सत्यधर्मा = सत्यधर्मवाले, उग्रस्य = भयानक के, चित् = भी, मन्यवे = क्रोध के सामने, न = नहीं, नमन्ते = झुकते हैं, राजा = शासक, चित् = भी, एभ्यः = इनको, नमः = नमस्कार, इत् = पूर्ववर्ती शब्द पर जोर देने वाला निपात, कृणोति = करता है ॥

**हिन्दी व्याख्या** — इनका तिरपन का समूह (पाशे पर) विहार करता है, जैसे सत्यधर्मवाले सवितृ देव सर्वत्र अपनी इच्छा से विहार करते हैं। ये (अक्ष) भयानक के भी क्रोध के सामने नहीं झुकते; राजा भी इनको नमस्कार करता है।

### व्याकरण —

त्रिपञ्चाशः= त्रिपञ्चाशतः पूरणः। त्रिपञ्चाशत्+उट्=त्रिपञ्चाश

नमन्ते = नम् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन, वैदिक रूप।

मण्डल—१०

सूक्त—३४

मन्त्र—९

### संहिता पाठ

नीचा वर्तन्ते उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।

दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ॥९॥

### पदपाठ —

नीचा। वर्तन्ते। उपरि। स्फुरन्ति। अहस्तासः। हस्तवन्तम्। सहन्ते॥ दिव्याः।



## अक्ष सूक्त ( मण्डल-१०, सूक्त-३४ )

अङ्गाराः । इरिणे । निऽउप्ताः । शीताः । सन्तः । हृदयम् । निः । दहन्ति ॥

अन्वय — नीचा वर्तन्ते उपरि स्फुरन्ति अहस्तासः हस्तवन्तम् सहन्ते दिव्याः अङ्गाराः इरिणे नियुप्ताः शीताः सन्तः हृदयम् निर्दहन्ति ॥

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (नीचा वर्तन्ते उपरि स्फुरन्ति) एतेऽक्षा द्यूत-साधनपदार्थाः कदाचित् खलु नीचा नीचैर्गताः स्वाधीना वर्तन्ते कदाचित् खलूपरि प्रगच्छन्ति कितवस्य पराजयकरा भवन्ति (अहस्तासः हस्तवन्तं सहन्ते) हस्तरहिताः सन्तो हस्ताच्युता वा हस्तवन्तं हस्तेन क्षेप्तारं कितवं द्यूतकारिणं जनमभिभवन्ति । (दिव्याः अङ्गाराः) अलौकिका अङ्गाराः (इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तः) ओषधिरहिते तृणकाष्ठादिरहिते प्रदेशे "इरिणं निऋणम् ऋणातेरपार्णं भवति अपरता अस्मादोषधय इति वा" [निरु० ६।६३ निक्षिप्ताः शीताः सन्तोऽपि (हृदयं निर्दहन्ति) कितवस्य द्यूतकारिणो हृदयमन्तःकरणं निर्दग्धं कुर्वन्ति, इति द्यूतस्य दुष्फलम् ॥६॥

भावार्थ — जुए के पाशे चाहे हराते हुए हों चाहे जिताते हुए हों, वे ठण्डे अङ्गारे से बनकर जुआरी के हृदय को जलाते रहते हैं — अशान्त किये रहते हैं इसलिए जुआ खेलना बुरा है ॥६॥

सायण भाष्य —

अपि चैतेऽक्षाः नीचा नीचीनस्थले वर्तन्ते । तथापि उपरि पराजयात् भीतानां द्यूतकराणां कितवानां हृदयस्योपरि स्फुरन्ति । अहस्तासः हस्तरहिता अप्यक्षाः हस्तवन्तं द्यूतकरं कितवं सहन्ते पराजयकरणेनाभिभवन्ति । दिव्याः दिवि भवा अपकृताः अङ्गाराः अङ्गारसदृशा अक्षाः इरिणे इन्धनरहिते आस्फारे न्युप्ताः शीताः शीतस्पर्शाः सन्तः अपि हृदयं कितवानामन्तःकरणं निर्दहन्ति पराजयजनितसन्तापेन भस्मीकुर्वन्ति ॥

शब्दा० — नीचा = नीचे, वर्तन्ते = जाते हैं, उपरि = ऊपर, स्फुरन्ति = उछलते हैं, अहस्तासः = बिना हाथवाले, हस्तवन्तम् = हाथवाले को, सहन्ते = जीतते हैं, दिव्याः = स्वर्गीय, अङ्गाराः = अङ्गार की तरह ये अक्ष, इरिणे = पाशे पर, न्युप्ताः = फेंके जाने पर, शीताः = ठण्डे, सन्तः = होते हुए भी, हृदयम् = चित्त को, निर्दहन्ति = जला डालते हैं ।

हिन्दी व्याख्या — (कभी) नीचे जाते हैं, (कभी) ऊपर उछलते हैं, हाथ रहित ये हाथ वाले को जीतते हैं । स्वर्गीय अङ्गार (की तरह ये अक्ष) पाशे पर फेंके जाने पर ठंडा होते हुये भी हृदय को जला डालते हैं ।

व्याकरण —

न्युप्ताः = नि+वप्+क्त = न्युप्त । व् को सम्प्रसारण ।

विशेष = मैकडानल के अनुसार उपरि स्फुरन्ति = ऊपर को उछलते हैं । (spring) ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

मण्डल-१०

सूक्त-३४

मन्त्र-१०

संहिता पाठ

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित् ।

ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति ॥१०॥

पदपाठ -

जाया । तप्यते । कितवस्य । हीना । माता । पुत्रस्य । चरतः । क्व । स्वित् । ऋणऽवा । बिभ्यत् । धनम् । इच्छमानः । अन्येषाम् । अस्तम् । उप । नक्तम् । एति ।

अन्वय - जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्वस्वित ऋणवा । बिभ्यत् धनम् इच्छमानः अन्येषाम् अस्तम् नक्तम् उपएति ।

दयानन्द भाष्य -

पदार्थ - (कितवस्य हीना जाया तप्यते) द्यूतकारिणो जनस्य धनाभूषणैः क्षीणा सती पत्नी सन्तानयुक्ता भवति (माता क्वस्वित् चरतः पुत्रस्य) क्वापि विचरतः पुत्रस्य माताऽपि पीडिता भवति (ऋणावा बिभ्यत्) ऋणवान् सन् बिभेति ऋणदातृतः (धनम् इच्छमानः) धनमाकांक्षन् (अन्येषाम् अस्तं नक्तम् उप एति) अन्येषां गृहं रात्रौ गच्छति चौर्यकरणाय, इति द्यूतकारिणो दुर्दशा भवतिः ॥१०॥

भावार्थ - जुआरी के घर में पत्नी भी दुःखी रहती है और माता भी दुःखी रहती है । स्वयं भी वह ऋण देने वाले से भय खाये रहता है । दुखी होकर दूसरे के घरों में चोरी करने लगता है । यह दुर्दशा जुआ खेलने से होती है ॥१०॥

सायण भाष्य -

क्व स्वित् कापि चरतः निर्वेदाद्गच्छतः कितवस्य जाया भार्या हीना परित्यक्ता सती तप्यते वियोगजसन्तापेन संतप्ता भवति । माता जनन्यपि पुत्रस्य कापि चरतः कितवस्य संबन्धाद्धीना तप्यते । पुत्रशोकेन संतप्ता भवति । ऋणावा अक्षपराजयादृणवान् कितवः सर्वतो बिभ्यद्धनं स्तेयजनितम् इच्छमानः कामयमानः अन्येषां ब्राह्मणादीनाम् अस्तं गृहम् । 'अस्तं पस्त्यम्' इति गृहनामसु पाठात् । नक्तं रात्रौ उप एति । चौर्यार्थमुपगच्छति ॥

शब्दा० - जाया = पत्नी, तप्यते = दुःखी होती है, कितवस्य = जुआड़ी की, हीना = परित्यक्ता, माता = माता, पुत्रस्य = पुत्र की, चरतः = घूमने वाले, क्वस्वित् = कभी इधर कभी उधर, ऋणवा = कर्ज से लदा हुआ, बिभ्यत् = डरता हुआ, धनम् = धन, इच्छमानः = कामना करता हुआ, अन्येषाम् = दूसरों के, अस्तम् = घर, नक्तम् = रात्री को, उपएति = पहुँचता है ।

हिन्दी व्याख्या - (कभी इधर कभी उधर घूमने वाले) जुआड़ी की परित्यक्ता पत्नी दुःखी रहती है; कभी इधर कभी उधर घूमने वाले (जुआड़ी) की माता भी (दुःखी रहती है) ।



ऋणी (जुआड़ी) डरता हुआ, धन की कामना करता हुआ रात्रि को (चोरी करने के लिये) दूसरों के घर पहुँचता है।

व्याकरण —

ऋणावा = ऋण्+वनिम् = ऋणावन् । प्रथमा का एक वचन।

इच्छमानः = इष् (इच्छ्)+(शप्)+(मुक्)+शानच् = इच्छमान।

विशेष = मैक्डानल ने 'विभ्यत्' को कितव का विशेषण मानकर इसका अर्थ 'डरता हुआ' (fearing) किया है।

मण्डल-१०

सूक्त-३४

मन्त्र-११

संहिता पाठ

स्त्रियं दृष्ट्वायं कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च योनिम्।

पूर्वाहणे अश्वान् युयुजे हि बभ्रुन्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद॥११॥

पदपाठ —

स्त्रियम् । दृष्ट्वायं । कितवम् । तताप । अन्येषाम् । जायाम् । सुकृतम् । च । योनिम् ।  
पूर्वाह्णे । अश्वान् । युयुजे । हि । बभ्रुन् । सः । अग्नेः । अन्ते । वृषलः । पपाद ।

अन्वय — स्त्रियम् दृष्ट्वाय कितवम् तताप अन्येषाम् जायाम् सुकृतम् च योनिम् पूर्वाह्णे  
अश्वान् युयुजे हि बभ्रुन् सः अग्नेः अन्ते वृषलः पपाद॥

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (कितवम्) कितवो द्यूतव्यसनी जनः "विभक्तिव्यत्ययश्छान्दसः" (स्त्रियं दृष्ट्वायं) स्वकीयपत्नीं दुःखितां दृष्ट्वा (अन्येषां जायां सुकृतं योनि च) अन्येषां जनानां पत्नीं सुखयुक्तां सुशोभितगृहं च "योनिः गृहनाम्" [निघ० ३।४२ दृष्ट्वेति सम्बन्धः (तताप) तप्यते पीडितो भवति (पूर्वाह्णे बभ्रुन् अश्वान् युयुजे) प्रातरेव पोषकान् इन्द्रियप्राणान् "इन्द्रियाणि हयानाहुः" [कठो १।३।४२ युनक्ति (सः वृषलः अग्ने अन्ते प्रपाद) स धर्मस्य लोपयिता शोकार्तः सन् अग्रणायकस्य परमात्मनः समीपे शरणे गतो भवति॥११॥

भावार्थ — जुआरी जुए के परिणाम से अपनी पत्नी को दुःखी देखता हुआ और दरिद्रता का अनुभव करता हुआ तथा अन्यो की पत्नी और घरों को सुखी सम्पन्न पाता हुआ पश्चात्ताप करता है तो रात्रि के पश्चात् प्रातः सावधान हुआ अपने उत्थानार्थ परमात्मा का स्मरण करता है॥१०॥

सायण भाष्य —

कितवं कितवः । विभक्तिव्यत्ययः । अन्येषां स्वव्यतिरिक्तानां पुरुषाणां जायां जायाभूतां स्त्रियं नारीं सुखेन वर्तमानां सुकृतं सुष्ठु कृतं योनिं गृहं च दृष्ट्वाय लज्जाया



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

दुःखिता गृहं चासंस्कृतमिति ज्ञात्वा तताप तप्यते । पुनः पूर्वाह्णे प्रातःकाले बभ्रुन बभ्रु वर्णान् अश्वान् व्यापकानक्षान् युयुजे युनक्ति । पुनश्च वृषलः कर्मा सः कितवो रात्रौ अग्नेरन्ते समीपे पपाद शीतार्तः सन् शेते ॥

शब्दा० — स्त्रियम् = स्त्री को, दृष्ट्वाय = देखकर, कितवम् = जुआड़ी, तताप = दुःखी होता है, अन्येषाम् = दूसरों की, जायाम् = पत्नी को, सुकृतम् = सुसज्जित, च = और, योनिम् = निवास स्थान को, पूर्वाह्णे = प्रातःकाल, अश्वान् = अक्ष रूपी अश्वों को, युयुजे = जोतता है, हि = निश्चित अर्थ का वाचक एक निपात, बभ्रून् = भूरे वर्ण के, सः = वह, अग्नेः = अग्नि के, अन्ते = समीप, वृषलः = निन्दित कर्म करने वाला, पपाद = जाता है ।

हिन्दी व्याख्या — दूसरों की पत्नी-स्त्री तथा सुसज्जित गृह को देखकर जुआड़ी दुःखी होता है । (लेकिन पुनः सायंकाल) वह निन्दित कर्म करने वाला (जुआड़ी शीतार्त होकर) अग्नि के पास जाता है ।

व्याकरण —

दृष्ट्वा = दृश्+क्त्वाय । अथवा — दृश्+क्त्वा+य ।

पपाद = पद् धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

कितवम् = प्रथमा के अर्थ में छान्दस द्वितीया ।

विशेष = मैक्डानल के अनुसार अश्वान्=घोड़ों को (horses) वृषलः = भिखारी (begger) ।

मण्डल-१०

सूक्त-३४

मन्त्र-१२

संहिता पाठ

यो वः सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव ।

तस्मै कृणोमि न धनां रुणध्मि दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि ॥१२॥

पदपाठ —

यः । वः । सेनाऽनीः । महतः । गणस्य । राजा । व्रातस्य । प्रथमः । बभूव । तस्मै । कृणोमि । न । धनां । रुणध्मि । दश । अहम् । प्राचीः । तत् । ऋतम् वदामि ।

अन्वय — यः वः सेनानीः महतः गणस्य राजा व्रातस्य बभूव तस्मै कृणोमि न धनां रुणध्मि दश अहम् प्राचीः तत् ऋतम् वदामि ।

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (वः) हे कितवा द्यूतकारिणः । युष्माकं मध्ये (महतः गणस्य व्रातस्य यः सेनानीः प्रथमः राजा बभूव) महतः कितव्रगणस्य योऽमणीः कितवसमूहस्य प्रमुखो



राजमानः पुरुषोऽस्ति मे वचनं शृणोतु (तस्मै धना न रुणधि) तस्मै युष्माकं गणाय व्राताय वा धनानि न स्थापयामि न क्रीडामि, इति संकल्पो जातः (दश प्राचीः अहम् ऋतं वदामि) अहं प्राच्याद्या दश दिशोऽभिलक्ष्य सत्यं घोषयामि यद्वा सम्मुखस्थिताः दर्शकप्रजा अभिलक्ष्य सत्यं घोषयामि ॥१२॥

**भावार्थ —** जब जुआ खेलन से पूर्ण ग्लानि हो जावे तो जुआरियों के प्रमुख नेता को स्पष्ट कह दे कि मैं अब जुए में धन नहीं लगाऊँगा तथा खुले स्थान में सब दिशाओं की ओर देखते हुए और सब प्रजाओं के सामने अपने दृढ़ संकल्प की घोषणा कर दे कि अब जआ नहीं खेलूँगा। इस प्रकार इस दुर्व्यसन से बचने का महान् उपाय है ॥१२॥

**सायण भाष्य —**

हे अक्षा वः युष्माकं महतो गणस्य संघस्य यः अक्षः सेनानीः नेता बभूव भवति व्रातस्य च। गणव्रातयोरल्पो भेदः। राजा ईश्वरः प्रथमः मुख्यो बभूव तस्मै अक्षाय कृणोमि अहमञ्जलिं करोमि। अतः परं धना धनानि अक्षार्थमहं न रुणधि न संपादयामीत्यर्थः। एतदेव दर्शयति। अहं दश दशसंख्याका अंगुलीः प्राचीः प्राङ्मुखीः करोमि। तत् एतत् अहम् ऋतं सत्यमेव वदामि। नानृतं ब्रवीमीत्यर्थः ॥

**शब्दा० —** यः = जो, वः = तुम लोगों के, सेनानीः = सेनापति, महतः = बड़े, गणस्य = समूह का, राजा = प्रधान, व्रातस्य = समूह का, बभूव = हुआ है, तस्मै = उसको, कृणोमि = करता हूँ, फैलाता हूँ, न = नहीं, धना = धन, रुणधि = छिपाता हूँ, दश = दस अंगुलियों को, अहम् = मैं, प्राचीः = सामने, तत् = यह, ऋतम् = सही, वदामि = कहता हूँ।

**हिन्दी व्याख्या —** जो तुम लोगों के बड़े गण का सेनापति है, (जो) गण का प्रथम राजा हुआ है, उसके सामने अपनी दसों अंगुलियां फैलाता हूँ, मैंने धन नहीं छिपाया है, यह मैं सही कहता हूँ।

**व्याकरण —**

कृणोमि = कृ धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन।

रुणधि = रुध्, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन।

**विशेष =** मैकडानल ने 'राजा' को उपमान मानकर 'राजा के समान' (as king) अर्थ किया है। उसके अनुसार 'रुणाधि' का अर्थ रोकता हूँ (with hold) है।

मण्डल-१०

सूक्त-३४

मन्त्र-१३

संहिता पाठ

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।

तत्र गावं कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥१३॥



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****पदपाठ -**

अक्षैः । मा । दीव्यः । कृषिम् । इत् । कृषस्व । वित्ते । रमस्व । बहु । मन्यमानः । तत्र । गावः । कितव । तत्र । जाया । तत् । मे । वि । चष्टे । सविता । अयम् । अर्यः ।

अन्वय - अक्षैः मा दीव्यः कृषिम् इत् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः तत्र गावः कितव तत्र जाया तत् मे विचष्टे सविता अयम् अर्यः ।

**दयानन्द भाष्य -**

पदार्थ - (कितव) हे द्यूतव्यसनिन्! (अक्षैः मा दीव्यः) अक्षैर्द्यूतपाशैर्न क्रीड (कृषिम् इत् कृषव) कृषि कर्षयान्नुत्पादय (वित्ते रमस्व) कृषिधने कृषिनिष्पन्न भोगे त्वमानन्दं कुरु (बहु मन्यमानः) स्वात्मानं धन्यं मन्यमानः यतः (तत्र गावः) तत्कार्ये गावः सुरक्षिताः (तत्र जाया) तत्र खलु पत्नी सुरक्षिता प्रसन्नाऽनुकूला च (अयम् अर्यः सविता तत् मे वि चष्टे) एष उत्पादको जगदीशः परमात्मा मह्यमुपासकाय तद् विशिष्टतया कथयति यल्लोकानुपदिश ॥१३॥

भावार्थ - जुए जैसे विषम व्यवहार एवं पाप की कमाई से बचकर स्वश्रम से उपार्जित कृषि से प्राप्त अन्न और भोग श्रेष्ठ हैं। इससे पारिवारिक व्यवस्था और पशुओं का लाभ भी मिलता है परमात्मा भी अनुकूल सुखदायक बनता है ॥१३॥

**सायण भाष्य -**

हे कितव बहु मन्यमानः मद्बचने विश्वासं कुर्वस्त्वम् अक्षैर्मा दीव्यः द्यूतं मा कुरु । कृषिमित् कृषिमेव कृषस्व कुरु । वित्ते कृष्या संपादिते धने रमस्व रति कुरु । तत्र कृषौ गावः भवन्ति । तत्र जाया भवति । तत् एव धर्मरहस्यं श्रुतिस्मृतिकर्ता सविता सर्वस्य प्रेरकः अयं दृष्टिगोचरः अर्यः दृष्टिगोचरः अर्यः ईश्वरः वि चष्टे विविधमाख्यातवान् ॥

शब्दा० - अक्षैः = अक्षों से, मा = मत, दीव्यः = खेलो, कृषिम् = कृषि कर्म, इत् = ही, कृषस्व = करो, वित्ते = कृषि से प्राप्त धन में, रमस्व = आनन्दित रहो, बहु मन्यमानः = मेरी बातों में विश्वास करते हुये, तत्र = वहाँ, गावः = गायें हैं, कितव = हे जुआड़ी, तत्र = वहाँ, जाया = पत्नी है, तत् = यह, मे = मुझसे, विचष्टे = कहा है, सविता = सवितृ देव ने, अयम् = यह, अर्यः = श्रेष्ठ ।

हिन्दी व्याख्या - मेरी बातों में विश्वास करते हुये जुआ मत खेलो, कृषि कर्म ही करो, (उससे प्राप्त) धन में आनन्दित रहो; वहाँ पर गायें हैं, हे जुआड़ी, वहाँ पर तुम्हारी पत्नी है; इसको श्रेष्ठ सवितृ ने स्वयं हमसे कहा है ।

**व्याकरण -**

दीव्यः = दिव् धातु, लुङ् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन मा के योग के कारण अट् के आगम का निषेध ।

विचष्टे = वि+चक्ष् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।



## अक्ष सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-३४)

मण्डल-१०

सूक्त-३४

मन्त्र-१४

संहिता पाठ

मित्रं कृणुध्वं खलु मृळता नो मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु।

नि वो नु मन्युर्विशतामरातिरन्यो बभ्रूणां प्रसितौ न्वस्तु ॥१४॥

पदपाठ -

मित्रम् । कृणुध्वं । खलु । मृळतं । नः । मा । नः । घोरेण । चरत । अभि । धृष्णु । नि ।  
वः । नु । मन्युः । विशताम् । अरातिः । अन्यः । बभ्रूणाम् । प्रसितौ । नु । अस्तु ।अन्वय - मित्रम् कृणुध्वम् खलु मृळत नः मा नः घोरेण अभिचरत धृष्णु वः नु मन्युः  
निविशताम् अरातिः अन्ये बभ्रूणाम् प्रसितौ नु अस्तु ।

दयानन्द भाष्य -

पदार्थ - (मित्रं कृणुध्वं खलु) हे कितवा! यूयं खलु मां मित्रं कुरुत् द्यूतकार्यतोऽहं  
विरक्त इति लक्ष्यीकृत्य मां प्रति द्वेषं न कुरुतापि मयि मैत्रीं भवयत ममोपरि कृपां विधत्  
(नः मृळत) अस्मान् सुखयत (नः घोरेण धृष्णु मा चरत) अस्मान् भयङ्करेण "धृष्णुना"  
तृतीयाविभक्तेर्लुक् धर्षणबलेन न वर्तध्वम् (वः मन्युः नु विशताम्) युष्माकं क्रोधो युष्माकमन्तरे  
हि निविष्टस्तिष्ठतु (अन्यः अरातिः बभ्रूणां प्रसितौ नु अस्तु) अन्योऽदाता वञ्चकश्चौरो  
बभ्रुवर्णानामक्षाणां द्यूतसाधनानां बन्धने जाले "प्रसितिः प्रसयनात् तन्तुर्वा जालं वा" (निरु०  
६।१२३ बद्धो भवतु ॥१४॥भावार्थ - जुआ खेलने वाला जुए खेलने के दोषदर्शन से विरक्त हो जाता है तो उसके  
पुराने साथी द्वेष करने लगते हैं। वह उन्हें समझावे कि वे मित्रभाव करने लगें और कोई  
भी जुए के बन्धन में न फँसे ॥१४॥

सायण भाष्य -

हे अक्षाः यूयं मित्रं कृणुध्वम् अस्मासु मैत्रीं कुरुत । खलु इति पूरणः । नः  
अस्मान् मृळत सुखयत च । नः अस्मान् धृष्णु धृष्णुना । तृतीयार्थे प्रथमा । घोरेण असह्येन  
मा अभि चरत मा गच्छत् । किंच वः युष्माकं मन्युः क्रोधः अरातिः अस्माकं शत्रुः कश्चित्  
बभ्रूणां बभ्रुवर्णानां युष्माकं प्रसितौ प्रबन्धने नु क्षिप्रम् अस्तु भवतु ।शब्दा० - मित्रम् = मित्रता, कृणुध्वम् = करो, खलु = पदपूरण के लिये प्रयुक्त एक  
निपात, मृळत = दया करो, नः = हम पर, मा = मत, नः = हम पर, घोरेण = भयानक,  
अभिचरत = जादू करो, धृष्णु = शक्ति से, वः = तुम लोगों का, नु = अब, मन्युः = क्रोध,  
निविशताम् = शान्त हो, अरातिः = शत्रु, अन्ये = दूसरे, बभ्रूणाम् = भूरे वर्णवाले के,  
प्रसितौ = बन्धन में, नु = शीघ्र, अस्तु = होवें ।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

हिन्दी व्याख्या — (हे अक्ष), मित्रता करो तथा हम पर दया करो; भयानक शक्ति से मुझ पर जादू मत करो; तुम लोगों का क्रोध और दुश्मनी अब शान्त हो; भूरे वर्ण वाले के बंधन में दूसरे शत्रु शीघ्र पड़ें।

व्याकरण —

कृणुध्वम् = कृ धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

विशताम् = विश् धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन।

प्रसितौ = प्र+सि (षिञ् बन्धने)+क्तिन् = प्रसिति। सप्तमी का एकवचन।

विशेष = मैक्डानल के अनुसार मृळत = दयालु बनो (be gracious), धोरेण = जादू की शक्ति से (with magic power), अभिचरत = जादू करो (bewitch) धृष्णु = जबरदस्ती (forcibly)



## देव सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-७२)

### देव सूक्त

ऋषि—बृहस्पतिर्वृहस्पतिर्वा

देवता—देवाः

छन्द—अनुष्टुप्

मण्डल—१०

सूक्त—७२

मन्त्र—१

संहिता पाठ

देवानां नु वयं जाना, प्र वोचाम विपन्यया ।

उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे ॥१॥

पदपाठ — देवानाम् । नु । वयम् । जाना । प्र । वोचाम । विपन्यया । उक्थेषु । शस्यमानेषु । यः । पश्यात् । उत्तरे । युगे ।

अन्वय — देवानाम् नु वयम् जाना प्र वोचाम विपन्यया उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्चात् उत्तरे युगे ॥

दयानन्द भाष्य —

पदार्थः — (वयम्) अहं खलु (देवानां जाना) दिव्यपदार्थानां प्रादुर्भावान् “जनी प्रादुर्भावे” {दिवा०२ ततो घञ्प्रत्ययः शसः स्थाने “सुपांसुलुक्पूर्व सवर्णा०” {अष्टा० ७ । १ । ३६३ आकारादेशः (विपन्यया) विशेषेण पण्यया प्रज्ञया क्रियया वा “विपन्यया विशेषेण स्तुत्या प्रशंसितया प्रज्ञया क्रिया वा” {ऋ० ३ । २८ । ५ दयानन्दः ३ (नु प्रवोचाम) प्रवचि प्रकाशयामि ‘उभयत्र बहुवचनमेकस्मिन्’ ‘अस्मदो द्वयोश्च’ {अष्टा० १ । २ । ५६३ (शस्यमानेषु—उक्थेषु) वर्ण्यमानेषु वेदवचनेषु मन्त्रेषु ये वर्णिताः सन्ति (यः पश्यात्—उत्तरे युगे) यो बृहस्पतिः—वेदविद्यास्वामीपरमात्मा पश्यति दर्शयति ‘अन्तर्गतोणिजर्थः’—उत्तरे युगे क्रमशः पश्चात् काले च प्रादुर्भावाद्ये भवन्ति तानपि दर्शयति ॥१॥

हि०भावार्थ — परमात्मा दिव्य पदार्थों के उत्पत्ति क्रमों को वेदों में उत्तरोत्तर क्रम से जो वर्णन करता है उनका विद्वान् उपदेश करें ॥१॥

सायण भाष्य —

अदितिर्दाक्षायण्यनेन सूक्तेन स्वयं यथादित्यानजनयत्तद्— ब्रवीति । बृहस्पत्यृषिपक्षे स ऋषिरदितेः सकाशादादित्योत्पत्तिप्रकारमाह । वयं देवानाम् आदित्यानां जाना जन्मानि प्र वोचाम प्रकथयाम । विपन्यया विस्पष्टया वाचा । वयमिति वोचामेति चोभयत्र पूजार्थं बहुवचनम् । अथैकदाह । यः देवानां गणः पूर्व युग उत्पन्नोऽपि उक्थेषु शस्यमानेषु यागे शस्त्रेष्वनुष्ठीयमानेषु उत्तरे युगे वर्तमानं स्तुवन्तं स्तोतारं पश्यात् पश्यति । अनेकेष्वपि युगेषु गतेषु कर्मसु स्तूयमानो वर्तत इत्यर्थः ॥१॥

शब्दार्थ — देवानाम् = देवताओं के, नु = अब, वयम् = हम लोग, जाना = जन्मों को, प्र वोचाम = कहें, विपन्यया = स्पष्ट वाणी में, उक्थेषु = उक्थ्य नामक साम के, शस्यमानेषु = गाने पर, यः = जो, पश्यात् = देखे, उत्तरेयुगे = आगे आने वाले समय में ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

हिन्दी व्याख्या — अब हम लोग स्पष्टवाणी में देवताओं के जन्मों को कहें, जो (देवताओं का समूह) भविष्य में उक्थ्य साम के गाने पर यजमान को देख सके।

मण्डल—१०

सूक्त—७२

मन्त्र—२

संहिता पाठ

ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मारंइवाधमत् ।

देवानां पूर्वे युगेऽसतः सदजायत ॥२॥

पदपाठ

ब्रह्मणः । पतिः । एता । सम् । कर्मारःऽइव । अधमत् । देवानाम् । पूर्वे । युगे । असतः । सत् । अजायत ॥

अन्वय — ब्रह्मणस्पतिः एता कर्मार इव समधमत् देवानाम् पूर्वे युगे असतः सत् अजायत् ॥

दयानन्द भाष्य —

पदार्थः — (ब्रह्मणाः—पतिः) ब्रह्माण्डस्यपालकः पतिश्च (कर्मारः—इव—एता समधमत्) शिल्पी लोहकार इव एतान् 'आकारादेशः' प्रादुर्भावरूपानङ्कुरान् सन्तापयति (देवानां पूर्वे युगे) दिव्यगुणानामादित्यादिनां पूर्वभवेकाले ततः (असतः—सत्—अजायत्) अव्यक्तादुपादानाद् व्यक्तं सदात्मकं विकृतरूपं जायते ॥२॥

हि०भावार्थ — ब्रह्माण्ड का स्वामी परमात्मा अव्यक्त प्रकृति से व्यक्त जगत् को उत्पन्न करता है। प्रथम प्रादुर्भूत होने वाले परमाणु रूप अङ्कुरों को तपाता है। पुनः दिव्यगुण वाले सूर्यादि पदार्थों को उत्पन्न करता है ॥२॥

सायण भाष्य —

ब्रह्मणः अन्नस्य पतिः अदितिः एता एतानि देवानां जन्मानि कर्मारइव स यथा भस्त्रयाग्निमुपधमति प्रज्ज्वलनार्थमेवं सम् अधमत् उदपादयदित्यर्थः । देवानां पूर्वे युगे । आदिसृष्टावित्यर्थः । तेषामुपादानकारणात् असतः नामरूपवर्जितत्वेनासत्समानाद् ब्रह्मणः सकाशात् सत् नामरूपविशिष्टं देवादिकम् अजायत प्रादुरभूत् । 'असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत' (तै०उ०२.७) इति हि श्रुतिः । न सदात्मकस्य प्रपञ्चस्यासत्कारणत्वं युक्तमिति वाच्यं, छन्दोगैः 'कथमसतः सज्जायेत' इति असत्कारणत्वमाक्षिप्य 'सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा०उ० ६.२.२) इत्यवधारितत्वात् । तर्ह्यसत्कारण— प्रतिपादकवाक्यानां का गतिरिति चेत् तेषामव्याकृतत्वाभिप्रायत्वात् 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (श०ब्रा० १४.४.२.१५) इति श्रुतेः । यद्येवं तर्ह्यदितेः सकाशात्कथं देवाद्युत्पत्तिः । 'वायोरग्निः' (तै०आ० ६.१) इत्यादिवत् । अधिष्ठानसकाशादुत्पत्तेः । यद्वा देवानां कारणभूतं सत् असतो ब्रह्मणः सकाशादुत्पन्नमिति योजनादुक्तन्यायोऽस्मिन्पक्षेऽपि समान एव ॥



**शब्दार्थ** — ब्रह्मणस्पतिः = प्रार्थनाओं के स्वामी ने, एता = देवताओं के जन्मों को, कर्मारइव = लोहार, समधमत् = बढ़ाया, देवानाम् = देवताओं की, पूर्व्ये युगे = आदि सृष्टि के समय, असतः = असत् अर्थात् नाम रूप वर्जित तत्त्व से, सत् = नामरूपात्मक जगत्, अजायत = उत्पन्न हुआ।

**हिन्दी व्याख्या** — ब्रह्मणस्पति ने इन (देवों के जन्म) को लोहार की तरह बढ़ाया। देवताओं की आदि सृष्टि में असत् (नामरूप वर्जित तत्त्व) से सत् (नामरूपात्मक जगत्) की उत्पत्ति हुई।

मण्डल-१०

सूक्त-७२

मन्त्र-३

संहिता पाठ

देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत।

तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि॥३॥

पदपाठ

देवानाम् । युगे । प्रथमे । असतः । सत् । अजायत । तत् । आशाः । अनु । अजायन्त । तत् । उत्तानपदः । परि ॥

**अन्वय** — देवानाम् युगे प्रथमे असतः सत् अजायत् तत् आशाः अनु अजायन्त तत् उत्तानपदः परि ॥

**दयानन्द भाष्य** —

**पदार्थः** — (देवानां प्रथमे युगे-असतः सत्-अजायत) दिव्यगुणानां सूर्यादीनां प्रथमेकाले-अव्यक्तात्-सदात्मकं व्यक्तरूपं जायते (तत् परि-उत्तानपदः) तत्पश्चात् खलु व्यक्तात्मकाद्विकृतेः-उत्तानपदः-संसारवृक्षो जायते (ततः-आशाः-अजायन्त) उत्तानपदः-संसारवृक्षात् खल्वाशा-दिशो जायन्ते 'आशा दिङ्नाम'(निघ० १।६) ॥३॥

**हि० भावार्थ** — अव्यक्त उपादान प्रकृति से व्यक्त विकृति रूप उत्पन्न होता है फिर संसार उत्पन्न होता है पुनः दिशायेँ प्रकट होती हैं पश्चात् पृथिवी लोक, पृथिवी लोक से कामना वाले प्राणी उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार आरम्भसृष्टि में अखण्ड अग्नि से सूर्य और सूर्य से उषा का प्रकाश होता है ॥३॥

**सायण भाष्य** — पूर्वार्द्धमुक्तम् । तत् अनु आशाः दिशः अजायन्त तत् परि तदन्वित्यर्थः । उत्तानमूर्ध्वतानं पद्यन्त इत्युत्तानपदो वृक्षाः । ते अजायन्त प्रादुरभवन् ॥

**शब्दार्थ** — देवानाम् = देवताओं की, युगे = सृष्टि के समय में, प्रथमे = आदि, असतः = नामरूपवर्जित तत्त्व से, सत् = नामरूपात्मक जगत्, अजायत = उत्पन्न हुआ, तत् = इसके, आशाः = दिशायेँ, अनु = पश्चात्, अजायन्त = उत्पन्न हुई, तत् = इसके, उत्तानपदः = वृक्ष, परि = पश्चात् ।



हिन्दी व्याख्या — देवताओं की आदि सृष्टि में असत् से सत् उत्पन्न हुआ; इसके बाद दिशायें उत्पन्न हुई; इसके बाद वृक्ष (उत्पन्न हुये)।

मण्डल-१०

सूक्त-७२

मन्त्र-४

संहिता पाठ

भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त ।

अदितेर्दक्षो अजायत् दक्षाददितिः परि ॥४॥

पदपाठ

भूः । जज्ञे । उत्तानपदः । भुवः । आशाः । अजायन्त । अदितेः । दक्षः । अजायत । दक्षात् । ॐ इति । अदितिः । परि ॥

अन्वय — भूः जज्ञे उत्तानपदः भुवः आशा अजायन्त अदितेः दक्षः अजायत दक्षात् उ अदितिः परि ॥

दयानन्द भाष्य —

पदार्थः — (उत्तानपदः—भूः जज्ञे) संसारवृक्षादनुभूमिः—पृथिवीलोकोजायते (भुवः आशा—अजायन्त) पृथिवीलोकात्—आशावन्तो जनाः जायमानाः प्राणिनो जायन्ते, एवम् (अदितेः—दक्षः—दक्षाद्—ऊ—अदितिः परि) अखण्डितेरग्नेः सूर्योऽग्निः खण्डो जायते, सूर्यादनन्तर—मदितिरुषा प्राक्तनी जायते ॥३ एवं ४॥

हि०भावार्थ — अव्यक्त उपादान प्रकृति से व्यक्त विकृति रूप उत्पन्न होता है फिर संसार उत्पन्न होता है पुनः दिशायें प्रकट होती हैं पश्चात् पृथिवी लोक, पृथिवी लोक से कामना वाले प्राणी उत्पन्न होते हैं । इसी प्रकार आरम्भसृष्टि में अखण्ड अग्नि से सूर्य और सूर्य से उषा का प्रकाश होता है ॥३ एवं ४॥

सायण भाष्य —

भूः उत्तानपदः वृक्षात् जज्ञे । तथा भुवः सकाशात् आशाः अजायन्त । तथा अदितेः दक्ष अजायत उत्पन्नः । दक्षादु दक्षादपि अदितिः परि अजायत । न स्वोत्पन्नं कार्यं स्वस्यैव कारणमपि भवतीति विप्रतिषिद्धमिति वाच्यम् । यास्काचार्य इदमेव वाक्यमुदाहृत्य विरोधमाशङ्क्य पर्यहरत् । तथा हि —‘अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाददितिः परीति च । तत्कथमुपपद्येत समानजन्मानौ स्यातामित्यपि वा देवधर्मेणेतजन्मानौ स्यातामितरेतरप्रकृतौ’ (निरु० ११.२३) इति ॥

शब्दार्थ — भूः = पृथिवी, जज्ञे = उत्पन्न हुई, उत्तानपदः = वृक्ष से, भुवः = पृथिवी से, आशाः = दिशायें, अजायन्त = उत्पन्न हुई, अदितेः = अदिति से, दक्षः = दक्ष प्रजापति, अजायत = उत्पन्न हुआ, दक्षात् = दक्ष से, उ = निश्चित अर्थ का वाचक एक निपात, अदितिः = देवमाता अदिति, परि = बाद में ।



हिन्दी व्याख्या — वृक्ष से पृथिवी उत्पन्न हुई; पृथिवी से दिशायेँ उत्पन्न हुई। अदिति से दक्ष उत्पन्न हुआ तथा दक्ष से अदिति (उत्पन्न हुई)।

मण्डल-१०

सूक्त-७२

मन्त्र-५

संहिता पाठ

अदि॒तिर्ह्य॒जनि॒ष्ट दक्ष॒ या दु॒हिता॒ तव॑ ।

तां दे॒वा अ॒न्वजा॒यन्त॒ भ॒द्रा अ॒मृत॑बन्धवः ॥५॥

पदपाठ

अदि॒तिः । हि॒ । अ॒जनि॒ष्ट । दक्ष॑ । या॒ । दु॒हिता॒ । तव॑ । ताम् । दे॒वाः । अ॒नु । अ॒जा॒यन्त॒ ।

भ॒द्राः । अ॒मृत॑बन्धवः ।

अन्वय — अदितिः हि अजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव ताम् देवाः अनु अजायन्त भद्राः अमृतबन्धवः ॥

दयानन्द भाष्य —

पदार्थः — (दक्ष या—अदितिः—तव दुहिता—अजनिष्ट) हे दक्ष—सूर्य! या तव दुहितापुत्री खल्वदितिः—प्रभा—उषोरूपा जायते (ताम्—अनु भद्राः— अमृतबन्धवः—देवाः—अजायन्त) तामनुलक्ष्य कल्याणकारिणः— अमृतबन्धनास्त— वामृतरूपस्य सम्बन्धिनः प्रकाशमाना रश्मयो जायन्ते ॥५॥

हि०भावार्थ — सूर्योदय होने के पश्चात् आकाश में उषा—पीलिमा प्रथम प्रातःकाल प्रकाशित होती है पश्चात् प्रकाश करती हुई सूर्य की रश्मियाँ आती हैं, यह प्रातःकाल का स्वरूप है ॥५॥

सायण भाष्य —

हे दक्ष तव या परि दुहिता अभूत् सा अदितिः अजनिष्ट हि पुत्रानादित्यान् । तदेवाह । तां देवा अन्वजायन्त भद्राः स्तुत्या भजनीयाः अमृतबन्धवः अमरणबन्धनाः ॥

शब्दार्थ — अदितिः = अदिति ने, हि = निश्चित अर्थ का वाचक निपात, अजनिष्ट = उत्पन्न किया, दक्ष = हे दक्ष, या = जो, दुहिता = पुत्री, तव = तुम्हारी, ताम् = उसके, देवाः = देवता, अनु = पश्चात्, अजायन्त = उत्पन्न हुये, भद्राः = कल्याणकारी, अमृतबन्धवः = अमृत है बन्धु जिनका ऐसे देवता ।

हिन्दी व्याख्या — हे दक्ष! वास्तव में अदिति ने, जो तुम्हारी पुत्री थी (आदित्यों को) उत्पन्न किया; उस (अदिति) के बाद ही अमृत है, बन्धु जिनका ऐसे कल्याणकारी देवता उत्पन्न हुये ।



मण्डल-१०

सूक्त-७२

मन्त्र-६

संहिता पाठ

यदैवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत ।

अत्रा वो नृत्यन्तामिव तीव्रो रेणुरपायत ॥६॥

पदपाठ

यत् । देवाः । अदः । सलिले । सुसंरब्धाः । अतिष्ठत । अत्र । वः । नृत्यन्ताम् इव ।  
तीव्रः । रेणुः । अप । आयत ॥६॥

अन्वय — यत् देवाः अदः सलिले सुसंरब्धाः अतिष्ठत अत्र वः नृत्यन्तामिव तीव्रः रेणुः अप आयत ॥

दयानन्द भाष्य —

पदार्थः — (देवाः—यत्—अदः सलिले) हे प्रकाशमाना रश्मयः! यदा अमुष्मिन् 'अदस्' शब्दात्—'ङि' विभक्तेर्लुक् "सुपां सुलुक्" {अष्टा० ७।१।३६३ अन्तरिक्षे "सलिलस्य—अन्तरिक्षस्य" {ऋ० ७।४६।१ दयानन्दः३ (सुसंरब्धाः अतिष्ठत) दृढत्वेन सम्यक् कार्ययुक्ताः स्थिता आसन् (अत्र) अस्मिन्नवसरे (नृत्यताम् इव वः) नृत्यताम्—इव सर्वत्रविचरतां युष्माकम् (तीव्रः—रेणुः—अपायत) तीव्रः प्रभावशाली तापः—अपगच्छति लोकेष्वपसरति ॥६॥

हि०भावार्थ — सूर्य की किरणें जब अन्तरिक्ष में दृढ़ हो जाती हैं तो सर्वत्र नाचती हुई सी सर्वत्र विचरती हैं तो इनका प्रभावशाली ताप पृथिवी आदि लोकों पर पड़ता है ॥६॥

सायण भाष्य —

अनयोत्तरेण चादित्याः स्तूयन्ते । यत् यदा हे देवाः अदः अमुष्मिन् सलिले यूयं सुसंरब्धाः सुष्ठु लब्धात्मानः अतिष्ठत स्थितवन्तः । 'आपो वा इदं सर्वम्' (तै०आ० १०.२२) 'अप एव ससर्जादौ' (मनु० १.८) इति श्रुतिस्मृती । अत्र अस्मिन् सलिले नृत्यतामिव वः युष्माकं सम्बन्धी तीव्रः दुःसहः रेणुः अंशभूत एकः अपायत अपागच्छत् । दिवं प्रति गत इति सूर्याभिप्रायम् । 'परामार्ताण्डमास्यत्' इति वक्ष्यति ।

शब्दार्थ — यत् = जब, देवाः = हे देवताओं, अदः = इस, सलिले = जल में, सुसंरब्धाः = एक साथ मिलकर, अतिष्ठत = खड़े थे, अत्र = यहाँ, वः = तुममें से, नृत्यतामिव = मानों नाचते हुये से, तीव्रः = गर्म, रेणुः = कण, अप आयत = ऊपर उठा ।

हिन्दी व्याख्या — हे देवताओं, जब (तुम लोग) एक साथ मिलकर यहाँ जल में खड़े थे, मानों नाचते हुये तुम में से एक धूल का गर्म कण ऊपर उठा ।



मण्डल-१०

सूक्त-७२

मन्त्र-७

संहिता पाठ

यदेवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत ।

अत्रा समुद्र आ गूळहमा सूर्यमजभर्तन ॥७॥

पदपाठ

यत् । देवाः । यतयः । यथा । भुवनानि । अपिन्वत । अत्र । समुद्रे । आ । गूळहम् ।  
आ । सूर्यम् । अजभर्तन ॥

अन्वय — यत् देवाः यतयः यथा भुवनानि अपिन्वत अत्र समुद्रे आ गूळहम् सूर्यम् आ  
अजभर्तन ॥

दयानन्द भाष्य —

पदार्थः — (यत्-यथा-यतयः-देवाः) यतो यथा परस्परं सङ्गच्छमाना मेधाः “वर्तते  
गतिकर्मा” [निघ० २।१४३ (भुवनानि-पिन्वत) लोकान् जलवर्षणेन सिञ्चन्ति तथा (अत्र  
समुद्रे) अस्मिन्-अन्तरिक्षे “समुद्रः-अन्तरिक्षनाम” [निघ० १।३३ (सूर्यमः-आगूळम्) समन्तात्  
सृष्टेरारम्भे तमसा गूळं सूर्यम् (अजभर्तन) प्रकटयन्ति ॥७॥

हि०भावार्थ — मेघ परस्पर मिलकर वर्षा से लोकों को सींचते हैं सूर्य की किरणें सूर्य को  
प्रकाशित करती हैं ॥७॥

सायण भाष्य —

यत् यदा हे देवाः यतयो यथा । वृष्ट्या नियमयन्तीति वा वर्षणेन यातयन्तीति वा  
यतयो मेघाः । ते यथोदकैः भुवनानि लोकं पूरयन्ति तद्वत्स्वतेजोभिः अपिन्वतं पूरितवन्तः ।  
अत्र समुद्रे अप्सु आ गूळहं निगूळहं सूर्यं प्रातरुदयाय आ अजभर्तन आहूतवन्तः ।

शब्दार्थ — यत् = जब , देवाः = हे देवताओ, यतयः = मेघ, यथा = जिस तरह,  
भुवनानि = लोकों को, अपिन्वत = भर दिया, अत्र = यहाँ, समुद्रे = समुद्र में, गूळहम्  
= छिपे हुये, सूर्यम् = सूर्य को, आ अजभर्तन = बाहर लाये ।

हिन्दी व्याख्या — हे देवताओं, मेघों की तरह जब (तुम लोगों ने) लोकों को भर दिया,  
उस समय समुद्र में छिपे हुये सूर्य को (तुम लोग) बाहर लाये ।

मण्डल-१०

सूक्त-७२

मन्त्र-८

संहिता पाठ

अष्टौ पुत्रासौ अदितेर्ये जातास्तन्वडं स्परि ।

देवां उप प्रैत्सप्तभिः परां मार्ताण्डमास्यत् ॥८॥



## पदपाठ

अष्टौ । पुत्रासः । अदितेः । ये । जाताः । तन्वः । परि । देवान् । उप । प्र । ऐत् । सप्तभिः । परा । मार्ताण्डम् । आस्यत् ।।

अन्वय — अष्टौ पुत्रासः अदितेः ये जाताः तन्वसस्परि देवान् उप प्र ऐत् सप्तभिः परा मार्ताण्डम् आस्यत् ।।

## दयानन्द भाष्य —

पदार्थः — (अदितेः—अष्टौ पुत्रासः) अखण्डाग्नेरादिसृष्टौ वर्तमानस्याग्नेः—पुत्रा मित्रादयो यद्वा—उषसोऽष्टौ प्रहरनामानः (तन्वः—परि जाताः) तताया अनन्तरमेव प्रकटीभूताः (सप्तभिः—देवान्—उपपैत) सप्तभिस्तु द्युलोकस्थान् गोलान् “देवो द्युस्थानो भवतीति वा” [निरु० ७।१।१५३ उपयोजयति (मार्ताण्डं परा—आस्यत्) मार्ताण्ड नामकं सूर्यं प्रहरं वाऽष्टमं प्रकटयति ।।८।।

हि०भावार्थ — सृष्टि के आरम्भ में अखण्ड अग्नि से सूर्यादि खण्डरूप गोले उत्पन्न होते हैं प्रधान गोला मार्ताण्ड नाम का है एवं प्रातःकाल की उषा से प्रहरों का विकास होता है ।।८।।

## सायण भाष्य —

अष्टौ पुत्रासः पुत्रा मित्रादयः अदितेः भवन्ति ये अदितेः तन्वस्परि शरीरात् जाताः उत्पन्नाः । अदितेरष्टौ पुत्रा अध्वर्यु ब्राह्मणे परिगणितः । तथा हि ‘ताननुक्रमिष्यामो मित्रश्च वरुणश्च धाता चार्यमा चांदाश्च भगश्च विवस्वातादित्यश्च’ (तै०आ०१.१३.३) इति । तथा तत्रैव प्रदेशान्तरेऽदिति प्रस्तुत्याम्नातं — ‘तस्या उच्छेषणमददुस्तत्प्राशनात् सा रेतोऽघत्त तस्यै चत्वार आदित्या अजायन्त सा द्वितीयमपचत्’ इत्यादिनाष्टानामादित्यानामुत्पत्तिवर्णिता (तै०सं० ६.५.६.१) । सादितिः सप्तभिः पुत्रैः देवानुप प्रेत् उपागच्छत् । अष्टमं पुत्रं मार्ताण्डं सूर्यं परा आस्यत् उपरि प्राक्षिपदित्यर्थः ।।

शब्दार्थ — अष्टौ = आठ, पुत्रासः = पुत्र, अदितेः = अदिति के, ये = जो, जाताः = उत्पन्न हुये, तन्वस्परि = शरीर से, देवान् = देवों के, उप = पास, प्र ऐत् = चली गई, सप्तभिः = सात पुत्रों के साथ, परा = ऊपर, मार्ताण्डम् = सूर्य की, आस्यत् = छोड़ दिया ।

हिन्दी व्याख्या — अदिति के आठ पुत्र हैं, जो उसके शरीर से उत्पन्न हुये; सात के साथ वह देवताओं के यहाँ चली गई; (आठवें पुत्र) सूर्य को अलग छोड़ दिया ।



मण्डल-१०

सूक्त-७२

मन्त्र-९

संहिता पाठ

सप्तभिः पुत्रैरदितिरूपं प्रैत्पूर्व्यं युगम् ।

प्रजायै मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्ताण्डमाभरत् ॥१॥

पदपाठ

सप्तभिः । पुत्रः । अदितिः । उप । प्र । ऐत् । पूर्व्यम् । युगम् । प्रजायै । मृत्यवे ।  
त्वत् । पुनः । मार्ताण्डम् । आ । अभरत् ॥

अन्वय — सप्तभिः पुत्रैः अदितिः उप प्र ऐत् पूर्व्यम् युगम् प्रजायै मृत्यवे त्वत् पुनः मार्ताण्डम्  
आ अभरत् ॥

दयानन्द भाष्य —

पदार्थः — (सप्तभिः पुत्रैः—अदितिः) सप्तभिः पुत्रैर्मित्रादिभिः, प्रहरैर्वाऽऽरम्भ- सृष्टौ  
भवोऽखण्डोऽग्निः प्रातस्तनी पुरातनी खलूवा वा (पूर्व्यं युगम्—उपपैत्) आरम्भसृष्टिकालं  
प्रातः—कालं वा—उपगच्छति उपगता भवति (प्रजायै मृत्यवे त्वत्) प्राणीमात्राय प्राणीमात्रस्य  
“षष्ठ्यर्थे चतुर्थी बहुलमित्यपि” मृत्यवे च अथापि समुच्चयार्थे त्वत् “पर्याय इव त्वदाश्विनं  
च” (निरु० १।१०३ कालगणनया (पुनः—मार्ताण्डम्—आभरत्) पुनः पुनरुदयमानं सूर्यं प्रातः  
कालकं प्रहरं वा धारयति ॥६॥

हि०भावार्थ — आरम्भसृष्टि में अखण्ड अग्नि खण्डरूप मित्रादिनामक सूर्यभेदों से अथवा  
प्रातः काल की उषा प्रहरों के साथ आती है प्रथम प्रथम सूर्य या प्रहरों को प्रकट करती  
है ॥६॥

सायण भाष्य — पूर्वमन्त्रोक्त एवार्थः पुनरत्रोच्यते । सप्तभिः मार्ताण्डव्यति— रिक्तैर्मित्रादिभिः  
अदितिः पूर्व्यं पुराणं युगम् उप प्रैत् उपगता । अथप्रजायै प्राणिनामुत्पत्तये मृत्यवे तेषां  
मरणाय मार्ताण्डं मृतात् व्युद्धः दण्डाज्जातं मार्ताण्डन मानं सूर्यं पुनः आभरत् । द्युलोकेऽवारयत् ।  
प्राणिमरणजननादीनां सूर्योदयास्त— मयायत्तता स्फुटा । ‘तस्यै व्युद्धमाण्डमजायत’ (तै०सं०  
६.५.६.१) इत्यादि ब्राह्मणम् ॥

शब्दार्थ — सप्तभिः = सात, पुत्रैः = पुत्रों के साथ, अदितिः = अदिति, उप =  
पास, प्र ऐत् = चली गई, पूर्व्यम् युगम् = आदि युग को, प्रजायै = उत्पत्ति के लिये,  
मृत्यवे = मृत्यु के लिये, त्वत् = एक बार, पुनः = फिर, मार्ताण्डम् = सूर्य को, आ  
अभरत् = लाई ।

हिन्दी व्याख्या — अपने सात पुत्रों के साथ अदिति प्रारम्भिक युग को चली गई ।  
(प्राणियों को) उत्पत्ति के लिये तथा (उनके) विनाश के लिये एक बार पुनः सूर्य को लाई ।



## पुरुष सूक्त

ऋषि—नारायण

देवता—पुरुष

छन्द—अंतिम में त्रिष्टुप, अन्य में अनुष्टुप

मण्डल—१०

सूक्त—९०

मन्त्र—१

संहिता पाठ

सहस्रंशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठददशाङ्गुलम् ॥१॥

पदपाठ

सहस्रंशीर्षा । पुरुषः । सहस्रंअक्षः । सहस्रंपात् । सः । भूमिम् । विश्वतः । वृत्वा । अति । अतिष्ठत् । दशाङ्गुलम् ।

अन्वय — पुरुष, सहस्रशीर्षा, सहस्राक्षः, सहस्रपात् । सः भूमिम् विश्वतः वृत्वा दशाङ्गुलम् अत्यतिष्ठत् ।

दयानन्द भाष्य —

भवार्थः — (पुरुषः) विश्वस्मिन् जगति पूरणः परमात्मा (सहस्रशीर्षा) असंख्यात शिरस्कोऽनन्तज्ञान शक्तिमान् (सहस्राक्षः) असंख्यात चक्षुष्मान्—अनन्त दर्शन शक्तिमान् (सहस्रपात्) असंख्यात गतिको विभुगतिमान् (सः) स खलु (भूमिं—विश्वतः—वृत्वा) भुवनं ब्रह्माण्डं सर्वतो व्याप्य (दशाङ्गुलम्— अत्यतिष्ठत्) दशभिरङ्गुलिभिर्मातव्यं स्थूल सूक्ष्मभूत दशकान्वितं यद्वा पादमात्र दशाङ्गुलपरिमितं ब्रह्माण्डं यथोक्तम् "पादोऽस्य विश्वा भूतानि" तदतिक्रम्यातिष्ठत् वर्तमानोऽस्ति ॥१॥

हि०भावार्थ — जगत् में पूरण पुरुष परमात्मा अनन्त ज्ञानवान् अनन्तदर्शन शक्तिमान् अनन्त—गतिमान्—विभुगतिमान् है, उसके सम्मुख सारा ब्रह्माण्ड एकदेशी अल्प है । सब स्थूल सूक्ष्म भूतमय ब्रह्माण्ड को व्यापकर अपने अन्दर रख इसके बाहिर भी वर्तमान है ॥१॥

सायण भाष्य — सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेहो विराडाख्यो यः पुरुषः सोऽयं सहस्रशीर्षा । सहस्रशब्दस्योपलक्षणत्वादनन्तैः शिरोभिर्युक्त इत्यर्थः । यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तद्देहान्तः पातितत्वात्तदीयान्येवेति सहस्रशीर्षत्वम् । एवं सहस्राक्षित्वं सहस्रपादत्वं च । स पुरुषो भूमिं ब्रह्माण्डगोलकरूपां विश्वतः सर्वतो वृत्वा परिवेष्ट्य दशाङ्गुलं दशाङ्गुलपरिमितं देशमत्यतिष्ठत् अतिक्रम्य व्यवस्थितः । दशाङ्गुलमित्युपलक्षणम् । ब्रह्माण्डाद् बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थित इत्यर्थः ।

शब्दार्थ — सहस्रंशीर्षा = हजारों सिर वाला, सहस्राक्षः = हजारों आँखों वाला, सहस्रपात् = हजारों पैरों वाला, विश्वतः = चारों ओर से, वृत्वा = व्याप्त करके, अति अतिष्ठत् = पार करके स्थित है, दशाङ्गुलम् = परिमाण में ।



**पुरुष सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१०)**

**हिन्दी व्याख्या** — यह परम पुरुष विराट् परमेश्वर हजारों (अनन्त) सिर वाला, हजारों आँखों वाला और हजारों पैरों वाला है। यह भूमि को चारों ओर से व्याप्त करके दस अंगुल प्रमाण में ब्रह्माण्ड को पार करके स्थित है। अर्थात् वह परम पुरुष ब्रह्माण्ड को भीतर और बाहर से व्याप्त किये हुए है।

**व्याकरण**

**सहस्रशीर्षः** = सहस्रं शिरांसि यस्य स।

**सहस्राक्षः** = सहस्रं अक्षीणि यस्य स। सहस्र+अक्षि। समासान्त 'षच्' प्रत्यय और 'टि' का लोप = सहस्राक्ष।

**सहस्रपात्** = सहस्रं पादाः यस्य। सहस्र+पाद। "पादस्य लोपो-ऽहत्स्यादिभ्यः" सूत्र से 'पाद' के 'अ' का लोप।

**पुरुषः** = पुरि शेते अर्थ में पुर+शी+क। वैदिक निपातनात् रूप बनता है।

**दशाङ्गुलम्** = दशानाम् अङ्गुलीनाम् समाहारः। दश+अङ्गुली। समासान्त 'अच्' प्रत्यय और 'टि' का लोप = दशाङ्गुल।

**विशेष** — 'दशाङ्गुल' पद का ऋग्वेद में अन्यत्र प्रयोग नहीं हुआ है। उव्वट ने इस पद का अर्थ 'दस इन्द्रियाँ' अथवा 'दस अङ्गुली के प्रमाण का हृदय प्रदेश या नासिका अग्रभाग' किया है। 'पुरुष' का सायण ने — 'प्राणियों की समष्टि के रूप में स्थित ब्रह्माण्डशरीरी विराट् पुरुष', उव्वट ने — नारायण नाम वाला पुरुष और महीधर ने — 'अव्यक्त' महद् आदि से विलक्षण चेतन 'पुरुष' अर्थ किये हैं। 'भूमि' पद का अर्थ उव्वट के अनुसार भुवनकोष की 'भूमि और महीधर के अनुसार 'ब्रह्माण्ड लोकों की भूमि या पाञ्च महाभूत' है।

'वृत्वा' के स्थान पर कुछ स्थानों पर 'स्पृत्वा' पाठ भी मिलता है।

छन्द के आग्रह से 'वृत्वात्यतिष्ठत्' को 'वृत्वा अत्यतिष्ठत्' पढ़ना चाहिये।

**मण्डल-१०****सूक्त-१०****मन्त्र-२****संहिता पाठ**

पुरुष एवेदं सर्वं यदभूतं यच्च भाव्यम्।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥२॥

**पदपाठ**

पुरुष एव। इदम्। सर्वम्। यत्। भूतम्। यत्। च। भाव्यम्। उत। अमृतत्वस्य। ईशान। यत्। अन्नेन। अतिरोहति॥

**अन्वय** — इदम् सर्वम् पुरुषः एव। यत् भूतम् यत् च भाव्यम्। उत अमृतत्वस्य ईशानः यत् अन्नेन अतिरोहति।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

दयानन्द भाष्य —

भवार्थः — (पुरुषः एव) परमपुरुषः परमात्मैव (अमृतत्वस्य ईशानः) मोक्षस्य स्वामी तथाऽधिष्ठाताऽस्ति "अमृतत्वस्यापि मोक्षस्यापि ईशानः" {यजुः उव्वटः३ (उत) अपि च (इदं सर्वं यत् भूतं यत् च भव्यम्) एतत् सर्वं यद् भूतं गतं यच्च भवितव्यं जगत् तथा (यत् अन्नेन अतिरोहति) यच्च भोजनेन वर्धते "जीवजात मन्नेनातिरोहति उत्पद्यते तस्य सर्वस्य चैवेशानः" {यजुः०महीधरः३ तस्यापि परमपुरुषः परमात्मा स्वामी ह्यस्ति ।।२।।

हि०भावार्थ — परमपुरुष परमात्मा जीवमात्र का तथा तदर्थ भोग अपवर्ग—मोक्ष का एवं सब उत्पन्न हुए होने वाजे जगत् का स्वामी है, ऐसा मानकर उसकी स्तुति करनी चाहिए ।।२।।

सायण भाष्य — यदिदं वर्तमानं जगत् तत्सर्वं पुरुष एव । यच्च भूतमतीतं जगद्यच्च भव्यं भविष्यच्चतदपि पुरुष एव । यथास्मिन्कल्पे वर्तमानाः प्राणिदेहाः सर्वेऽपि विराट्पुरुषस्यावयवाः तथैवातीतागामिनोरपि कल्पयोर्द्रष्टव्यमित्यभिप्रायः । उत अपि च अमृतत्वस्य देवत्वस्यायमीशानः स्वामी । यद्यस्मात् कारणादन्नेन प्राणिनां भोग्येनान्नेन, निमित्तभूतेनातिरोहति स्वकीयां कारणावस्थामतिक्रम्य परिदृश्यमानां जगदवस्थां प्राप्नोति तस्मात्प्राणिनां कर्मफलभोगाय जगदवस्था— स्वीकारान्नेदं तस्य वस्तुत्वमित्यर्थः ।

शब्दार्थ — भूतम् = हो चुका है, भव्यम् = होगा, अमृतत्वस्य = देवताओं का, अमरत्व का, ईशानः = स्वामी है, अन्नेन = अन्न से, भोग्य पदार्थों से, अतिरोहति = बढ़ता है ।

हिन्दी व्याख्या — यह सब कुछ दृश्यमान वर्तमान जगत् पुरुष ही है । जो कुछ हो चुका है, अर्थात् भूतकालीन और जो कुछ होगा अर्थात् भविष्यत्कालीन जगत् भी पुरुष ही है और वह पुरुष देवताओं का अथवा अमरत्व का स्वामी है । जो पुरुष अन्न अर्थात् प्राणियों के भोग्य पदार्थों के कारण बढ़ता है अर्थात् इस दृश्यमान जगत् रूप अवस्था को प्राप्त होता है ।

व्याकरण

भव्यम् = भू+यत् = भव्य

ईशानः = ईश्+शानच् = ईशान्

अमृतत्वस्य = न+मृ+क्त = अमृत । अमृतस्य भावः अर्थ में त्व प्रत्यय ।

विशेष — "यदन्नेनातिरोहति" का पीटर्सन ने अर्थ किया है — Whatever is nourished or increased by food । अमृतत्वस्य ईशानः की व्याख्या अनेक प्रकार से की गयी है । 'अमृत' का अर्थ 'जल' 'सुधा' और 'मोक्ष' भी है । जो पुरुष 'जल का' या 'सुधा' का या 'मोक्ष' का स्वामी है ।

छन्द के आग्रह से 'भव्यम्' को 'भवियम्' पढ़ना चाहिये ।



## पुरुष सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१०)

मण्डल-१०

सूक्त-१०

मन्त्र-३

संहिता पाठ

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पुरुषः ।

पादो ऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥

पदपाठ

एतावान् । अस्य । महिमा । अतः । ज्यायान् । च । पुरुषः । पादः । अस्य । विश्वा ।  
भूतानि । त्रिपात् । अस्य । अमृतम् । दिवि ।

अन्वय — एतावान् अस्य महिमा । पुरुषः च अतः ज्यायान् । विश्वा भूतानि अस्य पादः ।  
अस्य त्रिपात् अमृतम् दिवि ।

दयानन्द भाष्य —

भवार्थः — (एतावान्—महिमा—अस्य) एतावान् जड़जङ्गमरूपः प्रसारः संसारो वाऽस्य  
परमपुरुषस्य परमात्मनो महिमा महत्त्वसूचको व्यापारः (अतः ज्यायान् पुरुषः) अस्माज्ज्येष्ठः  
स परमात्मा (विश्वा भूतानि अस्य पादः) सर्वाणि भूतानि जड़जङ्गमानि वस्तूनि खल्वस्य  
पाद एव (अस्य त्रिपात् दिवि अमृतम्) अस्य परमात्मनस्त्रिपादरूपं द्योतनात्मके स्वरूपेऽमृतं  
विद्यते ॥३॥

हि० भावार्थ — सारा संसार उसके एकदेश में है, वह परमात्मा इससे महान् है तथा ये  
सारी जड़जङ्गम वस्तुएँ उसके एक पादमात्र हैं उसका अमृतस्वरूप त्रिपाद तो  
प्रकाशमयस्वरूप में है ॥३॥

सायण भाष्य — अतीतानागतवर्तमानरूपं जगद्यावदस्ति एतावान्सर्वो— ऽप्यस्य पुरुषस्य  
महिमा स्वकीयसामर्थ्यविशेषः । न तु यस्य वास्तवस्वरूपम् । वास्तवस्तु पुरुषः अतो महिम्नोऽपि  
ज्यायान् अतिशयेनाधिकः । एतच्चोभयं स्पष्टीक्रियते । अस्य पुरुषस्य विश्वा सर्वाणि भूतानि  
कालत्रयवर्तीनि प्राणिजातानि पादः चतुर्थोऽंशः । अस्य पुरुषस्यावशिष्टं त्रिपात्स्वरूपममृतं  
विनाशरहितं सद्विवि द्योतनात्मके स्वप्रकाशस्वरूपे व्यवतिष्ठत इति शेषः । यद्यपि सत्यं  
ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्याम्नायातस्य । परब्रह्मण इयत्ताभावात् पादचतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं  
तथापि जगदिदं ब्रह्मस्वरूपापेक्षयाल्पमिति विवक्षितत्वात्— पादत्वोपन्यासः ।

शब्दार्थ — एतावान् = इतनी, ज्यायान् = अधिक विराट् है, पादः = चौथाई अंश,  
विश्वा = सम्पूर्ण, भूतानि = प्राणी, त्रिपात् = तीन चौथाई, अमृतम् = अविनाशी रूप  
से, दिवि = द्युलोक में ।

हिन्दी व्याख्या — इतनी इसकी महिमा है, अर्थात् भूत-भविष्यत्-वर्तमान कालत्रयवर्ती  
यह समग्र जगत् इसकी महिमा मात्र है, इसका स्वरूप नहीं । और इसलिये यह पुरुष  
तो इससे भी अधिक विराट् ही है । सम्पूर्ण प्राणी अर्थात् यह समग्र जगत् तो इसका केवल



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

एक पाद (चौथाई अंश) है। इसके तीन पाद (तीन चौथाई अंश) अविनाशी रूप से द्युलोक में अर्थात् स्वप्रकाश रूप में अवस्थित रहते हैं।

### व्याकरण

एतावान् = एतद्+मतुप् । 'आसर्वनाम्नः' । सूत्र से आकार आदेश ।

महिमा = महत्+इमनिच् = महिमन् ।

ज्यायान् = अयमनयोः अतिशयेन प्रशस्यः अर्थ में 'ईयसुन्' प्रत्यय होकर 'ज्य च' सूत्र से प्रशस्य के स्थान पर 'ज्य' आदेश और 'ईयसुन्' के 'ई' को 'आ' आदेश ।

त्रिपात् = त्रयाणां पादानां समाहारः । "पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः" सूत्र से 'पाद' के 'अ' का लोप ।

विशेष — मैक्डानल ने 'दिवि' का अर्थ 'स्वर्गलोक में' और पीटर्सन ने 'आकाश में' किया है। छन्द के अनुरोध से 'महिमातो' को 'महिमां अतो' पढ़ना चाहिये।

मण्डल-१०

सूक्त-९०

मन्त्र-४

संहिता पाठ

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।

ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥४॥

पदपाठ

त्रिपात् । ऊर्ध्वः । उत् । ऐत् । पुरुषः । पादः । अस्य । इह । अभवत् । पुनरिति । तत । विष्वङ् । वि । अक्रामत् । साशनानशने इति । अभि ।

अन्वय — त्रिपात् पुरुषः ऊर्ध्वः उदैत् । अस्य पादः इह पुनः अभवत् । ततः साशनानशने अभि विष्वङ् व्यक्रामत् ।

दयानन्द भाष्य —

भवार्थः — (त्रिपात्-पुरुषः) पूर्वोक्तः सोऽमृतस्वरूपपादत्रययुक्तः पुरुषः परमात्मा (ऊर्ध्वः उदैत्) नश्वर-संसारत उपरि स्थितः (अस्य पादः) अस्य पादः संसाररूपः (इह पुनः अभवत्) ऐहिकः पुनः पुनः भवति (ततः) पश्चात् (साशनानशने अभि) सभोगं जीवात्मानं तथा खल्वभोगं जडं तदुभयं च (विष्वक् व्यक्रामत्) विविधतया विविधगुणवत्तया व्याप्नोति ॥४॥

हि०भावार्थ — पूर्ण पुरुष परमात्मा अमृतरूप त्रिपाद इस संसार से ऊपर है, यह संसाररूप पाद पुनः पुनः उत्पन्न होता है। इसके अन्दर भोगनेवाले जीव और न भोगने वाले जड़ के अन्दर परमात्मा व्याप रहा है ॥४॥



## पुरुष सूक्त ( मण्डल-१०, सूक्त-१० )

**सायण भाष्य** — योऽयं त्रिपात्पुरुषः संसाररहितो ब्रह्मस्वरूपः सोऽयमूर्ध्व उदैत् । अस्मादज्ञानकार्यात्संसाराद् बहिर्भूतः अप्रत्यैर्गुणदोषैरस्पृष्ट उत्कर्षेण स्थितवान् । तस्यास्यसोऽयं पादो लेशः सोऽयमिह मायायां पुनरभवत् । सृष्टिसंहाराभ्यां पुनः पुनरागच्छति । अस्य सर्वस्य जगतः परमात्मलेशत्वं भगवताप्युक्तं — विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगादिति । ततो मायायामा— गत्यानन्तरं विष्वङ् देवमनुष्यतिर्यगादिरूपेण विविधः सन् व्यक्रामत् व्याप्तवान् । किं कृत्वा । साशनानशने अभिलक्ष्य भोजनादिव्यवहारोपेतं चेतन प्राणिजातम् । अनशनं तद्रहितमचेतनं गिरिनद्यादिकम् । तदुभयं यथा स्यात्तथा स्वयमेव विविधो भूत्वा व्याप्तवानित्यर्थः ।।

**शब्दार्थ** — त्रिपात् = तीन पादों वाला, ऊर्ध्वः = जगत् से ऊपर, उदैत् = उठा हुआ है, इह = इस भौतिक जगत् के रूप में, पुनः = बार-बार, अभवत् = होता है, विष्वङ् = विविध रूपों वाला, वि अक्रामत् = व्याप्त करके स्थित है, साशनानशने = भोजन करने वाले और भोजन न करने वाले, चेतन और अचेतन ।

**हिन्दी व्याख्या** — संसार से ऊपर तीन पादों वाला यह विराट् पुरुष इस जगत् से ऊपर उठा हुआ है, अर्थात् विश्व के गुण दोषों से रहित है । इसका एक पाद इस भौतिक जगत् के रूप में बार-बार होता है, अर्थात् इसमें सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय होते रहते हैं । इसके बाद अर्थात् सृष्टि उत्पन्न होने पर भोजन करने वाले और भोजन न करने वाले अर्थात् चेतन अचेतन जगत् को लक्ष्य करके विविध रूपों वाला पुरुष व्याप्त करके स्थित है ।

### व्याकरण

साशनानशने = अश्+ल्युट् (अन) = अशन । अशनेन सहितः साशनः । अशनेन रहितः अनशनः । साशनश्च अनशनश्च साशनानशने ।

विष्वङ् = विषु सर्वत्र अञ्चति अर्थ में विषु+अञ्च्+क्विप् ।

उदैत् = उत्+इ, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

व्यक्रामत् = वि+क्रम्, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

**विशेष** — 'साशनानशने' का अर्थ महीधर ने 'स्वर्ग और मोक्ष', मैकडानल ने 'खाने वाले और न खाने वाले' एवं पीटर्सन ने 'सजीव और निर्जीव संसार' किया है ।

मण्डल-१०

सूक्त-१०

मन्त्र-५

संहिता पाठ

तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः ।

स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ।।५।।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

### पदपाठ

तस्मात् । विराट् । अजायत् । विराजः । अधि । पुरुषः । सः । जातः । अत्यरिच्यत । पश्चात् । भूमिम् । अथो । पुरः ।

अन्वय — तस्मात् विराट् अजायत । विराजः अधि पुरुषः । सः जातः अत्यरिच्यत । पश्चात् भूमिम् अथो पुरः ।

### दयानन्द भाष्य —

भवार्थः — (ततः विराट् अजायत) ततः परमात्मनः सकाशात् विविध पदार्थैः सह राजमानः संसार उत्पन्नः (विराजः अधि पुरुषः) विविधतया राजमानस्य संसारस्योपरि अधिष्ठाता पुरुषः परमात्मा “अधि-उपरि अधिष्ठाता” [दयानन्दः ३ पश्चात् (सः जगतः) पश्चात् स विराट् प्रकटीभूतः सन् परमात्मनोऽधिष्ठात्वे (भूमिम् अथ पुरः अत्यरिच्यते) भवन्ति भूतानि यस्मिन् मदुत्पत्तिस्थानं लोकमनन्तरं देहपुरश्च व्यक्तीकरोति “रिचिर् विरेचने” [रुधादिः ३ ॥ ५ ॥ हि० भावार्थ — विविध पदार्थों से युक्त संसार को परमात्मा रचता है उसके अधीनत्व में लोक लोकान्तर उससे प्रकट होते हैं तथा लोक पर देह उत्पन्न होते हैं ॥ ५ ॥

सायण भाष्य — विष्वङ् व्यक्रामदिति यदुक्तं तदेवात्र प्रपञ्च्यते । तस्मादादि- पुरुषाद्विराड् ब्रह्माण्डदेहोऽजायत उत्पन्नः । विविधानि राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट् । विराजोऽधि विराड्देहस्योपरि तमेव देहमधिकरणं कृत्वा पुरुषस्तद्देहाभिमानी कश्चित् पुमानजायत । सोऽयं सर्ववेदान्तवेद्यः परमात्मा स एव स्वकीयया मायया विराड्देहं ब्रह्माण्डरूपं सृष्ट्वा तत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीवोऽभवत् । एतच्चाथर्वणिका उत्तरतापनीये विस्पष्टमामनन्ति — स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययेति । स जातो विराट्पुरुषोऽत्यरिच्यत अतिरिक्तोऽभूत् । विराड्व्यतिरिक्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोऽभूत् । पश्चाद्देवा दिजीवभावादूर्ध्वं भूमिम् ससर्जति शेषः । अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं तेषां जीवानां पुरः ससर्ज । पूर्यन्ते सप्तभिर्धातुभिरिति पुरः शरीराणि ।

शब्दार्थ — विराट् = ब्रह्माण्ड देह, व्यक्त जगत्, अधिपुरुषः = जीवात्मा, अत्यरिच्यत = सबसे आगे बढ़ गया, पुरः = शरीरों को ।

हिन्दी व्याख्या — उस आदिपुरुष से विराट् (ब्रह्माण्ड देह, व्यक्त जगत्) उत्पन्न हुआ । ब्रह्माण्ड देह का आश्रय लेकर उससे पुरुष (जीवात्मा) उत्पन्न हुआ । वह उत्पन्न होते ही सबसे आगे बढ़ गया अर्थात् पशु, पक्षी, मनुष्य आदि के रूप में चेतनता को प्राप्त करके अन्य जगत् से बढ़कर था । पश्चात् उस पुरुष ने भूमि और शरीरों को बनाया ।

### व्याकरण

विराट् = विशेषेण राजते अर्थ में — वि+राज्+क्विप् ।

अत्यरिच्यतः = अति रिचिर् (रिचि) धातु, कर्मकारक में लङ् लकार, प्रथम पुरुष,



**पुरुष सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१०)**

एकवचन ।

**पुरः** = पूर्यन्ते सप्तभिः धातुभिः अर्थ में पुर+क्विप् । द्वितीया विभक्ति का बहुवचन ।

**विशेष** — सायण ने 'भूमिम् के साथ ससर्ज' क्रिया का अध्याहार किया है । परन्तु पीटर्सन के अनुसार 'भूमिम्' को 'अत्यरिच्यत' क्रिया का ही कर्म मानना चाहिए । उव्वट ने 'पुरः' का अर्थ 'शरीर' अथवा 'चार' प्रकार के 'भूत' किया । यहाँ द्वितीय पाद में 'पुरुष' को वेदान्त के जीव का रूप कहा गया है, ऐसा सायण का विचार है ।

मण्डल-१०

सूक्त-१०

मन्त्र-६

संहिता पाठ

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।

वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥६॥

पदपाठ

यत् । पुरुषेण । हविषा । देवाः । यज्ञम् । अतन्वत । वसन्तः । अस्य । आसीत् । आज्यम् । ग्रीष्मः । इध्मः । शरत् । हविः ॥

**अन्वय** — यत् देवाः पुरुषेण हविषा यज्ञम् अतन्वत वसन्तः अस्य आज्यम् आसीत्, ग्रीष्मः इध्मः, शरत् हविः ।

**दयानन्द भाष्य** —

**भवार्थः** — (यत्) यदा (देवाः) सृष्टेरारम्भे वेदप्रकाशकाः परमर्षयोऽग्नि प्रभृतयः (पुरुषेण हविषा यज्ञम् अतन्वत) निजात्मनि धारयितुं योग्येन परमात्मना मानसं यज्ञमन्वतिष्ठान् (अस्य) एतस्य यज्ञस्य (वसन्तः आज्यम् आसीत्) वसन्तर्तुर्धृतमासीत् वसन्ते खल्वोषधय उत्पद्यन्तेऽतोऽध्यात्मयज्ञं प्रबोधयन्ति (ग्रीष्मः इध्मः) ग्रीष्मर्तुरीन्धनमासीत् यतो ग्रीष्मे वनस्पतयो वर्धन्ते (शरत् हविः) शरदृतुर्हव्यद्रव्यमासीत्—शरदि वनस्पतयः समृध्यन्ते तस्मादध्यात्म यज्ञस्य समृद्धिकारणं भवति शरत् ॥६॥

**हि०भावार्थ** — आदि सृष्टि में वेदप्रकाशक ऋषि अध्यात्मयज्ञ का अनुष्ठान करते हैं, अपने आत्मा में धारण करने योग्य परमात्मा के द्वारा उसका रचा बसन्तऋतु घृत समान होकर अध्यात्म यज्ञ को प्रबोधित करता है भिन्न-भिन्न औषधियों के उत्पन्न होने से परमात्मा है इस भाव को जागृत करता है, पुनः ग्रीष्म ऋतु इसकी समिधा इन्धन बन जाता है क्योंकि ग्रीष्म ऋतु में ओषधियाँ बढ़ती हैं तो परमात्मा की आस्तिकता में दृढ़ता आ जाती है, पुनः शरद् ऋतु उसका हव्यपदार्थ हो जाता है क्योंकि शरद् ऋतु में ओषधियाँ पुष्ट होती हैं अतः परमात्मा का साक्षात् होने का निमित्त बन जाता है ॥६॥



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

**सायण भाष्य** — यद्यदा पूर्वोक्तक्रमेणैव शरीरेषूत्पन्नेषु सत्सु देवा उत्तरसृष्टि सिद्ध्यर्थं बाह्यद्रव्यस्यानुत्पन्नत्वेन हविरनन्तरासंभवात्पुरुषस्वरूपमेव मनसा हविष्ट्वेन संकल्प्य पुरुषेण पुरुषाख्येन हविषा मानसं यज्ञमतन्वत अन्वतिष्ठन् तदानीमस्य यज्ञस्य वसन्तो वसन्तर्तुरेवाज्यमासीत्। तमेवाज्यत्वेन संकल्पितवन्त इत्यर्थः। एवं ग्रीष्म इध्म आसीत्। तमेवेध्मत्वेन संकल्पितवन्तः इत्यर्थः। शरद्धविरासीत्। तामेव पुरोडाशादिहविष्ट्वेन संकल्पितवन्तः इत्यर्थः। पूर्वपुरुषस्य हविः सामान्यरूपत्वेन संकल्पः। अनन्तरं वसन्तादीनामाज्यादिविशेषरूपत्वेन संकल्प इति द्रष्टव्यम्।

**शब्दार्थ** — पुरुषेण हविषा = पुरुष रूप हवि के द्वारा, अतन्वत = किया, आज्यम् = घृत, इध्मः = ईधन, हविः = हवन।

**हिन्दी व्याख्या** — जब, अर्थात् सृष्टि के रचना क्रम के इस प्रकार प्रारम्भ होने पर देवताओं ने सृष्टि के क्रम को आगे बढ़ाने के लिये पुरुष रूप हवि द्वारा यज्ञ को (सृष्टि रचना रूपी यज्ञ को मानसिक यज्ञ को) किया अर्थात् आगे सृष्टि की रचना का आरम्भ किया तो वसन्त ऋतु इस यज्ञ का घृत था, ग्रीष्म ईधन हुआ और शरद् ऋतु हवन बनी। अर्थात् विभिन्न ऋतुयें उत्पन्न हुई।

### व्याकरण

यत् = यह 'यदा' का वैदिक रूपान्तर है।

अतन्वत = 'तनु विस्तारे' धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

आज्यम् = 'अञ्ज्' धातु से "ऋहलोर्ण्यत्" सूत्र से ण्यत् प्रत्यय।

इध्मः = इन्ध् धातु से निपातनात् बनता है।

**विशेष** — उव्वट के अनुसार यहाँ वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतुयें सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों को अभिव्यञ्जित करती हैं। अर्थात् इन तीन गुणों द्वारा सृष्टि की रचना हुई। यहाँ सृष्टि की रचना को यज्ञ का रूपक दिया गया है।

मण्डल-१०

सूक्त-१०

मन्त्र-७

### संहिता पाठ

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः।

तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥७॥

### पदपाठ

तम्। यज्ञम्। बर्हिषि। प्र। औक्षन्। पुरुषम्। जातम्। अग्रतः। तेन। देवाः। अयजन्त। साध्याः। ऋषयः। च। ये॥

**अन्वय** — अग्रतः जातम् यज्ञम् तम् पुरुषम् बर्हिषि प्रौक्षन्। तेन देवाः ये च साध्याः ऋषयः च अयजन्त।



दयानन्द भाष्य —

भवार्थः — (अग्रतः जातं तं यज्ञं पुरुषम्) पूर्वतः प्रसिद्धं तं यजनीयं सङ्गमनीयं परमात्मानम् (बर्हिषि प्रौक्षन्) हृदयाकाशे "बर्हिः अन्तरिक्षनाम" [निघं० १।३२ आर्द्रभावनाभिः सिञ्चन्ति प्रसादयन्ति (च) तथा (तेन) पुरुषेण परमात्मना तं लक्षयित्वा (देवाः) अन्य विद्वांसः (ये) ये खलु (साध्याः ऋषयः) साधनापरायणाः मन्त्रद्रष्टारः (अयजन्त) अध्यात्मयज्ञं कृतवन्तः ॥७॥

हि०भवार्थ — परमात्मा पूर्व से प्रसिद्ध वर्तमान है, उस समागम के योग्य को साधना परायण ऋषिजन हृदयाकाश में आर्द्रभावनाओं श्रद्धा प्रेम भरी स्तुतियों द्वारा प्रसन्न करते हैं तो उनके अन्दर वह साक्षात् होकर कल्याण का निमित्त बनता है ॥७॥

सायण भाष्य — यज्ञं यज्ञसाधनभूतं तं पुरुषं पशुत्वभावनया यूपे बद्धं बर्हिषि मानसे यज्ञे प्रौक्षन् प्रोक्षितवन्तः। कीदृशमित्यत्राह। अग्रतः सर्वसृष्टेः पूर्वं पुरुषं जातं पुरुषत्वेनोत्पन्नम्। एतच्च प्रागेवोक्तम् तस्माद्विराडजायत विराजो अधि पुरुष इति। तेन पुरुषरूपेण पशुना देवो अयजन्त, मानसं यागं निष्पादितवन्त इत्यर्थः। के ते देवा इत्यत्राह। साध्या सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयः तदनुकूला ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च ये सन्ति ते सर्वेऽप्ययजन्तेत्यर्थः।

शब्दार्थ — बर्हिषि = मानसिक यज्ञ में, यज्ञ की वेदी पर, प्रौक्षन् = जल छिड़का, अग्रतः = सबसे पहले, अयजन्त = यजन किया, साध्याः = सृष्टि उत्पत्ति के साधनभूत प्रजापति।

हिन्दी व्याख्या — सबसे पहले अर्थात् सृष्टि से पूर्व उत्पन्न हुये, यजनीय या यज्ञ रूप उस पुरुष रूप पशु पर यज्ञ की वेदी पर देवताओं ने जल छिड़का अर्थात् उसको जल छिड़क कर पवित्र किया। उस प्रोक्षित पुरुष रूप पशु से देवताओं ने साक्ष्य अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति के साधनभूत प्रजापति आदियों ने और मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने यजन किया।

व्याकरण

प्रौक्षन् = प्र+उक्ष् सेचने, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

साध्याः = साध्+ण्यत् = साध्य।

अयजन्त = यज् धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

विशेष — सायण और महीधर के अनुसार 'साध्य' शब्द का अर्थ है — सृष्टि उत्पादन करने के योग्य प्रजापति आदि। परन्तु पीटर्सन ने इसका अर्थ किया है — देवताओं की विशेष श्रेणी (A class of devine beings, probably ancient devine sacrificers) ग्रिफिथ ने भी यही अर्थ किया है।

छन्द के आग्रह से 'साध्याः' को 'साधियाः' पढ़ना चाहिये।



तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।

पशून्ताँश्चक्रे वायव्यान्आरण्यान्ग्राम्याश्च ये ॥८॥

तस्मात् । यज्ञात् । सर्वहुतः । सम्भृतम् । पृषत्आज्यम् । पशून् । तान् । चक्रे ।  
वायव्यान् । आरण्यान् । ग्राम्याः । च । ये ॥

अन्वय — सर्वहुतः तस्मात् यज्ञात् पृषदाज्यम् संभृतम् । वायव्यान्, ये, च ग्राम्याः तान् पशून् चक्रे ।

भवार्थः — (तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात्) तस्मात् सर्वं यस्मिन् हुतं भवति यद्वा सर्वैर्हूयमानापे गृह्यमाणः पुरुषः परमात्मा तस्मात् यजनीयात् (पृषदाज्यं सम्भृतम्) अन्नमदनीयमोषधिवनस्पत्यादिकम् “अन्नं हि पृषदाज्यम्” {श० ६।८।४।८२”रस आज्यम्” {श० ३।७।१।१३२ निष्पन्नम् (तान् पशून् वायव्यान् चक्रे) तान् पशून् गवादीन् तथा पक्षिणश्च स परमात्मा जनयामास (च) तथा (ये आरण्याः ग्राम्याः) ये वन्या ग्राम्याः पशु पक्षिणः सन्ति तान् सर्वान् जनयाञ्चकार ॥८॥

हि०भावार्थ — परमात्मा के अन्दर यह सारा जगत् प्रलयकाल में लीन हो जाता है तथा जो सबके द्वारा उपासना करने योग्य है वह ऐसा परमात्मा अन्न रसमयी औषधियों को उत्पन्न करता है तथा जङ्गल और नगर के पशु पक्षियों को उत्पन्न करता है, मानने योग्य है ॥८॥

सायण भाष्य — सर्वहुतः सर्वव्यापकः पुरुषो यस्मिन्यज्ञे हूयते सोऽयं सर्वहुतः । तादृशात्तस्मात्पूर्वोक्तान्मानसाद्यज्ञात् पृषदाज्यं दधिमिश्रिताज्यम् सम्भृतं सम्पादितम् । दधिचाज्यं चेत्येवमादिभोग्यजातं सर्वं सम्पादितमित्यर्थः । तथा वायव्यान् वायुदेवताकाँल्लोकप्रसिद्धानारण्यान्पशूँश्चक्रे उत्पादितवान् । आरण्याहरिणादयः । तथा च ये ग्राम्याः गवाश्वादयस्तानपि चक्रे । पशूनामन्तरिक्षद्वारा वायुदेव्यत्वं यजुर्बाह्याने समाम्नायते वायवः स्थेत्याह वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षः । अन्तरिक्ष देवत्याः खलु वै पशवः । वायव एवैतान्परिददाति इति ।

शब्दार्थ — सर्वहुतः = जिसमें सभी कुछ आहुत कर दिया जाता है, संभृतम् = उत्पन्न हुआ, पृषदाज्यम् = दही से युक्त घी, वायव्यान् = वायु में विचरण करने वाले, आरण्यान् = जंगलों में रहने वाले, ग्राम्यान् = गाँवों में रहने वाले ।

हिन्दी व्याख्या — जिस यज्ञ में सभी कुछ अथवा सब का आत्मरूप पुरुष आहुत कर दिया जाता है, ऐसे उस यज्ञ से दही से युक्त घी उत्पन्न हुआ अर्थात् बनाया गया और



उसने वायु या अन्तरिक्ष में विचरने वाले पशु अर्थात् पक्षी, जंगलों में रहने वाले हरिण आदि पशु और जो गाँवों में रहने वाले अश्व, गौ आदि पशु हैं, वे भी बनाये।

### व्याकरण

सर्वहुतः	=	सर्व+हु+क्विप् = सर्वहुत्। पञ्चमी विभक्ति का एकवचन।
संभृतम्	=	सम्+भृ+क्त = संभृत।
पृषदाज्यम्	=	पृषत् च आज्यम् च तयोः समाहारः।
वायव्यान्	=	वायु+यत् = वायव्य।
आरण्यान्	=	अरण्य+ण (अ) = आरण्य।
ग्राम्याः	=	ग्राम+यत् = ग्राम्य।

विशेष — सायण ने 'यज्ञ' का अर्थ 'मानस यज्ञ' और महीधर ने, 'पुरुषमेध यज्ञ' किया है।

छन्द के आग्रह से 'पृषदाज्यम्' को 'पृषदाजियम्' और 'ग्राम्याः' को 'ग्रामियाः' पढ़ना चाहिये।

मण्डल-१०

सूक्त-१०

मन्त्र-९

संहिता पाठ

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥९॥

पदपाठ

तस्मात्। यज्ञात्। सर्वहुतः। ऋचः। सामानि। जज्ञिरे। छन्दांसि। जज्ञिरे।

तस्मात्। यजुः। तस्मात्। अजायत॥

अन्वय — सर्वहुतः तस्मात् यज्ञात् ऋचः सामानि जज्ञिरे। तस्मात् छन्दांसि तस्मात् यजुः अजायत।

दयानन्द भाष्य —

भवार्थः — (तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात्) तस्मात् पूर्वोक्तात् सर्वहुतः सङ्गमनीयात् परमात्मनः (ऋचः सामानि जज्ञिरे) ऋग्वेदमन्त्राः सामवेदमन्त्राः उत्पन्नाः प्रादुर्भूताः। (तस्मात् छन्दांसि जज्ञिरे) तस्मादेव अथर्ववेदमन्त्राः प्रादुर्भूताः "यदिदं किञ्च ऋचौ यजूंषि सामानि छन्दांसि" [बृह० १।२।५३ (तस्मात् यजुः अजायत) ॥६॥

हि० भावार्थ — परमात्मा ने ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद उत्पन्न किये हैं ॥६॥

सायण भाष्य — सर्वहुतस्तस्मात्पूर्वोक्ताद्यज्ञादृचः सामानि च जज्ञिरे उत्पन्नाः। तस्माद् यज्ञाच्छन्दांसि गायत्र्यादीनि जज्ञिरे। तस्माद्यज्ञाद्यजुरप्यजायत।



शब्दार्थ — ऋचः = ऋग्वेद, सामानि = सामवेद, जज्ञिरे = उत्पन्न हुये, छन्दांसि = गायत्री आदि छन्द, यजुः = यजुर्वेद।

हिन्दी व्याख्या — जिस यज्ञ में सभी कुछ अर्थात् सबका आत्मरूप पुरुष आहुत कर दिया जाता है, ऐसे उस यज्ञ से ऋग्वेद और सामवेद उत्पन्न हुये। उससे गायत्री आदि छन्द उत्पन्न हुये, उससे यजुर्वेद उत्पन्न हुआ।

### व्याकरण

ऋचः = ऋच्+क्विप् । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

सामानि = षो(सो)+मनिन्=सामन् । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन। नपुंसकलिङ्ग।

जज्ञिरे = 'जनी प्रादुर्भावे' धातु लिट् लकार, प्रथम पुरुष बहुवचन।

यजुः = यज्+उस् ।

अजायत = 'जनि प्रादुर्भावे' धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष एकवचन।

विशेष — इस मन्त्र से विदित होता है कि इस सूक्त की रचना के समय तक ऋक्, साम और यजुः इन तीनों वेदों का संकलन हो चुका था। इसमें अथर्ववेद का उल्लेख नहीं है। कुछ विद्वानों का विचार है कि 'छन्दांसि' पद अथर्ववेद का सूचक है। इस प्रकार इस मन्त्र में चारों वेदों की उत्पत्ति का वर्णन आ जाता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि ऋक्, साम और यजुः पद संज्ञा वाचक न होकर प्रकार वाचक हैं। इनसे ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद, इन तीनों वेदों का कथन न करके तीन प्रकार के मन्त्रों का कथन किया गया है। ऋचायें और साम गायत्री आदि छन्दों में निबद्ध हैं तथा यजुष् गद्यात्मक है।

मण्डल-१०

सूक्त-१०

मन्त्र-१०

संहिता पाठ

तस्मादश्वां अजायन्त ये के चोभयादतः।

गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः॥१०॥

पदपाठ

तस्मात् । अश्वाः । अजायन्त । ये । के । च । उभयादतः । गावः । ह । जज्ञिरे ।  
तस्मात् । तस्मात् । जाताः । अजावयः ॥

अन्वय — तस्मात् अश्वाः अजायन्त । ये के च उभयादतः । तस्मात् ह गावः जज्ञिरे ।  
तस्मात् अजावयः जाताः ।

दयानन्द भाष्य —

भवार्थः — (तस्मात्) तस्मात् परम पुरुषात्परमात्मनः (अश्वाः अजायन्त) अश्वाः अश्वसदृशाः पशवः उत्पन्नाः (ये-के च उभयादतः) ये केचनोभयत्रोर्ध्वाधो- भागयोर्दन्तवन्तस्तेऽप्युत्पन्नाः



(तस्मात् गावः ह जज्ञिरे) तस्मात् खलु गावो गवादयः उत्पन्नाः (तस्मात् अजावयः जाताः) तस्मादेव परमात्मनोऽजा अवयश्चोत्पन्नाः ॥१०॥

हि०भावार्थ — परमात्मा ने घोड़े जाति के पशु दोनों ओर दाँतो वाले पशु तथा गौवें बकरी भेड़ें आदि उत्पन्न करी हैं ॥१०॥

सायण भाष्य — तस्मात्पूर्वोक्ताद्यज्ञादश्वा अजायन्त उत्पन्नाः । तथा ये के चाश्वव्यतिरिक्ता गर्दभा अश्वतराश्चोभयादत ऊर्ध्वाधोभागयोरुभयोः दन्तयुक्ताः सन्ति तेऽप्यजायन्त । तथा तस्माद्यज्ञाद्गावश्च जज्ञिरे । किं च तस्माद्यज्ञाद— जावयश्च जाताः ।

शब्दार्थ — अजायन्त = उत्पन्न हुये, उभयादतः = ऊपर नीचे दोनों ओर दान्तों वाले, अजावयः = भेड़ें और बकरियाँ ।

हिन्दी व्याख्या — उस यज्ञ से घोड़े उत्पन्न हुये और जो घोड़ों के अतिरिक्त ऊपर—नीचे दोनों ओर दान्तों वाले गधे, खच्चर आदि पशु हैं, वे उत्पन्न हुये । उस यज्ञ से गायें उत्पन्न हुई और उस यज्ञ से बकरियाँ और भेड़ें उत्पन्न हुई ।

व्याकरण

उभयादतः = उभयतः दन्ताः येषां ते अर्थ में, उभय+दन्त । 'उभय' के अन्तिम 'अ' को दीर्घ और 'दन्त' को 'दत्' आदेश । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन ।

अजावयः = अजाश्च अवयश्च अजावयः । द्वन्द्व समास ।

विशेष — छन्द के आग्रह से 'उभयादतः' को 'च उभयादतः' पढ़ना चाहिये ।

मण्डल-१०

सूक्त-१०

मन्त्र-११

संहिता पाठ

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।

मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरु पादा उच्येते ॥११॥

पदपाठ

यत् । पुरुषम् । वि । अदधुः । कतिधा । वि । अकल्पयन् । मुखम् । किम् । अस्य । कौ । बाहू इति । कौ । ऊरु इति । पादौ । उच्येते इति ।

अन्वय — यत् पुरुषम् व्यदधुः, कतिधा व्यकल्पयन्? अस्य मुखम् किम्, कौ बाहू, कौ ऊरु पादौ उच्येते?

दयानन्द भाष्य —

भवार्थः — (यत् पुरुषं व्यदधुः) यत्पुनः परमात्मनं पुरुषं पुरुषरूपं देहरूपं मन्त्राद्रष्टारौ निर्धारितवन्तः (कतिधा व्यकल्पयन्) कीयत्प्रकारेण कल्पितवन्तः (अस्य मुखं किम् आसीत्) अस्य मुखं किमस्ति (कौ बाहू) कौ भुजौ (कौ ऊरु पादा उच्येते) के जङ्घे पादौ कावुच्येते ॥११॥



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

**हि०भावार्थ** — रूपकालंकार से समष्टि पुरुष को देह में कल्पित किया है। प्रश्न है कि उसका मुख कौन है, भुजायें कौन हैं जंघायें कौन सी हैं और पैर कौन से हैं। इसका उत्तर अगले मन्त्र में है। ॥११॥

**सायण भाष्य** — प्रश्नोत्तररूपेण ब्रह्मणादिसृष्टिं वक्तुं ब्रह्मवादिनां प्रश्ना उच्यन्ते। प्रजापतेः प्राणरूपा देवा यद्यदा पुरुषं विराड् रूपं व्यदधुः संकल्पेनोत्पा- दितवन्तस्तदानीं कतिधा कतिभिः प्रकारैर्व्यंकल्पयन् विविधं कल्पितवन्तः। अस्य पुरुषस्य मुखं किमासीत्। कौ बाहु अभूताम्। का ऊरु। कौ च पादावुच्येते। प्रथमः सामान्यरूपः प्रश्न पश्चान्मुखं किमित्यादिना विशेषविषयाः प्रश्नाः।

**शब्दार्थ** — व्यदधुः = विभाजित किया, कतिधा = कितने रूपों में, व्यकल्पयन् = विविध प्रकार से कल्पित किया, ऊरु = जांघें, उच्येते इति = कहे जाते हैं।

**हिन्दी व्याख्या** — प्रजापति के प्राणरूप देवताओं ने जब उस विराट् रूप पुरुष को विभाजित किया तो उसको कितने रूपों में विविध रूप से कल्पित किया? इस पुरुष का मुख कौन सा था? कौन सी भुजायें थीं? कौन सी जंघायें थीं? और कौन से पैर कहे जाते हैं?

**व्याकरण**

व्यदधुः = वि+धा, लङ् लकार, प्रथम पुरुष बहुवचन।

कतिधा = कति+धा।

**विशेष** — छन्द के आग्रह से 'व्यदधुः' को 'वि अदधुः' और 'व्यकल्पयन्' को 'वि अकल्पयन्' पढ़ना चाहिये।

मण्डल—१०

सूक्त—९०

मन्त्र—१२

संहिता पाठ

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।

ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥१२॥

पदपाठ

ब्राह्मणः। ऽस्य। मुखम्। आसीत्। बाहू इति। राजन्यः। कृतः। ऊरु इति। तत्। अस्य। यत्। वैश्यः। पद्भ्याम्। शूद्रः। अजायत॥

**अन्वय** — अस्य मुखम् ब्राह्मणः आसीत्। बाहू राजन्यः कृतः। अस्य यद् ऊरु तद् वैश्यः। पदभ्याम् शूद्रः अजायत।

**दयानन्द भाष्य** —

**भवार्थः** — (अस्य) समष्टिपुरुषस्य (ब्राह्मण मुखम् आसीत्) ब्राह्मणो वर्णो मुखमस्ति मुखस्थानीयोऽस्ति, यथा मुखे गुणास्तथा तत्र दृश्येरन् यथा मुखं सर्वं काले नग्नं तपः शीलं



स ज्ञानेन्द्रियं त्यागवृत्तिं च तथा ब्राह्मणेन भवितव्यम् (बाहू राजन्यः कृतः) भुजयोः शोधन रक्षण त्राणानि भवन्ति तथा क्षत्रियेऽपि स्युः (अस्य तत् ऊरु यद् वैश्यः) (पदभ्यां शूद्रः अजायत) पदभ्यां तुल्यः शूद्रो जातः यः पादसदृशः श्रमप्रकृतिकः सः शूद्रः ॥१२॥

हि०भावार्थ — मानव समाज को देह के रूपक में देखना चाहिये। जैसे देह में मुख में गुण होते हैं ज्ञान तपस्या त्याग ऐसे ब्राह्मण में होने चाहिये, जैसे भुजाओं में शोधन रक्षण त्राण गुण हैं ऐसे क्षत्रिय में होने चाहिये, जैसे मध्य भाग उदर में अन्नादि का संग्रह और विभाजन होता है ऐसे वैश्य में होने चाहिये, जैसे पैरों में दौड़ धूप श्रमशीलता होती है ऐसी शूद्र में होनी चाहिये ॥१२॥

सायण भाष्य — इदानीं पूर्वोक्तप्रश्नानामुत्तराणि दर्शयति। अस्य प्रजापतेः ब्राह्मणः ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषो मुखमासीत्। मुखादुत्पन्न इत्यर्थः। योऽयं राजन्यः क्षत्रियत्वजातिमान्पुरुषः स बाहूकृतः बाहुत्वेन निष्पादितः। बाहुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः। तत्तदानीमस्य प्रजापतेर्यदुरु तद्रूपो वैश्यः सम्पन्नः। ऊरुभ्यामुत्पन्न इत्यर्थः। तथास्य पदभ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्वजाति-मान्पुरुषोऽजायत। इयं च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिर्यजुः संहितायां शूद्रसप्तमकाण्डे च मुखतस्त्रिवृत निरमिमीतेत्यादौ विस्पष्टमान्नाता। अतः प्रश्नोत्तरे उभे तत्परतयैव योजनीये।

शब्दार्थ — अस्य = इस पुरुष का, राजन्यः = क्षत्रिय, ऊरु = जाँघें, पदभ्याम् = पैरों से,।

हिन्दी व्याख्या — इस पुरुष का मुख ब्राह्मण हुआ अर्थात् ब्राह्मण इसके मुख से उत्पन्न हुए। भुजाओं को क्षत्रिय बनाया गया, अर्थात् क्षत्रिय इसकी भुजाओं से उत्पन्न हुए। जो इसकी जाँघें थीं वे वैश्य हुये, अर्थात् वैश्य इस पुरुष की जाँघों से उत्पन्न हुये और इसके पैरों से शूद्र उत्पन्न हुये।

### व्याकरण

ब्राह्मणः = ब्रह्मन्+अण्।

राजन्यः = राजन् शब्द से 'राजश्वसुराद्यत्' सूत्र से यत् प्रत्यय।

विशेष — आर्यों के समाज की रचना का, चार वर्णों के विकास का स्पष्ट संकेत ऋग्वेद के इसी मन्त्र में मिलता है। यजुर्वेद में इसका और भी विस्तृत वर्णन है। अवेस्ता में भी इसी प्रकार से वर्णों का विभाजन दिखाया गया है।

छन्द के आग्रह से 'राजन्यः' को 'राजनीयः' पढ़ना चाहिए।



संहिता पाठ

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।

मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणादवायुरजायत ॥१३॥

पदपाठ

चन्द्रमाः । मनसः । जातः । चक्षोः । सूर्यः । अजायत । मुखात् । इन्द्रः । च । अग्निः ।  
च । प्राणात् । वायुः । अजायत ॥

अन्वय — मनसः चन्द्रमाः जातः, चक्षोः सूर्यः अजायत, मुखात् इन्द्रः च अग्निः च, प्राणात् वायुः अजायत ।

दयानन्द भाष्य —

भवार्थः — (मनसः—चन्द्रमाः—जातः) समष्टिपुरुषस्य मननसामर्थ्याच्चन्द्रमाः जातः (चक्षोः—सूर्यः—अजायत) तस्य ज्योतिर्मयस्वरूपात् सूर्य उत्पन्नः (मुखात्—इन्द्रः—च—अग्निः—च) मुखात् प्रमुखबलात्—खल्विन्द्रो विद्युच्चाग्निश्च जातः (प्राणात्—वायुः—अजायत) प्राणशक्तेर्वायुरुत्पन्नः ॥१३॥

हि०भावार्थ — परमात्मा ने अपनी मनन शक्ति से चन्द्रमा को उत्पन्न किया, ज्योतिर्मयस्वरूप से सूर्य को, प्रमुख बल से विद्युत् और अग्नि को और प्राणन शक्ति से वायु को उत्पन्न किया ॥१३॥

सायण भाष्य — यथा दध्याज्यादिद्रव्याणि गवादयः पशवः ऋगादिवेदा ब्राह्मणादयो मनुष्याश्च तस्मादुत्पन्ना एव चन्द्रादयो देवा अपि तस्मादेवोत्पन्ना इत्याह । प्रजापतेमनसः सकाशाच्चन्द्रमा जातः । चक्षोश्च चक्षुषः सूर्योऽप्यजायत । अस्य मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च देवावुत्पन्नौ । अस्य प्राणाद्वायुरजायत ।

शब्दार्थ — मनसः = मन से, जातः = उत्पन्न हुआ, चक्षोः = आंख से, अजायत = उत्पन्न हुआ ।

हिन्दी व्याख्या — इस प्रजापति रूप पुरुष के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ ।, आँख से सूर्य उत्पन्न हुआ, मुख से इन्द्र अग्नि उत्पन्न हुये और प्राण से वायु उत्पन्न हुआ ।

व्याकरण

चक्षोः = 'चक्षु' शब्द, पञ्चमी विभक्ति, एकवचन । वैदिक रूप है । लोक में 'चक्षुषः' रूप होगा ।

विशेष — मन में शान्ति, आँखों में प्रकाश, मुख अर्थात् वाणी में शक्ति और पवित्रता तथा प्राणों में वायु का आना परम पुरुष द्वारा ही उत्पन्न किये गये हैं ।

छन्द के आग्रह से 'चाग्निश्च' को 'च अग्निश्च' पढ़ना चाहिये ।



**पुरुष सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१०)**

मण्डल-१०

सूक्त-१०

मन्त्र-१४

संहिता पाठ

नाभ्यां आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत्।

पदभ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्॥१४॥

पदपाठ

नाभ्याः। आसीत्। अन्तरिक्षम्। शीर्ष्ण। द्यौः। सम्। अवर्तत्। पदभ्याम्। भूमिः।  
दिशः। श्रोत्रात्। तथा। लोकान्। अकल्पयन्।

अन्वय — नाभ्याः अन्तरिक्षम् आसीत् शीर्ष्णः द्यौः समवर्तत्। पदभ्याम् भूमि श्रोत्रात् दिशः,  
तथा लोकान् अकल्पयन्।

दयानन्द भाष्य —

भवार्थः — (नाभ्याः—अन्तरिक्षम्—आसीत्) तस्य परमात्मनेऽवकाश सामर्थ्यात् खल्वन्तरिक्षं  
प्रादुरभवत् अन्तरिक्षं दृष्ट्वा तस्यावकाशप्रदानशक्तिं जानीयात् (शीर्ष्णः—द्यौः—समवर्तत्)  
तस्य शिरोवदुत्कृष्टसामर्थ्यात् द्युलोकः सम्यग् वर्तमानो जातः, द्युलोकं दृष्ट्वा  
तस्योत्कृष्टशक्तिर्विज्ञेया (पदभ्यां—भूमिः) पादस्थानीयस्थिरत्वसामर्थ्याद्भूमिरुत्पन्ना, भूमिं  
दृष्ट्वा तस्य स्थिरत्वकारणशक्तिं जानीयात् (श्रोत्रात्—दिशः तथा लोकान्—अकल्पयन्)  
तस्यावकाशसामर्थ्यात्— लोकान् दिशश्च मनसि धारितवन्तः, लोकान् दिशश्च दृष्ट्वा  
तस्य महती व्यापकताऽनुभूता॥१४॥

हि०भावार्थ — परमात्मा ने अन्तरिक्ष द्युलोक, भूमि दिशाएँ और लोक लोकान्तर अपनी  
महती व्यापकता से रचकर प्राणियों का कल्याण किया॥१४॥

सायण भाष्य — यथा चन्द्रादीन्प्रजापतेर्मनः प्रभृतिभ्योऽकल्पयन्स्तथान्तरिक्षा—  
दील्लोकान्प्रजापतेर्नाभ्यादिभ्यो देवा अकल्पयन् उत्पादितवन्तः। एतदेव दर्शयति नाभ्याः  
प्रजापतेर्नाभेरन्तरिक्षमासीत्। शीर्ष्णः शिरसो द्यौः समवर्तत् उत्पन्नाऽस्य पदभ्यां पादाभ्यां  
भूमिरुत्पन्ना। अस्य श्रोत्रादिश उत्पन्नाः।

शब्दार्थ — नाभ्याः = नाभि से, शीर्ष्णोः = सिर से, समवर्तत् = उत्पन्न हुआ,  
अकल्पयत् = रचना की।

हिन्दी व्याख्या — उस प्रजापति रूप परम पुरुष की नाभि से अन्तरिक्ष लोक बना, सिर  
से द्युलोक उत्पन्न हुआ, दोनों पैरों से भूमि उत्पन्न हुई और चारों दिशाएँ उत्पन्न हुई।  
इस प्रकार उस पुरुष से देवताओं ने लोकों की रचना की।

व्याकरण

नाभ्याः = नाभि शब्द, पञ्चमी विभक्ति, एकवचन।

शीर्ष्णः = शिरस्, शब्द को वैदिक 'शीर्षन्' आदेश। पञ्चमी विभक्ति, एकवचन।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

समवर्तत = सम्+वृत् धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष एकवचन।

लोकाँ अकल्पयत्= वैदिक सन्धि के अनुसार 'न' को 'ँ' हुआ।

विशेष — 'लोक' शब्द का अर्थ 'खुला स्थान' (open space) है। ऋग् में 'लोक' शब्द से पहले 'उ' पद का प्रायः प्रयोग हुआ है। इससे पहले केवल एक स्थान ऐसा है, जहाँ 'उ' नहीं लगाया गया और इस मन्त्र में नहीं लगाया गया। इस प्रकार 'उलोक' का अर्थ है — 'विस्तृत लोक'। प्रतीत होता है कि यह 'उ' पद 'उरू' पद का संक्षिप्त रूप है। छन्द की दृष्टि से 'द्यौः' के स्थान पर 'दिधौः' पढ़ना चाहिये।

मण्डल-१०

सूक्त-९०

मन्त्र-१५

संहिता पाठ

सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।

देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम्॥१५॥

पदपाठ

सप्त। अस्यं। आसन्। परि। धयः। त्रिः। सप्त। सम्ऽद्धः। कृताः। देवा। यत्। यद्यज्ञम्। तन्वाना। अबध्नन्। पुरुषम्। पशुम्॥

अन्वय — यज्ञं तन्वानाः यत् देवाः पुरुषम् पशुम् अबध्नन्, अस्य सप्त परिधयः आसन्, त्रिः सप्त समिध कृताः।

दयानन्द भाष्य —

भवार्थः — (अस्य) अस्य मानसयज्ञस्य यद्वा अध्यात्मयज्ञस्य (सप्त परिधयः—आसन्) "भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम्, इति सप्त लोकाः परिधयः सन्ति" "इमे वै लोकाः परिधयः" तै० ३।८।१८।४२ एषां विवेचने यज्ञोऽयं प्रवर्तते, एषामन्तरे प्रवेशात्—खलु यजनीय देवस्य परमात्मनः साक्षात्कारो भवति (त्रिः सप्त समिधः कृताः) त्रिगुणीकृत सप्त संख्याका—एकविंशतिः कृताः समिधः प्राणादयो दश प्राणाः—इन्द्रियाणि वा दश, "प्राणा वै समिधः" [श० ६।२।३।४६२"प्राणा इन्द्रियाणि" तां० २।१४।२२ मनश्चेत्येकविंशतिः (समिध्यन्ते) हूयन्ते तस्मात् समिधः (यत्) यतः (देवाः—यज्ञं तन्वानाः) विद्वांसोऽध्यात्मयज्ञमनुतिष्ठन्तः (पशुं पुरुषम्—अबध्नन्) सर्वद्रष्टारं परमात्मानं स्वात्मनि बध्नन्ति धारयन्ति "बन्ध बन्धने" [क्रियादि० ३।१५॥

हि०भावार्थ — अध्यात्मयज्ञ बाहरी सप्त लोकों के विवेचन में चलता है और उसमें दश प्राण दश इन्द्रियाँ और मन जो आत्मा की शक्तियाँ हैं उन्हें लगाया जाता है — समर्पित किया जाता है तब आत्मा के अन्दर परमात्मा का साक्षात् होता है॥१५॥

सायण भाष्य — अस्य सांकल्पिकयज्ञस्य गायत्र्यादीनि सप्तच्छदांसि परिधय आसन्। ऐष्टिकस्याहवनीयस्य त्रयः परिधयः उत्तरवेदिकास्त्रयः आदित्यश्च सप्तमः परिधिप्रतिनिधिरूपः।



## पुरुष सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१०)

अत एवाम्नायते — न पुरस्तात्परिधात्यादित्यो ह्येवोद्यन्पुरस्ताद्रक्षांस्यपहन्तीति । तत एत आदित्यसंहिताः सप्तपरिधयोऽत्र सप्तछन्दोरूपाः । तथा समिधस्त्रिः सप्त त्रिगुणिताः सप्तसंख्याका एकविंशतिः कृता । द्वादशमासाः पञ्चर्तवः त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंश इति श्रुताः पदार्थाः एकविंशतिदारुयुक्तेन्धनत्वेन भाविताः । यद्यः पुरुषो वैराजोऽस्ति तं पुरुषं देवाः प्रजापतिप्राणेन्द्रियरूपाः यज्ञं तन्वानाः मानस यज्ञं कुर्वाणाः पशुमबध्नन् विराट्पुरुषमेव पशुत्वेन भावितवन्तः । एतदेवाभिप्रेत्य पूर्वत्र यत्पुरुषेण हविषेत्युक्तम् ।

**शब्दार्थ —** तन्वाना = सम्पादन करते हुये, अबध्नन् = बाँधा ।

**हिन्दी व्याख्या —** सृष्टि उत्पत्ति रूप मानस यज्ञ का सम्पादन करते हुये जब देवताओं ने विराट् पुरुष रूपी पशु को बाँधो, अर्थात् स्वीकार किया तो इस यज्ञ की सात परिधियाँ और इक्कीस समिधायें बनाई गई ।

### व्याकरण

परिधयः = परि+धा+कि = परिधि । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन ।

समिध = सम्+इन्ध्+क्विप् = समिध् । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन ।

कृताः = कृ+क्त = कृत

तन्वानाः = तनु+उ+शानच् = तन्वान् । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन ।

अबध्नन् = बन्ध् धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।

**विशेष —** यज्ञ वेदी के चारों ओर जो चढ़ने-उतरने के लिये सीढ़ियाँ बनाई जाती हैं, उनको परिधि कहते हैं । सामान्यतः वे परिधियाँ तीन होती हैं, परन्तु इस मन्त्र में सात परिधि कही गई हैं । सायण ने गायत्री आदि सात छन्दों को सात परिधि माना है अथवा आह्वनीय यज्ञ की तीन, उत्तर वेदिका की तीन और आदित्य की प्रतिनिधि रूप एक, इस प्रकार सात परिधियाँ हैं । ये दोनों अर्थ महीधर ने भी स्वीकार किये हैं । २१ समिधायें की गई हैं — १२ महीने, ५ ऋतुयें, ३ लोक और आदित्य ।

कुछ समालोचकों का विचार है कि भारतवर्ष में प्राचीनकाल में पशुओं की बलि देने का सूत्रपात्र इसी मन्त्र से हुआ ऐसी भ्रान्त धारणा है । वस्तुतः इस मन्त्र में 'पशु' शब्द का अर्थ जानवर (animal) नहीं है । 'पश्यतीति पशुः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सर्वद्रष्टा परम पुरुष को देवताओं ने अपने विचारों में बाँधा ।

मण्डल-१०

सूक्त-१०

मन्त्र-१६

संहिता पाठ

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।

ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति देवाः ॥१६



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

### पदपाठ

यज्ञेन। यज्ञम्। अयजन्त। देवाः। तानि। धर्माणि। प्रथमानि। आसन्। ते। ह।  
नाकम्। महिमानः। सचन्त। यत्र। पूर्वे। साध्याः। सन्ति। देवाः।

**अन्वय** — देवाः यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त। तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्। महिमानः ते ह  
नाकं सचन्त, यत्र पूर्वे साध्याः देवाः सन्ति।

### दयानन्द भाष्य —

**भवार्थः** — (देवाः) आदि विद्वांसः परमर्षयः (यज्ञेन—यज्ञम्—अयजन्त) अध्यात्मयज्ञेन  
यजनीयं सङ्गमनीयं परमात्मनं स्वस्मिन् सङ्गमयन्ति (तानि धर्माणि प्रथमानि—आसन्)  
तानि ध्यान समाधिरूपाणि कर्माणि प्राथमिकानि खल्वासन् (ते ह नाकं महिमानः सचन्त)  
ते जीवनमुक्तात्मानः नितान्त सुखं मोक्षं सेवन्ते (यत्र साध्याः देवाः सन्ति) यत्र साधनासिद्धा  
आत्मानः सन्ति ॥१६॥

**हि०भावार्थ** — आदि विद्वान् परम ऋषिजन अध्यात्मयज्ञ के द्वारा—उपासना के द्वारा अपने  
अन्दर परमात्मा का साक्षात् किया करते हैं, वे सृष्टि के आरम्भ के कर्म हैं जो मोक्ष को  
प्राप्त कराने वाले हैं जहाँ जीवन्मुक्त पहुँचा करते हैं ॥१६॥

**सायण भाष्य** — पूर्व प्रपञ्चेनोक्तमर्थं संक्षिप्यात्र दर्शयति। देवाः प्रजापति प्राणरूपाः  
यज्ञेन तथोक्तेन मानसेन संकल्पेन यज्ञं यथोक्तयज्ञस्वरूपं प्रजापति— मयजन्त पूजितवन्तः।  
तस्मात्पूजनात्तानि प्रसिद्धानि धर्माणि जागद्रूपविकाराणां धारकाणि प्रथमानि मुख्यान्यासन्।  
एतावता सृष्टि प्रतिपादकसूक्तभागार्थः संगृहीतः। अथोपासनतत्फलानुवादकभागार्थः संगृह्यते।  
यत्र यस्मिन्विराट् प्राप्तिरूपे नाके पूर्वे साध्याः पुरातनाः विराडुपास्तिसाधका देवा सन्ति  
तिष्ठन्ति तन्नाकं विराट्प्राप्तिरूपं स्वर्गं ते महिमानस्तदुपासका महात्मानः सचन्त समवयन्ति  
प्राप्नुवन्ति।

**शब्दार्थ** — यज्ञेन = संकल्प रूप मानस यज्ञ के द्वारा, यज्ञम् = परम पुरुष यज्ञ  
रूप प्रजापति का, अयजन्त = यजन किया था, धर्माणि = नियम, सृष्टि उत्पत्ति के  
विधान, प्रथमानि = सबसे मुख्य, नाकम् = दिव्य स्वर्ग को, महिमानः = महिमा को  
प्राप्त करने वाले, पूर्वे = प्राचीन काल के, साध्याः = सिद्धि को प्राप्त करने वाले, सचन्त  
= प्राप्त करते हैं।

**हिन्दी व्याख्या** — देवताओं ने उस संकल्प रूप मानस यज्ञ के द्वारा उस यज्ञ रूप परम  
पुरुष प्रजापति का यजन (पूजन) किया था। उससे उत्पन्न हुये उनके वे धर्म (नियम, या  
सृष्टि उत्पत्ति के विधान) सबसे मुख्य हुये। महिमा को प्राप्त करने वाले वे देवता उस  
दिव्य स्वर्ग को प्राप्त करते हैं, जहाँ प्राचीन काल में सिद्धि को प्राप्त करने वाले देवता  
रहते हैं।



## व्याकरण

धर्माणि = धृ+मनिन् (मन) = धर्म। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

नाकम् = कमिति सुखम्। न+कः अकः दुःखम्। न+अकः नाकः अत्यन्तं सुखम्।

महिमान = महत्+इमनिच् = महिमन्। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

सचन्त = षच् (सच्) धातु, लङ् लकार, प्रथमा पुरुष का बहुवचन। वैदिक रूप धातु के पूर्व का 'अ' लुप्त है। वर्तमान के अर्थ में लङ् लकार।

साध्याः = साध्+ण्यत् = साध्य।

विशेष — मैक्डोनल के अनुसार यहाँ पुरुष की यज्ञ के रूप में उसी प्रकार कल्पना की गई है, जैसे पुराणों में विष्णु की है। सायण और महीधर ने 'महिमान' का अर्थ किया है — विराट् के उपासक महात्मा। मैक्डोनल के अनुसार इसका अर्थ — यज्ञ में निहित शक्तियाँ।

छन्द की पूर्ति के लिये इस मन्त्र में 'प्रथमान्यासन्' को 'प्रथमानि आसन्' तथा 'साध्याः' को साधियाः पढ़ना चाहिये।



## हिरण्यगर्भ सूक्त

ऋषिः—हिरण्यगर्भः

देवता—क संज्ञक प्रजापतिः,

छन्द—त्रिष्टुप्

मण्डल—१०

सूक्त—१२१

मन्त्र—१

संहिता पाठ

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकं आसीत् ।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥

पदपाठ —

हिरण्यगर्भः । सम् । अवर्तत । अग्रे । भूतस्य । जातः । पतिः । एकः । आसीत् । सः ।

दाधार । पृथिवीम् । द्याम् । उत । इमाम् । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ।

अन्वय — हिरण्यगर्भः अग्रे समवर्तत । जातः भूतस्य एकः पतिः आसीत् । न पृथिवीम् उत इमाम् द्याम् दाधार । कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

दयानन्द भाष्य —

पदार्थः — (हिरण्यगर्भः) हिरण्य—हिरण्यमयः “हिरण्यो हिरण्यमयोः” [निरु० १०।२३३ “मयट्प्रत्ययस्य लोपश्छान्दसः” हिरण्याः प्रकाशमयाः—सूयादयो गर्भे—गर्भसदृशे मध्येऽस्य स हिरण्यगर्भः— “हिरण्यानि सूर्यादि तेजांसि गर्भे यस्य स परमात्मा” [यजु० २५।१० दयानन्दः स परमात्मा (भूतस्य जातः—एकः पतिः—आसीत्) उत्पन्नस्य जगतः प्रसिद्ध एक—एव स्वामी पालकोऽस्ति सः (अग्रे समवर्तत) जगतः पूर्वमेव सम्यग् वर्तते वर्तमानो भवति हि (सः पृथिवीं द्याम्—उत—इमां दाधार) स खल्वन्तरिक्षम् “पृथिवी—अन्तरिक्षनाम” [निघ० १।३३ द्युलोकमपि चेमां पृथिवीं धरयति (कस्मै देवाय हविषा विधेम) सुखस्वरूपाय प्रजापतये परमात्मने “प्रजापतिर्वै कः” [ऐ० २।३७३ “सुखं वै कः” [गो० उ० ६।३३ उपहाररूपेण स्वात्मानं समर्पयेम ॥१॥

हि० भावार्थ — परमात्मा जगत् से पूर्व वर्तमान था और है, सूर्यादि प्रकाशमान पिण्डों को अपने अन्दर रखता हुआ सारे जगत् का स्वामी पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक को धारण करता है उस परमात्मा की आत्मभाव से उपासना करनी चाहिए ॥१॥

सायण भाष्य —

हिरण्यगर्भः हिरण्यमयस्याण्डस्य गर्भभूतः प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः । तथा च तैत्तिरीयकं — ‘प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः प्रजापतेरनुरूपत्वाय’ (तै० सं० ५.५.१.२) इति । यद्वा हिरण्यमयोऽण्डो गर्भवद्यस्योदरे वर्तते सोऽसौ सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ इत्युच्यते । अग्रे प्रपञ्चोत्पत्तेः प्राक् समवर्तत । मायाध्यक्षात् सिसृक्षोः परमात्मनः समजायत । यद्यपि परमात्मैव हिरण्यगर्भः तथापि तदुपाधिभूतानां वियदादीनां ब्रह्मण उत्पत्तेस्तदुपहितोऽप्युत्पन्न इत्युच्यते । स च जातः जातमात्र एव एकः अद्वितीयः सन् भूतस्य विकारजातस्य ब्रह्माण्डादेः सर्वस्य जगतः पतिः



ईश्वरः आसीत् । न केवलं पतिरासीदेव अपि तर्हि सः हिरण्यगर्भः पृथिवीं विस्तीर्णां द्यां दिवम् उत अपि च इमाम् अस्माभिर्दृश्यमानां पुरोवर्तिनीमिमां भूमिम् । यद्वा पृथिवीत्यन्तरिक्षनाम । अन्तरिक्षं दिवं भूमिं च दाधार धारयति ।। 'छन्दसि लुङ्लङ्- लिटः' इति सार्वकालिको लिट् । तुजादित्वादभ्यासदीर्घः ।। कस्मै । अत्र किंशब्दोऽनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात् प्रजापतौ वर्तते । यद्वा सृष्ट्यर्थं कामयत इति कः । कमेर्दप्रत्ययः । यद्वा कं सुखम् । तद्रूपत्वात् क इत्युच्यते । अथवा इन्द्रेण पृष्टः प्रजापतिर्मदीयं महत्त्वं तुभ्यं प्रदायाहं ह कीदृशः स्यामित्युक्तवान् । स इन्द्रः प्रत्यूचे यदीदं ब्रवीष्यहं कः स्यामिति तदेव त्वं भवेति । अतः कारणात् क इति प्रजापतिराख्यायते । 'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा सर्वा विजितीविजित्याब्रवीत्' (ऐ०ब्रा० ३.२१) इत्यादिकं ब्राह्मणमत्रानुसंधेयम् । यदासौ किं शब्दस्तदा सर्वनामत्वात् स्मैभावः सिद्धः । यदा तु यौगिकस्तदा व्यत्ययेनेति द्रष्टव्यम् । 'सावेकाचः०' इति प्राप्तस्य 'न गोश्वन्साववर्ण०' इति प्रतिषेधः । 'क्रिया ग्रहणं कर्तव्यम्' इति कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थी । कं प्रजापतिं देवाय देवं दानादिगुणयुक्तम् हविषा प्राजापत्यस्य पशोर्वपारूपेणैककपालात्मकेन पुरोडाशेन वा विधेम वयमृत्विजः परिचरेम । विधतिः परिचरणकर्मा ।।

**शब्दा०** — **हिरण्यगर्भः** = प्रजापति, **समवर्तत** = उत्पन्न हुआ, **अग्रे** = सर्व प्रथम ही, **भूतस्य** = प्राणियों का, **जातः** = उत्पन्न, **पतिः** = स्वामी, **एकः** = एक, **आसीत्** = था, **सः** = उसने, **दाधार** = धारण किया, **पृथिवीम्** = पृथिवी को, **द्याम्** = आकाश, **उत** = और, **इमाम्** = इन सबको, **कस्मै** = किस, **देवाय** = देवता का, **हविषा** = हवि से, **विधेम** = पूजन करें ।

**हिन्दी व्याख्या** — हिरण्यगर्भ सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ; वह जन्म से ही उत्पन्न प्राणियों का अकेला स्वामी था । उसने पृथिवी, आकाश तथा इन सबको धारण किया । (उसको छोड़कर) किस देवता का हम हवि से पूजन करें?

**व्याकरण** —

**हिरण्यगर्भः** = हिरण्यस्य हिरण्यमयस्य गर्भः गर्भभूतः । षष्ठी तत्पुरुष समास ।

**हिरण्य** = हिरण्य+मयट् । 'हिरण्य' के 'य' और 'मयट्' के 'म' का छान्दस लोप ।

**कस्मै** = 'क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्' से द्वितीया के अर्थ में चतुर्थी । किम्+उ=क । चतुर्थी का एकवचन ।

**विशेष** — हिरण्यगर्भ की व्याख्या अनेक विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की है । सायण के अनुसार सुवर्णमय अण्डे के गर्भ से बना प्रजापति अथवा सुवर्णमय अण्डे को गर्भ में धारण करने वाला प्रजापति हिरण्यगर्भ है । पीटर्सन ने हिरण्यगर्भ का अर्थ सुवर्णबीज किया है । 'समवर्तत का सायण ने 'उत्पन्न हुआ' महीधर ने 'स्वयं' शरीरधारी हुआ और उव्वट ने 'सर्वप्रथम शरीर धारण किया' अर्थ किये हैं ।



‘कस्मै’ शब्द की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई। १. हिरण्यगर्भ प्रजापति को छोड़कर हम किस देव का पूजन करें? अर्थात् उस हिरण्यगर्भ का ही पूजन करते हैं। २. क अर्थात् अनिर्जात रूप प्रजापति का पूजन करते हैं। ३. सुख-स्वरूप प्रजापति का पूजन करते हैं। ४. क संज्ञक प्रजापति का पूजन करते हैं।

(इस हिरण्यगर्भ सूक्त द्वारा और पुरुष सूक्त द्वारा ऋग्वेद में एकदेववाद की स्थापना की गई है। इस सूक्त का ऋषि हिरण्यगर्भ कहा गया है, जबकि इसमें हिरण्यगर्भ प्रजापति की स्तुति है। हिरण्यगर्भ को देवता मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

मण्डल—१०

सूक्त—१२१

मन्त्र—२

संहिता पाठ

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वं उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।

यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥

पदपाठ —

यः । आत्मदाः । बलदाः । यस्य । विश्वे । उपआसते । प्रशिषम् । यस्य । देवाः । यस्य । छाया । अमृतम् । यस्य । मृत्युः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ।

अन्वय — यः आत्मदाः बलदाः, यस्य प्रशिषम् विश्वे उपासते यस्य देवाः । अमृतम् यस्य छाया, मृत्युः यस्य । कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

दयानन्द भाष्य —

भावार्थः — (यः—आत्मदाः—बलदाः) य आत्मत्वस्य—आत्मबोधस्य दाता बलस्य च दाता स्वसङ्गत्या, (यस्य प्रशिषं विश्वे—उपासते) यस्य प्रशासनं सर्वे साधारणा जनाः सेवन्ते (यस्य देवाः) यस्य प्रशासनं विशिष्टा विद्वांसश्च सेवन्ते— आचरन्ति (यस्य छाया—अमृतम्) यस्य छाया—आश्रयोऽमृतम् (यस्य मृत्युः) यस्य—‘आच्छाया’ ‘सामर्थ्यात्’ मृत्युर्नाशोऽस्ति (कस्मै देवाय हविषा—विधेम) पूर्ववत् ॥२॥

हि०भावार्थ — परमात्मा संसार में भेजकर आत्मबोध देता है अपनी सङ्गति से बल देता है उसका नियम सब सेवन करते हैं कोई तोड़ नहीं सकता, उसकी शरण लेने से अमृत हो जाता है अन्यथा मृत्यु को प्राप्त होता रहता है, उस सुखस्वरूप प्रजापति को उपहार रूप से अपने आत्मा का समर्पण करना चाहिए ॥२॥

सायण भाष्य —

यः प्रजापतिः आत्मदाः आत्मनां दाता । आत्मानो हि सर्वे तस्मात् परमात्मन उत्पद्यन्ते । यथाग्नेः सकाशाद्विस्फुलिङ्गा जायन्ते तद्वत् । यद्वा आत्मनां शोधयिता । ‘दैप् शोधने’ । ‘आतो मनिन्’ इति विच् । बलदाः बलस्य च दाता शोधयिता वा । यस्य च प्रशिषं



## हिरण्यगर्भ सूक्त ( मण्डल-१०, सूक्त-१२१ )

प्रकृष्टं शासनमाज्ञां विश्वे सर्वे प्राणिनः उपासते प्रार्थयन्ते सेवन्ते वा । 'शासुअनुशिष्टौ' । 'शास इत्' (पा०सू० ६.४.३४) इत्युपधाया इत्वम् । 'शासिवसिघसीनां च' इति षत्वम् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् । आसेरनुदात्तेत्वाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः । 'तिङि चोदात्तवति' इति गतिरनुदात्ता तथा देवाः अपि यस्य प्रशासनमुपासते । अपि च अमृतम् अमृतत्वम् । भावप्रधानो निदेशः । यद्वा । अमृतम् । मरणं नास्त्य स्मन्नित्यमृतं सुधा । बहुव्रीहौ 'नञो जरमैरमित्रमृताः' इत्युत्तरपदात्तत्वम् । तदपि यस्य प्रजापतेः छाया छायेव वर्ति भवति । मृत्युः यमश्च प्राणापहारी छायेव भवति । तस्मै कस्मै देवाय इत्यादि समानं पूर्वेण हविषा पुरोडाशात्मनेति तु विशेषः ।।

**शब्दा०** — यः = जो, आत्मदाः = प्राण देनेवाला, बलदाः = बल देने वाला, यस्य = जिसकी, विश्वे = सम्पूर्ण, उपासते = मानते हैं, प्रशिषम् = आज्ञा, यस्य = जिसकी, देवाः = देवता, यस्य = जिसकी, छाया = प्रतिबिम्ब, अमृतम् = अमृत, यस्य = जिसकी, मृत्युः = मृत्यु, कस्मै = किस, देवाय = देवता का, हविषा = हवि से, विधेम = पूजन करें ।

**हिन्दी व्याख्या** — जो प्राण देने वाला है, बल देने वाला है, जिसकी आज्ञा सभी मानते हैं, जिसकी (आज्ञा) देवता (भी मानते हैं), जिसकी छाया अमृत है, जिसकी (छाया) मृत्यु (है) । (उसको छोड़कर) किस देवता का हम हवि से पूजन करें?

**व्याकरण** —

**आत्मदाः** = आत्मानं ददाति अर्थ में आत्मन्+दा+क्विप् । अथवा आत्मन्+दैप् शोधने+क्विप् ।

**प्रशिषम्** = प्र+शास्+क्विप् "शास इदङ्हलोः" सूत्र से 'इत्य' और "शासिवसिघसीनां च" सूत्र से 'स्' को 'ष्' आदेश । प्रशिष् । द्वितीया विभक्ति का एकवचन ।

**अमृतम्** = न मृतं मरणम् अस्मिन् अमृतम् मोक्षः ।

**विशेष** — सायण ने 'आत्मदाः' का अर्थ 'आत्माओं को देने वाला या शोधन करने वाला—, महीधर और उव्वट ने स्वयं को देने वाला या उपासकों को आयु प्रदान करने वाला, एवं पीटर्सन ने 'प्राण या श्वास को देने वाला किया है । उव्वट और महीधर के अनुसार 'बलदाः' का अर्थ 'मुक्ति-भुक्ति-प्रदाता' है । 'यस्य छाया अमृतं यस्य मृत्युः' का अर्थ उव्वट और महीधर ने किया है — जिसकी कृपा अमृत रूप मोक्ष का हेतु है और अकृपा मृत्यु रूप आवागमन का हेतु है ।

छन्द के अनुरोध से 'छायामृतम्' को सन्धिच्छेद करके 'छाया अमृतम्' पढ़ना चाहिये ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

मण्डल—१०

सूक्त—१२१

मन्त्र—३

संहिता पाठ

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।

य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥

पदपाठ —

यः । प्राणतः । निमिषतः । महित्वा । एकः । इत् । राजा । जगतः । बभूव । यः । ईशे । अस्य । द्विपदः । चतुःपदः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ।

अन्वय — यः एकः इत् महित्वा प्राणतः निमिषतः जगतः राजा बभूव । अस्य द्विपदः चतुष्पदः ईशे । कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

दयानन्द भाष्य —

भावार्थः — (यः) यः परमात्मा (प्राणतः—निमिषतः—जगतः) प्राणं गृह्णतोऽथ शान्तचेष्टां कुर्वतश्च जगतः संसारस्य (महित्वा) स्वमहत्त्वेन (एकः—इत्) एक एव (राजा बभूव) राजाऽस्ति (यः) यः खलु (अस्य द्विपदः—चतुष्पदः—ईशे) अस्य द्विपादवतश्चतुष्पादवतश्च प्राणिनः स्वामिनं करोति (कस्मै देवाय हविषा— विधेम) पूर्ववत् ॥३॥

हि०भावार्थ — परमात्मा स्थावर जङ्गम जगत् का तथा दो पैर और चार पैर वाले प्राणी का स्वामी है, उस सुखस्वरूप प्रजापति के लिए उपहार रूप से अपनी आत्मा को समर्पित करना चाहिये ॥३॥

सायण भाष्य —

यः हिरण्यगर्भः प्राणतः प्रश्वसतः । 'अन प्राणने' । आदादिकः । 'शतुरनुमः०' इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । निमिषतः अक्षिपक्ष्मचलनं कुर्वतः । अत्रापि पूर्ववद्विभक्तिरुदात्ता । जगतः जङ्गमस्य प्राणिजातस्य महित्वा महत्त्वेन । 'सुपां सुलुक्०' इति तृतीयाया आकारः । माहात्म्येन एव इत् अद्वितीय एव सन् राजा बभूव ईश्वरो भवति । भवतेर्णलि 'ळिति' (पा०सू० ६.१.१९३) इति प्रत्ययात्पूर्वस्यो— दात्तत्वम् । अस्य परिदृश्यमानस्य द्विपदः पादद्वययुक्तस्य मनुष्यादेः चतुष्पदः गवाश्वादेश्च यः प्रजापतिः ईशे ईष्टं । 'ईश ऐश्वर्य' । आदादिकोऽनुदात्तेत् । 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' इति तलोपः । अनुदात्तेत्वाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः । अस्य । 'ऊडिदम्०' इतीडमो विभक्तिरुदात्ता । द्वौ पादौ यस्य स द्विपात् । 'संख्यासुपूर्वस्य' (पा०सू० ५.४.१४०) इति पादस्यान्त्यलोपः समासान्तः । भसंज्ञायां 'पादः पत्' (पा०सू० ६.४.१३०) इति पद्मावः 'द्वित्रिभ्यां पादन्' (पा०सू० ६.२.१९७) इत्येकदेशविकृतस्यान्यत्वादुत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । स्वरवर्जमेषैव चतुष्पद इत्यत्रापि प्रक्रिया । 'बहुब्रीहौ प्रकृत्या०' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । पूर्वपदस्य 'नूः संख्यायाः' (फि०सू० २.५) इत्याद्युदात्तत्वम् । 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' इति विसर्जनीयस्य षत्वम् । ईदृशो यः प्रजापतिस्तस्मै कस्मै इत्यादि सुबोधं हविषा हृदयाद्यात्मनेत्ययमत्र विशेषः ।



## हिरण्यगर्भ सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१२१)

शब्दा० — यः = जो, प्राणतः = श्वांस लेने वाले का, निमिषतः = पलक झपकने वाले का, महित्वा = महिमा से, एकः = अकेले, इत् = ही, राजा = शासक, जगतः = जंगमों का, बभूव = हुआ है, यः = जो, ईशे = शासन करता है, अस्य = इस, द्विपदः = दो पैर वाले का, चतुष्पदः = चार पैर वाले का, कस्मै = किस, देवाय = देवता का, हविषा = हवि से, विधेम = पूजन करें।

हिन्दी व्याख्या — जो अपनी महानता से श्वांस लेने वाले तथा पलक मारने वाले (जंगम तथा स्थावर) का अकेला राजा हुआ है; जो इस दो पैर वाले तथा चार पैर वाले का शासन करता है। (उसको छोड़कर) किस देवता का हम लोग हवि से पूजन करें?

व्याकरण —

प्राणतः = प्र+अन् प्राणने+शतृ = प्राणत्। षष्ठी विभक्ति का एकवचन।

निमिषतः = नि+मिष्+शतृ = निमिषत्। षष्ठी विभक्ति का एकवचन।

महित्वा = महत्+त्व = महित्व। तृतीया का एकवचन। वैदिक रूप।

द्विपदः = द्वौ पादौ यस्य अर्थ में द्विपाद्। षष्ठी का एकवचन।

चतुष्पदः = चत्वारः पादाः यस्य = चतुष्पाद्। षष्ठी विभक्ति का एकवचन।

विशेष — 'प्राणतः' और 'निमिषतः' का अर्थ 'सोने वाले और जगने वाले' भी लिया जा सकता है। छन्द के आग्रह से 'महित्वैकः' को 'महित्वा एकः' तथा 'ईशे अस्य' को 'ईशेऽस्य' पढ़ना चाहिये।

मण्डल-१०

सूक्त-१२१

मन्त्र-४

संहिता पाठ

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।

यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥४॥

पदपाठ —

यस्यं। इमे। हिमवन्तः। महित्वा। यस्यं। समुद्रम्। रसया। सह। आहुः।  
यस्यं। इमाः। प्रदिशः। यस्यं। बाहू इति। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम।  
अन्वय — इमे हिमवन्तः यस्य महित्वा आहुः, रसया सह समुद्रम् यस्य, इमाः प्रदिशः यस्य बाहू यस्य, कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

दयानन्द भाष्य —

भावार्थः — (इमे हिमवन्तः) एते हिमालयाः पर्वताः पर्वत प्रदेशाः (यस्य महित्वा-आहुः) यस्य-महत्त्वं वर्णयन्तीव (रसया सह समुद्रम्) नद्या सह समुद्रः "समुद्रं नपुंसकं छान्दसम्" नदीसमुद्राः-यस्य महत्त्वं वर्णयन्तीव (यस्य-इमाः- प्रदिशः-बाहू) यस्येमाः प्रदिशः खलु बाहू इवेति (कस्मै....) पूर्ववत्॥४॥



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

**हि०भावार्थ** — नदियों के साथ समुद्र हिमालय पर्वत और समस्त दिशाएँ परमात्मा के महत्त्व को दर्शा रही हैं उस ऐसे सुखरूप प्रजापति के लिए उपहार रूप में अपनी आत्मा को समर्पित करना चाहिये ॥४॥

### सायण भाष्य —

हिमा अस्मिन् सन्तीति हिमवान् । तेन बहुवचनान्तेन सर्वे पर्वता लक्ष्यन्ते । यथा छत्रिणो गच्छन्तीति । हिमवन्तः हिमवदुपलक्षिताः इमे दृश्यमानाः सर्वे पर्वताः यस्य प्रजापतेः महित्वा महत्त्वं माहात्म्यमैश्वर्यमिति आहुः । तेन सृष्टत्वात्तद्रूपेणावस्थानाद्वा । तथा रसया । रसोजलम् । तद्वती रसा नदी । अर्शआदित्वादाच् । जातावेकवचनम् रसाभिर्नदीभिः सह समुद्रम् । पूर्ववदेकवचनम् । सर्वान् समुद्रान् यस्य महाभाग्यमिति आहुः कथयन्ति सृष्ट्यभिज्ञाः । यस्य च इमाः प्रदिशः प्राच्यारम्भा आग्नेयाद्याः कोणदिश ईशितव्याः । तथा बाहू । वचनव्यत्ययः । बाह्वो भुजाः । भुजवत्प्राधान्ययुक्ताः प्रदिशश्च यस्य स्वभूताः । तस्मै कस्मै इत्यादि समानं पूर्वेण ।

**शब्दा०** — यस्य = जिसकी, इमे = ये, हिमवन्तः = पर्वत, महित्वा = महिमा, यस्य = जिसकी, समुद्रम् = समुद्र को, रसया = रसा के, सह = साथ, आहुः = कहते हैं, यस्य = जिसकी, इमाः = ये, प्रदिशः = दिशाएँ, यस्य = जिसकी, बाहू = भुजाएँ, कस्मै = किस, देवाय = देवता का, हविषा = हवि से, विधेम = पूजन करें ।

**हिन्दी व्याख्या** — जिसकी महिमा ये पर्वत, जिसकी (महिमा) रसासहित समुद्र (ऐसा वे) कहते हैं; जिसकी ये दिशाएँ, जिसकी भुजाएँ (उप दिशाएँ) हैं (उसको छोड़कर) किस देवता का हम लोग हवि से पूजन करें ।

### व्याकरण —

**हिमवन्तः** = हिम्+मतुप् = हिमवत् । प्रथमा विभक्ति का एकवचन ।

**रसया** = रसः जलम् अस्य अस्ति = रस+अच् (मतुप् अर्थ में) + टाप् = रसा । तृतीया विभक्ति का एकवचन ।

**विशेष** — इस मन्त्र में उब्बट और महीधर ने अर्थ किया है — ये हिमालय आदि पर्वत जिसकी महिमा से हैं, ऐसा विद्वान् कहते हैं । पीटर्सन के अनुसार — ये हिमयुक्त पर्वत उसके हैं (His are these snowy hills) । पीटर्सन ने रसा का अर्थ 'रसा नाम की नदी' किया है तथा 'इमाः' का अर्थ ये दिशाएँ एवं 'प्रदिशः' का अर्थ 'दिशाओं के कोण' किया है । उसने सायण कृत 'प्रदिशः' की व्याख्या को स्वीकार नहीं किया ।

छन्द की पूर्ति के लिये 'यस्येमे' को 'यस्य इमे' और यस्येमाः को यस्य इमाः पढ़ना चाहिये ।



## हिरण्यगर्भ सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१२१)

मण्डल-१०

सूक्त-१२१

मन्त्र-५

संहिता पाठ

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।

यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥५॥

पदपाठ -

येन । द्यौः । उग्रा । पृथिवी । च । दृळ्हा । येन । स्वं रितिं स्वः । स्तभितम् । येन ।  
नाकः । यः । अन्तरिक्षे । रजसः । विमानः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ।

अन्वय - येन द्यौः उग्राः पृथिवी च दृळ्हा, येन स्वः स्तभितम् येन नाकः यः अन्तरिक्षे  
रजसः विमानः, कस्मै देवाय हविषा विधेम ।

दयानन्द भाष्य -

भावार्थः - (येन-उग्रा द्यौः) येन परमात्मना तेजस्विनी द्यौः - (दृढा पृथिवी च) कठोरा  
पृथिवी च धारिता (येन स्वः स्तभितम्) येन मध्यमं स्थानं स्थिरीकृतम् (येन नाकः) येन  
परमात्मना मोक्षो धारितः (यः-अन्तरिक्षे) योऽन्तरिक्षे (रजसः-विमानः) लोकमात्रस्य विशेषण  
मानकर्त्ता संसाधयिता (कस्मै.....) पूर्ववत् ॥५॥

हि०भावार्थ - परमात्मा तेजस्वी द्युमण्डल को और कठोर पृथिवी को, मध्य स्थान को ओर  
लोकमात्र को तथा मोक्षधाम को संभाला हुआ है उस ऐसे सुखस्वरूप प्रजापति के लिए  
उपहाररूप से अपनी आत्मा को समर्पित करना चाहिये ॥५॥

सायण भाष्य -

येन प्रजापतिना द्यौः अन्तरिक्षम् उग्रा उदगूर्ण विशेषा गहनरूपं वा । पृथिवी  
भूमिः च दृळ्हा येन स्थिरीकृता । स्वः स्वर्गश्च येन स्तभितं स्तब्धं कृतम् । यथाधो नै पतति  
तथोपरि अवस्थापितमित्यर्थः । 'ग्रसितस्कभितस्तभितं' इति निपात्यते । तथा नाकः आदित्यश्च  
येन अन्तरिक्षे स्तभितः । यः च अन्तरिक्षे रजसः उदकस्य विमानः निर्माता । तस्मै कस्मै  
इत्यादि गतम् ।

शब्दा० - येन = जिससे, द्यौः = आकाश, उग्रा = शक्तिशाली, पृथिवी = पृथिवी,  
च = और, दृळ्हा = स्थिर, येन = जिससे, स्वः = प्रकाशलोक, स्तभितम् = स्थिर  
किया है, येन = जिसके द्वारा, नाकः = सूर्य, यः = जो, अन्तरिक्षे = अन्तरिक्ष में,  
रजसः = लोकों को, विमानः = नाप रहा है, कस्मै = किस, देवाय = देवता का,  
हविषा = हवि से, विधेम = पूजन करें ।

हिन्दी व्याख्या - जिसके द्वारा द्युलोक शक्तिशाली है, तथा पृथिवी स्थिर है; जिसके द्वारा  
प्रकाशलोक स्थिर रुका है, तथा जिसके द्वारा सूर्य (रुका है); जो अन्तरिक्ष में लोकों को  
नाप रहा है । (उसको छोड़कर) किस देवता का हम लोग हवि से पूजन करें?



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

व्याकरण —

उग्रा = उद्+गुरौ उद्यमने+क(अ)+टाप् = उग्रा ।

स्तभितम् = स्तम्भ धातु से निपातनात् 'क्त' होकर निष्पन्न होता है ।

विमानः = विविधं मानं निर्माणं यस्य सः विमानः । वि+मा+ल्युट् (अन) ।

विशेष — सायण ने 'उग्रा' को पृथिवी का विशेषण मानकर अर्थ किया है — उठी हुई या गहन । महीधर और उव्वट ने इस शब्द का अर्थ किया है — वृष्टि देने वाली । पीटर्सन ने 'उग्रा' को द्यौः का विशेषण मानकर 'महान्' अर्थ किया है । 'स्वः' का अर्थ सायण ने 'स्वर्ग', महीधर ने 'आदित्य मण्डल' और पीटर्सन ने 'विस्तृत आकाश' किया है । 'नाकः' का अर्थ सायण ने 'आदित्य' और महीधर ने 'स्वर्गलोक' किया है ।

छन्द के अनुरोध से 'स्वः' को 'सुवः' पढ़ना चाहिये ।

मण्डल—१०

सूक्त—१२१

मन्त्र—६

संहिता पाठ

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने ।

यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥६॥

पदपाठ —

यम् । क्रन्दसी इति । अवसा । तस्तभाने इति । अभि । ऐक्षेताम् । मनसा । रेजमाने इति । यत्र । अधि । सूरः । उत्सृजतः । विभाति । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ।

अन्वय — अवसा तस्तभाने रेजमाने क्रन्दसी यम् मनसा अभ्यैक्षेताम्, यत्र अधि सूरः उदितः विभाति, कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

दयानन्द भाष्य —

भावार्थः — (क्रन्दसी) रोदसी—द्यावापृथिव्यौ "क्रन्दसी रोदसी" 'क्रदि रोदने' अर्थसाम्यात् रोदसी (तस्तभाने) स्तभिते (अवसा) रक्षणेन रक्षण हेतुना (रेजमाने) कम्पमाने—इव (मनसा) मनसि यथा (यम्—अभि—ऐक्षेताम्) यं खलु पश्यत इव (यत्र—अधि) यस्मिन्—अधि—यस्याधारे वा (सूरः—उदितः—विभाति) सूर्य उदयं गतः प्रकाशते (कस्मै.. ...) पूर्ववत् ॥६॥

हि०भावार्थ — परमात्मा ने द्युमण्डल पृथिवीमण्डल को आमने सामने स्थिर किया है — रखा है और अपने शासन में उन्हें चला रहा है । सूर्य भी उसी के आधार पर उदय होता है, ऐसे सुख स्वरूप प्रजापति के लिए उपहाररूप से अपने आत्मा को समर्पित करना चाहिये ॥६॥

सायण भाष्य —

क्रन्दितवान् रोदितवाननयोः प्रजापतिरिति क्रन्दसी द्यावापृथिव्यौ । श्रूयते हि



## हिरण्यगर्भ सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१२१)

— यदरोदीत्तदनयो रोदस्त्वम् (तै०ब्रा० २.२.१.४) इति। ते अवसा रक्षणेन हेतुना लोकस्य रक्षणार्थं तस्तभाने प्रजापतिना सृष्टे लब्धस्थेर्ये सत्यौ यं प्रजापतिं मनसा बुद्ध्या अभ्येक्षेताम् आवयोर्महत्त्वमनेन इत्यभ्यपश्येताम्। 'ईक्ष दर्शने'। लङि अडादित्वादाद्युदात्तः। कीदृश्यौद्यावापृथिव्या। रेजमाने दीप्यमाने। आकारस्य व्यत्ययेनैत्वम्। अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः। यद्वा। लिटः कान च। 'फणां च सप्तानाम्' (पा०सू० ६.४.१२५) इत्येत्वाभ्यासलोपो। 'छन्दस्युभयथा' इति सार्वधातुकत्वाच्छप्। अत एव 'अभ्यस्तानामादिः' इत्याद्युदात्तत्वम्। यत्राधि यस्मिन्नाधारभूते प्रजापतौ सूरः सूर्यः उदितः एउयं प्राप्तः सन् विभाति प्रकाशते। उत्पूर्वादेतेः कर्मणि निष्ठा। 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् तस्मै कस्मै इत्यादि सुज्ञानम्।

शब्दा० — यम् = जिसको, क्रन्दसी = आकाश तथा पृथिवी, अवसा = रक्षा के लिये, तस्तभाने = स्थिर किये गये, अधि ऐक्षेताम् = देखते हैं, मनसा = मन से, रेजमाने = चमकते हुये, यत्र = जहाँ, अधि = पर, सूरः = सूर्य, उदितः = निकला हुआ, विभाति = चमकता है, कस्मै = किस, देवाय = देवता का, हविषा = हवि से, विधेम = पूजन करें।

हिन्दी व्याख्या — (प्राणियों की) रक्षा के लिये स्थिर किये गये आकाश तथा पृथिवी चमकते हुये मन से जिसको देखते हैं; जहाँ पर उदित हुआ सूर्य चमकता है। (उसको छोड़कर) किस देवता का हम लोग हवि से पूजन करें?

व्याकरण —

क्रन्दसी = क्रन्द+असुन्= क्रन्दस्। स्त्रीलिंग में प्रथमा का द्विवचन।

तस्तभाने = स्तम्भ्+कानच्+टाप् = तस्तभाना। प्रथमा का द्विवचन।

रेजमाने = राज्+कानच्+टाप् = रेजमाना। "फणञ्च सप्तानाम्" नियम से एत्व और अभ्यास का लोप।

विशेष — द्युलोक और पृथिवी लोक के द्वारा प्रजापति ने क्रन्दन किया था, अतः इसको 'क्रन्दसी' कहा गया है। मैक्समूलर का मत है कि यदि 'क्रन्दसी' को हटाकर 'रोदसी' पाठ कर दिया जावे तो अर्थ अधिक स्पष्ट होगा, जैसा कि अथर्ववेद के ४/२/३ मन्त्र में है।

सायण ने 'अवसा' का अर्थ 'रक्षा के लिए' किया है, परन्तु उव्वट और महीधर ने इसका अर्थ 'हविष् रूप अन्न से' किया है। 'रेजमाने' का अर्थ सायण ने 'दीप्यमान', महीधर ने 'शोभित होते हुए' और उव्वट ने 'कांपती हुई' किया है।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

मण्डल-१०

सूक्त-१२१

मन्त्र-७

संहिता पाठ

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन्गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।

ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥७॥

पदपाठ -

आपः । ह । यत् । बृहतीः । विश्वम् । आयन् । गर्भम् । दधानाः । जनयन्तीः । अग्निम् ।  
ततः । देवानाम् । सम् । अवर्तत । असुः । एकः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ।

अन्वय - यत् गर्भम् दधानाः अग्निम् जनयन्तीः बृहतीः आपः ह विश्वम् आयन्, ततः  
देवानाम् एकः असुः समवर्तत । कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

दयानन्द भाष्य -

भावार्थः - (बृहतीः-आपः-ह) सृष्टेरादौ महान्तः खल्वप्तत्त्वप्रवाहाः- आप्ताः परमाणवः  
खलु "आपो वा इदमग्रे यत्तत्सलिलमासीत्" (जै०उ० १।५६।१२"तम आसीत् तमसा  
गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्" {ऋ०१०।१२६।३२ (अग्निं जनयन्तीः-गर्भं दधानाः)  
अग्निमाग्नेयपदार्थमुत्पादनहेतोर्गर्भं धारयन्तः (विश्वम्- आयन्) विश्वं प्रति प्रकटीभवन्ति  
(ततः) पुनः (देवानाम्-असुः-एकः समवर्तत) समस्त देवानां प्राणरूपः-खल्वेको देवो  
देवानां देव परमात्मा वर्तमान आसीत् ॥७॥

हि०भावार्थ - सृष्टि के आरम्भ में परमाणु प्रवाह आग्नेय तत्व को अपने अन्दर धारण  
करता हुआ प्रकट होता है । तब स्वामी रूप से वर्तमान सब देवों का देव परमात्मा वर्तमान  
था उस सुखस्वरूप प्रजापति के लिए उपहार स्वरूप अपने आत्मा ॥७॥

सायण भाष्य -

बृहतीः बृहत्यो महत्यः । जसि 'वा छन्दसि' इति पूर्वसवर्णदीर्घः ।  
'बृहन्महतीरुपसंख्यानम्' इति डीप् उदात्तत्वम् । अग्निम् । उपलक्षणमेतत् । अग्न्युपलक्षितं  
सर्वं वियदादिभूतजातं जनयन्तीः जनयन्त्यः तदर्थं गर्भं हिरण्मयाण्डस्य गर्भभूतं प्रजापतिं  
दधानाः धारयन्त्यः आपो ह आप एव विश्वमायन् सर्वे जगत् व्याप्नुवन् यत् यस्मात् ततः  
तस्माद्धेतोः देवानां देवादीनां सर्वेषां प्राणिनाम् असुः प्राणभूतः एकः प्रजापतिः समवर्तत  
समजायत । यद्वा । यत् यं गर्भं दधाना आपो विश्वात्मनावस्थिताः ततोर्गर्भभूतात्प्रजापतेर्देवादीनां  
प्राणात्मको वायुरजायत । अथवा । यत् लिङ्गवचनयोर्व्यत्ययः । उक्तलक्षणा या आपो विश्वमावृत्य  
स्थिताः ततस्ताभ्योऽद्भ्यः सकाशादेकोऽद्वितीयोऽसुः प्राणात्मकः प्रजापतिः समवर्तत निश्चक्राम ।  
तस्मै कस्मै इत्यादि गतम् ।

शब्दा० - आपः = जलों ने, ह = निश्चित अर्थ का वाचक निपात, यत् = जिस,  
बृहतीः = महान्, विश्वम् = सम्पूर्ण लोक को, आयन् = व्याप्त किया था, गर्भम् =



गर्भ, दधानाः = धारण करते हुये, जनयन्तीः = उत्पन्न करते हुये, अग्निम् = अग्नि को, ततः = उसी से, देवानाम् = देवताओं का, समवर्तत = उत्पन्न हुआ, असुः = प्राण, एकः = एकमात्र, कस्मै = किस, देवाय = देवता का, हविषा = हवि से, विधेम = पूजन करें।

हिन्दी व्याख्या — गर्भ धारण करते हुए तथा अग्नि (आदि महाभूतों) को उत्पन्न करते हुये जिन महान् जलों ने सम्पूर्ण लोक को व्याप्त किया था, उसी से देवताओं का एकमात्र प्राण (रूप वायु) उत्पन्न हुआ। (उसको छोड़कर) किस देवता का हमलोग हवि से पूजन करें? व्याकरण —

बृहतीः = 'बृहती शब्द' प्रथमा विभक्ति का बहुवचन। वैदिक रूप है। लोक में 'बृहत्यः' रूप होगा।

आयन् = 'इण् गतौ' धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष बहुवचन।

विशेष — पीटर्सन ने 'गर्भ' का अर्थ 'बीज' किया है। इस मन्त्र के तीसरे पाद में दो वर्ण अधिक हैं, जिससे छन्द की शिथिलता प्रकट होती है।

मण्डल-१०

सूक्त-१२१

मन्त्र-८

संहिता पाठ

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यदक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।

यो देवेष्वधि देव एक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम॥८॥

पदपाठ —

यः। चित्। आपः। महिना। परिऽअपश्यत्। दक्षम्। दधानाः। जनयन्तीः। यज्ञम्।  
यः। देवेषु। अधि। देवः। एकः। आसीत्। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम।

अन्वय — यः चित् यज्ञम् जनयन्तीः दक्षम् दधानाः आपः महिना पर्यपश्यत् यः देवेष्वधि एकः देवः आसीत्। कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

दयानन्द भाष्य —

भावार्थः — (यः—चित्) योऽपि (महिना) स्वमहत्त्वेन (यज्ञं जनयन्तीः) सृष्टियज्ञं प्रकटयन्तीः—प्रकटीकरण हेतोः लक्षण हेत्वोः क्रियायाः {अष्टा० ३।२।१२६३ (दक्षं दधानाः—आपः—परि—अपश्यत्) बलं बेगम् "दक्षः—बलनाम" {निघ० २।६३ धारयमाणान्—अप पदार्थान् "आप" द्वितीयार्थे प्रथमा व्यत्ययेन परितः पश्यति (यः—देवेषु—अधिदेवः—एकः) यो देवेषु खलूपरि देव एक एवास्ति (कस्मै....)॥८॥

हि०भावार्थ — परमात्मा अपने महत्त्व से सृष्टियज्ञ के प्रारम्भ करने वाले परमाणुओं को भली भाँति जानता है जो सब देवों के ऊपर अधिष्ठाता होकर वर्तमान है उस सुखस्वरूप प्रजापति के लिए उपहार रूप से अपनी आत्मा को समर्पित करना चाहिये॥८॥



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****सायण भाष्य -**

यज्ञं यज्ञोपलक्षितं विकारजातं जनयन्तीः उत्पादयन्तीः तदर्थं दक्षं प्रपञ्चात्मना वर्धिष्णुं प्रजापतिमात्मनि दधानाः धारयित्रीः । दधातेर्हेतौ शानच् । 'अभ्यस्तानामादिः' इत्याद्युदात्तत्वम् । ईदृशीः आपः । व्यत्ययेन प्रथमा । अपः प्रलयकालीनाः महिना महिम्ना । छान्दसो मलोपः स्वमाहात्म्येन यश्चित् यश्च प्रजापतिः पर्यपश्यत् परितो दृष्टवान् यः च देवेष्वधि देवेषु मध्ये देवः तेषामपीश्वरः सन् एकः अद्वितीयः आसीत् भवति । अस्तेश्छान्दसो लङ् । अस्तिसिचोऽपृक्ते' (पा०सू० ७.३.९६) इतीडागमः । तस्मै कस्मै इत्यादि गतम् ।।

शब्दा० - यः = जिसने, चित् = और, आपः = जलों को, महिना = महिमा से, परि अपश्यत् = चारों तरफ से देखा, दक्षम् = जनयित्री शक्ति को धारण करने वाले, जनयन्तीः = उत्पन्न करने वाले, यज्ञम् = यज्ञ को, यः = जो, देवेषु = देवताओं के, अधि = ऊपर, देवः = देव, एकः = अकेला, आसीत् = था, कस्मै = किस, देवाय = देवता का, हविषा = हवि से, विधेम = पूजन करें ।

हिन्दी व्याख्या - जिसने अपनी महिमा से जनयित्री शक्ति को धारण करने वाले, यज्ञ को उत्पन्न करने वाले जलों को देखा; जो देवताओं के ऊपर एक देव था । (उसको छोड़कर) किस देवता का हम लोग हवि से पूजन करें?

**व्याकरण -**

आपः = यहाँ द्वितीया के अर्थ में प्रथमा हुई है । 'अपः' अर्थ होता है ।

आसीत् = वर्तमान काल में लङ् लकार है ।

विशेष - सृष्टि के आदि में सब जल रूप ही था, ऐसा अनेक स्थानों पर लिखा मिलता है । ऋग्वेद के १०/१२९/३ में लिखा है, कि सृष्टि के प्रारम्भ में सब समुद्र सदृश था, जिसमें प्रकाश नहीं था । 'दक्ष' का अर्थ सायण ने 'प्रपञ्च रूप से वृद्धि करने वाले प्रजापति', महीधर ने 'कुशल प्रजापति' और पीटर्सन ने 'शक्ति या बल' किया है । 'यज्ञ' पर का अर्थ सायण ने 'यज्ञ से उपलक्षित विकार समूह', महीधर ने 'सृष्टि यज्ञ' और पीटर्सन ने 'यज्ञ' किया है ।

**मण्डल-१०****सूक्त-१२१****मन्त्र-९****संहिता पाठ**

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान् ।

यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान् कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।९।।

**पदपाठ -**

मा । नः । हिंसीत् । जनिता । यः । पृथिव्याः । यः । वा । दिवम् । सत्यधर्मा । जजान् । यः । च । अपः । चन्द्राः । बृहतीः । जजान् । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ।।



अन्वय — नः मा हिंसीत् यः पृथिव्याः जनिता, यः वा सत्यधर्मा दिवम् जजान यः च चन्द्राः बृहतीः अपः जजान, कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

दयानन्द भाष्य —

भावार्थः — (यः) य खलु (पृथिव्याः—जनिता) भूमेरुत्पादयिता (वा) अथ च “वा समुच्चयार्थे” [निरु० १।५२ (यः) यो हि (सत्यधर्मा) सत्यनियमवान् (दिवं जजान) द्युलोकमुत्पादयति (च) अपि च (यः) यः खलु (बृहतीः—चन्द्राः— आपः—जजान) महतीराह्लादकारिणीरन्तरिक्षविभक्तिर्नक्षत्रयुताः “आपोऽन्तरिक्षनाम” [निघ० १।३२ उत्पादयति (कस्मै.....) पूर्ववत्॥६॥

हि०भावार्थ — जिस परमात्मा ने पृथिवीलोक द्युलोक चन्द्रताराओं से भरा मन भानेवाला अन्तरिक्ष उत्पन्न किया है उस सुखस्वरूप प्रजापति के लिये उपहार रूप में अपने आत्मा का समर्पण करना चाहिये॥६॥

सायण भाष्य —

स प्रजापतिः नः अस्मान् मा हिंसीत् मा बाधताम् । यः पृथिव्याः भूमेः जनिता जनयिता स्रष्टा । ‘जनिता मन्त्रे’ इति णिलोपो निपात्यते । ‘उदात्तयणो हल्पूर्वात्’ इति पृथिवीशब्दाद्विभक्तेरुदात्तत्वम् । यो वा यश्च सत्यधर्मा सत्यमवितर्था धर्म जगतो धारणं यस्य स तादृशः प्रजापतिः दिवम् अन्तरिक्षोपलक्षितान् सर्वान् लोकान् जजान जनयामास । ‘जनी प्रादुर्भावे’ । णिचि वृद्धौ ‘जनीजृष्णसुञ्जः०’ इति मित्त्वात् ‘मितां ह्रस्वः’ इति ह्रस्वत्वम् । ततो लिटि ‘अमन्त्रे’ (पा०सू०३.१.३५) इति निषेधादाम्रत्ययाभावे तिपो णलि वृद्धौ लिति इति प्रत्ययात्पूर्वस्यो दात्तत्वम् । यश्च बृहतीः महतीः चन्द्रा आह्लादिनीः अपः उदकानि जजान जनयामास । ‘ऊडिदम्०’ इत्यादिना अष्टाब्दादुत्तरस्य शस उदात्तत्वम् । तस्मै कस्मै इत्यादि गतम्॥

शब्दा० — मा = मत, नः = हम लोगों को, हिंसीत् = कष्ट दे, जनिता = उत्पन्न करने वाला, यः = जो, पृथिव्याः = पृथिवी को, यः = जो, वा = और, दिवम् = आकाश को, सत्यधर्मा = सत्य नियमवाले, जजान = उत्पन्न किया, यः = जिसने, च = और, अपः = जलों को, चन्द्राः = आह्लादकारी, बृहतीः = महान्, जजान = उत्पन्न किया, कस्मै = किस, देवाय = देवता का, हविषा = हवि से, विधेम = पूजन करें।

हिन्दी व्याख्या — जो पृथिवी को उत्पन्न करने वाला है, जो सत्य नियम वाला है, जिसने आकाश को उत्पन्न किया, जिसने आह्लादकारी महान् जलों को उत्पन्न किया, वह हमें कष्ट न दे। (उसको छोड़कर) किस देवता का हमलोग हवि से पूजन करें?

व्याकरण —

हिंसीत् = ‘हिंस्’ धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। “न माङ्योगे” सूत्र



से 'मा' के योग में 'अट्' का अभाव।

जनिता = जन्+णिच्+तृच्। 'इट्' का आगम। "जनिता मन्त्रे" नियम से 'णिच्' का लोप = जनिट्। प्रथमा विभक्ति का एकवचन। लोक में 'जनयिता' रूप होगा।

सत्यधर्मा = सत्यम् धर्म यस्य स। बहुव्रीहि समास।

चन्द्रः = 'चदि आह्लादे' धातु से 'अच्' और 'नुम्' का आगम।

विशेष — 'सत्यधर्मा' का अर्थ सायण ने 'जगत् को धारण करने वाले रूप सत्य धर्म वाला', उव्वट ने 'सत्य का धारक, महीधर ने 'सत्य को धारण करने या कराने वाला, और पीटर्सन ने 'सच्चा और विश्वस्त' किया है। अपश्चन्द्राः का अर्थ सायण के अनुसार 'आह्लादक जल', उव्वट के अनुसार 'मनुष्य और काम्य जल', महीधर के अनुसार 'जगत् के कारण आह्लादक जल' और पीटर्सन के अनुसार 'दैदीप्यमान जल' है।

मण्डल—१०

सूक्त—१२१

मन्त्र—१०

संहिता पाठ

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।

यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥१०॥

पदपाठ —

प्रजापते। न। त्वत्। एतानि। अन्यः। विश्वा। जातानि। परि। ता। बभूव।  
यत्कामाः। ते। जुहुमः। तत्। नः। अस्तु। वयम्। स्याम। पतयः। रयीणाम्।

अन्वय — प्रजापते! त्वत् अन्यः एतानि, विश्वा जातानि ता न परिबभूव। यत् कामाः ते जुहुमः तत् नः अस्तु। वयम् रयीणाम् पतयः स्याम॥

दयानन्द भाष्य —

भावार्थः — (प्रजापते) हे प्रजायमानानां पालयितः स्वामिन्! (त्वत्-अन्यः) त्वत्तो भिन्नः (ता-एतानि विश्वा विश्वा जातानि न परि बभूव) सर्वाणि खलूत्पन्नानि तानि पूर्वाणि तथेमानि सम्प्रत्युत्पन्नानि वस्तूनि न परि भवति — नाधिकरोति (यत्कामाः-ते जुहुमः) यः कामो येषां ते तुभ्यं स्वात्मभावं समर्पयेम (तत्-न-अस्तु) तदभीष्टमस्मभ्यं भवतु (वयं रयीणां पतयः स्याम) वयं सर्वविध धनानां स्वामिनो भवेम्॥१०॥

हि०भावार्थ — जो वस्तुएँ पूर्व उत्पन्न हुई या वर्तमान में होती हैं उन सबका परमात्मा अधिष्ठाता है अन्य नहीं, जिस जिस कामना को लेकर मनुष्य भावना प्रस्तुत करते हैं वह पूरी होती है, मनुष्य आवश्यक धनों के स्वामी बन जाते हैं॥१०॥

सायण भाष्य —

हे प्रजापते त्वत् त्वत्तोऽन्यः कश्चित् एतानि इदानीम् वर्तमानानि विश्वा



## हिरण्यगर्भ सूक्त ( मण्डल-१०, सूक्त-१२१ )

विश्वानि सर्वाणि । 'शेषछन्दसि बहुलम्' इति शेलोपः । जातानि प्रथमविकारभाञ्जि ता तानि सर्वाणि भूतजातानि न परि बभूव न परि गृह्णाति । न व्याप्नोति । त्वमेवैतानि परिगृह्य स्रष्टुं शक्नोषीति भावः । परिपूर्वो भवतिः परिग्रहार्थः । वयं च यत्कामाः यत्फलं कामयमानाः ते तुभ्यं जुहुमः हवींषि प्रयच्छामः तत् फलं नः अस्माकम् अस्तु भवतु तथा वयं च रयीणां धनानां पतयः ईश्वराः स्याम भवेम । 'नामन्यतरस्याम्' इति नाम उदात्तत्वम् ।

**शब्दा०** — प्रजापते = हे प्रजापति, न = नहीं, त्वत् = तुमसे, एतानि = ये, अन्यः = भिन्न, विश्वा = सम्पूर्ण, जातानि = प्राणी, परि = चारों तरफ से व्याप्त करने वाले, ता = वे, बभूव = हो सकते, यत्कामाः = जिस इच्छा से, ते = तुमको, जुहुमः = स्तुति करते हैं, तत् = वह कामना, नः = हमारी, अस्तु = पूर्ण होवे, वयम् = हम लोग, स्याम = होवें, पतयः = स्वामी, रयीणाम् = धनों के ।

**हिन्दी व्याख्या** — हे प्रजापति, तुमसे भिन्न ये जितने उत्पन्न जीव हैं, वे तुमको चारों तरफ से व्याप्त नहीं कर सकते; जिस कामना से हम तुम्हें हवि प्रदान करते हैं, वह हमारी इच्छा पूरी हो । हम धनों के स्वामी बनें ।

**व्याकरण** —

विश्वा, ता = वैदिक रूप है । विभक्ति का लोप हुआ है । लोक में विश्वानि और तानि रूप मिलते हैं ।

जातानि = जन+क्त = जात । नपुंसकलिङ् में द्वितीया का बहुवचन ।

**विशेष** — 'परिबभूव' का अर्थ सायण ने 'परिग्रहण करके सृष्टि की रचना करने में समर्थ है या व्याप्त किये हुये हैं', उव्वट ने 'होता है' और पीटर्सन ने 'शासन करता है', किया है । 'जुहुमः' का अर्थ सायण ने 'हवि प्रदान करते हैं तथा पीटर्सन ने 'पुकारते हैं' किया है ।

ऋग्वेद के छः मन्त्र ऐसे हैं जिनके पद-पाठ और संहिता पाठ एक से हैं । इनमें से एक मन्त्र यह है । संहिता-पाठ और पद-पाठ एक होने से कुछ समालोचकों का यह विचार है कि इस मन्त्र को पद-पाठ का प्रचलन होने के बाद जोड़ा गया है ।

छन्द को पूरा करने के लिए 'त्वदेतान्यन्यो' को 'त्वदेतानि अन्यो' और 'स्याम' को 'सियाम' के रूप में पढ़ना चाहिए ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****वाक्सूक्त****ऋषि-वागाम्भृणी****देवता-वागाम्भृणी****छन्द-त्रिष्टुप / जगती****मण्डल-१०****सूक्त-१२५****मन्त्र-१****संहिता पाठ****अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।****अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥१॥****पदपाठ** — अहम् । रुद्रेभिः । वसुभिः । चरामि । अहम् । आदित्यैः । उत । विश्वदेवैः । अहम् । मित्रावरुणा । उभा । बिभर्मि । अहम् । इन्द्राग्नी इति । अहम् । अश्विना । उभा ।**अन्वय** — अहम् रुद्रेभिः चरामिः वसुभिः । अहम् आदित्यैः उत विश्वदेवैः । अहम् मित्रावरुणा उभा बिभर्मि । अहम् इन्द्राग्नी अहम् उभा अश्विना ।**दयानन्द भाष्य —**

(अहम्) अहम् आम्भृणी वाक् 'अम्भृणः—महन्नाम' {निघ० ३।३} महतः परमेश्वरस्य 'तस्येदम्' {अष्टा ४।३।१२०} अण् प्रत्ययः सा वाक् पारमेश्वरी — ज्ञानशक्तिः (वसुभिः) पृथिवी प्राभृतिभिरष्टभिः (रुद्रेभिः) एकादश प्राणैः (आदित्यैः) द्वादश मासैः सह (उत) अपि (विश्वदेवैः) ऋतुभिः 'ऋतुवो वै विश्वदेवाः' {श० ७।१।४।३} (चरामि) प्राप्ता भवामि (अहम्—उभा मित्रा वरुणा) अहमुभावहोरात्रौ 'अहोरात्रौ वै मित्रावरुणौ' {ता० २५।१०।१०} (इन्द्राग्नी) अग्निविद्युतौ 'यदशनिरिन्द्रः' {कौ० ६।११} 'विद्युद् वा अशनिः' {श० ६।१।३।१४} (उभा—अश्विना) उभौ द्यावापृथिव्यौ 'इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ' {श० ४।१।५।१६} (बिभर्मि) धारयामि ॥१॥

**हि०भावार्थ** — परमेश्वर की प्रतिनिधि पारमेश्वरी ज्ञान शक्ति पृथिवी आदि आठ वस्तुओं, प्राण रूप ग्यारह रुद्रों, बारह मासों, अग्नि विद्युत् दिन रातों और द्युलोक पृथिवी लोक को धारण करती हूँ ॥१॥

**सायण भाष्य —**

अहं सूक्तस्य द्रष्ट्री वागाम्भृणी यद् ब्रह्म जगत्कारणं तद्रूपा भवन्ती रुद्रेभी रुद्रैरेकादशभिः । इत्थं भावे तृतीया । तदात्मना चरामि । एवं वसुभिरित्यादौ तत्तदात्मना चरामीति योज्यम् । तथा मित्रावरुणा च उभा उभौ अहमेव ब्रह्मीभूता बिभर्मि धारयामि । इन्द्राग्नि अप्यहमेव धारयामि । उभा उभौ आश्विना आश्विनौ अप्यहमेव धारयामि । मयि हि सर्वं जगच्छुक्तौ रजतमिवाध्यस्तं संदृश्यते । माया च जगदाकारेण विवर्तते । तददृश्यमायाया आधारत्वेन असङ्गस्यापि ब्रह्मण उक्तस्य सर्वस्योत्पत्तिः ।

**शब्दा०** — रुद्रेभिः = ग्यारह रुद्रों के रूप में, वसुभिः = आठ वसुओं के रूप में, चरामि = विचरण करती हूँ, आदित्यैः = बारह आदित्यों के रूप में, बिभर्मि = धारण करती हूँ ।  
**हिन्दी व्याख्या** — जगत् के कारण रूप ब्रह्म के साथ तादात्म्य का अनुभव करती हुई



## वाक् सूक्त ( मण्डल-१०, सूक्त-१२५ )

अम्भृण ऋषि की पुत्री मैं वाक् ग्यारह रुद्रों के रूप में विचरण करती हूँ मैं आठ वसुओं के रूप से विचरण करती हूँ। मैं बारह आदित्यों के रूप में और विश्वदेवों के रूप में विचरण करती हूँ। मैं मित्र और वरुण दोनों देवताओं को धारण करती हूँ। मैं इन्द्र और अग्नि को धारण करती हूँ और दोनों अश्विनी देवताओं को धारण करती हूँ।

व्याकरण —

रुद्रेभिः = तृतीया का बहुवचन वैदिक रूप है। लोक में रुद्रैः रूप होगा।

मित्रावरुणा, उभा, अश्विना = द्वितीया विभक्ति के द्विवचन में वैदिक रूप हैं। विभक्ति के स्थान पर 'आ' हुआ है। लोक में मित्रावरुणौ, उभौ और अश्विनी रूप बनेंगे।

विभर्मि = भृ धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन।

विशेष = इस सूक्त में वाक् या वाणी की महत्ता का वर्णन किया गया है। अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन वाणी है। इस सूक्त को इस प्रकार कहा गया है कि वाक् स्वयं को ब्रह्म रूप में प्रतिपादित करके अपनी महत्ता का वर्णन कर रही है। यह हो सकता है कि इस सूक्त का ऋषि कोई और हो और उसने वाणी पर ऋषित्व का आरोप किया हो।

प्राचीन भाष्यकारों के अनुसार, जैसा कि सायण ने लिखा है, महर्षि अम्भृण की पुत्री वाक् ब्रह्मविद्या निष्णात थी। सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म या परमात्मा से तादात्म्य का अनुभव करती हुई उसने अपनी इस प्रकार स्तुति की है कि वह सम्पूर्ण जगत् का अधिष्ठान रूप से स्वामिनी है।

छन्द के अनुरोध से 'चराम्यहम्' को 'चरामि अहम्' और 'बिभर्म्यहम्' को 'बिभर्मि अहम्' पढ़ना चाहिये।

मण्डल—१०

सूक्त—१२५

मन्त्र—२

संहिता पाठ

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।

अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्येऽयजमानाय सुन्वते ॥२॥

पदपाठ — अहम्। सोमम्। आहनसम्। बिभर्मि। अहम्। त्वष्टारम्। उत। पूषणम्। भगम्। अहम्। दधामि। द्रविणम्। हविष्मते। सुप्रऽअव्ये। यजमानाय। सुन्वते ॥

अन्वय — आहनसम् सोमम् अहम् बिभर्मि। अहम् त्वष्टारम्, पूषणम् उत भगम्। अहम् हविष्मते सुप्राव्ये सुन्वते यजमानाय द्रविणम् दधामि।

दयानन्द भाष्य —

(अहम्—आहनसं सोमं बिभर्मि) अहं दृष्टिदोषनाशकं यद्वाऽशान्तिनाशकं चन्द्रमसं धारयामि (अहं त्वष्टारम्—उत पूषणं भगम्) अहं सूर्य तथा वायुम् 'अयं वै पूषा योऽयं पवते वातः' {श० १४।२।१।९} भजनीयं श्रेष्ठतमं कर्म 'यज्ञो भगः' {श० ६।३।१५।१९} धारयामि



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

(अहं हविष्मते) अहं हविर्दात्रे (सु प्राव्ये) विदुषां भोजनादिना सुष्ठु प्रकृष्टतया तर्पयित्रे (सुन्वते) सोमरस निःसारयित्रे विदुषां पानार्थम् (यजमानाय) यजमानाय-आत्मने (द्रविणं-दधामि) धनं धारयामि दातुम् ॥२॥

हि०भावार्थ — परमेश्वरी ज्ञानशक्ति चन्द्रमा सूर्य वायु-और यज्ञ को धारण करती है तथा होम करने वाले विद्वानों को तृप्त करने वाले और उनके लिए सोमरस निकालने वाले के लिए यजमान आत्मा के लिए धन को धारण करती है ॥२॥

सायण भाष्य —

आहनसमाहन्तव्यमभिषोतव्यं सोमं यद्वा शत्रूणामाहन्तारं दिवि वर्तमानं देवतात्मानं सोममहमेव बिभर्मि । तथा त्वष्टारमुत अपि च पूषणं भगं च अहमेव बिभर्मि । तथा हविष्मते हविर्भिर्युक्ताय सुप्राव्ये शोभनं हविर्देवानां प्रापयित्रे तर्पयित्रे सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते । ईदृशाय यजमानाय द्रविणं धनं यागफलरूपमहमेव दधामि धारयामि । एतच्च ब्रह्मणः फलदातृव्यं फलमत उपपत्तेरित्यधिकरणे भगवता भाष्यकारेण समर्थितम् ।

शब्दा० — सोमम् = सोम रस को, सोम देवता को, आहनसम् = कूट पीस कर अभिषवन करने योग्य, शत्रुओं का वध करने वाले, त्वष्टारम् = निर्माण करने वाले देवता को, पूषणम् = पोषण करने वाले सूर्य देवता को, भगम् = ऐश्वर्य देवता भग को, द्रविणम् = यज्ञ के फल रूप धन को, हविष्मते = हवि से युक्त, हवि प्रदान करने वाले, सुप्राव्ये = देवताओं के लिये सुन्दर हवि पहुँचाने वाले, सुन्वते = सोम का अभिषव करने वाले । हिन्दी व्याख्या — कूट पीस कर अभिषवन (निचोड़ने) योग्य सोमरस को अथवा शत्रुओं का वध करने वाले द्युलोक में विद्यमान सोम देवता को मैं ही धारण करती हूँ । मैं त्वष्टा (निर्माण करने वाला देवता), पूषा (पोषण करने वाला सूर्य देवता) और भग (भग नामक ऐश्वर्य का देवता या ऐश्वर्य) को मैं ही धारण करती हूँ । मैं हवि से युक्त या हवि प्रदान करने वाले, देवताओं के लिये सुन्दर हवि पहुँचाने वाले और सोम का अभिषव करने वाले यजमान के लिये यज्ञ के फल रूप धन को धारण करती हूँ ।

व्याकरण —

आहनसम् = आ+हन् धातु से वैदिक असुन् (अस्) प्रत्यय = आहनस द्वितीया विभक्ति का एकवचन ।

त्वष्टारम् = त्वक्ष+तृच् = त्वष्टृ । द्वितीया विभक्ति का एकवचन ।

हविष्मते = हविष्+मतुप् = हविष्मत् । चतुर्थी विभक्ति का एक वचन ।

सुप्राव्ये = सु+प्र+अव् धातु से "अवितृस्तृतन्त्रिभ्यः" इस उणादि सूत्र से 'इ' प्रत्यय = सुप्रावी । चतुर्थी विभक्ति का एकवचन ।

सुन्वते = सू+(श्नु)+शतृ — सुन्वत् । चतुर्थी का एकवचन ।

विशेष = 'आहनसम्' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर किया गया है । इसका अर्थ प्रायः 'मारने वाला' किया गया है । सोमलता को कूटकर पीटकर निचोड़कर सोमरस



निकाला जाता है। अतः उस अर्थ में 'आहनस' पद का प्रयोग हो सकता है। तथापि सायण ने इसका अर्थ 'आहन्तारम्' भी किया है। यह अर्थ पश्चिमी विद्वानों को भी स्वीकार है।

'सुप्रावी' का अर्थ सायण ने 'देवताओं के लिये हवि पहुँचाने वाला', पीटर्सन ने 'धार्मिक' और रॉय ने 'बहुत सतर्क, उत्साही' (Very attentive, zealous) किया है।

छन्द के अनुरोध से 'बिभर्म्यहम्' को 'विभर्मि अहम्' और 'सुप्राव्ये' को 'सुप्राविये' पढ़ना चाहिये। इस प्रकार पाठ करने पर प्रथम पाद में एक वर्ण की कमी बनी रहती है।

मण्डल-१०

सूक्त-१२५

मन्त्र-३

संहिता पाठ

अहं राष्ट्रीं संगमनीं वसूनां चिकितुषीं प्रथमा यज्ञियानाम्।

तां मां देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥३॥

पदपाठ — अहम्। राष्ट्रीं। वसूनाम्। संगमनीं। चिकितुषीं। यज्ञियानाम्। प्रथमा। ताम्। मां। देवाः। वि। व्यदधुः। पुरुत्रा। भूरिस्थात्राम्। भूरि। आवेशयन्तीम्।

अन्वय — अहम् राष्ट्री वसूनाम् संगमनी चिकितुषी यज्ञियानाम् प्रथमा। ताम् भूरिस्थात्राम् भूरि आवेशयन्तीम् मा देवा पुरुत्रा व्यदधुः।

दयानन्द भाष्य —

(अहं राष्ट्री) अहं जगद्रूपस्य राष्ट्रस्य स्वामिनी खल्वस्मि 'राष्ट्री ईश्वरनाम्' [निघ० २।१२] (वसूनां सङ्गमनी) समस्त धनानां सङ्गमयित्री (यज्ञियानां प्रथमा चिकितुषी) श्रेष्ठ कर्मणां प्रमुखा चेतयित्री (भूरि-स्थात्राम्) बहुरूपस्थितिमतीम् (भूरि-आवेशयन्तीम्) जड जङ्गमेषु पदार्थेषु बहुरूपेणावेशयन्तीमाविष्टाम् (तां मां) तां माम् (देवाः) विद्वांसः (पुरुत्रा) बहुरूपेषु (व्यदधुः) वर्णयन्ति 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' — [ऋ० १।१६४।४६] ॥३॥  
हि०भावार्थ — परमेश्वरी ज्ञानशक्ति जगद्रूप राष्ट्र स्वामिनी है, धनों की प्राप्ति भी वह कराती है, यज्ञ सम्बन्धी कर्मों का विधान बताने वाली है। बहुत विद्यास्थान वाली सब पदार्थों में प्रविष्ट को विद्वान् जन बहुत रूपों में वर्णन करें जाने ॥३॥

सायण भाष्य — अहं राष्ट्री। ईश्वरनामैतत्। सर्वस्य जगत् ईश्वरी। तथा वसूनां धनानां संगमनी संगमयित्री उपासकानां प्रापयित्री। चिकितुषी यत्साक्षात्कर्तव्यं परं ब्रह्म तज्ज्ञानवती स्वात्मतया साक्षात्कृतवती। अत एव यज्ञियानां यज्ञार्हाणां प्रथमा मुख्या। या एवं गुणविशिष्टाह तां मां भूरिस्थात्रा बहुभावेन प्रपञ्चात्मना— वतिष्ठमानाम् भूरि भूरीणि बहूनि भूतजातानि आवेशयन्तीं जीवभावेन आत्मानं प्रवेशयन्तीं ईदृशीं मां पुरुषु बहुषु देशेषु व्यदधुः देवा विदधति कुर्वन्ति। उक्तप्रकारेण वैश्वरूपेणावस्थानात्। यद्यत्कुर्वन्ति तत्सर्वं मामेव कुर्वन्तीत्यर्थः।  
शब्दा० — राष्ट्री = जगत् की ईश्वरी, संगमनी = प्राप्त कराने वाली।, वसूनाम् =



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

धनों की, चिकितुषी = ज्ञान से सम्पन्न, ब्रह्म को जानने वाली, प्रथमा = सबसे प्रमुख, यज्ञियानाम् = यजन करने योग्य व्यक्तियों में, व्यदधुः = रखा है, पुरुत्रा = विभिन्न स्थानों में, भूरिस्थात्राम् = अनेक रूपों में अवस्थित, भूर्यावेशयन्तीम् = बहुत सी वस्तुओं को अपने अन्दर आवेशित करने वाली।

हिन्दी व्याख्या — मैं सम्पूर्ण जगत् की ईश्वरी हूँ, धनों को प्राप्त कराने वाली हूँ, खोज करने वाली, ज्ञान से सम्पन्न या ब्रह्म को जानने वाली हूँ और यजन करने योग्य व्यक्तियों में सबसे प्रमुख हूँ। ऐसे गुण से युक्त उस अनेक रूपों में अवस्थित और बहुत सी वस्तुओं को अपने अन्दर आवेशित करने वाली मुझको देवताओं ने विभिन्न स्थानों में रखा है। अर्थात् भिन्न देवताओं की जो पूजा की जाती है, वह वस्तुतः मेरी ही पूजा है।

व्याकरण —

राष्ट्री = 'राष्ट्री' शब्द से मतुप् अर्थ में इनि। स्त्रीलिंग में राष्ट्री।

संगमनी = सम्+गम्+ल्युट् (अन्)+डीप्।

चिकितुषी = कित्+क्वस् प्रत्यय + डीप्।

यज्ञियानाम्=यज्ञम् अहति अर्थ में यज्ञ+घ (इय) = यज्ञिय।

व्यदधुः = वि+धा धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

पुरुत्रा = पुरु+त्रल्+टाप् = पुरुत्रा।

भूरिस्थात्राम् = भूरि+स्था+तृच्+टाप्। लोक में डीप् होकर 'भूरिस्थात्री' रूप होगा।

भूर्यावेशयन्तीम् = भूरि+आ+णिजन्त दिश् धातु+शत्+डीप्।

विशेष = रॉथ, ग्रासमान और लुडविग ने 'चिकितुषी और यज्ञियानाम्' का अर्थ 'देवताओं को सबसे पहले जानने वाली' (The first to know the gods) किया है।

छन्द के अनुरोध से 'व्यदधुः' को 'वि अदधु' और 'भूर्यावेशयन्तीम्' को 'भूरि आवेशयन्तीम्' पढ़ना चाहिये।

मण्डल—१०

सूक्त—१२५

मन्त्र—४

संहिता पाठ

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।

अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥४॥

पदपाठ — मया। सोः। अन्नम्। अत्ति। यः। विऽपश्यति। यः। प्राणिति। यः। ईम्। शृणोति। उक्तम्। अमन्तवः। माम्। ते। उप। क्षियन्ति। श्रुधि। श्रुत। श्रद्धिऽवम्। ते। वदामि ॥

अन्वय — यः अन्नम् अत्ति सः मया, यः विपश्यति, यः प्राणिति, यः ईम् उक्तम् शृणोति। ये माम् अमन्तवः उपक्षियन्ति। श्रुत! श्रुधिः श्रद्धिवम् ते वदामि।



दयानन्द भाष्य —

(मया) मयाऽनुमोदितः (सः—अन्नम्—अत्ति) स भोजनं भक्षयति (सः—विपश्यति) स विशिष्टं पश्यति (यः प्राणिति) यः प्राणं गृह्णाति (यः—ईम्—उक्तं शृणोति) यश्चोक्तं वचनं शृणोति (माम्—अमन्तवः) मां न मन्यमानाः (ते—उपक्षियन्ति) ते खलूपक्षयं प्राप्नुवन्ति (ते) तुभ्यम् (श्रद्धिवनं वदामि) श्रद्धायुक्तं वचनं वदामि (श्रुत श्रुधि) विश्रुत—श्रवणे प्रसिद्ध! मम वचनं शृणु ॥४॥

हि० भावार्थ — जो खाने वाली—देखने वाली, सुनने वाली, परमेश्वरी ज्ञानशक्ति को नहीं मानते तदनुसार आचरण नहीं करते वे क्षीण हो जाते हैं, यह सत्य है ॥४॥

सायण भाष्य — योऽन्नमति स भोक्तृशक्तिरूपया मयैवान्नमति! यश्च विपश्यति आलोकयतीत्यर्थः। यश्च प्राणिति श्वासोच्छ्वासरूपं व्यापारं करोति सोऽपि मयैव। यश्चोक्तं शृणोति। य ईदृशीमन्तर्यामिरूपेण स्थितां मां न जानन्ति ते अमन्तवः अमन्यमानाः अजानन्तः उपक्षियन्ति उपक्षीणाः संसारेण हीनाः भवन्ति। मामन्तवः मद्दिषयज्ञानरहिता इत्यर्थः हे! श्रुत विश्रुत सखे श्रुधि मया वक्ष्यमाणं शृणु। किं तच्छ्रोतव्यम् श्रद्धिवम्। श्रद्धिः श्रद्धा तया युक्तम्। श्रद्धायत्नेन लक्ष्यमित्यर्थः। ईदृशं ब्रह्मात्मकं वस्तु ते तुभ्यं वदामि उपदिशामि।

शब्दा० — अन्नम् अत्ति = अन्न को खाता है, सांसारिक भोगों को भोगता है, प्राणिति = श्वास लेता है, अमन्तवः = न मानने वाला, न जानने वाले, उपक्षियन्ति = हीनता को प्राप्त होते हैं, श्रुधि = सुनो, श्रुत = विद्वान्, श्रद्धिवं = श्रद्धा से प्राप्त होने योग्य वचन को।

हिन्दी व्याख्या — इस जगत् में जो भी व्यक्ति अन्न को खाता है अर्थात् सांसारिक भोगों को भोगता है, वह मेरे द्वारा ही अन्न का भोग करता है, जो देखता है वह मेरे द्वारा ही देखता है, जो श्वास लेता है, वह मेरे द्वारा लेता है और जो भी कहे गये वचनों को सुनता है, वह मेरे द्वारा सुनता है। जो व्यक्ति इस प्रकार से अन्तर्यामी रूप से अवस्थित मुझको नहीं जानते या मानते वे संसार में हीनता को प्राप्त होते हैं। हे विद्वान् मित्र! सुनो। श्रद्धा से प्राप्त होने योग्य वचन का मैं उपदेश देती हूँ।

व्याकरण —

प्राणिती = प्र+अन् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

अत्ति = अद् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

अमन्तवः = न+मन् धातु से औणादिक 'तु' प्रत्यय = अमन्तु। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

श्रुधि = 'श्रु' धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन। वैदिक रूप।

क्षियन्ति = क्षि धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

श्रद्धिवम् = श्रत् सत्यं दधाति अर्थ में श्रत्+धा+कि = श्रद्धि। श्रद्धिः अस्य अस्ति अर्थ में व प्रत्यय = श्रद्धिव।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

**विशेष** = सायण के अर्थ को स्वीकार करते हुये भी पाश्चात्य विद्वानों ने अन्वय दूसरी प्रकार से करके यह अर्थ किया है — जो देखता है, जो श्वास लेता है और जो सुनता है, वह मेरे द्वारा ही अन्न को खाता है।

**मण्डल—१०****सूक्त—१२५****मन्त्र—५****संहिता पाठ**

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।

यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥५॥

**पदपाठ** — अहम् । एव । स्वयम् । इदम् । वदामि । जुष्टम् । देवेभिः । उत । मानुषेभिः । यम् । कामये । तम् । उग्रम् । कृणोमि । तम् । ब्रह्माणम् । तम् । ऋषिम् । तम् । सुमेधाम् ।

**अन्वय** — अहम् स्वयम् एव देवेभिः उत मानुषेभिः जुष्टम् इदम् वदामि । यम् कामये तम् तम् उग्रम् कृणोमि । तम् ब्रह्माणम्, तम् ऋषिम्, तम् सुमेधाम् ।

**दयानन्द भाष्य —**

(अहम्—एव स्वयम्—इदं वदामि) अहं हि खल्वेवेदं स्वयं वदामि (देवेभिः—उत मानुषेभिः—जुष्टम्) ऋषिभिः—अथ च मनुष्यैः सेवितम् (यं कामये) यं हि खल्विच्छामि पात्रं मन्ये (तं तम्—उग्रम्) तं तमुच्चम् (तं ब्रह्माणम्) तं ब्रह्माणम् (तम्—ऋषिम्) तमृषिम् (तं सुमेधाम्) तं सुष्टुमेधावन्तम् (कृणोमि) करोमि सम्पादयामि ॥५॥

**हि०भावार्थ** — पारमेश्वरी ज्ञान शक्ति ही देवों और साधारण मनुष्यों के द्वारा सत्संग में आये मनुष्य को तेजस्वी बनाती है, ब्रह्मा बनाती है, ऋषि बनाती है, अच्छी मेधावाली बनाती है ॥५॥

**सायण भाष्य —**

अहम् स्वयमेवेदं वस्तु ब्रह्मात्मकं वदामि उपदिशामि । देवेभिः देवैरिन्द्रादिभिरपि जुष्टं सेवितमुत अपि च मानुषेभिः मनुष्यैरपि जुष्टम् । ईदृग्वस्त्वात्मिकाहं यं कामये यं पुरुषं रक्षितुमहं वाञ्छामि तं तं पुरुषमुग्रं कृणोमि । सर्वेभ्योऽधिकं करोमि । तमेव ब्रह्माणं स्रष्टारं करोमि । तमेव ऋषिमतीन्द्रियार्थदर्शिनं करोमि । तमेव सुमेधां शोभनज्ञं च करोमि ।

**शब्दा०** — जुष्टम् = सेवित, कामये = चाहती हूँ, उग्रम् = प्रचण्ड, ब्रह्माणम् = सृष्टि की रचना करने वाला ब्रह्मा, ऋषिम् = भूत भविष्य का द्रष्टा, सुमेधाम् = उत्तम बुद्धि वाला ।

**हिन्दी व्याख्या** — मैं स्वयं ही इन्द्र आदि देवताओं के द्वारा और मनुष्यों के द्वारा सेवित इस ब्रह्माण का उपदेश करती हूँ । मैं जिस पुरुष को चाहती हूँ, उसको प्रचण्ड या सर्वश्रेष्ठ बना देती हूँ । उसको मैं सृष्टि की रचना करने वाला ब्रह्मा, भूत-भविष्य का द्रष्टा ऋषि और उत्तम बुद्धि वाला बना देती हूँ ।



व्याकरण —

जुष्टम् = जुष्+क्त = जुष्ट

देवेभिः, मानुषेभिः = वैदिक रूप हैं। लोक में देवैः, मानुषैः रूप होंगे।

कृणोमि = वैदिक रूप हैं। लोक में 'करोमि' रूप होता है।

सुमेधाम् = वैदिक रूप है। लोक में 'सुमेधसम्' रूप बनेगा।

कामये = कम् धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन।

विशेष = ब्रह्मा को सृष्टि की रचना करने की सामर्थ्य वाक् देवी की विशेष कृपा से ही प्राप्त हुई है। उसमें यह सामर्थ्य स्वाभाविक रूप से नहीं थी। अतः सभी देवता उस देवी की कृपा के इच्छुक रहते हैं। मनुष्यों को भी अप्रत्यक्ष ज्ञान की सामर्थ्य वाक् देवी की कृपा से प्राप्त होती है। उसी की कृपा से वे उत्तम बुद्धिशाली होते हैं।

मण्डल-१०

सूक्त-१२५

मन्त्र-६

संहिता पाठ

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।

अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥६॥

पदपाठ — अहम्। रुद्राय। धनुः। आ। तनोमि। ब्रह्मद्विषे। शरवे। हन्तवा। ॐ इति।

अहम्। जनाय। समदम्। कृणोमि। अहम्। द्यावापृथिवी। आ। विवेश।

अन्वय — ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवै अहम् रुद्राय धनुः आतनोमि। अहम् जनाय समदम् कृणोमि। अहम् द्यावापृथिवी आविवेश।

दयानन्द भाष्य —

(ब्रह्मद्विषे रुद्राय शरवे) ब्राह्मणानां द्वेष्टारं क्रूरं हिंसकम् सर्वत्र द्वितीयायां चतुर्थी व्यत्ययेन' (हन्तवै-उ) हन्तुं खलु 'तुमर्थे से .... तवै तवेड् तवेनः' [अष्टा० ३।४।९] इति तवै प्रत्ययः (अहं धनुः-आतनोमि) अहं धनुः साधयामि (अहं जनाय समदं कृणोमि) अहं जनमात्राय-जनहितार्थे तदहितकारिणा सह संग्रामं करोमि 'सम् पूर्वकात्' 'मद तृप्तियोगे' [चुरादि०] क्विप्-अन्योऽन्यस्य रक्तपातं कृत्वा सम्यक् तृप्यन्ति यत्र स संग्रामः' (अहं द्यावापृथिवी) (आविवेश) अहं द्युलोकपृथिवीलोकञ्च समन्तात्प्रविश्य तिष्ठामि॥६॥

हि०भावार्थ — पारमेश्वरी ज्ञान शक्ति ब्राह्मण के प्रति द्वेष करने वाले क्रूर हिंसक जन को हनन करने के लिए धनुष शास्त्र को सिद्ध करना चाहिये और संग्राम में चलाना चाहिये। वह द्यावा पृथिवीमय सब जगत् में आविष्ट होकर वर्तमान है॥६॥

सायण भाष्य —

पुरा त्रिपुरविजयसमये रुद्राय रुद्रस्य। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। महादेवस्य धनुश्चापमहमातनोमि ज्यया आततं करोमि। किमर्थम्। ब्रह्मद्विषे ब्राह्मणानां द्वेष्टारं शरवे



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

शरु हिंसकं त्रिपुरनिवासिनमसुरं हन्तवै हन्तुं हिंसितुम् । उ शब्दः पूरकः । अहमेव समदम् । समानं माद्यन्त्यस्मिन्निति समत्संग्रामः । स्तोतृजनार्थं शत्रुभिः सह संग्राममहमेव कृणोमि करोमि । तथा द्यावापृथिवीं दिवं च पृथिवीं चान्तर्यामितया अहमेवाविवेश प्रविष्टवती ।

शब्दा० — आतनोमि = प्रत्यञ्चा को चढ़ाती हूँ, ब्रह्मद्विषे = ब्रह्म, वेदों या ब्राह्मणों से द्वेष करने वाले, शरवे = हिंसक असुर के, हन्तवै = मारने के लिये, समदम् = युद्ध, कृणोमि = करती हूँ, आविवेश = व्याप्त हो रही हूँ ।

हिन्दी व्याख्या — ब्रह्म से अर्थात् वेदों से या ब्राह्मणों से द्वेष करने वाले हिंसक त्रिपुरनिवासी असुरों को मारने के लिये मैं रुद्र के धनुष की प्रत्यञ्चा को चढ़ाती हूँ । अर्थात् रुद्र को मैं यह प्रेरणा देती हूँ कि हिंसक असुरों को मारने के लिये वह धनुष को चढ़ावे । मैं अपने जनों के लिये अर्थात् उनका कल्याण करने के लिये उनके शत्रुओं के साथ युद्ध करती हूँ । अर्थात् उनको युद्ध के लिये प्रेरित करती हूँ । मैं ही द्युलोक और पृथिवी लोक में व्याप्त हो रही हूँ ।

व्याकरण —

- रुद्राय = यहाँ वैदिक व्यत्यय से षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी ।  
 ब्रह्मद्विषे = ब्रह्म द्वेष्टि अर्थ में ब्रह्म+द्विष्+क्विप् । चतुर्थी का एकवचन ।  
 शरवे = शृ हिंसायाम्, धातु से "शृस्वृस्निहि०" उणादि सूत्र में 'उ' प्रत्यय । शरु । चतुर्थी विभक्ति का एकवचन ।  
 कृणोमि = कृ धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन । वैदिक रूप ।  
 हन्तवै = 'हन्' धातु से 'तुमुन्', के अर्थ में वैदिक 'तवै' प्रत्यय ।  
 समदम् = समानं माद्यन्ति अस्मिन् अर्थ में स+मद्+क्विप् = समद् । द्वितीया का एकवचन ।

विशेष = पीटर्सन ने यहाँ 'ब्रह्म' का अर्थ परमात्मा और 'शरु' का अर्थ बाण किया है । उसके अनुसार यह अर्थ होगा — That this arrow may slay all that hate God. । छन्द के अनुरोध से 'कृणोम्यहम्' को 'कृणोमि अहम्' पढ़ना चाहिये ।

मण्डल—१०

सूक्त—१२५

मन्त्र—७

संहिता पाठ

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्म योनिरप्स्वऽन्तः समुद्रे ।

ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥१॥

पदपाठ — अहम् । सुवे । पितरम् । अस्य । मूर्धन् । मम । योनिः । अप्सु । अन्तरिति । समुद्रे । ततः । वि । तिष्ठे । भुवना । अनु । विश्वा । उत । अमूम् । द्याम् । वर्ष्मणा । उप । स्पृशामि ।

अन्वय — अस्य मूर्धन् पितरम् अहम् सुवे । समुद्रे अप्सु अन्तः मम योनिः । ततः विश्वा



भुवना अनु वितिष्ठे । उत अमूम् द्याम् वर्षणा उपस्पृशामि ।

दयानन्द भाष्य —

(अस्य मूर्धन् पितरम्—अहं सुवे) अस्य जगतो मूर्धस्थाने खलूत्कृष्टभागे स्थितं पालकं सूर्यम् 'एष वै पिता य एष सूर्यः—तपति' [श० १४।१।४।१५] अहं जनयामि—उत्पादयामि (मम योनिः—अप्सु समुद्रे—अन्तः) मम गृहम् 'योनिः—गृहनाम' [निघ० ३।४] व्यापनशीलेषु परमाणुषु तथाऽन्तरिक्षे महत्याकाशेऽस्ति 'समुद्रः अन्तरिक्ष नाम' [निघ० १।३] (ततः—विश्वा भुवना—अनुवितिष्ठे) तत एव सर्वाणि लोकलोकान्तराणि खल्वनुगत्य व्याप्य तिष्ठामि (इत—ऊ द्यां वर्षणा—उपस्पृशामि) अत एव द्युलोकं वर्षणधर्मणा स्पृशामि ॥७॥

हि०भावार्थ — पारमेश्वरी ज्ञान शक्ति जगत् के ऊपर वर्तमान् पालक सूर्य को उत्पन्न करती है और वह परमाणुओं तथा महान् आकाश के अन्दर व्याप्त है, सब लोकलोकान्तरों में निविष्ट है, द्युलोक से मेघमण्डल से वर्षा कराती है ॥७॥

सायण भाष्य —

द्यौः पितेति श्रुतेः, पिता द्यौः । पितरं दिवमहं सुवे प्रसुवे जनयामि । आत्मनः आकाशः सम्भूत इति श्रुतेः (तै०आ० ७.१) । कुत्रेति तदाह । अस्य परमात्मनः मूर्धन् मूर्धनि परमकारणभूते । तस्मिन् हि वियदादिकार्यजातं सर्वं वर्तते तन्तुषु पट इव । मम च योनिः कारणं समुद्रे । समुद्रवन्त्यस्माद् भूतजातानीति समुद्र परमात्मा । तस्मिन्नप्सु व्यापनशीलासु धीवृत्तिष्वन्तर्मध्ये यद् ब्रह्म चैतन्यं तत्तम कारणमित्यर्थः । यत् ईदृग्भूताहमसिम ततो हेतोर्विश्वा विश्वानि सर्वाणि भूतानि भूतजातान्यनु प्रविश्य वितिष्ठे । विविधं व्याप्य तिष्ठामि । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् (पाणिनि १.३.२२) उत अपि च श्रमूं द्यां विप्रकृष्टदेशेऽवस्थितं स्वर्गलोकम् । उपलक्षणमेतत् । एतदुपलक्षितं कृत्स्नं विकारजातं वर्षणा कारणभूतेन मायात्मकेन मदीयेन देहेन उपस्पृशामि । यद्वा अस्य भूतस्य मूर्धन्मूर्धनि उपरि अहं पितरमाकाशं सुवे । समुद्रे जलधौ अप्सु उदकेषु अन्तर्मध्ये मम योनिः कारणभूतोऽम्भृणाख्य ऋषिवर्तते । यद्वा । समुद्रेऽन्तरिक्षेऽसु अम्मयेषु देवशरीरेषु मम कारणभूतं ब्रह्म चैतन्य वर्तते । ततोऽहं कारणात्मिका सती सर्वाणि भुवनानि व्याप्नोमि । अन्यत्समानम् ।

शब्दा० — सुवे = उत्पन्न करती हूँ, पितरम् = द्युलोक को, आकाश को, मूर्धन् = शिरोस्थानीय, योनिः = कारण रूप है, अप्सु अन्तः = व्यापनशील बुद्धियों में, जलों में, समुद्रे = परमात्मा में, समुद्र में, अनुवितिष्ठे = विविध रूप से व्याप्त किये हुये हूँ, भुवना = भुवनों में, पञ्च महाभूतों में, विश्वा = सम्पूर्ण, वर्षणा = सर्वत्र व्याप्त होने वाले कारणभूत शरीर से, उपस्पृशामि = स्पर्श कर रही हूँ ।

हिन्दी व्याख्या — इस ब्रह्म के शिरोस्थानीय द्युलोक को अथवा इस ब्रह्म के सिर पर आकाश को मैं उत्पन्न करती हूँ । समुद्र अर्थात् परमात्मा में जो अप् अर्थात् व्यापनशील बुद्धियाँ हैं, उनमें मेरा ही कारण है । अथवा समुद्रों में, जलों में मैं ही कारण रूप से विद्यमान हूँ अथवा समुद्र अर्थात् अन्तरिक्ष और जल शरीर देवों में कारण हूँ । इसलिये



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

सम्पूर्ण भुवनों अर्थात् अन्तरिक्ष और जलशरीर देवों में कारण हूँ। इसलिये सम्पूर्ण भुवनों अर्थात् पञ्चमहाभूतों में प्रविष्ट होकर मैं ही उनको विविध रूप से व्याप्त किये हुये हूँ और इस द्युलोक को मैं सर्वत्र व्यापक होते हुये अपने कारणभूत शरीर से स्पर्श कर रही हूँ।  
व्याकरण —

मूर्धन्	= सप्तमी विभक्ति का एकवचन। व्यत्यय से विभक्ति का वैदिक लोप।
सुवे	= षू (सू), लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन। वैदिक रूप।
तिष्ठे	= स्था धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन। वैदिक रूप।
वर्ष्मणा	= वर्षति ददाति सुख-दुःखे जीवात्मने अर्थ में 'वृषु सेचने' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय। वृष् = मनिन् (मन्) = मनिन् (मन्) = वर्ष्मन्। तृतीया विभक्ति का एकवचन।

विश्वाभुवना= विश्व तथा भुवन शब्द, (नपुंसकलिंग), द्वितीया विभक्ति, बहुवचन।  
वैदिक रूप। लोक में विश्वानि और भुवनानि होगा।

विशेष = रॉथ ने 'वर्ष्मणा' की निष्पत्ति उसी प्रकार की है, जैसे वर्षीयस् और वर्षिष्ठ की होती है। उसने वर्ष्मणः का अर्थ किया है — (१) Height, highest space और (२) The crown (of the head)। छन्द के आग्रह से 'अप्स्वन्तः' को 'अप्सु अन्तः' और 'विश्वोता०' को 'विश्वाउता' पढ़ना चाहिये।

मण्डल—१०

सूक्त—१२५

मन्त्र—८

संहिता पाठ

अहमेव वातं इव प्र वांम्यारभमाणा भुवंनानि विश्वा।

परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥८॥

पदपाठ — अहम् एव। वातं इव। प्र। वांमि। आरभमाणा। भुवंनानि। विश्वा। परः।  
दिवा। परः। एना। पृथिव्या। एतावती। महिना। सम्। बभूव॥

अन्वय — अहम् एव विश्वा भुवनानि आरभमाणा वात इव प्रवामि। दिवा परः एना पृथिव्या परः महिना एतावती संबभूव।

दयानन्द भाष्य —

(अहं विश्वा भुवनानि—आरभमाणा) अहं सर्वाणि लोक लोकान्तराणि निर्माणं कुर्वाणा तद्धेतोः (वातः—इव प्रवामि) वेगवान् वायुरिव प्रगतिं करोमि (दिवा परः) द्युलोकात्परः (एना पृथिव्या परः) अस्याः पृथिव्याः परः (महिना—एतावती सम्बभूव) स्व महिम्ना खल्वेतावती स्वामिनी पारमेश्वरी—आम्भृणी वागस्मि ॥८॥

हि० भावार्थ — पारमेश्वरी ज्ञान शक्ति लोकलोकान्तरों को उत्पन्न करने के हेतु वायु वेग के समान वेग से गति करती है, द्युलोक से परे और पृथिवी लोक से परे अपनी महिमा से विराजमान है ॥८॥



## वाक् सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१२५)

सायण भाष्य —

विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि कार्याणि आरभमाणा कारणरूपेणोत्पादयन्ती अहमेव परेणानधिष्ठिता स्वयमेव प्रवामि प्रवर्ते। वात इव। यथा वातः परेणाप्रेरितः सन् स्वेच्छयैव प्रवाति तद्वत्। उक्तं सर्वं निगमयति। परो दिवा। पर इति सकारान्तं परस्तादित्यर्थे वर्तते यथाघ इत्यधस्तादर्थे। यद्योगे च तृतीया सर्वत्र दृश्यते। दिव आकाशस्य वरस्तात्। एना पृथिव्या। द्वितीयाहौः स्वेन इतीदम् एनादेशः। अस्याः पृथिव्या परः परस्तात्। द्यावापृथिव्योरुपादानमुपलक्षणम्। एतदुपलक्षितात्सर्वस्माद्विकार-जातात्परस्ताद्वतमाना सङ्गोदासीनकूटस्थब्रह्मचैतन्यरूपाहं महिना महिम्ना एतावती संबभूव। एतच्छब्देनोक्तं सर्वं परामृश्यते। सर्वजगदात्मनाहं संभूतास्मि। महिना इत्यत्र महच्छब्दादिमनिचि टेरिति टि लोपः। छान्दसो मकार लोपः।

शब्दा० — वात इव = वायु के समान, वामि = प्रवृत्त होती हूँ, आरभमाणा = उत्पन्न करती हुई, भुवनानि = लोकों को, पञ्च महाभूतों को, दिवा परः = द्युलोक से परे, एना = इस, एतावती = इतने बड़े परिमाण वाली, महिना = महिमा से, संबभूव = हो जाती हूँ।

हिन्दी व्याख्या — मैं ही सारे लोकों को या पञ्च महाभूतों को उत्पन्न करती हुई वायु के समान प्रवृत्त होती हूँ अर्थात् उनमें वायु के समान व्याप्त हो जाती हूँ। द्युलोक से परे और इस पृथिवी लोक से भी परे और इनको अतिक्रान्त करती हुई मैं अपनी महिमा से इतने बड़े परिमाण वाली हो जाती हूँ।

व्याकरण —

आरभमाणा = आ+रभ+शानच्+टाप्।

परः = 'पुरस्तात्' के अर्थ में सकारान्त अव्यय।

एना = 'इदम्' शब्द के स्थान पर 'एन' आदेश। तृतीया का एकवचन। वैदिक रूप। लोक में 'एनेन' बनेगा।

एतावती = एतत् परिमाणम् अस्याः अर्थ में एतद्+मतुप्+ डीप्+ ई। "आ सर्वनाम्नः" सूत्र से 'एतद्' के 'द्' को 'आ' आदेश। 'म' को 'व' आदेश।

महिना = 'महत्' शब्द से 'इमनिच्' प्रत्यय। महत्+इमनिच्। 'टि' का और इमनिच के 'म' को लोप होकर मह+इन्=महिन्। तृतीया का एकवचन।

विशेष = इस मन्त्र के द्वारा ब्रह्म को जानने वाली वाक् देवी में लोकान्तरों और पञ्चमहाभूतों का सृजन करने की क्षमता अभिव्यक्त होती है।

छन्द के आग्रह से 'वाम्यारभमाणा' को 'वामि आरभमाणा' तथा 'पृथिव्यैतावती' को 'पृथिव्या एतावती' पढ़ना चाहिये।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****रात्रि सूक्त****ऋषि—सोभरी—पुत्र कुशिक,****देवता—रात्रि,****छन्द—गायत्री****मण्डल १०****सूक्त १२७****मंत्र १****संहिता—पाठः**

रात्रो व्यख्यंदायतो पुरुत्रो देव्याक्षभिः । विश्व अधि श्रियोऽधित ॥

**पद—पाठः**

रात्री । वि । अरुयत् । आयती । पुरुत्रा । देवी । अक्षभिः । विश्वाः । अधि । श्रियः । अधित ॥ १ ॥

अन्वय — आयती अक्षभिः पुरुषा देवी रात्री व्यख्यत् विश्वाः श्रियः अधि अधित ।

**दयानन्द—भाष्य —**

पदार्थ — (आयती रात्री देवी) आगच्छन्ती रात्रिर्देवी (अक्षभिः) अक्षिसदृशैर्नक्षत्रैः सह (व्यख्यत्) आत्मानं विशेषेण व्यापयति (विश्वाः धियः) सर्वाः—श्रियः शोभाः (अधि—अधित) अधिदधाति—स्वाश्रयेधरयति, विविध नक्षत्रैर्मण्डितस्य गगनस्य शोभ रात्रावेव दृश्यते इति प्रत्यक्षं हि मनुष्याणां दिने श्रान्तानां स्वास्थ्यशोभाऽपि रात्रावेव प्राप्यते, तरुणां पुष्पाणि खल्वपि विकसन्ति पुष्पयन्ति वा ॥ १ ॥

भावार्थ — रात्रि जब आती है तो आकाश के नक्षत्रों के द्वारा अपने को दर्शाती है, समस्त शोभाओं को अपने अन्दर धारण करती है अर्थात् समस्त शोभाओं को रात्रि पुष्ट करती है, आकाश की शोभा नक्षत्रों द्वारा रात्रि को ही दिखाई देती है, मनुष्यों के दिन में थकान की ग्लानि स्वस्थता के रूप में भासित होती है, वृक्षों के फूल भी रात्रि में ही विकसित होते हैं ॥ १ ॥

**सायण—भाष्य**

आयती आगच्छन्ती आङ्पूर्वादिते शतर्यदादित्वाच्छपो लुक् । "इको यण" (पा०सू० ६.४.८१ इति यणादेशः । "उगितश्च" (पा०सू० ४.१.६) इति डीप् । "शतुरनुम" इति तदाद्युदात्तत्वम् । अक्षभिः अक्षिस्थानीयैः प्रकाशमानैः नक्षत्रैः । "छन्दस्यापि दृश्यते" इत्यक्षिशब्दस्यानडादेशः । यद्वा अक्षभिरञ्जकैः तेजोभिः । पुरुत्रा बहुषु देशेषु देवी देवनशीला देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यः" इत्यादिना पुरुशब्दात् सप्तम्यर्थे त्रा प्रत्ययः । रात्री इयं रात्रिदेवता व्यख्यत् विचष्टे विशेषेण पश्यति । "रात्रेश्चाजसो" (पा० सू० ४.१.३१) इति डीप् । ख्यातेश्छान्दसे लुङि । "अस्यतिवक्ति०" इत्यादिना च्लेरडादेशः । अपि चैषा । विश्वाः सर्वाः श्रियः शोभाः अधि अधित अधिधारयति । "दधातेर्लुङिस्थाध्वोरिच्च" इतीत्वम् । सिचः कित्त्वम् । "ह्रस्वादङ्गातू" इति सिची लोपः ।

शब्दार्थ — व्यख्यत् = विशेष रूप से देखती है । आयती = आती हुई । पुरुत्रा = बहुत से स्थानों पर । देवी = दैदीप्यमान होती हुई । अक्षभिः = आँखों के समाने



## रात्रि सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१२७)

प्रकाशमान नक्षत्रों से। विश्वा = सारी। श्रियः = शोभाओं को। अधि अधित = धारण करती है।

**व्याकरण —**

आयती — आ+ङ्गत्तौ = शतृ+ङीप् = आयती।

रात्री — रात्रि + ङीप् = रात्री।

व्यख्यत — वि+ख्या, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

विशेष — मैक्डानल के अनुसार अक्षभिः = आँखों से (with eyes)।

मण्डल १०

सूक्त १२७

मंत्र २

**संहिता—पाठः**

ओर्वप्रा अमर्त्या निवतो दव्यु। दवतः।

ज्योतिषां बाधते तमः॥

**पद—पाठः**

आ। उरु। अप्राः। अमर्त्या। निवतः। देवी। उत्वतः। ज्योतिषाः। बाधते।

तमः॥२॥

अन्वय — अमर्त्या देवी उरु आ अप्राः। निवतः उद्वतः तमः ज्योतिषा बाधते।

**दयानन्द—भाष्य —**

पदार्थ — (अमर्त्या) स्वरूपतो नित्या (देवी) रात्रिर्देवी (उद्वतः — निवतः — उरु — आ — अप्राः) उद्वतान् प्रदेशान् निम्नगतान् प्रदेशान् च समन्तात् खलु बहु पूरयति व्याप्नोति (ज्योतिषा तमः — बाधते) रात्रौ गगन ज्योतिषा तमो निवारयति, अपि तु शयनं कारयित्वा मनसि वर्तमानस्यान्धकारस्य जाड्यस्य पूर्ण विश्रामं प्रदाय मानसं तमो निवारयति॥२॥

भावार्थ — रात्रि शाश्वत है, आरम्भ सृष्टि से चली आती है, ऊँचे स्थानों और नीचे स्थानों को व्यापती है, उन्हें एक रूप में दिखाती है, नक्षत्र समूह की ज्योति से अन्धकार को हटाती है तथा सुलाकर — निद्रा लाकर मन में विद्यमान अन्धकार व जड़ता को विश्राम देकर हटाती है, रात्रि को शयन ही करना चाहिए॥२॥

**सायण—भाष्य**

अमर्त्या मरणरहिता देवी देवनशीला रात्रिः उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षम् आ अप्राः। प्रथमतस्तमसा पूरयति। 'प्र पूरणे'। अदादिकलङ्घित्ययेन समासः। तथा निवृतः नीचीनाल्लतागुल्मादीन् उद्वतः उत्थितान् वृक्षादीश्च स्वकीयेन तेजसा वृणोति। तदनन्तरं तत् तमः अन्धकारं ज्योतिषा ग्रहनक्षत्रादिरूपेण तेजसा बाधते पीडयति।

शब्दार्थ — उरु = विस्तीर्ण अन्तरिक्ष को। आ अप्राः = अन्धकार से आवृत करती है। अमर्त्या = कभी न मरने वाली। देवी = कान्ति से युक्त रात्रि। निवतः = नीचे स्थानों



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

के। उद्वतः = ऊँचे स्थानों के। ज्योतिषा = प्रकाशमान ग्रह नक्षत्र आदि से। बाधते = नष्ट करती है। तमः = अन्धकार को।

हिन्दी व्याख्या — कभी न मरने वाली कान्ति से युक्त रात्रि विस्तीर्ण अन्तरिक्ष को पहले अन्धकार से आवृत करती है। तदनन्तर नीचे स्थानों के या लता गुल्म आदि के और ऊँचे स्थानों के या वृक्ष आदि के अन्धकार को अपने तेज से या प्रकाशमान ग्रह नक्षत्र आदि से नष्ट करती है।

विशेष — मैक्डानल के अनुसार निवतः उद्वतः = गहराइयाँ और ऊँचाइयाँ (the depths and the heights)।

मण्डल १०

सूक्त १२७

मंत्र ३

संहिता-पाठः

निरु स्वसारमकृतोषसं देव्यायती। अपेदुं हासते तमः॥

पद-पाठः

निः। ऊँ इति। स्वसारम्। अकृत। उषसम्। देवी। आयती। अपं। इत्। ऊँइति। हासते। तमः॥३॥

अन्वय — आयती देवी स्वसारम् निः उषसम् निः अकृत। उ तमः अप इत् हासते।

दयानन्द-भाष्य —

पदार्थ — (देवी-आयती) रात्रिर्देवी खल्वागच्छन्ती सती (उषसं-स्वसारम्- निर-अकृत) उषसं रात्रेः पश्चादागमनशीलामुषसं प्रभातबेलां निष्करोति-संस्करोति स्वाश्रये ह्युषसं सुशोभमानां करोति (तमः-इत्-उ-अपहासते) अन्धकारः खल्वपि-अपगच्छति दूरीभवति "ओहाङ्गतौ लेट् लकारे सिप्; रात्रिरुषसं बलं प्रयच्छति प्रकाशनाय रात्रेरपरेकाले ह्युषसः प्रशंसा भवति नान्यथा"॥३॥

भावार्थ — रात्रि आती है तो उसके पीछे चलती हुई भगिनि जैसी उषा के आने पर रात्रि का अन्धकार भाग जाता है, उषा की शोभा रात्रि के आश्रय पर है॥३॥

सायण-भाष्य

आयती आगच्छन्ती देवी देवनशीला रात्रिः स्वसारं भगिनीम् उषसं निः अकृत निष्करोति। प्रकाशेन संस्करोति। निवर्तयतीत्यर्थः। तस्यामुषसि जातायां नैशं तमः अपेत् हासते अपैव गच्छति। "ओहाङ् गतौ" लेट्यङागम। "सिब्वहुलं" इति सिप्।

शब्दार्थ — स्वसारम् = बहन। निःअकृत = निराकृत कर देती है। उषसम् = उषा को। आयती = आती हुई। उ = और। अप इत् हासते = दूर ही हो जाता है।

हिन्दी व्याख्या — आती हुई दैदीप्यमान् रात्रि अपनी बहन उषा को निराकृत कर देती है अर्थात् लौटा देती है और उसके आने पर अन्धकार दूर ही हो जाता है।



## रात्रि सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१२७)

व्याकरण —

हासते — 'ओहाङ्गतौ' धातु लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

मण्डल १०

सूक्त १२७

मंत्र ४

संहिता-पाठः

सा नौ अद्य यस्या वयं नि ते यामन्नविक्ष्महि। वृक्षे न वसति वयः॥४॥

पद-पाठः

सा। नः। अद्य। यस्याः। वयम्। नि। ते। यामन्। अविक्ष्महि। वृक्षे। न। वसतिम्। वयः॥४॥

अन्वय — अद्य सा नः यस्याः ते यामन् वयम् नि अविक्ष्महि। वृक्षे वयः वसतिम् न।

दयानन्द-भाष्य —

पदार्थ — (सा नः-अद्य) सा त्वं रात्रिरस्मभ्यमद्य प्रतिदिनं कल्याणकारिणी भव (यस्याः-ते-यामन् वयं नि-अविक्ष्महि) यस्यास्तव यामनि प्रापणे वयं सुखं निविशेमहि अत्र "बहुलं छन्दसि" [अष्टा. २।४।७३] इति शपो लुक् (वृक्षे न वसति वयः) वृक्षे वासं नीडं प्रति यथा पक्षी निविशते तथैव रात्रिरस्मदर्थं सुखशायिका भवेत्॥४॥

भावार्थ — रात्रि मनुष्यों के लिए कल्याणकारिणी आती है जिसके आने पर मनुष्य निदिष्ट हो जाते हैं जैसे पक्षी अपने घोंसले में निविष्ट हो जाता है॥४॥

सायण-भाष्य

अद्य अस्मिन् काले नः अस्माकं सा रात्री देवता प्रसीदतु यस्याः रात्रेः यामन् यामनि प्राप्तौ सत्यां वयं नि अविक्ष्महि निविशामहे सुखेन गृहम् आस्महे। विशेषलङि "नेविशः" (पा०सू० १.३.१७) इत्यात्मने पदम्। छान्दसः शपो लुक्। तत्र दृष्टान्तः। वयः पक्षिणः वृक्षे न यथा वृक्षे नीडाश्रये वसति रात्रौ निवासं कुर्वन्ति तथा निवासम् इत्यर्थः।

शब्दार्थ — यामन् = प्रहरों में। अविक्ष्महि = सुखपूर्वक रहते हैं। न = जिस प्रकार। वसतिम् = निवास। वयः = पक्षी।

हिन्दी व्याख्या — आज वह रात्रि हमारे प्रति प्रसन्न होवे, जिस तुम रात्रि के प्रहरों में हम उसी प्रकार सुखपूर्वक रहते हैं, जिस प्रकार वृक्ष पर पक्षीगण निवास करते हैं।

व्याकरण —

अविक्ष्महि — 'विश्' धातु की "नेविशः" से आत्मनेपद हुआ।

विशेष — 'यामन् नि अविक्ष्महि' का अर्थ मैक्डानल के अनुसार — घर को आते हैं (have come home)।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

मण्डल १०

सूक्त १२७

मंत्र ५

संहिता-पाठः

नि ग्रामांसो अविक्षत नि पदवन्तो नि पक्षिणः । नि श्येनासश्चिदर्थिनः ।

पद-पाठः

नि । ग्रामांसः । अविक्षत । निपतऽवन्तः । नि । पक्षिणः । नि । श्येनःसं चित् । अर्थिनः ॥५॥

अन्वय — ग्रामासः निः अविक्षत । पदवन्तः नि, पक्षिणः नि अर्थिनः श्येनासः चित् नि ।

दयानन्द-भाष्य —

पदार्थ — (ग्रामासः—नि—अविक्षत) जनसमूहा रात्रौ निविशमामाणाः शयनं कुर्वन्तु 'लोडर्थे लुङ्' (पदवन्तः—नि) पादवन्तः पशवो निविशमामाणाः शयनं कुर्वन्तु (पक्षिणः नि) पक्षिणोऽपि निविशमामाणाः शयनं कुर्वन्तु (श्येनासः—अर्थिनः—चित्— नि) शंसनीयगतिमन्तस्तीव्र गतिमन्तोऽपि रात्रौ—श्रान्तत्व—निवारणाय शयनं कुर्वन्तु ॥५॥

भावार्थ — रात्रि में मनुष्य पशु पक्षी शान्ति प्रयोजन साधने के लिए शयन करें ॥५॥

सायण-भाष्य

ग्रामासः ग्रामाः । अत्र ग्रामशब्दः जनसमूहे वर्तते यथा ग्राम आगत इति । सर्वे जना नि अविक्षत । तस्यां रात्रावागतायां निविशन्ते शेरते । न पूर्वाद्विशतेश्छान्दसे लुङि पूर्ववदात्मनेपदम् । "शल इगुपधादनिटःक्सः" (पा० सू० ३.१.४५) "क्सस्याचि" पा० सू० ७.३.७.२) इत्याकारलोपः । तथा पदवन्तः पादयुक्ता गवाश्वादयश्च निविशन्ते । तथा पक्षिणो पक्षोपेताश्च निविशन्ते । अर्थिनः । अर्तेरर्थो गमनम् । शीघ्रगमनयुक्ताः । श्येनासश्चित् श्येना अपि तस्यां रात्र्यां निविशन्ते । एषा रात्रिः सर्वाणि भूतजातान्यहनि संचारेण श्रान्तानि स्वयमागत्य सुखयतीत्यर्थः ।

शब्दार्थ — आमास = ग्रामवासी मनुष्य । नि अविक्षत = निविष्ट होकर सोते हैं । पदवन्तः = पैरो से युक्त गाय आदि । निपक्षिणः = पंखो वाले प्राणी । श्येनासः = बाज आदि पक्षी । अर्थिनः = तेज चलने वाले ।

हिन्दी व्याख्या — ग्रामवासी मनुष्य इस रात्रि में निविष्ट होकर सोते हैं, पैरों से युक्त गाय आदि पशु निवेशित होकर सोते हैं, पंखो वाले प्राणी निवेशित होकर सोते हैं और तेज चलने वाले बाज आदि पक्षी भी निविष्ट होकर रात्रि में सोते हैं ।

विशेष — मैकडानल के अनुसार न्यविक्षत = घर वापस चले गये हैं (home have gone) अर्थिनः = लालची (greedy) ।

मण्डल १०

सूक्त १२७

मंत्र ६

संहिता-पाठः

यावयां वृक्यंवृकै यवयं स्तेनमर्म्ये । अथा नः सुतरां भव ॥

पद-पाठः

यवयं । वृक्यंम् । वृकम् । यवयं । स्तेनम् । ऊर्म्ये । अथं । नः । सुत्तरां । भव ॥६॥



## रात्रि सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१२७)

अन्वय — ऊर्म्ये ! वृक्यम् यवय, स्तेनम् यवय । अथ नः सुतरा भव ।

दयानन्द-भाष्य —

पदार्थ — (ऊर्म्ये) हे रात्रे! “ऊर्म्या रात्रिनाम्” {निघ० १॥७} (वृक्यं वृकं यवय) वृकभार्या वृकं च घातकं जाङ्गलपशुमस्मत्तो निवारय स्वापय (स्तेनं-यवय) चोरञ्च यवयास्मत्तः पृथक्कुरु तं स्वापय (अथ न-सुतरा भव) अथ चास्मभ्यं सुखप्रदा भव ॥६॥

भावार्थ — रात्रि में मनुष्य सो जाते हैं सो जाने पर भेड़िये आदि जङ्गली पशु एवं चोरों के आक्रमण की सम्भावना रहती है, मानव की भावना है कि वे हमारे ऊपर आक्रमण न करें और सो जावें, या हम ऐसे गहरे न सोयें जिससे वे सता सकें ॥६॥

सायण-भाष्य

हे ऊर्म्ये । रात्रिनामैतत् । रात्रि । वृक्यं वृकस्य स्त्रियं वृकं च अस्मान् हिंसन्तं यवय । अस्मत्तो पृथक्कुरु । अस्मान् बाधितुं यथा न प्राप्नोति तथा । स्तेन तस्करं च यवय । अस्मत्ता वियोजय । अथ अनन्तरं च अस्माकं सुतरा सुखेन तरणीया क्षेमकरी भव ।

शब्दार्थ — यवय = पृथक् करो । वृक्यम् = भेड़िये की स्त्री की । वृकम् = भेड़िये को । स्तेनस् = चोर को । ऊर्म्ये = हे रात्रि । सुतरा = सुखपूर्वक तरणीय, कल्याणकारिणी ।

हिन्दी व्याख्या — हे रात्रि ! तुम हमसे भेड़िये की स्त्री को और भेड़िये को पृथक् करो अर्थात् वे हमारी हिंसा न करे । अथवा भेड़ियों के समान हिंसक व्यक्तियों को हमसे दूर रखो । चोर को हमसे पृथक् रखो । तदनन्तर हमारे लिये सुख पूर्वक तरणीय अर्थात् कल्याणकारिणी बनो ।

व्याकरण —

वृक्यम् — ‘वृकीम्’ के स्थान पर छान्दस रूप है । पूर्वरूप को हटाकर ‘यण्’ आदेश हुआ है ।

मण्डल १०

सूक्त १२७

मंत्र ७

संहिता-पाठः

उपं मा ऐपिंशनम् कृष्ण वक्त पस्थित । उष ऋणय यातय ॥७॥

पद-पाठः

उपं । मा । पेपिंशत् । तमः । कृष्णम् । विऽअक्तम् । अस्थित । उषः । ऋणाऽइव । यातय ॥७॥

अन्वय — पेपिंशत् कृष्णम् व्यक्तम् तम मा उप अस्थित । उषः ऋणा इव यातय ।

दयानन्द-भाष्य —

संस्कृतान्वयार्थ— (उषः) हे उषो वेले! (कृष्णं-तमः पेपिंशत्) स्वरूपं प्रयच्छती कृष्णतमश्चूर्णयति (व्यक्तं मा उपास्थित) मां पूर्णरूपेणोपतिष्ठते (ऋणा-इव-आतय) ऋणानि-इव तद्दूरीकुरु-अवतारय ‘रात्रेरनन्तरमुषा आगच्छति हि ॥७॥



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

**भावार्थ** — प्रातःवेला ऊषा जब आती है, रात्रि के अन्धकार को चूर्ण करती हुई आती है एवं हमारे मानस अंधकार से ऋण की भांति विमुक्त कराती है, ज्ञान जागृति देती है ॥७॥

### सायण-भाष्य

पेपिशत् भृशं पिशत् सर्ववस्तुष्वश्लिष्टम् अन्धकारं कृष्णं कृष्णवर्णं विशेषेण स्वभासा सर्वस्याञ्जकं स्पष्टरूपं वा ईदृशं नैशं तमो माम् उप अस्थित उपागच्छत् । संगतकरण आत्मनेपदम् । हे उषः उषोदेवते ! त्वम् ऋणेव ऋणानीव तत्तमोयातय अपगमय । स्तोतृणाम् ऋणानि यथा धन प्रदानेन अपाकरोषि तथा तमोऽप्यपसार— येत्यर्थः ।

**शब्दार्थ** — पेपिशत् = अत्यधिक पिसा हुआ सा, सब वस्तुओं में चिपटा हुआ सा । कृष्णम् = काले रंग का । व्यक्तम् = स्पष्ट रूप से प्रतीत होता हुआ । उप अस्थित = पास आकर स्थित हो गया है । उषः = हे उषा । ऋणा इव = ऋणों के समान । यातय = दूर कर दो ।

**हिन्दी व्याख्या** — अत्यधिक पिसा हुआ सा सभी वस्तुओं में चिपटा हुआ सा काले रंग का स्पष्ट रूप प्रतीत होता हुआ रात्रि का अन्धकार मेरे पास आकर स्थित हो गया है । हे उषा देवता तुम इस अन्धकार को उसी प्रकार दूर कर दो जिस प्रकार स्तोताओं के ऋणों को दूर करती हो ।

मण्डल १०

सूक्त १२७

मंत्र ८

संहिता-पाठः

उप ते गा इवकरं वृणीष्व दुहितर्दिवः । रात्रि स्तोमं न जिग्युषे ॥

पद-पाठः

उप । ते । गा इव । आ । अकरम् । वृणीष्व । दुहितः । दिवः । रात्रि । स्तोमम् । न । जिग्युषे ॥ ८ ॥  
अन्वय — रात्रि ! गा इव ते उप आ अकरम् । दिवः दुहितः जिग्युषे स्तोमम् न वृणीष्व ।

**दयानन्द-भाष्य** —

**पदार्थ** — (रात्रि) हे रात्रे ! (ते गाः—इव—उपाकरम्) तुभ्यं दोग्ध्री गो इव घासादिना यथोक्ते गौस्वामी तद्वदुपचारं करोमि होमेन (वृणीष्व) त्वमनुकूलं सम्पादयास्मदर्थं तेन ससुखा भव (दिवः दुहितः) सूर्यस्य दुहितः (स्तोमं न जिग्युषे) विरोधिनं जेतुमिच्छुकाय स्तुतिसमूहमिव हव्यं प्रयच्छामि ॥ ८ ॥

**भावार्थ** — रात्रि सूर्य की पत्नी समान है उसका स्वागत करना चाहिए, होम द्वारा सायं होम करके, रोगादि विरोध पर विजय पाने के लिये ॥ ८ ॥

**सायण-भाष्य**

हे रात्रिदेवते ते त्वां गा इव पयसो दोग्ध्रीर्धेनुरिव उपेत्य आकरं स्तुतिभिरभिमुखीकरोमि । करोतेश्छान्दसे लुङि "कृमृहसाहिभ्यः" इति च्लेरडादेशः । दुहित द्योतमानस्य सूर्यस्य पुत्रि !



## रात्रि सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१२७)

यद्वा दिवसस्य तनये । "परमाप च्छन्दासि" (पा०सू० २.१.२६) इति परस्य षष्ठ्यन्तस्य पूर्वामत्रिताङ्गवद् भावात् पदद्वयसमुदायस्याष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् । त्वत्प्रसादात् जिग्युषे शत्रून् जिग्युषो मम् स्तोमं न स्तोत्रमिव हविरपि वृणीष्व त्वं भजस्व । जयतेर्लिटः क्वसुः । "सन्लिटोर्जेः" इति चतुर्थी । "वसोः सम्प्रसारणम्" इति सम्प्रसारणम् । 'ममाग्ने' इति नवर्च षोडशं सूक्तमाङ्गिरस्य विहव्यस्यार्षं वैश्वदेवम् । अन्त्या जगती शिष्टास्त्रिष्टुभः । अनुक्रम्यते हि — 'ममाग्ने नव विहव्यो वैश्वदेवं जगत्यन्तम्' इति । संसेव निमित्तभूतेर्वैश्वदेवसूक्तस्य पुरस्तादेतत् शंस्यम् । सूत्रितं च — 'ममाग्ने वर्च इति वैश्वदेवसूक्तस्यापि वैतेष्वेव निविदो दध्यात्' (आश्व० श्रौ० ६.६) इति । समावर्तनेऽनेन सूक्तेन सिष्णासुना प्रत्यर्चं समिधाधातव्या । सूत्रितं च — 'ममाग्ने वर्च इति प्रत्यृचं समिधोऽभ्यादध्यात्' (आश्व० गृ० ३.९.२) इति ।

**शब्दार्थ —** याः इव = दूध देने वाली गौ के समान । आ अकरम् = समीप आकर अभिमुख करता हूँ । वृणीष्व = स्वीकार करो । दुहितः = हे पुत्रि । दिवः = द्युलोक की । स्तोमम् = स्तोत्र । जिग्युषे = जीतने के लिये ।

**हिन्दी व्याख्या —** हे रात्रि ! दूध देने वाली गौ के समान तेरे समीप आकर स्तुति के द्वारा तुझको अभिमुख करता हूँ । हे द्युलोक की पुत्री रात्रि ! तेरी कृपा से शत्रुओं को जीतने के लिये मेरे स्तोत्र के समान ही मेरे द्वारा अर्पित आहुति को स्वीकार करो ।

**व्याकरण —**

**अकरम् —** 'कृ' धातु, लुङ् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन ।

**जिग्युषे —** 'जि' धातु, लिट् लकार के स्थान पर 'क्वसु' प्रत्यय = जिग्युष । षष्ठी विभक्ति का एकवचन ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****नासदीय सूक्त (सृष्ट्युत्पत्ति सूक्त)****ऋषि-परमेष्ठी प्रजापति****छन्द-त्रिष्टुप्****देवता-सृष्टि-स्थिति-प्रयत्नकर्ता-परमात्मा****मण्डल-१०****सूक्त-१२९****मन्त्र-१****संहिता पाठ**

नासंदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।

किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्मम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥१॥

**पदपाठ -**

न । असत् । आसीत् । नो इति । सत् । आसीत् । तदानीम् । न । आसीत् । रजः । नो इति । विऽओम् । परः । यत् ॥ किम् । आ । अवरीवरिति । कुह । कस्य । शर्मन् । अम्भः । किम् । आसीत् । गहनम् । गभीरम् ।

अन्वय - तदानीम् असत् न आसीत् सत् नो आसीत् रजः न आसीत्, व्योम नो यत् परः । किम् आवरीवः कुह कस्य शर्मन् गहनम् गभीरम् अम्भः किम् आसीत् ।

**दयानन्द भाष्य -**

पदार्थ - (तदानीम्) सृष्टितः पूर्वं तदानीं प्रलयावस्थायाम् (असत्-न-आसीत्) शून्यं नितान्ताभावो नासीत् (सत्-न-आसीत्) रञ्जनात्मकं कणमयं गगनमन्तरिक्षमपि नासीत् "भुजिरब्जिम्यां कित्" {उणा० ४।२१७}{रजः सूक्ष्मधूलिः-दयानन्दः} "रजसोऽन्तरिक्षलोकस्य" {निरु० १२।७} (परः-व्योम न-उ) विश्वस्य परवर्ती विशिष्टरक्षक आवर्तः खगोलाकाशोऽपि नैवासीत् (किम् आवरीवः) पुनरावरणीयाभावाद् भृशमावरकमपि किं स्यात्? नासीदित्यर्थः (कुहकस्य शर्मन्) कुत्र-न कुत्रापि तथा प्रदेश आसीत् कस्य सुखनिमित्तं स्यात् "शर्म सुखनाम" {निघं. ३।६} (गहनं गभीरम्-अम्भः किम्-आसीत्) गहनं गम्भीरं सूक्ष्मं जलमपि किं स्यादर्थान्नासीत्, यतो भोग्यं वस्तूत्पद्येत् यस्मिन् सृष्टिबीजमीश्वरोऽवसृजेत् "अप एव सर्सजादौ तासु बीजमवासृजत्" {मनु० १।८} ॥१॥

हि० भावार्थ - सृष्टि से पूर्व न शून्यमात्र अत्यन्त अभाव था परन्तु वह जो था प्रकटरूप भी न था, न रञ्जनात्मक कणमय गगन था न परवर्ती सीमावर्ती आवर्त घेरा था जब आवरणीय पदार्थ या जगत् न था तो आवर्त भी क्या हो वह भी न था कहाँ फिर सुख शरण किसके लिये हो एवं भोग्य भोक्ता की वर्तमानता भी न थी, सूक्ष्म जल परमाणु प्रवाह या परमाणु समुद्र भी न था पर था कुछ अप्रकटरूप था ॥१॥

**सायण भाष्य -**

'तपसस्तन्महिनाजायतैकम्' इत्यादिनाग्रे सृष्टिः प्रतिपादयिष्यते । अधुना ततः प्रागवस्था निरस्तसमस्तप्रपञ्चा या प्रलयावस्था सा निरूप्यते । तदानीं प्रलयदशायामवस्थितं



## नासदीय सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१२९)

यदस्य जगतो मूलकारणं तत् असत् शशविषाणवन्निरूपाख्यं न आसीत् । न हि तादृशात् कारणादस्य सतो जगत उत्पत्तिः संभवति । तथा नो सत् नैव सदात्मवत् सत्त्वेन निर्वाच्यम् आसीत् । यद्यपि सदसदात्मकं प्रत्येकं विलक्षणं भवति तथापि भावाभावयोः सहावस्थानमपि संभवति । कुतस्तयोः तादात्म्यमिति उभयविलक्षणमनिर्वाच्यमेवासीदित्यर्थः । ननु नो सदिति पारमार्थिक— सत्त्वस्य निषेधः । तर्ह्यात्मनोऽप्यनिर्वाच्यत्वप्रसङ्गः अथोच्येत् । न आनीदवातमिति तस्य सत्त्वमग्रे वक्ष्यते परिशेषान्मायाया एवात्र सत्त्वं निषिध्यत इति । एवमपि तदानीमिति विशेषणार्थक्यं व्यवहारदशायामपि तस्याः पारमार्थिकसत्त्वाभावात् । अथ व्यावहारिकसतां पृथिव्यादीनां भावानां विद्यमानत्वात् कथं नो सदिति निषेधः । तत्राह । नासीद्रज इत्यादि । 'लोका रजांस्युच्यन्ते' (निरु० ४.१९) इति यास्कः । अत्र च सामान्यापेक्षमेकवचनम् । व्योग्नो वक्ष्यमाणत्वात्तस्याधस्तनाः पातालादयः पृथिव्यन्ता नासन्नित्यर्थः । तथा व्योम अन्तरिक्षं तदपि नो नैवासीत् । पर इति सकारान्तं परस्तादित्यर्थं वर्तते । परशब्दाच्छान्दसोऽस्ता-जेरर्थेऽसिप्रत्ययः । परः व्योम्नः परस्तादुपरिदेशे द्युलोकप्रभृतिसत्यलोकान्तं यत् अस्ति तदपि नासीदित्यर्थः । अनेन चतुर्दशभुवनगर्भं ब्रह्माण्डं स्वरूपेण निषिद्धं भवति । अथ तदावरकत्वेन पुराणेषु प्रसिद्धानि यानि वियदादिभूतानि तेषामवस्थानप्रदेशं तदावरणनिमित्तं चाक्षेपमुखेन क्रमेण निषेधयति किमावरीवरिति । किम् आवरणीयं तत्त्वमावरकभूतजातम् आवरीवः । अत्यन्तमावृणुयात् । आवार्याभावात् तदावरकमपि नासीदित्यर्थः । वृणोतेर्यङ्लुगन्ताच्छान्दसे लङितिपि रूपमेतत् । यद्वा । किमिति प्रथमेव । किं तत्त्वमावरकमावृणुयात् । अत्रियमाणवत्तदपि स्वरूपेण नासीदित्यर्थः । आवृण्वत् तत्तत्त्वं कुह कुत्र देशेऽवस्थयावृणोति । आधारभूतस्तादृशो देशोऽपि— नासीदित्यर्थः । किंशब्दात् सप्तम्यर्थे हप्रत्ययः । 'कु तिहोः' (पा०सू० ७.२.१०४) इति प्रकृतः क्वादेशः । कस्य शर्मन् कस्य वा भोक्तुर्जीवस्य शर्मणि सुखदुःख— साक्षात्कारलक्षणे भोगेनिमित्तभूते सति तदावरकं तत्त्वमावृणुयात् । जीवानामुपभोगार्था हि सृष्टिः । तस्यां हि सत्यां ब्रह्माण्डस्य भूतेरावरणं प्रलयदशायां च भोक्तारो जीवा उपाधिविलयात् प्रलीना इति कस्य कश्चिदपि भोक्ता न संभवतीत्यावरणस्य निमित्ताभावादपि तन्न घटत इत्यर्थः । एतेन भोग्यप्रपञ्चवत् भोक्तृप्रपञ्चौपि तदानीं नासीदित्युक्तं भवति । किंशब्दादुत्तरस्य ङशः 'सावेकाचः०' इति प्राप्तस्योदात्तत्वस्य 'न गोश्वन्साववर्ण०' इति प्रतिषेधः । 'सुपां सुलुक्०' इति शर्मणः सप्तम्या लुक् । यद्यपि सावरणस्य ब्रह्माण्डस्य निषेधेन तदन्तर्गतमप्सत्त्वमपि निराकृतंतथापि 'आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्' (तै०सं० ७.१.५.१) इति श्रुत्या कश्चिदपां सद्भावतमाशङ्केत । तं प्रत्याचष्टे अम्भः किमासीत् इति । गहनं दुष्प्रवेशं गभीरं दुरवस्थानमत्यगाधम् ईदृशम् अम्भः किमासीत् । तदपि नैवासीदित्यर्थः । श्रुतिस्त्ववान्तरप्रलयविषया ।।

**शब्दार्थ —** न = नहीं, असत् = नामरूपादिरहित अवस्था, आसीत् = थी, नो = नहीं, सत् = नामरूपात्मक अवस्था, आसीत् = थी, तदानीम् = उस समय, न = नहीं, आसीत् = था, रजः = लोक, नो = नहीं, व्योम = आकाश, परः = ऊपर, यत् = जो है, किम्



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

= कौन, आ आवरीवः = आवृत किया था, कुह = कहाँ, कस्य = किसकी, शर्मन् = सुरक्षा में, अम्भः = जल, किम् = क्या, प्रश्न वाचक शब्द, आसीत् = था, गहनम् = अपार, गभीरम् = गहरा।

हिन्दी व्याख्या — उस समय न नामरूपादिरहित अवस्था थी, न नाम रूपात्मक अवस्था ही थी; न (कोई) लोक था, न आकाश ही था, जो ऊपर है। किसने आवृत किया था? कहाँ, किसकी सुरक्षा में? क्या अपार गम्भीर जल था?

व्याकरण —

असत् = अस्+शतृ = सत्। न+सत् = असत्

सत् = अस्+शतृ = सत्।

कुह = किम् + ह = कुह।

आवरीवः = आवृणोति इति आवरणो वा आवरिः। औणादिक 'ई' प्रत्यय।  
आ+वृ+ई = आवरी। मतुबर्थे 'व' प्रत्यय = आवरीव।

विशेष — मैकडानल के अनुसार रजस् = वायु (air) किम् आवरीवः अपने अन्दर किसे रखता था (what did it contain), कस्य शर्मन् = किसकी संरक्षा में (in whose protection)।

मण्डल—१०

सूक्त—१२९

मन्त्र—२

संहिता पाठ

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अहन् आसीत्प्रकेतः।

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्वन्यन्न परः किं चनास॥१२॥

पदपाठ —

न। मृत्युः। आसीत्। अमृतम्। न। तर्हि। न। रात्र्या। अहः। आसीत्। प्रकेतः।  
आनीत्। अवातम्। स्वधया। तत्। एकम्। तस्मात्। ह। अन्यत्। न। परः। किम्। चन।  
आस॥

अन्वय — तर्हि मृत्युः न आसीत्, न अमृतम्, रात्र्याः अहः प्रकेतः न आसीत्। तत् आनीत्  
अवातम्, स्वधया, एकम्। ह तस्मात् अन्यत् किञ्चन न आस न परः॥

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (मृत्युः—न—आसीत्) सृष्टिः पूर्व मृत्युर्मारकोऽपि नासीत् (तर्हि) तदा, मृत्योरभावेऽमृतं  
भवेत्, उच्यते (अमृतं न) अमृतं नासीत् (रात्र्याः—अहः प्रकेतः—न—आसीत्) रात्रेर्दिनस्य  
प्रज्ञानं पूर्वरूपमपि नासीत् (तत्—एकम्— अवातम्) तदा खल्वेकं तत्त्वं वायोरपेक्षारहितम्  
(स्वधया—आनीत्) स्व धारणशक्त्या जीवनं धारयत्सदासीत् तद्ब्रह्मतत्त्वमासीत्  
(तस्मात्—अन्यत् किञ्चन—परः—न—आस) ततो भिन्नं किमपि नासीत् ॥१२॥



## नासदीय सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१२९)

हि० भावार्थ — सृष्टि से पूर्व मृत्यु नहीं था क्योंकि मरने योग्य कोई था नहीं तो मृत्यु कैसे हो? मृत्यु के अभाव में अमृत हो सो अमृत भी नहीं क्योंकि मृत्यु की अपेक्षा से अमृत की कल्पना होती है अतः अमृत के होने की कल्पना भी नहीं, दिन रात्रि का पूर्व रूप भी न था क्योंकि सृष्टि होने पर दिन रात्रि का व्यवहार होता है, हाँ एक तत्त्व वायु द्वारा जीवन लेने वाला नहीं किन्तु स्व धारण शक्ति से स्व सत्तारूप जीवन धारण करता हुआ जीता जागता ब्रह्म था, उससे अतिरिक्त और कुछ न था ॥२॥

### सायण भाष्य —

ननूक्तस्य प्रतिसंहारस्य संहर्त्रपेक्षत्वात् स एव संहर्ता मृत्युर्विद्यत इत्यत आह न मृत्युरासीत् इति । ननु यदि स नासीत् तर्हि तदभावकृतम् अमृतम् अमरणं प्राणिनावस्थानं तदानीमपि स्यात् तत्राह । अमृतं न तर्हि इति । तर्हि तस्मिन् प्रतिहारसमये । अयं भावः । सर्वेषां प्राणिनां परिपक्वं भोगहेतुभूतं सर्वं कर्म यदोपभुक्तमासीत् तदा भोगाभावान्निष्प्रयोजनमिदं जगदिति परमेश्वरस्य मनसि संजिहीर्षा जायते । तथैव स मृत्युः सर्वं जगत् संहरति इति किमनेन मृत्युना संहर्त्रा तदभाव कृतं वा कथममरणं स्यादिति । एतदेवाभिप्रेत्य कठैराम्नायते — 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदन । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः' (क०उ० २.२५) इति । नद्धेतस्य सर्वस्याधिकरणभूतः कालो विद्यत इत्यत आह न रात्र्या इति । रात्र्याः अहः च प्रकेतः प्रज्ञानं न आसीत् । तद्धेतुभूतयोः सूर्याचन्द्रमसोरभावात् । एतेनाहोरात्रनिषेधेन तदात्मको मासर्तुसंवत्सरप्रभृतिकः सर्वः कालः प्रत्याख्यातः । कथं तर्हि नो सदासीत्तदानीमिति कालवाची प्रत्ययः । उपचारादिति ब्रूमेः । यथेदानीं तननिषेधस्य कालोऽवच्छेदकस्तथा मायापि तदवच्छेदहेतुरित्यवच्छेदकत्वसाम्येनाकालेऽपि कालवाची प्रत्ययः । यदवादिष्म ब्रह्मणः परमार्थसत्त्वमग्रे वक्ष्यत इति तदिदानीं दर्शयत्यानीदिति । 'तत् सकलवेदान्तप्रसिद्धं ब्रह्मतत्त्वम् आनीत् प्राणितवत् । नन्वेवं प्राणनकर्तुर्जीवभावापन्नस्यैव ब्रह्मणः सत्त्वं स्यात् न विवक्षितस्य निरुपाधिकस्य ब्रह्मणः । 'अप्राणो ह्यमनाः शुद्धः' इति तस्य प्राणसंबन्धाभावात् तत्राह आनीदवातमिति । अयमाशयः । आनीदित्यत्रधात्वर्थक्रिया तत्कर्ता तस्य च भूतकालसंबन्ध इति त्रयोऽर्थाः प्रतीयन्ते । तत्र समुदायो न विधीयते यथामयोऽष्टाकपाल इति येन ब्रह्मणः सत्त्वं न स्यात् । किं तर्ह्यनेन कर्तृत्वमनूद्य भूतकालसत्तालक्षणो गुणो विधीयते दध्नाजुहोतीति वाक्यान्तरविहिता— ग्निहोत्रानुवादेन तत्र गुणविधानम् । तत्राप्यनेन कर्तृत्वविशिष्टस्य न पूर्वकालसत्ता विधीयते तन्निषेधानुपपत्तिप्रसङ्गात् अतोऽनेन कर्तृत्वेन इदानींतनेनोपलक्षितं यन्निरुपाधिकं परं ब्रह्म तस्यैव भूतकालसत्ता विधीयत इति न कश्चिदोष इति । नन्वीदृशस्य ब्रह्मणो मायया सह संबन्धासंभवात् सांख्याभिमतता स्वतन्त्रा सद्रूपा सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका मूलप्रकृतिरेवाभिमतेति कथं नो सदिति निषेधः । तत्राह स्वधया इति । स्वस्मिन् धीयते ध्रियत आश्रित्य वर्तत इति स्वधा माया । तथा तद्ब्रह्मैकमविभागापन्नमासीत् । 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (पा०सू० २.३.१९) इति



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

तृतीया सहशब्दयोगाभावेऽपि सहार्थयोगे भवति 'वृद्धोयूना' (पा०सू० १.२.६५) इति निपातनाल्लिङ्गात्। अत्र प्रकृतिप्रत्ययाभ्या तस्याः स्वातन्त्र्यं निवार्यते। यद्यपि असङ्गस्य ब्रह्मणस्तया सह संबन्धो न संभवति तथापि तस्मिन्नविद्यया तत्स्वरूपमिव संबन्धोऽप्यध्यस्यते यथा शुक्तिकायां रजतस्य। एतेन सद्रूपत्वमपि तस्याः प्रत्याख्याताम्। ननु यदि माया ब्रह्मणा सहाविभागापन्ना तर्हि तस्य अनिर्वाच्यत्वात् ब्रह्मणोऽपि तत्सप्रङ्ग इति कथं तस्य सत्त्वमुक्तम् आनीदवातमिति। ब्रह्मणो वा सत्त्वात्तस्या अपि सत्त्वप्रसङ्ग इति कथं नो सदा सीदिति सत्त्वप्रतिषेधः। मैवम् अयुक्तिदृष्ट्यैक्यावभासेऽपि युक्त्या विविच्य तायांशस्यानिर्वाच्यत्वं ब्रह्मणः सत्त्वं च प्रतिपादितम्। ननु दृग्दृश्याविति द्वावेव पदार्थो आनीदवातं स्वधयेति तौ चेदङ्गीक्रियेते तत्किमपरमवशिष्यते यत् नासीद्रजः इत्यादिना प्रतिषिध्येत तत्राह तस्मादिति। तस्माद् तस्मात् खलु पूर्वोक्तान्मायासहितात् ब्रह्मणः अन्यत् किं चन किमपि वस्तु भूतभौतिकात्मकं जगत् न आस न बभूव। 'छन्दस्युभयथा' इति लिटः सार्वधातुकत्वादस्तेर्भूभावाभावः। ननु तदानीमन्यस्य सत्त्वनिषेधो न शङ्क्यः। असत्त्वे चाप्रसक्तत्वान्न निषेधोपयोग इत्यत आह पर इति। परः परस्तात् सृष्टेरुध्वं वर्तमानमिदं जगत् तदानीं न बभूवेत्यर्थः अन्यथा उक्तरीत्या क्वचिदपि निषेधो न स्यादिति भावः।

**शब्दार्थ** — न = नहीं, मृत्युः = मृत्यु, आसीत् = थी, अमृतम् = अमृतत्व, न = नहीं, तर्हि = तब, रात्र्याः = रात्री का, अहः = दिन का, आसीत् = था, प्रकेतः = चिह्न या भेदात्मक ज्ञान, आनीत् = सांस ले रहा था, अवातम् = बिना वायु का, स्वधया = इच्छा शक्ति से, तत् = वह, एकम् = एक, तस्मात् = उससे, अन्यत् = अलग, न = नहीं, परः = बढ़कर, किम् = कुछ, चन = भी, आस = था।

**हिन्दी व्याख्या** — तब मृत्यु नहीं थी, अमृतत्व भी नहीं था। रात्री तथा दिन का भेदात्मक ज्ञान भी नहीं था। एक वायु के बिना (भी) अपनी इच्छा शक्ति से श्वांस ले रहा था। उससे बढ़कर अलग पहले कुछ भी नहीं था।

**व्याकरण** — अहः = अहन् शब्द षष्ठी का एकवचन।

स्वधया = स्व+धा+क+टाप् = स्वधा। तृ० का एकवचन।

प्रकेतः = प्र+कित् ज्ञाने+धञ्।

**विशेष** — मैकडानल के अनुसार आनीत = श्वास लेने वाला (one breathed) अवातम् = वायु से रहित (windless), स्वधया = अपनी शक्ति से (by its own power)

मण्डल-१०

सूक्त-१२९

मन्त्र-३

संहिता पाठ

तमं आसीत्तमसा गूळहमग्रं ऽप्रकेतं संलिलं सर्वमा इदम्।

तुच्छयेनाभवपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥३॥



पदपाठ —

तमः । आसीत् । तमसा । गूळहम् । अग्रे । अप्रकेतम् । सलिलम् । सर्वम् । आ । इदम् । तुच्छयेन । आभु । अपिहितम् । यत् । आसीत् । तपसः । तत् । महिना । अजायत । एकम् ॥

अन्वय — अत्रे तमसा गूळहम् तमः आसीत् । अप्रकेतम् इदम् सर्वम् सलिलम् आः । यत् आभु तुच्छयेन अपिहितम् आसीत्, तत् एकम् तपसः महिना अजायत् ॥

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (अग्रे तमसा गूळहम्) सृष्टेः पूर्वं यदासीत् तदन्धकारेणावृतमासीत् (तमः—आसीत्) अन्धकाररूपमासीत् (इदं सर्वं सलिलम्—आ—अप्रकेतम्) एतत् सर्वं जलमिवैकीभूतमविज्ञेयमासीत् (तुच्छयेन यत्—अपि—हितम्) तुच्छरूपेण यदावृतं गुप्तं यत् (आभु—आसीत्) तत् 'आभु' नामकं सर्वत्र प्रसृतमव्यक्तमुपादानकारणमासीत् "इयं सृष्टिर्यत् आबभूव" इति वचनात् सृष्टेरुपादानम् (तपसः) परमात्मानो ज्ञानमयात् तपसः (तत्—महिना एकम् अजायत) तन्महत्तत्वरूपमेकं जातम् ॥३॥

हि०भावार्थ — सृष्टि से पूर्व अन्धकार से आच्छादित अन्धकारमय था, जल समान अवयवरहित न जानने योग्य "आभु" नाम से परमात्मा के सम्मुख तुच्छ रूप में एकदेशी अव्यक्त प्रकृति रूप उपादान कारण था, जिससे सृष्टि आविर्भूत होती है, उसके ज्ञानमय तप से प्रथम महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ ॥३॥

सायण भाष्य —

ननूक्तप्रकारेण यदि पूर्वमिदं जगन्नासीत् कथं तर्हि तस्य जन्म । जायमानस्य जनिक्रियायां कर्तृत्वेन कारकत्वात् कारकं च कारणावान्तरविशेष इति कारकस्य सतो नियतपूर्वक्षणवर्तित्वस्य अवश्यंभावात् । अथैतदोषपरिजिहीर्षया जनिक्रियाया प्रागपि तद्विद्यत इत्युच्यते । कथं तस्य जन्म । अत आह तमसा गूळहमग्रे इति । अग्रे सृष्टेः प्राक् प्रलयदशायां भूतभौतिकं सर्वं जगत् तमसा गूळहम् । यथा नैशं तमः सर्वपदार्थजातमावृणोति तद्वत् । आत्मतत्त्वस्यावरकत्वा— न्मायापरसंज्ञं भावरूपातानमत्र तम इत्युच्यते । तेन तमसा निगूढं संवृतं कारणभूतेन तेनाच्छादितं भवति । आच्छादकात् तस्मात्तमसो कामरूपाभ्यां यदाविर्भवं तदेव तस्य जन्मेत्युच्यते । एतेन कारणावस्थायामसदेव कार्यमुत्पद्यते इत्यसद्वादिनोऽसत्— कार्यवादिनो ये मन्यन्ते ते प्रत्याख्याताः । ननु कारणे तमपि तज्जगदात्मकं कार्यं विद्यते चेत् कथं 'नासीद्रज इत्यादिनिषेधः । तत्राह तम आसीत् इति । तपो भावरूपज्ञानं मूलकारणम् । तद्रूपता तदात्मनाम् । यतः सर्वं जगत् प्राक्तम आसीदतो निषिध्यत इत्यर्थः । नन्वावरकत्वादावरकं तमः कर्तृआवार्यत्वाज्जगत्कर्म । कथं तयोः कर्म कर्त्रोस्तादात्म्यम् । तत्राह अप्रकेतमिति । अप्रकेतम् अप्रज्ञायमानम् । अयगर्थः । यद्यपि जगतस्तमसश्च कर्मकर्तृभावो यौक्तिको विद्यते तथापि व्यवहाय दशायादिव तस्यां दशायां नामरूपाभ्यां विस्पष्टं न ज्ञायत



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

इति तादात्म्यवर्तनम् । अतएव मनुना स्मर्यते 'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्योपनिर्देश्यं प्रगप्तमिव सर्वतः' (मनु० १.५) इति । कुतो वा न प्रज्ञायते । तत्राह । सलिलम् । 'षल्गतौ' । औणादिक इलच् । इदं दृश्यमानं सर्वं जगत् सलिलं कारणेन संगतमविभागापन्नम् आ आसीत् । अस्तेलङि तिपि 'बहुलं छन्दसि' इतीडभावे 'हल्ङ्याभ्यः' इति तिलोपे 'तिप्यनस्तेः' (पा०सू० ८.२.७३) इति पर्युदासादकाराभावः । यद्वा सलिलमिति लुप्तोपमम् । सलिलमिव । यथा क्षीरेणाविभागापन्नं नीरं दुर्विज्ञानं तथा तमसाविभागापन्नं जगन्नशक्यविज्ञानमित्यर्थः । ननु विविधविचित्ररूपभूयसः प्रपञ्चस्य कथमतितुच्छेन तमसा क्षीरेण नीरस्येवाभिभवः । तथा तमोऽपि क्षीरवदबलवदित्येवोच्यते । तर्हि दुर्बलस्य जगतः सर्गममयेऽपि नोद्भवसंभव इत्यत आह तुच्छेन इति । आ समन्ताद्भवनीति आभु तुच्छेन । छान्दसो यकारोपजनः । तुच्छेन तुच्छकल्पनेन सदसद्विलक्षणेन भावरूपाज्ञानेन अपिहितं छादितम् आसीत् । दधातेः कर्मणि निष्ठा । दधातेर्हि । 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । एवम् एकीभूतं कारणेन तमसाविभागातां प्राप्तमपि तत्कार्यजातं तपसः महिना माहात्म्येन अजायत उत्पन्नम् । तपसः स्रष्टव्यपर्यालोचनरूपत्वं चान्यत्राम्नायते 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः' (मु०उ० १.१.९) इति ।।

**शब्दार्थ** — तमः = अन्धकार, आसीत् = था, तमसा = अन्धकार से, गूळ्हम् = ढका हुआ, अग्रे = सृष्टि के पहिले, अप्रकेतम् = चिह्नरहित या भेदात्मक ज्ञान—रहित, सलिलम् = जल, सर्वम् = सम्पूर्ण, आः = था, इदम् = यह जगत्, तुच्छेन = भावरूप अज्ञान से, आभु = सर्वव्यापी, अपिहितम् = आवृत, यत् = जो, आसीत् = स्थित था, तपसः = तपस्या को, तत् = वह, महिम्ना = महिमा से, अजायत = उत्पन्न हुआ, एकम् = एक ।  
**हिन्दी व्याख्या** — महान् अन्धकार से ढका हुआ सर्वप्रथम अन्धकार था । इस सम्पूर्ण (विश्व का कारणभूत) जल से भिन्न कोई चिह्न नहीं था । (वह) जो स्थित था, सर्वव्यापी भावरूप अज्ञान था । अपनी तपस्या की महिमा से वह एक उत्पन्न हुआ ।

**व्याकरण** —

गूहळम् = गृह+क्त

अप्रकेतम् = प्र+कित्+अच् = प्रकेत । अविद्यमानः प्रकेत यस्मिन् तत् ।

सलिलम् = षल् गतौ+इलच् ।

तुच्छेन = तुच्छ शब्द का वैदिक रूप तुच्छ्य । तृतीया का एकवचन ।

आभु = आ समन्तात् भवति । आ+भू से निपातनात् ।

अपिहितम् = अपि+धा+क्त ।

महिना = महि शब्द, तृतीया का एकवचन । वैदिक रूप ।

**विशेष** — मैक्डानल के अनुसार आ इदम् = अस्तित्व में आने वाला (coming into being) । तपसः महिना = गर्मी की शक्ति से (through the power of heat) ।



## नासदीय सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१२९)

मण्डल-१०

सूक्त-१२९

मन्त्र-४

संहिता पाठ

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।

सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्य कवयो मनीषा ॥४॥

पदपाठ -

कामः । तत् । अग्रे । सम् । अवर्तत । अधि । मनसः । रेतः । प्रथमम् । यत् । आसीत् ।  
 सतः । बन्धुम् । असति । निः । अविन्दन् । हृदि । प्रतिऽइष्यं । कवयः । मनीषा ।

अन्वय - अग्रे तत् कामः सम् अवर्तत यत् मनसः अधि प्रथमम् रेतः आसीत् । सतः बन्धुम्  
 कवयः मनीषा हृदि प्रतीष्य असति निरविन्दन् ॥

दयानन्द भाष्य -

पदार्थ - (कामः-तत्-अग्रे) आरम्भसृष्टौ-अग्रे कामोऽभिलाषः (यत्-मनसः-अधि समवर्तत)  
 यत् खलु मनसोऽभ्यन्तरे प्रसिद्धो जातः (प्रथमं रेतः-आसीत्) यत् प्रथमं प्राणिबीजमासीत्  
 "रेतः पुरुषस्य प्रथमं सम्भवतः सम्भवति" [ऐ० ३।२] (कवयः) क्रान्तदर्शिनो विद्वांसः -  
 (असति सतः-बन्धुं मनीषा प्रतीष्य) अशरीरिणि खल्वात्मनि तन्निमित्तं शरीरस्य बन्धयितारं  
 विवेचनशीलया बुद्ध्या प्रतीत्य निश्चित्य (हृदि निः-अविन्दन्) हृदये निर्विण्णा अभवन्  
 वैराग्यं प्राप्नुवन् ॥४॥

हि० भावार्थ - आरम्भ सृष्टि में भोगों के लिए कामभाव वर्तमान होता है जो मानव की  
 बीज शक्तिरूप में प्रकट होता है, क्रान्तदर्शी विद्वान् आत्मा के अन्दर शरीर का बाँधने वाला  
 है, उसे समझकर वैराग्य को प्राप्त होते हैं ॥४॥

सायण भाष्य -

ननूत्तरीत्या यदीश्वरस्य पर्यालोचनं जगतः पुनरुत्पत्तौ कारणं तदेव  
 किंनिबन्धनमित्यत आह कामस्तदग्र इति । अग्रे अस्य विकारजातस्य सृष्टेः प्रागवस्थायां  
 परमेश्वरस्य मनसि कामः समवर्तत सम्यग्जायत । सिसृक्षा जातेत्यर्थः । ईश्वरस्य सिसृक्षा  
 वा किं हेतुकेत्यत आह मनस इति । मनसः अन्तःकरणस्य संबन्धि वासनाशेषेण मायायां  
 विलीनेऽन्तःकरणे समवेतम् । सामान्यापेक्षमेकवचनम् । सर्वप्राण्यन्तःकरणेषु समवेतमित्यर्थः ।  
 एतेनात्मनो गुणाधारत्वं प्रत्याख्यातम् । तादृशं रेतः भाविनः प्रपञ्चस्य बीजभूतं प्रथमम् अतीते  
 कल्पे प्राणिभिः कृतं पुण्यात्मकं कर्म यत् यतः कारणात् सृष्टिसमये आसीत् अभवत् । भूषु  
 वर्धिष्वजायत परिपक्वं सत् फलोन्मुखमासीदित्यर्थः । तत्ततो हेतोः फलप्रदस्य सर्वसाक्षिणः  
 कर्माध्यक्षस्य परमेश्वरस्य मनसि सिसृक्षा अजायतेत्यर्थः । तस्यां च जातायां स्रष्टव्यं  
 पर्यालोच्य ततः सर्वं जगत् सृजति । तथा चाम्नायते 'सोऽकामयत बहुः स्यां प्रजायेयेति स  
 तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वेदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च' (तै०आ० ८.६) इति श्रुतिः ।  
 आत्मनेत्थमवगमितेऽर्थं विद्वदनुभवमप्यनुग्राहकत्वेन प्रमाणयति सत इति । सतः सत्त्वेन



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

इदानीमनभूयमानस्य सर्वस्य जगतः बन्धुं बन्धकं हेतुभूतं कल्पान्तरे प्राण्यनुष्ठितं कर्मसमूहं कवयः क्रान्तदर्शना अतीतानागतवर्तमानाभिज्ञा योगिनः हृदये निरुद्धया मनीषा मनीषया बुद्ध्या । 'सुपां सुलुक्' इति तृतीयाया लुक् । प्रतीष्य विचार्य । 'अन्येषामपि' इति सांहितिको दीर्घः । असति सद्विलक्षणेऽव्याकृते कारणे निरविन्दन् निष्कृष्यालभन्त । विविच्याजानन्नित्यर्थः । शब्दार्थ — कामः = इच्छा, तत् = उसमें, अग्रे = सर्वप्रथम, समवर्तत = उत्पन्न हुआ, अधिमनसः = मन का, रेतः = विकार, प्रथमम् = प्रथम, यत् = जो, आसीत् = था, सतः = नामरूपात्मक जगत् का, बन्धुम् = बन्धन, सम्बन्ध, असति = नामरूपरहित तत्त्व में, निरविन्दन् = पाया, हृदि = अन्तःकरण में, प्रतीष्य = विचार कर, कवयः = बुद्धिमानों ने, मनीषा = प्रज्ञा से ।

हिन्दी व्याख्या — काम, जो मन का प्रथम विकार था, उसमें सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ । बुद्धिमानों ने हृदय में प्रज्ञा से विचार कर नामरूपात्मक जगत् का कारण नाम रूप रहित तत्त्व में ही पाया ।

व्याकरण —

समवर्तत = सम्+वृत् धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

मनीषा = मनीषा शब्द तृतीया का एकवचन । वैदिक रूप ।

प्रतीष्या = प्रति+इष् इच्छायम्+क्त्वा (ल्यप्) वैदिक दीर्घ ।

निरविन्दन् = निर्+विद्(विन्द्)धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।

विशेष — मैक्डानल का अर्थ भी इसी प्रकार से है, उसने 'रेतस्' का अर्थ 'बीज' (seed) किया है ।

मण्डल—१०

सूक्त—१२९

मन्त्र—५

संहिता पाठ

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् ।

रेतोधा आसन्महिमानं आसन्स्वधा अवस्तात्प्रयति; परस्तात् । ॥५॥

पदपाठ —

तिरश्चीनः । वि३ततः । रश्मिः । ए३षाम् । अधः । स्वि॒त् । आ॒सी३त् । उ॒परि॑ । स्वि॒त् । आ॒सी३त् । रे॒तः॒ऽधाः । आ॒सन् । म॒हि॒मानं॑ । आ॒सन् । स्व॒धा । अ॒वस्ता॑त् । प्र॒यतिः॑ । प॒रस्ता॑त् । ।  
अन्वय — एषाम् रश्मिः विततः तिरश्चीनः अधः स्वित् आसीत् उपरि स्वित् आसीत्? रेतोधाः आसन् महिमानः आसन् स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् । ।

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (रेतोधाः—आसन्) प्राणि सृष्टेः पूर्वं शरीरस्य बीजशक्तिः—काम उक्तो रेत इति नामतः, रेतसो धारयितार आत्मान आसन् (महिमानः—आसन्) ते महान्तोऽसंख्याताः



## नासदीय सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१२९)

खल्वासन् (एषां रश्मिः) एतेषां बन्धनरश्मिर्यद्वा बन्धन प्रग्रहः "अभिश्वावो वै रश्मयः" (शं० ५।४।३।१४) पूर्वकर्मकृत संस्कारः (तिरश्चीनः—विततः) विस्तृत "तिरस्तीर्णो भवति" (निरु० ३।२०) तथा प्रसृतः—आसीत् (अधः स्वित् आसीत्—उपरिस्वित्—आसीत्) निकृष्टयोनिजन्म हेतुरप्यासीदुत्कृष्टयोनिजन्महेतुः खल्वप्यासीत् (अवस्तात् स्वधा परस्तात् प्रयतिः) शरीरस्यावरभागे स्वधारणा जन्मग्रहणं परभागे प्रयाणं मृत्युर्भवति ॥५॥

**हि०भावार्थ** — भोगों की कामनारूप मानवबीजशक्ति को धारण करने वाले आत्मा सृष्टि से पहले थे और वे असंख्यात थे, इनके पूर्व कर्म कृत संस्कार डोरी या लगाम के समान शरीर में खींच कर लाता है वह निकृष्टयोनि सम्बन्धी और उत्कृष्ट योनि सम्बन्धी होता है, शरीर के अवरभाग में जन्म है और परभाग में प्रयाण मृत्यु है ॥५॥

**सायण भाष्य** —

एवमविद्याकामकर्माणि सृष्टेर्हेतुत्वेनोक्तानि । अधुना तेषां स्वकार्यजनने शैध्यं प्रतिपाद्यते । येयं नासदासीदित्यविद्या प्रतिपादिता यश्च कामस्तदग्रे इति कामो मनसो रेतः प्रथमं यदासीदिति यत्कर्म एषाम् अविद्या कामकर्मणां वियदादि भूतजातानि सृजतां रश्मिः रश्मि सदृशो यथा सूर्यरश्मिः उदयानन्तरं निमेषमात्रेण युगपत् सर्वं जगत् व्याप्नोति तथा शीघ्रं सर्वत्र व्याप्नुवन् यः कार्यवर्गः विततः विस्तृतः आसीत् । स्विदासीत् इति वक्ष्यमाणमत्रापि संबध्यते । 'विचार्यमाणानाम्' (पा०सू० ८.२.९७) इति प्लुतः । तत्रोदात्त इत्यनुवृत्तेः स चोदात्तः स्वित् इति वितर्कः । स कार्यवर्गः प्रथमतः किं तिरश्चीनः तिर्यगवस्थितो मध्ये स्थित आसीत् किंवा अधः अधस्तात् आसीत् । आहोस्वित् उपरि उपरिष्ठात् किमासीत् । 'उपरि स्विदासीदिति च' (पा०सू० ८.२.१०२) इत्यनुदात्तः प्लुतः । 'आत्मन आकाशः संभूत आकाशाद्वायुर्वा योरभिः' (तै०आ० ८.१) इत्यादिकया पञ्चमीश्रुत्या तत् उद्गातारं ततो होतारमिति वत् क्रमप्रतिपत्तौ सत्यामपि विद्युत्प्रकाशवत् सर्गस्य शीघ्रव्यापनेन तस्य क्रमस्य दुर्लक्षणत्वादेतेषु त्रिषु स्थानेषु तथम्यं कुत्रेति विचार्यते । एवं नाम शीघ्रं सर्वतो दिक्षु सर्गो निष्पन्न इत्यर्थः । एतदेव विभजते । सृष्टेषु कामेषु मध्ये केचिद्भावाः रेतोषाः रेतसो बीजभूतस्य कर्मणो विधातारः कर्तारो भोक्तारश्च जीवाः आसन् अन्ये भावाः महिमानः । स्वार्थिक इमनिच् । महान्तो वियदादयो भोग्याः आसन् । एवं मायासहितः परमेश्वरः सर्वं जगत् सृष्ट्वा स्वयं चानुप्रविश्य भोक्तृभोग्यादिरूपेण विभागं कृतवानित्यर्थः । अयमेवार्थस्तैत्तिरीयके 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै०आ० ८.६) इत्यारभ्य प्रतिपाद्यते । तत्र च भोक्तृभोग्ययोर्मध्ये स्वधा । अन्ननामेतत् । भोग्यप्रपञ्चः अवस्तात् अवरो निकृष्ट आसीत् । प्रयतिः प्रयतिता भोक्ता परस्तात् पर उत्कृष्ट आसीत् । भोग्यप्रपञ्चं भोक्तृप्रपञ्चस्य शेषभूतं कृतवानित्यर्थः । 'विभाषा परावराभ्याम्' (पा०सू० ५.३.२९) इति प्रथमार्थे अस्तातिः । 'अस्ताति च' (पा०सू० ५.३.४०) इत्यवरशब्दस्यावादेशः । अवस्तादिति संहितायाम् ईषाअक्षादित्वात् प्रकृतिभावः ।

**शब्दार्थ** — तिरश्चीनः = तिरछा जाने वाला अर्थात् मध्य में, विततः = फैला हुआ,



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

रश्मिः = किरणों की तरह, एषाम् = उनका, अधः = नीचे, स्वित् = शायद, आसीत् = था, उपरि = ऊपर, स्वित् = शायद, आसीत् = था, रेतोधाः = सृष्टिः का बीज धारण करने वाले, आसन् = थे, महिमानः = आकाशादि महाभूत, आसन् = थे, स्वधा = भोग्य पदार्थ, अवस्तात् = नीचे, प्रयतिः = भोक्ता तत्त्व, परस्तात् = ऊपर।

हिन्दी व्याख्या — उनका (कार्य जाल जो) किरणों की तरह शीघ्र फैला हुआ था, क्या वह मध्य में था? अथवा, क्या वह नीचे था? अथवा, क्या वह ऊपर था? (सृष्टि का) बीज धारण करने वाले थे; (आकाशादि) महाभूत थे; नीचे भोग्य था, ऊपर भोक्ता।

व्याकरण —

तिरश्चीन = तिरम्+अञ्च्+ख(ईन)।

विततः = वि+तन्+क्त।

रेतोधाः = रेतः दधाति। रेतस्+धा+क्विप्।

महिमानः = महत्+इमनिच् = महिमन्।

प्रयति = प्र+यम्+क्तिन्।

विशेष — मैकडानल के अनुसार तिरश्चीनः = आरपार (across), विततः = फैला हुआ था (was extended), रश्मि = रस्सी (cord), महिमानः = शक्तियाँ (powers), स्वधा = अन्तःशक्ति (energy), प्रयतिः = मानसिक आवेग (impulse)।

मण्डल—१०

सूक्त—१२९

मन्त्र—६

संहिता पाठ

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।

अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव॥६॥

पदपाठ —

कः। अद्धा। वेद। कः। इह। प्र। वोचत्। कुतः। आऽजाता। कुतः। इयम्। विसृष्टिः। अर्वाक्। देवाः। अस्य। विऽसर्जनेन। अथ। कः। वेद। यतः। आऽबभूव॥

अन्वय — कः अद्धा वेद, कः इह प्र वोचत्, इयम् विसृष्टिः कुतः कुतः आ जाता। देवाः अस्य विसर्जनेन अर्वाक्। अथ कः वेद यतः आ बभूव॥

दयानन्द भाष्य —

पदार्थ — (कः—अद्धा वेद) कस्तत्त्वतो जानीयात् (कः—इह प्रवोचत्) को ह्यस्मिन् विषये प्रकथयेत् (कुतः—इयं विसृष्टिः कुतः—आजाता) कुतो निमित्त कारणात् खल्वियं विविधा सृष्टिः कुत उपादानाच्च प्रादुर्भूता (अस्य विसर्जनेन—अर्वाक्—देवाः) अस्य जगतो विसर्जनात् विसर्जनेन विभक्तिव्यत्ययेन तृतीया पञ्चमी स्थाने, पश्चादुत्पन्ना विद्वांसः सन्ति (अथ कः—वेद यतः—आबभूव) पुनः को जानीयात्—यत उपादानात् सृष्टिराभूता प्रादुर्भूता॥६॥



## नासदीय सूक्त ( मण्डल-१०, सूक्त-१२९ )

**हि०भावार्थ** — यह विविध सृष्टि किस निमित्त कारण से और किस उपादान कारण से उत्पन्न होती है, इस बात को कोई बिरला विद्वान् ही यथार्थ रूप में जान सकता है क्योंकि सभी विद्वान् सृष्टि उत्पन्न होने के पश्चात् होते हैं— अर्थात् कोई तत्त्ववेत्ता योगी ही इसको समझ सकता है और कह सकता है । ॥६॥

**सायण भाष्य** —

एवं भोक्तृभोग्यरूपेण सृष्टिः संग्रहेण प्रतिपादिता । 'एतावद्वा इदमन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नमग्निरन्नाद' (श०ब्रा० १.४.२.१३) इतिवत् । अथेदानीं सा सृष्टिर्दुर्विज्ञानेति न विस्तरेणाभिहितेत्याह को अद्वेति । कः पुरुषः अद्धा पारमार्थ्येन वेद जानाति । कः वा इह अस्मिँल्लोके प्र वोचत प्रब्रूयात् । इयं दृश्यमाना विसृष्टिः विविधा भूतभौतिकभोक्तृभोग्यादिरूपेण बहुप्रकारा सृष्टिः कुतः कस्मादु— पादानकारणात् । कुतः कस्माश्च निमित्तकारणात् आजाता समन्ताज्जाता प्रादुर्भूता । एतदुभयं सम्यक् को वेद को वा विस्तरेण वक्तुं शक्नुयादित्यर्थः । ननु देवाः अजायन्तः । सर्वज्ञास्ते ज्ञास्यतिवक्तुं च शक्नुवन्तीत्यत आह अर्वागिति । देवाः च अस्य जगतो विसर्जनेन वियदादिभूतोत्पत्त्यनन्तरं विविधं यद्वौतिकं सर्जनं सृष्टिस्तेन अर्वाक् अर्वाचीनाः कृतः । भूतसृष्टेः पश्चाज्जाता इत्यर्थः । तथाविधास्ते कथं स्वोत्पत्ते पूर्वकालीनां सृष्टिं जानीयुः । अजानन्तो वा कथं प्रब्रूयुः । उक्तं दुर्विज्ञानत्वं निगमयति । अथ एवं सति देवा अपि न जानन्ति किल । सद्व्यतिरिक्तः कः नाम मनुष्यादिः वेद तज्जगत्कारणं जानाति यतः कारणात् कृत्स्नं जगत् आबभूव अजायत ।।

**शब्दार्थ** — कः = कौन, अद्धा = सही रूप में, वेद = जानता है, कः = कौन, इह = यहाँ, प्र वोचत् = कहेगा, कुतः = कहाँ से, आजाता = उत्पन्न हुई है, कुतः = कहाँ से, इयम् = यह, विसृष्टिः = विविध प्रकार की सृष्टि, अर्वाक् = अर्वाचीन, देवाः = देवता, अस्य = इस, विसर्जनेन = विविधरूपा सृष्टि से, अथ = तब, कः = कौन, वेद = जानता है, यतः = जहाँ से, आबभूव = उत्पन्न हुई है ।

**हिन्दी व्याख्या** — कौन सही रूप में जानता है? कौन यहाँ कहेगा कि यह कहाँ से उत्पन्न हुई है? यह विविध प्रकार की सृष्टि कहाँ से? देवता इस सृष्टि की अपेक्षा अर्वाचीन हैं । तब यह कौन जानता है जहाँ से यह (सृष्टि) उत्पन्न हुई है?

**व्याकरण** —

प्रवोचत् = प्र+ब्रू धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, वैदिक रूप ।

विसृष्टिः = वि+सृज्+क्तिन् ।

विसर्जनेन = वि+सृज्+ल्युट् (अन) = विसर्जन । तृतीया का एकवचन ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

मण्डल-१०

सूक्त-१२९

मन्त्र-७

संहिता पाठ

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥७॥

पदपाठ -

इयम्। विसृष्टिः। यतः। आबभूव। यदि। वा। दधे। यदि। वा। न। यः।  
अस्य। अधिऽअक्षः। परमे। विऽओमन्। सः। अङ्ग। वेद। यदि। वा। न। वेद॥

अन्वय - इयम् विसृष्टिः यतः आबभूव यदि वा दधे यदि वा न। अस्य यः अध्यक्षः परमे व्योमन् अङ्ग सः वेदः यदि वा न वेद॥

दयानन्द भाष्य -

पदार्थ - (इयं विसृष्टिः-यतः-आबभूव) एषा विविधा सृष्टिर्यत उपादानात् प्रादुर्भूता (अस्य यः-अध्यक्षः) परमे व्योमन् अस्योपादानस्य योऽध्यक्षः महति खल्वाकाशे वर्तते (अङ्ग) हे जिज्ञासो! (सः) सोऽध्यक्षः परमात्मा (यदि वा दधे यदि वा न) यदि च सृष्टिं धारयेत् सृष्टिरूपे यदि च न धारयेत् सृष्टिरूपे-संहरेत् (यदि वेद यदि वा न वेद) यदि चोपादानकारणं जानीयात् स्वज्ञाने लक्षयेत् सृष्टिरूपे परिणयेत्, यदि च न जानीयात् स्वज्ञाने न लक्षयेत् सृष्टिरूपे न परिणयेत्-एवं सृष्टिप्रलयौ तस्य परमात्मनोऽधीनौ स्तः ॥७॥

हि०भावार्थ - यह विविध सृष्टि जिस उपादान-कारण से उत्पन्न होती है उस उपादान कारण अव्यक्त प्रकृति का वह परमात्मा स्वामी-अध्यक्ष है, वह उससे सृष्टि को उत्पन्न करता है और उसका संहार भी करता है, प्रकृति को जब लक्ष्य करता है तो उसे सृष्टि के रूप में ले आता है, नहीं लक्ष्य करता है तो प्रलय बनी रहती है, इस प्रकार सृष्टि और प्रलय परमात्मा के अधीन है ॥७॥

सायण भाष्य -

उक्त प्रकारेण यथेदं जगत्सर्जनं दुर्विज्ञानं एवं सृष्टं तज्जगत् दुर्धर्मपीत्याह इयमिति। यतः उपादानभूतात् परमात्मनः इयं विसृष्टिः विविधा गिरिनदीसमुद्रादिरूपेण विचित्रा सृष्टिः आबभूव आजाता सोऽपि किल यदि वा दधे धारयति यदि वा न धारयति। एवं च को नाम अन्यो धर्तुं शक्नुयात्। यदि धारयेदीश्वर एव धारयेन्नान्य इत्यर्थः। एतेन कार्यस्य धारयितृत्वप्रतिपादनेन ब्रह्मण उपादानकारणत्वमुक्तंभवति। तथा च पारमार्थ सूत्रं - 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा- दृष्टान्तानुपरोधात्' (वे०सू० १.४.२३) इति। यद्वा। अनेनार्वाच्येन पूर्वोक्तं सृष्टेर्दुर्ज्ञानत्वमेव द्रढयति। को वेदेत्यनुवर्तते। इयं विविधा सृष्टिः यत् आबभूव आसमन्तादजायतेति को वेद। न कोऽपि। नास्त्येव जगतो जन्म न कदाचिद् नीदृशं जगदिति बहवो भ्रान्ता भवन्त्यपि। यतः। 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' (पा०सू० १.४.३०) इत्युपादानसंज्ञायां पञ्चम्यास्तसिल्। यस्मात् परमात्मन उपादानभूतादाबभूव तं परमात्मानं



को वेद । न कोऽपि । प्रकृतितः परमाणुभ्यो वा जगज्जन्मेति हि बहवो भ्रान्ताः । तथा स एवोपादानभूतः परमात्मा स्वयमेव निमित्तभूतोऽपि सन् यदि वा दधे विदधे इदं जगत् ससर्ज यदि वा न ससर्ज । असंदिग्धे संदिग्धवचनमेतच्छास्त्राणि चेत्प्रमाणं स्युरिति यथा । स एव विदधे । तं को वेद । अजानन्तोऽपि बहवो जडात् प्रधानादकर्तृकमेवेदं जगत् स्वयमजायतेति विपरीतं प्रतिपन्ना विदधतो विधानमजानन्तोऽपि । स एव उपादानभूत इत्यपि को वेद । न कोऽपि । उपादानादन्यः तटस्थ एवेश्वरो विदधे इति हि बहवः प्रतिपन्नाः । देवा अपि यन्न जानन्ति तदर्वाचीनानामेषां तत्परिज्ञाने केव कथेत्यर्थः । यद्येवं जगत्सृष्टिरत्यन्तदुरत्वबोधा न तर्हि सा प्रमाणपद्धतिमध्यास्त इत्याशङ्क्य तत्सद्भाव ईश्वरमेव प्रमाणयति यो अस्येति । अस्य भूत भौतिकात्मकस्य जगतः यः अध्यक्षः ईश्वरः परमे उत्कृष्टे सत्यभूते व्योमन् व्योमन्याकाशे आकाशवन्निर्मले स्वप्रकाशे । यद्वा । अवतेस्तर्पणार्थात् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते—' इति मनिन् । 'नङ्वशि कृति' इतीट्प्रतिषेधः । 'ज्वरत्वर०' इत्यादिना वकारोपधयोः ऊट् । सप्तम्या लुक् । 'न डिसंबुद्धयोः' इति नलोपप्रतिषेधः । व्योमनि विशेषण तृप्ते । निरतिशयानन्दस्वरूपे इत्यर्थः । अनतिर्गत्यर्थः । व्योमनि विशेषेण गते व्याप्ते । देशकालवस्तुभिरपरिच्छिन्न इत्यर्थः । अथवा । अवतिर्ज्ञानार्थः व्योमनि विशेषेण जातरि विशिष्टज्ञानात्मकन । ईदृशे स्वात्मनि प्रतिष्ठितः । श्रूयते हि सनत्कुमारनारदयोः संवादे — 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० उ० ७.२४.१) इति । ईदृशोयः परमेश्वरः सो अन्नः । अङ्गेति प्रसिद्धौ । सोऽपि नाम वेद जानाति । यदि वा न वेद न जानाति । को नाम अन्यो जानीयात् । सर्वज्ञ ईश्वर एव तां सृष्टिं जानीयात् नान्य इत्यर्थः ।।

शब्दार्थ — इयम् = वह, विसृष्टिः = विविधरूपा सृष्टि, यतः = जहाँ से, आबभूव = उत्पन्न हुई है, यदि = अगर, वा = अथवा, दधे = धारण किया था, यदि = अगर, वा = अथवा, न = नहीं, यः = जो, अस्य = इसका, अध्यक्षः = नियामक, परमे = ऊँचे, व्योमन् = आकाश में, सः = वह, अङ्ग = निश्चित अर्थ का वाचक निपात, वेद = जानता है, यदि = अगर, वा = अथवा, न = नहीं, वेद = जानता है ।

हिन्दी व्याख्या — यह विविध रूपों वाली सृष्टि जहाँ से आई है (उसको उसने) या तो धारण किया था, या अगर नहीं (तो किसने धारण किया था?) । जो इसका ईश्वर है, वह सर्वोच्च स्वर्ग में है; वही निश्चित रूप से इसे जानता है; यदि वह नहीं जानता (तो कौन जानता है?) ।

व्याकरण — विसृष्टिः = वि+सृज्+क्तिन् ।

दधे = धा धातु, लृट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

व्योमन् = सप्तमी विभक्ति, एकवचन । वैदिक रूप ।

विशेष — मैकडानल के अनुसार दधे = निर्मित किया था (founded), परमे व्योमन् = उच्चतम अन्तरिक्ष में (in the highest heaven) अध्यक्ष = खोजने वाला (surveyor) ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा****यम सूक्त**

ऋषि—यमगोत्रज कुमार

देवता—यम,

छन्द—अनुष्टुप

मण्डल १०

सूक्त १३५

मंत्र १

संहिता—पाठः

यस्मिन्सुवृक्षे सुपलाशे देवैः संपिरते संपिबते यमः ।

अत्रा ना विशपतिः पितः पुराणो अनु वेनति ।।

पद—पाठः

यस्मिन् । वृक्षे । सुपलाशे । देवैः सम्पिबते । यमः । अत्र । नः । विशपतिः । पिता ।  
पुराणान् । अनु । वेनति ।।१।।

अन्वय — यस्मिन् सुपलाशे वृक्षे यमः देवैः संपिबते, विशपतिः नः पिता अत्र पुराणान्  
अनुवेनति ।

दयानन्द—भाष्य —

पदार्थ — (यस्मिन् वृक्षे) यस्मिन् वृक्षे—वृक्षक्षये “वृक्षे वृक्षक्षये” [निरु० १२/३०] वृक्षानां  
सत्कर्मणि वर्तमानानां क्षये निवासे (सुपलाशे) सुपलस्य सुगतेः सुकर्मणः फलाशने (देवैः—यमः  
सं पिबते) देवैः—इन्द्रियैः सह नियन्ता—आत्मा सङ्गच्छते “सम्पिबते सङ्गच्छते” [निरु०  
१२।३०] (अत्र नः—विश्वतिः पिता) अस्मिन्—अस्माकं प्रजानां जीवानां पालकः पिता  
परमात्मा (पुराणान्—अनुवेनति) पुराणान् व्यवहाराननुसरन् फलप्रदानं कामयते ।।१।।

भावार्थ — मानव संसार में जन्म लेते हैं जो उनके कर्म करने का विशाल क्षेत्र है, कर्मों  
का फल भोगने के लिए आत्मा इन्द्रियों के साथ सङ्गत होता है, सबका पालक पिता  
परमात्मा पूर्व कर्मों के अनुसार फल प्रदान करता है ।।१।।

सायण—भाष्य

वृक्षे लुप्तोपमैतत् । वृक्षवते सुपलाशे शोभनपलाशोपेते शोभनोद्यानसंहिते । यद्वा ।  
शोभनपर्णोपेते वृक्षे । तादृशस्य वृक्षस्य मूलं यथोच्चयजनितश्रमापनोदनेन सुखकरं भवति  
तद्वत् सुखकरे यस्मिन् स्थाने देवैः परिजनभूतैः यमः नियन्ता वैवस्वतः संपिबते सह भुङ्क्ते ।  
पिबतीत्यर्थः विशपतिः विशां प्रजानामधिपतिः पिता नः । व्यत्ययेन बहुवचनम् । मम नचिकेतसो  
जनको वाजश्रवसः अत्र अस्मिन् यमस्य स्थाने पुराणान् पुरातनान् अत्र चिरकालं निवसतः  
पितृन् अनु तेषां पश्चात् तत्समीपे निवसत्वयमिति वेनति मां कामयते । नचिकेता नाम  
कुमारो वाजश्रवसेन पित्रा यमलोक प्रस्थापितः सन् यमं दृष्ट्वां प्रसाद्य पुनरपीम लोकमाजगाम ।  
अयमर्थ इदमादिकैर्मन्त्रैः प्रतिपाद्यते । यद्वा कुमारो नाम नचिकेतसोऽन्यः कश्चिदपि । यच्छतीति  
यमः आदित्यः । तमनेन सूक्तेन तुष्टाव । सुपलाशे वृक्ष इव यस्मिन् शोभने स्थाने यम  
आदित्यो देवैः । दीव्यन्तीति देवाः रश्मयः । तं संपिबते संगच्छते । उपसगंवशात् पिबतिरत्र  
गत्यर्थः । व्यत्ययेनात्मनेपदम् । अत्र अस्मिन् स्थाने स्थितो विशपतिर्विशां प्रजानी



## यम सूक्त ( मण्डल-१०, सूक्त-१३५ )

प्रकाशनप्रवर्षणादिना पालयिता प्राणात्मना सर्वेषां जनकः स आदित्यः पुराणां शिचरन्तनान् स्तोतृन् नोऽन्मानपि वेनति अनुग्राह्यत्वेन कामयते। यद्वा। स्थाने स्थितान् नोऽस्माकं पुराणान् पूर्वपुरुषाननु वेनति अनुक्रमेण कामयते।

**शब्दार्थ** — वृक्षे = वृक्ष पर। सुपलाशौ = सुन्दर घने पत्तो वाले। संपिबते = सहभोज करता है। विशपति = प्रजाओं का अधिपति। पुराणान् = प्राचीन पितामह आदि के। अनु = पीछे वेनति = चाहता है।

**हिन्दी व्याख्या** — जिस सुन्दर घने पत्तो वाले वृक्ष पर अर्थात् वृक्ष के समान सुखदायक स्थान पर सब का नियन्ता यम अन्य देवताओं के साथ सहभोज करता है, प्रजाओं का अधिपति हमारा पिता तुल्य वह यम यहाँ मुझ नचिकेता को हमारे प्राचीन पितामह आदि के पीछे चाहता है। अर्थात् उनके साथ मुझको चाहता है।

**व्याकरण** —

**विशेष** — मैकडोनल के अनुसार — संपिबते = साथ पीता है (drinks together), विशपतिः = घर का स्वामी (master of the house), वेनति = मित्रता चाहता है (seeks the friendship)।

मण्डल १०

सूक्त १३५

मंत्र २

संहिता-पाठः

पुराणाँ अनुवेनन्तं चरन्तं पापयामुया।

असूयन् अभ्याचाकशं तस्मा अस्पृहयं पुनः॥

पद-पाठः

पुराणान्। अनुवेनन्तम्। चरन्तम्। पापया। अमुया।

असूयन्। अभि। अचाकशम्। तस्मै। अस्पृहयम्। पुनरिति॥

**अन्वय** — पुराणान् अनुवेनन्तम् अमुया पापया चरन्तम् असूयन् अभ्याचाकशम्। पुनः तस्मै अस्पृहयम्।

**दयानन्द-भाष्य** —

**पदार्थ** — (पुराणान्-अनुवेनन्तम्) पुरातनान् व्यवहाराननुलक्ष्य फलप्रदानं कामयमानम् (अमुया पापया) तया पापया पापवृत्त्या वासनया (चरन्तम् असूयन्- अभ्याचाकशम्) चरन् "प्रथमार्थे द्वितीया व्यत्ययेन" अहं निन्दयन् पश्यामि (तस्मै पुनः — अस्पृहयम्) तस्मै-पुनः स्पृहयामि-वाञ्छामि॥

**भावार्थ** — मानव पूर्व कर्मों के अनुसार पाप कर्मों का दुष्फल भोगता है और पश्चात्ताप करता है निन्दा करता है फिर भी पाप वासना — दूषित वासना के कारण फिर दूषित कर्म करने लगता है, यह साधारणजन की स्थिति है॥२॥



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

### सायण-भाष्य

पुराणान् पुरातनान् पितृन् अनुवेनन्तं मामनुगतं कामयमानम् अमुया अनया पापया निकृष्टया बुद्ध्या सह चरन्तं वर्तमान पितरं वाजश्रवसम् असूयन् सुखेन जीवतं मां मृत्युसमीपं प्रेहीत्युक्तवानिति मानसेनोपतापेन युक्तः सन् प्रथमम् अन्यचाकशम्। अयं पश्यातिकर्मा। अभ्यपश्यम्। असृज् मानस उपतापे। कण्ड.वादिः पुनः पश्चात् तस्मा अस्पृहयं पितुराज्ञया तं मृत्युं प्राप्तुमैच्छम्। स्पृह ईप्सायाम्। चुरादिरदन्तः। "स्पृहेरीप्सितः" (पा०सू० १.४.३६)। इति सम्प्रदानसंज्ञायां तच्छब्दाच्चतुर्थी। यद्वा पुराणान् चिरन्तनान् स्तोतुं पूर्वपुरुषान् पितृन् वा अनुवेनन्तमनुक्रमेण कामयमानं चरन्तम् उदयास्तमयाभ्यां दिवि परिवर्तमानमनया पापया निकृष्टया स्तोतुं समर्थया बुद्ध्या असूयन्। गुणेषु दोषाविष्करणमसूया। परीकीयगुणेषु दीषाविष्कुर्वन्नभ्यचाकशम्। अयमपि कश्चिदिति सामान्यरूपेणाभ्य- पश्यम्। इदानीं तु पुनस्तस्यादित्यस्य माहात्म्यं जानन तस्मा अस्पृहयम्। तमेवादित्य स्तुतिभिः परिचरणात् कैः कर्मभिश्च प्राप्तुमैच्छम्।

**शब्दार्थ** – पुराणान् = प्राचीन पितामह आदि की। अनुवेनन्तम् = कामना करने वाले को। चरन्तम् = विचरण करते हुए को। पापया = निकृष्ट बुद्धि के साथ। असूयन् = निन्दा करते हुये। अभ्यचाकशम् = देखा, सोचा। तस्मै = उस यम के घर जाने के लिये। अस्पृहयम् = स्पृहा की।

**हिन्दी व्याख्या** – प्राचीन पितामह आदि की कामना करने वाले पिता को अर्थात् जो मेरा पिता यह कामना करता है कि मैं प्राचीन पितामह आदि के साथ रहूँ, उसको उस निकृष्ट बुद्धि के साथ विचरण करते हुये पिता वाजश्रवस के प्रति, यह मेरा पिता मुझको यम के पास भेज रहा है, इस प्रकार निन्दा करते हुये मुझ नचिकेता ने पहले तो देखा या सोचा और फिर उस यम के घर जाने की स्पृहा की।

### व्याकरण –

**असूया** – अदस् शब्द स्त्रीलिंग तृतीया का एकवचन। छान्दस रूप है। लोक में 'अन्या' रूप होगा।

**विशेष** – मैकडोनल के अनुसार अनुवेनन्तम् = मित्रता को खोजते हुये (seeking the friendship), असूयन् = अप्रसन्न (displeased)।

मण्डल १०

सूक्त १३५

मंत्र ३

संहिता-पाठः

यं कु॒मार॒ न॒वं रथ॑मच॒क्रं म॒न॒साकृ॑णोः।

एके॑षं वि॒श्वतः॑ प्रा॒ज्यम॑पश्य॒न्नधि॑ तिष्ठसि॥

पद-पाठः

यम्। कु॒मार॒। न॒वंम्। रथ॑म्। अच॒क्रम्। म॒न॒सा। अकृ॑णोः। एकं॑ऽईषम्। वि॒श्वतः॑।



प्राञ्चम् । अपश्यन् अधि । तिष्ठसि ॥३॥

अन्वय — कुमार ! नवम् अचक्रम् एकेषम् विश्वतः प्राञ्चम् यम् रथम् मनसा अकृणोः अपश्यन् अधितिष्ठसि ।

**दयानन्द-भाष्य —**

**पदार्थ —** (कुमार) कुत्सितो मारो मृत्युर्यस्य सः — आत्मा तत्सम्बुद्धौ हे आत्मन्! (यं नवं रथम् — अचक्रं — मनसा— अकृणोः) यं नवीनं देहरथं चक्र रहितं स्वयं गमनशीलं त्वं मनसा प्राप्नोषि "मनोऽधिकृतेनायात्यस्मिन्-शरीरे" [प्रश्नो० (एकेषम्) एका — ईषा गतिर्यस्य तम्, भोगप्रवृत्तिकम् (विश्वतः प्राञ्चम्) सर्वतः प्रगतिकं मनुष्यपशुपक्षियोनिषु गच्छन्तम् (अपश्यन्-अधितिष्ठसि) अजानन् विराजसे ॥

**भावार्थ —** आत्मा अमर है तो भी अज्ञानवश शरीर के बन्धन में आता है, जो शरीर नया नया धारण करना पड़ता है, जिसकी गतिभोग प्रवृत्ति ही है उस पर यह अधिष्ठत हुआ अपने को भूला हुआ शरीर को समझ कर व्यवहार करता है, यह सामान्य जन की स्थिति है ॥३॥

**सायण-भाष्य**

नचिकेतसंज्ञं कुमारं यमोऽनयोत्तरया च प्रलोभ्यति । हे कुमार ! नवम् अभिनवमित पूर्वमदृष्टम् । अभिनवत्वमेव व्यनक्ति । अचक्रं चक्ररहितं तम् एकेषम् एकेषा यस्य तादृशं तथापि विश्वतः सर्वतः प्राञ्चं प्रकर्षेणाञ्चन्तं गच्छन्तं यं रथं मनसाकृणोः मत्समीपं प्रतिगमनाय अध्यवसायात्मकमीदृशं यं रथमकरोः कृत्वा च अपश्यन् कर्तव्याकर्तव्यविभागमजानन् अधितिष्ठसि रथामारोहसि । यद्वा स्तोतारं कुमारारख्यमृषिमादित्यः प्रत्यक्षः सन् देहात्मनोर्विवेकं बोधयति । हे कुमार ऋषे चक्ररहितम् एकेषम् । एक प्राण ईषास्थानायी यस्य । इदृशमभिनव सवती गच्छन्तं शरीरात्मकं यं रथं मनसान्तं करणेन अकृणोः अकरोः । संकल्पात्मकेन मनसा हि कामो जायते सत्यां हि कामनायां पुण्यपापात्मकं कर्म क्रियते । तेन च भोगप्रदानायेदं शरीरमारभ्यत इति परम्परया मनसः शरीरनिष्पादकत्वम् । तं शरीरात्मकं रथमपश्यन्नजानन् । "लक्षणं हेत्वोः" (पा०सू० ६.२.१२६) इति हेतौ शतृप्रत्ययः । मत्स्वरूपोपरि-ज्ञानाद्धेतोरधितिष्ठसि । भोगायतनत्वेन स्वीकरोषि ।

**शब्दार्थ —** नवम् = नये । अचक्रम् = चक्र से रहित । मनसा = मन द्वारा । अकृणोः = बनाया है । एकेषम् = एक धुरी वाले । विश्वतः = सब ओर से । प्राञ्चम् = अच्छी प्रकार से गति करने वाले । अपश्यन् = न देखते हुये । अधितिष्ठसि = चढ़ रहे हो ।

**हिन्दी व्याख्या —** हे कुमार ! नये, चक्र से रहित, एक धुरी वाले तथापि सब ओर अच्छी प्रकार से गति करने वाले जिस रथ को तुमने मन द्वारा मेरे समीप आने के लिये बनाया है, कर्तव्याकर्तव्या को न देखते हुये ही तुम इस पर चढ़ रहे हो ।



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

मण्डल १०

सूक्त १३५

मंत्र ४

संहिता-पाठः

यं कुमारं प्रावर्तयो रथं विप्रेभ्यस्परि ।  
तं सामानु प्रावर्तत समितो नाव्याहितम् ।

पद-पाठः

यम् । कुमार । प्र । अवर्तयः । रथम् । विप्रेभ्यः । परि । तम् । सामं । प्र । अवर्तत । सम् ।  
इतः । नावि । आऽहितम् ॥४॥

अन्वय — कुमार ! यम् रथम् प्रावर्तयः विप्रेभ्यः परि तम् अनु प्रावर्तत । नावि समाहितम् इतः ।

दयानन्द-भाष्य —

पदार्थ — (कुमार) हे अमरणशील जीवात्मन् (यं रथम्) यं शरीररथं त्वम् (विप्रेभ्यः परि प्रावर्तयः) मेधाविभ्यो ज्ञानं प्राप्य प्रवर्तयसि (तं साम् — अनु नावि समाहितम् प्रावर्तत) तं देहरथं शिक्षितौ जनः साम-अध्यात्मसुखं यथा स्यात् नौकायां धृतं शरीररथं तथा प्रवर्तयति 'अन्तर्गतणिजर्थः' ॥४॥

भावार्थ — जीवात्मा विद्वानों से ज्ञान प्राप्त करके आध्यात्मिक सुख मिले इस ढंग से नौका में रखे रथ के समान नदी पार करने को जैसे होता है ऐसे संसार सागर को पार करने के लिए देह को अध्यात्म मार्ग में चलाता है ।

सायण-भाष्य

हे कुमार नचिकेतः यं पूर्वोक्तमधिष्ठितं रथं प्रावर्तयः मत्समीपं प्रत्यगमयः विप्रेभ्यः मेधाविभ्यः परि उपरि भूलोके वर्तमानानां मेधाविनां बान्धवानामुपरिष्ठात् । अन्तरिक्ष इत्यर्थः । "पञ्चम्या परावध्यर्थे" इति विसर्जनीयस्य सत्त्वम् । तं रथं साम पित्रा कृतं सान्त्वनं यमसमीपं गत्वा एवमेव त्वया वक्तव्यमिति प्रत्यागमनकारण-मुपायोपदेशनम् अनुप्रवर्तत । इतः अस्माल्लोकादन्वगच्छत् । कथंभूतम् । नावि नौवत्तरणसाधनायां बुद्धौ सम् आहितम् सम्यग्धृतम् । यद्वा । हे कुमार ऋषे यं शरीरात्मकं रथम् अधिष्ठितं प्रावर्तय संसारे प्रवर्तवानसि मेधाविनां मध्ये तं रथम् अनुसाम । उपलक्षणमेतत् । ऋक्सामादिसाध्यं स्तोत्र नावि मीवत्तारयिष्यां वाचि वपात्मिकाया समाहितं सम्यक् प्रतिपाद्यत्वेन हित कर्म च इतः अस्माल्लोकात् प्रावर्तत प्रवृत्तमभूत् । इत्थमात्मस्वरूपापरिज्ञानेन शरीरबन्धनं तेन कर्तव्यं व्यवहारजातं चोक्तम् । अथ तु सत्यज्ञानादिस्वरूपमकर्तारं परमात्मानं यदि स्वात्मानं यदि स्वात्ममत्या साक्षात्करोति तदोक्तं न संभवतीत्यभिप्रायः ।

शब्दार्थ — कुमार = हे कुमार नचिकेता । प्रावर्तयः = चलाया है । विप्रेभ्यः परि = मेधावी विद्वानों से भी ऊपर । साम = सान्त्वना । अनु प्रावर्तत = अच्छी प्रकार से निहित है । इतः = इस लोक से । समाहितम् = अन्य लोकों में गई है ।

हिन्दी व्याख्या — हे कुमार नचिकेता ! तुमने जिस रथ को चलाया है अथवा जिस संकल्प रूप रथ को मेरे पास भेजा है, मेधावी विद्वानों से भी ऊपर अर्थात् अलग



## यम सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१३५)

उसको तुम्हारे पिता के सान्त्वना वचनों ने चलाया था। जो सान्त्वना नौका के समान इस भवसागर से पार उतारने के साधन बुद्धि में अच्छी प्रकार से निहित हैं। वह बुद्धि इस लोक से ही अन्य लोकों में गई है।

विशेष — मैक्डोनल के अनुसार विप्रेभ्यः परि = पुरोहितों से चली है (rolling forth away from the priests), साम = गीत (chant)।

मण्डल १०

सूक्त १३५

मंत्र ५

संहिता-पाठः

कः कु॒मारम॑ज॒तय॑द् रथं॒ को निर॑र्वयत् ।

कः स्वित्त॑द॒द्य नो॑ ब्रूयादनु॒देयी॑ यथाभ॑वत् ।।

पद-पाठः

कः । कु॒मारम् । अ॒ज॒नय॑त् । रथं॒ । कः । निः । अ॒व॒र्तय॑त् । कः । स्वित् । तत् । अद्य ।  
नः । ब्रूयात् । अनु॒देयी॑ । यथा॑ । अ॒भ॒वत् । ॥५॥

अन्वय — कः कुमारम् अजनयत् । कः रथम् निरर्वयत् । यथा अनुदेयी अभवत् तत् कः स्वित् अद्य न ब्रूयात् ।

दयानन्द-भाष्य —

पदार्थ — (कुमारं कः — अजनयत्) कुत्सितमारं जीवात्मानं को जनयति? न कोऽपीत्यर्थः (रथं कः — निरर्वयत्) शरीररथं को जनो निर्माति? न कोऽपि (कः स्वित् — अद्य नः — ब्रूयात्) को ह्यस्मान् सम्प्रति कथयेत् (यथा — अनुदेयी — अभवत्) यथा ह्यनुग्रहवान् भवेत् ।।

भावार्थ — अमर आत्मा को कोई उत्पन्न नहीं करता, आत्मा तो नित्य है, इसके शरीर-रथ को कौन मनुष्य पड़ता है? कोई मनुष्य नहीं। कौन कह सके? पर हाँ अनुग्रहकर्ता परमात्मा इसे शरीर में भेजता है, वह इस शरीर को रचता है ।।५॥

सायण-भाष्य

कः पुरुषः इमं कुमारम् अजनयत् । अधिक्षेपे किं शब्दः । ईदृशं बालं यमसमीपं प्रहिण्वन् कथं पिता समीचीनः स्यात् । तत्तावदास्ताम् । कः वा पुरुषोऽस्य बालस्य यमसमीपं प्रतिगमनाय तं रथं निरर्वयत् निर्वर्तितवान् । सोऽपि मूर्ख इत्यर्थः । यथा येन प्रकारेणायं कुमारः अनुदेयी अनुदातव्यः अभवत् भवति तत् तदनुगुणं वचनमुपायकथनम् अद्य अस्मिन् काले नः अस्माकं कः स्वित् को नाम ब्रूयात् अभिदध्यात् । प्रथमं यमसमीपं गत्वा पश्चात् ततो निर्गमनोपायं ब्रू वन्नापि न प्राज्ञ इत्यर्थः । अथवा कुमाराख्य ऋषिरात्मनः सर्वात्म्यमवगच्छन् स्वव्यतिरिक्त-स्योन्यस्यासंभवं किं शब्देनाक्षेपवाचिना दर्शयति । कुमारं मां कः पिता अजनयत् । न कोऽपि । अजो नित्यः शाश्वतः (क० उ० २.१८) इति श्रुत्युक्तरूपोह भवामि । कश्च शरीरात्मकं रथं निर्वर्तयति । मद व्यतिरिक्तस्य निर्वर्तयितुरभावत् तथा



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

निर्वर्त्यस्यान्यसंभवाच्च । अद्य अस्मिन् काले सार्वार्त्थ्यनुभवदशायां तं तं प्रकारं कः स्वित् को नाम नोऽस्माकं ब्रूयात् यथा येन प्रकारेण अनुदेयी अनुदातव्या मद्व्यतिरिक्तान्यपदार्थसत्ता अभवत् भवति । स प्रकारोऽपि दुर्वचन इत्यर्थः ।

शब्दार्थ — अजनयत् = जन्म दिया था । निरवर्तयत् = सम्पादित किया था । कः स्वित् = कौन व्यक्ति । ब्रूयात् = कहेगा । अनुदेयी = यम के प्रति अर्पित करने योग्य ।

हिन्दी व्याख्या — किसने इस कुमार नचिकेता को जन्म दिया? अर्थात् वह कौन सा निन्दनीय पिता है जिसने इस कुमार को यम के समीप जाने के लिये कहा । किसने इसके लिये रथ को सम्पादित किया था? अर्थात् वह कौन सा निन्दनीय पिता है, जिसने इस कुमार को यम के समीप भेजने का संकल्प एवं प्रबन्ध किया । जिस प्रकार से यह कुमार यम के प्रति अर्पित करने योग्य बना उस उपाय को कौन आज हमसे कहेगा अर्थात् वह व्यक्ति बहुत नीच है जिसने इस नचिकेता को यम के प्रति अर्पित किया है ।

विशेष — मैक्डोनल के अनुसार अनुदेयी = उपकरण (equipment) ।

मण्डल १०

सूक्त १३५

मंत्र ६

संहिता-पाठः

यथाभवंदनुदयी ततो अश्रमजायत ।

पुरस्ताद्बुध्न आतत मश्वान्निरयण कृतम् ।।

पद-पाठः

यथा । अभवत् । अनुदेयीं ततः । अग्रम् । अजायत । पुरस्तात् । बुध्नः । आततः । पश्चात् । निःअयनम् । कृतम् ।।६।।

अन्वय — यथा अनुदेयी अभवत् ततः अग्रम् अजायत । पुरस्तात् बुध्नः आततः । पश्चात् निरयनम् कृतम् ।

दयानन्द-भाष्य —

पदार्थ — (यथा-अनुदेयी-अभवत्) यथाऽनुग्रहवान् परमात्मा भवति (ततः-अग्रम्-अजायत) तथा कृत्वाऽग्रे पूर्वतः प्रसिद्धोऽस्ति आत्मा — (पुरस्तात्- बुध्नः) एवमेव पूर्वतः शरीरस्य बुध्नः — मूलाधारः संस्कारः (आततः) समन्तात् स्थितो भवति (पश्चात्-निरयणं-कृतम्) पश्चात्-निर्गमनीयं शरीरं कृतं भवति ।।

भावार्थ — परमात्मा अनुग्रहकर्ता जैसे प्रथम से वर्तमान है नित्य है वैसे ही आत्मा भी नित्य है, इसके शरीर को मूलाधार संस्कार जैसा होता है वैसा शरीर बन जाता है ।।

सायण-भाष्य

अनुदेयी अनुदातव्यः यथा येन प्रकारेण पितरमनुलक्ष्य अयं कुमारो यमेन दत्तः अभवत् भवति तथा ततः तस्माद् वाजश्रवसात् पितुः अग्रं यमसमीपं गच्छेति वचनस्याग्रतो वर्तमानं नचिकेतसा यमेन सह वदितव्यं तं वै प्रवसन्तं गन्तासीति हो वाच (तै० ब्रा० ३.११.)



## यम सूक्त ( मण्डल-१०, सूक्त-१३५ )

८२) इत्यादिकं ब्राह्मणोत्तरोक्तम् अजायत प्रादुरभवत् । पितोद्दिष्टवानित्यर्थः । पुरस्तात् ततः पूर्वं बुध्न उक्तस्याग्रस्य मूलभूतं यमस्य गृहं प्रतिगच्छ इति वचनम् आततम् अतिविस्तृतमासीत् । अतः तदशक्यपरिहारमिति पश्चात् क्रोधं परित्यज्य निरयणं तस्माद् यमान्निगमनोपायं कृतं पित्राचरितम् । यद्वा अनुदेयी आत्मानमनुदाव्यात्मस्व रूपव्यनिरिक्तान्यपदार्थसत्ता यथाभवत् भवति तदनुगुणं ततस्नस्मान्मायावि- शिष्टादात्मनोऽग्रं स्रष्टव्यं विकारजातस्याद्यं मनस्तत्त्वं सिसृक्षाकारणमजायत उदषद्यत पुरस्तात् स्रष्टुः प्रागवस्थायां बुध्नो मूलमव्याकृतं मायात्मकं कारणमेवाततः । आसमन्तात् ततं विस्तृतमासीत् । पश्चात्तमस उत्पत्त्यनन्तरं निरयणं तद्गतानां कार्याणां तस्मात् कारणान्निर्गमनं घटपटादिभेदेन स्वरूपालम्भनं कृतम् । ब्रह्मणा निर्मितं तथा मृद्विकारो घटादिमृदोऽन्यो न भवति । आदित्यानुग्रहात् ब्रह्मभावं प्राप्तस्य मम विकारः प्रपञ्चो मदन्यो न भवतीति व्यतिरिक्त्य पित्रादेशक्षेपः पूर्वोक्तः समर्थितः ।

**शब्दार्थ — अनुदेयी** = यम के द्वारा लौटाने योग्य । **ततः** = उसके बाद । **अजत्** = सम्मुख । **अजायत** = उत्पन्न हुआ । **पुरस्तात्** = पहले तो । **बुध्नः** = मूलभूत भावना । **आततः** = अत्यन्त विस्तृत । **निरयणम्** = यम के घर से निकलने का उपाय ।

**हिन्दी व्याख्या —** जिस प्रकार वह कुमार नचिकेता यम के द्वारा लौटाने योग्य हुआ और उसके पश्चात् अपने पिता बाजश्रवस से कहे पये, यम के समीप जाओ, इस वचन के सम्मुख हुआ अर्थात् पिता ने ऐसा कहा । पिता के कहने से पहले तो, यम के घर जाओ, इस प्रकार की मूल भावना अत्यन्त विस्तृत थी, पीछे अर्थात् उस भावना के हटने पर उस पिता ने यम के घर से निकलने का उपाय किया ।

**व्याकरण —**

**विशेष —** मैकडोनल के अनुसार अनुदेयी = उपकरण (equipment), अग्र = शिखर (top) । इस मन्त्र का मैकडोनल का पूरा अर्थ द्रष्टव्य है —

As the equipment was, so the top arose; in front the bottom extended; behind the exit was made.

मण्डल १०

सूक्त १३५

मंत्र ७

संहिता-पाठः

इदं यमस्य सादनं देवमानं मद्यते ।

इयमस्य धम्यते नालीरयं गीर्भिः परिष्कृतः ॥

पद-पाठः

इदम् । यमस्य । सादनम् । देवमानम् । यत् । उच्यते । इयम् । अस्य । धम्यते । नालीः । इयम् । गीर्भिः । परिष्कृतः ॥७॥

**अन्वय —** इदम् यमस्य सादनम् यम् देवमानम् उच्यते । अस्य इयम् नालीः धम्यते । अयम् गीर्भिः परिष्कृतः ।



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

### दयानन्द-भाष्य -

पदार्थ - (यमस्य-इदं सदनम्) इदं शरीरं यमस्य मृत्योः सदनं शरीरस्य विनाश एव मृत्युस्तस्मात् - (यत् देवमानम्-उच्यते) यत् देवानां देवैर्निर्मियमाणम् (अस्य-इयं नाडी धम्यते) अस्य - इयं नाडी प्राणनाडी - चलति (गीर्भिः-परिष्कृतः) वाग्भिः शोधितऽलङ्कृत - आत्मा प्रसिद्धो भवति । ७७ ।।

भावार्थ - शरीर मृत्यु का सदन घर है पृथिवी - आदि देवों से बना हुआ कहा जाता है, इसकी प्राणनाड़ी चलती है उसे देख जीता हुआ समझा जाता है, इस नवजात को पारिवारिक जन अपनी वाणियों से प्रशंसित करते हैं ।।

### सायण-भाष्य

इदं यमस्य नियन्तुरादित्यस्य वैवस्वतस्य वा सदनं स्थानम् । छान्दसः संहितको दीर्घ । यत् सदनं देवमानं देवैर्निर्मितमिति उच्यते । सर्वत्र अभिधीयते । यद्वा । देवानां । रश्मीनां निर्माणसाधनमिति गीयते । अस्य यमस्य प्रीणनाथ इयं नाडीः वाद्यविशेषो वेणुः धम्यते वद्यते । यद्वा नाडीति वाङ्नाम । इयं स्तुतिरूपा वागस्य प्रीणनाथ धम्यते उच्चार्यते । एवं सति अयं यमः गीर्भिः स्तुतिभिः परिष्कृतः अलङ्कृतोऽभूत् । "संपर्युपेभ्यः" इति सुडागमः । "परिनिविभ्याः०" इति षत्वम् । "गतिरनन्तरः" इति गते । प्रकृतिस्वरत्वम् ।

'केशी' इति सप्तर्चमष्टमं सूक्तमन्त्रिसूर्यवायुदेवताकम् । वातरशानपुत्रा जूतिवातिजूतिप्रभृतयः प्रत्यृचं क्रमेर्षणयः । तथा चानुक्रान्तं केशी मुनयो वातरशना जूतिर्वातजूतिर्विप्रजूतिवृषानकः करिक्रत एतश ऋष्यशृङ्गश्चैकर्याः कैशिनमिति । गतो विनियोग ।

शब्दार्थ - सदनम् = रहने का स्थान है । देवमानम् = देवताओं के द्वारा निर्मित । धम्यते = बजाई जा रही है । नाडी = नाड़ी नाम की विशेष बाँसुरी । गीर्भिः = स्तुतियों के द्वारा परिष्कृतः = प्रसन्न किया गया है ।

हिन्दी व्याख्या - यह यम देवता का रहने का स्थान है जिसको देवताओं द्वारा निर्मित कहा जाता है । इस यम को प्रसन्न करने के लिये यह नाडी नाम की विशेष बाँसुरी बजाई जा रही है । यम स्तुतियों द्वारा परिष्कृत हुआ है अर्थात् प्रसन्न किया गया है ।

### व्याकरण -

सादनस् - इसमें छान्दस दीर्घ है । लोक में 'सदनम्' रूप होगा ।

विशेष - मैक्डानल के अनुसार सदनम् - बैठने का स्थान (seat), देवमानम् - देवताओं का निर्मित स्थान (abode of the Gods), गीर्भिः = गीतों से (with songs) ।

सायण ने इस यम सूक्त की व्याख्या सृष्टि उत्पत्ति और अध्यात्म की दृष्टि से भी की है ।



## वात सूक्त

ऋषि—वातगोत्री अनिल

देवता—वात

छन्द—त्रिष्टुप्

मण्डल १०

सूक्त १६८

मंत्र १

संहिता—पाठः

वातस्य नु महिमानं रथस्य रुजन्नेति स्तनयन्नस्य घोषः ।

दिविस्पृग्यात्यरुणानि कृण्वन्नुतो एति पृथिव्या रेणुमस्यन् ।।

पद—पाठः

वातस्य । नु । महिमानम् । रथस्यः । रुजन् । एति । स्तनयन् । अस्य । घोषः ।  
 दिविस्पृक् । याति । अरुणानि । कृण्वन् । उतो । इति । एति । पृथिव्या । रेणुम् । अस्यन् ।।१।।  
 अन्वय — वातस्य रथस्य महिमानम् नु । अस्य घोषः स्तनयन् रुजन् एति । दिविस्पृक्  
 अरुणानि कृण्वन् याति । उता पृथिव्याः रेणुम् अस्यन् एति ।

दयानन्द—भाष्य —

पदार्थ — (रथस्य वातस्य महिमानं नु) रहणशीलस्य—गमनस्वभावस्य वातस्य महिमानं  
 महत्त्वमवश्यं वयं पश्यामो वर्णयामो वेति शेषः (अस्य घोषः—रुजन्—स्तनयन्—एति)  
 अस्य वातस्य घोषो नादो वृक्षादीन् भञ्जन् शब्दयन् प्राप्नोति (दिविस्पृक्) दिवि स्पृशतीति  
 दिविस्पृक् दिवि मेघादिकं स्पृशन् सन् (उत) अपि च (अरुणानि कृण्वन्) दिग्दिगन्तराणि  
 खल्वरुणवर्णानि कुर्वन् गच्छति (पृथिव्याः—रेणुम्—अस्यन्—एति) पृथिव्याः पांसुं  
 धूलिमुदस्यनुक्षिपन् गच्छति ।।१।।

भावार्थ — वात अन्धड़ का स्वरूप है, वेग से जाने वाला वृक्षों को भग्न करता हुआ और  
 गूँजता हुआ चलता है, आकाश में जाता हुआ इधर उधर की दिशाओं को लालवर्ण का  
 बना देता है, पृथिवी की धूल को फेंकता हुआ चलता है ।।१।।

सायण—भाष्य

वातस्य वायोः रथस्य रहणशीलस्य महिमानं माहात्म्यं नु क्षिप्रं प्रब्रवीमि । अस्य  
 वायोर्घोषः शब्दः स्तनयन् गिरिगह्वरादिषु विविधं शब्दमुत्पादयन् रुजन् सर्वं स्थावरजङ्गमजातं  
 भञ्जन् एति गच्छति । स च वायुः दिविस्पृक् दिवमाकाशं स्पृशन् व्याप्नुवन् अरुणानि  
 अरुण—वर्णानि दिगन्तराणि कृण्वन् कुर्वन् याति प्राप्नोति । उतो अपि च पृथिव्या भूमेः रेणुं  
 पांसुम् स्यन् गृहीत्वा सर्वत्र चिक्षियन् एति गच्छति । अत एव अरुणानि कृण्वन् इत्युक्तम् ।

शब्दार्थ — महिमानम् = महिमा को । रुजन् = तोड़ता हुआ । स्तनयन् =  
 गर्जना करता हुआ । घोषः = शब्द । दिविस्पृक् = आकाश को स्पर्श करता हुआ ।  
 अरुणानि कृण्वन् = लाल रंग का करता हुआ । रेणुम्=धूल को । अस्यन् = उड़ाता हुआ ।

हिन्दी व्याख्या — वायु के रथ की महिमा का मैं शीघ्र ही वर्णन करता हूँ । इस  
 वायु का शब्द पर्वतो—गुफाओं आदि के विविध प्रकार से गर्जना करता हुआ और



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

स्थावर-जङ्गम पदार्थों को तोड़ता हुआ चला आता है। आकाश को स्पर्श करता हुआ यह दिगन्तरों को लाल रंग का करता हुआ चला जाता है और यह पृथिवी की धूल को उड़ाता हुआ चलता है।

### व्याकरण -

महिमानम् - महत् + इमनिच् = महिमन्। द्वितीया विभक्ति का एकवचन।

रुजन्- रुज् + शतृ।

स्तनयन् - स्तन् + शतृ (यक् का आगम)।

अस्यन् - असु क्षेपणे + शतृ।

दिविस्पृक् - दिवि स्पृशति अर्थ में दिवि + स्पृश् + क्विन्। समास में भी विभक्ति का लोप नहीं हुआ।

विशेष - सायण ने 'रथस्य' को 'वातस्य' का विशेषण मान कर अर्थ किया है। गतिशील वायु की महिमा का वर्णन करता हूँ। उसने 'अस्य' को 'वातस्य' का सर्वनाम माना है। परन्तु पीटर्सन 'रथस्य' को संज्ञावाचक कह कर 'अस्य' को इसका विशेषण कहते हैं और 'इस रथ का' इस प्रकार अर्थ करते हैं। अरुणानि कृण्वन् के साथ सायण ने 'दिगन्तराणि' का अध्याहार किया है। पीटर्सन ने इसको आकाश का विशेषण मानकर 'आकाश को लाल करता हुआ' (Reddening the sky) अर्थ किया है। लुडविग ने भी इसका समर्थन करते हुये लिखा है - The red sky at sunset is perhaps what is meant.

छन्द के अनुरोध से 'यात्यरुणानि' को 'याति अरुणानि' तथा 'कृण्वन्' को 'कृणुवन्' पढ़ना होगा।

मण्डल १०

सूक्त १६८

मंत्र २

संहिता-पाठः

सम्प्रेरते अनु वातस्य विष्ठा ऐनं गच्छन्ति समनं न योषाः।

ताभिः सयुक्सरथं देव ईयतेऽस्य विश्वस्य भुवनस्य राजा॥

पद-पाठः

सम्। प्र। ईरते। अनु। वातस्य। विऽस्थाः। आ। एनम्। गच्छन्ति। समनम्। न। योषाः। तभिः। सऽयुक्। सऽरथम्। देवः। ईयते। अऽस्य। विश्वस्य। भुवनस्य। राजा॥२॥  
अन्वय - विष्ठाः वातस्यः अनु संप्रेरते। समनम् न एनम् योषाः आगच्छन्ति। ताभिः सयुक् देवः सरथम् ईयते। अस्य विश्वस्य भुवनस्य राजा।

दयानन्द-भाष्य -

पदार्थ - (विष्ठाः-वातस्य-अनुसम्प्रेरते) पृथिव्यां प्रविश्य स्थिताः-ओषधिवनस्पतयो वातस्यानुकूलं कम्पन्ते (एनं योषाः-न समनम्- आगच्छन्ति) एतं स्त्रियः-इव



समानमनोभावस्थानं प्राप्नुवन्ति तद्वत् (अस्य— विश्वस्य भुवनस्य देवः—राजा) अस्य सर्वस्य पृथिवीलोकस्य राजा भूत्वा (ताभिः सयुक् सरथम्—ईयते) ताभिः प्रजाभिः सह समानाश्वः समानरथो गच्छति ॥२॥

**भावार्थ** — पृथिवी में स्थित होकर पृथिवी पर पुष्ट होकर औषधि वनस्पतियाँ वायु के साथ गति करती हैं, काँपती हैं, जैसे स्त्रियाँ एक मन होकर किसी आश्रम स्थान को प्राप्त होती हैं, पृथिवीलोक की सारी वस्तुएँ इसका अनुगमन करती हैं ॥२॥

### सायण—भाष्य

विष्टाः विशेषेणावस्थिताः पर्वताद्याः वातस्य वायोः अनुगुणं संप्रेरते संप्रगच्छन्ति । यदभिमुखो वायुर्वर्तते तदभिमुखाः प्रकम्पन्त इत्यर्थः । समनं न संग्राममिव एनं वायुं योषाः अश्वयोषितः आगच्छन्ति । ताभिर्दर्ववाभिः स्वयुक् स्वयमेव युज्यमानं सरथं समानमेकं रथमारुह्य देवो दीप्यमानो वायुः ईयते गच्छति । ईङ् गतौ । अस्य विश्वस्य सर्वस्य भुवनस्य द्वितीयविकारभाजो भूतजातस्य राजा स्वामी भवति ।

**शब्दार्थ** — संप्रेरते = हिलते हैं, गति करते हैं । अनु = अनुकूल दिशा में । विष्टाः = विशेष रूप से अवस्थित वृक्ष आदि पदार्थ । समनम् न = संग्राम भूमि के समान । योषा = घोड़ियाँ । सयुक् = युक्त होता हुआ । सरथम् = एक ही रथ पर आरुढ़ होकर । ईयते = बहता है । राजा = स्वामी ।

**हिन्दी व्याख्या** —विशेष रूप से अवस्थित भी पर्वत, वृक्ष आदि पदार्थ वायु के अनुकूल दिशा में हिलते हैं या गति करते हैं । संग्राम भूमि के समान ही इसके पास घोड़ियाँ आ जाती हैं । उन घोड़ियों से युक्त होता हुआ वह दैदीप्यमान् वात देवता एक ही रथ पर आरुढ़ होकर बहता है और वह इस सम्पूर्ण जगत् का स्वामी होता है ।

### व्याकरण —

संप्रेरते — सम्+प्र+ईर् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

विष्टाः — विशेषेण तिष्ठन्ति ये, अर्थ में वि+स्था+क = विष्ट । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन ।

सयुक् — सह+युज्+क्विप् ।

योषाः — वैदिक पोषा शब्द, प्रथम का बहुवचन ।

ईयते — ईङ् धातु (यक्), प्रथम पुरुष, एकवचन ।

**विशेष** — इस मन्त्र की सायण की व्याख्या बहुत विवादास्पद है । 'विष्टा पद का अर्थ लुडविग ने 'the winds of all sorts', ग्रासमान ने 'the wings of the wind' और रॉथ ने 'different kinds of birds' किया है । विष्टा का अर्थ 'नवोदक धारायें' भी किया गया है । 'समनम्' पद का अर्थ भी विवादास्पद है । इस शब्द की निष्पत्ति 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'अन' प्राणने धातु से होती है । पीटर्सन ने और रॉथ ने इसका अर्थ उत्सव या मेला किया है और वे 'योषाः' का अर्थ स्त्रियाँ (women) करते हैं । उनके अनुसार



**ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा**

इन पदों का अर्थ इस प्रकार है — वर्षा के जल की धारायें उसके पास इसी प्रकार से आती हैं, जैसे स्त्रियाँ उत्सव में जाती हैं। They (waters) go to him as women to an assembly। इन जल-धाराओं के साथ एक ही रथ पर बैठकर वात बहता है।

मण्डल १०

सूक्त १६८

मंत्र ३

संहिता-पाठः

अन्तरिक्षे पथिभिरीयमानो न नि विशते कतमच्चनाहः।

अपां सखा प्रथमजा ऋतावा क्व स्विज्जातः कुत आ बभूव॥

पद-पाठः

अन्तरिक्षे। पथिभिः। ईयमानः। न। नि विशते। कतमत। चुन। अहरिते।

अपाम्। सखा। प्रथमजा ऋतवा। क्व। स्वि। जात। कुत। आ। बभूव॥३॥

अन्वय — अन्तरिक्षे पथिभिः ईयमानः कतमच्चन अहः न निविशते। अपाम् सखा प्रथमजाः ऋतावा क्वस्वित् जातः कुतः आ बभूव।

दयानन्द-भाष्य —

पदार्थ — (अन्तरिक्षे) आकाशे वर्तमानः (पथिभिः) मार्गैः (ईयानः) गच्छन् (कतमत्-चन-अहः) कतमदिनमपि (न निविशते) न तिष्ठति (अपां सखा आकाशीय सूक्ष्म जलानां सखा) (प्रथमजाः-ऋतावा) प्रथम प्रसिद्धो जलमयो जलगर्भितः "ऋतमुदकनाम" [निघ० १।१२ (क्व स्वि-जातः) कुत्रापि दूरस्थाने प्रसिद्धो भवसि (कुतः-आबभूव) कुतोऽपि प्रसृतो भवति॥३॥

भावार्थ — वात-प्रचण्ड वायु या अन्धड़ आकाश में गति मार्गों से गति करता हुआ कभी नहीं ठहरता है, चलता रहता है, उसके साथ जलवर्षा होती है, यह कहीं से उठता है और कहीं कहीं होकर घूमता है, यह वर्षा के लिए हितकर है॥३॥

सायण-भाष्य

अन्तरिक्षे नभसि विद्यमानैः पथिभिः मार्गै ईयमानो गच्छन् वायुः कतमच्चनाहः एकमपि दिनं न निविशते नोपविशति। किं तु सर्वदैव गच्छति। 'नेर्विश' इत्यात्मनेपदम् (पाणिनि १.३.१७)। अपि च अपामुदकानां सखा। वायुर्वै वृष्ट्या ईशे इति स्तुतेः प्रथमजाः पूर्वभ्यः प्राणिभ्यः पूर्वोत्पन्न एव ऋतावा सत्यवान् यज्ञवान् वा एवभूतो वायु क्वचित् कुत्र खलु देशे जातः उत्पन्नः, कुतः कस्माच्च देशान्निष्क्रम्य आ बभूव इदं सर्व जगद्व्याप्नोत् सर्वदा सर्वत्र वर्तमान- त्वादस्योत्पत्तिर्व्याप्तिप्रकारश्च न केनापि ज्ञातुं शक्यते इत्यर्थः।

शब्दार्थ — ईयमानः = चलता हुआ। निविशते = ठहरता है। कतमच्चन = किसी भी। अपाम् = जलों का। प्रथमजा = सबसे पहले उत्पन्न हुआ। ऋतावा = सत्य नियमों का नियमित रूप से पालन करने वाला। क्वचित् = कहाँ से। आ बभूव = आकर व्याप्त किये हुये है।



## वात सूक्त (मण्डल-१०, सूक्त-१६८)

**हिन्दी व्याख्या** — अन्तरिक्ष में स्थित मार्गों से चलता हुआ यह वात नाम का देवता अर्थात् वायु किसी भी दिन नहीं ठहरता है, सदा चलता ही रहता है। जलों का मित्र, सबसे पहले उत्पन्न हुआ और सत्य नियमों का नियमित रूप से पालन करने वाला यह वायु कहाँ उत्पन्न हुआ है और कहाँ से आकर इस सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त किये हुये हैं? अर्थात् यह वायु सर्वत्र विद्यमान है और इसकी उत्पत्ति कहाँ हुई, यह कहाँ से आया, यह कोई नहीं जान सका है।

### व्याकरण —

**ईयमानः** — 'ई' धातु से 'शानच्' प्रत्यय। 'श्यन्' और 'मुक्' का आगम होकर = ईयमान।

**प्रथमजाः** — प्रथमः जातः अर्थ में प्रथम+जन्+ड। निपातनात् प्रथमजाः।

**निविशते** — यहाँ 'नेविशः' सूत्र से 'नि' पूर्वक 'विश्' धातु की आत्मनेपद हुआ।

**ऋतावा** — ऋत्+वा+क्विप्।

**विशेष** — पीटर्सन ने 'ऋतावा' का अर्थ 'धार्मिक' किया है। रॉथ के अनुसार 'कतमच्चनाहः' में 'कतमच्चन+अहः' इस प्रकार दो पद नहीं है। उसने यहाँ 'कतमच्चनाहम्' पाठ मान कर इसमें अधिक निषेधः परक अर्थ 'never' माना है। छन्द के अनुरोध से 'क्व' के स्थान पर 'कुव' पढ़ना चाहिये।

मण्डल १०

सूक्त १६८

मंत्र ४

संहिता-पाठः

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः।

घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम॥

पद-पाठः

आत्मा । देवानाम् । भुवनस्य । गर्भः । यथावशम् । चरति । देवः । एषः । घोषाः । इत् । अस्य । शृण्विरे । न । रूपम् । तस्मै । वाताय । हविषा । विधेम ॥४॥

**अन्वय** — देवानाम् आत्मा भुवनस्य गर्भः एषः देवः यथावशम् चरति । अस्य घोषाः इत् शृण्विरे न रूपम् । तस्मै वाताय हविषा विधेम ।

**दयानन्द-भाष्य** —

**पदार्थ** — (देवानाम्-आत्मा) पृथिवीजलाग्निवायूनां मिश्रणस्वरूपः (भुवनस्य गर्भः) जलस्य गर्भः-जन्मदाता "भुवनम्-उदकनाम" [निघ० १।१२ (एषः-देवः-यथावशं चरति) अयं देवो वातो यथाश्रयं चलति (अस्य घोषाः- इत्-शृण्विरे) अस्य नादाः खल्वेव श्रूयन्ते (न रूपम्) न रूपं दृश्यते (तस्मै वाताय हविषा विधेम) तस्मै वाताय होमेनानुकूल्यमाचरेम ॥४॥

**भावार्थ** — प्रचण्ड वात के अन्दर पृथिवी, जल, अग्नि, वायु के कण होते हैं, वह जलों का जन्म देने वाला और आश्रय के अनुसार गति करने वाला होता है, इस चलते हुए के शब्द



## ऋक्-सूक्त-मञ्जूषा

सुनाई पड़ते हैं, रूप नहीं दिखाई देता है, इसे हवन के द्वारा अनुकूल बनाना चाहिये ॥ ४ ॥

### सायण-भाष्य

अयं वायुः देवादीनामिन्द्रादीनामप्यात्मा जीवरूपेण तेष्ववस्थानात् भुवनस्यापि भूतजातस्य गर्भः गर्भवत्प्राणरूपेणान्तर्वर्तमान एष ईदृशो देवो यथावशं यथाकामं यथेच्छ चरति वर्तते । अनिवारितगतिः सन् क्वचिच्छीघ्रं गच्छति क्वचिच्छनैगच्छति कुतश्चित्छरीरान्निष्क्रामति अन्यच्च शरीरं प्रविशतीत्येवं यथेच्छं वर्तत इत्यर्थः । अस्य वायोः आगच्छतो घोषा इत् शब्दा एव शृण्विरे श्रूयन्ते । रूपं स्वरूपं तु न दृश्यते नीरूपत्वात् । अदृग्विषयत्वेन शब्देनैवानुमीयते इत्यर्थः । तस्मै वाताय वायवे हविषा चरुपुरोडाशादिलक्षणेन विधेम परिचरेम ।

**शब्दार्थ** — देवानाम् = इन्द्र आदि देवों का । भुवनस्य = भुवन का, प्राणि मात्र का, पञ्चमहाभूतों का । गर्भः = बीज रूप है । यथावशम् = इच्छानुसार । घोषाः = शब्द । शृण्विरे = सुनाई देते हैं । विधेम = पूजा करते हैं ।

**हिन्दी व्याख्या** — इन्द्र आदि देवों का भी जो आत्मा है अर्थात् इनमें जीव रूप से अवस्थित है, सम्पूर्ण भुवन का अर्थात् प्राणिमात्र का या पञ्चमहाभूतों का बीज रूप है या उनको गर्भ में धारण करने वाला है । ऐसा यह दिव्य शक्ति सम्पन्न वायु देवता अपनी इच्छानुसार विचरण करता है । इस वायु के केवल शब्द ही सुनाई देते हैं, रूप नहीं दिखाई देता । रूप रहित होने से इसका शब्द से ही अनुमान किया जा सकता है । उस वायु देवता की हवि के द्वारा पूजा करते हैं ।

### व्याकरण —

**यथावशम्** — वशम् अनतिक्रम्य । अव्ययीभाव समास ।

**शृण्विरे** — 'श्रु' धातु भाव-कर्म में लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन । वैदिक रूप है । लोक में 'शुश्रुविरे' रूप होगा ।

**विधेम** — विध् धातु, विधिलिङ्, उत्तम पुरुष बहुवचन ।


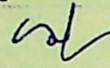
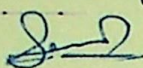

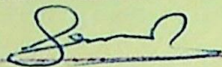
**विशेष** — इस मन्त्र के सायणकृत अर्थ को पीटर्सन आदि पाश्चात्य लेखकों ने ठीक माना है ।

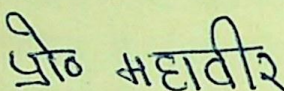








GURUKUL KANGRI LIBRARY	
Signature	Date
	24/11/09
	01/12/09
	"
	"
	"
Approved by	
Checked	

  
 Recommended By.....

Entered in Database

Signature with Date

24/11/09





### डॉ० महावीर

पिता - श्री ताराचन्द जी

माता - स्वर्गीया श्रीमती त्रिवेणी देवी

जन्मतिथि - ९ अक्टूबर १९५१

जन्मस्थान - पलसगांव (साकोली) जिला भण्डारा, महाराष्ट्र

शिक्षा - शास्त्री, व्याकरणाचार्य (महाविद्यालय-गुरुकुल, झज्जर), एम.ए.संस्कृत, वेद (गुरुकुल कांगड़ी वि.वि. हरिद्वार), एम.ए. हिन्दी (आगरा वि.वि.-आगरा), पी-एच.डी. एवं डी.लिट् (मेरठ वि०वि०, मेरठ)

अध्यापन - उपाधि स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पीलीभीत गुरुकुल कांगड़ी वि.वि., हरिद्वार में ११ सित० १९७२ से अद्यावधि (३७ वर्ष)

शोध निर्देशन - लगभग ५० शोधार्थी पी-एच.डी. उपाधि प्राप्त कर चुके हैं, 10 शोध कार्य कर रहे हैं।

प्रशासकीय अनुभव - संस्कृत-विभागाध्यक्ष, प्राच्य-विद्या संकाय के संकायाध्यक्ष, गुरुकुल कांगड़ी वि. वि. हरिद्वार के कुल-सचिव आदि पदों पर सफलतापूर्वक कार्य किया। सम्प्रति गुरुकुल कांगड़ी वि.वि. के संस्कृत विभाग में वरिष्ठ आचार्य एवं उत्तरांचल संस्कृत अकादमी के उपाध्यक्ष पद पर कार्यरत हैं।

दूरदर्शन एवं आकाशवाणी से प्रसारण - आकाशवाणी रामपुर एवं नजीबाबाद से अनेक संस्कृत वार्ताएं प्रसारित। आस्था चैनल पर डेढ़ वर्ष तक उपनिषद् सुधा नामक कार्यक्रम प्रसारित, जो कि अत्यन्त लोकप्रिय हुआ।

शोध सम्मेलन - देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में आयोजित राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय शोध सम्मेलनों में मुख्य वक्ता, अध्यक्ष अथवा मुख्य अतिथि के रूप में निमन्त्रित। गुरुकुल कांगड़ी वि०वि० में अनेक राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय वैदिक शोध सम्मेलनों का आयोजन।

पुरस्कार एवं अभिनन्दन - अनेक संस्थाओं द्वारा आदर्श शिक्षक, वैदिक विद्वान्, उत्कृष्ट समाज सेवी के रूप में अभिनन्दित।

डॉ० महावीर की अन्य रचनाएँ -

卐 वाल्मीकि रामायण में रस विमर्श।

卐 वैदिक-अर्थ-व्यवस्था।

卐 संस्कृत गद्य लतिका।

卐 रघुवंश महाकाव्य (महाकवि कालिदास) के 1,2,5

सर्गों की व्याख्या विस्तृत भूमिका सहित



 **सत्यम् पब्लिशिंग हाऊस**  
N-3/25, मोहन गार्डन, नई दिल्ली-110059  
Ph.: 25358642  
E-mail : satyampub\_2006@yahoo.com

ISBN 978-93-80190-18-1



9 789380 190181

शोरूम : 4378/4बी, 305, जे.एम.डी. हाऊस, मुरारीलाल स्ट्रीट,  
अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 मो. 09968277749